महामंत्र

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व-साहूणं

जय-जय आचार्यश्री विद्यासागर!

जय जय वात्सल्य-रत्नाकर!

जय-जय सन्मार्ग सूर्य!

जय-जय तुभ्यं नमोस्तु!
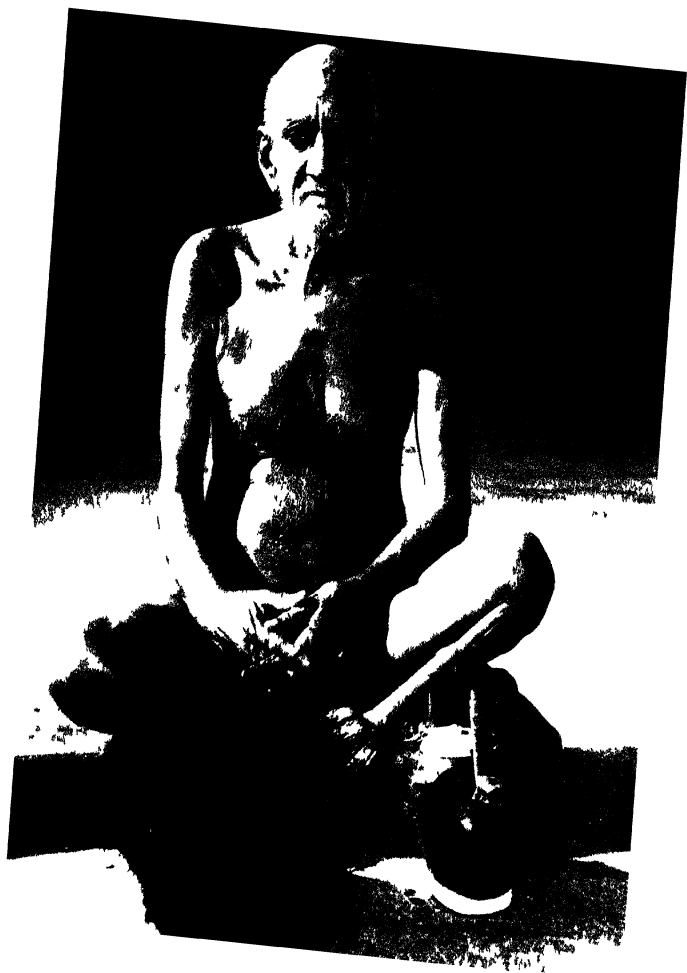
सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री विमलसागर अभिवन्दन ग्रन्थ

॥वात्सल्य रत्नाकर॥

प्रेरणास्त्रोत

उपाध्याय श्री भरतसागरजी

प्रधान सम्पादिका

आर्यिका स्याद्वादमती

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद

आशीर्वाद
स्व आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज

प्रेरणास्रोत
उपाध्याय १०८ श्री मुनि भरतसागरजी

प्रकाशक
भारतवर्षीय अनेकात विद्वत् परिषद (I S B N 81 8583 04 3)

प्राप्ति स्थान
भारतवर्षीय अनेकात विद्वत् परिषद
श्री दिगम्बर जैन बीसपथी कोठी, मधुबन
पोस्ट शिखरजी-८२५३२९
जिला गिरडीह (बिहार)

आवृत्ति
प्रथम प्रति १०००

आचार्य श्री विमलसागर ७८ वी जन्म जयन्ती
आश्विन वदी ७, वि स २०५०
वीर नि स २५१९
दिनाक ८ अक्टूबर १९९३

मूल्य
स्वाध्याय

मुद्रक
एम् ॲडव्हॅटायझिग, बम्बई

॥वात्सल्य रत्नाकर॥

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

युगप्रधान चारित्र चक्रवर्ती
सन्मार्ग दिवाकर
तपोवृद्ध ज्ञानवृद्ध शीलवृद्ध
करुणामूर्ति वत्सल रत्न
अतिशय योगी बालब्रह्मचारी
शान्ति सुधामृत के दानी
प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य के खजाने
तेज पुञ्ज दुःखहर्ता सुखकर्ता समदृष्टा
कल्याणकर्ता पतितोद्धारक मिथ्यात्वहारक
विचारखंड धुरन्धर समता कुलदेवी के उपासक
तपःपूत, मुक्तिदूत सत्पथ पुजारी
क्षमा के निर्झरने
मधुर मुस्कान से सुशोभित
बीसवीं सदी के अमर सन्त
जिन भक्ति के अमर स्त्रोत
जिनबिंब निर्माण में रुचि लेने वाले
अद्वितीय सन्त
आचार्य श्री १०८ विमलसागरजी महाराज के
चरण कमलों में
शतशत अभिवन्दन

प्रबंध सम्पादक

ब्र. चित्राबाईजी दिगे, संघ संचालिका

ब्र. कु. प्रभा पाटनी, संघस्थ

ब्र. धर्मचंद शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य

सम्पादक-मंडल

ब्र. सूरजमलजी, निवाई

डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

पं. श्यामसुन्दरलाल शास्त्री, फिरोजाबाद

डॉ. लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली

पं. मल्लिनाथ शास्त्री, मद्रास

डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

पं. बाबूलाल फाल्गुल, बनारस

पं. नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद

श्री मिश्रीलाल जैन (एडवोकेट), गुना

प्रो. टीकमचन्द जैन, दिल्ली

डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, वाराणसी

डॉ. सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली

श्री. भरतकुमार काला, बम्बई

श्रीमती सुशीला सालगिया, इन्दौर

श्रीमती शैलबाला काला, बम्बई

फोटोग्राफी
अविनाश मेहता, बम्बई

साजसज्जा
प्रशान्त शाह, बम्बई

''वात्सल्य रत्नाकर'' ग्रन्थ सम्माननीय समिति

श्री. अमरचंद पदमचंद पाटनी, डीमापुर
श्री. अशर्फीलाल अशोककुमार सर्राफ, इन्दौर
श्री. उमेशचंद जैन, एत्मादपुर
श्री. कन्हैयालाल पन्नालाल सेठी, डीमापुर
श्रीमती ब्र. कमलाबाई पांड्या, सनावद
डॉ. कमलाबाई जैन, कोटा
डॉ. कल्याण गंगवाल, पुणे
श्री. कस्तुरचंद शाह, सोलापुर
श्री कान्तिलाल बड़जात्या, हाथरस
श्री. कुलदीप कोठारी, कोटा
श्री. कोमलचंद जैन, भोपाल
श्री गिरिराज जैन राणा, जयपुर
डॉ गोपीचंद जैन बोहरा,
श्री. चम्पालाल जैन, पाण्डिचेरी
श्री. चिरंजीलाल कमलचंद चिंतामणि [illegible]
श्री. ताराचंद जैन, सेलम
श्री. देवेंद्रकुमार मनोजकुमार जैन हाऊन्सोलो (लन्दन)
श्री. [illegible] इन्दौर
श्री. धरमचंद गंगवाल, [illegible]
श्री. नरेशकुमार [illegible]
श्री. पदमचंद [illegible] सेठी, कलकत्ता
श्री. पवनकुमार जैन, कानपुर
श्री. परमेष्ठीदास मित्तल, बरेली
श्री. प्रकाशचंद छाबड़ा, बम्बई
श्री. प्रवीणचंद जैन, फिरोजाबाद
स्व. श्री. प्रेमचंद (पी. यू.) जैन ठोलिया, बम्बई
श्री. पूनमचंद गजराज गंगवाल, झरिया

श्री. पुष्पेंद्र जैन, कोटा
श्री. फतेचंद मूलचंद पाटनी, इन्दौर
श्री. मिलापचंद जैन, अजमेर
श्री. मिश्रीलाल देवेंद्र गुणवंत टोंग्या, बड़नगर
श्री. रमेशचंद जैन, शिकोहाबाद
श्री. राजबहादुर मदनलाल जैन, इसौली
श्री. राजेश जैन, बाराबंकी
श्री. रिखबचंद अजितकुमार जैन, सेलम
श्री. लक्ष्मीनारायण निर्मलकुमार गंगवाल, विजयनगर
श्री. विनोदकुमार सर्राफ, दिल्ली
श्रीमती विमलाबाई प्रकाशचंद जैन, फिरोजाबाद
श्री. [illegible] बड़जात्या, [illegible]
[illegible] बाई सोनी, [illegible]
[illegible] लाल [illegible] पाटनी, [illegible]
[illegible] सुन्दरलाल [illegible]
[illegible] सुभाष सोनी, इन्दौर
[illegible] सुमेरचंद जैन, दिल्ली
डॉ. सुरेशचंद जैन, सिकंदराबाद
श्री. सुरेशकुमार जैन, अलीगढ़
श्री. सुरेशकुमार जैन, मेरठ
श्री. सोहनलाल पहाड़िया, कलकत्ता
ब्र. स्मिता जैन, नीरा
श्री. स्वरुपचंद अनिलकुमार जैन, बम्बई
श्री. हेमचंद कासलीवाल, भीकनगांव
श्री. हेमचंद जैन, दिल्ली
श्री. हरीशचंद जैन, थाना
श्री. ज्ञानचंद लुहाड़िया, इन्दौर

प्रेरणा स्त्रोत

उपाध्याय श्री भरतसागर

सम्मेद शिखर

आशीर्वाद

श्रमण संस्कृति के इतिहास में सुनहरा पृष्ठ जोड़ने वाले "वात्सल्य रत्नाकर" अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन व प्रकाशन करने वाले सभी भव्यात्माओं को समाधिरस्तु धर्मवृद्धिरस्तु आशीर्वाद।

उपाध्याय मुनि भरतसागर
५-७-१९९३

श्रावण कृष्णा २
वी.नि. सं. २५१९
वि.सं. २०५०

मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट

श्री श्रीपाल जैन, राजेन्द्रकुमार जैन (आर. के. जैन), शरत जैन

पहाड़ी धीरज, देहली

९४, आर्केडिया, नरीमन पॉइन्ट, बम्बई

श्री शिखरचंद पांचूलाल पहाड़िया

कुचामनसिटी, बम्बई

श्री चेतनप्रकाश सुरेन्द्रकुमार जैन

देहली

की ओरसे

सादर समर्पित

प्रणामाञ्जलि

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, तपोनिधि, सन्मार्ग दिवाकर, चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्यश्री विमल सागरजी महाराज वर्तमान युग के प्रमुख आचार्य हैं।

आचार्य परमेष्ठी पद पर विराजमान, छत्तीस मुलगुणों के धारक, रत्नत्रय के साधक, बाल-ब्रम्हचारी, परम तपस्वी, परम विद्वान, पूज्य आचार्यश्री दशक वर्षो से प्रतिष्ठित आचार्य है। चतुर्विध संघ से सुशोभित पूज्य आचार्यश्री के अनेकों शिष्य पूरे भारत में आचार्य, उपाध्याय, मुनि एवं आर्यिका जैसे पावन पदों पर प्रतिष्ठित हैं तथा धर्म के प्रचार-प्रसार में अविस्मरणीय योगदान कर रहे हैं। दीक्षा और संयम की दृष्टि से आप वरिष्ठतम हैं।

सत्य, अहिंसा, दया, शान्ति, संयम, अपरिग्रह एवं ब्रम्हचर्य के आप प्रतीक हैं। सूर्य सा तेज, चन्द्रमा सी शीतलता, सागर जैसी गम्भीरता, पर्वत जैसी अ[illegible]ता, [illegible] सी निर्भीकता आचार्यश्री का व्यक्तित्व है। वे त्याग और वैराग्य की, धर्म और अध्यात्म की, आत्मीयता और उदारता की साक्षात् मूर्ति हैं। सतत साधना एवं तपश्चर्या ही आपका जीवन है।

पूज्य आचार्यश्री जैन धर्म और श्रमण [illegible] में सर्वोपरि हैं। पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण पूरे भारत में आचार्यश्री ने अनेकों बा[illegible] है। आपकी प्रेरणा से कोने-कोने में अनगिनत जिन मन्दिरों, पाठशालाओं, पुस्तकालयों, औषधाल[illegible] निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा कराने में आचार्यश्री का परम योगदान [illegible]र्य मन्त्र देने से जिनप्रतिमायें जीवित हो उठती हैं। घर-घर में मन्दिर हो, सदाचार हो, [illegible] यही [illegible]की भावना रहती है।

वात्सल्यमूर्ति, करूणा सागर, लोक [illegible]णकारी, जगत् हितैषी, लो[illegible] प्रसिद्ध, अत्यन्त उदार आचार्यश्री अत्यन्त लोकप्रिय हैं। आपकी आत्मा जन-जन के कल्याण में संल[illegible] है। [illegible]पका वात्सल्यभाव मानव कल्याण में हर समय अग्रसर रहता है। आप आत्म दर्शन के द्वारा आध्यात्मिक दि[illegible] करा[illegible]र लोक यात्रा में संसार के अनन्त प्राणियों की अपार सहायता करते है। आत्मा [illegible] आ[illegible] के साथ [illegible]णीमात्र का कल्याण आपके जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। आप सर्व हितकारी हैं।

निमित्त ज्ञानी आचार्यश्री अन्तर्दृष्टा हैं। आपकी अहर्निश तपस्या के प्रताप से अनगिनत लोग कृतज्ञ हो चुके हैं। आपकी आत्मसाधना तथा तपश्चर्या मानव कल्याण के लिए अप्रतिम वरदान है। आप मानव को सांसारिक दुखों से मुक्ति दिलाकर अणुव्रत धारण करने के लिए प्रेरित करते हैं।

आचार्यश्री के दर्शन से सिद्ध तीर्थो के दर्शन का अनुभव एवं पुण्य होता है। आचार्यश्री चलते फिरते जैन तीर्थों में सम्मेद शिखर हैं।

आचार्यश्री मंगल स्वरूप है। आप रिद्धि-सिद्धि दायक है। कितनी ही शक्तियां आपकी आज्ञा का पालन करती हैं। आपके दर्शन मात्र से ही सांसारिक दुःख दूर हो जाते है। आपके चरणों में जाने से आपके चारों ओर का वायुमण्डल प्रत्येक प्राणी में त्याग और संयम की भावना जागृत करता है। आपके भामण्डल का कण-कण हमें मोक्ष मार्ग की ओर प्रेरित करता है। आपकी महिमा अपरम्पार है।

ऐसे युग प्रमुख आचार्य 'श्री विमल सागरजी महाराज' के कर-कमलों में 'वात्सल्यरत्नाकर' ग्रंथ को समर्पित करते हुए चरणों में शत शत वंदन।

आर. के. जैन

आसोज बदी सप्तमी, वि. सं. २०५०,
वीर नि. सं. २५१९
८ अक्टूबर १९९३

आर. के. जैन
९४ आर्केडिया, नरिमन पॉइन्ट
बम्बई ४०० ०२१.

हे शरणागत वत्सल मुनीन्द्र तुम आश्रय हो हम आश्रित हैं
हे चिंतामणि हे कल्पवृक्ष तुम रक्षक हो हम रक्षित हैं
करूणा विगलित मूर्ति तुमको पाकर हम गर्वित है
इस ग्रंथ रूप में विमल भक्ति के श्रद्धा सुमन समर्पित हैं

॥वात्सल्य रत्नाकर॥

मंगलाचरण

विशुद्धवंश परमाभिरूपो,
जितेन्द्रियो धर्मकथाप्रसक्त ।

सुखर्द्धि लाभेष्वविक्तचित्तो,
बुधैः सदाचार्य इति प्रशस्तः ।।

विजितमदनकेतुं निर्मलं निर्विकारं ।
रहितसकलसंगं संयमासक्तचित्तं ।

सुनयनिपुणभावं ज्ञाततत्त्वप्रपञ्चम् ।
जननमरणभीतं सद्गुरूं नौमि नित्यम् ।।

सम्यग्दर्शनमूलं ज्ञा[illegible]स्कंधं चरित्रशाखाढ्यम् ।
मुनिगणविहगाकीर्णम[illegible]महाद्रुमं वंदे ।।
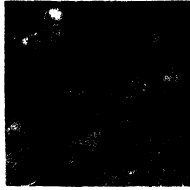
आद्य मिताक्षर

''उत्तमखमाए पुढवी, पसण्ण भावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधणदहणादो, अगणीवाऊ असंगादो।।
गयणमिव णिरुवलेवा, अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाणं, पायं पणमामि सुद्धमणो।।

आचार्य उत्तम क्षमा से पृथ्वी के समान है, निर्मल भावों से स्वच्छ जल के सदृश है, कर्मरूपी ईंधन के जलाने से अग्नि स्वरूप है तथा परिग्रह से रहित् होने के कारण वायुरूप है। वे मुनिश्रेष्ठ आचार्य आकाश की तरह निर्लेप और सागर की तरह क्षोभरहित होते है। ऐसे गुणों के घर आचार्य परमेष्ठी के चरणों को मै शुद्ध मन से नमस्कार करता हूँ।

''परोपकाराय सतां विभूतय:'' महापुरुषों का जीवन परोपकार के लिये होता है। प्राणी मात्र के कल्याण की भावना जिनके रग-रग में स्फुरायमान रहती है, जो भव्यजनोंके रोम-रोम में अपनी अनुपम छवि अंकित कर चुके है, अद्वितीय अलौकिक चुम्बक, हृदयस्पर्शी तथा श्रद्धालुओं के भक्तिसुमन जिन चरणारविन्दों में सतत अर्पण हो रहे है, ऐसे परोपकारी महासन्त गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में त्रिकाल सिद्ध-श्रुत-आचार्यभक्ति पुरस्सर नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु!

कलिकाल में भी अनुपम तप, बल व साधन के धनी आचार्य श्री के सहज सरल व्यक्तित्त्व को अमर कीर्ति का मूर्त रूप कैसे दिया जाय? सभी के भीतर जिज्ञासा थी. त्यागी, विद्वान्, धनिक वर्ग और जैन समाज की एक ही पुकार उठी आचार्य श्री को अभिवन्दन ग्रन्थ का समर्पण किया जावे।

सर्वप्रथम अशोकजी दिल्लीवालों ने इस भार को पूर्णरूपेण सम्हालने की सहर्ष आज्ञा मांगी थी, परन्तु प्रारंभ में ग्रन्थकी रूपरेखा गहन रूप लेकर सामने आई अतः अशोकजी ने असमर्थता व्यक्त की। कार्य दुरुह तो था

ही साथ ही ''श्रेयांसि बहु विघ्नानि'' वाली उक्ति भी चरितार्थ हो रही थी। समस्या जटिल बनती गई, विषम परिस्थितियों से घिरा मैं स्वयं निर्णय लेने में असमर्थ हुआ।

पुण्य योग से श्री पद्मपुरा अतिशय क्षेत्र पर पूज्य स्व. आचार्यकल्प श्री १०८ श्रुतसागरजी के पुनीत दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ। महाराजश्री गंभीर, दूरदर्शी व तत्त्वज्ञ, सिद्धान्त मर्मज्ञ महापुरुष थे। मैंने महाराजश्री के चरण सान्निध्य में विचार विमर्श करते हुए ग्रन्थ सम्बन्धी अपनी समस्या को रखा। आपका विशाल स्नेह और उचित निर्देश मुझे प्राप्त हुआ। मैंने शीघ्रही साधुवर्ग, विद्वद्वर्ग व श्रावकों से विचार विमर्श किया। सभी ने आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज के निर्देशानुसार ग्रन्थ की संयोजना में सहमति देकर अपना सहयोग देने की सम्मति प्रदान की।

सम्पादक मंडल का चयन किया गया। सभी के सामने एक समस्या थी वह यह कि विशालग्रन्थ के सम्पादन का महत् भार किसे सौपा जाय? पं. श्यामसुन्दरजी, नरेन्द्रप्रकाशजी का नाम सामने आया। पर व्यस्तता होने से किसी ने स्वीकृति प्रदान नहीं की। अतः मैंने व दोनों मंडल के सदस्यों ने आर्यिका स्याद्वादमती का नाम इस कार्य के लिये निर्णीत किया। माताजी ने भी इस भार को उठाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। माताजी ने कहा- मै जिनवाणी की सेवा व गुरु भक्ति के लिये सतत योग्यतानुसार तत्पर हूँ परन्तु यह महाभार मुझ अल्पज्ञ पर डालना उचित नही है। हम सभी मौन रह गये। कार्य प्रारंभ हुआ। कार्य जब अन्तिम हद तक पहुंच गया तब तक भी माताजी ने प्रधान सम्पादिका का भार लेने की स्वीकृति प्रदान नही की। अन्त में परामर्शमंडल व सम्पादक मंडल तथा बुधजनों के विशेष आग्रह पर शरीर की रुग्णता के बावजूद भी आपने गुरु आशीर्वाद मान शिरोधार्य किया। माताजी को हमारा समाधिरस्तु आशीर्वाद है।

ग्रन्थ सामग्री को संचय करने के लिये विशेष त्यागीवर्ग से सम्पर्क करना, पत्र व्यवहार करना आदि मुख्य कार्यो के लिये पं. धर्मचन्दजी, ब्र. कु. प्रभाजी ने विशेष परिश्रम कर हमें विशेष सहयोग प्रदान किया है. दोनो के लिये हमारा यही आशीर्वाद है कि आप लोग जिन दीक्षा लेकर स्व-पर कल्याण करें।

साथ ही इस कार्य के लिये विशेष अर्थ सहयोगी संघपति श्री श्रीपालजी, आर. के. जैन, बम्बई, संघपति श्री शिखरचन्दजी पांचूलालजी पहाड़िया, बम्बई, श्री सुरेन्द्रजी, दिल्ली तथा अन्य भी सहयोगियां को हमारा यही आशीर्वाद है कि अपनी चंचला लक्ष्मी का सप्तक्षेत्रों में दान देकर जीवन को कृतार्थ करें।

उपाध्याय भरतसागर

सम्पादकीय

''जना घनाश्च वाचाला: सुलभा: स्युर्वृथोत्थिता:।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षव:''॥४॥ आ.॥

जिनका उत्थान (उत्पत्ति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते है किन्तु जो भीतर से आर्द्र होकर (दयालु और जलसे पूर्ण होकर) जगत् का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ हैं।

''गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुति।
आनन्त्याते गुणावक्तु शक्यास्त्वयि सा कथम्''॥

स्तुति किसे कहते है? गुणों का अतिक्रम करके कथन करना स्तुति कहलाती है पर आचार्य देव श्री गुरुवर्य अनन्तगुणों के आगार हैं फिर उनका स्तवन, उनकी अभिवन्दना हम तुच्छ बुद्धियों के लिये कैसे शक्य हो सकती है? फिर भी जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं वहाँ दीप के टिमटिमाते प्रकाश से भी कार्य चलता ही है। आचार्य श्री का पावन व्यक्तित्त्व स्व-परोपकार की निर्झरणी में गोता लगाते हुए पवित्रता की चरम सीमा की ओर बढ़ता चला जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव के अभिवन्दनार्थ अभिवन्दन ग्रन्थ का समर्पण तो एक नियोग पूर्त मात्र है, सच तो यह है कि तवकृत उपकार इस भारत वसुन्धरा पर अगण्य हैं। समुद्र में पानी की बूंदों को गिनने का प्रयास वाचाल व्यक्ति ही करेगा, सभ्य व्यक्ति इस अज्ञता को क्यों करेगा, हम लोगों का यह अभिवन्दन ग्रन्थ समर्पण का प्रयास भी उसी प्रकार की वाचालता समझना चाहिये।

हे गुरुदेव! चन्द्रसम शीतल सूर्यसम तेजपुञ्ज! पृथ्वी सम क्षमाशील! सरोवर सम गंभीर! अनुकंपाशील हृदय के धारक! आपके अप्रतिम गुणों का गान करने के लिये बृहस्पति भी समर्थ नहीं है, फिर हम अल्पज्ञों का इसमें

प्रवेश कैसे हो सकता है। फिर भी... आपकी एकमात्र भक्ति ही हम भक्तगण शिष्यजनों को बलात् ऐसा करने के लिये प्रेरित कर रही है। आप जैसे निस्पृही संत को इससे क्या लाभ? लाभ तो हमारा है। स्तवन या अभिवन्दन से आपका क्या उपकार होगा? उपकार या अनुपकार से आपको प्रयोजन भी क्या? उपकार तो हमारा होगा—"**अभिवन्दना आपकी उपकार हमारा**"।

हे गुरुदेव! राग से रहित होने के कारण आपको पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है और वैर से रहित होने से आपको निन्दा से कोई मतलब नही है। फिर भी आपके प्रशस्त गुणों का स्मरण हमारे मनको पापरूपी कालिमा से दूर करने वाला है।

अनादिकाल से भारतभूमि ऋषि मुनियों की भूमि रही। इस धरा पर जब तक दिगम्बर सन्तों का विचरण रहेगा तभी तक यहाँ धर्म भी रहेगा। जिस क्षण दिगम्बर सन्तों का अभाव होगा उसी क्षण धर्म का भी अभाव इस धरातल से हो जायेगा। दिगम्बर सन्त इस वसुन्धरा की अमूल्य निधि हैं। सन्त कौन है— "**जिसने सम्यक् प्रकारेण तृष्णा का अन्त किया है वही सन्त कहलाता है**"।

सन्तों ने अपने अध्यात्म मार्ग में विहार करते हुए भी करुणापूर्वक सन्मार्गोपदेश देकर पथ प्रदर्शन किया है। पथ विस्मृत भव्यों को सत्पथप्रदर्शन द्वारा मोक्षमार्गारूढ़ करना सन्तों का अपाय-विचय धर्म्यध्यान कहलाता है। सत्पथ प्रदर्शक श्रमणसंस्कति के उन्नायक अनुकंपापूर्ण आचार्यों ने धर्म का प्रद्योतन कर जिनधर्म की प्रभावना कर धर्मतीर्थ को गतिमान रखा।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतमगणधर स्वामी को केवलज्ञान हुआ। गौतमस्वामी के निर्वाण के पश्चात् सुधर्माचार्य को केवलज्ञान हुआ। अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी हुए। क्रमशः ज्ञान का ह्रास होता गया। तीर्थ के संरक्षक आचार्यों ने अपना कर्तव्य निभाया। आचार्य गुणधर, धरषेण, पुष्पदन्त, भूतबली, यतिवृषभ तथा कुन्दकुन्द उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्दस्वामी आदि महायशस्वी आचार्य हुए। इन्होंने अपने ज्ञान और वैराग्य तथा साधना के बल पर स्व-पर कल्याण किया। इन श्रमणराजों ने वीर शासन की प्रभावना में अद्वितीय योगदान दिया। इसी श्रमणपरम्परा में बीसवीं सदी में महातपस्वी अनुकंपापूर्ण आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी अठारह भाषा के ज्ञाता, तत्त्वज्ञ, जिनधर्म मर्मज्ञ हुए। आचार्य महावीर कीर्तिजी के प्रथम व परम शिष्य आचार्य विमलसागरजी हैं। आचार्य श्री अध्यात्म की जीती जागती मूरत, दया-करुणा-क्षमा की साक्षात् मूर्ति इस युग में सम्प्रति प्रधान जैनाचार्य हैं।

सम्प्रति मानव जीवन मिथ्यात्व की चकाचौंध में फंसा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को भी नहीं पहचानता, सत्य से गुमराह हो भटक रहा है। ऐसे विषम कलिकाल में धर्मनेता आचार्य श्री जी ने अपनी अनुकम्पा से लाखों जीवों को मिथ्यात्व से छुड़ाकर सन्मार्ग पर लगाया है। आपने इस भारत वसुन्धरा पर यत्र-तत्र विहार कर जिन शासन की महती प्रभावना करते हुए समाज का जितना उपकार किया है उसे जैन या भारतीय इतिहास कभी भी विस्मृत नहीं कर पायेगा। अनेकानेक वर्षों में इस धरा पर ऐसे महापुरुषों का जन्म होता है। आप जैसा साधक, जन-मन प्रभावक, करुणामूर्ति सन्त, आज इस पृथ्वीतल पर दुर्लभ है।

धर्म के दो तट हैं— मुनि-आर्यिका व श्रावक-श्राविका। इनकी व्युच्छित्ति होगी तो धर्म का नाश हो जायेगा।

बिन्दुओं के योग से सिन्धु है। यदि एक बिन्दु भी सिन्धु से पृथक हो जाता है तो सूर्य रश्मि उसे सुखा देती है उसी प्रकार जो साधु या श्रावक समाज से हटकर रहेगा वह सूख जायेगा।

प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव से लेकर आज तक साधु व समाज की "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" रूप परिपाटी अनवरत चली आ रही है। कभी इसका उत्थान व पतन भी देखा गया। 'तिलोयपण्णत्ति" ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि चौबीस तीर्थंकरों के बीच सात बार मुनि दीक्षा का ह्रास हुआ, सात बार यह परिपाटी छूटी, फलतः उस समय धर्म की व्युच्छित्ति हुई, आचार-विचार की हीनता हुई। जब तक धर्मात्मा हैं तब तक ही धर्म रहेगा **"न धर्मो धार्मिकैर्बिना" धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं।**

जैसे गाड़ी बनानेवाला कोई होता है और उसे चलानेवाला कोई और होता है ठीक इसी प्रकार तीर्थंकरों ने जिन सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया आचार्यों ने उसका उपबृहण किया। तीर्थंकर तीर्थ के प्रवर्तक है और आचार्य उसके दिग्दर्शक हैं। जैसे ड्राइवर के हाथों गाड़ी की सुरक्षा है, यात्रियों की सुरक्षा है वैसे ही आचार्यों के हाथों में धर्मतीर्थ व धर्मात्माओं की सुरक्षा है।

"न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति" स्व-पर उपकारी सन्तराज के उपकारों को लिपिबद्ध करना समुद्र में मोतियों को गिनने के समान अशक्य है। आचार्य श्री के अभिवन्दनार्थ अभिवन्दन ग्रन्थ समर्पण की प्रथम चर्चा सन् १९८० में श्री अशोकजी दिल्लीवालों ने उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज के समक्ष रखी थी। उपाध्यायजी ने स्वीकृति दी थी। इस योजना का क्रियान्वयन भी नही हो पाया कि इस संबंध में दूसरी-दूसरी रूपरेखाएं उपाध्याय श्री के समक्ष आती रहीं। "श्रेयांसि बहुविघ्नानि"। अशोकजी भी अपने कार्य को मूर्त रूप नहीं दे पाए। कारण अनेकानेक विघ्नरूप दीवारें सामने आकर खड़ी हो गई। इसी ऊहापोह में अभिवंदन ग्रन्थ की चर्चा समाज के विद्वद्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग तक पहुँच गई। परन्तु ग्रन्थ की सही रूपरेखा नहीं बन पाई। इसी परेशानी में लगभग ८ वर्ष की लंबी अवधि बीत गई।

सन् १९८९ में सोनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आचार्य श्री के ७४ वें जन्म-जयन्ती के शुभावसर पर जैन समाज की एक आवाज गूंज उठी "अब अभिवन्दन ग्रन्थ कब?" यह गूंज उपाध्याय श्री के कर्ण को बार-बार स्पर्श करने लगी। जैन समाज के कतिपय विद्वानों व श्रेष्ठीवर्ग ने उपाध्याय श्री के चरण सान्निध्य में ग्रन्थ की नवीन संयोजना करने का विचार प्रस्तुत किया। तत्काल ही सारी रूप रेखा तैयार कर ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन का निर्णय लिया गया।

आचार्य श्री जी धर्मरत्न के धारक महातीर्थ है। यही कारण है कि उनके सान्निध्य में परमशान्ति का अनुभव होता है। नीतिकार की निम्न पंक्तियां चिंतनीय हैं—

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमा।
चन्द्र चन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधुसंगतिः॥

पंचमकालीन इन आचार्य श्री ने गुरु परम्परा से प्राप्त मन्त्र-तन्त्र विद्याओं में पारंगत हो सहस्रों दुखी जीवों के दुख दारिद्र को दूर करते हुए उन्हें मोक्षमार्ग पर आरूढ़ किया है। आज भी शताधिक लोग प्रतिदिन गुरुदेव के चरणों में अपनी दुख भरी कथा कहने आते हैं और प्रसन्न वदन लौटते हैं।

ऐसे मुनि पुंगव, आचार्यरत्न की पुण्यकीर्ति को अक्षुण्ण व चिरस्थायी बनाये रखनेवाला यह अभिवन्दन ग्रन्थ सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री के जीवन का कीर्ति स्तंभ है। इस ग्रन्थ का सार्थक नाम "वात्सल्य रत्नाकर" है जिसका चयन पं. नरेन्द्रप्रकाशजी फिरोजाबाद ने किया।

इस विशालकाय ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभाजित किया गया

प्रथम खण्ड— वात्सल्य रत्नाकर का प्रथम खण्ड पूर्णतया वात्सल्यमूर्ति सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री विमलसागरजी के कर-कमलों में समर्पित है। इस खण्ड का विभाजन सात उपखण्डों में हुआ है— १ श्रद्धा सुमन, २ भावोद्गार, ३ मनोज्ञ व्यक्तित्त्व, ४ बोधामृत, ५ तीर्थाटन व धर्मप्रभावना, ६ योग साधना व ७ प्रश्न हमारे उत्तर आपके। इस प्रकार यह खण्ड आचार्य श्री के प्रेरणास्पद व्यक्तित्त्व की स्पष्ट झलक से पाठकों को आकर्षित करता है।

द्वितीय खण्ड— यह खण्ड चार उपखण्डों में विभाजित है— १. पञ्च परमेष्ठी २. जैन दर्शन आगम और सिद्धान्त ३. आचार्य कुन्दकुन्द ४. जैन शासन के प्रभावक आचार्य। इस खण्ड में विशिष्ट त्यागीवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, मुनि व विदुषी आर्यिका माताओं तथा विद्वानों के सारगर्भित लेख हैं।

तृतीय खण्ड— यह खण्ड श्रमण संस्कृति के उपासकों को समर्पित है। जो श्रमण संघाधिपति आचार्यों, उपाध्यायों, मुनियों व श्रावकों के आचार के प्रति सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। यह खण्ड "नौ" उपखण्डों में विभाजित किया गया है— १. श्रमणाचार २. श्रावकाचार ३. संसार मार्ग ४. जैन तीर्थ ५. जैन पर्व ६. जैन संस्कृति व साहित्य ७. प्रकीर्णक व ८. जैन रामायण। यह खण्ड विविध सामग्रियों से भरपूर मूर्तिकला, मन्त्र विद्या आदि सामग्री से पाठक को आकर्षित कर रहा है।

विशालकाय ग्रन्थ के सम्पादन का महत् भार मुझ जैसी अल्पज्ञा के कंधों पर डाला गया। यह कार्य मेरे लिये अतिभारारोपण ही था। फिर भी शक्त्यनुसार, अपनी बुद्धि अनुसार इसे सुन्दर सरस तथा उपयोगी बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। उपाध्याय श्री की यही भावना रही कि ग्रन्थ के विषय ऐसे हो जो व्युत्पन्न-अव्युत्पन्न सभी के उपयोगी हों, यह मात्र अल्मारी की शोभा बढ़ाकर न रह जावे। तदनुसार ही लेखों का चयन भी हुआ है। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ जन-जन का उपयोगी होकर अज्ञान अन्धकार को दूर कर ज्ञान किरण को प्रसारित करने में सक्षम होगा।

एक कार्य को पूर्ण करने के लिये अनेक समर्थ कारणों की महती आवश्यकता है। सर्वप्रथम मैं उन दिवंगत आत्मा परम श्रद्धेय आचार्यकल्प श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज के प्रति नतमस्तक हूँ जिन्होंने "पद्मपुरा तीर्थ" पर ग्रन्थ प्रकाशन के लिये दिशा बोध दिया तथा विशेष महत्त्वपूर्ण विचारों से हमें अवगत कराया।

मैं नतमस्तक हूँ हमारे प्रेरणा स्रोत गमक गुरु उपाध्याय श्री १०८ भरतसागरजी महाराज के चरण-कमलों में जिनका सान्निध्य, जिनके विचार, जिनका परामर्श तथा जिनका आशीर्वाद हमें प्रतिपल सम्बल देता रहा। आपश्री की उदारता, विशाल सहृदयता ने सतत मार्ग दर्शन देकर मुझे अनुगृहीत किया है। अन्यथा मुझ अल्पज्ञा के लिये यह कार्य असंभव ही था।

ग्रन्थ की रूप रेखा व विषयों के चयन में सहयोगी पूज्य मुनि श्री अमितसागरजी महाराज के उपकार को विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन सभी त्यागी वृन्द (आचार्य, मुनि, आर्यिका) के प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करती

हूँ जिन्होंने हमें समयावधि में ही अपनी विनयाञ्जलि और लेख तथा भावोद्‌गार आदि प्रेषित कर उपकृत किया है क्योंकि ये ही हमारे मूल स्तंभ हैं। परन्तु मैं क्षमाप्रार्थी हूँ कि हम कारणवशात् समयावधि में ग्रन्थ प्रकाशन नहीं कर पाये, अतिक्रम हो गया है।

मैं उन बुधजनों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अपनी लेखनी को आचार्य श्री के गुणानुवाद से पावन कर लिया है तथा जिन्होंने आगमानुकूल सैद्धान्तिक लेखों का लेखन कर हमें अपनी सेवा का समर्पण किया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

पूज्या १०५ आर्यिका नन्दामतीजी माताजी जिन्होंने हमें विशेष सहयोग दिया, मैं उनकी उदारता के लिए कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ। लेखों के वाचन के समय विभिन्न ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ने पर जब भी माताजी के पास पहुँचते उन्होंने तुरन्त ग्रन्थ प्रदान किये, कभी इन्कार नही किया। मैं आप श्री के चरणों में नतमस्तक हूँ।

विभिन्न लेखकों के लेख विभिन्न प्रकार के रहे। किन्हीं में वर्ण-मात्रा की अपेक्षा अशुद्धता अथवा लिपि की अस्पष्टता रही अतः कुछ लेखों की प्रेस कापी पुनः की गई इस कार्य में आर्यिका मुक्तिमतीजी, क्षुल्लक स्याद्वादसागरजी, क्षु. उद्धारमतीजी, संघस्थ ब्र. प्रभाजी, कुसुमजी व उर्मिलाजी व श्रीमान् देवेन्द्रकुमारजी गोधा ग्वालियर का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ ये सभी आशीर्वाद के पात्र हैं। सबके सहयोग के लिये मैं कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

धर्मनेता, श्रेष्ठी वर्ग, राजनेता, देश नेता, सभी आर्य पुरुष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने विनयाञ्जलि, भावोद्‌गार आदि प्रस्तुत कर अपने जीवन को सफल बनाया है।

कर्मठ कार्यकर्ता धर्मचन्दजी शास्त्री के श्रम को विस्मृत नहीं किया जा सकता जिन्होंने ग्रन्थ की विशाल सामग्री जुटाने में, विशेष अनुभव प्रदान करने में हमारा पूर्ण सहयोग किया है।

ग्रन्थ के प्रथम व प्रमुख परामर्शदाता भाई अशोकजी दिल्लीवालों के लिये पूर्ण आशीर्वाद है जिनके सुन्दर विचारों से आज यह महान् कार्य हुआ है।

गुरुभक्ति में निरत श्रद्धालु दान-शिरोमणि संघपति सेठश्री श्रीपालजी व उनका परिवार धन्यवाद के पात्र हैं। आपके पुत्र चिरंजीव राजेन्द्रजी का प्रबल पुरुषार्थ इस ग्रन्थ में अकथनीय है। आपने तन-मन-धन से एकजूट होकर इस कार्य को अनेकों कठिनाईयों का सामना करते हुए धैर्य व साहस के साथ पूर्ण किया है, आप के लिये कोटिशः आशीर्वाद है। गुरुभक्त संघपति श्री श्रीपालजी राजेन्द्रकुमारजी, बम्बई व संघपति श्री शिखरचन्दजी पांचूलालजी पहाडिया, बम्बई-कुचामनसिटी, श्री सुरेन्द्रजी जैन, दिल्ली तथा सम्माननीय सभी सदस्यगण दातारों को पुनः पुनः आशीर्वाद है जिन्होंने अपनी चंचला लक्ष्मी को गुरु भक्ति में समर्पितकर यश प्राप्त किया है।

ग्रन्थ के इस महत् कार्य में फोटोग्राफर श्री अविनाश मेहता, बम्बई, साज-सज्जा में निपुण श्री प्रशान्त शाह, बम्बई, तथा श्री भरतकुमार काला, सौ शैलबाला काला, बम्बई आदि तथा इसके अलावा प्रत्यक्ष-परोक्षरूप से सहयोगी सभी कार्यकर्ताओं के लिये हमारा आशीर्वाद है। अन्त में सभी सहयोगियों के लिये मैं कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

''को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे'' वात्सल्य रत्नाकर अभिवन्दन ग्रन्थ का महत् भार मुझ अल्पज्ञ ने भक्तिवशात्

यथायोग्य पूर्ण करने का प्रयास किया है फिर भी संयोजन में, शुद्धि करण में, आभार व्यक्त करने में त्रुटी रह जाना स्वाभाविक है अतः विज्ञजन क्षमा करेगें। ज्ञानी गुरुजन त्रुटियों का संशोधन कर मुझे अनुगृहीत करें यह मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

अन्त में यह सुनिश्चित है कि "एक कार्य के लिये अनेक कारणों की आवश्यकता होती है" तथा बिना कारण के कार्य नहीं होता। अतः आचार्य श्री के पावन कर-कमलों में गुरु भक्ति का समर्पण एक छोटा सा सुगंधित पुष्प जिसकी कमलवासना में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से भी जिन-जिन त्यागीवृन्द तथा भव्य महानुभावों का हमें सहयोग प्राप्त हुआ है उन सभी का हमारी ग्रन्थ प्रकाशन समिति कृतज्ञता ज्ञापन करती है। "हम कृतज्ञ है सभी सहयोगियों के"।

अन्त में सन्मार्ग-दिवाकर, वात्सल्य-रत्नाकर परमपूज्य गुरुदेव आचार्यश्री के पावन चरणारविन्द में केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद बार शतशः सिद्ध श्रुत आचार्य भक्ति पुरस्सर नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

"तुभ्यं नमः करुणामृत सागराय, तुभ्यं नमः सकलतीर्थ सुवन्दकाय।
स्याद्वाद सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय, तुभ्यं नमः विमलसिन्धु गुणार्णवाय"॥

आ. स्याद्वादमती

आभार

भारतीय संस्कृति ऋषियों, मुनियों, साधु एवं सन्तों की परम्परा से भरी पड़ी है, उनके उपदेश हमें सांस्कृतिक विरासत के रूप में मिले हैं।

आज के विकासवादी विज्ञान का मूल आधार प्राचीन महापुरूषों के चिन्तन का ही फल है, जिसे आज का युग विज्ञान प्रयोग रुप में प्रतिपालन करता है।

भगवान महावीर के जन कल्याणकारी सन्देश आज चारों ओर मुखरित हो रहे हैं तथा जन जन के जीवन मे सत्य अहिंसा और विश्व मैत्री के भाव स्फुरित हो रहे है यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

प. पू. वात्सल्य रत्नाकर, त्यागमूर्ति, चारित्र उपासक आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज का ह्रदय बड़ा विशाल है, वे सरलता की मूर्ति हैं, त्याग वैराग्य की धारा उनके जीवन में प्रवाहित हो रही है। स्वपर कल्याणार्थ आचार्य श्री ने ७८ वर्ष का मूल्यवान जीवन समर्पित किया है। सत्य, अहिंसा और विश्व मैत्री के प्रचारार्थ उन्होनें हजारों मीलों की पद यात्राऐं कर जन जीवन को उद्बोधित किया है।

आचार्य श्री की हीरक जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में स्मृति स्वरुप परम पू. आचार्य श्री के विशिष्ठ शिष्य ज्ञान दिवाकर उपाध्याय श्री भरतसागर जी महाराज की प्रेरणा एवं पू. आर्यिका स्याद्वादमती माताजी के निर्देशन में ७५ आचार्य प्रणीत ग्रन्थों के प्रकाशन का महानतम कार्य सुन्दर रुप में सम्पन्न हुआ। यह हम सब के लिए प्रसन्नता का विषय है। इस अवसर पर अनेक स्थानों पर शिक्षण शिबिर, वाचनालय आदि जन सेवा के कार्य के साथ ७५ विद्वानों का सम्मान भी किया गया है। इसी प्रकार ७५७५ युवावर्ग में सप्तव्यसन का त्याग करने का संकल्प लिया। यह सभी कार्य पू. उपाध्यायश्री की प्रेरणा एवं आशीर्वाद का फल है।

अभिवन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री ज्ञान दिवाकर पू. श्री उपाध्याय भरतसागरजी का तो योगदान है ही। ग्रन्थ की प्रधान सम्पादिका पू. आर्यिका स्याद्वादमतीजी ने स्वास्थ ठीक न होते हुए भी अपना पूर्ण योगदान देकर महानतम कार्य जो वर्षो से रुका पड़ा था उस ज्ञान यज्ञ को अब पूर्ण कर आचार्यश्री के कर कमलों में भेंट करने का संकल्प लिया है। साथ ही इस ज्ञान यज्ञ को पूर्ण करने में संघ संचालिका-ब्र. श्री चित्राबाईजी दिगे, ब्र. कु. प्रभा पाटनी, संघस्थ तथा अन्य धर्म बन्धुओं का प्रत्यक्ष और परोक्ष रुप में सहयोग प्राप्त हुआ है जिनका मैं क्या धन्यवाद ज्ञापन करुँ? मेरे पास धन्यवाद के शब्द ही नहीं है। यह सब उनकी गुरु भक्ति है।

इस ग्रन्थ के मुख्य कर्णधार श्रीमान दानवीर आधुनिक भामाशाह संघपति सेठ श्री. श्रीपाल राजेन्द्रकुमारजी, बम्बई ने जो उदारता पूर्वक अर्थ का सहयोग किया है मैं उनको ह्रदय से धन्यवाद देता हूँ तथा विशेष सहयोगी वर्तमान में संघपति श्री शिखरचन्द पांचूलाल पहाड़िया, सुरेन्द्रजी जैन को भी धन्यवाद देता हूँ तथा वीर प्रभू से प्रार्थना करता हूँ कि वे सपरिवार दीर्घ काल तक धर्म एवं समाज की सेवा करते रहें।

जैसे वर्षा से पूर्व या वर्षा के पश्चात् जब कभी नीलगगन में इन्द्र धनुष्य की मनोहर छटा छिटकती है

तो दर्शक मुग्ध हो कर देखते रहते है, उस सुरम्य दृश्य को देखते-देखते आँखें अघाती नहीं, मन भरता नहीं और ह्रदय की उत्सुकता कम नही होती, वैसे जैनाचार्य वात्सल्य रत्नाकर, त्यागमूर्ति, तीर्थभक्त आचार्य श्री विमल सागर जी का व्यक्तित्व का दर्शन करते समय भी मन कभी अघाता नही, बार बार उन्हे देखने को तृषित होता है। जब जब ज्ञान की आँखों में श्रद्धा की ज्योति जगती है और आचार्य श्री के स्वच्छ, सौम्य, दिव्य व्यक्तित्व की प्रतिमा का दर्शन करते है तो सचमुच ऐसा ही लगता है कि अहो! उनका व्यक्तित्व कितने रमणीय रंगों में रंगा है, यह कह पाना व समझ पाना अति कठिन है, सिर्फ अनुभूति होती है। आचार्य श्री सरलता की साकार मूर्ति है, विनम्रता के पुञ्ज है। ऐसे महान साधक के कर कमलों मे अभिवन्दन ग्रन्थ समर्पित करना महान सौभाग्य की बात है। संत पुरुष राष्ट्र पुरुष होते है। इन राष्ट्र पुरुषों का अभिवन्दन राष्ट्र का अभिवन्दन है। प्रकाशन समिति आचार्य श्री के कर कमलों में बृहद्काय ग्रन्थ समर्पित कर स्वयं गौरव का अनुभव करती है।

ग्रन्थ के प्रकाशन में आशीर्वाद प्रदाता, प्रेरणा स्रोत सन्त श्री, सम्पादक मण्डल, प्रकाशन समिति, दानवीर आदि का बहुत ही आभारी हूँ जिनके अमूल्य मार्गदर्शन से यह सब सम्भव हुआ। ग्रन्थ की साज सज्जा एव उत्कृष्ट मुद्रण के लिए भाई श्री. आर. के. जैन, प्रशान्त शाह, श्री भरतकुमार काला, सौ शैलबाला काला, बम्बई सर्वाधिक धन्यवाद के पात्र है जिन्होंने अपना पुरा समय इस कार्य मे लगाकर सत्यता को सुन्दरता के सांचे मे ढाला है।

अन्त में प. पू. उपाध्यायश्री के चरणों मे वंदन करता हूँ कि पू. श्री के निर्देशन मे श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद संस्था का निर्माण हुवा तथा अल्प अवधि मे अनेकानेक आचार्य प्रणीत ग्रन्थो का प्रकाशन हो सका। आज संस्था युवा रुप मे है तथा पू. श्री को विश्वास दिलाता हूँ कि संस्था आपके मगलमय आशीर्वाद से आगे धार्मिक एवं पुण्यवर्धक कार्य करती रहेगी।

पू. आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज शतायु होकर आत्म साधना मे लीन हो परोपकार मे सहायी बने। पू. श्री के चरणों में नमोस्तु करता हूँ, तथा आशीर्वाद चाहता हूँ कि यह परिषद जैन धर्म, साहित्य एवं समाज की निरन्तर सेवा करती रहे। इसी भावना के साथ पुनः सभी चारित्र आराधकों के चरणो मे वदन।

णमो लोए सव्वसाहूणं।

ब्र. धर्मचंद शास्त्री
प्रतिष्ठाचार्य
अध्यक्ष
श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद

॥वात्सल्यरत्नाकर॥
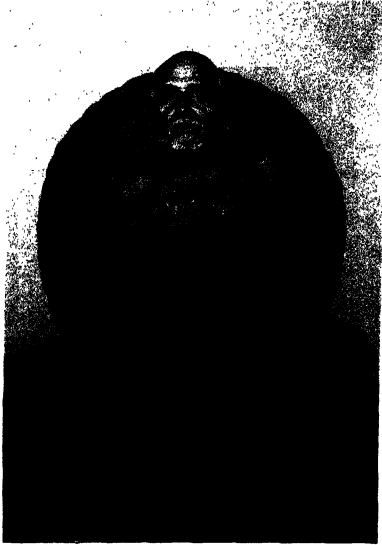
आचार्य श्री विमलसागरजी महाराजके दीक्षा गुरु

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

अनुक्रमणिका

तृतीय खण्ड

श्रमणाचार

श्रमणाचार

❑ डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

दिगम्बरत्व का महत्त्व

मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधक की चरम अवस्था में दिगम्बरत्व अनिवार्य है, किन्तु वह अन्तरंग एवं बाह्य, दोनों ही प्रकार का युगपत् होना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है। यह मार्ग दुस्साध्य है। यही कारण है कि लगभग एक सवा करोड़ जैनों की संख्या में २५० सौ करीब ही दिगम्बर मुनि हैं। वे सभी दिगम्बरत्व के साधक हैं और २८ मूलगुणों को निरतिचार से पालन करते हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि दिगम्बर मुनि अपनी अत्यन्त कठोरचर्या, व्रत, नियम, संयम तथा शीत-उष्ण-दंश-मशक-नाग्न्य-लज्जा आदि बाईस परीषहों को जीतने एवं नाना प्रकार के उपसर्गों को सहन करने में सक्षम होता है। उसका जीवन एक खुली पुस्तक होता है। ज्ञान की उसमें कमी या अल्पाधिक्य हो सकता है। संस्कारों या परिस्थितिजन्य दोष भी लक्ष्य किये जा सकते हैं, अथवा दिगम्बर मुनि के आदर्श की कसौटी पर भी वह भले ही पूरा-पक्का न उतर पाये, तथापि अन्य परम्पराओं के साधुओं की अपेक्षा अपने नियम-संयम, तप एवं कष्टसहिष्णुता में वह श्रेष्ठतर ही ठहरता है। फिर जो मुनि आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं, उन मुनिराजों की बात ही क्या है, वे सच्चे साधु या सच्चे गुरु ही आचार्य-उपाध्याय-साधु के रूप में पंच-परमेष्ठी में परिगणित हैं, वे मोक्षमार्ग के पूजनीय एवं अनुकरणीय मार्गदर्शक होते हैं। वे तरणतारण होते हैं। उन्हीं के लिए कहा गया है—

> धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विषयाकुले।
> विचरन्ति गतग्रन्थाश्चतुरंगे निराकुलाः॥

इस दिगम्बर मार्ग के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर आदिदेव ऋषभ थे। जिनदीक्षा लेने के उपरान्त उन्होंने दिगम्बर मुनि के रूप में तपश्चरण करके केवलज्ञान एवं तीर्थंकर पद प्राप्त किया था। उनके भरतबाहुबली आदि अनेक सुपुत्रों और अनगिनत अनुयायियों ने इसी दिगम्बर मार्ग का अवलम्बन लेकर आत्मकल्याण किया है। भगवान् ऋषभ के समय से लेकर अद्य पर्यन्त यह दिगम्बर मुनि परम्परा अविच्छिन्न चली आयी है। बीच-बीच में मार्ग में काल-दोष से विकार भी उत्पन्न हुए, चारित्रिक शैथिल्य भी आया, किन्तु संशोधन-परिमार्जन भी होते रहे हैं।

जैन परम्परा का स्वयं वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी, जो जैन साधु के लिए दिगम्बरत्व को अपरिहार्य नहीं मानता और साधुओं को सीमित-संख्यक, बिनसिले श्वेत वस्त्र धारण करने की अनुमति देता है, इस तथ्य को मान्य करता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर अपने जीवन में अचेलक अथवा दिगम्बर ही रहे थे, अन्य अनेक पुरातन जैन

मुनि दिगम्बर रहे, तथा यह कि जिनमार्ग में जिनकल्पी साधुओं का श्रेष्ठ एवं श्लाघनीय रूप अचेलक है। कला के क्षेत्र में भी ८वीं ९वीं शती ई. से पूर्व की प्रायः सभी उपलब्ध तीर्थंकर या जिनप्रतिमाएँ दिगम्बर ही हैं और वे उभयसम्प्रदायों के अनुयायियों द्वारा समान रूप से पूजनीय रहीं, आज भी हैं। कालान्तर में साम्प्रदायिक भेद के लिए श्वेताम्बर साधु जिनमूर्तियों में भी लंगोट का चिह्न बनवाने लगे एवं मुकुट, हार, कुंडल, चोली-आंगी, कृत्रिम नेत्र आदि का प्रचलन तो इधर लगभग दो-अढ़ाई सौ वर्ष के भीतर ही हुआ है।

जैन-परम्परा में ही नहीं, अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी श्रेष्ठतम साधकों के लिए दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा की गयी प्राप्त होती है। प्रागैतिहासिक एवं प्राग्वैदिक सिन्धु-घाटी सभ्यता के मोहन-जोदड़ो से प्राप्त अवशेषों में कायोत्सर्ग दिगम्बर योगिमूर्ति का धड़ मिला है। स्वयं ऋग्वेद में वातरशना (दिगम्बर) मुनियों का उल्लेख हुआ है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक में उक्त वातरशना मुनियों को श्रमणधर्मा एवं ऊर्ध्वरेतस (ब्रह्मचर्य से युक्त) बताया है। श्रीमद्भागवत में भी वातरशना मुनियों के उल्लेख हैं तथा वहाँ अन्य अनेक ब्राह्मणीय पुराणों में नाभेय ऋषभ को विष्णु का एक प्रारम्भिक अवतार सूचित करते हुए उन्हें ही दिगम्बर चित्रित किया गया है। ऐसे उल्लेखों पर से स्व. डॉ. मंगलदेव शास्त्री का अभिमत है कि 'वातरशना-श्रमण' एक प्राग्वैदिक मुनि परम्परा थी और वैदिक धारा पर उसका प्रभाव स्पष्ट है।

कई उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत आदि अनेक ब्राह्मणीय धर्मग्रन्थों, वृहत्संहिता, भर्तृहरिशतक तथा क्लासिकल संस्कृत साहित्य में भी दिगम्बर मुनियों के उल्लेख एवं दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। ब्राह्मण परम्परा में ६ प्रकार के संन्यासियों का विधान है जिनमें तुरायातीत श्रेणी के संन्यासी दिगम्बर ही रहते थे। जड़-भरत, शुकदेव मुनि आदि कई दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं। परमहंस श्रेणी के साधु भी प्रायः दिगम्बर रहते हैं। मध्यकालीन साधु-अखाड़ों में भी एक अखाड़ा दिगम्बरी नाम से प्रसिद्ध है। पिछली शती के वाराणसी निवासी महात्मा तैलंग स्वामी नामक सिद्ध योगी, जो रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रबुद्ध संतों एवं सुधारकों द्वारा भी पूजित हुए, सर्वथा दिगम्बर रहते थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिए नग्नता का विधान नहीं है, किन्तु स्वयं गौतमबुद्ध ने अपने साधनाकाल में कुछ समय तक दिगम्बर मुनि के रूप में तपस्या की थी। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी सहज नग्नत्व को निर्दोषता का सूचक एवं श्लाघनीय माना। जलालुद्दीन रूमी, अलमन्सूर, सरमद जैसे सूफी सन्तों ने दिगम्बरत्व की सराहना की। सरमद तो सदा नंगे रहते ही थे। उनकी दृष्टि में तो 'तने उरियानी (दिगम्बरत्व) से बेहतर नहीं कोई लिबास, यह वह लिबास है जिसका न उल्टा है न सीधा।' सरमद का कौल था कि 'पोशानीद लबास हरकारा ऐबदीद, बे ऐबारा लबास अयानीदाद' पोशाक तो मनुष्य के ऐबों को छिपाने के लिए है, जो बेऐब निष्पाप हैं उनका परिधान तो नग्नत्व ही होता है। नन्द-मौर्य कालीन यूनानियों ने भारत के दिगम्बर मुनियों (जिम्नोसोफिस्ट) के वर्णन किये हैं, युवान-च्वांग आदि चीनी यात्रियों ने भी भारत के विभिन्न

स्थानों में विद्यमान दिगम्बर (लि-हि) साधुओं या निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है। सुलेमान आदि अरब सौदागरों और मध्यकालीन यूरोपीय पर्यटकों में से कई ने उनका संकेत किया है। डॉ. जिम्मर जैसे मनीषियों का मत है कि प्राचीन काल में जैन मुनि सर्वथा दिगम्बर ही रहते थे।

वास्तव में दिगम्बरत्व तो स्वाभाविकता और निर्दोषिता का सूचक है। महाकवि मिल्टन ने अपने काव्य "पैरेडाइज लास्ट" में कहा है कि आदम और हव्वा जब तक सरलतम एवं सर्वथा सहज निष्पाप थे, स्वर्ग के नन्दकानन में सुखपूर्वक विचरते थे, किन्तु जैसे ही उनके मन विकारी हुए उन्हें उस दिव्यलोक से निष्कासित कर दिया गया। विकारों को छिपाने के लिए ही उनमें लज्जा का उदय हुआ और परिधान (कपड़ों) की उन्हें आवश्यकता पड़ी। महात्मा गांधी ने एक बार कहा था, "स्वयं मुझे नग्नावस्था प्रिय है, यदि निर्जन वन में रहता होऊँ तो मैं नग्न अवस्था में रहूँ।" काका कालेलकर ने क्या ठीक ही कहा है, "पुष्प नग्न रहते हैं। प्रकृति के साथ जिन्होंने एकता नहीं खोयी है ऐसे बालक भी नग्न घूमते हैं। उनको इसकी शरम नहीं आती है और उनकी निर्व्याजिता के कारण हमें भी लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता। लज्जा की बात जानें दें, इसमें किसी प्रकार का अश्लील, वीभत्स, जुगुप्सित, अरोचक हमें लगा है ऐसा किसी भी मनुष्य का अनुभव नहीं। कारण यही है कि नग्नता प्राकृतिक स्थिति के साथ स्वभाव शुदा है। मनुष्य ने विकृत ध्यान करके अपने विकारों को इतना अधिक बढ़ाया है और उन्हें उल्टे रास्तों की ओर प्रवृत्त किया है कि स्वभाव सुन्दर नग्नता सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं, अपने कृत्रिम जीवन का है।"

वस्तुतः निर्विकार दिगम्बर सहज वीतराग छवि का दर्शन करने से तो स्वयं दर्शक के मनोविकार शान्त हो जाते हैं—अब चाहे वह छवि किसी सच्चे साधु की हो अथवा जिन-प्रतिमा की हो। आचार्य सोमदेव कहते हैं कि समस्त प्राणियों के कल्याण में लीन ज्ञान-ध्यान तपःपूत मुनिजन यदि अमंगल हों तो लोक में फिर और क्या ऐसा है जो अमंगल नहीं होगा।

***

जिनमुद्रा का अधिकारी कौन?

❑ मुनि श्री अमितसागरजी

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रसगति पानी,
नर काया को सुरपतितरसै सो दुर्लभ प्राणी।
उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ श्रावककुल पाना,
दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ संयम पंचम गुणठाणा॥२४॥

दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षा का धरना,
दुर्लभ मुनिवर के व्रत पालन शुद्ध भाव करना।
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन बोधि ज्ञान पावे,
पाकर केवलज्ञान जगत में फेरि नहीं आवे॥२५॥(बारह भावना मंगत)

इस संसार में इस जीवात्मा का अस्तित्व अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगा। भले ही यह जीव संसार से मोक्ष क्यों न पहुँच जाये, क्योंकि असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी विनाश नहीं होता, मात्र पर्यायें बदलती हैं। पर्यायों का बदलना द्रव्य को अंतरंग बहिरंग कारण मिलने से होता है यतः"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्"। इस अपेक्षा से द्रव्य संसार में रागद्वेष-मोह की परिणति से यत्र-तत्र सर्वत्र परिभ्रमित होते हुए भी अपने मूल स्वभाव से च्युत नहीं होता है। इस जीव का मूल-स्वभाव चेतना है जो कि नित्यनिगोद जीव के भी विद्यमान है। लेकिन वहाँ से उस जीव को व्यवहार-राशि में आना अत्यन्त दुर्लभ है। नित्य-निगोद से छह महीने आठ समय में छह सौ आठ जीव उद्धृत होकर व्यवहार-राशि में आते हैं। उस निगोद से बाहर निकलने के लिए लेश्या की मन्दता होनी अनिवार्य है। उसी मन्दता का परिणाम है कि वह जीवात्मा व्यवहार-राशि में आ पाता है। इसीलिए इस जीवात्मा को त्रस पर्याय प्राप्त होना चिन्तामणिरत्न के समान माना गया है—

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि, त्यों पर्याय लही त्रस तणी।
लट-पिपील-अलि-आदि शरीर, धर-धर मर्‍यो सही बहुपीर।।१/६॥(छहढाला)॥

दो-इन्द्रिय से सैनी पंचेन्द्रिय तक पहुँचकर इस जीव ने इस मनुष्य-जन्म को पाया है जिसे स्वर्गों के इन्द्र भी प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। मनुष्य-जन्म प्राप्त होने पर भी उत्तम देश, उत्तम कुल-जाति का मिलना अतिदुर्लभ है, फिर भी ऐसा पाया जाता है कि—

भ्राम्यत्कालमनन्तमत्र जनने प्राप्नोति जीवो न वा,

मानुष्यं यदि दुष्कुले तदगतः प्राप्तं पुनर्नश्यति।
सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भेऽपि जन्मन्यपि,
प्राग्बाल्येऽपि ततोऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वरः॥ (पद्मनन्दि पं., श्लोक २०)

ऐसा दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर भी श्रावक-कुल पाना महानतम दुर्लभ है, जिसमें आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। फिर भी हरेक जीव की शक्ति आत्म-कल्याण करने के लिए जागृत नहीं होती, क्योंकि अनादि का मिथ्यात्व कर्म इस जीवात्मा को सम्यक्त्वोत्पत्ति में बाधक बना रहता है।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय नरक से निकला जीव तीर्थंकर तक बन सकता है। चौथे नरक से निकला जीव निर्वाण प्राप्त कर सकता है। पाँचवें नरक से निकला जीव मुनि बन सकता है। छठे नरक से निकला जीव देशव्रत ग्रहण करने की पात्रता रखता है एवं सातवें नरक से निकला हुआ जीव सम्यक्त्व धारण करने का अधिकारी हो सकता है।

अनन्तकाल पर्यन्त इस संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव को मनुष्यपने की प्राप्ति होगी ही होगी, ऐसा कोई निश्चय नहीं, और यदि दैव योग से इस जीव को मनुष्य-भव मिल भी गया तो खोटे कुल में जन्म लेने पर पाया हुआ मनुष्यपना पापों से नष्ट हो जाता है। यदि श्रेष्ठकुल में जन्म हुआ, तो प्रथम तो गर्भ में ही मर जाता है। यदि गर्भ से बच जाये तो जन्मते ही मर जाता है। यदि जन्मते समय भी न मरे तो बाल्यावस्था में मर जाता है, और यदि बाल्यावस्था में न मर सका तो नाना व्याधियों से युक्त यौवन अवस्था के बाद वृद्धावस्था में तो मरण नियम से है। इसमें भी इन्द्रियों की पूर्णता होना अति दुर्लभ है।

'प्रवचनसार' की चरणानुयोग-चूलिका में भी अमृतचन्द्र आचार्य ने निम्न श्लोक कहा है—

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः, द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि, द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥१३॥

अर्थात् द्रव्य की सिद्धि में चरणसिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है—यह जानकर कर्मों से (पापों से) विरत तथा अन्य भी द्रव्य से अविरुद्ध चरण का पालन करो अर्थात् चारित्र-पालन करो।

'प्रवचनसार' के ज्ञेय-तत्त्व-प्रज्ञापन नामक द्वितीय महास्कंध की समाप्ति करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि—

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि,
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं,
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥१२॥

अर्थात् चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है— इस प्रकार परस्पर दोनों सापेक्ष हैं, इसीलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्ग में आरोहण करे।

इसीलिए कुन्दकुन्दाचार्य ने 'प्रवचनसार' में दिगम्बर दीक्षा लेने वाले पात्र की ओर संकेत किया है कि कौन-सा मनुष्य दीक्षा का पात्र है—

> वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवो सहो वयसा।
> सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो॥२२४॥

इस गाथा की संस्कृत टीका जयसेनाचार्य ने इस प्रकार की है—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों में से कोई एक वर्ण का धारी हो, जिसका शरीर नीरोग हो, जिसमें तप करने की सामर्थ्य हो, अतिवृद्ध व अतिबाल न होकर योग्यवय सहित हो, जिसका मुखभंग दोषरहित निर्विकार हो तथा वह इस बात का बतलाने वाला हो कि इस साधु के भीतर निर्विकार परम चैतन्य परिणति शुद्ध है तथा जिसका लोक में दुराचारादि के कारण से कोई अपवाद न हो, ऐसा गुणधारी पुरुष ही जिनदीक्षा ग्रहण के योग्य होता है। शूद्र भी अपने योग्य नियम-व्रत को धारण कर सकता है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि जैन-शासन के मूलागम के प्रख्यात आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी की ओर से शूद्र को दिगम्बर दीक्षा का निषेध है और सवस्त्र मुक्ति एवं स्त्री-मुक्ति का भी निषेध है, क्योंकि त्रैलोक्यपूज्य जिनेन्द्रदेव की मुद्रा को धारण करने का अधिकार पुण्य-प्राप्य है, अतिदुर्लभ है अर्थात् कोई हँसी खेल नहीं है।

इसीलिए जैनधर्म में तीन चिह्न रूप मुद्रायें ही श्रद्धान करने योग्य हैं, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने अष्टपाहुड ग्रन्थ में कहा है—

> एकं जिणस्स रूवं, बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
> अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि॥१८॥ (दंसणपाहुड)

> दुइयं च उत्त लिंगं, उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
> भिक्खं भमइ पत्तो समिदि भासेण मोणेण॥२१॥

> लिंगं इत्थीणं हवदि भुंजइ पिण्डं सुएयकालम्मि।
> अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेई॥२२॥ (सुत्तपाहुड)

जिन मत में तीन लिंग (वेष) बतलाये हैं। उनमें एक तो जिनेन्द्र भगवान का निर्ग्रन्थ लिंग है। दूसरा, उत्कृष्ट श्रावकों—ऐलक-क्षुल्लक का है और तीसरा आर्यिकाओं का है। इसके सिवा चौथा लिंग नहीं है।

दूसरा लिंग ग्यारहवी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों का है जो भिक्षा के लिए भाषा-समिति

अथवा मौनपूर्वक भ्रमण करते हैं और पात्र में भोजन करते हैं।

तीसरा लिंग स्त्रियों का है। वे क्षुल्लिका और आर्यिका के भेद से दो प्रकार की हैं। क्षुल्लिका पात्र में भोजन करती हैं एवं आर्यिका करपात्री है। आर्यिका एक ही वस्त्र (साड़ी) रखती हैं और वस्त्रों सहित ही भोजन करती हैं।

इन तीनों लिंगों के रूप में कुन्दकुन्द आचार्य ने तीन प्रसिद्ध दिगम्बर मान्यताओं का निर्देश किया है। क्रमशः तीन बातें निषेध रूप में व्यक्त की हैं अर्थात् सवस्त्र मुक्ति, शूद्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति तीनों का निषेध किया है। प्रथम, जिनेन्द्र निर्ग्रन्थ वेष त्रिवर्णी (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही धारण कर सकते हैं। अर्थात् त्रिवर्णी पुरुष को ही उत्कृष्ट रूप से मुनि बनने का अधिकार है। त्रिवर्णी अणुव्रती को ग्यारहवीं प्रतिमा या क्षुल्लक की दीक्षा देने वाले आचार्य को 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में अमृतचन्द्राचार्य ने दण्डनीय बतलाया है क्योंकि महापुरुष महान् कार्य की सिद्धि के लिए महाव्रत धारण करते हैं। शक्ति के अभाव में अणुव्रत भी उन्हें ग्राह्य हैं परन्तु दूसरा लिंग जो क्षुल्लकों का है वह सद्शूद्रों द्वारा भी धारण किया जा सकता है क्योंकि शूद्र को इससे ऊपर का वेष-धारण करने का अधिकार नही है। शूद्र दो प्रकार के होते हैं, ऐसा आगम में वर्णित है।

> कारिणोऽपि द्विधा सिद्धा भोज्याभोज्य-प्रभेदतः।
> भोज्यण्येव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम्॥१५४॥ (प्रायश्चित्त-चूलिका)

अर्थात् कारू शूद्र दो प्रकार के होते हैं—भोज्य अर्थात् जिनका अन्नपान चारो वर्ण वाले खाते हैं (यदन्नं पानं ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः भुजन्ते) और अभोज्य अर्थात् जो भोज्य से विपरीत हैं। भोज्य-शूद्रों में ही सदा क्षुल्लक-व्रत (दीक्षा) देना चाहिए।

पंडित टोडरमल जी 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में शूद्र को मुनि बनने का निषेध करते हुए लिखते हैं—"बहुरि शूद्रनिकों मोक्ष कहैं। सो चाण्डालादिक को गृहस्थ सन्मानादिक करि दानादिक कैसे दें, लोक विरुद्ध होय। बहुरि नीच कुल वालों के उत्तम परिणाम न होय सकैं। बहुरि नीच गोत्र कर्म का उदय तो पंचम गुणस्थान पर्यन्त ही है उपरिके गुणस्थान चढ़े बिना मोक्ष कैसे होय। जो कहोगे—संयमधारे पीछै वाकै उच्चगोत्र ही का उदय कहिए तो संयम धारने न धारने की अपेक्षा तैं नीच-उच्च गोत्र का उदय ठहर्‌या। ऐसे होते असंयमी मनुष्य क्षत्रियादिक तिन कैं भी नीच गोत्र का उदय ठहरै। जो उनके कुल अपेक्षा उच्चगोत्र का उदय कहोगे तो चाण्डालादिक के भी कुल अपेक्षा ही नीच गोत्र का उदय कहो। ताका सद्भाव तुम्हारे सूत्रनि विषै भी पंचम गुणस्थाने पर्यन्त ही कहता है। सो कल्पित कहने में पूर्वापर विरुद्ध होय ही होय। तातै शूद्रनिकैं मोक्ष का कहना मिथ्या है।"

आचार्य जिनसेन, गुणभद्र महान् आचार्यों ने भी शूद्र के लिए मुनि-दीक्षा और शुक्लध्यान का निषेध किया है—

जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः॥—उत्तर पु., पर्व ७४

जिनका शुद्ध जाति-गोत्र आदि धर्म शुक्लध्यान के कारण हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य त्रिवर्ण कहलाते हैं और बाकी शूद्र कहे गये हैं।

नरेन्द्रसेनाचार्य ने भी सिद्धान्तसारसंग्रह में जिनदीक्षा के अधिकारी पात्रों की विवेचना इस प्रकार की है—

ब्राह्मणक्षत्रियाणां च वैश्यानां च प्रकल्पते।
जैनी-मुद्रा-विहीनाय दत्ता पापाय जायते॥१४८॥

अर्थात् दिगम्बर दीक्षाधारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही योग्य है, इनसे हीन शूद्रादिक को यदि दीक्षा दी जायगी तो दीक्षादाता प्रायश्चित्त योग्य होता है।

पंडित आशाधर जी रचित एवं जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् पं. कैलाशचंद जी शास्त्री जी द्वारा सम्पादित सागारधर्मामृत में भी निम्नवार्ता लिखी है जो पठनीय-मननीय व आचरणीय है- "अथ प्रकृतुमुपसंहरन् सार्वकालिक सम्यक्त्व-शुद्धिपूर्वकमद्यादि-विरतिकृतां कृतोपनीतानां ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां जिन-धर्मश्रुत्याधिकारितामाविष्कर्तुमाह—

अर्थात् अब प्रकृत अष्टमूल गुणों की चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार सार्वकालिक सम्यक्त्व की शुद्धिपूर्वक आठ मूलगुणों का पालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को, जिनका उपनयन (जनेऊ) संस्कार हो गया है, जिनधर्म सुनने का अधिकारी बतलाते हैं।"

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।
जिनधर्म-श्रुतेर्योग्यः स्यात् कृतोपनयो द्विजः॥१९॥

इस प्रकार जीवनपर्यन्त अनन्त संसार के कारण महापाप को जन्म देने वाले मद्य आदि जो पहले विस्तार से कहे गये हैं उनको छोड़कर सम्यक्त्व से विशुद्ध बुद्धि वाला द्विज (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) उपनयन संस्कार हो जाने पर वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म को अथवा उपासकाध्ययन आदि शास्त्र को सुनने का अधिकारी होता है।

इसी सागारधर्मामृत में कहा है कि जैनकुल में जन्म लेकर जन्म से अष्टमूलगुणों का पालन करने वाले और दीक्षा के योग्य, मिथ्या कुल में भी जन्म लेकर अवतार आदि क्रियाओं के द्वारा अपने को मिथ्यात्व से छुड़ाकर पवित्र करने वाले भव्य के माहात्म्य का वर्णन करते हैं—

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद् गुणै-
र्येऽयत्नोपनतैः स्फुरन्ति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते।
येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणै-
र्विद्या-शिल्प-विमुक्त-वृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान्॥२०॥—अ. द्वि., सागारधर्मा.

—पूर्वजन्म में सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गये धर्म के अभ्यास के माहात्म्य से जो जैन कुल में उत्पन्न होकर अपने को बिना प्रयत्न के प्राप्त हुए सम्यक्त्व आदि गुणों से लोगों के चित्त में चमत्कार करते हैं, वे पुण्यशालियों के मुखिया बहुत थोड़े हैं और जो मिथ्यात्व सहचारी पुण्यकर्म के उदय से विद्या और शिल्प से आजीविका न करने वाले अतएव दीक्षा के योग्य, मिथ्यादृष्टि कुल में भी जन्म लेकर, अपने को सम्यक्त्व आदि गुणों से पवित्र करते हैं वे भी उन जैन कुल में जन्म लेने वालों का ही अनुसरण करते हैं अर्थात् जैन बन जाते हैं।

पं. आशाधर भव्य मिथ्यादृष्टि जीव को परिभाषित करते हुए कहते हैं—"अथ द्विजातिषु कुलक्रमायात- मिथ्याधर्म-परिहारेण विधिवज्जिनोक्त-मार्गमाश्रित्य स्वाध्याय-ध्यानबलादशुभकर्माणि निघ्नन्तं भव्यमभिष्टौति—

तत्त्वार्थप्रतिपद्यतीर्थकथनादादाय देशव्रतं
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्त दुर्दैवतः।
आङ्गं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः
पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन् धन्यो निहन्त्यंहसी॥२१॥—(सागराधर्मामृत द्वि.अ.)

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुल-परम्परा से आये मिथ्या धर्म को छोड़कर और विधिपूर्वक जैन मार्ग को स्वीकार करके स्वाध्याय और ध्यान के बल से अशुभ कर्मों का घात करते हैं वे भव्य जीव अभिनन्दनीय हैं।

धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्य के उपदेश से जीवादिक तत्त्वार्थ का निश्चय करके अष्टमूलगुण आदि एकदेशव्रत को अंगीकार करे तथा देशव्रत की दीक्षा लेने से पहले गुरुमुख से पंचनमस्कार नाम महामन्त्र को ग्रहण करे तथा अब तक जिन मिथ्यादेवों को मानता था उनका त्याग कर दे एवं ग्यारह अंग और चौदह पूर्व सम्बन्धी उद्धार ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद अन्यमत के शास्त्र पढ़े। तथा प्रति मास दो अष्टमी दो चतुर्दशी की रात्रि में रात्रि-प्रतिमा-योग का अभ्यास करता हुआ वह पुण्यशाली व्यक्ति द्रव्यपाप और भावपाप को नष्ट करता है।

इससे सिद्ध होता है कि वर्णलाभ के अधिकारी मिथ्यादृष्टि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही हैं, शूद्र नहीं; क्योंकि शूद्रों के यज्ञोपवीत आदि संस्कार नहीं होते हैं तब फिर उन शूद्रों को मुनि बनने का अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है। अतः शूद्रों को धर्मलाभ की प्रक्रिया प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

शूद्रोऽप्युपकाराचारवपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादि-लब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक्॥२२॥—सागारधर्मामृत

आसन आदि उपकरण, मद्य आदि के विरतिरूप आचार और शरीर की शुद्धि से विशिष्ट शूद्र भी जिनधर्म के सुनने के योग्य होता है। क्योंकि वर्ण से हीन भी आत्मा योग्य काल-देश आदि की प्राप्ति होने पर श्रावक धर्म का आराधक होता है।

यद्यपि दीक्षा के योग्य तीन वर्ण होते हैं तथापि शूद्र को भी अपनी मर्यादा के अनुसार धर्म-सेवन का अधिकार है। किन्तु इसके लिए उसका निवासस्थान, खानपान तथा शरीर शुद्ध होना आवश्यक है। आचार्य सोमदेव ने कहा है कि आचार-शुद्धि, घर-बर्तन वगैरह की सफाई और शरीर-शुद्धि शूद्र को भी देव, द्विज और तपस्वियों की सेवा के योग्य बनाती है। उन्होंने, जिनमें पुनर्विवाह अर्थात् विधवा विवाह (करा-धरा) प्रचलित नहीं है उन्हें सत्‌शूद्र कहा है। महापुराण में कहा है कि जो दीक्षा के अयोग्य कुल में उत्पन्न हुए हैं और नाचना-गाना आदि विद्या और शिल्प से आजीविका करते हैं ऐसे पुरुषों को यज्ञोपवीत आदि संस्कार की आज्ञा नहीं है किन्तु ऐसे लोग अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो जीवनपर्यन्त एक शाटक (धोती) धारण करके व्रती रह सकते हैं। क्रूरता न करना, सत्य बोलना, पराया धन न लेना, परिग्रह का परिमाण और निषिद्ध स्त्री में ब्रह्मचर्य का पालन ये सर्वसाधारण का धर्म है इसे सभी वर्णवालों को पालना चाहिए।

जिनसेनाचार्य ने ३९वें पर्व में दिगम्बर-दीक्षा का अधिकारी कौन है? इस बात को इस प्रकार से निरूपित किया है- गृहस्थधर्म का पालन कर, घर के निवास से विरक्त होते हुए पुरुष को (जो दीक्षा ग्रहण करता है उसे) परिव्राज्य कहते हैं। मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष को शुभतिथि, शुभनक्षत्र, शुभयोग, शुभलग्न और शुभग्रहों के अंश में निर्ग्रन्थ आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। दीक्षा का पात्र कैसा हो?

> विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः।
> दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः॥१५८॥

अर्थात् जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, उत्तम चरित्र है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करने के योग्य माना गया है। जिस दिन ग्रहों का उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य-चन्द्रमा पर परिवेश (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्टग्रहों का उदय हो, आकाश मेघपटल से ढका हो, नष्ट मास अथवा अधिक मास का दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षय तिथि का दिन हो उस दिन बुद्धिमान आचार्य को मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्यों के लिए दीक्षा की विधि नहीं करनी चाहिए। अर्थात् आचार्य उसदिन किसी नवीन शिष्य को दीक्षा नहीं देते हैं।

> सम्प्रदायमनादृत्य यस्त्विमं दीक्षयेदधीः।
> स साधुभिर्बहिः कार्यो वृद्धात्यासादनारतः॥१६१॥

अर्थात् जो मन्दबुद्धि आचार्य इस सम्प्रदाय का अनादर कर नवीन शिष्य को दीक्षा दे देता है वह वृद्ध पुरुषों के उल्लंघन करने में तत्पर होने से अन्य साधुओं के द्वारा बहिष्कार कर देने योग्य है। तात्पर्य यह कि जो आचार्य उक्त कथन का उल्लंघन करके शिष्यों को दीक्षा दे देता है वह वृद्ध आचार्यों की मान्यता का उल्लंघन करता है। इसीलिए साधुओं को चाहिए

कि वे ऐसे आचार्य को अपने संघ से बाहर कर दें।

संघ के कैसे आचार्य होते हैं, इस बात का धवला ग्रन्थ एक में विवरण दिया है:

देस-कुल-जाइ सुद्धो सोमंगो संग-भंग उम्मुक्को।
गयणव्व निरूवलेवो आइरियो एरिसो होइ॥३०॥

जो देश, कुल, जाति से शुद्ध हैं, सौम्य-मूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं ऐसे आचार्य-परमेष्ठी होते हैं।

देस-कुल-जाइ-सुद्धा, विसुद्ध-मण-वयण काय-संजुत्ता।
तुम्हं पाय-पयोरुह-मिह मंगल-मत्थु मे णिच्चं॥१॥

जो देश, कुल एवं जाति से शुद्ध हैं तथा मन-वचन-काय की शुद्धि से संयुक्त हैं वे आचार्य कुल और जाति से शुद्ध तीन वर्ण वालों को ही दीक्षा देते हैं। यदि स्वयं आचार्य की कुल-शुद्धि नहीं होगी तो वह दीक्षार्थी एवं दाता श्रावक की कुल-जाति की भी शुद्धि नहीं देखेगा और मोक्षमार्ग को दूषित करेगा।

'प्रायश्चित चूलिका ग्रन्थ' में यहाँ तक कहा गया है कि जो आचार्य जानते हुए भी नीच कुलोत्पन्न वाले को दीक्षा देते हैं उस आचार्य का ही त्याग कर देना चाहिए।

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्या योग्याः सर्वज्ञदीक्षणे।
कुलहीने न दीक्षास्ति, जिनेन्द्रोपदिष्ट-शासने॥१०६॥

सर्वज्ञ पद के योग्य दीक्षा में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ही योग्य माने गये हैं। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट शासन में कुलहीन की दीक्षा नहीं है।

अइबाल बुड्ढ दासे गब्भिणी कारुगादीणं।
पव्वज्जा दिंतस्तस हु छग्गुरुमासा हवदि छेदो॥२१९॥

—अति बालक, वृद्ध, दास, गर्भिणी स्त्री, नपुंसक और कारु शूद्रों को दीक्षा देने वाले आचार्य छह गुरुमास नाम प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

इसी क्रम में शूद्र से शूद्रतरों को दिगम्बरी दीक्षा देने वाले आचार्य को दो, चार, सोलह, बत्तीस गुरुमास के प्रायश्चित्त का उल्लेख है।

इसी प्रकार गाय को मारने वाले, मातंग और खटीक को निर्ग्रन्थ दीक्षा देने पर आचार्य को चौसठ गुरुमास नामक प्रायश्चित्त का पात्र कहा है। यथा—

चउसट्ठी-गुरुमासा, गोक्खय-मायंग, खट्टिकादीणं।
णिग्गंथ दिक्खिदाणे पायच्छित्तं समुद्दिट्ठं॥२२४॥

इससे सिद्ध होता है कि जिनदीक्षा का अधिकारी देश-कुल-जाति से शुद्ध तथा तीनवर्णो

(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में से कोई एक वर्ण वाला हो।

'अनगारधर्मामृत' के रचयिता पं. आशाधर जी ने जिनमुद्रा के योग्य पात्रता निम्न प्रकार से कही है—

सुदेश कुलजात्यंगे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि।
निष्कलंके क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम्॥९॥८८॥

ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये, सुदेशकुलजातिजे।
अर्हतः स्थाप्यते लिंगं न निन्द्यबालकादिषु॥

पतितादेर्न या देया जैनीमुद्रा बुधार्चिता।
रत्नमालां सतां योग्या मण्डले न बुधीयते॥

—जिनमुद्रा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य है। अतः धर्माचार्यों को प्रशस्त देश, प्रशस्तवंश और प्रशस्त जाति में उत्पन्न हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को जो निष्कलंक है, ब्रह्महत्या आदि का अपराधी नहीं है तथा उसे पालने में समर्थ है अर्थात् बाल और वृद्ध नहीं है उसे ही जिनमुद्रा प्रदान करना चाहिए। वही साधु पद के योग्य है।

विशेषार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण ही जिनमुद्रा के योग्य माने गये हैं। आचार्यों ने पिता की अन्वयशुद्धि को कुल और माता की अन्वयशुद्धि को जाति कहा है। अर्थात् जिसका मातृकुल और पितृकुल शुद्ध है, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दीक्षा का पात्र माना गया है। केवल जन्म से ब्राह्मण आदि होने मात्र से दीक्षा का पात्र नहीं होता। जाति-कुल आदि शुक्लध्यान के कारण हैं। जिनमें वे होते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहे जाते हैं। शेष सब शूद्र हैं। कुल और जाति के साथ सुदेश में जन्म को भी जिनदीक्षा के योग्य बतलाया गया है। जैन सिद्धान्त में भरतक्षेत्र को दो भागों में विभक्त किया है—कर्मभूमि और भोगभूमि। जिनमुद्रा का धारण कर्मभूमि में ही होता है, भोगभूमि में नहीं। क्योंकि वहाँ धर्म-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव है। किन्तु भोगभूमिज मनुष्यों के संयम माना है। यह कैसे सम्भव है? इस शंका का समाधान जयधवला से दिया जाता है। उसमें कहा है—"कम्मभूमियस्स" ऐसा कहने से पन्द्रह कर्मभूमियों के मध्य के खण्डों में उत्पन्न हुए मनुष्यों का ग्रहण करना चाहिए। भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रों में विनीत नाम वाले मध्यखण्ड को छोड़कर शेष पाँच खण्डों में रहने वाला मनुष्य यहाँ भोगभूमिया कहा गया है क्योंकि इन खण्डों में धर्म-कर्म की प्रवृत्ति न होने से अकर्मपना बनता है। शंका—यदि ऐसा है तो वहाँ संयम का ग्रहण कैसे संभव है?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि दिग्विजय करने में प्रवृत्त चक्रवर्ती की सेना के साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यम खण्ड में आ जाते हैं और वहाँ चक्रवर्ती आदि के साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता है उनके संयम ग्रहण करने में कोई विरोध नहीं है। अथवा

उनकी जो कन्याएँ चक्रवर्ती आदि के साथ विवाही जाती हैं उनके गर्भ से उत्पन्न बालक यहाँ मातृपक्ष की अपेक्षा अकर्मभूमिज कहे गये हैं। इसीलिए कोई विरोध नहीं है क्योंकि इस प्रकार के मनुष्यों के दीक्षा योग्य होने में कोई निषेध नहीं है।

इस तरह म्लेच्छ कन्याओं से उत्पन्न पुरुषों को भी दीक्षा के योग्य माना गया है किन्तु उनका कुल-जाति आदि शुद्ध होना चाहिए। कहा भी है—उत्तम देश, कुल और जाति में जन्मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को जिनलिंग धारण कराया जाता है, निन्दनीय पुरुषों और बालकों को नहीं। विद्वानों से पूजनीय मुद्रा पतितजनों को नहीं देना चाहिए। सत्पुरुषों के योग्य रत्नमाला को कुत्ते के गले में नहीं पहनाई जाती।

न कोमलाय बालाय, दीयते व्रतमर्चितम्।
न हि योग्ये महोक्षस्य भारे वत्सो नियोज्यते॥

अर्थात् पूजनीय जिनलिंग कोमलमति बालक को नहीं दिया जाता। उत्तम बैल के योग्य भार को वहन करने में बछड़े को नहीं लगाया जाता। शायद कोई कहे कि मुमुक्षुओं को दीक्षा देना आदि कार्य विरुद्ध पड़ता है क्योंकि जो मुमुक्षु हैं उन्हें इन बातों से क्या प्रयोजन। उसे तो मात्र आत्महित में ही लगना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि जो मुमुक्षु मुनिपद धारण करके भी कषाय का लेश जीवित होने से शुद्धोपयोग की भूमिका पर आरोहण करने में असमर्थ होते हैं वे शुभोपयोग की भूमिका के पास निवास करने वाले शुभोपयोगी मुनि होते हैं क्योंकि शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है। अतः शुभोपयोगियों के भी धर्म का सद्भाव होता है। शुभोपयोगी मुनि दीक्षा-दान आदि करते हैं। प्रवचनसार में कहा है—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरायाणं जिणिंदपूजोवदेसो॥२४८॥

अर्थात् दूसरों पर अनुग्रह करने की इच्छापूर्वक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपदेश में प्रवृत्ति, शिष्यों के संग्रह में प्रवृत्ति, उनके पोषण में प्रवृत्ति और जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश—यह शुभोपयोगी श्रमणों की चर्या है किन्तु शुभोपयोगी श्रमण जो भी प्रवृत्ति करता है वह सर्वथा संयम के अविरोधपूर्वक ही करता है क्योंकि प्रवृत्ति संयम के लिए ही की जाती है।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जिनेन्द्र भगवान के मत की दीक्षा अति कठिन एवं दुर्लभ है, जो अति पुण्य संचित कर्म के योग से मिलती है, सहज नहीं।

द्रव्यलिंग : एक विहंगम दृष्टि

❑ *स्व. पं. छोटेलाल बरैया, उज्जैन*

वर्तमान युग में सबसे प्रथम चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज तथा आचार्यश्री महावीरकीर्तिजी महाराज ने दक्षिण भारत में परम दिगम्बर ऋषिराजों (मुनिराजों) की परम्परा चलायी। भारतवर्ष के दिगम्बर जैन समाज को सुसुप्त अवस्था से जगाकर, उनको सन्मार्ग बतलाकर, श्रावकधर्म का जिस बहुलता से प्रचार हुआ है इसका श्रेय उन पवित्र आत्माओं को ही है। इस पवित्राचार और विचार का यदि आज प्रचार न होता तो आज का संसार न मालूम कहाँ से कहाँ रसातल में जा पहुँचता। इस समाज के उत्थान का श्रेय इन आचार्य द्वय की परम्परा में निर्ग्रन्थ दिगम्बराचार्य और वीतराग निस्पृह परम तपस्वी जनों को ही है।

आगम में पञ्चम काल के अन्त तक भावलिङ्गी मुनिराजों का होना स्पष्ट बतलाया गया है। जो सम्यग्दर्शन से युक्त हो वह भावलिंगी है।

सम्यग्दर्शन के दर्शन चर्मचक्षुओं से नहीं होते हैं, वह तो मात्र केवलज्ञान का विषय है। इसलिए एक मात्र द्रव्यलिङ्गी को देखकर ही विनय-सत्कार किया जाता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्मा का एक महान् गुण है लेकिन उस गुण की सिद्धि के लिए द्रव्यलिङ्ग अत्यन्त आवश्यक है।

युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए योद्धा सैनिक के शरीर में बल तथा हृदय में वीरतामय अन्तरंग उत्साह होना परमावश्यक है। उसके बिना वह अपने शत्रु पर विजय पा ही नहीं सकता। परन्तु इसके साथ ही बाहरी साधन-सामग्री होना भी अत्यन्त आवश्यक है। वीरता की उद्बोधक गणवेश (ड्रेस) तथा बर्छी, तलवार, बन्दूक, गोली, बारूद आदि बाहरी सामान सिपाही के पास न हो तो उसका अन्तरंग वीरभाव व्यर्थ हो जाता है, केवल उस अन्तरंग वीरता के कारण उसको युद्ध में विजय नही मिल सकती। इसी तरह यदि अन्तरंग में संसार, शरीर भोगों से वैराग्य भावना हो किन्तु बाहर से सांसारिक परिग्रह का, शरीर पोषण का, पहनाव-उढ़ाव का तथा इन्द्रिय-विषय-भोगों का परित्याग नहीं किया हो तो हृदय की वैराग्य-भावना स्थिर नहीं रह सकती है, लुप्त हो जाती है।

यदि भगवान् नेमिनाथ वस्त्र-आभूषणादि उतार कर मुनि-दीक्षा ग्रहण न करते तो कोरी वैराग्य भावना से उनको आत्म-सिद्धि कदापि नहीं मिलती। "मुनि का द्रव्यलिङ्ग (दिगम्बर-वेष) धारण किये बिना कभी भी भावलिङ्ग यानि प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम से होने वाला

अन्तरंग चारित्र नहीं होता है। यह सिद्धान्त अटल है। द्रव्यलिङ्ग होने पर भावलिङ्ग कदाचित् हो भी परन्तु भावलिङ्ग तो द्रव्यलिङ्ग के बिना कदापि नहीं होता है।" क्योंकि बहिरंग परिग्रह के रहते हुए अन्तरंग परिग्रह का त्याग होता नहीं और बहिरंग परिग्रह के त्याग होने पर ही चावल के भीतर की लालिमा दूर होती है। इसलिए उस लालिमा को दूर करने के लिए छिलका पृथक् होना आवश्यक है उसी प्रकार द्रव्यलिङ्ग होना आवश्यक है।

आगम में स्पष्ट उल्लेख है कि—अर्हन्त परमेष्ठी, तीर्थंकर भगवान्, उनकी दिव्य देशना, उनके उपदेश का अर्थावधारण करके ऋद्धिधारी गणधर देव के द्वारा शब्दरूप में रचित द्वादशांग श्रुत, उसके अविरुद्ध अथवा उसी के आधार पर अन्य आरातीय आचार्यों के द्वारा निर्मित आगम ग्रन्थ, उनके उपदिष्ट मोक्षमार्ग का पालन करने वाले मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका, चतुर्विध संघ, निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग रूप धर्म और उसके फल के विषय में असद्भूत दोष लगाने से दर्शन मोहनीय-मिथ्यात्व कर्म का आस्रव हुआ करता है। तथा असद् भाषण करने से, मार्ग को सदोष बतलाने से भी उसे नरकायु का आस्रव हुआ करता है। अतः स्पष्ट है कि ये क्रियाएं प्रथम गुणस्थान में ही संभव हैं। क्योंकि इसके ऊपर दर्शन मोह की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाने से उसका आस्रव न होकर संवर ही पाया जाता है। फलतः जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि है उनके ये क्रियाएँ नहीं पायी जाती हैं। जहाँ पर ये नहीं हैं वहीं पर सम्यग्दर्शन का अस्तित्व माना जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि मुनिराजों की निन्दा नहीं करते हैं। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जो आत्मा रत्नत्रय से पवित्र नहीं है और जिनका शरीर द्रव्यतः जिनलिंग से युक्त है अर्थात् जो द्रव्यलिंगी हैं उनको या उनके शरीर को भी 'रत्नत्रय-पवित्रतः' कहा जा सकता है क्या? और अपने सम्यग्दर्शन को निर्विचिकित्सागुण से युक्त रखने वाले मुमुक्षु को ऐसे साधुओं के प्रति किस तरह का व्यवहार करना चाहिए?

उत्तर है—व्यवहार बाह्य द्रव्य पर्यायाश्रित है और वह निश्चय का विरोधी नहीं है बल्कि निश्चय का साधक है। साथ ही छद्मस्थ जीवों को आत्मधर्म के प्रत्यक्ष जानने का साधन नहीं है। फिर जब वह साधु भावलिङ्गी मुनि के समान ही सम्पूर्ण व्यवहार कर रहा है, व्रत, आवश्यकादि गुणों का यथावत् पालन कर रहा है, तब अन्य सागार एवं अनगारों को भी उनके प्रति भावलिंगी मुनि के समान ही व्यवहार न करने का कोई कारण नहीं है। प्रत्युत् अपने पद के अनुसार कर्त्तव्य का पालन न करने पर अपराधी अथवा कर्त्तव्यच्युत माना जा सकता है। निश्चय साध्य है और व्यवहार साधन है। साधन के प्रसंग में उसी को मुख्य मानकर उनके अनुकूल व्यवहार करना ही उचित है। अतएव जो द्रव्यलिङ्गी रत्नत्रय का साधन कर रहा है उसके उस गुण के प्रति भी सम्यग्दृष्टि को प्रीति होनी ही चाहिए। निर्दोष जिनमुद्रा का विनय सम्यग्दृष्टि न करे, यह संभव नहीं। ऐसा करने पर ही उसका निर्विचिकित्सा गुण सुरक्षित रह सकता है।

आचार्यों व विद्वानों ने बताया है कि तपस्वियों या गुरुजनों के प्रति अपनी वाचिक-कायिक चेष्टाएँ विनयपूर्ण अनुत्सेक या निरभिमानता को प्रकट करने वाली ही नहीं अपितु उनके हृदय में किसी तरह की कल्मषता पैदा करने वाली नहीं होनी चाहिये। मर्यादा का उल्लंघन करने वाली कोई भी चेष्टा, पैर फैलाना, लेटना, लापरवाही से बैठना, उठना, खड़े होना, हँसी-मजाक करना, तिरस्कार युक्त वचन बोलना आदि नहीं करना चाहिए। जिस तरह राजा-महाराजाओं के समक्ष स्वाभाविक विनय भंग नहीं किया जाता उसी तरह गुरुजनों (मुनिवरों) के प्रति भी अपनी प्राकृतिक विनयशीलता का अतिरेक नहीं करना चाहिए और न ही होने देना चाहिए।

जो इस बात को न समझकर या जानकर मुनिराजों को तिरस्कृत करता है या (द्रव्यलिङ्गी, काछी, माली, कुंजड़े आदि) बोलता है या उद्दण्डता या असभ्यता का व्यवहार प्रकट करता है वह सर्वसाधारण समाज में भी अनुचित ही नहीं अपितु गर्ह्य माना जाता है। कभी-कभी तो इस प्रकार का व्यवहार जिस व्यक्ति के साथ किया गया हो उसकी पद-मर्यादा-योग्यता के अनुसार साधारण या असाधारण अपराध भी माना जाता है। तब त्रैलोक्यपूज्य मुद्रा के धारक वीतराग साधुओं के प्रति किया गया उद्धत व्यवहार अपराध नहीं माना जा सकता? अवश्य माना जा सकता है। उसका दण्ड और कोई दे या न दे, प्रकृति स्वयं देती है।

सम्यग्दर्शन के प्रत्यनीक भाव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। सम्यग्दर्शन के उत्तर या उत्तरोत्तर भेद अनेक हैं। इसी तरह मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के विषय में समझना चाहिए।

इतनी बात यहाँ जरूर ध्यान में रखनी चाहिए कि मिथ्यादर्शनादिक और सम्यग्दर्शनादिक की पारस्परिक अनुकूलता में बहुत बड़ा अन्तर है। अर्थात् जिस तरह सम्यग्दर्शन जहाँ होगा वहाँ ज्ञान भी सम्यक् हो जायेगा और चारित्र भी समीचीनता को अवश्य प्राप्त कर लेगा, यह नियम है। इसके विपरीत जहाँ-जहाँ द्रव्यचारित्र है वहाँ-वहाँ सम्यग्दर्शनादिक भी हो ही यह नियम नहीं है। क्योंकि नवग्रैवेयक तक जाने वाले मुनियों का चारित्र तो समीचीन होता है परन्तु कदाचित् सम्यक् सहित और कदाचित् सम्यक् रहित भी हुआ करता है। क्योंकि मुनि एवं श्रावक दोनों ही चारित्र तथा व्रत की अपेक्षा "द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग" दोनों ही माने गये हैं। यह बात मिथ्याचारित्र के विषय में नहीं कही जा सकती है। द्रव्यरूप में मिथ्याचारित्र का पालन करने वाले के अन्तरंग में सम्यग्दर्शन के अस्तित्व की संभावना की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अतः सम्यक्त्व रहित चारित्र को 'समीचीन' किस तरह कहा जा सकता है? जो ज्ञान चारित्र सम्यक् रहित है उसको तो आगम में सर्वत्र मिथ्या ही कहा गया है।

इसका समाधान यह है कि मोक्षमार्ग के प्रकरण को लक्ष्य में रखकर वर्णन करते समय अंतरङ्ग भावों की ही मुख्यता रखी गयी है। उस दृष्टि से जिसके अन्तरंग में मिथ्या भाव या मिथ्यात्व प्रकृति का उदय यदि पाया जाता है तो उसका ज्ञान चारित्र भी निश्चय से मिथ्या ही है। क्योंकि वह मोक्ष को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। जैनागम में मोक्ष तथा उसका साधन,

जिससे निर्जरा सिद्ध होती है, वही मुख्य माना गया है।

किन्तु बाह्य दृष्टि से विचार करने पर उक्त प्रकार के मुनियों का चारित्र मिथ्या नहीं कहा जा सकता। अन्तरंग भाव प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं और बाह्य चारित्र व्यवहार का विषय है। सर्वसाधारण में जिसका आचरण जैनागम के प्रतिकूल नहीं अपितु अनुकूल ही दृष्टिगोचर होता है, और 'भावलिङ्गियों" के ही समान है उसका व्यवहार भी समीचीन रूप ही है न कि मिथ्यारूप। इस दृष्टि से उसको समीचीनही कहना या मानना तथा उनका यथायोग्य सम्मान आदि करना उचित है। इसके विरुद्ध द्रव्य रूप में जो मिथ्याचारित्र है वह अन्तरंग से तो मिथ्या है ही, साथ ही बाह्य रूप से, व्यवहार से भी मिथ्या ही है। अतएव दोनों में बड़ा अन्तर है।

इसलिए वर्तमान मुनिराजों का चारित्र भावलिङ्गियों (मुनिराजों) के समान ही है। उनको 'द्रव्यलिङ्गी' कहकर उनका तिरस्कार करना दर्शनमोह के बंध का कारण है और दर्शनमोह नरक गति के बंध का कारण है, यह हम बता चुके हैं।

'आगम के प्रकाश में' द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग

मुनियों का नग्न दिगम्बर रूप 'द्रव्यलिङ्ग' कहलाता है और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से छठे-सातवें आदि गुणस्थान की आत्मशुद्धि होना 'भावलिङ्ग' है। तदनुसार 'द्रव्यलिङ्गी' मुनि मिथ्यादृष्टि ही होते हों सर्वथा ऐसी बात नहीं है। अनन्तानुबन्धी कषाय के अनुदय वाले तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय वाले यानी अन्तरंग से सम्यग्दृष्टि भी 'द्रव्यलिंगी' मुनि होते हैं। अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण के अनुदय (क्षयोपशम) वाले किन्तु प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय वाले अर्थात् अन्तरंग में सम्यग्दृष्टि श्रावक के (पंचम गुणस्थान) भावधारी दिगम्बर मुनिराज 'द्रव्यलिंगी' हुआ करते हैं।

यह अन्तरंग परिणामों की विचित्रता है। उस पर उस मुनिराज का वश तो नहीं चलता परन्तु इतनी बात अवश्य है कि मति-श्रुतज्ञानी मुनि भावलिंग को, अपने ज्ञान से नहीं जान सकते। 'भावलिङ्ग' तो केवलज्ञानगम्य है; मतिज्ञान, श्रुतज्ञान से नहीं जाना जा सकता।

वर्तमान में ऐसा कोई साधन हमारे पास नहीं है जो हम द्रव्यलिङ्गी मुनि की पहचान कर सकें। तब किसी भी दि. जैन मुनिराज के 'द्रव्यलिंग' की अवहेलना करना, उनके प्रति आदर, सत्कार, विनय, प्रणाम आदि न करना, उनकी निन्दा करना आदि गुरु-श्रद्धा या सम्यग्दर्शन का चिह्न नहीं है।

जो लोग दिगम्बर मुनिराजों की अनुचित आलोचना करते हैं वे स्वयं भावलिंगी मुनि बनकर आदर्श उपस्थित करते तो युक्तियुक्त होता, तब कहीं उनकी इस निन्दा में बल होता। स्वयं मुनिपद में असमर्थ होकर महान् पदवीधारी मुनिराजों को 'द्रव्यलिंग' कहना घोर नरक स्थिति का बन्ध करना है।

वास्तव में जिसका द्रव्यलिंग सुरक्षित है, आगमानुमोदित है वह साधु के उचित भावों से किंचित् न्यून भी हो तब भी उसे द्रव्यलिंगी नहीं कहा जा सकता। कारण स्पष्ट है, परिणामों का उतार-चढ़ाव इतना सूक्ष्म है कि उसे छद्मस्थ व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता। जो मुनिवेष का निर्दोष पालन कर रहा है वह कदाचित् अन्तरंग भावों से हीन होने पर भी स्थूलऋजुसूत्र नय की दृष्टि में 'भावलिंगी' ही कहा जायगा। उदाहरणार्थ पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक इन सभी साधुओं को आगम में भावलिंगी ही बतलाया गया है। साथ ही जहाँ संयम, श्रुत, प्रतिसेवना आदि में इनका विभाजन किया है वहाँ पुलाक मुनि के छहों लेश्याएँ बतलायी हैं। प्रश्न यह है कि छहों लेश्याओं का सद्भाव चतुर्थ गुणस्थान तक बतलाया है इसके बाद नहीं। अतः पुलाक के कृष्ण लेश्या नहीं होना चाहिए। इसका समाधान हमें अनुयोगों को दृष्टि में रखकर ही करना चाहिए। करणानुयोग की अपेक्षा उसके कृष्ण लेश्या संभव है और चरणानुयोग की अपेक्षा तो वह महाव्रती मुनि है, क्योंकि मुनि का आचरण वह पालन कर रहा है, फिर वह त्रुटि-पूर्ण ही क्यों न हो।

आजकल के मिथ्यादृष्टियों की हमारे ऋषिराजों पर तीक्ष्ण-विष भरी आलोचना सहन न होने के कारण, विवश होकर रुग्ण अवस्था से ग्रसित होते हुए भी, "धर्मनिर्मूलविध्वंसं न सहन्ते प्रभावकाः" के अनुसार, स्वामी गुणभद्र द्वारा रचित महापुराण में आये हुए उनके शब्द यहाँ उद्धृत कर विषय समाप्त कर रहा हूँ। वे लिखते हैं—कोई मुनि ध्यान में बैठे थे। उनके बारे में समवसरण में भगवान से पूछा गया तो उन्होंने कहा कि इस समय मुनि के निकृष्ट परिणाम हैं यदि आयु का बन्ध हो जाय तो सातवें नरक जायेंगे। दूसरे क्षण में इनके सातवें नरक के भावों की तीव्रता कम हुई तो केवली ने वैसा बतलाया। धीरे-धीरे उनके भावों की विशुद्धता बढ़ती गयी वैसा ही सर्वज्ञ के द्वारा उनका उत्कृष्ट फल होने की संभावना प्रकट की गयी। इन वाक्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तर्मुहूर्त्त में भावों का उतार-चढ़ाव कहीं से कहीं पहुँच जाता है और उतार-चढ़ाव के साथ ही गुणस्थान बदलते जाते हैं, तब कौन कब 'द्रव्यलिंगी' हुआ और कौन कब 'भावलिंगी', इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है।

विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रहः।
ज्ञान ध्यान तपो रक्तः तपस्वी सःप्रशस्यते॥

— विषय और आशाओं (आकांक्षाओं) से रहित, आरम्भ व परिग्रह से रहित, अहर्निश ज्ञान, ध्यान और तप में लीन वह यशस्वी मुनि होता है।

वर्तमान में जैनाचार्यों का योगदान

❑ पं. हेमचन्द शास्त्री कौन्देय, अजमेर

जैनधर्म पूर्णतया प्रकृतिमय है। अतः जब से प्रकृति है तभी से जैन धर्म का अस्तित्व स्वीकार किया जाना तर्कसंगत है। फिर भी जहाँ तक इतिहास की आधुनिक विवेचना है, जैनधर्म के उन्नायक भ. पार्श्वनाथ और महावीर भारतीय इतिहास की श्रृंखलाबद्ध कड़ियों में इतिहासज्ञों द्वारा धर्मोपदेष्टा प्रमाणित किये जा चुके हैं। इन दोनों ही तीर्थंकरों का मंगलमय विहार भारत के पूर्वी प्रदेशों में विशेषतः हुआ है। वैसे यदि ध्यान दिया जाय तो शास्त्र की आज्ञा है कि सभी कालों में सभी तीर्थंकर अयोध्या में जन्म लेते हैं और सम्मेदशिखर से मोक्ष जाते हैं। यह अपवाद है कि पार्श्वनाथ का जन्म काशी तथा भगवान महावीर का जन्म कुण्डलपुर में हुआ था। समय की महिमा है कि इन दोनों स्थानों पर कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं पाये जाते हैं कि उक्त तीर्थंकर-द्वय के जन्म यहीं हुए और सम्मेदशिखर के अलावा भगवान महावीर का निर्वाण वर्तमान पावापुर में ही हुआ था।

यह बिल्कुल सही है कि उक्त दोनों ही तीर्थंकरों के मंगलविहार विशेषतः उत्तर-प्रदेश में हुए। उनकी धर्मोपदेश सभा में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका चतुर्विध संघ विराजता था और जब भी संघ का विहार होता ये चारों प्रकार के धर्मात्मा संघ रूप में विहार किया करते थे।

जैन तीर्थंकरों ने मुनि का यथाजात दिगम्बर ही रूप प्रतिपादित किया था। महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद करीब ७00 वर्ष तक दिगम्बर परम्परा निर्बाध चलती रही। बाद में इसके रूप में शैथिल्य चालू हुआ। कुछ वस्त्रधारी यत्र-तत्र उभरे। तथापि मुनि का नग्न रूप ही समाज में आदृत रहा। १२ वर्ष के दुष्काल में साधुओं में बड़ी अव्यवस्था बढ़ चली थी। घटनात्मक विपत्ति ने मुनियों को बाह्य का अवलम्बन कराया। दिगम्बरत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा बनाये रखने में आचार्य कुन्दकुन्द का बड़ा ही योगदान रहा। वस्त्रधारी और निर्वस्त्रकों का भेद भगवान महावीर के ६८३ वर्षों तक नहीं हुआ। लगभग उक्त ७00 वर्षों तक जहाँ श्रुतधर आचार्यों की परम्परा चलती रही वहाँ दिगम्बरत्व भी अक्षुण्ण रूप से प्रचलित रहा। वस्त्रधारियों की पृथक् धारा चलती रही। एक तीसरी धारा समन्वयात्मक भी चली परन्तु वह आपसी तनाव व अहंभाव के कारण लुप्तप्राय हो गयी और उक्त धाराओं में जैन साधु वर्ग अलग-अलग अपने प्रचार व प्रसार में उन्नत होता रहा। कई गण और संघ बने और बाह्य वेष का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया।

अब तक ये संघ समाज से असंबन्धित रहे। संघों के नियम कठोर थे। ये साधु ग्राम, नगरों

में केवल भोजन के लिए ही जाते थे। बाकी उनका निवास वन, गुफा, उपवन आदि बाह्य प्रदेश ही होता था। धर्म श्रवण इच्छुक श्रद्धालु श्रावक-श्राविका नगर या ग्राम से उन अति दूर स्थानों पर जाकर धर्मश्रवण या व्रत नियमादि ग्रहण करने आते थे। गृहस्थ और साधु का सन्निकट सान्निध्य तो भिक्षाचर्या के लिए आहारादिक के समय ही हो पाता था। इससे अधिक किसी भी सुविधा की अपेक्षा उन अपरिग्रहियों के लिए नहीं थी।

काल का प्रभाव और शरीर की शक्तिहीनता में उक्त साधु-समाज को जन-साधारण के सम्पर्क में आने का योग मिला और इस सम्पर्क ने ही भट्टारकीय संस्था को जन्म दिया। यह कहना असंभव है कि सर्वप्रथम कौन से आचार्य ने इस भट्टारक संस्था को प्रारूप दिया, क्योंकि भट्टारकीय रूप दिगम्बर और श्वेताम्बर वेष की मध्य कड़ी है जो दक्षिण और उत्तर भारत के यातायात, तीर्थयात्रा आदि के कारण परस्पर जुड़ी हुई है। हो सकता है यह यापनीय संघ का ही एक नया रूप हो। परन्तु इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि भट्टारक व्यवस्था का रूप ९वीं सदी में पनपने लगा था और १३वीं सदी के करीब इसकी जड़ें पद्धतियों के रूप में सुस्थिर हो गयी थीं। अस्तु!

यह प्रमाणित है कि साधुसंघ से यह परम्परा निम्न कारणों से पृथक् चली-

१. पहला प्रमुख कारण था वस्त्र का धारण। क्योंकि वस्त्रधारण और दिगम्बरत्व का विवाद सदियों पूर्व से चला आ रहा था। अधिकांश पद्धतियाँ वस्त्रधारण करने लगीं थीं। राजनीतिक परिस्थितियों ने इसे सबल बनाया। अन्त में सवस्त्रता द्रव्य रूप में अपवाद रूप से स्वीकार कर ली गयी। परन्तु सवस्त्र रूप में भट्टारक होते हुए भी एक बार दिगम्बर होना अनिवार्य था। जीवनान्त समय में तो भट्टारक भी नग्न होकर समाधि लिया करते थे। इसकी महत्ता के कारण ही भट्टारक और श्वेताम्बर परम्परा का भेद अब भी सर्वत्र परिलक्षित होता है।

२. दूसरा कारण भट्टारकों का मठ और मन्दिरों में निवास का था। अपनी सुरक्षा के नाते मन्दिरों के लिए भूमिदान आदि व्यवस्था होने लगी। कुछ विशिष्ट मन्दिर इस प्रकार बने और वे ही मठ का रूप ले बैठे। और धीरे-धीरे ये समाज के शासक बन बैठे। 'जैनपदपातशाह' की उपाधि यवन लोगों ने प्रसन्न होकर देना प्रारंभ किया, इसका प्रमुख कारण बादशाहों के सामने चमत्कार प्रदर्शन था, जिससे यंत्र-तंत्र-मंत्र परिपाटी को बड़ा प्रोत्साहन मिला। नग्नत्व का प्रवेश शाही दरबारों में संभव नहीं था। अतः वस्त्रधारण, शाही वैभव, चमत्कार आदि द्वारा भी इनकी जड़ें गहरी होती गयी। सर्वप्रथम इनकी दक्षिण में नई गद्दियाँ स्थापित हुईं और फिर उत्तर में भी इनके पैर फैल गये। ईडर, आरा, सम्मेदशिखर, सागवाड़ा, सोजित्रा आदि में गद्दियाँ स्थापित की गयी और भट्टारकों के धूमधाम से पदाभिषेक होने लगे। उत्तर भारत में इनका आना तीर्थवन्दना के लिए होता था। समय की विचित्रता है कि यह परम्परा धर्मशास्त्र का रूप ले बैठी और इनके अधिकार में अनेक मन्दिरों की व्यवस्था तथा शासन चलने लगा।

राजस्थान में इनकी गद्दियाँ नागौर, जयपुर, अजमेर, चित्तौड़ आदि स्थानों में स्थापित हुईं। उत्तर प्रदेश के अन्य कई स्थानों में और भी गद्दियाँ बढ़ीं। इधर बलात्कारगण का विशेष प्रभुत्व था। इसका सुसंबद्ध इतिहास १४वीं सदी से प्रारंभ होता है।

३. जनता में प्रभुत्व बढ़ाने में इनका तीसरा कार्य मूर्ति-प्रतिष्ठा और मन्दिर-निर्माण था। इस १४वीं सदी के उपरान्त मन्दिरों की संख्या जोरों से बढ़ी और मूर्तियों का तो कोई ठिकाना नहीं था। प्रतिष्ठा-महोत्सवों में अपार भीड़ इकट्ठी होती थी। इससे भट्टारकों की मान्यता तो थी ही परन्तु वे समाज से अधिक सम्पर्क में आये। धर्म के नाम असीमित-धन जहाँ समारोहों में व्यय हुआ वहाँ इन धर्मनायकों के मठ भी धनवान होते गये। इसके माहात्म्य को और भी चार चाँद लगाने के लिए अरहन्त सिद्धों की मूर्तियाँ तो बनीं ही, साथ ही चक्रेश्वरी, पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि के मूर्ति-रूप भी सामने आये। मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि भी विशेष प्रचलित हुए। इसी प्रकार मूर्तिकला के विकास के साथ फणदार भामंडल, छत्र, चमर, यक्षी व यक्षों के भी मूर्तियों के परिकर में ही खुदाई व अंकन होने लगे।

शास्त्र-लेखन का कार्य भी काफी बड़े पैमाने पर हुआ। शास्त्रभंडारों में उन्हें रखा गया। इसके अलावा शास्त्रों का संक्षेपीकरण, कथा-भाग की स्वतन्त्र रचनाएँ एवं पूजा-पाठों का निर्माण हुआ। इनके कारण भट्टारकों की स्वामी के रूप में मान्यता दृढ़ हुई और इनका प्रभुत्व, आदर, राजसी ठाठ जन-साधारण के लिए पूर्णतः समादरणीय बन गया और दिगम्बरत्व सदियों तक के लिए विशेषतः उत्तर प्रदेश में समाप्त जैसा हो गया। भट्टारकों की पट्टाधिकार के साथ शिष्य परम्परा चलने लगी। इतना लिखना आवश्यक है कि इस युग में कोई मौलिक सिद्धान्त ग्रन्थ नवीन नहीं बने और न कोई प्राचीन ग्रंथों की आर्ष परम्परा को नष्ट किया गया। इन सदियों में लिखा गया सभी प्रकार का साहित्य विपुल मात्रा में है और पूजा, प्रतिष्ठा, उद्यापन, व्रत-विधानों की तो कोई गणना ही नहीं हो सकती है। उक्त साधनों से मठों को अच्छी राशि, उद्यापन, भेंट आदि के रूप में आती रही और भट्टारक वर्ग अपनी पुरानी परम्पराओं को सुरक्षित रखते हुए धनसम्पन्न धर्माधिकारी बनने लगे।

१५-१६वीं शताब्दी में उत्तर प्रदेश के कई भागों में इन्हीं भट्टारकों के शासन में कुछ गृहस्थ विद्वान् स्वतन्त्र प्रतिभाशाली हुए। इसके पूर्व १३-१४वीं शताब्दी में अनेक गृहस्थ विद्वानों द्वारा संस्कृत और अपभ्रंश का विपुल साहित्य रचा गया और इसके बाद यवन-शासकों के यहाँ आ बसने पर जनभाषा का धीरे-धीरे प्रचार हुआ तथा अनेक जैन विद्वान् शास्त्र पठन-पाठन में आगे आये। प्रेस की सुविधा के कारण जिनवाणी का प्रकाशन होने पर स्वाध्याय बढ़ने लगा। ग्रन्थों का हिन्दी लिप्यन्तरण और रूपान्तर हुआ। भक्ति-साहित्य इस समय की विशेष देन है।

सारी परिस्थितियों के परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए जैन संस्कृति की धरोहर मन्दिर, मूर्तियाँ, ग्रंथ, विविध साहित्य की वृद्धि ही हुई। परन्तु बाद के वर्षों में दिगम्बरत्व का दर्शन

धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को जब हुआ उसका इतिहास केवल षट्दशक वर्ष का है। उसी पर हमें वर्तमान में विचार करना है। उत्तर प्रदेश में मुनि-विहार का समय इससे अधिक प्राचीन नहीं है।

दक्षिण में अब भी मुनि विहार कभी-कभी कहीं होता रहा है ऐसा प्रतीत होता है परन्तु, वे मुनिजन कहाँ और कितने थे इसका कोई उल्लेख इतिहासकारों ने नहीं किया है। फिर भी दक्षिण में यवन-प्रवृत्ति उत्तर की अपेक्षा बहुत अल्प मात्रा में थी। आक्रमण तो हुए ही परन्तु विरले, अतः भट्टारकों के प्रयत्न और धर्मात्माओं की सुरक्षा भावना के कारण दक्षिण में जैन कला वैभव सुरक्षित बना रहा। ब्रिटिश राज्य में यातायात सुविधा बढ़ने के कारण दक्षिण और उत्तर संघ विहार, तीर्थयात्रा आदि के निमित्त से एक-दूसरे के समीप आये। दूरी कम होने लगी।

ऐसी ही परिस्थितियों में कुम्भोज बाहुबली क्षेत्र पर भी श्री आचार्य शांतिसागर जी ससंघ पधारे। उनके संघ में चार मुनिराज, तीन ऐलक और कई ब्रह्मचारी थे। कुम्भोज में उनका ८वाँ चातुर्मास था। यहीं से सेठ पूनमचन्द जी घासीलालजी जवेरी ने सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए संघ का विहार कराया था। यहीं पर सोलापुर के सुप्रसिद्ध सेठ रावजी सखाराम दोशी भी मुनि-दर्शनार्थ पधारे थे। फलटण आदि के धार्मिकों का जमघट यहीं शुरू हुआ और श्री पं. लालारामजी, पं. मक्खनलालजी का समागम भी यहीं पर हुआ था। इस प्रकार उत्तर और दक्षिण में धर्मानुरागियों का सम्पर्क होना शुरू हुआ। आचार्यश्री का अगला चातुर्मास कटनी में हुआ और उत्तर प्रदेश में आया हुआ संघ धीरे-धीरे सम्मेदशिखर की ओर बढ़ा। संघपतिजी ने उत्तर की ओर मुनि-विहार का मार्ग खोलकर हजारों वर्षों की लुप्त दिगम्बरता को पुनरुल्लेखित करा दिया।

इसके पूर्व मारवाड़ की ओर मुनिश्री चन्द्रसागर जी का झालरापाटन की ओर से विहार हुआ था। दर्शनार्थी जनता उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़ी थी। परन्तु पीछे क्या हुआ उसकी जानकारी हमें नहीं मिल सकी। ऐलक पन्नालाल जी महाराज भी कुछ वर्षों में प्रकाश में आये और सम्मेदशिखर के पंचकल्याणक में उनका संघ से मिलाप हुआ। वहाँ से लौटकर संघ सोनागिरि आया। वहाँ कुछ ऐलकों की मुनि-दीक्षा हुई। अब संघ सात मुनिराज व अन्य त्यागीगणों से वृद्धिंगत हुआ।

मुझे अच्छी तरह याद है कि संघ सोनागिरि से ग्वालियर होते हुए आगरा पहुँचा था तब हम वहीं थे। हमने १४ वर्ष की आयु में सर्वप्रथम नग्न मुनियों का दर्शन किया था। पं. नन्दनलालजी (आ. सुधर्मसागरजी) के अनुरोध से सारा संघ हमारे गाँव (चावली) भी गया था और एक रात रुका था। आचार्यश्री के उपदेश से वहाँ के कई ठाकुरों और नीच वर्ण के लोगों ने मद्य-मांस का त्याग किया था। दिल्ली में संघ का विहार हुआ था उसकी स्मृति अब भी गुमटी के रूप में वहाँ स्थित है।

आचार्यश्री ने लगभग तीस हजार मील तक पैदलयात्रा करते हुए विहार किया था। जहाँ-जहाँ

भी आपका विहार हुआ वहाँ-वहाँ लोगों की आहार-शुद्धि स्वच्छ और उत्तम होती गयी। इसके पूर्व जैन जनता यद्यपि स्वकुल संस्कारवश शुद्ध आहार ही करती थी। कुएँ का पानी, हाथ चक्की का पिसा हुआ आटा आदि सामग्री तथा घर का दूध—यह शुद्धि उत्तर में गाँव-गाँव में मिल जाती थी, परन्तु इधर वर्णभेद पर कोई ध्यान नहीं देता था अतः उसी समय से जल आदि के सम्बन्ध में एक परिपाटी चालू हुई और समय की स्थिति को देखते हुए उसका बड़ा भारी प्रभाव हुआ। जहाँ भी संघ विहार करता त्रिवर्णी जनता का सहयोग मिलता तथा जैन की आहार-शुद्धि में प्रकृष्टता आयी। इतने दीर्घकाल तक आचार्य का विहार हुआ जिससे जैन कुलाचार, दैनिक षट्कर्म आदि मौलिक गृहस्थ के आचार की अच्छी सुस्थिरता हुई। क्योंकि आचार्यजी का विहार उत्तरवर्ती सभी प्रदेशों में हुआ। अतः आज स्थिति यह है कि जहाँ कहीं भी इस परम्परा के साधु चले जायें उनके आहारादि की योग्यता वाले श्रावक गाँव-गाँव में मिल जाते हैं। आचार्य शान्तिसागर जी महाराज युगपुरुष थे जिन्होंने दिगम्बरत्व का उद्योत कर धर्म-प्रभावना की और सम्पूर्ण भारत में निर्बाध मुनि-विहार चालू किया।

आज से ६० वर्ष पहिले की परिस्थिति नग्न मुनि विहार के लिए वैसी उपयुक्त न थी जैसी कि आज है। कई स्थानों पर संघ पर घातक हमले हुए, मुनि संघ को रोका गया। कई देशी रियासतों में लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों ने स्वप्रभुत्व से प्रतिबंध हटवाये। सरकारी तौर पर मुनि-विहार की आज्ञायें प्राप्त कीं। परिणामतः मुनि-विहार का मार्ग निष्कंटक हो गया। यह पिछले पाँच दशक की सबसे बड़ी उपलब्धि है। जिसका श्रेय उक्त आचार्यश्री को ही दिया जा सकता है।।

हमारे सिद्धान्त-ग्रन्थ मूड़बद्री में केवल दर्शनार्थ ही उपलब्ध थे। इनका देवनागरी लिपि में प्रतिलिपि का कार्य भी इन्हीं दिनों हुआ। सबसे बड़ी उपलब्धि यह हुई कि इन अनुपम प्राचीन ग्रंथों को ताम्र-पत्र पर उत्कीर्ण कराकर सहस्रों वर्षों की उनकी आयु बढ़ा दी गयी।

संघ के कारण उत्तर भारत में अनेक विद्यालय, पाठशालायें, सरस्वती भवन, ग्रंथ-मालायें यत्र-तत्र स्थापित हुईं। इससे जैन जनता की बहुत रुचि बढ़ी।

इसी काल में ऐलक पन्नालालजी महाराज ने एक बहुत बड़ा कार्य किया, वह था सरस्वती-भवनों की स्थापना। आपकी इस दिशा में जिनवाणी की अद्‌भुत सेवाएँ हैं। स्वयं ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कर और श्रावकों से कराकर सरस्वती-भण्डारों को आपने समृद्ध किया।

उनके तीन सरस्वती भवन बम्बई, झालरापाटन और ब्यावर में जैन-ग्रन्थों का संकलन करते हुए कार्यरत हैं। ऐ. महाराज अच्छे तपस्वी थे। आपका विहार एवं चातुर्मास पंजाब जैसे शीत प्रदेश में भी हुआ। वहाँ की जनता अब भी उन्हें स्मरण करती है।

आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज की यह परम्परा चालू होना—यह भी इस युग की नयी चीज़ है। इस पद पर आ. वीरसागरजी, आ. शिवसागरजी, धर्मसागरजी, अजितसागरजी क्रमशः

आसीन हुए हैं जिनके द्वारा विशिष्ट धर्मोद्योत हुआ है। श्री शिवसागर जी के नाम से एक ग्रन्थमाला भी प्रचलित है। इससे प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित हो रहे हैं। आपकी रुचि स्वाध्याय की ओर अधिक रही अतः कई नवीन पाठशालाएँ खोली गयीं। आचार्य धर्मसागरजी महाराज भी सतत इसी प्रयास में रहते थे। यत्र-तत्र छात्रावास, पाठशाला, धार्मिक स्कूल, रात्रि पाठशाला खुलवाने की आपकी विशेष प्रेरणा रहती थी। आ. अजितसागरजी अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी हैं। आपने संस्कृत का शिक्षण देकर सुपार्श्वमतीजी जैसी आर्यिका एवं अनेक मुनियों को तैयार किया। आज भी संस्कृत में उनके बराबर के जैन विद्वान् कम ही नजर आते हैं।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि जो आचार्य शान्तिसागरजी महाराज द्वारा विश्व को हुई, वह उनका अभूतपूर्व समाधिमरण रहा। ३६ दिन तक अन्नाहार छोड़कर आत्मस्थ रहते हुए मरण करना यह अब तक प्रत्यक्ष नहीं था। जैन साधु इस प्रकार निस्पृही होकर शरीर का त्याग कर सकते हैं इसे देखकर व सुनकर सारा भारत आश्चर्यचकित हो गया। इस समाधि का मार्ग प्रशस्त करने वाले पूज्य आचार्यश्री ही रहे। अब तो इस परम्परा में अनेक साधकों ने अपनी साधना का लाभ उठाया है। आपकी शिष्य परम्परा का यदि योग बैठाया जाय तो ५०० साधकों से भी अधिक ही होगा। आप ही इस दिगम्बर परम्परा के प्रपितामह हैं और सदियों से लुप्तप्रायः निर्ग्रंथरूप धारा के अग्रणी नायक हैं। उक्त आचार्य की प्रेरणा से अनेक विशिष्ट कार्य हुए। प्रमुख हैं—

१. आचार्य शान्तिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था। सिद्धान्त ग्रंथों के ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण नव विचार, सिद्धक्षेत्रों को ग्रंथ-समर्पण।

२. फलटन में श्रुत-भंडार-भवन का निर्माण।

३. जैनधर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व और जैनाधिकारों की रक्षा।

आचार्य-शिरोमणि के कुल ३६ चातुर्मास भारत के विभिन्न स्थानों में हुए और कुन्थलगिरि पर आपकी समाधि सम्पन्न हुई।

इसी अन्तराल में आचार्यरत्न देशभूषणजी महाराज का विहार भी दक्षिण से उत्तर की ओर हुआ। ये आश्चर्यजनक ही घटनाएँ हैं कि जैन तीर्थंकरों की उत्पत्ति तो उत्तर भारत में हुई परन्तु जैन धर्म का साहित्य दक्षिण में ही अधिकांश रचा गया है। जैन परम्परा के आचार्यगण भी दक्षिण में ही हुए। साहित्य-रचना और मुनिगण समागम प्रमुखता से दक्षिण की ही देन कही जा सकती हैं। अतः देशभूषण जी महाराज का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और चमत्कारपूर्ण रहा। उन्होंने अपनी तपस्या और मधुर वाणी से भारत के प्रमुख शासकों को प्रभावित किया और इतिहास की रचना में एक नवीन कड़ी जोड़ी। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री एवं अन्य मन्त्रीगणों को आपके द्वारा आशीर्वाद मिला तथा संसद भवन में आपका धर्मोपदेश हुआ। आपका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा।

आपके द्वारा सम्पन्न हुए निम्न प्रमुख कार्य हैं—

१. विश्व धर्म-सम्मेलन में जैन-धर्म की महत्ता का प्रदर्शन।

२. जैन एकता के लिए सत्प्रयत्न।

३. खानिया में चूलगिरि अतिशय क्षेत्र की स्थापना।

४. कोथली में विशाल जैनायतन का निर्माण।

५. अयोध्या क्षेत्र का जीर्णोद्धार एवं आदिनाथ जी की प्रतिमा की स्थापना।

६. मानस्तम्भों के निर्माण की परिपाटी का प्रचलन।

७. कन्नड़ भाषा के ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद।

आचार्य नेमिसागर जी महाराज ने बोरीवली में एक अद्वितीय जैनायतन बनवाने की प्रेरणा दी जिसके परिणामस्वरूप एक सुन्दर उद्यान में ऋषभदेव, भरत और बाहुबली की विशाल प्रतिमायें (त्रिमूर्ति) स्थापित हुईं। आप आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के प्राचीनतम शिष्य रहे।

आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागरजी महाराज उग्रतपस्वी साधु रहे और उनका मंगल विहार मारवाड़ प्रदेश में हुआ। आपकी प्रेरणा से अजमेर में ८२ फीट ऊँचा विशालतम मानस्तम्भ रा. ब. सेठ टीकमचंदजी भागचन्द जी सोनी द्वारा निर्माण कराया गया।

आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज भी इसी संघ के महान विद्वान् आचार्य हुए। आपने जैन साहित्य की तुलना में संस्कृत के कई उत्तम महाकाव्यों और चरित्रों की रचना की। इनका साहित्य विशेष रूप से प्रकाश में आया।

आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज की बड़ी तीक्ष्ण बुद्धि थी। उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रंथों का निर्माण किया। आप धरियाबाद आदि स्थानों के नरेशों द्वारा सम्मानित रहे। स्व. श्री आचार्य सुधर्मसागर जी महाराज ने भी आचार-ग्रन्थों का निर्माण किया। आप दोनों आचार्यश्री शान्तिसागरजी के संघस्थ उच्चकोटि के विद्वान् साधु थे।

आचार्यश्री महावीरकीर्तिजी मंत्र, तंत्र, यंत्र शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे और तीर्थक्षेत्रों पर निवास करते हुए समाधि की साधना पर विशेष बल देते थे। आपने समाधिमार्ग को बढ़ावा दिया था।

आपके शिष्य आचार्य विमलसागर जी महाराज विद्यमान हैं। गुरु की परिपाटी के अनुसार मन्त्रादि कला में दक्ष हैं। आपने सोनागिरि क्षेत्र को अत्यन्त रमणीय बनाने की प्रेरणा दी और क्षेत्र पर नंग, अनंग, महाराज की विशाल प्रतिमाओं की स्थापना के साथ क्षेत्र का कायाकल्प किया। आपकी ही प्रेरणा से राजगृही में स्वाध्याय मन्दिर एवं सम्मेदशिखर पर अतिसुन्दर समवसरण का निर्माण हुआ। सोनागिरि पर अभी भव्य चौबीसी का निर्माण कार्य आपकी प्रेरणा से हुआ है तथा कुन्दकुन्दाचार्य की स्मृति में विशाल श्रुतस्कन्ध की स्थापना का कार्य भी आपकी प्रेरणा

से हुआ जो जैन संस्कृति के लिए एक अपूर्व देन है।

आचार्य समन्तभद्र महाराज ने कुंभोज बाहुबली में जो गुरुकुल और जैनायतन निर्माण कराने में योग दिया है वह आज की सर्वोच्च आवश्यकता की पूर्ति है। यहाँ कई सौ विद्यार्थी जैन संस्कृति में ढलते हुए जैनविद्या और जैनाचरण का उज्ज्वल पालन कर रहे हैं।

आचार्य आर्यनन्दीजी ने तीर्थक्षेत्रों की अव्यवस्था और अवनति को ध्यान में रखते हुए तीर्थरक्षा कमेटी को एक करोड़ रुपये की राशि एकत्रित करने की प्रेरणा दी थी।

युवाचार्य विद्यासागर जी की शिक्षा-दीक्षा श्री ज्ञानसागरजी महाराज के संरक्षण में हुई। आप वर्तमान आचार्यों में सबसे कम आयु वाले आचार्य हैं। आपका ज्ञान, अध्ययन, तप श्लाघनीय है। निर्जन तीर्थस्थानों पर आपको धर्माराधन की विशेष अभिरुचि है। आपके प्रभावक और वीतरागता प्रधान प्रवचनों में प्रबुद्ध आधुनिक युवकों की बड़ी श्रद्धा है। अतः कितने ही विज्ञान-अध्येता उच्च छात्र आपसे दीक्षित होकर संघ में साधनारत हैं। जबलपुर में अभी हाल ही में एक 'विद्यासागर दि. जैन शोध संस्थान' की स्थापना हुई है। समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने कई स्थानों पर धवला सिद्धान्तग्रन्थ की वाचना आपके संरक्षण में की है। आपका लगभग सारा परिवार ही दीक्षित होकर धर्मसाधना कर रहा है। आपकी प्रेरणा का फल है कि सागर में ब्राह्मी विद्यालय सदृश संस्था नारी-जाति के उत्थान के लिए स्थापित हो सकी है।

आचार्यश्री विद्यानन्दजी वर्तमान युग के क्रान्तिकारी साधु हैं जिन्होंने 'न हुए और न होंगे ' ऐसे धर्मप्रभावक कार्यों के आयोजनों की प्रेरणा दी। आपका उद्देश्य जैनधर्म को विश्वधर्म बनाने का है। आपने समस्त भारत में धर्मचक्र प्रवर्तन, मंगल कलश प्रवर्तन, बद्रीनाथ यात्रा व चातुर्मास, दक्षिण के समान उत्तर में भी विशालकाय गोम्मटेश्वर की प्रतिमाओं की स्थापना, गोम्मटगिरि सदृश नवीन अतिशय-क्षेत्रों की स्थापना, कुन्दकुन्द शोध संस्थान, बड़वानी (म.प्र.) में चौरासी फुट ऊँची भगवान् आदिनाथ की प्राचीन मूर्ति का जीर्णोद्धार एवं प्रतिष्ठा महोत्सव, आधुनिक रीति पर साहित्य का निर्माण, धर्म-प्रचार में आधुनिक टेप रिकार्ड, संगीत-अभियान, समयसार का मधुर ललित स्वर में संगीतीकरण आदि अनेक विद्याओं के साथ जैनधर्म के उद्योत व प्रभावना की भारी प्रेरणा दी है। राजनीतिक क्षेत्र में आपका भारी प्रभाव है। आप जैनेतर जनता में जैन दृष्टि को जब समन्वय करते हुए तत्त्वों का प्रवचन करते हैं तो श्रोताओं की कई सहस्र भीड़ पूर्ण स्तब्ध रहते हुए सुनती ही रह जाती है। आपका प्रत्येक चातुर्मास एक नयी उपलब्धि लेकर ही आता है। श्री गोमटेश सहस्त्राब्दी महामस्तकाभिषेक आपकी ही पावन देन रही जिसका प्रचार प्रसार विदेशों तक हुआ। जिसने भी इस महोत्सव को देखा वह आगे ऐसा होगा इसकी कल्पना नहीं कर सकता। श्रवणबेलगोल का नवीनीकरण और उसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का पर्यटन बनाना आपके पुण्य प्रसाद का परिणाम है। इन्दौर के पास बना क्षेत्र गोम्मटगिरि अपने आप में अद्वितीय है। धर्मस्थल तो अपना नाम स्वयं विख्यात कर रहा है।

श्रीवर्धमानसागरजी महाराज अच्छे वक्ता और धर्म प्रभावक मुनि हैं। तत्त्व का चिन्तन और उसका प्रतिपादन आपकी निजी शैली है। आपसे समागत भविष्य में बहुत कुछ धर्म-लाभ होने की संभावना है। आपके संरक्षण में कई ग्रन्थों का परिमार्जन व प्रकाशन हो चुका है। आपके जीवन-निर्माण का श्रेय आचार्यकल्प श्रुतसागर जी महाराज को है, जिनके संरक्षण में आपका अधिकांश समय शास्त्र-वाचन, चिन्तन और पठन-पाठन में बीता है। आप सदृश गंभीर तत्त्वचिन्तक जैन साधुजगत् में विरले ही हैं।

आचार्यकल्प श्री श्रेयांससागर जी महाराज की प्रेरणा से मांगीतुंगी क्षेत्र का एक विशाल उद्धार कार्य प्रारंभ हो गया। जिसके अन्तर्गत वहाँ एक विशाल चौबीसी मन्दिर के निर्माण की योजना कार्यान्वित हो रही है जो अपने रूप में अद्वितीय होगी।

दिगम्बर जैन साहित्य में जैन आर्यिका वर्ग ने जो भी महानकार्य किया है वह इसी युग की ही देन है। आज साहित्य और जैन संस्कृति के आयतनों के निर्माण में श्री आ. ज्ञानमती माताजी का नाम सर्व प्रथम स्मरणीय है। उनका कार्यस्थल हस्तिनापुर क्षेत्र है जहाँ उनकी सूझबूझ और प्रेरणा से जम्बूद्वीप रचना का कार्य हुआ। यह उनकी ही प्रतिश्री है। प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इसका निर्माण कार्य हुआ। आपके द्वारा त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना हुई है। एक विद्यापीठ भी कार्यरत है। आधुनिक शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में आपके द्वारा लिखा गया बाल-साहित्य कथा-साहित्य बड़ा ही उपयोगी है। न्याय के अष्टसहस्री आदि कठिनतम ग्रन्थों का अनुवाद आपने ही शुरू किया था। किन्तु अब तो प्रमेयकमलमार्तण्ड का अनुवाद आ. जिनमतीमाताजी कर चुकी हैं। आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने कई गूढ़तम ग्रंथों के अनुवाद किये हैं। और अनेक स्वतंत्र ग्रंथ आपके द्वारा संस्कृत और हिन्दी में रचे गये हैं। आपने आसाम में विहार कर जैन त्यागी-वर्ग के लिए एक नया मार्ग खोल दिया है। सूर्य पहाड़ का विकास आपके ही प्रयत्नों का फल है। इसके प्रकाश में आने से जैन इतिहास साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व तक मिल सकता है। विधिवत् शोध होने पर प्रकाश में आये अन्य साधनों से अचेलक जैन धर्म की प्राचीनता और व्यापकता को सिद्ध किया जा सकेगा।

आर्यिका विशुद्धमतीजी ने त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों का उत्तम रीति से परिशीलन किया है। आपके द्वारा परिमार्जित की गई अनेक पुस्तकें जैन श्रावकों के लिए अद्वितीय रही हैं।

आर्यिका विजयमती जी माता ने दक्षिणी भाषा-भाषी क्षेत्र में मंगल विहार कर अनेक धार्मिक कार्य किये हैं जिनसे उत्तर और दक्षिण का सम्पर्क बढ़ा है। आपकी प्रेरणा से अनेकों मंदिरों का जीर्णोद्धार हुआ है।

इसी प्रकार क्षुल्लक सिद्धसागरजी ने अनेक स्थानों पर स्वाध्याय-शास्त्र, धर्मशाला, औषधालय, प्याऊ का निर्माण तथा पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं की प्रेरणा कर उन्हें सम्पन्न कराये। आपने धनिकों

को प्रेरित कर उत्तरापथ से दक्षिण तक एक हजार श्रावकों का संघ चलाया और यह विशाल संघ सहस्त्राब्दी महामस्तकाभिषेक के पुनीत अवसर पर श्रवणबेलगोल पहुँचा। धर्म-प्रभावना और धर्मायतन निर्माण की आपकी अपूर्व रुचि रही।

इसी पावन प्रसंग में श्रवणबेलगोल क्षेत्र पर एक मुनिसम्मेलन हुआ। उसमें साधु संस्था का संगठन, आचार-मर्यादा और धर्मोत्थान के संबंध में विचार किया गया। एकल-विहार की बढ़ती हुई समस्या से उत्पन्न साधु-आचार शैथिल्य पर प्रतिबंध करना आवश्यक प्रतीत हुआ और एकल-विहार निषिद्ध घोषित किया गया।

उक्त त्यागीवर्ग से सम्बन्धित कार्यकलापों के अलावा श्री साहू शान्तिप्रसादजी जैन के द्वारा स्थापित भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा अनेक प्राचीन संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत के ग्रंथों का प्रकाशन हुआ और विद्वज्जनों के सम्मानार्थ लक्षाधिक धन का पुरस्कार आरंभ किया गया। इसी प्रकार जीवराज जैनग्रन्थमाला, सितावराय लक्ष्मीचन्द ग्रंथमाला, जैन ग्रन्थ माला मथुरा, कुन्थुविजय ग्रंथमाला, महावीर एकादमी आदि ग्रंथमालाओं ने दुर्लभ संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत जैन साहित्य का सफल प्रकाशन किया। कुछ संस्थाओं ने विद्वानों को सम्मानित करने के लिए वार्षिक पुरस्कार घोषित किये। कुछ विशिष्टि साधुगण और विद्वानों का सामूहिक सम्मान इन दिनों की नवीन परिपाटी रही।

पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं. फूलचन्दजी, जगन्मोहनलालजी, कैलाशचंदजी शास्त्री, रतनचन्दजी मुखतार, सुमेरचन्द जी दिवाकर, डॉ. दरबारीलालजी, न्यायाचार्य डॉ. पन्नालालजी, डा. नेमीचन्दजी ज्योतिषाचार्य, डॉ. हीरालाल, डॉ. ए.एन. उपाध्ये, डॉ. ज्योतिप्रसाद, डॉ. कस्तूरचन्दजी कासलीवाल प्रभृति विद्वानों ने आधुनिक पद्धति से साहित्य की सेवा की है और जैन साहित्य को समृद्ध किया। इसके पूर्व प्राचीन परिपाटी के प्रौढ़ विद्वान पं. माणिकचन्दजी आचार्य, बंशीधर जी न्यायालंकार, खूबचन्दजी शास्त्री, मक्खनलालजी न्यायालंकार, लालारामजी, देवकीनन्दजी, जीवंधर नाथूलालजी आदि ने जिनवाणी की महती सेवाएँ की जिनसे समाज में गम्भीर विद्वान् तैयार हुए और आर्ष परम्परा सुरक्षित चलती रही।

इसी अन्तराल में पद्मपुरी, तिजारा, लूणवां, गोम्मटगिरि, चूलगिरि, कुंभोज बाहुबली सदृश अनेक कलात्मक मन्दिर निर्माण किये गये और बाहुबली के विशाल बिम्बों की तरह उत्तर में भी महान् प्रतिमाएँ निर्मित हुईं। श्रीसाहूजी ने दक्षिण और बुन्देलखण्ड के प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया।

स्याद्वाद महाविद्यालय काशी, गो. दि. जैन विद्यालय मुरैना, जैन महाविद्यालय सागर, सत्तर्क तरंगिनी पाठशाला सागर, जम्बू विद्यालय सागर, समन्तभद्र विद्यालय देहली इसी युग में पनपे। दि. जैन महासभा, जैन संघ, शास्त्री परिषद, विद्वत् परिषद, दि. जैन परिषद, दि. जैन महासमिति आदि सभायें अपने-अपने कार्य में गतिमान हैं।

हम इन उपलब्धियों की निम्न तालिका बना सकते हैं--

१. मुनिसंघों का भारत में निर्बाध विहार।

२. नवीन ग्रन्थमालाओं की स्थापना और जिनवाणी उद्धार एवं संरक्षण के कार्य।

३. जैन प्रतिमाओं की स्थापना और नन्दीश्वर द्वीप, जम्बूद्वीप, समवसरण, निर्वाण-क्षेत्रों की प्रतिकृतियाँ।

४. नवीन लोकोपयोगी साहित्य की अभिवृद्धि।

५. जैन स्कूल और पाठशालाएँ तथा धर्मशाला, औषधालय, विश्रामगृहों का निर्माण।

६. नवीन अतिशय-क्षेत्रों का उदय और उनका सवैभव निर्माण।

७. सामूहिक श्रावक-मुनिसंघों का यात्रा-विहार।

८. प्राचीन तीर्थों का उद्धार एवं नवीनीकरण।

९. प्रतिवर्ष दशाधिक पंचकल्याणक समारोह।

१० विद्वज्जन पुरस्कार योजना और अभिनन्दन-ग्रंथों की प्रणाली।

इस संक्षिप्त तालिका से कोई भी प्रबुद्ध और प्रगतिशील व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि जैन वर्ग के इन नायकों ने धर्म और समाज के उत्थान के कार्य कितनी लगन से किये हैं। भारत का यह जैन समाज व्यापारी धनिक समाज है। जनता भी यह जानती है कि यह समाज बहुत सम्पन्न है। किन्तु इसके कार्य-कलाप उतने फलयुक्त नहीं हो सके हैं जितने होने चाहिए थे। इसका प्रमुख कारण व्यक्तिगत कार्य-परम्परा है। उचित मार्गदर्शन न होने के कारण संगठित लक्ष्य की पूर्ति में सदा कमी रहती आयी है। एक-एक पंचकल्याणक में बोली के आश्रय से लाखों रुपयो आते हैं ये और वैसे ही चले जाते हैं। प्रतिष्ठाकारक स्वयं का तो धन लगता ही है परन्तु दूसरे यात्रियों का उससे कई गुना और लग जाता है। मेले के उठ जाने पर क्या कुछ बचता है यह एक विचारणीय प्रश्न है।

इस प्रश्न का समाधान जैन समाज के अग्रगण्य साधुजन और धनिक वर्ग ही दे सकते हैं। यदि सम्पूर्ण समाज संगठित होकर आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करते हुए कार्य करना प्रारंभ करे तो हमारा समाज भी इस प्रगतिशील संसार की प्रगति में पना स्थान सुरक्षित कर सकता है। पिछले ६० वर्षों में जो भी कार्य हुआ है वह प्रगतिशील है इसमें कोई संदेह नहीं है।

हमारे ऊपर वीतरागी साधुओं की छत्र-छाया और उनके मंगलमय शुभाशीर्वाद बने रहें यही हम वीर प्रभु से मंगल प्रार्थना करते हैं। जैन धर्म की सेवा और समृद्धि के लिए हम कुछ कर सकें यही हमारा जीवन--लक्ष्य होना चाहिए।

दिगम्बर साधु का प्रत्याख्यान

❑ *गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमतीजी*

दिगम्बर शब्द की व्युत्पत्ति—दिक् का अर्थ है दिशा और अम्बर का अर्थ है वस्त्र अर्थात् जिनके दिशा ही वस्त्र है, दिशा रूपी वस्त्र के जो धारी हैं, उन्हें दिगम्बर कहते हैं।

दिगम्बरत्व से ही वास्तव में मानव-जीवन में बालसुलभ सरलता, प्रेम, मधुरता, निष्कपटता, अहंकारहीनता, अद्वेषपना, मैत्रीभाव आदि गुण प्रतिष्ठित होते हैं और जीवन में अपूर्व सरसता एवं संतोष की ज्योति जगती है।

निर्विकार का द्योतक दिगम्बरत्व ही है, यशस्तिलकचम्पू में कहा है—"नग्नत्वं सहजं लोके, विकारो वस्त्रवेष्टनम्" (उच्छ्वास ५)। लोक में नग्नत्व सहज जन्म से साथ में आया है। तदनन्तर उत्पन्न हुए विकार को वस्त्र से आच्छादित किया जाता है।

बालसुलभ पवित्र स्थिति में ही दिगम्बरपना बुरा नहीं लगता। विकारों के उत्पन्न होने पर, मानव उस स्वाभाविक पथ का त्याग करने को बाध्य होता है। अतः विकारवश होकर वस्त्र धारण करता है।

यदि अन्तर्मन की दुर्बलता दूर हो जाय और उसमें पाशविक वासनाएँ न रहें तो समर्थ आत्मा को दिगम्बर वेष के सिवाय दूसरी मुद्रा नहीं रुचेगी क्योंकि आत्मनिर्भरता और आत्म-निमग्नता का अमोघ उपाय ही दिगम्बरत्व है।

विश्व के सभी चिंतकों, दार्शनिकों, सन्तों एवं महापुरुषों ने परिग्रह को आत्म-विकास तथा ईश्वरत्व की उपलब्धि में महान् विघ्नकारी तत्त्व स्वीकार किया है। अप्रतिम शांति और परिपूर्ण आत्म-विकास की उपलब्धि का हेतु दिगम्बर मुद्रा ही है। क्योंकि परिग्रह की न्यूनता होने पर ही, आध्यात्मिक दृष्टि विशेष रूप से परिपुष्ट होकर विकसित होती है। लोभ तथा परिग्रह-पिशाच, आत्म-जागरण के यथार्थ में जानी दुश्मन हैं। अतः श्रेष्ठ पुरुष कृत्रिम वस्त्र-भूषणादि निष्प्रयोजन सामग्री का परित्याग कर प्रकृतिदत्त दिगम्बर-मुद्रा को धारण कर शांति-लाभ प्राप्त करते हैं।

विषय-वासनाओं के दास और भोगों के गुलाम स्वयं की असमर्थता और आत्म-दुर्बलता के कारण दिगम्बर मुद्रा को धारण करने में समर्थ नहीं होते, अतः उस निर्विकार एवं मार-विजय की द्योतिनी विद्या को लाञ्छित करने का प्रयत्न करते हैं। भूधरदास जी ने कहा है—

> अन्तर विषय वासना बरतें, बाहर लोक लाज भय भारी।
> तातें परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहीं सके दीन संसारी॥

परन्तु जो धीर-वीर महासत्त्वशाली होते हैं वे ही पुरुष काम-वासना और लोक-लाज को छोड़कर दिगम्बर मुद्रा धारण कर सकते हैं। कवि ने इसीलिए कहा है—

ऐसी दुर्द्धर नग्न परीषह, जीते साधु शील-व्रतधारी।
निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके पायन धोक हमारी॥

मानव के हृदय-भण्डार का द्वार खोलने वाली, निम्नता से उच्चता की ओर ले जाने वाली, गुणों का विकास करने वाली यदि कोई वस्तु है तो दिगम्बर मुद्रा ही है। इसे स्वीकार कर, मनुष्य अपने जीवन का सर्वतोमुखी विकास कर सकता है। सांसारिक वैभव का त्याग कर आत्म-अनुभव में लीन रहने वाले महामना पुरुषों के जीवन किरण बनकर दूसरों को मार्ग-दर्शन करने में समर्थ होते हैं।

वस्तुतः दिगम्बर अवस्था एक चतुर किसान के समान है जो मानव-जीवन के पथ के विषय-कषायरूपी काटों को, झाड़-झंखाड़ों को उखाड़कर अलग करता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि सद्गुणों के सुरभित वृक्ष लगा देता है, जिससे उसकी जीवन-यात्रा पूजनीय एवं पर्वोत्सव बन जाती है।

व्यक्ति जिस प्रकृति की छटा से विमुग्ध होकर आत्मविभोर हो जाता है—उसी प्रकृति की गोद में नग्न दिगम्बर मुनि वास किया करते हैं।

प्रकृति क्या है? आत्मा की खुली हुई एक पुस्तक। जिस प्रकृति को प्राणी नीरव, मौन और एकाकी बियावान जंगलों और पर्वत की कन्दराओं में देखते हैं, हरे-भरे स्थावर वृक्ष और लताओं में देखते हैं, कल-कल निनादिनी नदियों में देखते हैं—वही सहज स्वाभाविक एवं सौम्य प्रकृति इन धीर-वीर, आत्म-ध्यान-मग्न महात्मा, दिगम्बर मुद्राधारियों की है। इसलिए ये दिगम्बर यति ऐसी नैसर्गिक अवस्थाओं में आत्मविभोर होकर, आत्मावलोकन करते हुए, आत्मकल्याण भी करते हैं और भव्यजनों का भी उद्धार करते हैं, क्योंकि जो आत्मकल्याण कर सकते हैं, परोपकार भी उन्हीं से संभव है। जो स्वयं भवसागर से तर सकते हैं वे ही अन्यों को तार सकते हैं। तभी तो इन परमगुरुओं की तारण-तरण संज्ञा है।

निर्मोही दिगम्बर साधु की मनोवृत्ति मोही जगत से निराली होती है। क्योंकि जगत के प्राणी जिन धन-धान्यादि वस्तुओं का संग्रह करने के लिए निरंतर व्याकुलचित्त रहते हैं, उस धन-धान्यादि परिग्रह को जीर्ण तृण के समान त्याग कर दिगम्बर साधु आत्मानुभव में लीन रहते हैं। निर्ग्रन्थ यति धन-सम्पदा की तो आशा करते ही नहीं, सन्मार्ग पर अपना कदम बढ़ जाने के बाद सांसारिक जीवन के ममतावश कभी पीछे नहीं लौटते। आकिंचन्य ही उनकी सम्पत्ति है। कर्त्तव्य-पालन करते हुए आत्म-जागृतिपूर्वक मृत्यु को वे जीवन मानते हैं।

जिस मृत्यु के नाम को सुनकर मोही प्राणी का हृदय काँप उठता है, उस मरण को शुभ-यात्रा का अवसर मानकर दिगम्बर साधु हँसते-हँसते प्रयाण करते हैं। दिगम्बर मुनि विज्ञानामृत को

पी तथा तपश्चर्यारूपी सुस्वादु बलप्रद आहार को ग्रहण कर शनैः-शनैः विकास-पथ पर प्रगति करते हुए इतनी उन्नति करते हैं कि जिसे देखकर जगत चकित हो जाता है।

बालकों-जैसा स्वच्छ हृदय, छल-कपट से सर्वथा रिक्त सरल व्यवहार, विनम्र सज्जनता, निर्दोष क्रिया, मधुरता एवं तत्त्वों से भरे वचन व्यवहार वाले ऋषिगणों के बहिरंग एवं आंतरिक सौन्दर्य को देखते-देखते दर्शकों की आँखें कभी तृप्त नहीं होतीं ऐसे पारिजात पुष्प पर न जाने कितने मधुलोलुप भव्य भ्रमर मँडराते रहते हैं और उसके पराग से लाभान्वित होकर धन्य बनते हैं।

दिगम्बर जैन मुनि का जीवन और मुद्रा जगत् को पुकार-पुकार कर जगाती हुई कहती है कि मोह के फंद में फँसकर विकृति और विपत्ति की ओर दौड़े चले जा रहे हो। आओ! आकिञ्चन्य का पाठ पढ़ो, प्रकृति के प्रकाश में आत्मा की विकृति को धो डालो, तब तुम्हारे पास आनंद तथा शान्ति का निर्झर उत्पन्न होगा जो सबका कल्याण करेगा। सारी प्रकृति किसी प्रकार का आवरण धारण नहीं करती। एक मनुष्य ही ऐसा है जो अधिक ज्ञान सम्पन्न होते हुए भी अपने विकारों एवं अपनी दुर्बलताओं को दूर न कर, उन पर सुन्दर वस्त्रादि का मोहक आवरण डाल अपने आप को तथा जगत को ठगता है।

दिगम्बर साधु को यति, मुनि, तपस्वी, संयमी, योगी, वर्णी, साधु, ऋषि, भिक्षु आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। अनादि काल से बँधी हुई कर्मराशि को नाश करने का प्रयत्न करते हैं इसलिए इनको यति कहते हैं। आप्त विद्या को मानते हैं, आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं अतः वे मुनि कहलाते हैं।

अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, व्रतपरिसंख्यान और कायोत्सर्ग इन छह प्रकार के बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह प्रकार के अन्तरंग तपों के धनी होते हैं अतः ये तपस्वी, इस सार्थक नाम के धारी होते हैं।

इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम के भेद से संयम दो प्रकार का है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों और मन को वश में रखना, विषय-वासनाओं में मन को भटकने नहीं देना इन्द्रिय संयम है, और पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छह प्रकार के जीवसमूह की रक्षा करना, हृदय में जीवों के प्रति करुणा का स्त्रोत बहना प्राणी-संयम है। बाह्य पदार्थों का त्याग, द्रव्यसंयम और अंतरंग में कषायभावों का त्याग भावसंयम है। सं=सम्यक् प्रकार से अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक यम अर्थात् यावज्जीवन हिंसादि पापों का त्याग करना, समितिपूर्वक आहार-विहार आदि में प्रवृत्ति करना संयम है। दिगम्बर मुद्राधारी की क्रियायें संयमपूर्वक होती हैं अतः उन्हें संयमी कहते हैं।

मन, वचन और काय को योग कहते हैं। योगों को वश में करने वाला योगी होता है। युज् धातु से योग बनता है जिसका अर्थ होता है जुड़ना, लीन होना। दिगम्बर साधु अपने

आप में स्वयं को मन-वचन-काय को लीन करते हैं। मानसिक विकारों से मन को हटाकर उसे आत्मचिंतवन में लगा देते हैं। अतः इनको योगी कहते है। अथवा वर्षाकाल में तरुतल नीचे, ग्रीष्मकाल में पर्वत की चोटी पर और शीतकाल में नदी के किनारे बैठकर आतापन योग आदि करने के कारण इनको योगी कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग की साधना करते हैं। आत्मध्यान में मग्न होकर आत्मविशुद्धि करने का प्रयत्न करते हैं। अतः इन्हें साधु भी कहते हैं।

भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों को जानते हैं, अतः वे ऋषि हैं।

जिस प्रकार गाय घास खाते समय घास देने वाले मानव के रूप-वैभव आदि पर दृष्टि न रखकर अपने उदर को पूर्ण करने में ही संलग्न रहती है, उसी प्रकार दाता के रूप आदि के देखने में मग्न न होकर बिना आसक्ति के आहार करने को गोचरी कहते हैं।

जैसे भ्रमर फूलों का रस चूसते हैं और पुष्प को विकसित करते हैं वैसे ही दिगम्बर साधु श्रावक के घर आहार ग्रहण करते हैं जिससे उस श्रावक का हृदयकमल विकसित हो जाता है अतः इसको भ्रामरी कहते हैं।

गड्ढे के भरने के समान रूखा-सूखा भोजन करके अपने उदर की पूर्ति करते हैं। क्योंकि दिगम्बर साधु जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद से रहित होते है, इसलिए इनके आहार को गर्तपूरण कहते हैं।

जिस प्रकार माल से भरी हुई गाड़ी को इष्ट स्थान पर ले जाने के लिए उसमें ओंगण लगाना पड़ता है वैसे ही दिगम्बर साधु रत्नत्रयरूपी माल से भरी हुई अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधनाभूत शरीर रूपी गाड़ी को सुरक्षित एवं गतिशील रखने के लिए आहार ग्रहण करते हैं इसीलिए साधु की इस क्रिया को अक्षम्रक्षण कहते हैं। इन चार प्रकार की विधिपूर्वक भिक्षावृत्ति से आहार करनेवाले होने से दिगम्बर साधुओं को भिक्षु कहते हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत का निर्दोष पालन करने से इनको वर्णी भी कहते हैं।

ये दिगम्बर साधु आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। यद्यपि सांसारिक वस्तुएँ आत्मा से भिन्न हैं अतः निश्चय नय की दृष्टि से न तो आत्मा किसी वस्तु को ग्रहण करता है और न त्याग। पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधिशतक' में कहा भी है—

> यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
> जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥२०॥

अर्थात् जो अग्राह्य है उसको तो ग्रहण करता नहीं और आत्मस्वरूप को ग्रहण किये हुए है उसको छोड़ता नहीं, केवल सर्व वस्तु को जानना मात्र ही जिसका स्वभाव है ऐसा स्वसंवेद्य स्वरूप मैं (आत्मा) हूँ। तथापि व्यवहार नय से त्याग और आदान होता है। दिगम्बर साधु का

प्रत्याख्यान (त्याग) क्या है—इस विषय पर अब हम संक्षेप से विचार करेंगे।

दिगम्बर साधुत्व की उच्चभूमि का स्पर्श करने के लिए साधक को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का धारण—इन पाँच दोषों का प्रत्याख्यान (त्याग) करना पड़ता है। इन पाँच दोषों के कारण ही मानवता संत्रस्त होती है और कुचली जाती है। इन्हीं के प्रभाव से मानव राक्षस, चोर, लुटेरा, अनाचारी, लोभी, स्वार्थी, प्रपंची, मिथ्याभावी और न जाने किन- किन बुराइयों का घर बन जाता है। यही दोष है जो आत्मा के उत्थान के मार्ग में चट्टान की भाँति आड़े आ जाता है और जब मनुष्य इस पर पूर्णरूप से विजय प्राप्त कर लेता है, तो उसे महात्मा एवं परमात्मा बनने में क्षणभर का विलम्ब नहीं लगता। ये दोष मानव तथा अन्यान्य जीवधारियों में जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों के कारण प्रश्रय पा रहे हैं। वस्तुतः ये ही आत्मा के वास्तविक शत्रु हैं। इन हिंसादि पाँच पापों के त्याग से जो पाँच महाव्रत उत्पन्न होते हैं वे हैं—अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत। महाव्रतों की निर्मलता के लिए साधक की प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होनी चाहिए अर्थात् उन्हें प्रमाद त्याग कर के क्रिया करनी चाहिए। इस सावधानपूर्वक प्रवृत्ति वाली क्रिया का ही नाम है समिति।

ईर्या समिति—जीवों की रक्षा के लिए सावधानी के साथ चार हाथ आगे की भूमि देखते चलना। भाषा समिति—हितमित, मधुर और सत्य भाषण बोलना। एषणा समिति—निर्दोष एवं शुद्ध आहार ग्रहण करना। आदान-निक्षेपण समिति—किसी भी वस्तु को सावधानी के साथ उठाना या रखना जिससे किसी जीव-जन्तु का घात न हो जाय। प्रतिष्ठापन समिति—मल-मूत्र आदि ऐसे स्थान पर विसर्जित करना जिससे जीवोत्पत्ति न हो और किसी को घृणा या कष्ट भी न हो। इन समितियों का पालन करने के लिए साधक द्वारा प्रमाद का त्याग करना ही 'प्रत्याख्यान' है।

दिगम्बर साधु को मन-वचन-काय की असत्-प्रवृत्तियों को त्याग कर आत्माभिमुखी प्रवृत्ति करना परमावश्यक है। मन-वचन-काय का गोपन करना उन्हें असत्प्रवृत्ति से हटाकर स्वात्मा में लीन करना गुप्ति है। ये तीन तरह की होती हैं—

मनोगुप्ति—मन को अप्रशस्त, अशुभ या कुत्सित संकल्पों से हटाना।

वचनगुप्ति—असत्य, कर्कश, कठोर, कष्टजनक अथवा अहितकर भाषा के प्रयोग को रोकना।

कायगुप्ति—शरीर को असत्-व्यापारों से निवृत्त कर शुभव्यापार में लगाना, उठने-बैठने शयन करने आदि शारीरिक क्रियाओं में यत्न-सावधानी रखना।

दिगम्बरत्व पद को प्राप्त करने के लिए गृह-परिवार, धन-सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों के त्याग के साथ आत्म-विकारों का त्याग करना ही परमावश्यक है। बाह्य का प्रत्याख्यान तो कारण है और अंतरंग के कषाय विषयवासना आदि आत्मीय विकारों का प्रत्याख्यान कार्य है। कार्य की प्राप्ति के लक्ष्य के बिना कारणों का प्रत्याख्यान उपयुक्त नहीं है और कारण के बिना कार्य

की प्राप्ति नहीं होती; जैसे चावल के बाह्य छिलके के निकाले बिना अंतरंग की लालिमा निकल नहीं सकती और छिलका निकालने के बाद भी अन्तरंग लालिमा निकले बिना तन्दुल की शोभा नहीं होती। उसी प्रकार बाह्य पदार्थों का प्रत्याख्यान करने मात्र से आत्मविशुद्धि नहीं होती।

कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में षट्-आवश्यकों का वर्णन करते समय 'प्रत्याख्यान आवश्यक' का वर्णन किया है। यद्यपि छहढाला आदि के कर्त्ताओं ने षडावश्यक का वर्णन करते समय प्रत्याख्यान के स्थान पर स्वाध्याय को ग्रहण किया है परन्तु कुन्दकुन्द आचार्य ने षडावश्यक-क्रियाओं में प्रत्याख्यान क्रिया का उल्लेख किया है।

दिगम्बर साधुओं के २८ मूलगुणों में षडावश्यक नामक मूलगुण है—

समदा थओ य वंदण पडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावसया छप्पि॥२२०॥—मूल आराधना

सामायिक, चतुर्विंशति-स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। "अनागत दोषापहीनं प्रत्याख्यानं।" (रा. ६।२४) अर्थात् भविष्यत्काल में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान, संयम और महाव्रत ये एकार्थवाची हैं। (ध. ६। १. ९. १. २३)

प्रत्याख्यान का अर्थ संयम है इसीलिए प्रत्याख्यानावरण कषाय संयम की घातक कषाय कही जाती है।

निश्चय और व्यवहार के भेद से प्रत्याख्यान दो प्रकार का है—

निश्चय प्रत्याख्यान—सम्पूर्ण प्रशस्त-अप्रशस्त वचन-रचना के परित्याग के द्वारा शुद्ध ज्ञान-भावना के प्रसाद से सदा अन्तर्मुख परिणमनरूप परम कला के आधारपूर्वक आत्मा का चिंतवन कर शुभाशुभ कर्मों का निरोध करना, संवर करना है, यही निश्चय प्रत्याख्यान है—अर्थात् निश्चयनय से कर्मास्रव का संवर करना ही प्रत्याख्यान है। शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, सुख और दुःख इन छह वस्तुओं के त्यागरूप प्रत्याख्यान मेरे ज्ञान में ही है अर्थात् इन स्वरूप परिणत हुए ज्ञान-विकार का त्याग ही 'निश्चय प्रत्याख्यान' है।

शुभाशुभ कर्मागमन का निरोध करने के लिए ज्ञानी निरंतर चिंतवन करता है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र, संवर, योग और प्रत्याख्यानादि सर्व अवस्थाओं में मेरी आत्मा ही है।

ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली मेरी आत्मा शाश्वत है। और शेष सर्वभाव संयोग लक्षण वाले होने से मुझ से बाह्य हैं। अतः ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले आत्मद्रव्य को छोड़कर शेष सर्व विभाव भावों का परित्याग करना ही निश्चय प्रत्याख्यान है। अथवा सर्व विकल्प या दुश्चरित्र को मन-वचन-काय से त्याग कर सामायिक चारित्र अथवा निर्विकल्प सामायिक चारित्र धारण करना निश्चय-प्रत्याख्यान है।

व्यवहार प्रत्याख्यान—जो निश्चय प्रत्याख्यान का कारण है वह व्यवहार-प्रत्याख्यान है। वीतराग भाव सापेक्ष आगामी काल में दोष न करने की प्रतिज्ञा करना, सीमित काल के लिए आहारादिक का त्याग करना, त्याग प्रारंभ करते समय प्रत्याख्यान की प्रतिष्ठापना और अवधि पूर्ण होने पर उसकी निष्ठापना करना व्यवहार प्रत्याख्यान है।

विनयशुद्ध प्रत्याख्यान, अनुभाषणशुद्ध प्रत्याख्यान, अनुपालनशुद्ध प्रत्याख्यान और भावशुद्ध प्रत्याख्यान के भेद से व्यवहार प्रत्याख्यान चार प्रकार का है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार के भेद से विनय पाँच प्रकार का है। उन पाँच प्रकार के विनययुत-सिद्धभक्ति कायोत्सर्ग आदि जो क्रियायें प्रत्याख्यान में कही हैं उनका विनयपूर्वक पालन करना अथवा कायोत्सर्ग आदि करके प्रत्याख्यान करना विनयशुद्ध प्रत्याख्यान है।

गुरु जैसा कहे उसी प्रकार प्रत्याख्यान के अक्षर-पद व्यञ्जनादि का शुद्ध उच्चारण करना, ह्रस्व-दीर्घ आदि अक्षरों को शुद्ध पढ़ना अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

रोग, उपसर्ग, भिक्षा की प्राप्ति का अभाव आदि कारणों के उपस्थित हो जाने पर भी प्रत्याख्यान पालन क्रियाओं को भंग नहीं करना प्रत्याख्यान में दृढ़ रहना 'अनुपालनशुद्ध प्रत्याख्यान' है।

राग-द्वेष परिणामों से होने वाले मानसिक विकारों से प्रत्याख्यान को दूषित नहीं करना भावविशुद्ध प्रत्याख्यान है।

जो साधु अज्ञान, प्रमाद वा चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से विधिपूर्वक भक्ति आदि बोलकर प्रत्याख्यान नहीं करते, प्रत्याख्यान के श्लोक आदि का शुद्ध उच्चारण नहीं करते, उपसर्ग रोगादि आने पर प्रत्याख्यान को भंग करते हैं या किसी और वस्तु का प्रत्याख्यान करके मानसिक संक्लेश परिणाम करते हैं उनके प्रत्याख्यान दूषित हो जाता है।

मन, वचन और काय के भेद से प्रत्याख्यान तीन प्रकार का है। भविष्यत् काल में मैं अतिचार नहीं करुँगा, व्रतों में दूषण नहीं लगाऊँगा—ऐसा मन में चिंतवन करना मानसिक प्रत्याख्यान है। मैं व्रतों को दूषित नहीं करूँगा—ऐसे वचनों का उच्चारण करना वाचनिक प्रत्याख्यान है। शरीर से भविष्यत् काल में व्रतों में दूषण नहीं लगाना कायिक प्रत्याख्यान है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से व्यवहार प्रत्याख्यान छह प्रकार का भी है।

नाम-प्रत्याख्यान—अयोग्य नाम का उच्चारण नहीं करूँगा ऐसे संकल्प को नाम-प्रत्याख्यान कहते हैं।

स्थापना-प्रत्याख्यान—आप्ताभास वीतराग तीर्थंकर आदि के स्थान पर आप्त जैसे लगने वाले अन्य देवताओं की प्रतिमा की पूजा का त्याग तथा मन, वचन, काय से त्रस स्थावर जीवों के पीड़ा नहीं पहुँचाने की प्रतिज्ञा और देव-शास्त्र और गुरुओं की प्रतिमा का अनादर नहीं करने

का मानसिक संकल्प करना स्थापना-प्रत्याख्यान है।

द्रव्य-प्रत्याख्यान—अयोग्य अप्रासुक आहार उपकरण आदि को ग्रहण नहीं करने का संकल्प करना द्रव्य-प्रत्याख्यान है।

क्षेत्र-प्रत्याख्यान—जिस क्षेत्र में जाने से अथवा रहने से व्रत दूषित होते हैं, मानसिक संक्लेश उत्पन्न होता है उस क्षेत्र में रहने का त्याग करना—इस क्षेत्र में नहीं रहूँगा, ऐसा संकल्प करना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है।

काल-प्रत्याख्यान—काल का त्याग करना तो शक्य नहीं है अतः काल में होने वाली क्रियाओं का त्याग करना काल प्रत्याख्यान कहलाता है। जैसे—रात्रि के समय या संध्या काल के समय गमनागमन आदि की क्रियायें नहीं करूँगा—ऐसा संकल्प करना काल-प्रत्याख्यान है।

अशुभ एवं विकारी भावों का त्याग करना भाव-प्रत्याख्यान है। यह भाव-प्रत्याख्यान दो प्रकार का है— मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

पञ्च महाव्रतों में दूषण नहीं लगाने का संकल्प करना मूलगुण भावप्रत्याख्यान है और चौरासी लाख उत्तर गुणों की विराधना नहीं करने का नियम करना उत्तरगुण भाव-प्रत्याख्यान है।

अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिणामगत, अपरिशेष, अध्वगत और सहेतुक के भेद से भी प्रत्याख्यान दश प्रकार का है—

१— भविष्यतकाल की चतुर्दशी आदि में करने योग्य उपवास आदि को त्रयोदशी के दिन करना अनागत प्रत्याख्यान है क्योंकि इसमें समय के पूर्व में ही प्रत्याख्यान किया गया है।

२— काल का उल्लंघन कर प्रत्याख्यान करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। जैसे—चतुर्दशी के दिन उपवास न करके अमावस्या या प्रतिपदा के दिन करना।

३— कल स्वाध्याय-काल के बाद यदि शक्ति रहेगी तो उपवास करूँगा, नहीं तो नहीं करूँगा—ऐसे संकल्पपूर्वक प्रत्याख्यान को कोटिसहित प्रत्याख्यान कहते हैं।

४— पक्षादि में करने योग्य उपवास को अवश्य करना निखण्डित-प्रत्याख्यान है।

५— सर्वतोभद्र, कनकावली आदि उपवासविधि नक्षत्रादि के भेद से करना साकार-प्रत्याख्यान है।

६— नक्षत्र तिथि आदि के भेद के बिना स्व-इच्छानुसार उपवास आदि करना अनाकार-प्रत्याख्यान है।

७— प्रमाणसहित बेला, तेला-चोला, पंचम-पक्ष मास आदि कालादि परिभाषा से चार प्रकार के आहार का त्याग करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

८— यावज्जीव चार प्रकार के आहार का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

९— इस अटवीमार्ग देश, नदी आदि का उल्लंघन नहीं करूँगा तब तक चार प्रकार के आहार का त्याग करना, उपवास आदि करना अध्वगत नाम का प्रत्याख्यान है।

१०— कोई उपसर्ग आदि के आ जाने पर जब तक यह उपसर्ग दूर नहीं होगा तब तक उपवास करूँगा ऐसा संकल्प करना सहेतुक प्रत्याख्यान है।

इस प्रकार दिगम्बर साधु का प्रत्याख्यान एक मूलगुण है। वह अनेक प्रकार का है। इस प्रत्याख्यान की विधि को जानकर शास्त्रोक्त विधि से प्रत्याख्यान करना चाहिए। वास्तव में सम्यग्दृष्टि का प्रत्याख्यान ही प्रत्याख्यान है। सम्यग्दर्शन के बिना प्रत्याख्यान वास्तविक प्रत्याख्यान नहीं है। अतः सर्व पदार्थों को अपने आत्मा से भिन्न जानकर उनके ममत्व का त्याग करना और निष्कषायी, शांत, संसारभीरु, मुनिराज का निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान में लीन होना ही वास्तव में प्रत्याख्यान है।

दिगम्बर साधु की चर्या सारे जगत् के जीवों से निराली होती है। उनका किसी भी सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व, राग, द्वेष नहीं होता। वे इन्द्रिय-विषयों के त्यागी होते हैं, आत्म-स्वरूप में रमण कर आत्म-स्वरूप प्राप्त करना ही उनका लक्ष्य है। अतः उनको सर्व सांसारिक पदार्थों का प्रत्याख्यान होता है।

दिगम्बर साधु-साध्वी का कर्तव्य है कि आगम में जिस विधि से भक्ति आदि बोलकर प्रत्याख्यान करने की विधि कही है उसी के अनुसार प्रत्याख्यान करें क्योंकि उससे जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन, आलस्य का परित्याग एवं कर्मों की निर्जरा होती है।

ज्ञानी मुनि आहार करके शीघ्र ही विधिपूर्वक योग्य कालपर्यन्त अन्न, पान, खाद्य और लेह्य की रुचि छोड़ देते हैं। यदि प्रत्याख्यानादि के ग्रहण बिना कदाचित् पूर्वबद्ध आयुकर्म के वश से आयु क्षीण हो जाय (मरण हो जाय) तो वह साधु असमाधि से मरा ऐसा समझना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत प्रत्याख्यान करने के बाद भले ही तत्काल मृत्यु हो जाय फिर भी उसका मरण समाधियुक्त है और वह प्रत्याख्यान महान् फल देने वाला होता है। अतः साधक को एक क्षण भी प्रत्याख्यान के बिना व्यतीत नहीं करना चाहिए।

चाहे लाख करो तुम पूजा तीरथ करो हजार।
दीन दुखियों को सताया तो सब कुछ है बेकार।।

श्रमण के दस समाचार

❑ क्षु. श्री स्याद्वादसागरजी

जैन साधुओं के सम्यग् आचार को 'समाचार' कहा गया है। समता, समरसी भाव, समयाचार-स्वसमय अर्थात् जैनागम की व्यवस्था के अनुरूप आचार, सम्यक् आचार—सभी साधुओं का साथ-साथ आचरण या क्रियाओं को करना, सभी क्षेत्रों में समान आचार होना समाचार है।

समीचीन आचार का होना, सम आचार अर्थात् सभी साधुओं का हानि, वृद्धि रहित समान आचरण होना, समान आचार—कायोत्सर्ग आदि से समान प्रमाण रूप है आचार जिसका वह भी समाचार है।

समाचार के दो भेद हैं—(१) औघिक और (२) पदविभागी।औघिक के दस भेद हैं—

> इच्छा-मिच्छाकारो तथाकारो य आसिया णिसिही।
> आपुच्छा पडिपुच्छा छंदण सणिमंतणा य उपसंपा॥

अर्थात्—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमन्त्रणा और उपसंपत्।

इच्छाकार — इष्ट या स्वीकृत को करना इच्छाकार है अर्थात् आदर करना।

मिथ्याकार — असत्य करना मिथ्याकार है अर्थात् अशुभ परिणाम का त्याग करना।

तथाकार — सत् अर्थात् प्रशस्त अर्थ के प्रतिपादित किये जाने पर 'ऐसा ही है' इस प्रकार वचन बोलना तथाकार है।

आसिका — पूछकर गमन करना आसिका है।

निषेधिका — पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है।

आपृच्छा — अपने कार्य के प्रति गुरु आदि का अभिप्राय लेना या पूछना आपृच्छा है।

प्रतिपृच्छा — निषिद्ध अथवा अनिषिद्ध वस्तु को ग्रहण करने के लिए पुनः पूछना प्रतिपृच्छा है।

छन्दन — अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन है।

सन्निमन्त्रणा — सत्कार करके याचना करना सन्निमन्त्रणा है।

उपसंपत् — अपना निवेदन करना अर्थात् अपने को (आपका ही हूँ) ऐसा कहना उपसंयत् है।

दस श्रमणकल्प

अच्चेलक्कुद्देसिय-सेज्जाहररायपिंड किदियम्मं।
वद-जेट्ठपडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो॥—मूलाचार, गा. ९११

अर्थात् अचेलकत्व, औद्देशिक-त्याग, शय्यागृह-त्याग, राजपिण्ड-त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्या ये दस श्रमणकल्प हैं।

१. अचेलकत्व—अर्थात् वस्त्रादि का अभाव।

२. औद्देशिक-त्याग—उद्देश्य करके भोजन न करे अर्थात् उद्देश्य से होने वाले दोष का परिहार करना।

३. शय्यागृह-त्याग—मेरी वसतिका में जो ठहरे हैं उन्हें मैं आहार-दान आदि दूँगा अन्य को नहीं, इस प्रकार के अभिप्राय से दिये गये दान को नहीं लेना शय्यागृह-त्याग है॥

४. राजपिण्ड-त्याग—राजा के यहाँ आहार का त्याग करना। दान-शाला के आहार-ग्रहण का त्याग।

५. कृतिकर्म—वन्दना आदि क्रियाओं के करने में उद्यम करना।

६. व्रत—अहिंसा आदि व्रतों से आत्मा की भावना करना।

७. ज्येष्ठ—बड़प्पन। ज्येष्ठ होना—सभी का पूज्य होना।

८. प्रतिक्रमण—सात प्रकार के प्रतिक्रमणों द्वारा आत्म-भावना करना।

९. मास—वर्षायोग ग्रहण से पहले एक मासपर्यन्त रहकर वर्षाकाल में वर्षायोग ग्रहण करना तथा वर्षायोग को समाप्त करके पुनः एक मास तक अवस्थान करना। अर्थात् प्रत्येक ऋतु में एक-एक मास तक रहना और एक एक मास तक विहार करना 'मास' नाम का श्रमणकल्प है।

१०. पर्या—पर्युपासन को पर्या कहते हैं। निषद्यका स्थान और पंचकल्याणक स्थानों की उपासना करना पर्या है।

दस प्रकार की शुद्धि

लिंग वदं च सुद्धी वसदि विहारं च भिक्खणाणं च।

उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं॥—मूलाचार, गा. ७७१

अर्थात् लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, उज्झनशुद्धि तथा वाक्य, तप और ध्यानशुद्धि ये दश अनगार भावना-सूत्र हैं।

१. लिंगशुद्धि—लिंग के अनुरूप आचरण करना लिंगशुद्धि है।

२. व्रतशुद्धि—व्रतों को निरतिचार पालना व्रतशुद्धि है।

३. वसतिशुद्धि—स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित प्रदेश में जो कि परम वैराग्य का कारण स्थान है, ठहरना वसति- शुद्धि है।

४. विहारशुद्धि—अनियतवास का नाम विहार है, सर्वदेश में विहार करना विहारशुद्धि है।

५. भिक्षाशुद्धि—चार प्रकार के आहार का नाम भिक्षा है। छियालीस दोषरहित आहार करना भिक्षाशुद्धि है।

६. ज्ञानशुद्धि—यथावस्थित पदार्थों का जानना ज्ञानशुद्धि है।

७. उज्झनशुद्धि—उज्झन अर्थात् परित्याग! अर्थात् शरीर आदि से ममत्व का त्याग करना उज्झनशुद्धि है।

८. वाक्यशुद्धि—स्त्रीकथा आदि से रहित वचन बोलना वाक्यशुद्धि है।

९. तपशुद्धि—पूर्व संचित कर्ममल के शोधन में समर्थ अनुष्ठान करना तप है। ऐसे बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपशुद्धि है।

१०. ध्यानशुद्धि—शोभन विधानपूर्वक एकाग्रचिंता का निरोध करना ध्यान है। उसकी शुद्धि ध्यानशुद्धि।
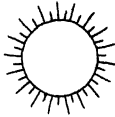
ऋद्धि और सिद्धि

❑ *आचार्य श्री अभिनन्दनसागरजी*

भारत देश महापुरुषों का देश रहा है। यहाँ आर्यजनों के निवास से इस क्षेत्र को आर्यक्षेत्र भी कहते हैं। इस भू-तिलक पर आर्यसंयमियों ने परीषह एवं उपसर्गों को विजितकर उत्तम ध्यान साधना की। उनकी दृष्टि में कंचन और कांच, वन और शहर, झोपड़ी और महल सभी समान थे। भर्तृहरि और शुभचन्द्र दो भाई थे। संसार से विरक्त हो, जंगल की ओर चल दिये। कारणवश दोनों का मार्ग में विछोह हो गया। एक भाई तापस साधुओं के मठ में पहुँचा और तापसी बन गया। दूसरा भाई शुभचन्द्र दिगम्बराचार्य के चरणों में पहुँच, दिगम्बर साधु बन गया। छोटे भाई ने बारह वर्षों तक अनेकानेक रसायन बनाने की कला, स्वर्ण बनाने की कला आदि सीखी और बड़े ही आनन्द से रहने लगा।

एक दिन बड़े भाई की स्मृति आयी। सभी सेवकों को भाई की खोज में भेजा। सेवकों ने देखा एक विशाल चट्टान पर एक योगी ध्यानस्थ विराजमान हैं। पहचान लिया, यही हैं शुभचन्द्र! लेकिन तन पर कपड़ा नहीं, रहने को मकान नहीं, कैसी दीनावस्था इनकी है! सभी सेवकों ने प्रार्थना की, "आपके भाई बहुत दुखी हैं। आप इतने दरिद्री क्यों बने हुए हैं? चलो, आपके भाई ने बुलाया है अन्यथा यह स्वर्ण बनाने का रसायन है इसे लेकर आप अपनी दरिद्रता दूर करें।"

योगीराज मुस्कराये। सारा रसायन भूमि पर गिरा दिया। सेवकों को बड़ा दुख हुआ। सारी घटना स्वामी भर्तृहरि को कह सुनायी। उन्होंने दो शीशा रसायन लिया और भाई के समीप पहुँचे। "भैया! यह क्या किया? देखो, मैंने बारह वर्ष में कितनी साधना की है, मैंने, सोना बनाने की कला सीख ली है। यह रसायन लीजिये और दरिद्रता को दूर कीजिये।"

वीर धीर महात्मा ने उत्तर दिया—"यदि तुम्हें सोना ही इकट्ठा करना था तो घर क्यों छोड़ा, वहाँ क्या कमी थी?" और रसायन की शीशियाँ उसी समय जमीन पर फेंक दीं। भर्तृहरि नाराज हुए—"आपने मेरी बारह वर्ष की मेहनत मिट्टी में मिला दी। आपने क्या किया है? केवल दरिद्री बन गये हैं। खाने पीने का भी ठिकाना नहीं है। बताओ, कोई सिद्धि की हो तो?"

मुनि शुभचन्द्र जी ने उसी समय अपने पैरों की धूलि उठायी और चट्टान पर फेंक दी। सारी चट्टान स्वर्णमय हो गयी। भर्तृहरि आश्चर्यचकित हुए। धन्य है भाई आपकी साधना। मुनिराज ने कहा—"ले लो कितना सोना चाहिए?"

"मुझे सोना नहीं चाहिए। मुझे तो अपने समान ही बना लीजिए।" भर्तृहरि दिगम्बर साधु बन गये। आचार्य कहते हैं—जो आर्य पुरुष निश्छल साधना में तत्पर हो पंचेन्द्रिय विजय कर, विषय कषायरूपी घोड़े पर सवार हो, लगाम को पकड़, मन-वचन-काय को नियंत्रित करते हैं, उन्हें नाना प्रकार की ऋद्धियाँ स्वतः ही मिलती हैं। गृहस्थों के ऋद्धियाँ नहीं होती हैं।

राजवार्तिक में अकलंकदेव लिखते हैं—गुण व गुणवानों से जो सेवित हैं वे आर्य कहलाते हैं। वे आर्य दो प्रकार के होते हैं—(१) ऋद्धिप्राप्त आर्य और (२) अनर्द्धिप्राप्त आर्य।

ऋद्धियों के भेद

बुद्धि-ऋद्धि के १८ भेद—केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठ, पादानुसारित्व, सभिन्नश्रोतृ, दूरास्वादन, दूरस्पर्शन, दूरदर्शन, दूरघ्राण, दूरसंश्रवण, दशपूर्वित्व, अष्टांग महानिमित्त, प्रज्ञाश्रमणत्व, चतुर्दशपूर्वित्व, प्रत्येकबुद्धि और श्रेष्ठवादित्व।

क्रियाऋद्धि के दो भेद—चारणऋद्धि और आकाशगामिनी।

चारणऋद्धि के भेद—जल-चारण, जंघा, तन्तुचारण, पुष्पतन्तु, पत्र, फल, बीज, श्रेणी, अग्निशिखा आदि अनेक भेद हैं।

विक्रिया के भेद—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, आदि।

तपर्द्धि के भेद—उग्र तप, दीप्त तप, तप्त तप, महातप, घोरतप, वीरपराक्रमतप और अखण्ड ब्रह्मचर्य।

बलर्द्धि के ३ भेद—मनोबलर्द्धि, वचनबलर्द्धि और कायबलर्द्धि।

औषधर्द्धि के ८ भेद—आमौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्ल, मल्ल, विट्, सर्वौषधि, आस्याविष और दृष्टिविष।

रसर्द्धि के ६ भेद—आसीविष, दृष्टिविष, क्षीरस्रावी, मधुरस्रावी, सर्पिस्रावी, अमृतस्रावी।

क्षेत्रर्द्धि के २ भेद—अक्षीणमहानस और अक्षीणमहालय।

(१) बुद्धि-ऋद्धि के १८ भेद

१. केवलज्ञान ऋद्धि—इस ऋद्धि के प्रभाव से योगी त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हथेली पर रखे आँवले की तरह जान लेते हैं।

२. मनःपर्ययज्ञान ऋद्धि—तद्भव मुक्तिगामी को ही यह ऋद्धि प्राप्त होती है। इस ऋद्धि के प्रभाव से दूसरों के सरल और कुटिल मन की बातों को योगिराज आसानी से जान लेते हैं।

३. अवधिज्ञान ऋद्धि—यह ऋद्धिधारी यतिजन सर्वलोक के रूपी पदार्थों को इन्द्रियों की सहायता के बिना जान लेते हैं। यह एकदेश प्रत्यक्षज्ञान है।

४. बीजबुद्धि—सारभूत, भली प्रकार कर्षित और समधीकृत क्षेत्र में कालादि की सहायता रखने वाला बोया हुआ एक भी बीज जिस प्रकार अनेक बीजों का उत्पादक होता है, उसी प्रकार नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की प्रकर्ष अवस्था होने पर एक बीजपद के ग्रहण करने मात्र से ही अनेक पदार्थों का ज्ञान हो जाना बीजबुद्धि ऋद्धि है।

५. कोष्ठबुद्धि—भण्डारी के द्वारा स्थापित अनेक प्रकार के धान्य, भण्डार में सुरक्षित और पृथक्-पृथक् रहते हैं। उसी प्रकार परोपदेश से अवधारित बहुत से पदार्थ, ग्रन्थ, बीजबुद्धिरूपी कोठे में भिन्न-भिन्न सुविचारित रहते हैं, वह कोष्ठबुद्धि है।

६. पादानुसारित्व-बुद्धि—आदि, मध्य अथवा अन्त के किसी एक पद का उच्चारण करने पर, सुनकर सम्पूर्ण ग्रन्थ के अर्थ का अवधारण कर लेना पादानुसारित्व-बुद्धि ऋद्धि है।

७. संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धि—बारह योजन लम्बे और नव योजन चौड़े चक्रवर्ती के कटक में हाथी, घोड़े, ऊँट, मनुष्यादि के एक साथ उत्पन्न अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक, अनेक प्रकार के शब्दों को सुनकर, तपोविशेष के लाभ से, एक साथ सर्व शब्दों को पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण कर लेना संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धि है।

८-१२. दूरास्वादन-समर्थता—तपश्चरण की शक्ति विशेष से नवयोजन क्षेत्र से बाहर भी, अनेक योजन दूर से आये रस का स्वाद करने का सामर्थ्य विशेष दूरास्वादन-समर्थता ऋद्धि है। इसी प्रकार बहुयोजन दूर क्षेत्र की गन्ध आदि ग्रहण करना दूरघ्राण, दूरविलोकन, दूरस्पर्श और दूरसंश्रवणसमर्थता ऋद्धियाँ हैं।

१३-१४. दशपूर्वित्व—अपने-अपने स्वरूप की सामर्थ्य को प्रकट करने में निपुण, वेगवती, महारोहिणी आदि तीन विद्या-देवताओं से प्रकट होकर तथा अनेक प्रकार का प्रलोभन मिलने पर भी जिन मुनि का चित्त क्षुभित नहीं होता है तथा जो दशपूर्वरूपी समुद्र को पार कर पाते हैं उन्हें यह दशपूर्वित्व ऋद्धि प्राप्त होती है तथा जो पूर्णश्रुत के पाठी होते हैं उन्हें चतुर्दशपूर्वित्व ऋद्धि प्राप्त होती है।

१५. अष्टाङ्ग महानिमित्त ऋद्धि—अन्तरिक्ष भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न ये आठ महानिमित्त हैं।

(१) आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा ज्योतिषी देवों के उदय-अस्तादि के द्वारा अतीतानागत फल के विभाग को जान लेना अन्तरिक्ष-निमित्त है।

(२) पृथ्वी की कठोरता, कोमलता, स्निग्धता, रूक्षतादि के द्वारा अथवा पूर्वादिदिशाओं में सूत्र पढ़ते देखकर अमुक की वृद्धि-हानि जय-पराजयादि का ज्ञान तथा भूमितल में निहित सुवर्ण-चाँदी का ज्ञान करना भौम नाम का निमित्त है।

(३) शरीर के अंगप्रत्यंग के दर्शन-स्पर्शन आदि से त्रिकालभवी सुख-दुख का निश्चय करना अंग निमित्त है।

(४) अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक शब्दों को सुनकर इष्टानिष्ट फल का निश्चय करना स्वर निमित्त है।

(५) सिर, मुख, ग्रीवा आदि स्थानों पर तिल, मसा आदि चिह्नों से त्रिकाल सम्बन्धी हिताहित को जान लेना व्यंजन निमित्त है।

(६) श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश, झारी आदि देखकर त्रिकाल सम्बन्धी स्थान, मान, ऐश्वर्य आदि का ज्ञान होना लक्षण निमित्त है।

(७) वस्त्र, छत्र, जूता, आसन और शैय्या आदि की जगह पर देव, मानव, राक्षस आदि के विभाग द्वारा, शस्त्र द्वारा, मसूरी आदि से छिदना देखकर लाभ-अलाभ, सुख-दुखादि का ज्ञान करना छिन्न नाम का निमित्त है।

(८) वात, पित्त, कफ आदि दोष रहित पुरुष के मुख में रात्रि के पिछले पक्ष में चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत और समुद्र का प्रवेश अथवा सकल महीमण्डल का आलिंगन आदि शुभ स्वप्न है और घी तेलादि से अपने शरीर का विलेपन तथा गधे, ऊंट आदि पर आरूढ़ होकर दक्षिण दिशा में गमन अशुभ स्वप्न हैं। इन स्वप्नों को देखने से आगामी काल में होने वाले जीवन-मरण, सुख-दुख आदि को जान लेना स्वप्न नाम का निमित्त है।

१६. प्रज्ञाश्रवणत्व ऋद्धि—द्वादशांग का पाठी न होते हुए भी श्रुतज्ञानियों के द्वारा समाधान करने योग्य सूक्ष्म शंकाओं का असाधारण प्रज्ञाशक्ति के लाभ से निःसंशय होकर समाधान करना प्रज्ञाश्रवणत्व-बुद्धि ऋद्धि है।

१७. प्रत्येकबुद्धिता ऋद्धि—परोपदेश के बिना स्वभाव विशेष के कारण, ज्ञान और चारित्र के विधान में निपुण होना प्रत्येकबुद्धिता ऋद्धि है।

१८. वादित्व ऋद्धि—यदि इन्द्र भी आकर वाद करे तो उसे भी निरुत्तर कर देना और वादी के दोषों को जान लेना इस ऋद्धि की महानता है।

(२) क्रिया-ऋद्धि

क्रिया विषयक ऋद्धि दो भेद वाली है—(१) चारणत्व (२) आकाशगामित्व। जल, जंघा, तन्तु,

पुष्प, पत्र, अग्नि, शिखा आदि पर जीवों को बाधा पहुँचाये बिना गमन करना इस चारण ऋद्धि का सामर्थ्य है।

वापिका आदि में जल का सहारा लेकर जलकाय जीवों की विराधना नहीं करते हुए, भूमि के समान जल में पैरों को उठाने एवं रखने की कुशलता को जलचारण ऋद्धि कहते हैं।

भूमि से चार अंगुल प्रमाण अधर आकाश में जंघा के उत्क्षेपण, निक्षेपण शीघ्र करने में चतुर और कई योजन शीघ्र गमन करने में पटु जंघाचारण ऋद्धि है। इस प्रकार अन्य भी ऋद्धियाँ जाननी चाहिए।

पैरों को उठाना-रखना आदि नहीं करते हुए, पद्मासन और कायोत्सर्ग रूप आकाश में गमन करना आकाशगामित्व ऋद्धि है। राम, लक्ष्मण और सीता ने विशेष भक्तिपूर्वक जंगल में, चारणऋद्धिधारी गुप्ति-सुगुप्ति मुनियों को आहार-दान दिया था तथा भरत चक्रवर्ती ने आकाशमार्ग से आते हुए आकाशगामित्व ऋद्धिधारी मुनि को नवधाभक्तिपूर्वक आहार-दान दिया था।

(३) विक्रिया-ऋद्धि

इस ऋद्धि के अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूपित्व के भेद से अनेक प्रकार हैं—

(१) अणिमा—अणु (सूक्ष्म) सदृश शरीर बना लेना अणिमा ऋद्धि है, जो छोटे से कमलतन्तु के छिद्र में भी प्रवेश करके, उस छिद्र में बैठकर, चक्रवर्ती के परिवार की विभूति की भी रचना कर सकता है।

(२) महिमा—मेरु पर्वत से भी महान् शरीर की रचना करने की सामर्थ्य होना महिमा ऋद्धि है। यह ऋद्धि श्री विष्णुकुमार मुनि को प्राप्त हुई। ऋद्धि-बल से उन्होंने हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों का उपसर्ग दूर कर जिनधर्म की प्रभावना की थी।

(३) लघिमा—वायु से भी हल्का शरीर बना लेना लघिमा ऋद्धि है।

(४) गरिमा—वज्र से भी अधिक भारी शरीर बना लेना गरिमा ऋद्धि है।

(५) प्राप्ति—भूमि पर बैठे हुए अंगुलि के अग्रभाग से मेरुशिखर या सूर्य-चन्द्रमा आदि का स्पर्श करने की सामर्थ्य रखना प्राप्ति ऋद्धि है।

(६) प्राकाम्य—पानी में भूमि के समान गमन करना और भूमि पर जल की तरह उन्मज्जन-निमज्जन आदि करने की सामर्थ्य प्राकाम्य ऋद्धि है।

(७) ईशित्व—तीन लोक की प्रभुता रचने की सामर्थ्य का होना ईशित्व ऋद्धि है।

(८) वशित्व—सर्व जीवों को वश में कर लेने की सामर्थ्य वशित्व ऋद्धि है।

(९) अप्रतिघात—पर्वत के मध्य भाग में आकाश के समान गमनागमन करना या पर्वत में घुस जाना अप्रतिघात ऋद्धि है।

(१०) अन्तर्धान—अदृश्य होने की क्षमता अन्तर्धान ऋद्धि है।

(११) कामरूपित्व—एक साथ अनेक रूप बना लेने की शक्ति कामरूपित्व है।

इस प्रकार ये ऋद्धियाँ तपोबल विशेष से मुनियों को उत्पन्न हो जाती हैं। ये अपने में लीन रहते हैं ऋद्धियाँ अपने में। वीतरागी सन्तों को इन ऋद्धियों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। यहाँ तक कि उन्हें ऋद्धियों का पता भी नहीं लग पाता। स्वयं के लिए या किसी के अनिष्ट प्रयोजनार्थ वीतरागी सन्त इन ऋद्धियों का प्रयोग नहीं करते हैं। धर्म-प्रभावना के लिए ही क्वचित् प्रयोग करने पर भी प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्म-विशुद्धि की ओर वृद्धिगत होते हैं। धन्य है ऐसे दिगम्बर सन्त । निस्पृह, निरालम्ब, स्वतन्त्र विचरण करने वाले इन दिगम्बर गुरुओं का जो प्रतिदिन प्रातः स्मरण करता है वह यश, कीर्ति, बल, ऐश्वर्यादि को प्राप्त कर सुख-शान्ति को प्राप्त करता है।

(४) तपोऽतिशय ऋद्धि

यह ऋद्धि सात प्रकार की है—उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, घोरतप, घोरपराक्रमतप और घोर-ब्रह्मचर्य तप।

(१) उग्रतप—दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन, छह दिन, पन्द्रह दिन, एक महीना आदि के उपवास के योग में किसी भी उपवास की शुरुआत करके मरण-पर्यन्त कठोरतापूर्वक उस पक्ष मासादि का उपवास करना उग्रतप है।

(२) दीप्ततप—महा-उपवास करने पर भी जिनका मन-वचन-काय बल बढ़ता जाता है, जिनके मुख में दुर्गन्ध नहीं आती अपितु कमलादि के समान सुगन्धित श्वास चलती है तथा जिनके शरीर की दीप्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है वे दीप्ततप ऋद्धि-धारक कहे जाते हैं।

(३) तप्ततप-ऋद्धि—तप्त लोहे की कढ़ाई में गिरे हुए जल कण के समान, शीघ्र ही आहार के शुष्क हो जाने से जिनका भुक्त आहार मल-रुधिरादि स्वरूप को प्राप्त नहीं होता है वे तप्ततपर्द्धि धारक होते हैं।

(४) महातप-ऋद्धि—सिंह निष्क्रीड़ित आदि महातपों को करने की परायणता महातप ऋद्धि है।

(५) घोरतप-ऋद्धि—वात, पित्त, कफादि के सन्निपात से समुद्भूत ज्वर, खाँसी, प्रमेह आदि विविध रोगों से देह के सन्तापित होने पर भी जो अनशन, कायक्लेशादि तपों से विमुख नहीं

होते और भयंकर श्मशान, पर्वत की चोटी, गुफा, कन्दरा और शून्य ग्रामादि स्थानों में तथा भीषण सिंह, सर्प, मृगों आदि की भयंकर आवाजों से व्याप्त, चोरादि से व्याप्त स्थानों में रहने के अभ्यासी घोर तपऋद्धि के धारक होते हैं।

(६) घोर पराक्रमतप-ऋद्धि—जो गृहीत तप और योग को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं वे घोरपराक्रमतप ऋद्धि के धारक हैं।

(७) घोर ब्रह्मचर्यतप-ऋद्धि—जो अस्खलित अखंड ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं और प्रकृष्ट चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने के कारण जिन्हें दुःस्वप्न तक नहीं होते हैं वे घोरब्रह्मचर्य तपऋद्धि के धारक कहलाते हैं।

(५) बलऋद्धि

विशेष तप के प्रभाव से योगियों मे विशेष बल का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह बलऋद्धि कहलाती है। यह तीन प्रकार की है—मनोबली, वचनबली और कायबली।

(१) मनोबल ऋद्धि—अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुतार्थ के चिन्तन में निष्णात मनोबल ऋद्धि है।

(२) वचनबल ऋद्धि—अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुत के उच्चारण करने में जो समर्थ हैं तथा सतत उच्चारण करने पर भी जिन्हें थकावट नहीं होती, जिनके कंठ अवरुद्ध नहीं होते वे वचनबल ऋद्धि के धारक हैं।

(३) कायबल ऋद्धि—जो कायशक्तित्व के कारण मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आदि प्रतिमायोग धारण करने पर भी थकावट और क्लान्ति का अनुभव नहीं करते हैं वे कायबल ऋद्धि के धारक मुनि हैं।

(६) औषधऋद्धि

सभी असाध्य रोगों की निवृत्ति में कारणभूत आमर्श, क्ष्वेल, जल्ल, मल, विट, सर्वौषधि, आस्याविष और दृष्टिविष के विकल्प से औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है।

(१) आमर्शौषधि ऋद्धि—जिनके हाथ-पैर आदि के स्पर्शन से भयंकर व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं वे आमर्शौषधि ऋद्धि प्राप्त मुनिराज कहलाते हैं।

(२) क्ष्वेलौषधि ऋद्धि—क्ष्वेल का अर्थ थूक है। जिनका थूक औषधि रूप हो गया है या जिनके थूक से अनेक व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं वे मुनि क्ष्वेलौषधि ऋद्धि के धारक कहे जाते हैं।

(३) जल्लौषधि ऋद्धि—पसीने के कारण रजसमूह शरीर में चिपक जाता है उसे जल्ल कहते

है। जिनके जल्ल के स्पर्शनमात्र से रोग दूर हो जाते हैं वे मुनि जल्लौषधि ऋद्धिप्राप्त मुनि हैं।

(४) मल्लौषधि ऋद्धि—कर्ण, दांत, नासिका, अक्षि आदि से उत्पन्न मल जिनके तप से औषधि को प्राप्त हो गया है वे मल्लौषधि ऋद्धि के धारक हैं।

(५) विडौषधि—जिनके मल के स्पर्श मात्र से रोग शान्त हो जाते हैं वे विडौषधि ऋद्धिधारी मुनि हैं।

(६) सर्वौषधि—जिनके अंग-उपाङ्ग. नख, दांत केशादि सर्व शरीर के अवयवों को स्पर्श करने वाले वायु आदि पदार्थ सभी रोगों का नाश करने में समर्थ हैं वे मुनि सर्व-औषधि ऋद्धि प्राप्त कहे जाते हैं।

(७) आस्याविष ऋद्धि—उग्र विष मिश्रित आहार भी जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है वे मुनि आस्याविष ऋद्धि के धारक हैं।

(८) दृष्टिविष ऋद्धि—जिनके अवलोकन मात्र से ही तीव्र विष दूर हो जाते हैं वे दृष्टिविष ऋद्धि के धारक मुनि कहलाते हैं।

(७) रस-ऋद्धि

रस-ऋद्धि प्राप्त आर्य छह प्रकार के हैं—आस्यविष, दृष्टिविष, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, सर्पिस्रावी और अमृतस्रावी।

(१) आस्यविष—प्रकृष्ट तपस्वी यति जिसे कह देते हैं कि 'मर जाओ' तो वह तत्क्षण मर जाता है व महाविष परिणत हो जाता है वे आस्यविष ऋद्धि धारक मुनि हैं। पर अहिंसक मुनि इसका प्रयोग कभी नहीं करते हैं।

(२) दृष्टि-विष—उत्कृष्ट तपस्वी मुनि क्रोधित होकर जिसको देखते हैं, वह उसी समय उग्र विष से व्याप्त होकर मर जाता है, वे दृष्टिविष ऋद्धिधारक मुनि हैं। अहिंसा महाव्रत के धारी मुनिजन ऐसी ऋद्धियों का कभी भी उपयोग नहीं करते हैं।

(३) क्षीरस्रावी—जिनके हाथ में पड़ते ही नीरस अन्न भी क्षीर के समान सुस्वादु हो जाता है, या जिनके वचन क्षीर के समान सभी श्रोताओं को तृप्त करते हैं वे क्षीरस्रावी नामक ऋद्धि के धारी होते हैं।

(४) मधुस्रावी—जिनके हाथ पर रखा हुआ नीरस आहार मधु के रस के समान स्वादिष्ट हो जाता है एवं पुष्टिदायक होता है अथवा जिनके मनोहर वचन दुखी श्रोताओं को मधु के समान पुष्ट करते हैं वे मधुस्रावी ऋद्धिधारी कहे जाते हैं।

(५) सर्पिस्रावी—जिन मुनियों के हाथ में रखा हुआ रूखा अन्न भी घी की तरह पुष्टिकारक और स्निग्ध हो जाता है—अथवा जिनके वचन घी के समान सन्तर्पक होते हैं वे सर्पिस्रावी नामक ऋद्धि के धारक कहलाते हैं।

(६) अमृतस्रावी—जिनके पाणिपुट (हाथ) में रखा हुआ भोजन अमृत सरीखा हो जाता है अथवा जिनके वचन अमृत के समान जीवों के अनुग्राहक होते हैं वे अमृतस्रावी ऋद्धिधारी कहलाते हैं।

(८) क्षेत्र-ऋद्धि

क्षेत्र-ऋद्धि प्राप्त आर्य (मुनि जन) दो प्रकार के हैं—(१) अक्षीण महानस और (२) अक्षीण महालय।

अक्षीण महानस ऋद्धि—प्रकृष्ट लाभान्तराय के क्षयोपशम वाले यतीश्वरों को जिस भाजन से आहार दिया जाता है उस भाजन से यदि चक्रवर्ती का पूरा कटक भी जीम जाये तो भी उस दिन वह भोजन-सामग्री कम नहीं पड़ती, वह भोजन सामग्री अक्षय बन जाती है।

अक्षीण महालय—अक्षीण महालय ऋद्धि-धारक मुनिराज जहाँ बैठते हैं, वास करते हैं वहाँ इतनी अवगाहन शक्ति हो जाती है कि वहाँ सभी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च परस्पर किसी को बाधा नहीं देते हुए निर्बाध रूप से बैठ सकते हैं।

ऋद्धि बल के प्रभाव से प्राप्त ऋद्धियों के स्वामी मुनिजनों की नित्य आराधना मात्र करने वाले भव्य पुरुष आज भी सुख-शांति एवं अनेक गुणों के स्वामी बनकर मुक्ति-मार्ग को प्राप्त करते हैं।

ऋद्धि सामान्य निर्देश

शुभ-ऋद्धि की प्रवृत्ति ईच्छा से भी होती है और स्वतः भी होती है लेकिन अशुभ ऋद्धि की प्रवृत्ति प्रयत्नपूर्वक ही होती है।

एक साधक को एक साथ अनेक ऋद्धियाँ हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, गणधरों के एक साथ सातों ही ऋद्धियों का सद्भाव पाया जाता है। इसके बावजूद विरोधी ऋद्धियाँ युगपत् सम्भव नहीं हैं। उदाहरण के लिए, छठे गुणस्थान में वैक्रियिक और आहारक शरीर की क्रिया युगपत् नहीं होती।

सल्लेखना आत्महत्या नहीं

❑ *अलमस्त निर्मलचन्द जैन*

जैसे वृक्ष का पका हुआ पत्ता स्वयमेव गिर जाता है, अथवा तेल-रहित दीपक स्वयमेव बुझ जाता है, उसी प्रकार आयु पूर्ण होने पर आत्मा इस शरीर को छोड़कर अगली गति में चली जाती है। ऐसी दशा में अर्थात् अपनी मृत्यु को सन्निकट जानकर योग्य श्रावक व श्रमण अन्तिम विधि सल्लेखना को पूरी करता है।

मृत्यु के निकट होने पर शरीर और संयम दोनों ही शिथिल हो जाते हैं। किन्तु ऐसा भी देखने में आया है कि गमनशील-नश्वर-शरीररूपी लकड़ी को छोड़ना कठिन नहीं है, किन्तु इस महान् चारित्र का त्याग करना कठिन है। उसका छोड़ना अतिशय कष्टदायक है। यह शरीर नश्वर है परन्तु चारित्र नश्वर नहीं है, स्थायी है। शरीर भेदा जाने वाला है, किन्तु चारित्र भेदा जाने वाला नहीं है। चारित्र भेदन-स्वभाव से रहित है। अतएव शरीर से सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले चारित्र को उस शरीर के साथ कैसे ले जाया जा सकता है? अर्थात् नश्वर शरीर के साथ कल्याणकारक चारित्र को छोड़ना योग्य नहीं है। इसके लिए सावधान रहना चाहिए।

बाल पंडित-मरण की इच्छा करने वाले आराधक श्रावक को लोक-गमन के लिए आराधना ग्रन्थ में कहे हुए क्रमानुसार शरीर-परित्याग में उत्तम अर्थ को, अभीष्ट को सिद्ध करने वाले अनुष्ठान को करना चाहिए।

जो गृहस्थ मुक्ति-लक्ष्मी की इच्छा करते हैं उन्हें जैन सिद्धान्त पर श्रद्धा रखकर रत्नत्रय का पूर्णतया पालन करना चाहिए। किसी काल में योग्य अवसर प्राप्त होने पर निरन्तर, प्रयत्न करने पर भाग्यवश बोधि-लाभ को—रत्नत्रय को पाकर संयमी जन के दुर्लभ पद अर्थात् मुनिधर्म का आश्रय लेते हुए शीघ्र ही उसकी पूर्णता को प्राप्त करना चाहिए।

यमदूती के समान समस्त शरीर को कम्पित करती हुई, रोग को उत्पन्न करने वाली वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर जीवित रहने में कौन-सी तृष्णा है? अर्थात् उस अवस्था में, जब शरीर अनिवार्य स्वरूप से नष्ट ही होने वाला है, तब उसकी स्थिरता की अभिलाषा से विषयोन्मुख होना योग्य नहीं है। यदि मनुष्य कानों के पास बालों को श्वेत कर देने रूप क्रिया से प्रबोधित होने पर भी अपने हित की अभिलाषा नहीं करता है तो फिर वह मृत्यु हरण करने वाली क्यों न होगी? वह जीवित को निश्चित ही नष्ट कर देने वाली है। सल्लेखना-क्रिया में उद्यत श्रावक को उपवासादि के द्वारा शरीर को कृश करना चाहिए तथा कषाय-जनित दोषों के होने पर रत्न-त्रय स्वरूप बोधि की भावना के साथ प्रयत्नशील होकर उससे आत्मा का संरक्षण करना चाहिए।

केवल यह एक सल्लेखना ही मेरे धर्मरूप धन को मेरे साथ ले जाने के लिए समर्थ है, ऐसा समझकर श्रावक को इस उत्कृष्ट सल्लेखना का सदैव भक्ति से चिंतन करना चाहिए। यदि मरण के समय में मन मलिन होता है, कषायाविष्ट होता है, तो फिर यम (आजन्म व्रतपालन), नियम, स्वाध्याय, तपश्चरण, देवपूजा और दान—यह सब अनुष्ठान व्यर्थ होने वाला है। मरण-समय सल्लेखना से रहित मुनि के पूर्वपरिपालित व्रत का भी कुछ उपयोग नहीं है—वह निरर्थक ही होता है।

आत्म-हितैषी बन्धुजनों के विषय में स्नेह को, धन-संपत्ति आदि के विषय में मोह को और शत्रु के विषय में वैरभाव को छोड़कर अपने द्वारा जो कुछ भी दुष्प्रवृत्ति या प्रतिकूल आचरण हुआ है, उन सबके विषय में आचार्य से निवेदन करते हुए अन्तिम विधि सल्लेखना का आराधन करना चाहिए। सल्लेखना-विधि में प्रथमतः भात व रोटी आदि अन्न को, तत्पश्चात् क्रम से स्निग्ध पान, दूध आदि समस्त पेय वस्तुओं को, और फिर समस्त आहार का त्याग कर, खरपान-छाछ व उष्ण जल आदि को छोड़कर, पंच परमेष्ठी के स्मरण में तत्पर हो जाना चाहिए। साथ ही,

स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥ (र.श्रा. १२४)

—समाधिमरण करने वाला व्यक्ति उपकारक (इष्ट) वस्तु से राग, अनुपकारक (अनिष्ट) वस्तु से द्वेष, स्त्रीपुत्रादि से ममता का सम्बन्ध (रिश्ते) और बाह्य या आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर, शुद्ध मन होकर, प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकरों आदि से अपने दोषों को क्षमा कराये तथा आप भी उनके अपराधों को क्षमा करे। पुनश्च,

आलोच्य सर्वमेनः, कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥१२५॥

—सल्लेखनाधारी व्यक्ति शोक, भय, विषाद, राग, द्वेष और अप्रेम को छोड़कर, अपने बल और उत्साह को बढ़ाकर, अमृत के समान सुखकारक, संसार के दुःख और संताप के नाशक शास्त्रों को स्वयं सुनकर तथा दूसरों को सुनाकर अपने मन को प्रसन्न करे। और फिर,

आहारं परिहाप्य, क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥१२७॥

—सल्लेखनाधारी सल्लेखना करते समय अन्न के आहार को छोड़कर क्रम से दूध या छाछ ले और दूध या छाछ को भी छोड़कर कांजी और गर्म जल ले। पश्चात् ,

खरपानहापनामपि, कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तनु त्यजेत्सर्वयत्नेन॥१२८॥

—सल्लेखनाधारी कांजी और गर्म जल का भी त्याग करके, शक्ति से उपवास कर, सर्व प्रकार

व्रतादि में यत्न से पञ्च नमस्कार मन्त्र का ध्यान करता हुआ शरीर छोड़े।

जब पुण्यशाली मनुष्यों की आयु केले के स्तंभ के विनाश के समान असमय में शीघ्र ही नाश को प्राप्त होती है तब यह विधि, पूर्वोक्त क्रम विधि, सम्भव नहीं है, क्योंकि देव-प्रतिकूलता होने पर विधि की सम्भावना नहीं रहती है। अभिप्राय यह है कि यदि अकस्मात् अकालमरण का अवसर प्राप्त होता है तो उस समय क्रमशः अन्नादि के त्याग की विधि को न अपनाकर एक साथ सबका ही त्याग कर देना चाहिए।

तीनों लोकों में अद्वितीय चिन्तामणि के समान इच्छित फल को देने वाले जिनेश्वर जब हृदय में वास कर रहे हो, सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करके जब आहार के त्याग की समीचीन-विधि को स्वीकार कर लिया हो तथा सर्वपापों का जब निराकरण कर चुके हो तब मरण जहाँ कहीं भी हो, वह समय शास्त्रसंम्मत है। इसीलिए ऐसी मृत्यु को तीर्थ कहा जाता है। जिस प्रकार अणु से अल्प और आकाश से विशाल कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार मृत्यु के उपकारों में अनशन से बड़ा कोई तप नहीं है। आगम में निपुण आचार्य के समीप रहने पर, शरीर की क्रिया में दक्ष साधुजन के सावधान होने पर तथा मन के समाधि में लीन हो जाने पर, सभी प्रकार का अभीष्ट सिद्ध होता है।

कहा भी है—जिस समाधिमरण के मार्ग में ज्ञान आगे का मार्ग दिखाने वाला है साथ में लज्जा आगमोक्त विधि से भ्रष्ट होने का खेद, मर्यादा रूपी मेरी सहचरी मित्र के समान सदा समीप में रहने वाली है, तपरूपी पाथेय मेरे साथ है, चारित्ररूपी शिविका (पालकी) वाहन है, स्वर्ग पड़ाव हैं अर्थात् बीच में ठहरने के स्थान हैं, सत्य, क्षमा आदिक गुण मेरा संरक्षण करने वाले सिपाही हैं, मार्ग अर्थात् समाधिमरण का मार्ग अथवा मोक्षमार्ग अतिशय सीधा और कषायोपशमनरूप प्रचुर पानी से संयुक्त है, दयाभावना रूपी छाया भी विपुल है, वह मार्ग मुनि को इच्छित स्थान में, मुक्ति-स्थान में बिना किसी प्रकार के उपद्रव के पहुँचा देता है।

जिस समाधि में त्रैलोक्यगुरु जिनेन्द्रदेव आराधना के योग्य हैं, साधुजनों की अभीष्ट वृत्ति सदाचरण है, कष्ट यदि कुछ है तो वह जिन-भगवान के चरणों का स्मरण है जो वस्तुतः कष्ट नहीं है, हानि यदि कुछ होने वाली है तो वह कर्मों के अतिशय क्षय रूप है जो अभीष्ट ही है, सिद्ध करने योग्य मुक्ति का सुख है, काल भी उसमें कितना अधिक लगने वाला है—कुछ थोड़ा-सा ही लगने वाला है, तथा उसका साधन उसे सिद्ध करने वाला मन है, इस प्रकार हे विद्वज्जनो! थोड़ा विचार तो करो कि उस समाधि में कठिन क्या है? अर्थात् ऐसी समाधि के धारण करने में कठिन कुछ भी नहीं है, सभी सामग्री सुलभ है।

सल्लेखना के पाँच अतिचार हानि के कारण हैं। उनका ध्यान रखते हुए समाधिमरण क्रिया पूर्ण करनी चाहिए। रत्नकरण्डश्रावकाचार (१२९) में कहा गया है—

जीवितमरणाशंसे भयमित्र-समृतिनिदाननामानः।

सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः॥

सल्लेखना-व्रत धारण करने के पश्चात् कुछ अधिक दिनों और जीने की वांछा करना, उग्र वेदनादि होने पर शीघ्र मर जाने की भावना करना, मृत्यु के पश्चात् परलोक में क्या होगा आदि विचार कर भयभीत होना, अपने मित्रों का रागपूर्वक स्मरण करना, धर्मसेवन के उपलक्ष्य में परभव में इन्द्रादिपद या भोगोपभोगों की वांछा करना ये सल्लेखना के पांच अतिचार हैं। मरण तो अवश्य होने वाला है, फिर उसमें कषायों की सेना को कृश करना ही श्रेष्ठ है। इस विचार से जो उस सल्लेखना में प्रवृत्त होकर रागादि के बिना मरण के सन्मुख हो रहा है उसके लिए आत्मघात का दोष संभव ही नहीं है। जो मनुष्य कषायों से संतप्त होकर श्वास को रोकने, पानी में डूबने, अग्नि में पड़ने, विष भक्षण करने अथवा छुरी आदि शस्त्र से अपने प्राणों को नष्ट करने आदि कर्म करता है उसके आत्मघात का दोष होता है तथा जो अनेक प्रकार अनुचित रीति से प्राण त्यागने में धर्म समझते हैं सो इस प्रकार का आत्मघात करना निंद्य और नरकादि कुगति को ले जाने वाला है। जो ज्ञानी पुरुष मरण के सन्मुख होते हुए या चारित्रभ्रष्ट का भय या उसकी सम्भावना होने के कारण निःकषाय एवं शान्तभावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं उनका ऐसा सुमरण आत्मघात नहीं है, किन्तु ज्ञानपूर्वक मन्द-कषाय सहित होने से वर्तमान में सुख का और परम्परया मोक्ष-प्राप्ति का कारण है।

जब तक शरीर सब प्रकार से स्वस्थ रहता है तब तक उसे योग्य आहार-विहारादि द्वारा नीरोग रखकर, उससे धार्मिक तथा तद्-अविरुद्ध लौकिक कार्य यथेष्ट लिये जाते हैं। किन्तु जब वह इन कार्यों के लिए सर्वथा असमर्थ समझा जाता है तभी निर्मम हो उसे धर्मपूर्वक त्याग दिया जाता है। जिसका कोई प्रतिकार नहीं है ऐसे उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा एवम् रोगादि उपस्थित होने पर ही समाधिमरण धारण करने का आदेश जैनधर्म का है। प्रतिकार होते हुए संन्यास धारण करना जैनशास्त्र में धर्म नहीं माना गया है।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" इस नीति को सामने रखकर, उक्त आपत्तिमय अवसरों पर भी शरीर की रक्षा के लिए धर्मानुकूल यावच्छक्य प्रयत्न करना मनुष्य मात्र का लक्ष्य है। निष्पक्षता से विचार करने पर, समाधिमरण का उद्देश्य बड़ा ही आदर्शरूप ज्ञात होगा। यथार्थ में, स्वयं नष्ट होने वाले इस मल-मूत्रपूरित शरीर को धर्मध्यानपूर्वक, शुभभाव में त्यागना कभी बुरा नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक आस्तिक धर्म के सिद्धान्तानुसार शरीर बार-बार मिल सकता है, पर धर्म नहीं।

जैनधर्म में समाधिमरण का बड़ा महत्त्व है और इसे एक परमावश्यक अनुष्ठान माना गया है।

जैनाचार्यों का कहना है कि समाधिमरण के द्वारा ही जन्म सफल हो सकता है। यह केवल मुनियों के लिए ही नहीं वरन् गृहस्थों के लिए भी आवश्यक है। आचार्यप्रवर स्वामी समन्तभद्र

इसे तप का, एक फल मानते हैं। समाधिमरण के लिए कोई तीर्थक्षेत्र या पुण्यभूमि उत्तम स्थान है। विधिपूर्वक समाधि-साधन के लिए शास्त्रज्ञ प्रभावशाली आचार्य का होना भी जरूरी है। इन्हें निर्यापकाचार्य कहा जाता है। सल्लेखना की प्रतिज्ञा ले लेने पर, पूर्व के संस्कारों के कारण क्षपक का पुनःपुनः विचलित होना संभव है।

"मध्ये मध्ये हि चापल्यमामोहादपि योगिनाम्।"

बड़े-बड़े योगियों को भी कषायों के तीव्र उदय से मन में अत्यन्त चंचलता होती है, फिर साधारण पुरुषों की क्या बात है। चित्त की अस्थिरता और दुर्बलता नष्ट करने के लिए और धर्म में स्थिर रहने के लिए, योग्य गुरु का सान्निध्य आवश्यक है।

विधिपूर्वक एकाग्रचित्त से धारण की हुई सल्लेखना का प्रत्यक्ष फल कषायों की मंदता और परोक्ष फल पंचमगति अर्थात् मोक्ष है। श्रीमत् समन्तभद्र आचार्य कहते हैं—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निष्पिबति पीतधर्मा सर्वैदुःखैरनालीढः॥ (र.श्रा. १३०)

अर्थात् समाधिमरण धारण कर जिन्होंने धर्मामृत पान करते हुए, आत्मा को पवित्र किया है वे स्वर्ग में अनुपम अभ्युदय के स्वामी बनकर अंत में सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो—जिसका कभी विनाश (अन्त) नहीं ऐसे अत्यंत दुर्लभ मुक्तिस्वरूप सुखसागर के पान में निमग्न हो जाते हैं। अर्थात् समाधिमरण द्वारा अर्जित धर्म के प्रसाद से स्वर्ग के साथ अंत में अनुक्रम से मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

अतः प्रत्येक विचारशील गृहस्थ को जैनधर्म के अनुसार समाधिमरण की विधि और उसकी महत्ता पर विचार कर, पुण्य-लाभ उठाना चाहिए।

आओ! परीषहजयी बनें

❑ डॉ. मूलचन्द जैन

इस संसार-संस्थान के प्रकृति-विकार रूप कुछ छात्र व छात्रायें पिकनिक मनाने के लिए पहुँच गये कषायों के एक बगीचे में। सावन का महीना, रिमझिम-रिमझिम बूँदें, चारों ओर हरियाली, चारों ओर पुष्पों की सुगन्धि से सुगन्धित वातावरण—बड़ा ही सुन्दर सुहावना दृश्य। झूले पड़े हुए हैं, गीत गाये जा रहे हैं। गीत क्या बस अपनी महिमा का बखान—मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, ऐसा कौन है जो मेरे वश में नहीं। सबकी जुबान पर यह चल ही रहा था कि सामने दिखाई पड़ गये एक ओर बैठे ध्यानमग्न दिगम्बर मुनि। उन्हें देखा, मुँह बिचकाने लगे सभी, कहाँ हम और कहाँ ये नंगा मैला-कुचैला, दीनहीन-सा मनुष्य! क्या है यह हमारे सामने? एक भक्त भी बैठा था वहाँ। सुनता रहा उनकी बातें, सहन न हो पायीं, उनकी डींगें। बस आ गया उनके पास। पूछने लगा—"क्या बक रहे हो आप सब? दिखने में ये नंगे मैले-कुचैले ही दिखते हैं लेकिन, तुम सबको जीत रखा है। इनकी शक्ति इतनी है कि एक-एक क्या, तुम सब भी मिलकर इन्हें नहीं जीत सकते। अतुल बलशाली हैं ये, महान् शक्तिशाली हैं।" एक अट्टहास गूँज उठा, सब खिलखिलाकर हँस पड़े, हमारे बल के सामने इसकी क्या सामर्थ्य?

'क्षुधा' आगे बढ़ी। 'मैंने अच्छे-अच्छों को देख लिया है। मैं जरा सामने आयी, बस, मत्था टेक देते हैं। बड़े से बड़े शक्तिशाली भी मेरे सामने विचलित हो जाते हैं, परेशान हो जाते हैं, विवेक खो बैठते हैं।'

'भूलती हो बहिन! ठीक है आपके वश में बहुत हैं परन्तु ये जो सामने दिगम्बर साधु बैठे हैं ना, इन पर तुम्हारा वश नहीं चल सकता। दो दिन, चार दिन, दस दिन, महीनों का उपवास करना तो इनके लिए बच्चों का खेल है। इस प्रकार ये तुमको कुछ भी नहीं समझते। अपने कार्य में अर्थात् अपनी शांति की संभाल में ही लगे रहते हैं। भूख नाम की चीज का उन्हें ध्यान ही नहीं आता।'

दूसरी सखी 'तृषा' आगे बढ़ी। 'तपतपाती धूप जब पड़ती है, शुष्क हवायें जब चलती हैं तब क्या इन्हें तृषा नहीं लगती, क्या ये अपने ध्यानादि से विचलित नहीं हो जाते? मछली की तरह क्या ये तड़प-तड़प कर मुर्दे-से नहीं हो जाते?'

भूलती हो बहिन! एक दिन में एकबार भोजन के समय ही ये जल आदि लेते हैं, वह भी प्रतिदिन नहीं, उपवास वाले दिन बिल्कुल नहीं, अन्तराय हो जाने पर नहीं, कितनी ही

गर्मी हो दूसरी बार नहीं। ध्यान ही नहीं जाता तुम्हारी ओर इनका, विचलित तो क्या होगें।

'निषद्या' से भी नहीं रहा गया, उसे जो घमंड था अपने पर। कहने लगी—यह दुबला-पतला सा कितनी देर तक बैठ सकता है एक आसन से, पैरों में दर्द होने लगेगा, आसन थोड़ी-थोड़ी देर में बदलना ही पड़ेगा। ज्यादा देर बैठा ही नहीं जा सकता एक आसन से। अतः इनकी क्या सामर्थ्य जो मुझे जीत लें?'

'भूलती हो बहिन, यह वह महापुरुष हैं जो कई-कई घंटे एक आसन से बैठे रहते हैं। आसन बदलना तो दूर की बात है, थकावट तक भी महसूस नहीं करते। जब निज-आत्मा के ध्यान में मग्न होते हैं तो तुम्हारा तो क्या, किसी का भी ध्यान नहीं रहता इन्हें।'

'शय्या' भड़क उठी। 'अच्छा, मेरे तो ये वश में अवश्य ही हो जायेंगे। बढ़िया-बढ़िया मखमली गद्दों पर तो लोगों को नीद नहीं आती, फिर इनके पास तो यह कुछ भी नहीं। नींद कैसे आती होगी इन्हें! परेशान रहते होंगे रात भर।'

'नहीं नहीं, ऐसा नहीं है। कठोर कंकरीली ऊबड़-खाबड़ भूमि पर एक करवट से लेटे रहते हैं और जितनी देर सोना है सो लेते हैं। किसी प्रकार का दुःख, किसी प्रकार की वेदना का प्रश्न ही नहीं। उधर ध्यान ही नहीं। शरीर को जो अपने से भिन्न समझ लिया है इन्होंने।'

'चलते-चलते थक तो अवश्य ही जाते होंगे, परेशान हो जाते होंगे,—'चर्या' बोली। 'नहीं', बिल्कुल नहीं, थकान जिसको होती है वह ये हैं ही नहीं। अजीब हैं इनकी विचरणायें जिनके बल पर ये बड़ी से बड़ी हमको महसूस होने वाली वेदना को भी नहीं गिनते।

'चलो मान लिया इन सबको, परन्तु कोई बीमारी हो जाय इन्हें—तब तो बड़ी वेदना होती होगी इन्हें', 'रोग' ने ऐसा कहा। परन्तु उत्तर मिला—'कठिन से कठिन, असाध्य रोग हो जाने पर ये कराहते तक नहीं, तनिक भी वेदना नहीं होती इन्हें। उधर उपयोग जाता ही नहीं। इनका उपयोग तो बस अपने में ही है, यानी निज-आत्मा में। रोग मुझे है ही नहीं, वह मैं हूँ ही नहीं, उससे मेरा सम्बन्ध है ही नहीं—जब ऐसा विचार है उनका, फिर वेदना कहाँ?'

कुछ और मित्र आगे बढ़े—शीत, उष्ण, दंशमशक, तृणस्पर्श व मल। हाँकने लगे अपनी डींगें। शीत ऋतु में नदी के किनारे जब ठंडी-ठंडी हवाएँ चलती हैं तो काँप जाते होंगे ये बेचारे। डर कर छिपने का प्रयत्न अवश्य करते होंगे, किसी सुरक्षित स्थान में जाने का, जहाँ सर्द हवाओं का प्रवेश न हो। ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर—नीचे तपती भूमि, ऊपर से तेज धूप—विचलित हो जाते होंगे। क्या इनका मन नहीं होता होगा पंखे के नीचे बैठने को, कूलर की ठंडी हवा लेने को? बरसात में डांस, मच्छर, बिच्छू, चींटी, सर्प आदि की बाधा होती होगी तो क्या उनसे बचने का उपाय नहीं करते? तलवार, चाकू लाठी आदि से जब इन पर कोई प्रहार करता है तो क्या ये अपनी रक्षार्थ कुछ नहीं करते। चलते समय पैरों में काँटा, कंकरी आदि चुभ जाने पर क्या ये उसका प्रतिकार नहीं करते? क्या उसको अपने हाथों से निकालकर फेंक

नही देते? क्या उनके मुँह से आह नहीं निकलती, क्या उनकी आँखों में आँसू नहीं आते? जब इनके शरीर पर मैल जम जाता है तो क्या इन्हें ग्लानि नहीं होती? क्या इनके इच्छा ही नहीं होती कि स्नानादि करके शरीर को स्वच्छ कर लें? हमने तो यही देखा है कि हमसे सब थर-थर काँपते हैं, डरते हैं। हमसे बचने के लिए क्या-क्या नहीं करते। ये तो हमारे सामने हैं ही किस खेत ही मूली! ये पूर्ण रूप से हमारे वश में हैं।

भूलते हो भाई! तुम इनका कुछ बिगाड़ ही नहीं सकते। ठीक है, तुम्हारा वश इनके शरीर पर चल सकता है। परन्तु इन पर नहीं। शरीर पर तुम्हारे आक्रमण का प्रतिकार ये क्यों करें जब शरीर को इन्होंने अपना पड़ोसी मात्र ही समझा है। क्या इन्हें देखा नहीं, पौष-माघ की ठिठुरती रातों में नदी के किनारे बैठे रहते हैं, जेठ की दुपहरी में आराम से पर्वत पर बैठे रहते हैं, डांस-मच्छर का तो इन्हें पता भी नहीं चलता, नग्न सोते हैं। कंकरीली भूमि पर ऐसे चलते हैं मानो मखमल के गद्दों पर चल रहे हों। शरीर पर मैल कितना ही जम जाये, ग्लानि किंचित् नहीं, स्नान करने का तो प्रश्न ही नही। कोई तलवार आदि से प्रहार करे तो विचारते हैं कि मुझे ये मार ही कहाँ रहा है, मार ही नहीं सकता है, मैं तो अजर-अमर हूँ। बस, इन विचारों के बल पर ये तुम्हें कुछ नहीं समझते, फिर वेदना कैसी, प्रतिकार कैसा, बचाव कैसा!

सब मित्र एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। बड़ा अजीब आदमी है ये! हमने तो ऐसा विचित्र आदमी कहीं नहीं देखा! सब हमारा लोहा मानते हैं, हमारे सामने घुटने टेक देते हैं और इनके सामने हमें दुम दबाकर भागना पड़ता है! सब हार मानने ही वाले थे कि उसमें से कुछ मित्र आगे बढ़े। चलो, माना कि ये शरीर सम्बन्धी बाधाओं को बाधा नहीं मानते परन्तु क्या हमारे सामने भी ये टिक सकते हैं—बोल उठे मानसिक कष्ट। तभी नग्नता आगे बढ़ी। बोली ये नंगे क्यों रहते हैं? शहर में घूमते हैं, स्त्रियों के बीच में बैठते हैं, इनमें विकार तो अवश्य ही आता होगा?

नहीं-नहीं, ऐसा न कहो। उसको तो इन्होंने ऐसी पटकनी दी है कि स्वप्न में भी इन्हें विकार नहीं आता। विकार हो तो नग्न रहा नहीं जा सकता। जिस लंगोटी में पाप को छिपाया जाता है, उस लंगोटी को छोड़ना क्या हँसी खेल है। पाप-परिणामों को जड़ से उखाड़ फेंका है तभी तो नग्न रह रहे हैं।

'स्त्री विकृति' आगे बढ़ी। मैंने अच्छे-अच्छे ऋषि-मुनियों को विचलित कर दिया है, ये तो हैं ही क्या चीज मेरे लिए। भूलती हो तुम। कितने ही श्रृंगार करके तुम इनके सामने आओ, कितने ही हाव-भाव तुम इन्हें रिझाने के दर्शाओ, परन्तु ये डिगने वाले नहीं। शरीर का वीभत्स रूप इनके सामने सदा रहता है, फिर तुम्हारे में इन्हें आकर्षण कैसे हो!

अब सामने आये 'अरति', आक्रोश', 'याचना', 'अलाभ', 'सत्कार-पुरस्कार'। सब हार गये इनसे,

लेकिन हम हारने वाले नहीं। जब कोई अनिष्ट समागम किसी को मिलता है तो उसके मुँह से निकल ही पड़ता है—क्या रखा है इस संयम में? जब कोई कठोर या गाली के शब्द कहता है तो क्रोध आ ही जाता है। जब आवश्यकता की वस्तु किसी भी प्रकार से नहीं मिलती तो माँगने का भाव आता ही जाता है। जब भोजन आदि की इच्छा होती है और उसमें विघ्न आ जाता है तो क्या बीतती है लोगों पर? अपने में अधिक गुण होने पर भी जब कोई प्रशंसा-सत्कार नहीं करता तो वह जल-भुन कर राख हो जाता है, विकार आ ही जाता है। इस प्रकार सर्वत्र ही हमारा बोलबाला है।

नहीं, नहीं, ऐसा नहीं कहो। ये दिगम्बर साधु ऐसे हैं कि इनके बल के आगे तुम्हारी क्या गिनती। कैसा भी अनिष्ट समागम मिले, संयम के प्रति इन्हें लेश भी अरुचि नहीं होती। गाली आदि के कठोर शब्दों को तो ये ऐसे झेल लेते हैं मानो फूलों की वर्षा ही कर रहा हो कोई उन पर। समझते हैं कि ये शब्द मुझ तक पहुँचते ही कहाँ हैं। इन्हें अपने लिए किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं, फिर किसी से माँगने का प्रश्न ही नहीं। अलाभ को भी ये लाभ मानते हैं। फिर खिन्नता क्यों हो इन्हें! कोई आदर करे या न करे इन्हें क्या लेना-देना। मुझको ये बेचारे पहचानते ही नहीं फिर मेरा आदर-अनादर क्या।

ये सब भी मुँह लटका कर खड़े हो गये।

अब रह गये तीन मित्र—'प्रज्ञा', 'अदर्शन', 'अज्ञान'। बड़ा घमंड था इन्हें अपनी शक्ति पर। जरा-सा किसी में ज्ञान हो जाये तो वह जमीन पर पैर नहीं रखता, गर्व से पागल हुआ रहता है। कठिन से कठिन प्रयत्न या तपश्चरण आदि करने पर भी यदि किसी को विशेष ज्ञान या ऋद्धि आदि की प्राप्ति नहीं होती तो श्रद्धा ही उठ जाती है उसकी, समझने लगता है क्या रखा है तपश्चरण आदि में। बहुत प्रयत्न करने पर भी यदि ज्ञान अधिक नहीं होता और लोग उसका तिरस्कार करते हैं तो तिलमिला उठता है वह।

नहीं-नहीं, ऐसा नहीं कहो। तुमने इन्हें देखा नहीं, जाना नहीं, पहिचाना ही नहीं। कितने ज्ञानी ये हो जाते हैं फिर भी लेश गर्व नहीं होता। ज्ञान और गर्व—क्या बात कही! यदि वास्तव में ज्ञानी है तो गर्व हो ही नहीं सकता। घोर तपश्चरण करके भी कोई चमत्कार (ऋद्धि आदि) प्रकट न हो तो भी विश्वास दृढ़ ही रहता है। ऋद्धि आदि को तो वह धूल-मिट्टी ही समझते हैं। उन्हें तो दृढ़ श्रद्धान है कि जो मार्ग मैंने पकड़ा है वही वह मार्ग है जो एक न एक दिन मेरे लक्ष्य तक मुझे अवश्य पहुँचा देगा। प्रयत्न करने पर भी यदि ज्ञानी न होने के कारण इनका कोई तिरस्कार करता है तो इन्हें कोई परेशानी नहीं होती, सदा उत्साही बने रहते हैं। आज नहीं तो कल अवश्य ही सफलता मिलेगी मुझे।

अब तो सभी मित्रों के चेहरे देखने लायक थे। चल पड़े मुनिराज की ओर, पड़ गये उनके चरणों में। झुकाने चले थे, तिरस्कृत करने चले थे, पर स्वयं ही झुक गये। देखा आपने कि

जैन साधु ही पूर्ण रूप से परीषहजयी हैं।

आइये जरा, अपनी ओर भी देखें। जब कोई कष्ट आता है उसे संक्लेश परिणामपूर्वक अनिच्छा के सहने से अशुभ कर्म का ही बंध होता है। आये हुए कष्ट को अनिच्छा से किन्तु शांति से सहा जाय तो अकाम निर्जरा होती है, जिससे शुभ कर्म या देवायु का बंध होता है। इसको परीषह कहते हैं। परिषह का अर्थ है 'परि' अर्थात् चारों ओर से, सम्पूर्ण उत्साह के साथ 'षह' अर्थात् बाधाओं का सहना। परन्तु परीषहजय इससे बहुत ऊंची चीज है। शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ाओं को भेद-विज्ञानपूर्वक साक्षी भाव से अवलोकन करना, परिणामों में मलिनता न आना—इसे परीषहजय कहते हैं। इससे ही कर्मों की निर्जरा होती है।

परीषहजय वास्तव में सम्यग्दर्शन (वस्तु के स्वरूप का सच्चा श्रद्धान) होने पर ही हो सकता है। पूर्णरूप से तो मुनियों को ही सम्भव है परन्तु आंशिकरूप से सम्यग्दृष्टि श्रावक भी परीषहजयी हो सकता है। अतः आइये, निराश न होइये, जुट जाइये परीषहजय करने में। गृहस्थ-जीवन में तो और भी अधिक कष्ट हैं। उनके विजेता बनिए। इसके लिए आइये कुछ उपाय कीजिए। मैं अलग हूँ शरीर अलग है। जब शरीर मुझसे भिन्न है तो स्त्री, पुत्र, महल, धन आदि जो प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं मेरे कैसे हो सकते हैं, ऐसा भेद-विज्ञान कीजिये। संसार, शरीर व भोगों का वीभत्स स्वरूप विचार कर उसमें कुछ विरक्तता लाइये। जन्म-जन्मान्तरों में भोगे हुए कष्टों से इन कष्टों की तुलना कीजिये, अपनी असीम शक्ति को पहचानिये, वस्तु-स्वभाव व वस्तु-स्वातन्त्र्य की श्रद्धा कीजिये और सदा आशावान रहिए, फिर देखिए आज नहीं तो कल अवश्य ही परीषहजयी बन जायेंगे और कह उठेंगे—'ऐ कष्टों! अच्छा अब अलविदा'।

दुःखे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद् भ्रश्यत्यदुःखाश्रितात्,
तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धुं मुमुक्षुर्नवम।
भोक्तुं च प्रतनंक्षुदादिवपुषो द्वाविंशति वेदनाः,
स्वस्थो यत्सहते परीषहजयः साध्यः स धीरैः परम्॥६।८३॥

—अनगार धर्मामृत

परीषह-जय

❑ गणिनी आर्यिका विजयमतीजी

हीरा की कान्ति तरासने पर प्रकट होती है, सुवर्ण अग्नि में तपने पर चमकता है, मेहदी का रंग पत्थर पर पिसने पर आता है, उसी प्रकार मानव जीवन संयम की डगर पर चलने से महान होता है। मेघों के हटने से सूर्य का तेज दमकता है उसी प्रकार कर्म-पटल के विघटने से आत्मस्वरूप का प्रकाश फैलता है। आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्तिजी कहा करते थे "मर्दनं गुणवर्द्धनं" अर्थात् बाह्य दुःख-सहिष्णु का अन्तरंग—आत्मगुण प्रकट होता है। साधना का पथ त्याग और विराग के मध्य से जाता है। इसमें पग-पग पर भीषण उपसर्ग और परीषहों के नुकीले कंटक भरे हैं। जो साधक इन (कंटकों) को कुचलता निर्भय, धैर्य के साथ, उत्साह से बढ़ता रहता है, चलता ही जाता है, वही अपने साध्य को पाकर परमानन्द में निमग्न होता है। इष्टोपदेश में श्री पूज्यपादस्वामी ने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है—

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनाहतम्।
न चासौ खिद्यते योगीर्बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

अर्थात् योगीजन अहर्निश सन्नद्ध हो कर्मरूपी ईंधन को भस्म करने में तत्पर रहते हैं। इसमें किंचित् शारीरिक कष्ट होता है तो 'वह जड़ रूप है', यह सोचकर तनिक भी दुःखी नहीं होते। आत्मा को बाह्य समस्त द्रव्यों से पृथक् कर तज्जन्य बाधाओं से विचलित नहीं होते।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार का चारित्र है। "चरणमिति चारित्रम्" जो आचरित किया जाय या जिसमें आचरण करे, अथवा आचरण मात्र ही वास्तव में चारित्र है। कहाँ आचरण करे? अपने स्वभाव में। आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती यही लिखते हैं—

बहिरब्भंतरकिरिया रोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं॥ (द्रव्य संग्रह)

अर्थात् बाह्याभ्यंतर समस्त राग-द्वेष रूप परिणति क्रियाओं को निरुद्ध कर देना, संसार परम्परा का नाशक सम्यक् चारित्र है, ज्ञानी का यही उत्तम चारित्र है। इस की सिद्धि के लिए व्रत, समिति, गुप्ति रूप बाह्य चारित्र का पालन करना भी परमावश्यक है। अनादि मोह रूप अज्ञानांधकार का नाश चारित्र रूपी सूर्य ही कर सकता है। अनाद्यविद्या का मूलोच्छेद ही विज्ञान घन स्वभाव आत्मा की प्राप्ति है। रत्नत्रय स्वरूपमयी शुद्धात्मा की प्राप्ति का क्रम बतलाते हुए

श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त-संज्ञानः।
राग-द्वेष-निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

अर्थात्—निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त साधु सम्यग्ज्ञान का अभ्यास कर राग-द्वेष परिहार रूप सम्यक्चारित्र को प्राप्त करता है। अतएव राग-द्वेष निवृत्ति द्वारा उत्तम-सम्यक् चारित्र प्राप्त होता है। संयत महामना साधु ही इन रागादि विकारों को जीतने में समर्थ होता है। काम विजयी योगी पञ्चेन्द्रिय विषयों को उच्छिष्टवत् त्याग देता है। उसी प्रकार शरीर से भी ममता का परिहार करता है। उसकी दृष्टि में शरीर शत्रु है, शत्रु का समूलोच्छेद ही विजय है, इसीलिए तो साधु इसकी कदर्थना करता है। "कदर्थय शरीरकरिपुमिव हस्तागतम्"—श्रीगुणभद्रस्वामी के ये शब्द शरीर के प्रति कितने निष्ठुर हैं। वस्तुतः आत्मस्वभाव के विपरीत समस्त भाव विकाररूप और घातक हैं। उनका निर्दयता से ही नाश किया जा सकता है। श्री आदीश्वर प्रभु की स्तुति करते समय श्री समन्तभद्राचार्य स्वामी कहते हैं—प्रभो! आपने अपने दोषों को किस प्रकार भस्मीभूत किया?

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा,
निनाय यो निर्दयभस्मसात् क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेञ्जसा,
बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः॥४॥

आपने समाधि रूपी प्रखर तेज-अग्नि द्वारा, आत्मा को मलिन करने वाले दोषों को जलाकर खाक कर दिया। उस क्रिया में आप पूर्ण निर्दयी हो गये। उस कर्म कालिमा के दग्ध होते ही समस्त तत्त्वों के ज्ञाता हो उपदेष्टा हो गये और सहज ही में ब्रह्मपद के अधिकारी बन गये। अभिप्राय यह है कि आत्मार्थी को ऐहिक सुखाकांक्षा का सर्वथा त्याग करना होता है। वह लौकिक जीवन से उठकर अलौकिक अवस्था प्राप्त करता है। सर्वज्ञता पाकर परमानन्द का भोगी होता है। अस्तु, इस प्रयाण में अनेकों बाधाओं का आना स्वाभाविक है। कोई भी अभियान है, विघ्नों से अछूता नहीं। अश्वारोही को न जाने कितनी पटक खानी पड़ती है, नट कितनी बार गिरता है, पर्वतारोही फिसलता है, बैठता है, थकता है, घबड़ाता है। परन्तु कृतसंकल्पी इनसे न डरकर कदम बढ़ाता चला जाता है और अन्ततः अपने लक्ष्य की सिद्धि कर ही लेता है।

मुक्ति का अभियान कितना अनोखा है। बेजोड़ और उपमातीत है। इसमें भला विघ्न, आपदाएँ न आयें ऐसा हो सकता है क्या? नहीं। आयेंगी अवश्य। इस दशा में विजयी बनें, इसके लिए साधु को कष्टसहिष्णु होना परम अनिवार्य है। जिस प्रकार युद्ध में विजय पाने वाले राजकुमार-सुभट को अस्त्र-शस्त्र चलाने का पूर्वाभ्यास अत्यन्तावश्यक है, उसी

प्रकार चारों आराधनाओं के समरांगण में समाधि सिद्धि रूपी जयपताका उड़ाने के लिए साधु को उपसर्ग-परीषहजयी होने का अभ्यासी अवश्य होना चाहिए।

व्रत और चारित्रमार्ग पर दृढ़ता से चलने और कर्मों की निर्जरा का कारण परीषहजय कहा है—

"मार्गाच्यिवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः॥८॥"

अर्थात् संवर के मार्ग से नहीं डिगने और निर्जरा करने के लिए परीषहों को सहन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि नवीन कर्मास्रव के द्वार को रोकने के लिए और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा के लिए परीषहों को जीतना अनिवार्य है। परीषह-विजेता योगी अध्यात्म योग में निष्ठ होता है। ध्यानानल से कर्म वन भस्म होता है, शनैः शनैः सम्पूर्ण कर्म भी जलकर खाक हो जाते हैं। अतएव कर्मकाष्ठ के नष्ट करने के इच्छुक साधुजनों को परीषह विजय करने में सदैव तत्पर रहना अनिवार्य है। कहा भी है—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥२४॥

पुरातन कर्मों के विपाक से परीषहों का उद्भव होता है। अज्ञानी उनसे भीत हो उनके सामने झुक जाते हैं फलतः राग-द्वेष, आर्त्त, रौद्र परिणामों से अभिभूत हो पुनः नवीन कर्मों का संचय कर मकड़ी के समान उनके फन्दों में फँस जाते हैं। परन्तु भेद-विज्ञानी नरपुंगव, मुनिश्रेष्ठ आगत परीषहों का साम्यभाव से, द्वादशानुप्रेक्षाओं के चिन्तवन रूपी ढाल से वारण कर विजय प्राप्त करते हैं। उन्हीं को अपने चरणों में झुका लेते हैं। फलतः स्व-स्वभाव चिन्तन में दत्त हो कर्मजाल को काट रेशम के कीटवत् बाहर निकल आते हैं।

परीषह २२ हैं — (१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंशमशक, (६) नग्न, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार-पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन। इनका प्रतिकार करने की सामर्थ्य होते हुए भी प्रतीकार न करके तज्जन्य दुःख को साम्यभाव से शान्तिपूर्वक सहन कर लेना परीषहजय कहलाता है। यथा क्षुधा-भूख लगी, अलाभान्तराय कर्मोदय से उसका उपशमन नहीं हो सका, अथवा असमय में क्षुधावेदना उग्र हो गई उस अवस्था में सामर्थ्य होते हुए भी अन्नादि भोजन की वाञ्छा नहीं करना और उस पीड़ा से खेदखिन्न भी नहीं होना तथा अपने ध्यानाध्ययन से भी च्युत नहीं होना 'क्षुधा परीषहजय' होगी। इसी प्रकार अन्य भी हैं।

शरीर और आत्मा का अनादि सम्बन्ध है। परन्तु वस्तुतः दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। दोनों का स्वभाव सर्वथा विपरीत है। आत्मा ज्ञानघन है—चेतना स्वरूप है जब कि शरीर जड़ है—अचेतन है। इन दोनों का संयोग है और उस संयोग को कराने वाला है कर्म जो स्वयं भी

जड़ रूप ही है। अर्थात् कार्माण वर्गणाएँ पौद्‌गलिक-अचेतन हैं। इस के निमित्त से जीव देही बना हुआ है और जीव के निमित्त ये कर्म-नोकर्म आत्मा के साथ संयुक्त हो रहे हैं जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं—

जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमदि॥

अर्थात्—जीव के परिणमन को निमित्त बनाकर पुद्‌गल कार्माण वर्गणाएँ कर्मरूप से परिणमन करती हैं और उसी प्रकार पुद्‌गल कर्म के निमित्त से जीव भी परिणमन करता है। ज्ञानी की दृष्टि में यह सिद्धान्त सतत स्पष्ट जागृत रहता है। इसी से वह बाह्याभ्यन्तर निमित्तों से उत्पन्न आपत्तियों को सर्वथा पर रूप समझ कर उनमें न रचता है न पचता है और न अपने कर्त्तव्य व उद्देश्य से च्युत होता है। वह तो अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव का ही अनुभव चिन्तन करता है। इस प्रकार का भेद-विज्ञानी परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

परीषह कब और कहाँ आयेंगी, यह कोई निश्चित नहीं, किस प्रकार की आवें यह भी ज्ञान नहीं। अस्तु, अकस्मात् जब, जहाँ जैसे भी आवें उन्हें सहन करने को सन्नद्ध रहना अनिवार्य है। इस मनोबल को दृढ़ करने के लिए सतत दुःख सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। जिसको दुःख-कष्ट सहन का अभ्यास नहीं वह निर्भय नहीं हो सकता, विपत्तिकाल में धैर्य छोड़ देता है, आपत्तियों के सामने घुटने टेक देता है। इसलिए श्री परमगुरु आदेश देते हैं कि संकटों का सामना करते रहो।

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥१०२॥ (समाधि शतक)

सुख से अर्जित किया ज्ञानबल दुःख आने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए मुनिराज को दुःखों के द्वारा आत्मभावना भानी चाहिए। अर्थात् मुनिराज घोर उपसर्ग-परीषहों को चुनौती देते हुए अपने भेदविज्ञान के बल से आत्मा की साधना करते हैं।

डरपोक या कायर जन इस पथ पर आ नहीं सकते, यदि कदाचित् आ भी गये तो टिक नहीं सकते, कुछ समय रह भी गये स्थिर तो परभव तक अपने संयम और चारित्र की निरतिचार पालन कर नहीं ले जा सकते है। नीतिकार कहते हैं—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तम गुणा न परित्यजन्ति॥

अर्थ—नीचपुरुष (कायर) विघ्नों के भय से कोई कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते, मध्यम पुरुष कार्य प्रारम्भ कर विघ्नों के आने पर पुरुषार्थ हीन हो छोड़ बैठते हैं, परन्तु उत्तम पुरुष बार-बार

विघ्नों के द्वारा सताये जाने पर भी अपने कृत संकल्प से अर्थात् प्रारम्भ किये कार्य से विचलित नहीं होते, कार्य को नहीं छोड़ते।

साधुमार्ग जितना सर्वोत्तम है उतना ही भयंकर विपत्तियों से व्याकीर्ण है। लक्ष्यसिद्धि पर्यन्त एक, दो, चार नहीं अनेकों उपसर्ग, विपत्तियों, परीषहों का सामना करना पड़ता है। जिसने समस्त परीषहों को जीतने की क्षमता प्राप्त की है अर्थात् जो परीषहों से अभिभूत नहीं होते वे ही रत्नत्रय रूप अमूल्य रत्नों से भरी जीवन-नौका को दुःख-सागर से पार करने में समर्थ होते हैं। वे साधु जो इन परीषहों पर विजय प्राप्त करते हैं, उनकी समस्त क्रियाएँ अपने ही ढंग की निराली होती हैं। यथा—

> ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
> स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥ ४१॥

जो आत्मतत्त्व में स्थिरचित्त हो जाता है वह शरीर की क्रियाओं से अनभिज्ञ हो जाता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता, जाता हुआ भी नहीं जाता, और देखता हुआ भी नहीं देखता। अर्थात् आत्म-ध्यानी के मन, वचन, काय स्वयं निष्क्रिय हो जाते हैं, तज्जन्य बाधाएँ उन्हें विचलित नहीं कर पातीं। जिस प्रकार शरीर के किसी अंग को औषधि विशेष से शून्य (संज्ञाहीन) कर चीर-फाड़ करने पर तज्जन्य पीड़ा उस समय उस रोगी को नहीं होती उसी प्रकार "स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः" योग-साधना में लीन साधु अपने शरीर को भी नहीं जानता। अर्थात् शरीर-जन्य पीड़ा का अनुभव नहीं करता।

अस्तु, सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का सार भेद-विज्ञान प्राप्त कर कष्टसहिष्णु होकर आत्मोपलब्धि करना है—

> जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
> यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥५०॥

अस्तु, परिषहों पर विजय प्राप्त करना प्रत्येक मुमुक्षु साधक का अनिवार्य कर्तव्य है।

अति का भला न बरसना अति का भला न धूप।
अति का भला न बोलना अति का भला न चुप।।

क्षुधा-परीषह

❑ *सिद्धान्ताचार्य पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री*

मोक्षमार्ग के यात्री साधुजनों को अनेक विपत्तियाँ सहज ही आती हैं। तथापि मोक्षपथ का पथिक इन सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर अपने गन्तव्य की ओर सहज प्रयाण करता है।

मोक्षमार्ग में आनेवाली बाधाएँ अनेक प्रकार की हैं —

(१) कुछ बाधाएँ तो शरीर सम्बन्धी हैं जो स्वयं उत्पन्न होती है, जैसे रोग, व्याधियाँ, अस्वस्थता, जरा आदि की बाधाएँ।

(२) कुछ आगन्तुक बाधाएँ हैं जो ऋतुपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन तथा सहयोगियों की प्रतिकूलता से आती हैं।

(३) कुछ बाधाएँ अन्य जन्तु प्राणियों द्वारा आती है, जो वनवासी साधुओं को सहज प्राप्त होती रहती हैं।

(४) कुछ बाधाएँ विपरीत बुद्धि वाले स्वार्थी लोगों द्वारा उत्पन्न की जाती है।

(५) कुध बाधाएँ शत्रुभाव रखने वाले धर्मद्वेषी व्यक्तियों द्वारा आती है।

इन सम्पूर्ण बाधाओं को जिन्हें दो भागों में आचार्यों ने विभक्त किया है वे हैं—परीषह और उपसर्ग। उपसर्ग परकृत बाधा है पर परीषह तो स्वयं आगत बाधा है। निर्विकार निरपराध मुनिजन जो स्वयं किसी से बैर नहीं करते, तथापि मिथ्यादृष्टि जन अपने विविध विकारी परिणामों के कारण उन पर भी अनेक प्रकार के प्रहार करते हैं। साधुजन समताभाव से उसे सहन कर अपने कर्म की निर्जरा करते हैं।

सब परीषहों में आदि परीषह क्षुधा-परीषह मानी गई हैं। क्षुधा अनादि कालीन शरीर की सहयोगिनी बाधा है जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त चारों गति के जीवों को प्राप्त है। उसका शमन करने का अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार सभी प्रयत्न करते हैं पर वे उसपर विजय प्राप्त नहीं कर पाते। सम्पूर्ण जीवन उस एक बाधा को शमन करने के लिए ही बीत जाता है पर उसका शमन नहीं होता। अनन्तानन्त जन्म इस जीव के अनादि से हुए हैं और जब तक संसार-दशा है तब तक यह बाधा नही जायगी। वह शरीरधर्म बन गई है। उस पर विजय प्राप्त करने का एक मात्र उपाय क्षुधा-परीषह का जीतना है, वह अन्य उपायों से शमन नहीं की जा सकेगी। जैन साधु को आहार इतने नियमों और नियंत्रणों से साध्य होता है कि जिससे वे क्षुधा के वशगत नहीं होते।

अनशन, ऊनोदर आदि तप उसी क्षुधा-परीषह को जीतने के लिए ही करते हैं। अनेक प्रकार के व्रत-उपवास-वेला-तेला आदि तथा पर्व विशेष अर्थात् दशलक्षण पर्व तथा षोडशकारणव्रत, रत्नत्रय, आष्टाह्निक आदि पर्वों पर स्वयं स्वेच्छा से उपवास करते हैं। वे आहार के वश में नहीं हैं, किन्तु आहार उनके वश में है। यद्यपि यह सहज ही शारीरिक बाधा है परन्तु उनपर हावी नहीं है।

तृषा और क्षुधा-परीषह के संबंध में 'बाईस परीषह' नामक काव्य में बहुत स्पष्ट उसका स्वरूप बताया है। लिखा गया है—

पराधीन मुनिवर की भिक्षा परघर लेय कहैं कुछ नाहीं।
प्रकृति विरुद्ध पारणा भुंजत बढ़त प्यास की त्रास तहां ही।
ग्रीषम काल पित्त अति कोपै लोचन दीप फिरैं गलबाहीं।
नीर न चहैं सहैं ऐसे मुनि जयवन्तो बरतो जगमाहीं।

क्षुधा के सम्बन्ध में—

अनशन ऊनोदर तप पोषत पक्ष मास दिन बीत गए हैं,
जो नहिं बनी योग्य भिक्षा विधि सूख अंग सब शिथिल भए हैं।
ऐसी दुसह भूख की वेदन सहत साधु नहिं नेक नए हैं,
तिनके चरण कमल की प्रतिदिन हाथ जोड़ हम पांय परे हैं।

उक्त वर्णन से साधु की क्षुधा-परीषह को पूर्ण दिग्दर्शन हो जाता है। अध्यात्मनिष्ठ मुनिजन देह की उपेक्षा करते हैं, उसे अपनी साधना में सहायक तो बनाते हैं, पर उसके वश होकर देह-साधना नहीं करते। क्षुधा-परीषह सहन करने वाले व्यक्ति अन्त समय की सल्लेखना को भी सुखपूर्वक साध सकते हैं।

सल्लेखना देहान्त के समय के लिए अमृततुल्य है। कहा है— 'अन्तःसमाधिमरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते'। अर्थात् जीवन के अन्त में सल्लेखना जीवन भर की तपस्या का फल है,ऐसा सकलदर्शी भगवान् केवली ने कहा है। अथवा सम्पूर्ण दर्शन, जो आस्तिक हैं जीव का सद्भाव (अस्तित्व) मानते हैं, वे भी कहते हैं कि जीवन भर की तपस्या का फल समाधिमरण ही है।

भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि ने लिखा है कि समाधिसहित मरण करने वाला नियम से सात-आठ भव में मुक्ति-गामी होता है। यह सहज संभाव्य है कि अन्तसमय क्षुधा तृषादि की बाधाएँ नियम से उपस्थित होती हैं। शरीर क्षीण (बलहीन) होने से बाधाएँ सहना कठिन प्रतीत होता है, तथापि जिसने पूर्वावस्था में क्षुधा-परीषह-जय को अपनी साधना का मुख्य अंग बनाया है वह देहान्त के समय उक्त बाधाओं से विचलित नहीं होता। थोड़ा-सा भी उपदेश उसकी कमजोरी में अवलम्ब बनकर साहस उत्पन्न कर देता है।

आत्माराधना करने का इच्छुक अपनी दृष्टि बाहर से मोड़ता है जैसे—अपने गृहकार्य में

तत्परता से संलग्न व्यक्ति का ध्यान उस समय पड़ौसी की गतिविधि पर उसके सुख-दुख या हानि-लाभ पर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्माराधक देह को पड़ौसी समझता है, उससे राग-द्वेष-मोह नहीं करता इसीलिए शरीर पर आने वाली बाधाएँ उसे आत्माराधना से नहीं हटा पातीं।

भेदज्ञानी अर्थात् देहात्म भेद-विज्ञान का धनी ही आत्माराधना में समर्थ होता है, वह व्यग्र नहीं होता। मुनिजनों का आहार परघर होता है। वे आरंभ-परिग्रह के सर्वथा त्यागी हैं, मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से (३×३=९ भंगों से) आरंभ के प्रति मुनि किञ्चिन्मात्र भी संबंध नहीं रखते। ऐसी अवस्था में देह के लिए अत्यावश्यक भी भोजन उनके लिए उपेक्षणीय बन जाता है।

जैनागम की आज्ञा प्रमाण विधि से ही प्राप्त अन्न को वे ग्रहण करते हैं। उनका आहार केवल देह को संयमसाधना का माध्यम बनाने के लिए है, शरीर-पोषण के लिए नहीं। यही कारण है कि भोजन दिन में केवल एक बार ही होता है, यथाप्राप्त ही लेते हैं, याचनारहित रसरहित ही लेते हैं। रसवान भी आहार प्राप्त हो तो उसके स्वाद ग्रहण में लालसा या लोलुपता नहीं होती।

बड़ा कठिन है जैन मार्ग—स्वादिष्ट आहार जीभ के माध्यम से ही पेट में जाता है। पर जीभ की नहीं सुनना, रूक्षाहार और स्निग्ध आहार में भेद नहीं करना—एक से राग और अन्य से द्वेष नहीं करना। राग-द्वेष की उत्पत्ति तो तब ही होती है जब स्वादिष्ट इष्ट हो, और रूक्ष अनिष्ट हो। इष्ट अनिष्ट की कल्पना राग द्वेष के आधार पर होती है। वीतरागी साधु को वीतरागता के आधार पर ही न कोई पदार्थ इष्ट होता है और न कोई अनिष्ट होता है।

जिनोपदेश सदा उनके समक्ष रहता है। वे तत्त्वज्ञानी हैं अतः प्रत्येक पदार्थ को तात्त्विक दृष्टि से ही देखते हैं। इसीसे उनमें राग-द्वेष भाव न होकर वीतराग भावों की ही अभिवृद्धि होती रहती है। आहार की कांक्षा, तृषा की वेदना होने पर वे मुनि-परम्परा में होने वाले कठिन तपस्वियों के चारित्र को ध्यान में रखकर धैर्य धारण करते हैं।

नरकों में, तिर्यग्गति में कैसी-कैसी भयंकर भूख-प्यास की बाधाएँ सही हैं, उनका स्मरण करते हैं, और इन आधारों पर उस वेदना को समतापूर्वक सहन करते हैं। वैसे तो सभी प्राणी भूख-प्यास की वेदना से पीड़ित हैं, जो उपाय कर सकते हैं वे कुछ क्षणिक उपायों से कुछ समय को (कृत्रिम उपायों से) शमन करते हैं। कुछ योग्य-अयोग्य, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न कर उन बाधाओं को शमन करने की चेष्टा करते हैं। कुछ प्राणी साधनों के अभाव में रोते-विलखते दीन हुए उसे सहते हैं। सहना तो सभी को अनिवार्य है पर साधुजन उन बाधाओं का समतापूर्वक मुकाबला करते हैं। उनका परिणाम विचलित नहीं होता। वे परमधैर्यरूपी जल से ही तृषा बुझाते हैं, शास्त्र के अमृत रूप उपदेश के भोजन से ही क्षुधावेदना मेंटते हैं—

धन्य हैं वे वीतरागी योगी जो इन क्षुधा-तृष्णा वेदनाओं को समताभावपूर्वक दूरकर, आत्मनिष्ठ हो, परमार्थ का साधन करते हैं। ऐसे त्रिलोकवन्द्य योगीश्वरों के चरणों में बार-बार नमस्कार।

◆◆◆

क्षुधा-परीषहजय

❑ *पं कमलकुमार शास्त्री*

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। (तत्त्वार्थसूत्र)

मोक्षमार्ग में स्थिर रहने तथा संचित कर्मों की निर्जरा के हेतू उपस्थित हुई क्षुधा आदि २२ परीषहों-परिवेदनाओं को समता भावों से सहन करना, आकुल व्याकुल नहीं होना, आत्मस्वरूप में लीन रहना ही परीषह-जय है।

इस परीषह-जय से आस्रव—नवीन कर्मों का आगमन रुकने से संवर तत्त्व की सिद्धि होती है। साथ ही पूर्वबद्ध कर्मों का एक देश आत्मा से पृथक् होना रूप निर्जरा तत्त्व भी प्रकट होता है जो मोक्षत्व की सिद्धि में साक्षात् निर्बाध रूप में सहायक होता है। यह आगम विहित अकाट्य सिद्धांत है। प्रकृत में क्षुधा-वेदना क्या है और वह कबसे जीवमात्र के साथ सम्बद्ध है और इसका मूल कारण क्या है? आदि प्रश्नों का आगमोक्त उत्तर देना बहुत जरूरी है।

अनाद्यविद्यादोषोत्थ चतुःसंज्ञा ज्वरातुराः।
शश्वत् स्वज्ञानविमुखाः सागाराविषयोन्मुखाः॥ (सागार धर्मामृत)

प्रत्येक संसारी प्राणी के साथ अनादिकाल से अविद्या-अज्ञान-मिथ्याज्ञान, जो मिथ्यादर्शन के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है, चला आ रहा है। वही हुआ एक तरह का महान् दोष-विकार। उससे आत्मा में उत्पन्न हुई आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार संज्ञायें। वे ही हुई एक तरह से ज्वर-बुखार रूप पीड़ायें। उनसे प्रपीड़ित अत्यन्त दुखी अतएव आत्मज्ञान से सर्वथा और सर्वदा के लिए विमुख अत्यन्त शून्य सागार (गृहस्थ) पाँचों इन्द्रियों के विषयों में उन्मुख/आसक्त रहते हैं।

प्रकृत में आहार संज्ञा को ही क्षुधा-वेदना कहा जाय तो कोई विरोध नजर नहीं आता, क्योंकि प्रत्येक संसारी जीव नाम कर्म के उदय से प्राप्त, शरीर की स्थिति को बनाये रखने के लिए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार आहार को ग्रहण करता है।

आहार के आगम में छह भेद पढ़ने को मिलते हैं जो निम्नलिखित गाथाओं से सुस्पष्ट हैं —

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
उज्जमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो भणिओ॥

अर्थात् १. नोकर्माहार, २. कर्माहार ३. कवलाहार, ४. लेप्यहार, ५. ओजआहार और ६. मानसिक आहार, इस प्रकार आहार के छह प्रकार कहे गये हैं।

उक्त छह प्रकार के आहार किन-किन जीवों के होते हैं इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित गाथा से होता है—

णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णिरये माण सो अमरे।
कवलाहारो णरयसु उज्जोयक्खीय इगि लेपो॥

१. नोकर्माहार—भगवान अरिहंत परमेष्ठी के होता है। उनके शरीर की स्थिति के योग्य नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण करना ही नोकर्म आहार है।

२. कर्माहार—यह नारकियों के होता है। वे कर्मों के फल को भोगते रहते हैं। यही उनका कर्माहार है।

३. मानसिक आहार—चारों निकायों के देवों के अर्थात् (१) भवनवासी, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिषी और (४) कल्पवासी देवों के मानसिक आहार होता है। अर्थात् जब भी उनके क्षुधा वेदना होती है उनके कण्ठ से अमृत झरने लगता है। उससे ही उनकी क्षुधा-वेदना शान्त हो जाती है।

४. कवलाहारः- मनुष्यों और पशुओं के होता है। जब क्षुधा-वेदना होती है तब वे ग्रासाहार द्वारा अपनी भूख के कष्ट को शान्त कर लेते हैं।

उक्त प्रकार के तमाम संसारी जीव आयुकर्म के रहते हुए अपने-अपने शरीर को बनाये रहते हैं। नग्न दिगम्बर साधु जो आत्मा को सकल परमात्मा पूर्वक निकल परमात्मा बनाना चाहते हैं; जो रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता के हेतुभूत शरीर की स्थिति को बनाये रखने के लिए निकलते हैं, शास्त्र-विहित मार्ग से यदि आहार की विधि मिलती है तो वे आहार लेते हैं; अन्तराय हो जाने पर आहार का परित्याग कर चले आते हैं। कभी-कभी अनशन तप को धारण करते हैं। ऐसी अवस्थाओं में क्षुधा-वेदना का होना असम्भव नहीं है। उस वेदना के कष्ट को समतापूर्वक सहन करना, उस ओर ध्यान नहीं देना, आत्मा के स्वरूप के चिन्तन में ही मन को केन्द्रित करना ही तो परीषहजय कहा जाता है।

ऐसी परीषह-जय से आत्मा कर्मों के भार से क्रमशः हल्का हो जाता है। साथ ही नवीन कर्मों के न आने से परमात्म स्वरूप की उपलब्धि के उन्मुख होता चला जाता है और अन्त में अपने लक्ष्य पर पहुँच ही जाता है। यानी सकल परमात्मा बनकर ही निकल परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी बन जाता है।

सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू में लिखा है—

कलौ काले चले चित्ते देहे चान्नादि-कीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपो धरो नरः॥

— इस कलि-पाप-प्रचुर काल—पंचमकाल में मानवों का चित्त हमेशा चंचल बना रहता है। साथ ही मानव-शरीर अन्न का कीड़ा है। आज भी जिनरूप नग्न दिगम्बर मुद्राधारी नरपुंगव दिखाई देते हैं यह बड़े भारी आश्चर्य की बात है।

सर्वार्थसिद्धि में लिखा है—"क्षुधादयो वेदनाविशेषा द्वाविंशतिः। एतेषां सहनं मोक्षार्थिना कर्त्तव्यम्। तद्यथा—भिक्षोर्निरवद्याहारगवेषिण-स्तदलाभे ईषल्लाभे च अनिवृत्तवेदनस्याकाले अदेशे च भिक्षां प्रति निवृत्तेच्छस्यावश्यकपरिहाणिं मनागप्यसहमानस्य स्वाध्यायध्यानभावनापरस्य बहुकृत्वः स्वकृतपरकृतानशनावमौदर्यस्य नीरसाहारस्य संतप्तभ्राष्टापतितजलबिन्दुकतिपयवत्सहसा परिशुष्कपानस्योदीर्ण क्षुद्वेदनस्यापि सतो भिक्षालाभादलाभमधिकगुणं मन्यमानस्य क्षुद्बाधां प्रत्यचिन्तनं क्षुद्विजयः।"

— क्षुधादिक वेदनाविशेष बाईस हैं। मोक्षार्थी पुरुष को इन्हें सहन करना चाहिए। यथा— जो भिक्षु निर्दोष आहार का शोध करता है, जो भिक्षा के नहीं मिलने पर या अल्पमात्रा में मिलने पर क्षुधावेदना को नहीं प्राप्त होता, अकाल में या अदेश में जिसे भिक्षा लेने की इच्छा नहीं होती, आवश्यकों की हानि को जो थोड़ा भी सहन नहीं करता, जो स्वाध्याय और ध्यानभावना में तत्पर रहता है, जिसने बहुत बार स्वकृत और परकृत अनशन व अवमौदर्य तप किया है, जो नीरस आहार को लेता है, अत्यन्त गरम भांड में गिरी हुई जल की कतिपय बूँदों के समान जिसका गला सूख गया है और क्षुधा-वेदना की उदीरणा होने पर भी जो भिक्षा-लाभ की अपेक्षा उसके अलाभ को अधिक गुणकारी मानता है उसका क्षुधाजन्य बाधा चिन्तन नहीं करना क्षुधापरीषहजय है।"

असाता वेदनीय की उदीरणा—तीव्र उदय से क्षुधा की बाधा हो रही है, निरन्तर आये अन्तरायों से तथा व्रत, उपवास, ऊनोदर आदि से जिनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो रहा है ऐसे साधुओं का क्षुधा की बाधा सहन करना, उस ओर लक्ष्य न जाना क्षुधा-परीषहजय है।

"सब दोषन माहीं या सम नाहीं क्षुधा सदा ही मोहि लागे" के उल्लेखानुसार क्षुधा के समान कोई दूसरा दोष नहीं है। क्षुधा दोष से पीड़ित मनुष्य विवेक को छोड़ देता है। परन्तु दिगम्बर साधु इस परीषह को हर्ष से जीतते हुए कर्मों की निर्जरा करते हैं। कीर्तिधर मुनिराज अपने पुत्र सुकौशल मुनि के साथ विहार कर रहे थे। चातुर्मास का समय आ गया, कोई गाँव पास में नहीं था जहाँ आहार लेते। फलतः चार माह उपवास लेकर वन में चातुर्मास की स्थापना कर विराजमान हो गये। चार माह बाद आहार के लिए जा रहे थे कि बीच में ही माता सहदेवी के जीव व्याघ्री ने आक्रमण कर दिया। भगवान आदिनाथ ने छह माह का योग दीक्षा के समय लिया था, आहार के लिए चले परन्तु छह माह तक विधि न मिलने से निराहार रहे। अयोध्या

से हस्तिनापुर तक का लम्बा मार्ग उन्होंने निराहार अवस्था में ही व्यतीत किया। बाहुबली ने एक वर्ष का योग लिया था, पश्चात् केवलज्ञान होने पर आहार की आवश्यकता ही नहीं हुई।

◇◇◇

तृषा-परीषहजय

❑ *आर्यिका कनकमतीजी*

जो जन्म, जरा, उरु रोग अर्थात् पेट के महारोग भगंदर, जलोदरादिक तथा मरण आदि रोगों से पीड़ित, दुःखी हैं; हजारों शोकों अर्थात् पुत्र-स्त्री आदि के वियोगजनित संताप से अत्यन्त जल चुके हैं, असह्य नरक-पतन से जिनकी बुद्धि भयभीत हो रही है, जिनके हृदय में हेयोपादेय का विवेक जागृत हो रहा है वे इस जीवन को पानी की बूँद के समान चंचल समझ तथा संसार की समस्त विभूतियों को बिजली व बादल के समान क्षणभंगुर-विनश्वर समझकर शांति के लिए, रागद्वेष को दूर करने के लिए, संसार का नाश करने के लिए मुनिव्रत धारण कर वन का आश्रय लेते हैं, वन में चले जाते हैं।

वन में जाकर जो मुनिव्रत अर्थात् पाँच महाव्रत, पाँच समितियों और मन-वचन-काय इन तीन गुप्तियों सहित १३ प्रकार का चारित्र प्रयत्नपूर्वक पालन करते हैं, जिनका दर्शनमोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो गया है, जो ध्यान और अध्ययन-स्वाध्याय में ही सदा लीन रहते हैं वे मुनिराज कर्मों का नाश करने के लिए परम वीतराग भाव को हृदय में धारण कर तपश्चरण करते हैं। जो मुनिराज कभी स्नान नहीं करते इसीलिए मैल के पटलों से उनका शरीर मलिन हो गया है परन्तु उनके कर्मों के स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध शिथिल हो गये हैं, नष्ट हो गये हैं तथा उनके काम का उद्वेग, इष्ट पदार्थों से राग व रति, मोहादिक दोष और क्रोधादिक कषाय सब नष्ट हो गये हैं तथा मात्सर्य जिनके सर्वथा विमुख हो गया है अर्थात् जो मात्सर्य से रहित हैं और सूर्य के समान जो विराजमान हैं, ऐसे दिगम्बर मुनिराज निस्पृह होकर, पर्वतों के शिखर पर चढ़कर, सूर्य की किरणों के समूह से अत्यन्त गर्म हुई शिलाओं पर विराजमान होकर घोर तपश्चरण करते हैं।

जो सम्यग्ज्ञान रूपी अमृत का पान करते रहते हैं, जो अपने पुण्यमय शरीर को क्षमारूपी जल से सींचते रहते हैं तथा जो संतोषरूप छत्र को धारण करते रहते हैं ऐसे ऋषिराज असंह्य

क्लेश भी सहज भाव से सहन करते रहते हैं।

ऐसे मुनिराज हमेशा भावनाओं के चिंतवन में लगे रहते हैं, इससे वैराग्य की वृद्धि होती है।

तप भावना, श्रुत भावना, सत्त्व भावना, एकत्व भावना और धृति भावना ये पाँच भावनाएँ आत्मा को सद्गति में ले जाने वाली हैं। वे चिन्तवन करते हैं कि—हे आत्म-श्रद्धावान् योगी! कर्म-शत्रुओं से युद्ध करने वाले आपको (स्वयं को) बाह्याभ्यन्तर शरीर को शुष्क कर देने वाली जो यह तृषा-वेदना उत्पन्न हुई है यह तेरे ज्ञायक स्वभाव को स्पर्श नहीं कर सकती। अपने आत्म-स्वभाव के अवलम्बन से इस पर विजय प्राप्त कर इस जीव ने नरकादि गतियों में परिभ्रमण करते हुए सागरों पर्यन्त प्यास की भयंकर वेदना भोगी है। नरकों की वह वेदना जो दावानल की ज्वाला के सदृश निरन्तर जलती रही, विश्व के समस्त जलाशयों के जल से भी जो शान्त होने वाली नहीं थी, मरण को प्राप्त करा देने वाली वेदना होते हुए भी जहाँ मरण नहीं होता था, वहाँ हे चिंतक! क्या तुम्हें जलाशय का एक भी बूँद या अन्य शीतोपचार प्राप्त हो सका नहीं।

तब यहाँ तो उतनी असह्य वेदना भी नहीं है, वे योगीश्वर ऐसा शीतल ज्ञानामृत का पान करते हैं इससे संतोष प्राप्त होता है। धैर्यपूर्वक अपने संयमादि गुणों की रक्षा करते हैं। यदि कर्माधीन होकर कुगतियों में प्यास के अनन्त दुःखों को सहन किया, फिर आज स्ववश कर्म-बन्धन से छूटने के लिए प्यास-तृषा परीषह के इस अल्प दुःख को शान्तिपूर्वक सहन नहीं कर सकते हैं? अवश्य ही कर सकते हैं।

धर्मघोष मुनिराज ने सन्तोषामृत का पान करके किस प्रकार तृषा-परीषह पर विजय प्राप्त की थी। धर्ममूर्ति परमतपस्वी धर्मघोष यतिराज एक माह के उपवास के बाद चम्पापुरी नगरी में पारणा के अर्थ गये थे। पारणा करके तपोवन की ओर लौटते हुए मार्ग भूल गये जिससे चलने में अधिक परिश्रम हुआ और उन्हें तृषा वेदना उत्पन्न हो गयी। वे गंगा के किनारे आकर एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठ गये। उन्हें प्यास से व्याकुल देख, गंगादेवी पवित्र जल से भरा हुआ लोटा लाकर बोली—हे योगिराज! मैं ठण्डा जल लायी हूँ। आप इसे पीकर अपनी प्यास शान्त कीजिए। मुनिराज ने जल तो ग्रहण नहीं किया और प्राण-हरण करनेवाली तृषा-वेदना के मात्र ज्ञाता-दृष्टा बनते हुए वहाँ ध्यानारूढ़ हो गये। यह देख देवी चकित हुई और विदेह क्षेत्र में जाकर प्रश्न किया कि जब मुनिराज प्यासे हैं, तब जल ग्रहण क्यों नहीं करते?

वहाँ गणधर देव ने उत्तर दिया कि दिगम्बर साधु न तो असमय में भोजन ग्रहण करते हैं और न देवों द्वारा दिया हुआ आहारादि ही ग्रहण करते हैं। यह सुनकर देवी बहुत प्रभावित हुई और उसने यतिराज को शान्ति प्राप्त कराने हेतु उनके चारों ओर सुगन्धित और ठण्डे जल की वर्षा प्रारम्भ कर दी। यहाँ मुनिराज ने आत्मोत्थ अनुपम सुख के रसास्वाद द्वारा कर्मोत्पन्न

तृषा-परीषह् पर विजय प्राप्त की और चारों घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया।

पराधीन मुनिवर की भिक्षा पर घर लैंय कहैं कुछ नाहीं,
प्रकृति विरुद्ध पारणा भुंजत, बढ़त प्यास की त्रास तहाँ ही।
ग्रीषमकाल पित्त अति कोपै लोचन दोय फिरैं जब जाहीं,
नीर न चहैं, सहैं ऐसे मुनि, जयवन्तो वरतो जग माहीं।

शीत-परीषहजय

❑ पं. मल्लिनाथ जैन शास्त्री

मुनि-धर्म में परीषहजय का बड़ा महत्त्व है। परीषहों को शान्त भाव से सहन करने पर कर्मों का आस्रव रुकता है। परीषहों को सहन करते समय आत्मा स्वोन्मुखी होती है। अतः उनकी विचारधारा में पवित्रता आ जाती है। अपने आप आपत्तियों को संवेगपूर्वक सहना परीषह कहलाता है। दूसरे लोगों के द्वारा आपत्ति आना उपसर्ग कहलाता है। इन दोनों में बड़ा अन्तर है।

परित्यक्तप्रच्छादनस्यपक्षिवदनवधारितालयस्यवृक्षमूलपथिशिलातलादिषु हिमानीपतनशीतलानिलसंपाते तत्प्रतिकारप्राप्ति प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतिकारहेतुवस्तूनामस्मरतो ज्ञानभावनागर्भागारे वसतः शीतवेदना-सहनं परिकीर्त्यते।" 'जिसने आवरण का त्याग कर दिया है, पक्षी के समान जिसका आवास निश्चित नहीं है, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदि पर निवास करते हुए बर्फ के गिरने पर और शीतल हवा का झोंका आने पर उसका प्रतिकार करने की इच्छा से जो निवृत्ति है, पहले अनुभव किये गये शीत के प्रतिकार के हेतुभूत वस्तुओं का जो स्मरण नहीं करता और जो ज्ञानभावनारूपी गर्भागार में निवास करता है उसके शीतवेदना जय-प्रशंसा के योग्य है।

शीत का मतलब है ठंड। बाईसों परीषह उपद्रवकारी हैं। फिर भी शीत-परीषह सबसे ज्यादा है। मुनिराज दिगम्बर-मुद्रा में रहते हैं। यह बात सर्व विदित है कि साधु महात्माओं के पास ठण्ड को रोकने के लिए किसी भी तरह का साधन नहीं है और उनको रखना भी नहीं चाहिए।

फिर कैसे शीत से होने वाले कष्ट को रोका जाय? पुराने जमाने में साधुगण शीत ऋतु के समय हिमालय की तराई में, जहाँ भयंकर ठंडी हवाएँ चलती हों और बर्फ गिर रही हो ऐसी दर्दनाक जगह पर, खड़े होकर रातभर तप करते थे। इस बात को सुनने और विचार करने से हृदय काँप उठता है। क्या ऐसा भी कोई तप हो सकता है? इस तरह की ठंड को कैसे सहन किया जा सकता है? उस समय असीम ठंड के कारण तापमान जीरो डिग्री तक आ जाता है। मनुष्य को खड़ा होना भी मुश्किल पड़ेगा। शरीर कंपायमान होगा। दाँत कट-कटायेगा। शरीर का खून सूख जायेगा। नसें काम नहीं करेंगी। फिर तो शरीर, शरीर नहीं रहेगा पत्थर-सा हो जायेगा। इस तरह का विचार उठना स्वाभाविक है। परंतु ऐसी ठंड में भी पुराने जमाने में मुनिगण शीत-परीषह को जीतते हुए तप करते थे। वे तो समझते थे कि शरीर तप के लिए एक मात्र साधन है। इसकी रक्षा की कोई जरूरत नहीं है। यह तो एक-न-एक दिन अपनी आत्मा से अलग होकर जाने वाला ही है। ऐसी अवस्था में इस शरीर से जितना फायदा उठा सकें, उठा लें। तपस्वी का ध्यान सिर्फ कर्म-निर्जरा की ओर रहता है, न कि शरीर-रक्षा की ओर। अतः उन्हें शीत से होनेवाला कष्ट मालूम ही नहीं होता है। साथ ही साथ, उस काल में उस ठंड को सहन करने का संहनन भी उनके पास मौजूद था। उस संहनन शक्ति के कारण भयंकर से भयंकर ठंड को भी वे जीत लेते थे।

आजकल न तो ऐसा संहनन है और न शक्ति। फिर भी वर्तमान मुनिगण यथाशक्ति शीत-परीषह को जीतते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। उदाहरणार्थ, एक घटना का उल्लेख करना चाहता हूँ—ठंड का समय था। मैं एक बार तीर्थराज सम्मेदशिखरजी की वन्दना करने गया। उस समय शिखरजी में कितनी ठंड पड़ती है, यह बात उन लोगों को अच्छी तरह मालूम हो सकती है जो ठंड के दिनों में शिखरजी की वन्दना को गये हों। मैंने शीत-रक्षार्थ बनियान, उस पर कुरता, स्वेटर और कोट पहना हुआ था। इन सबके ऊपर शाल भी ओढ़ा हुआ था और कान में हवा न लगे तदर्थ ऊन का मफलर सिर से बाँधा हुआ था, फिर भी मुझे ठंड लग रही थी। दाँत कट-कटाते हुए बाजा बजा रहे थे। मुझे वन्दना करना मुश्किल-सा हो रहा था।

उस समय मेरे सामने ही निष्परिग्रही दिगम्बर मुद्राधारी मुनिराज ठंड की परवाह न करते हुए शान्तभाव से वन्दना करने जा रहे थे। मैं उन महामुनि को देखकर दंग रह गया। यह कार्य इन महात्मा से कैसे होता है? मैंने तो इतने कपड़े पहन रखे हैं फिर भी मैं ठंड के मारे मरा जा रहा हूँ। इनके यह सहनशीलता कैसी हो रही है! यही विचार करता हुआ महाराजश्री को देखता रहा। वे तो शान्त भाव के साथ वन्दना करते हुए आगे बढ़ रहे थे। यह है वास्तव में शीत-परीषह की विजय.....।

"शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालनं शीतक्षमा" निर्वस्त्र पक्षियों की तरह अनियत आवासवाले और शरीर मात्र ही आधार वाले साधु शिशिर, वसन्त और वर्षागम में,

वृक्षमूल मार्ग और गुफा आदि निवासों में, गिरे हुए बर्फ-तुषार आदि से युक्त मर्मभेदिनी वायु से तीव्र कँपकँपी आने पर भी, शीत-विनाशक अग्नि आदि की अभिलाषा नहीं करते, किन्तु नरक की दुःसह तीव्र शीतवेदना का स्मरण करके चित्त का समाधान करते हैं। वे तो धैर्यरूपी वस्त्र के द्वारा ही निर्विषाद संयम का परिपालन करते हैं। पूर्व में अनुभूत धूप, सुवासित गर्भागार, सुरत-सुख और अंगनालिंगन आदि का स्मरण भी नहीं करते। इस तरह वे शीत-परीषह पर जय करते हैं।

आजकल कुछ सुधारकवादी कहते हैं कि वर्तमान के मुनिगण अट्ठाईस मूलगुणों का ठीक तरह से पालन नहीं कर पाते हैं। फिर उन्हें मुनि कैसे कहा जाये? यह तो द्रव्यलिंगी हैं। वास्तविक मुनि नहीं हैं। खैर, इस तरह की बात करने वाले लोग तो श्रावक के सामान्य व्रतों का भी पालन नहीं कर पाते हैं। हाँ, छिद्रान्वेषण में ये अवश्य चतुर होते हैं। अतः उनकी बातों पर ध्यान देने की कोई जरूरत नहीं है। हम तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वर्तमान समय के मुनिगण संहनन न होते हुए भी शीत-परीषह को यथाशक्ति अवश्यमेव सहन करते हैं और कर्मनिर्जरा के भोगी बनते हैं।

धन्य हैं वे मुनिराज, जो इस पंचमकाल में भी धीरता के साथ नग्न-दिगम्बर मुद्रा को धारण किये हुए शीत-परीषह को जीत रहे हैं।

शीतकाल सब ही जन कम्पैं, खड़े तहां वन वृक्ष ढहे हैं,
झंझा वायु बहे वर्षा ऋतु, वर्षत बादल झूम रहे हैं।
तहां धीर तटिनी-तट चौपट ताल पाल पर कर्म दहे हैं,
सहैं सम्हाल शीत की बाधा ते मुनि तारण-तरण कहे हैं।

उष्ण-परीषहजय

❑ ब्र. कु. उर्मिला नायक

ज्येष्ठ मास की कड़ी धूप, पृथ्वी का कण-कण तप रहा था। पेड़-पत्ते सूख रहे थे। घर से बाहर निकलना भी मुश्किल था। ऐसी विकराल गर्मी में विहार करते हुए वृषभसेन मुनिराज

एक दिन कौशाम्बी में आकर एक छोटी-सी पहाड़ी पर ठहरे। धूप तेजी से पड़ रही थी। इस कड़ी धूप में भी मुनिराज पर्वत-शिखर पर बैठकर योगसाधना करते रहे। अद्वितीय तपस्या और आत्म-तेज से उनका शरीर देदीप्यमान हो उठा।

चारित्र-चूड़ामणि श्री वृषभसेन मुनि एक दिन भिक्षा के उद्देश्य से शहर में गये। पीछे से किसी धर्म-विरोधी, बुद्धदास नामक दुष्ट व्यक्ति ने मुनिराज के ध्यान करने वाली शिला को तपाकर लाल कर दिया। साधु-महात्माओं का स्वभाव दुष्टों को सहन नहीं होता, जैसे सूर्य का तेज उल्लू नहीं सह सकता। मुनिराज जब भिक्षा करके लौटे तो प्रतिदिन के अनुसार तपती शिला पर ध्यान करने के लिए बैठ गये। घोर उष्ण परीषह-जय करने वाले धीर-वीर महामना तनिक भी चलायमान या संक्लेशित नहीं हुए। निर्विकल्प समाधि कहो या शुद्धोपयोग कहो, अभेद रत्नत्रय कहो या शुक्लध्यान कहो, वे उसमें लीन हो गये। तत्क्षण घातिया कर्मों का क्षयकर कैवल्य ज्योति को प्राप्त कर, मुक्तावस्था को प्राप्त हो गये।

उष्ण-परीषह-जय किसे कहते हैं—इसका वर्णन अकलंकदेव ने राजवार्तिक में किया है—

"दाहप्रतीकारकांक्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसंहनम्।" जेठ की दुपहरियों में सूर्य के प्रखर ताप से अंगार की तरह शरीर के जल जाने पर भी तथा तृष्णा, अनशन, पित्तरोग, घाम और श्रम आदि की असह्य गर्मी की वेदना से पसीना, कंठशोष, दाह आदि की तड़प होने पर भी जलभवन, जलावगाहन, लेपन, सिञ्चन, ठंडी जमीन, कमलपत्र, केले के पत्र, शीतल वायु, चन्दन, चन्द्र कमल और मुक्ताहार आदि पूर्वानुभूत शीतल उपचारों की ओर तिरस्कार भाव रखने वाले साधु उस महाभयंकर गर्मी में यही विचार करते हैं कि—'आत्मन्! तूने बहुत बार नरकों में परवश होकर अत्यन्त दुःसह उष्ण वेदनाएँ सही हैं। यह तप तेरे कर्मों का क्षय कर रहा है। इसे तू स्वतंत्र भाव से तप।' ऐसे पुनीत विचारों से प्रतिकार की इच्छा, वाञ्छा न करके चारित्र की रक्षा करना उष्णपरीषह जय है।

अनियत-विहृतिर्वनं तदात्वज्वलदनलान्तमितः प्रवृद्धशोषः।
तपतपनकरालिताध्वरिवन्न स्मृतनरकोष्ण-महार्तिरुष्णसाट् स्यात्॥

अर्थात् अनियत विहारी और ग्रीष्मकाल के सूर्य से तपते हुए मार्ग में चलने से खिन्न साधु जैसे ही वन में प्रवेश करते हैं कि तभी वन में आग लग जाती है, मुख सूख गया होता है, ऐसे समय में भी संयमी साधु नरकों में उष्णता की महावेदना का स्मरण करते हुए उष्ण-परीषह को सहते हैं।

आज मानव ने उष्ण बाधाओं को रोकने के लिए कूलर, फ्रिज, फेन आदि-आदि वस्तुओं का निर्माण किया है। थोड़े समय के लिए भी उष्णता को सहन करना उसे असह्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में विकराल काल को बुलाने वाली गरम लपटें, गरम-गरम वायु, आंधी के थपेड़े नग्न शरीर के रोम-रोम को त्रसित कर देते हैं। उस समय कोई ऐसा उपाय नहीं जिससे दिगम्बर

साधु अपना रक्षण कर सके। तब एकमात्र ज्ञानामृत का पान करते हुए, धीर-वीर महापुरुष नरकों की उष्ण वेदना का विचार कर सरलता से कर्म निर्जरार्थ इन सब बाधाओं को जीत लेते हैं। अन्यत्र भी कहा है—

"निर्वाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरण-परिशुष्कपतितपर्णव्यपेतच्छाया-तरुण्यटव्यन्तरे यदृच्छयोपनिपतितस्यानशनाद्यभ्यन्तरसाधनोत्पादितदाहस्य दवाग्निदाहपरुषवातातपज-नितगलतालुशोषस्य, तत्प्रतीकारहेतून् बहूननुभूतानचिन्तयतः प्राणिपीडापरिहारावहित-चेतसश्चारित्र-रक्षणमुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते।" (सर्वार्थ सिद्धि ९।९।८१८)

अर्थात् निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों से सूखकर पत्तों के गिर जाने से छाया रहित वृक्षों से युक्त ऐसे वन के मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन आदि आभ्यन्तर साधनवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दावाग्निजन्य दाह, अति कठोर वायु और आतप के कारण जिसे गले और तालु में शोष उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकार के बहुत से अनुभूत हेतुओं को जानता हुआ भी उनका चिन्तन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियों की पीड़ा के परिहार में चित्त लगा हुआ है उस साधु के चारित्र के रक्षणरूप उष्ण परीषहजय कही जाती है।

आज कुछ व्यक्ति कहते हैं—आज साधु हैं ही नहीं। विचार कीजिये! इस कड़ी जेठ की गर्मी में एक घंटे पानी नहीं मिलता है तो हमें अपने प्राण हथेली पर नजर आते हैं। दिगम्बर साधु इस समय भी चौबीस घंटे में एक बार शुद्ध प्रासुक पानी लेकर शान्तभाव से उष्ण वेदना को उत्साह से सहन करते हैं, यदि ये साधु नहीं हैं तो क्या चौबीस घंटे खाने-पीने में मस्त भोगी को साधु कहें? कूलर की ठंडी हवा चाहिए, फ्रिज का पानी चाहिए फिर भी गला सूखता है। साधुराज जेठ की कड़ी धूप में भी नंगे पैर, तपती पृथ्वी पर विहार करते हैं, कहीं वृक्ष की छाया भी नहीं नजर आती है पर संक्लेश रहित विहार करते हैं, इतने पर भी कहते हैं—सच्चे साधु नहीं हैं, तो कहने वाले ही सच्चे साधु बनकर एक नमूना प्रस्तुत करें ऐसी हमारी प्रार्थना है।

जेठ तपै रवि आकरो, सूखे सरवर नीर।
शैल शिखर मुनि तप तपै दाहै नगन शरीर।
ते गुरु मेरे उर बसो तारण-तरण जिहाज।

भयंकर उष्ण वेदना में भी २-४-८ दिनों तक अन्तराय होने से जिनके तालु कंठ सूख चुके हैं, शरीर सूख गया है फिर भी कभी दूसरे समय भोजन-पान की इच्छा नहीं रखने वाले, शीतोपचार की इच्छा रहित, शीतल पेय पदार्थ की वाञ्छा रहित, परीषहजयी महासंत चारित्रनायक दिगम्बर साधुराज निरन्तर विचार करते हैं—पुद्गल से पुद्गल का ही पोषण होगा, आत्मा की पुष्टि के लिए यह व्रत अंगीकार किया है अतः आत्मा का भोजन ज्ञानामृत है, इसी ज्ञानामृत

का पान करते हुए वे इस परीषह को जीतते हैं। ऐसे परीषहजयी चारित्रनायकों के लिए शतशः वन्दन।

भूख-प्यास पीड़े उर-अन्तर प्रजुलै आंत देह सब दागै।
अग्नि सरूप धूप ग्रीषम की ताती वायु झालसी लागै।
तपै पहाड़ ताप तन उपजै कोपै पित्त दाहज्वर जागै।
इत्यादिक गर्मी की बाधा सहे साधु धीरज नहिं त्यागै॥

❖❖❖

दंशमशक-परीषहजय

❑ *उपाध्याय श्री भरतसागरजी*
(शिष्य श्री आ. विमलसागरजी म.)

शरीर के किसी भी प्रकार के आच्छादन से रहित, परकृत आवास, गिरिगुहा आदि स्थानों में बसने वाले साधु को रात-दिन डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू कीड़ा, जुंआ, खटमल, चींटी और बिच्छू आदि के तीव्रपात से काटे जाने पर भी उन्हें कर्मफल मानकर मणि-तन्त्र-औषध आदि से उसके प्रतीकार की इच्छा न रखते हुए; जब तक शरीर है तब तक शत्रुसेना पर पिल पड़नेवाले और शत्रुओं के अस्त्र-घात की परवाह न करने वाले मदान्ध हाथी की तरह कर्मसेना पर विजय हेतू सन्नद्ध बने रहना दंशमशक-परीषह-जय है।

'दंशमशक' शब्द डँसने वाले जन्तुओं के उपलक्षण के लिए है जैसे कि दही-संरक्षण में 'काक' शब्द दहीखाने वाले प्राणियों का उपलक्षण होता है। दंश या मशक में से किसी एक का नाम लेने से उसी जन्तु का बोध होता है अतः दूसरा शब्द उपलक्षण के लिए दे दिया है।

दंशमशक परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होता है। उपसर्ग के समान ये परकृत नहीं कहे जाते एवं कायक्लेशादि तपों के समान स्वेच्छा से बुलाये भी नहीं जाते अपितु ये स्वाभाविक या प्राकृतिक हैं।

गजपन्था सिद्धक्षेत्र पर आचार्यश्री महावीर कीर्ति जी महाराज मन्दिर जी में दर्शन कर रहे थे। उन्होंने जैसे ही प्रभु-चरणों का स्पर्श किया, तभी सर्प ने उनकी अंगुली पकड़ ली। आचार्यश्री की महानता देखिये—प्राणीमात्र से बालक या पुत्रवत् स्नेह-वात्सल्य करने वाले वे सर्प से बोल रहे थे—छोड़-छोड़ बेटा, छोड़ बेटा, छोड़ दे। धन्य हैं ऋषिराज और उनकी प्यार वात्सल्यमयी

वाणी का प्रभाव कि (हिंसक प्राणी भी पिघल गया) उसने तुरन्त उनकी अंगुली छोड़ दी। यतिराज ने अपनी अंगुली गन्धोदक में डुबोयी, बस! सारा विष उतर गया।

मोक्षाभिलाषी को परीषह आनन्द एवं वैराग्य की वृद्धि का कारण बनते हैं।

बिना तपाये सोना कभी कीमती नहीं होता। मुमुक्षु दुःख रूपी ज्वालाओं, परीषहों का अनुभव किये बिना मोक्षमार्ग का सेवन करे तो वह दुःखों के आने पर भ्रष्ट हो सकता है। ये परीषह साधु-जीवन की कसौटी हैं, परीषह रूपी कसौटी पर जो साधु खरा उतरता है वही ध्यान की सिद्धि कर मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त करने में सक्षम होता है। कहा गया है—

डन्स मश्क माखी तनु काटैं, पीडैं वन-पक्षी बहुतेरे।
डसैं ब्याल विषहारे बिच्छू, लगैं खजूरे आन घनेरे।
सिंह स्याल सुंडाल सतावैं, रीछ रोझ दुख देहिं घनेरे।
ऐसे कष्ट सहैं समभावन ते मुनिराज हरो अघ मेरे॥

अर्थात् जङ्गलों में विचरण करने वाले, नग्न शरीर साधुजनों को मच्छर, मक्खियों, वन्यपक्षी, विषैले सर्प-बिच्छू, खजूरे, सिंह, सियाल, रीछ, रोझादि पशु चारों ओर से पीड़ित करते हैं पर वे मुनिराज जो समभावों से सारे कष्टों को विजित कर लेते हैं उनके चरणों में वन्दन है। हे गुरुवर! मेरे दुःखों को, पापों को दूर कीजिये।

आप सोचते होंगे, हम संसारियों को मच्छर काटे तो गुस्सा आता है, एक मच्छर का दंश नहीं सहन कर पाते पर ये मुनि कैसे सहन करते हैं?

जो मुनि स्व-पर के ज्ञाता हैं वे ही परीषह को जीत सकते हैं। वे विचारमग्न, सोचते हैं—अरे आत्मन्! इस मच्छर या इन प्राणियों का स्वभाव (पर्याय से) ही डंसना, जहर उगलना है। जब ये चौइन्द्रिय या अज्ञानी तिर्यञ्च होकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते तो मैं संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य, मेरा दर्शन, ज्ञान, स्वभाव, उसको मैं क्यों छोड़ूँ। मैं विभाव परिणति में जाता हूँ तो आगे कर्मबन्ध ही करता हूँ। अरे, ये मुझे काट नहीं रहा है, ये मुझ पर विष नहीं उगल रहा है अपितु मुझे अपने स्वभाव की याद दिला रहा है। इस प्रकार मुनिराज अपने स्वभाव का चिन्तन करते हुए परीषहों को जीतकर मोक्षमार्ग को प्रशस्त करते हैं।

दूसरा विचित्र दंशमशक परीषह मुनियों के जीवन का श्रृंगार बनकर सदा इनके जीवन में फूलों की वर्षा करता रहता है—

दंश लगकर निकल जाता है, सर्प का विष उतर जाता है, सिंह का काटा घाव भी भर सकता है, परन्तु वचन रूपी दंश एक बार लग जाय तो घाव भरता नहीं। किसी ने मुनि को पागल कहा, किसी ने पाखण्डी कहा, किसी ने नंगा कहा, गालियों, अपशब्दों की बौछार लगा दी।

ज्ञानी मुनिराज ज्ञानमयी तराजू में शब्दों को तोलने लगे, कैसे—

पागल—पा याने पाप, गल याने गलाना अर्थात् जो पापों को गलाये वह पागल है, यह तो उपकार कर रहा है, उपकारी पर तो कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए, क्रोध क्यों? बस, वह शब्द जीवन का हार बन जाता है।

पाखण्डी—पा याने पाप, खण्डी—खण्डन करने वाला अर्थात् जो पापों का खण्डन करे सो पाखण्डी। मैं वास्तव में पाखण्डी ही तो हूँ।

नंगा—नंगा याने वस्त्र-रहित। मेरे भी शरीर पर वस्त्र नहीं है, वह सच बोल रहा है किन्तु सत्य पर क्रोध? नहीं। अन्दर-बाहर से जो नंगा है वही मोक्ष का अधिकारी होता है।

परीषहों के विजेता समतारस के स्वादी ही हैं। वस्त्रधारी मात्र आत्मा की रट लगानेवाले परीषहों के आने पर विचलित हो जाते हैं। परीषह चर्चा का विषय नहीं, चर्या का विषय है। जिसकी चर्या जितनी विशुद्ध, निर्मल आगमानुकूल है वह ही परीषह में मुस्कराता है। मुनिराज विरोधी-हिंसा के पूर्ण त्यागी होते हैं। वे किसी जीव को हटा भी नहीं सकते, शरीर पर कोई कुठार भी चलाये पर मौन रहते हैं, मात्र आत्मानन्द का पान करते हैं। चाहे मच्छर काटे या मधुमक्खी चिंवटी, सिंह खाये या सियाल, सर्प डंसे या बिच्छू, कोई गाली दे या अर्घ्य उतारे सब में समताभाव रखने वाले "अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन।"

ऐसे मुनिराज धन्य हैं। धन्य है उनकी समता, धन्य है उनकी मैत्री, धन्य है उनकी अहिंसा और धन्य है उनका परीषहजय।

नाग्न्य-परीषहजय

❑ *डॉ. इन्दु पाटनी*

प्राकृतिक, स्वाभाविक, अविकारी, शुद्ध रूप को महत्त्व देने वाले नग्न दिगम्बर मुनि विकारों पर विजय पाते हैं। विकारों पर विजय पाना, यानि संयम की ओर प्रवृत्त होना—संयम यह परीषह का एक अंग है।

गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, मच्छर, नग्नता, रोग, मल, अलाभ आदि परीषह हैं इनके आने

पर परिणामों का विकृत न होना अथवा ध्यान से न डिगना परीषहजय है।

'जातरूपधारणं नाग्न्यम्' गुप्ति समिति की अविरोधी परिग्रहनिवृत्ति और परिपूर्ण ब्रह्मचर्य मोक्ष के साधनभूत चारित्र को पुष्ट करने वाले हैं। यथाजातरूप नग्नता उक्त चारित्र का मूर्तिमान रूप है, अविकारी और संस्कारशून्य-स्वाभाविक है। यद्यपि मिथ्यादृष्टियों द्वारा इसके प्रति द्वेष प्रकट किया जाता है, पर यह परममंगल रूप है। इस नग्नता को धारण करने वाले साधु, सदा वैराग्य भावना से मनोविकारों को जीतते हैं। पुरुषविकार प्रकट न होने से नाग्न्य परीषहजय कहलाता है।

किसी भी मानव को नग्न होने में अत्यन्त परेशानी होती है, नग्न रूप को धारण करने के लिए लज्जा विशेष का त्याग होता है। इन्द्रियों को वश में कर संयम को ग्रहण करने पर ही नग्नता ग्रहण की जा सकती है। जिस प्रकार पशु-पक्षी आदि नग्न उत्पन्न होते हैं व अन्त तक उसी रूप में रहते हैं इसी प्रकार मानव जीवन में विषय-वासना संज्ञा आदि का त्याग करने पर इस शुद्ध नग्नरूप अवस्था में रह सकता हैं। नग्नता धारण करने पर अनेक विपरीत परिस्थितियों का सामना करना होता है।

नग्न होने पर विभिन्न बाधाएँ आती हैं, उन बाधाओं को जीतना, दुर्जनों के द्वारा गाली-गलौज, भण्डवचन सुनना आदि को निर्भीकतापूर्वक सहन करना होता है। यदि किसी ने मारा या स्वाभाविक रूप से किसी प्रकार से चोट आ जाय तो उससे नग्न शरीर पर ही एक दम आघात पहुँचता है जिसे धैर्यपूर्वक सहन करना, जहां परिग्रह मात्र का त्याग है ऐसी अवस्था में उस स्थान पर किसी प्रकार से कपड़े की पट्टी का नहीं बाँधना और उसे धैर्यपूर्वक सहन करना आदि अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है।

शरीर नग्न होने के कारण अस्नान मूलगुण का पालन करने वाले ये मुनिराज मैल के जम जाने पर उसे निकालते नहीं है और न ही उससे ग्लानि करते हैं बल्कि उसे अपना आभूषण मानकर रहने देते हैं।

ऋतु परिवर्तन होने पर उन ऋतुओं के वातावरण को साम्यभावपूर्वक सहन करते हैं तथा योगों को धारण करते हैं।

> शिखिगलकज्जलालिमलिनैर्विबुधाधिपचापचित्रितैः,
> भीमरवैर्विसृष्टचण्डाशनिशीतलवायुवृष्टिभिः।
> गगनतलं विलोक्य जलदैः स्थगितं सहसा तपोधनाः,
> पुनरपि तरुतलेषु विषमासु निशासु निशंकमासते ॥५॥ (—योगि भ.)

अर्थात् मोर की गर्दन के समान काले अथवा काजल या भ्रमर के समान कृष्ण, इन्द्रधनुषों से सुशोभित भयंकर शब्द करने वाले, बिजली गिरानेवाले, शीतल वायु करनेवाले, घनघोर वर्षा करनेवाले बादल आकाश में छाये हुए देखकर तपोधन पुनरपि भयानक रात्रियों में वृक्षों के नीचे

निर्भय आतापन योग धारण कर विराजते हैं।

ये मुनिराज वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे विराजते हैं, मूसलाधार वर्षा होने से शरीर को बहुत कष्ट होने पर भी अपनी प्रतिज्ञा किये हुए व्रत से च्युत नहीं होते हैं।

वर्षा की धारा बाणों के समान उनको दुख देती है तथापि वे मनुष्यों में सिंह के समान शूरवीर होते हैं। परीषह रूपी शत्रुओं को वे सर्वथा घातने वाले हैं। इसीलिए शूरवीरों में भी मुख्य गिने जाते हैं। वे हमेशा ऐसी घोर वर्षा में भी चारित्र से चलायमान नहीं होते हैं।

> अविरतबहलतुहिनकणवारिभिरंघ्रिपपत्रपातने-
> रनवरतमुक्तसात्काररवैः पुरुषैरथानिलैः शोषितगात्रयष्टयः।
> इह श्रमणा धृतिकंबलावृताः शिशिरनिशां,
> तुषारविषमां गमयन्ति चतुःपथे स्थिताः॥७॥ (—यो. भ.)

अर्थात् वर्षाकाल के बाद इस लोक में शीतकाल में सदा बहनेवाली वायु बरफ या पाले की बड़ी-बड़ी बूँदों से भरी रहती है। वह वायु वृक्षों के सब पत्तों को गिरा देती है। उससे सदा सांय-सांय जैसा बड़ा भारी शब्द होता है। वह वायु अत्यन्त कठोर एवं असह्य होती है—ऐसी झंझा वायु से जिनकी शरीर रूपी लकड़ी सब सूख गयी है ऐसे वे श्रमण चौराहे पर चौड़े मैदान में विराजमान होकर, धैर्य संतोषरूपी कंबल को धारण कर, बड़े सुख से पाला-बरफ पड़ने से अत्यन्त असह्य; ऐसी शीतकाल की रात्रि को व्यतीत करते हैं।

> सज्ज्ञानामृतपायिभिः, क्षान्तिपयः सिञ्च्यमानपुण्यकायैः।
> धृतसंतोषच्छत्रकैः, तापस्तीव्रोऽपि सह्यते मुनीन्द्रैः ॥ (—यो. भ.)

—मुनिराज गर्मी के दिनों में पर्वत की शिखर पर जाकर तपश्चरण करते हैं, सम्यक् ज्ञानरूपी जल को पीते हैं, समतारूपी जल से स्नान करते हैं और संतोषरूपी छत्र धारण करते हैं।

ऐसे दिगम्बर संत महान् कष्ट को सहन करते हुए परीपह को सहन करते हैं अर्थात् परीषहजयी बनते हैं और निरन्तर कर्मों का उच्छेद करते हुए मोक्षरूपी लक्ष्मी का वरण करते हैं।

> अन्तर विषय वासना बरते, बारह लोक लाज भय भारी।
> यातैं परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहिं सकै दीन संसारी।
> ऐसी दुर्द्धर नगन परीषह, जीते साधु शीलव्रत धारी।
> निर्विकार बालकवत् निर्भय, तिनके चरणों धोक हमारी।।

अरति-परीषहजय

❑ डॉ. सोहनलाल देवोत

अध्यात्म में भौतिक विज्ञान से भी बड़ी शक्ति है। भौतिक विज्ञान मात्र सुविधा-संवर्धन में ही समर्थ है जबकि अध्यात्म व्यक्ति के अन्तस् में ऐसे तत्त्वों का प्रतिष्ठापन कर सकने में समर्थ होता है जिनके सहारे मनोविकृतियों के झञ्झावात से लड़ा जा सकता है और उन्हे पूरी तरह सफाया किया जा सकता है। स्वेच्छाचारी आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मनोविकारों को भोगने की पूरी छूट दी जाय। जो जिस प्रकार अपनी वासना तृप्त कर सके, करे। उसमें रोकथाम न लगायी जाय। रोकने से मानसिक ग्रन्थियाँ बनती हैं, मनोविकार बढ़ते हैं फलतः शारीरिक एवं मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। उनके अनुसार, निरोग होने के लिए कामुकता आदि विकारों को तृप्त करने का अवसर निकालना चाहिए। किन्तु शारीरिक इन्द्रियाँ आँख, नाक, कान, जीभ एवं स्पर्शेन्द्रिय आदि के अपने-अपने विषय हैं। इनकी ललक लिप्सा होती है जो भोगों को थकाने वाली मात्रा मिल जाने पर भी तृप्त नहीं होती। कारण, ललक एवं लिप्सा का कोई अन्त नहीं है। अतः साधारण मनुष्य का असंस्कृत मन सतत वासना, तृष्णा एवं अहंता में डुबकी मारता रहता है। इन्द्रियाँ उसे तरह-तरह के रस-लोभों में ललचाती रहती हैं। जैसे ही उसकी तृप्ति का सुयोग बनता है, उससे पूर्व ही नयी उपज उठकर खड़ी जो जाती है। धन, यश, पद, बल आदि में से एक भी ऐसा नहीं जिसकी सीमा या मर्यादा हो। अमुक मात्रा में अमुक वस्तुएँ मिल जायेंगी तो मन तृप्त हो जायेगा ऐसा कहाँ होता है? जैसे ही इच्छित सामग्री मिलती है वैसे ही उसकी रखवाली का प्रयास करना होता है। कहाँ रखना है — आदि की योजना बनाने की हैरानी उपस्थित हो जाती है। यह जंजाल निपट नहीं पाता कि इससे अधिक पाने की चाहना पैदा हो जाती है। इस प्रकार मन को कभी चैन नहीं। वह हर पल, हर घड़ी भूत-पिशाच की तरह अतृप्त ही बना रहता है। ऐसा अशान्त अस्थित मन लेकर कोई अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतशक्ति एवं अनंतसुख के भण्डार वीतराग आत्मा की शरण में बस सके यह सम्भव ही नहीं है। दिगम्बर मुनि अट्ठाईस मूलगुणों एवं उत्तरगुणों के पालन द्वारा मन एवं बुद्धि की परतों को प्रभावित करते हुए अन्त करण की गहरी परतों में जमे सूक्ष्म कर्म-संस्कारों का क्षय एवं परिशोधन कर भावों का उदात्तीकरण करता है। दिगम्बर मुनि इन मूलगुणों के पालन द्वारा मन को ललक एवं लिप्सा रहित करते हुए साम्यभाव (समताभाव) धारण करता है। किन्तु इस साम्यभाव में विक्षेप पैदा करने वाली अनेक परिस्थितियों का मुनि को सामना करना पड़ता है। जैनाचार्यों ने उनमें से बाईस का विशेष रूप से उल्लेख किया है जिन्हें

जैनागम में परीषह संज्ञा से जाना जाता है अर्थात् मुनि को अपने मार्ग से च्युत न होने के लिये और अपने अंतरग में जमे सूक्ष्म कर्म-संस्कारों का क्षय करने के लिए सहन करने का आदेश दिया है।

जो संयत इन्द्रियों के इष्ट विषय सम्बन्ध के प्रति निरुत्सुक है, जो गीत, नृत्य और वादित्र आदि से रहित शून्यघर, देवकुल, तरुकोटर और शिलागुफा आदि में स्वाध्याय, ध्यान और भावना में लीन है, पहले देखे हुए, सुने हुए, और अनुभव किये हुए विषय भोग के स्मरण, विषयभोग सम्बन्धी कथा के श्रवण और कामशर प्रवेश के लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियों के प्रति सदाकाल सदय है उसके अरतिपरीषह-जय जानना चाहिए।

जैनागम के दशधर्म एवं बारह अनुप्रेक्षाएँ विश्व के योगी दर्शन को एक अनूठी देन है। दशधर्मो के द्वारा मुनि अपने मन की कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) को जीतने के लिए उनके विरोधी गुणों का अभ्यास करता है तथा अनुप्रेक्षाओं से तत्त्व-चिंतवन के द्वारा सांसारिक वृत्तियों से अनासक्ति उत्पन्न कर वैराग्य की साधना में विशेष दृढ़ता से आगे बढ़ता है। इस प्रकार मुनि अपनी आत्म-शक्ति को विकसित करके सम्यक् अध्यात्म के मार्ग पर आरूढ़ होता है। ऐसे ही समय में उसके सामने अन्य परीषहों की तरह अरति परीषह परीक्षार्थ उपस्थित होती है, जिसे वह दशधर्म व बारह-अनुप्रेक्षाओं के शस्त्र द्वारा पराजित कर विजयश्री प्राप्त करता है। अर्थात् पूर्वाचार्यों ने आत्मा व मन-संस्थान में विशिष्ट सामर्थ्यो को भरा-पूरा देखा है। प्रश्न केवल जागृति और सुषुप्ति का है। जो अपने आत्मा व मन-संस्थान के अन्धेरे की गर्त में पड़े केन्द्रों को पूर्वोक्त धर्मों व अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जगा लेता है, वह विलक्षण क्षमताओं से सम्पन्न बन जाता है। बहिरंग की दृष्टि में ये सभी असम्भव, अद्भुत जान पड़े परंतु यह सब प्रकृतिगत नियमों पर आधारित गूढ़-विज्ञान है जिसे पूर्वाचार्यों ने जाना और व्यवहार में उतारकर स्वयं को पूर्ण प्राण ऊर्जा से सम्पन्न एवं अलौकिक सामर्थ्यो से भरा-पूरा बनाया था। अतः यह राज-मार्ग हम सबके लिए खुला पड़ा है। आओ, हम सब मिलकर उसी मार्ग पर चलें और अपनी आत्मा का कल्याण करें।

देश काल का कारण लहिकै, होत अचैन अनेक प्रकारै।
तब तहां खिन्न होत जगवासी, कलमलाय थिरतापन छाड़ै॥
ऐसी अरति परीषह उपजत, तहां धीर धीरज उर धारै।
ऐसे साधुन को उर अन्तर बसौ निरन्तर नाम हमारै॥

स्त्री-परीषहजय

❑ पं. रतनलाल कटारिया

तत्त्वार्थसूत्र गागर (छोटा-सा ग्रंथ) होते हुए भी श्रुतसागर है। उसके नौवें अध्याय में क्षुधादि बाईस परीषह का निरूपण है जिनमें आठवां स्त्री-परीषह बताया है। यह स्त्रीपरीषह चारित्र के मोह के सद्भाव में होता है। सूत्र ११ में चौदहवें गुणस्थान तक भी कुछ परीषहों की विद्यमानता व्यक्त की है। किन्तु तत्वतः परीषह्-व्यवहार तो छठे गुणस्थान तक ही संभव है। अगले गुणस्थान ध्यान के होने से उनमें कारणों के सद्भाव की अपेक्षा से व्यवहार किया जाता है। फिर भी उन्हें उपचार से ही समझना चाहिए।

परीषह का सहना मुनियों के लिए ही बताया है या श्रावकादि के लिए भी बताया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ प्रमुखता से यह कथन मुनियों के लिए ही है किन्तु श्रावक के लिए इनका निषेध नहीं है। सभी इसका उपयोग कर सकते हैं, सभी के लिए ये लाभकारी हैं। इसी से रत्नकरण्डश्रावकाचार की कारिका में स्वामी समन्तभद्र ने सामायिक के वक्त श्रावक के लिए परीषहों के सहने का उपदेश दिया है। वैसे जिस पर पड़ती है वह सब सहता ही है। किन्तु उस वक्त आर्त्त-रौद्र परिणाम का न होना ही सहना है। सदा साम्यभाव का रहना ही परीषह-जय है। मुनियों के इसीलिए सदा सामायिक-चारित्र बताया है। जो प्राणी जितने समय जितने अंशों में इसका आश्रय लेता है वह उतना ही सुखी होता है।

परीषह, उपसर्ग, काय-क्लेशादि तप और दुर्घटना (एक्सीडेण्ट) में परस्पर क्या अन्तर है?

बाह्य कारणादि का ही अन्तर है। आभ्यन्तर की दृष्टि से अन्तर नहीं, क्योंकि सहना सभी में है जो आभ्यन्तरिक है। सहने की दृष्टि से सब समान हैं।

प्राकृतिक आपदाओं को 'परीषह' कहते हैं। चेतन-अचेतन द्वारा परकृत आपदाओं को 'उपसर्ग' कहते हैं। तप-स्वयं बुद्धिपूर्वक अंगीकृत किया जाता है। दुर्घटना आकस्मिक या अबुद्धिपूर्वक होती है।

प्रश्न—दुर्भिक्ष को उपसर्ग कहेंगे या परीषह?

उत्तर—"उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसिरुजायां च निःप्रतिकारे" में दुर्भिक्ष को उपसर्ग से जुदा बताया है। उपसर्ग में साधु ध्यानावस्थित हो जाता है। किन्तु १२ वर्ष के भीषण दुर्भिक्ष में भद्रबाहु आचार्य अपने संघ सहित दक्षिण में चले गये थे। दुर्भिक्ष परकृत नहीं है। वह तो प्रकृतिजन्य है, उससे क्षुधा-पिपासादि परीषह होते हैं अतः उसे परीषह में गर्भित करना चाहिए। क्षुधा-पिपासा

के भेद में दुर्भिक्ष आता है। अर्थात् क्षुधादि कैसे? दुर्भिक्षजन्य। इसी प्रकार महामारी, प्लेग आदि भी परकृत होने से उपसर्ग नहीं हैं, वे रोग-परीषह में आते हैं। केशलुंचन, मल-परीषह में आता है।

प्रश्न—वृद्धावस्था (जरा) को किसमें लेंगे?

उत्तर—रत्नकरण्डश्रावकाचार में जरा को रोग से अलग बताया है अतः वह परीषह होने पर भी रोग-परीषह से अलग है। वह एक अवस्था विशेष है। वह प्राकृतिक है परकृत नहीं है अतः परीषह में लेना चाहिए, उपसर्ग में नहीं।

प्रश्न—वध-परीषह और उपसर्ग में क्या अन्तर है?

उत्तर—ताड़न-मारण, अंगच्छेदन हो जाने पर उसका सहना 'वध-परीषह' है और किसी के द्वारा ऐसा करने का आभास होते ही ध्यानावस्था में लीन हो जाना 'उपसर्ग' है। उपसर्ग में वध ही नहीं होता, अपने पद-विरुद्ध क्रिया भी परकृत होती है। जैसे—ध्यान में लीन साधु को कोई करुणादि भाव से वस्त्र-रजाई ओढा दे।

प्रश्न—साधु को प्राकृतिक आपदाओं को सहना ही चाहिए या मेटने का प्रयत्न भी करना चाहिए?

उत्तर—जहाँ तक मेटना संभव हो वहाँ तक योग्य रीति से मेटने का प्रथम प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी न मेटी जा सके तो तब तक साम्यभाव धरना चाहिए। उपसर्ग का प्रतिवाद नहीं किया जाना—यह साधु के पद-विरुद्ध है (ध्यानावस्था में श्रावक के भी पद-विरुद्ध है)। उपसर्ग-कर्त्ता को उसकी मनमानी कर लेने देना चाहिए और स्वयं ध्यानावस्था में लीन हो जाना ही विधेय है।

इतने प्रासंगिक विवरण के बाद अब हम शीर्षक के खास विषय पर आते हैं। इसका नाम 'स्त्री-परीषह' क्यों रखा? आर्यिकादि इसे कैसे सहेंगी? इस दृष्टि से क्या यह अव्यापक नहीं? अगर इसकी जगह 'काम-परीषह' नाम रखते तो ज्यादा व्यापक और निर्दोष रहता। स्त्री-निंदा की संभावना भी नहीं रहती।

समाधान—शास्त्रों के सब कथन प्रायः मनुष्यों को ही लक्ष्यकर किये गये हैं। उदाहरण के लिए सात व्यसनों को लीजिए—इसमें परस्त्री-रमण और वेश्या-सेवन ये अलग-अलग बताये हैं। स्त्रियों की दृष्टि से 'परस्त्रीरमण' की जगह पर-पुरुषरमण व्यसन बन भी जायेगा किन्तु वेश्या-सेवन की जगह उनकी दृष्टि से क्या बनेगा? इसका कोई उत्तर नहीं, क्योंकि वेश्या का कोई पुल्लिंग रूप नहीं। ऐसी हालत में क्या स्त्रियों के छह ही व्यसन होंगे?

वैसे 'स्त्री' शब्द काम का ही प्रतीक है। जैसे सूर्य दिन का और चन्द्रमा रात्रि का प्रतीक है। इसको न समझने से ही विसंवाद होते हैं। जैसे भाव को छोड़कर शब्दों का आग्रह करने

वाले—"संसार में विष बेल नारी, तजि गये जोगीश्वरा" में नारी को विष बेल लिखने पर विसंवाद खड़ा करते हैं किन्तु यहाँ भी नारी शब्द काम के एवज में ही प्रयुक्त समझना चाहिए।

कुछ आधुनिकाओं ने खीझ कर इसकी जगह ऐसा बना दिया है—"संसार में विष बेल मानव, तजि गयीं जोगीश्वरी" किन्तु इससे दि. आम्नाय का ही एक तरह से खात्मा हो गया है। यह उन विदुषियों के ध्यान में नहीं आया दिखता, क्योंकि दिगम्बर आम्नाय में स्त्री की मुक्ति नहीं मानी, पुरुष की ही मानी है जबकि ऐसा करने से स्त्री की मुक्ति का सिद्धान्त 'जोगीश्वरी' रूप में स्थापित हो जाता है और पुरुष के लिए मोक्ष का निषेध 'विषबेल' रूप में निर्दिष्ट हो जाता है। इस तरह समानाधिकार के चक्कर में दिगम्बर सिद्धान्तों को ही उलट कर स्त्रियों के एकाधिकार की उल्टी गंगा बहायी गयी है। सही बात और सही भाव न समझने से ऐसे ही अनर्थ होते हैं।

प्रश्न—स्त्री को ही काम का प्रतीक क्यों बताया गया? पुरुष को क्यों नहीं?

उत्तर—स्त्री-पर्याय को ही शास्त्रों में निन्द्य पर्याय माना है, पुरुष पर्याय को नहीं। प्रकृति से भी ऐसा ही है। स्त्री स्वभाव से ही अबला है। उसके साथ बलात्कार संभव है, पुरुष के साथ नहीं। स्त्री के प्रतिमास रजस्राव होता है। उसके गुह्यांगों में लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। नवमास तक गर्भभार धारण करती हैं, इसके बाद एक मास तक जननाशौच से ग्रस्त हो जाती है। ऐसा पुरुषों में नहीं। इसी से स्त्री-पर्याय में अशुद्धता और निंद्यता दोनों मानी गयी हैं। सूत्रपाहुड़ गाथा २५ में—"इत्थीसु ण पव्वया भणिया" स्त्रियों के प्रव्रज्या-दीक्षा का स्पष्ट निषेध किया गया है। भावसंग्रह में लिखा है :

> स्वभावः कुत्सितस्तासां लिंगं चात्यन्तकुत्सितम्।
> तस्मान्न प्राप्यते साक्षात् द्वेधा संयम-भावना॥२४६॥

— स्त्रियों का स्वभाव एवं पर्याय अशुद्ध है अतः उनके द्रव्य और भाव संयम अथवा इन्द्रिय और प्राणी-संयम दोनों नहीं होते। इसी से दि. आम्नाय में स्त्री के छठा गुणस्थान और मोक्ष (पंचपरमेष्ठित्व) नहीं माना। यही नहीं, उसके क्षायिक सम्यक्त्व, उत्तम संहनन, त्रेसठ शलाका पद, निःशंक ध्यान, नव ग्रैवेयकादिगमन, चारणादि ऋद्धियाँ, आचार्यपट्ट, यज्ञोपवीतादि संस्कार, द्वादशांग (चौदह पूर्व) का ज्ञान, सर्वावधि और मनःपर्ययज्ञान आदि नहीं होते। सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्री-पर्याय में जन्म नहीं लेता। इसमें की बहुत-सी बातें श्वेताम्बर भी मानते हैं।

साधना की दृष्टि से आचार्यों ने ही (निंद्य) काम भाव को स्त्री पर्याय का प्रतीक माना है। इससे स्त्रियों के साथ अन्याय अर्थात् ज्यादती और पुरुषों पर कृपादृष्टि की आशंका करना व्यर्थ है। आचार्यों ने जो जैसा है वैसा ही चित्रित किया है, कोई पक्षपात नहीं किया है। इस पर भी कोई नाराज हो तो इसका वो क्या करें। श्वेतांबर सम्प्रदाय स्त्री की मुक्ति मानता है फिर भी उनके यहाँ भी स्त्री को ही काम का प्रतीक माना है, पुरुष को नहीं। श्वेतांबरों के

यहाँ भी स्त्री-परीषह नाम ही है, काम परीषह या पुरुष परीषह नाम नहीं।

स्त्री-परीषह का मतलब है स्त्री-विषयक बाधा अर्थात् स्त्री के माध्यम से होने वाले कुत्सित बिचार। मोक्ष पथ के साधक के लिए इसमें क्षुधादि की तरह स्त्री को एक बाधा रूप में माना है।

शास्त्रों में स्त्रियाँ ४ प्रकार की बतायी हैं। चेतन– १. देवी, २. मनुष्यनी, ३. तिर्यंचनी और ४. अचेतन। काष्ठ-शिलादि में उत्कीर्ण, कागज आदि पर चित्रित, मूर्तिरूप और वर्णनात्मक शब्द-मूर्तिमय। इनके माध्यम से राग या काम-भाव होने पर उन्हें सहना स्त्री-परीषह-जय है। यह सब १८ हजार शील के भेदों में आता है।

कामभावों पर नियंत्रण रखना, उनके साथ नहीं बहना, वैराग्य भावों से चित्त स्थिर रखना योग्य है। इसी से अपने कर्त्तव्य कर्म और धर्म-मार्ग की सिद्धि होती है तथा संवरपूर्वक कर्मनिर्जरा होती है। यही यथार्थ स्त्री-परीषह (जय) है।

प्रश्न —जय सीताराम, जय राधेश्याम, उमाशंकर, गोपीकृष्ण में स्त्रीनाम को पहले दिया गया है और उसकी जय बोली गई है अतः वह शब्द पुरुष की अपेक्षा स्त्री की श्रेष्ठता का द्योतक है।

उत्तर —यहाँ न तो स्त्री की जय कही गया है और न स्त्री नाम को श्रेष्ठता के कारण पहिले दिया गया है। बात कुछ दूसरी ही है। उसका रहस्य इस प्रकार है : जैसे जय सीताराम में सीता के पति राम की ही जय बोली गयी है। यहाँ सीता शब्द राम का विशेषण है, अलग स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है। राम अनेक हुए हैं—बलराम, परशुराम, जयराम उन सबसे अलग बताने के लिए सीताराम शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् सीता के वर = पति राम ही यहाँ इष्ट हैं इसी से रामलीला में "सियावर रामचन्द्र की जै" बोलते हैं। सीता और राम के बीच में वर या पति शब्द छिपा हुआ है। यह एक ही पुरुष = राम का वाचक है, सीता और राम ऐसे दो का वाचक नहीं। इसी से एकवचन में ही यह सदा प्रयुक्त होता है। अगर दो का होता जो द्विवचन में होता। यह नाम सदा एक पुरुष को ही रहता है कभी किसी स्त्री को नहीं। इसी प्रकार राधेश्याम, उमाशंकर, गोपीकृष्ण नामों को समझना चाहिए।

इसी तरह—उमापति, लक्ष्मीकांत, त्रिशालात्मज, देवकीनंदन आदि हैं। इनमें भी पहिले स्त्रीनाम होते हुए भी वह उनका कतई वाची नहीं है। उनका वाची तो एक पुरुष ही है और वही इष्ट है।

प्रश्न —"स्त्रीणां शतानि" (भक्तामरस्तोत्र २२) में बताया है कि सैकड़ों पुत्रों को सैकड़ों स्त्रियां जन्म देती हैं किन्तु हे प्रभु! तुम जैसे महान् पुत्र को जन्म देने वाली माता एक ही है। ताराओं को उदित करने वाली तो सभी दिशायें हैं किन्तु तेजस्वी सूर्य को उत्पन्न करने वाली एक पूर्व दिशा ही है। इसमें तीर्थंकर माता की श्रेष्ठता व्यक्त की गयी है।

उत्तर —इसमें पुरुषों से स्त्रियों की श्रेष्ठता व्यक्त नहीं की गयी है किन्तु स्त्रियों में तीर्थंकर माता की विशिष्टता व्यक्त की है। अन्य स्त्रियों के तो अनेक पुत्र-पुत्रियाँ होती हैं किन्तु तीर्थंकर अपनी माता के अकेले एक ही होते हैं। यहाँ श्रेष्ठता और तेज-स्विता प्रभु की बतायी है। कवि ने यह स्तोत्र आदिनाथ प्रभु का बनाया है और उन्हीं का इसमें गुणगान किया है, उनकी माता का नहीं। माता को तो प्रशंस्य मातृत्व भी प्रभु के अवतार लेने के बाद ही मिला है, पहले नहीं।

यह सब प्ररूपण किसी निंदा की दृष्टि से नहीं है। किन्तु 'याथातथ्यं बिना च विपरीतात्" (बिना किसी विपरीतता के वास्तविक है)। इस विषय में कभी कोई मुमुक्षु किसी भ्रम-भुलावे और चक्कर में न आ जाये, ऐसी सावधानी की दृष्टि से उसे आगाह किया है। वैसे मुमुक्षु या भव्य परिणामी को दूसरों की गलती ढूँढने के बजाय स्वयं को सचेत रहने की सख्त जरूरत है तभी वह कल्याण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। यही सही और स्वाधीन तरीका है।

जे प्रधान केहरि को पकड़ैं, पन्नग पकड़ पान से चावैं।
जिनकी तनक देख भौं बांकी, कोटिन सूर दीनता जापैं।
ऐसे पुरुष पहाड़ उड़ावन प्रलय पवन त्रिय वेद पयापै।
धन्य धन्य ते साधु साहसी, मन सुमेरु जिनका नहिं कांपै॥

चर्या-परीषहजय

❑ *मुनि श्री कुमुदनन्दीजी*

अहिंसा, दया, क्षमा के पुजारी महान् दिगम्बर योगीराज अनेक उपसर्ग एवं परीषह को साम्यभावपूर्वक सहन करते हुए एवं मोक्षमार्ग की साधना करते हुए अनुपम, अक्षय, अनन्त सुख को प्राप्त करते हैं।

दिगम्बर मुनि के लिए परीषह पर विजय पाना एवं तपश्चरण कर कर्मों की निर्जरा करना विशेष कर्मक्षय के कारण हैं।

मानव-जीवन का एक-एक क्षण एक-एक मोती के समान मूल्यवान है। यदि मानव-जीवन

में संयम एवं व्रत को धारण कर तपश्चरण करें तो उत्तम ध्यान के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर, निर्वाण सुख को प्राप्त किया जा सकता है।

मुनिराज विहार कर रहे हैं। रास्ते में नाना प्रकार के कांटे, कंकड़, पथरीली भूमि पर चलना, नरम-गरम भूमि पर नग्न शरीर, नंगे पैर चलना इन सब को धैर्य पूर्वक सहन कर ये दिगम्बर संत निर्भीक व निडरता से अपनी चर्या का पालन करते हैं।

परीषह-जय करने वाला ज्ञान-वृद्धि व चारित्र-वृद्धि के स्व-पर उपकार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है। वह जगत में यश प्राप्त कर धर्म की विशेष प्रभावना करता है। अपने प्रत्येक क्षण में धार्मिक क्रियाओं का सदुपयोग कर, षडावश्यकों का पालन, कृतिकर्म आदि कार्यों में लगा रहता है। यह विशेष आत्म-प्रबलता के होने पर ही संभव होता है। किन्तु उपसर्ग (देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, अचेतन) व परीषह सहन न करने वाले एवं इस मलिन आत्मा को परमात्मा न बनाने वाले, आध्यात्मिक चर्या को महत्त्व नहीं देते। शारीरिक सुख, धन-सम्पत्ति को सर्वस्व समझने वाले ऐसे लोग समस्त सुख इन्द्रियजन्य सुख को मानते हैं; उसी में वे अपनी उन्नति समझते हैं। आत्मा की निधि रत्न-त्रय की साधना तथा परीषह एवं उपसर्ग को जो जय नहीं कर सकता वह अमूल्य जीवन को यों ही समाप्त कर देता है।

चर्या—परीषहजय के प्रसंग में तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार आचार्य पूज्यपाद 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखते हैं—

"दीर्घकालमुषितगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबन्धमोक्षपदार्थतत्त्वस्य संयमायतनभुक्तिहेतोर्दे—शान्तरातिथेर्गुरुणाभ्यनुज्ञातस्य पवनवन्निःसंगतामङ्गीकुर्वतो बहुशोऽनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरस—परित्यागादिबाधापरिक्लान्तकायस्य देशकालप्रमाणापेतमध्वगमनं संयमविरोधि परिहरतो निराकृतपादावरणस्य परुषशर्कराकण्टकादिव्यधनजातचरणखेदस्यापि सतःपूर्वोचितयानवाहना—दिगमनमस्मरतो यथाकालमावश्यकापरिहाणिमास्कन्दतश्चर्यापरिषहसहनमवसेयम्"

— जिसने दीर्घकाल तक गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य को धारण किया है, जिसने बन्ध-मोक्ष पदार्थों के स्वरूप को जान लिया है, संयम के आयतन शरीर को भोजन देने के लिए जो देशान्तर का अतिथि बना है, गुरु के द्वारा जिसे स्वीकृति मिली है, जो वायु के समान निःसंगता को स्वीकार करता है, बहुत बार अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग आदि जन्य बाधा के कारण जिसका शरीर परिक्लान्त है, देश और काल के प्रमाण से रहित तथा संयम विरोधी मार्ग-गमन का जिसने परिहार कर दिया है, जिसने खड़ाऊँ आदि का त्याग कर दिया है, तीक्ष्ण, कंकड़ और काँटे आदि के बिंधने से चरणों में खेद के उत्पन्न होने पर भी पहले योग्य यान और वाहन आदि से गमन करने का जो स्मरण नहीं करता है तथा जो यथाकाल आवश्यकों का परिपूर्ण परिपालन करता है उसके चर्यापरीषह-जय जानना चाहिए।

ऐसे वे योगिराज चिन्तन करते हैं—हे योगी! तू उपसर्ग व परीषह से डर मत; ये तो तेरे

मित्र हैं ऐसा जान इन्हें समता व धैर्य पूर्वक सहन करने की आदत बना। जगत में आत्मसुख व संतोष देने वाले ये परीषह ही हैं जिनसे आत्मा स्वर्ण के समान शुद्ध स्वर्णमयी हो जाता है।

चर्या, शय्या और निषद्या इन तीन परीषह में से एक समय में एक ही परीषह होता है, तीनों एक साथ नहीं। इसलिए १९ परीषह एक समय में एक योगिराज को हो सकते हैं।

ये मुनिराज चार प्रकार की शुद्धि से युक्त हो गमन करते हैं—उद्योत-शुद्धि, मार्ग-शुद्धि, उपयोग-शुद्धि और आलम्बन-शुद्धि।

आत्मध्यानी मुनि को अपनी शक्त्यनुसार परीषह तथा उपसर्गों को, शारीरिक कष्टों को अविचल रूप से शान्ति के साथ सहन करने का अभ्यास करते रहना चाहिए। इससे आत्मध्यान या समाधि के समय किसी प्रकार के संकट के आने पर आत्मध्यान से विचलित नहीं हो सकते।

ऐसे परीषह और उपसर्ग को सहन करने वाले पांडव युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन हुए हैं जो अपने आत्मध्यान से तनिक भी विचलित न हुए और केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष की शरण को प्राप्त कर अनन्त सुख में लीन हो गये। इसी प्रकार गजकुमार मुनि, सुकौशलमुनि भी हुए जिन्होंने स्वर्ग के सुखों को प्राप्त किया। इसलिए सतत आत्म-सुख को प्राप्त करने के लिए बाधाओं को मित्र बना लेना चाहिए।

चार हाथ परिमाण निरख पथ चलत दृष्टि इत उत नहीं तानैं।
कोमल पांव कठिन धरती पर धरत धीर बाधा नहीं मानैं।
नाग तुरंग पालकी बढ़तैं ते सर्वादि याद नहिं आनैं।
यों मुनिराज सहैं चर्य्या दुःख तब दृढ़ कर्म्म कुलाचल भानैं॥

निषद्या-परीषहजय

❑ *प्रो. विजयकुमार जैन*

जैनधर्म उसके पालकों की दृष्टि से दो तरह का है— (१) श्रावक-धर्म या सागार धर्म और

(२) मुनिधर्म या अनगार-धर्म। चूंकि जैनधर्म का मूल उद्देश्य आत्मसिद्धि है, अतएव आत्म-साधनारत मुनियों के धर्म को उत्सर्ग मार्ग और आत्मसाधना के असिधाराधर्म में शक्ति-हीनता दिखाने वाले सागारों—गृहस्थों के श्रावक धर्म को अपवाद मार्ग कहा है। साधुओं का प्रमुख लक्ष्य आत्म-साधना ही है। कहा भी है कि वही साधु या तपस्वी प्रशंसनीय है जिसने पाँचों इन्द्रियों के विषय भोगों की लालसा रूप पराधीनता को छोड़ दिया है, जो गृहस्थी के आरम्भों में नहीं पड़ता, जो सर्वपरिग्रह से रहित है, केवल ज्ञान, ध्यान और तप मैं लीन है, जिसके विषय में हमारा श्रद्धाभाव निम्न पंक्तियों में सदा प्रकट होता रहता है—

> विषयों की आशा नहीं जिनके साम्य भाव धन रखते हैं।
> निज पर के हितसाधन में, जो निशि दिन तत्पर रहते हैं।
> स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
> ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के दुख समूह को हरते हैं॥

निषद्या का तात्पर्य है ध्यान के लिए नियमित समय तक संकल्पित एक ही आसन से स्थित होने वाले शारीरिक कष्ट को साम्यभाव से सहना। अध्ययन अथवा मोक्षमार्ग के उपदेश के लिए भी एक स्थिति रूप काय-साधना करना और उसमें खेदित न होना। मन-वचन-काय इन तीन के कारण ही आत्म-परिस्पन्दन होता है उसे ही योग कहते हैं, और योग कर्मास्रव का कारणभूत है। कायसाधना करने से वचनसाधना भी होती है। किसी ने जब एक जगह स्थित होने का नियम ले लिया तो उसकी वचन प्रवृत्ति उसके पास आने वाले व्यक्ति से ही होती है, या किसी पाठ आदि में लगने से शुभ वचन प्रवृत्ति होगी। दूरवर्ती लोगों से उसका वचन-व्यापार रुक ही जाता है, तथा काय और वचन को नियंत्रित कर लेने से मन-प्रवृत्ति भी केन्द्रित होने लगती है, इस प्रकार मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के रुकने से संवर, निर्जरा होती है। ध्यान के लिए, धर्म और शुक्ल ध्यानों के लिए काययोग की प्रवृत्ति को रोकना भी आवश्यक है। बिना काय और वचन प्रवृत्ति के रुके ध्यान नहीं हो सकता। अतएव साधारण नाम जप में भी काय और वचन को रोकने का विधान है। हम साधारण रूप से भी माला फेरते समय एक ही आसन और मौन से स्थित होते हैं। अतएव निषद्या परीषह का ध्यान के लिए बड़ा उपयोग है। ध्यान निर्जरा का परम साधन है। असातावेदनीय के उदय के कारण एक ही आसन में स्थित होने और समस्त कायप्रवृत्ति का बुद्धिपूर्वक रुकने से कष्ट तो यतीश्वरों को भी हो सकता है पर वे उसे समतापूर्वक सहन करते हैं। निषद्या-परीषह का यह सुन्दर उदाहरण है—

> कियो उपसर्ग भयानक घोर, चली बहु तीक्षण पवन झकोर।
> रह्यो दशहूँ दिशि में तप छाय, लगी बहु अग्नि लखी नहीं जाय।
> सुरुण्डन के बहु मुण्ड दिखाय, पड़े जल मूसलधार अथाय।

भयानक कमठकृत उपसर्ग के समय यतीश्वर भगवान् पार्श्वनाथ ध्यानमग्न थे। तीखी और भयंकर वायु बही, घना अन्धकार छा गया, भयंकर अग्नि की लपटें भी उठीं, बिना मुण्ड के रुण्ड और बिना रुण्ड के मुण्ड दिखाई देने लगे, मूसलाधार वर्षा होने लगी तो भी वे अपने आसन से बाल मात्र भी नहीं डिगे और उनका आत्मध्यान उत्तरोत्तर गम्भीर होता गया। भावों की प्रकर्षता से उन्होंने आत्मा के समस्त आवरणों को काट दिया और अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य की महिमा को प्राप्त कर कैवल्य प्राप्त किया। धन्य हैं वे योगिराज! और धन्य है उनका निषद्या-परीषहजय।

निषद्या परीषह सहन करने वाले स्मरणीय मुनीश्वर हैं—पांचों पाण्डव मुनिवर जिन्हें तप्त लोह आभूषण पहनाये गये थे। मुनिराज सुकुमाल मुनि जिनके निषद्या परीषहजय की परीक्षा तीन दिन तक श्यालनी भक्षण के समय हुई। सुकौशल मुनिराज जिन्हें ध्यानस्थ मुद्रा में उन्हीं की माता के जीव व्याघ्री ने खाया।

मुनिराज गजकुमार जिनके सिर पर उन्हीं के पूर्व संभावित श्वसुर ने अग्नि रख दी। गुरुदत्त मुनिराज जो द्रोणगिरि की गुफा में ध्यान लगाये थे। और भी अनेक उदाहरण हैं। आज के युग में भी चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी महाराज जब आसन लगा ध्यान में थे, सर्पराज उनके शरीर पर आ गया था। इस काल के भी सभी मुनिराज अपने संहनन के अनुसार निषद्या-परीषहजय करते हैं। साधुओं के १२ तपों में कायक्लेश तप है। उसका तात्पर्य है कि समतापूर्वक क्षुत्पिपासादि व निषद्यादि परीषहों को मुनिराज सहन करते हैं, उनकी निषद्यादि परीषहजय के सम्बन्ध में बताया गया है —

सप्तम आदि गुणस्थानों की भूमिका में आत्मध्यान में लीन साधुओं का शरीरबाधा की ओर ध्यान ही नहीं जाता। उनका उपयोग आत्मानुभव में रहता है। पर जब वे प्रवृत्तिरूप छठे गुणस्थान में होते हैं तो उस बाधा को समता से सहते हैं। आगे-आगे असातोदय मन्द-मन्दतर होता जाता है। तप के प्रभाव से कायबल ऋद्धि प्राप्त हो तो बहुत समय तक एक ही आसन से बैठने पर भी अनिमित्तक पीड़ा नहीं होगी। पर सिंह व्याघ्रादि तिर्यंचकृत उपसर्ग तथा सौंप, बिच्छू, चींटी आदि जन्तुओं कृत उपद्रव, देवादिक कृत उपसर्ग अथवा प्राकृतिक उपसर्ग तो होते ही हैं। संकल्पित आसन से स्थित मुनिराज उन्हें समता भाव से सहते हैं। मुनिराज तो पर्वतों की गुफाओं में, खोहों में, अन्धकार पूर्ण स्थानों में, ग्रीष्म ऋतु में पर्वत शिलाओं पर, शीत ऋतु में नदी तालाबों के तट पर, वर्षा ऋतु में वृक्षों के मूल भाग में आसन जमाकर ध्यान मग्न होते हैं। उनकी आसन स्थिरता के विषय में छहढालाकार ने कहा है—

तिन सुथिर मुद्रा देख मृग गण उपल खाज खुजावते।

मृग गण भी पत्थर समझकर अपनी खाज खुजाते हैं—ऐसी मुद्रा होती है उन मुनिराजों की।

निषद्या परीषह सहन करने वालों के, शास्त्रों में हमें उत्कर्षतम उदाहरण भगवान् ऋषभदेव तथा भगवान् बाहुबली के मिलते हैं। भगवान् ऋषभदेव ने आसन जमाकर छः माह तक योग धारण किया था। इस काल में उनके जटाजूट बहुत बढ़ गये थे। छह महीने तक उन्होंने ऋतुकृत बाधायें सहन की थीं। यतिराज बाहुबली तो एक वर्ष तक योग धारण कर निषद्या परीषह सहते रहे। उनके शरीर पर और आसपास सांपों ने वामी बना ली थी। लताएं शरीर पर चढ़ गयीं तो भी वे अडिग रहते हुए अन्य परीषहों के साथ निषद्या परीषह की बाधा सहते रहे।

प्रावृट्-काले सविद्युत-प्र-पतित-सलिले वृक्षमूलाऽधिवासाः,
हेमन्ते रात्रिमध्ये प्रति-विगत-भयाः काष्ठवत्-त्यक्त-देहाः।
गीष्मे सूर्याऽशु-तप्ता गिरि-शिखर-गताः स्थान-कूटान्तर-स्था-
स्ते मे धर्मंप्रदद्यु-र्मुनि-गण-वृषभा मोक्ष-निःश्रेणि-भूताः॥

निषद्या-परीषहजय के लिए मुनिराज गोदोहन, वीरासन, धनुषासन, शवासन, वज्रासन आदि आसन लगाते हैं और उनके इन आसनों के लगाने का स्थान होता है—

"जे गिरि गुह-कंदरि-विवरि थंति।
जे रुक्ख-मूलि आतावणिया......."

पर्वतों की गुफा में, धरती के बिल—नीचे स्थान, वृक्षों के मूल, तप्त शिला में आदि में इन सब आसनों और तप के स्थानों द्वारा वे निषद्या-परीषह-जय करते हैं।

गुफा मसान शैल तरु कोटर निवसें जहां शुद्ध भू हेरैं।
परिमित काल रहें निश्चल तन बार-बार आसन नहिं फेरैं।
मानुषदेव अचेतन पशु कृत बैठे विपत आन जब घेरैं।
ठौर न तजैं भजैं थिरता पद ते गुरु सदा बसो उर मेरैं॥

शय्या-परीषहजय

आचार्य श्री पार्श्वसागरजी

मोक्ष-पथ के साधक निरंतर रत्नत्रय की आराधना करते हुए समतापूर्वक अनेक परीषहों

को शान्त चित्त से सहन करते हैं। 'अनगार धर्मामृत" में कहा है—

शय्यापरीषहसहोऽस्मृतहंसतूल प्रायोऽविषादमचलन्नियमान्मुहूर्तम्।
आवश्यकादिविधिखेदनुदे गुहादौ त्र्यस्रोपलादिशबले शववच्छयीत॥६।९९॥

शय्या-परीषह को सहन करने वाले साधु को छह आवश्यक कर्म और स्वाध्याय आदि के करने से उत्पन्न हुए थकान को दूर करने के लिए तिकोने पाषाण, कंकर-पत्थर से व्याप्त गुफा वगैरह में बिना किसी-प्रकार के विषाद के एक मुहूर्त तक मुरदे की तरह सोना चाहिए। तथा एक करवट से दण्ड की तरह सीधे सोने आदि के नियमों से विचलित नहीं होना चाहिए। और गृहस्थ अवस्था में उपयुक्त कोमल रुई के गद्दे आदि का स्मरण नहीं करना चाहिए।

साधु को रात्रि में दिन-भर संयम की आराधना से हुई थकान दूर करने के लिए भूमि पर एक करवट से या सीधे पैर फैलाकर एक मुहूर्त तक निद्रा लेने का विधान है। न तो वह करवट ले सकता है और न घुटने पेट में देकर सुकड़कर सो सकता है। सोते हुए न तो वह गृहस्थावस्था में उपयुक्त कोमल शय्या आदि का स्मरण करता है और न यही सोचता है कि यह रात कब बीतेगी, कैसे यहाँ से छुटकारा होगा। इस प्रकार शास्त्रविहित शयन के कष्ट को सहन करना शय्या-परीषह-जय है। "स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकीं खरविषमप्रचुरशर्करा-कपाल-कंङ्कटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो यथाकृते— कपार्श्व-दण्डायितादिशायिनः प्राणिबाधापरिहाराय पतितदारुवद् व्यपगतासुवद् परिवर्तमानस्य ज्ञानभावना- विहितचेतसोऽनुष्ठितव्यन्तरादिविविधोपसर्गादप्यचलित- विग्रहस्यानियमितकालां तत्कृतबाधां क्षममाणस्य शय्यापरीषह क्षमा कथ्यते।"

स्वाध्याय, ध्यान और अध्वश्रम के कारण थककर जो कठोर, विषम तथा प्रचुर मात्रा में कंकड़ और खपरों के टुकड़ों से व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमिप्रदेशों में एक मुहूर्त प्रमाण निद्रा का अनुभव करता है, जो यथाकृत एक पार्श्वभाग से या दण्डायित आदि रूप से शयन करता है, करवट लेने से प्राणियों को होने वाली बाधा के निवारण के लिए जो गिरे हुए लकड़ी के कुन्दे के समान या मुर्दा के समान करवट नहीं बदलता, जिसका चित्त ज्ञानभावना में लगा हुआ है, व्यन्तरादि के द्वारा किये गये नाना प्रकार के उपसर्गों से भी जिसका शरीर चलायमान नहीं होता और जो अनियत कालिक तत्काल बाधा को सहन करता है उसके शय्या परीषहजय कहा जाता है।

आचारशास्त्र में कहा है—

जहाँ वर्षा सहित भयंकर वायु से पीड़ित होकर उल्लू और शृंगाल चीत्कार कर रहे हैं वह तो जिसके शब्द हैं, शंपा जिसके क्रूर दांत और स्फुरायमान कांतिवाली विद्युत जिसकी जिह्वा है ऐसी विकराल रात्रिरूपी राक्षसिनी को धीर बुद्धिवाले तपस्वी घोर अन्धकार से पूरित पर्वत की गुफा के प्रदेश में सोये हुए सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं वे शयनपरीषहजयी होते हैं।

मन जिस ओर लग जाता है उस समय उसके सिवाय अन्य बातों का अनुभव नहीं होने पाता। तदनुसार जब चित्त आत्मचिन्तन में लग जाता है तब मन का उपयोग अपने शरीर की ओर नहीं जाता। इसी कारण आत्मध्यानी परम योगिराज, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि २२ तरह की परीषहों का तथा किसी मनुष्य द्वारा या किसी पशु के द्वारा या आंधी वर्षा आदि अचेतन पदार्थों द्वारा होने वाले उपसर्ग का अनुभव नहीं करते। उन परीषहों और उपसर्गों का अनुभव न होने से आत्मा में शरीर का राग, दुःख या उपसर्ग करने वाले पर द्वेष, क्रोध आदि नहीं होता। इस तरह राग-द्वेष न होने के समय कर्मों का आस्रव नहीं है। कर्मों की निर्जरा ही होती रहती है। इसलिए हे साधु! उपसर्ग और परीषह समता-पूर्वक सहन करने का अभ्यास कर।

जो प्रधान सोने के महलन, सुन्दर सेज सोय सुख जोवैं।
ते अब अचल अंग एकासन, कोमल कठिन भूमि पर सोवैं।
पाहनखंड कठोर कांकरी, गड़त कोर कायर नहिं होवैं।
ऐसी शयन-परीषह जीतैं, ते मुनि कर्म-कालिमा धोवैं॥

आक्रोश-परीषहजय

❑आर्यिका जयप्रभामतीजी

संसार एक बीहड़ अटवी है जो गहरे अज्ञान-अन्धकार एवं माया-मिथ्यात्व-निदान रूप तीक्ष्ण काँटों से भरी है, अष्टकर्म रूपी शत्रुओं से आक्रान्त है। इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। पर प्रश्न है कि इनको कैसे जीता जाय?

सैनिक जब युद्धस्थल में जाता है तो लोहे का कवच पहन लेता है, जिससे शत्रुओं द्वारा किया गया प्रहार विफल हो जाता है, इसी प्रकार जो मुमुक्षु रत्नत्रय का कवच धारण किये है, उसके हाथ में दसधर्मरूपी धनुष और परीषहजय रूपी प्रत्यञ्चा जिसके बाण हैं, कर्मरूपी शत्रु उसके समक्ष टिक नहीं पाते हैं, अपने प्रहारों को विफल पाकर हतप्रभ हो भाग जाते हैं।

कहते हैं कषायों में क्रोध जीव का सर्वाधिक घात करने वाला है। इसके लिए आचार्य दृष्टांत भी देते हैं—मान लिया क्रोध की संख्या १, मान की २, माया की ३, और लोभ की ४ है। उनको क्रमबद्ध लिखने पर १२३४ अंक प्राप्त हुए। इनमें १000 पावर रूप शक्ति रखने वाला क्रोध है। यदि इसको जीत लिया गया तो समझें कि सबसे अधिक शक्तिशाली शत्रु पर जीत हो गई।

आक्रोशपरीषहजय क्या है? तत्त्वार्थराजवार्तिक में अकलंकदेव स्वामी ने लिखा है— 'अनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजयः'

"तीव्रमोहाविष्टमिथ्यादृष्टेः............ कर्णविरेचनान् हृदयशूलोद्भावकान् क्रोधज्वलन—शिखाप्रवर्धनकरानप्रियान् शृण्वतोऽपि दृढमनसः भस्मसात्कर्तुमपि समर्थस्य परमार्थावगाहितचेतसः, शब्दमात्रश्राविणस्तदर्थान्वीक्षणविनिवृत्तव्यापारस्य स्वकृताशुभकर्मोदयो ममैष, यतोऽमीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादिभिरुपायैरनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णीयते।"

अर्थात्—मोहाविष्ट मिथ्यादृष्टि के कठोर, कर्कश, कानफाड़ देने वाले हृदयभेदी, क्रोधाग्निवर्धक धिक्कार और गाली आदि दुर्वचनों को सुनकर भी स्थिर चित्त रहने वाले, भस्म करने की शक्ति रहने पर भी क्षमाशील, उन कटुशब्दों के अर्थविचार से पराङ्मुख, मेरे पूर्व अशुभ कर्म का उदय ही ऐसा है जिससे मेरे प्रति इनका द्वेष है इत्यादि पुण्य भावनाओं से सुभावित साधु का अनिष्ट वचनों का सहना आक्रोशपरीषहजय है। सर्वार्थसिद्धि में भी यही अभिप्राय अभिव्यक्त किया गया है। अनगारधर्मामृत में भी आक्रोश-परीषहजय का स्वरूप इसी प्रकार है—

मिथ्यादृशश्चण्डदुरुक्तिकाण्डैः प्रविध्यतोऽरूंषिमृधंनिरोद्धुम्।
क्षमोऽपि यः क्षाम्यति पापपाकं ध्यायन् स्वमाक्रोशसहिष्णुरेषः॥६।१००॥

अर्थात् अत्यन्त अनिष्ट दुर्वचनरूपी बाणों के द्वारा मर्म को छेदने वाले विरोधी मिथ्यादृष्टियों को शीघ्र रोकने में समर्थ होने पर भी जो अपने पापकर्म के उदय को विचार कर उन्हें क्षमा कर देता है, वह मुनि आक्रोशपरीषह को सहने वाला है।

क्षमादि उत्तम आत्मगुणों का प्रकटीकरण भी परीषहजय से होता है। पर सर्वप्रथम कषायों को जीतना होगा। आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य ने लिखा है—

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं
संयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व॥२१३॥

अर्थात् निर्मल अथाह हृदय रूपी सरोवर में जब तक कषायों रूप हिंस्र जल-जन्तुओं का समूह निवास करता है तब तक निश्चय से यह उत्तम क्षमादि गुणों का समूह निशंक होकर उस हृदय रूपी सरोवर का आश्रय नहीं ले पाता है। इसीलिए हे भव्य! तू व्रतों के साथ

तीव्र-मध्यमादि उपशमन भेदों से उन कषायों को जीतने का प्रयत्न कर।

अस्तु, क्रोधादि को जीतकर आत्मगुणों को प्रकट करें। कुरलकाव्य में कहा गया है—

बदले से तो एक दिन को होता मन को मोद।
किन्तु क्षमा से नित्य ही गौरव का आमोद॥

गृहत्यागी ऋषि वर्ग से उनकी ज्योति अपार।
सहते हैं जो शान्ति से दुर्जन वाक्य प्रहार॥

तप करते जो भूख सह, वे ऋषि उच्च महान।
क्षमाशील के बाद ही, पर उनका सम्मान॥

अभिप्राय यह है कि आक्रोश परीषह को जीतने वाला, उत्तम क्षमाधारी मुनि ही कर्मकालिमा को नष्ट कर परमानन्दमय आत्मरस का स्वाद ले सकते हैं। मैं उन परीषहजयी परमपूज्य श्री गुरु के चरणों में नमन कर यह आशीर्वाद चाहती हूँ कि मुझे भी वही शक्ति प्राप्त हो, परीषहजय की क्षमता प्राप्त हो।

जगत जीव जावन्त चराचर, सबके हित सबके सुखदानी।
तिन्हें देख दुर्वचन कहैं खल, पाखंडी ठग यह अभिमानी।
मारो याहि पकड़ पापी को, तापस-भेष चोर है छानी।
ऐसे वचन-वाणी की वेला, क्षमा भाव ओढ़े मुनि ज्ञानी॥

वध-परीषहजय

❑ *ब्र. कुसुम नायक*

"परि समन्तात् सह्यते इति परिषहजयः" अर्थात् अच्छी तरह से संक्लेश परिणाम रहित हो सहन करना परीषहजय है। किसे सहन करना? असातावेदनीय के उदय से प्राप्त सांसारिक दुःखों को। वधपरीषह जय के सम्बन्ध में आचार्य का कथन है—

"निशितविशसन-मुशलमुद्‌गरादिप्रहरणताडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि

मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराकाः किं कुर्वन्ति, शरीरमिदं जलबुद्बुद्वद्विशरणस्वभावं व्यसनकारणमेतैर्व्याबाध्यते संज्ञानदर्शनचारित्राणि मम न केनचिदुपहन्यन्ते इति चिन्तयतो वासितक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो वधपरिषहक्षमा मन्यते।"

तीक्ष्ण तलवार, मूशल और मुद्गर आदि अस्त्रों के द्वारा ताड़न और पीड़न आदि से जिसका शरीर तोड़ा मरोड़ा जा रहा है तथापि मारने वालों पर जो लेशमात्र मन में विकार नहीं लाता, यह मेरे पहले किए हुए दुष्कर्म का फल है, यह शरीर जल के बुदबुदे के समान विशरण स्वभाव है, दुःख के कारण को ही ये अतिशय बाधा पहुंचाते हैं तेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र को कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार जो विचार करता है वह वसूला से छीलने और चन्दन से लेप करने में समदर्शी होता है इसलिए उसके वधपरीषहजय माना जाता है।

> लोहमयी आभूषण गढ़ के ताते कर पहराये।
> पाँचों पांडव मुनि के तन में, तो भी नहिं चिगाये॥बड़ा समाधिमरण॥

पाँचों पांडवों ने दिगम्बर दीक्षा धारण की। शत्रुओं ने लोहमयी आभूषणों को गर्म करके उनको पहनाये किन्तु यह पूर्वकृत कर्म का उदय है—इस प्रकार चिन्तवन करके शान्त भाव से वध परीषह को जीतकर परीषहजयी बने। वे चिन्तन करते थे—शरीर पुद्गल है और ये गर्म लोहे के कड़े भी पुद्गल हैं। पुद्गल ही पुद्गल को बिगाड़ रहा है। मैं ज्ञायक स्वभावी चैतन्य प्रभु हूँ, मेरा यह कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। जिस प्रकार चूल्हे में लगने वाली आग मकान को नहीं जलाती उसी प्रकार ये सब मेरा कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते हैं। भेदज्ञान की सिद्धि करने वाले ऐसे मुनिराज शान्तभाव से वेदना को सहन करते रहे। तीन पांडव कैवल्य ज्योति को प्राप्त कर मुक्त हुए और दो अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। गजकुमार मुनि की घटना है—

> देखो गजमुनि के शिर ऊपर विप्र अगनि-बहु जारें।
> शीश जले जिम लकड़ी तिनको, तो भी नाहिं चिगारें॥स.म.॥

गजकुमार मुनि के सिर पर ससुर ने जलती हुई सिगड़ी रख दी। सारा सिर लकड़ी की तरह जल गया। पर मुनिराज ने शान्त भाव से वध की वेदना को सहन किया और कर्मों का नाशकर गजपंथा से मुक्त हुए।

दिगम्बर मुनि चाहे उन्हें कोई अर्घउतारण करे, चाहे असिप्रहार करे, किसी भी प्रकार संक्लेशित नहीं होते। वे विचार करते हैं—यह बेचारा शरीर को ही तो मार रहा है। आत्मा तो मरता नहीं। मरने से भी वर्तमान पर्याय का नाश होगा, मेरे चैतन्य गुण का नाश नहीं होगा। मेरे आत्मस्वभाव को कोई नाश नहीं कर सकता, फिर शरीर तो पर-वस्तु है, मेरी वस्तु ही नहीं, फिर उसके नाश से मुझे विकल्प क्यों? यही अमृत ध्यान, ज्ञानधारा उनके जीवन को अमर बना देती है।

वध-परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होती है और असाता वेदनीय का उदय छठे गुणस्थान तक रहता है । अतः ये उदय की अपेक्षा छठे तक तथा सत्ता की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान तक रहती है। अनगार-धर्मामृत में आशाधरजी लिखते हैं--

नृशंसेऽरं क्वचित्स्वैरं कुतश्चिन्मारयत्यपि।
शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिवित्तः स्याद्वधमर्षणः॥६॥१०१॥

किसी कारण से कोई क्रूर कर्म करने वाला चोर आदि स्वच्छन्दतापूर्वक शीघ्र मारता भी हो तो शुद्ध आत्मद्रव्य के परिज्ञानरूपी धन से सम्पन्न साधु के वध-परीषह सहन है। पुराण ग्रन्थ साक्षी हैं--दण्डक वन मे पाँच सौ मुनिराजों को घानी में पेल दिया गया किन्तु शान्त भाव से मुनिराज वेदना को सहन कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

निरपराध निर्बैर महामुनि तिनको दुष्ट लोग मिल मारैं।
कोई खैंच खम्भ से बांधे कोई पावक में परजारैं।
तहां कोप नहिं करैं कदाचित पूरब कर्म विपाक विचारैं।
समरथ होय सहैं वधबन्धन ते गुरु सदा सहाय हमारैं॥

याचना-परीषहजय

मुनि श्री श्रवणसागरजी

ज्यों मोरी में डांट लगावे तब जल रुक जाता।
त्यों आस्रव को रोके संवर, क्यों नहीं मन लाता॥
पंचमहाव्रत समिति गुप्ति कर वचन काय मन को।
दशविध धर्म परीषह बाईस बारह भावन को॥बा.भा.मं.॥१८॥

जीवन एक नौका है। इसमें शुभ अशुभ परिणामरूपी छिद्रों से निरन्तर कर्मागमन होता रहता है। उस आगमन को रोकने के लिये आचार्यों ने महाव्रत, समिति, गुप्ति, दसधर्म व बाईस परीषह रूप डाट बताये हैं जिन्हें संवर के हेतु कहा गया है। मोक्षमार्ग में संवर का अपूर्व स्थान है। कर्मों से बचने के लिये संवर आवश्यक है। संवर पूर्वका निर्जरा ही मोक्षमार्ग में उपादेय

है। मोक्ष कब होता है? कर्मों के सर्वक्षय से। कर्मों का सर्वक्षय कब होगा, कर्मों की निर्जरा होने पर। कैसी निर्जरा? सर्वदेश निर्जरा होने पर। निर्जरा कब होगी? जब संवर होगा। बिना संवर कर्म निर्जरा गजस्नानवत् व्यर्थ है। नाव में छिद्र होने से पानी अन्दर आ रहा है कोई मूर्ख पानी को उलीचता जा रहा है परेशान है, जितना निकालता है उतना ही अन्दर आता जा रहा है। क्यों? नाव के छिद्रों को शुभ व शुद्ध परिणामों से रोकना होगा तभी मोक्षमार्ग प्रशस्त होगा।

उस संवर के लिये कहा है –

"संवर सहित करो तप प्रानी, मिले मुक्ति रानी।
इस दुल्हन की यही सहेली, जाने सब ज्ञानी।" बा.भा.मं.॥२९॥

संवर के प्रकरण में परीषहों का विशेष महत्व है। ये परीषह दिगम्बर मुनि ही सहनकर सकते हैं और परिषह विजयी बनते हैं, गृहस्थ श्रावक इसके अधिकारी नहीं हैं।

"बाह्याभ्यन्तर तपोनुष्ठान परस्य तद्भावनावशेन निस्सारीकृतमूर्तेः पटुतपनतापसारनिष्पीतसारतरोरिव विरहितछायस्य इव त्वगस्थिशिराजाल मात्र तनुयन्त्रस्य प्राणात्यये सत्यप्याहारवसति भेषजादीनि दीनाभिधान मुखवैवर्ण्याङ्ग-संज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवद् दुरुपलक्ष्यमूर्तेयाचना परिषहसहनमवसीयते।" (स. सि ९)

–जो बाह्य और आभ्यन्तर तप के अनुष्ठान करने में तत्पर है, जिसने तप की भावना के कारण अपने शरीर को सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्य के ताप के कारण सार व छाया रहित वृक्ष के समान त्वचा, अस्थि और शिराजालमात्र से युक्त शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणों का वियोग होने पर भी आहार, वसति और दवाई आदि के लिये दीन शब्द कहकर, मुख की विवर्णता दिखाकर व संज्ञा आदि के द्वारा याचना नहीं करता तथा भिक्षा के समय भी जिसकी मूर्ति बिजली की चमक के समान दुरूपलक्ष्य रहती है ऐसे साधु के याचना परिषहजय जानना चाहिये।

भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्यः
शम्पेव दातॄन् प्रति भासितात्मा
ग्रासं पुटीकृत्य करावयाञ्चा
व्रतोऽपि गृण्हन् सह याचनार्तिम् ॥१०२॥६।अनगार धर्मामृत॥

प्राण जाने पर भी मैं आहार, वसति, औषध आदि दीन वचनों के द्वारा या मुख की म्लानता के द्वारा या किसी प्रकार के संकेत द्वारा नहीं मांगूंगा। इस प्रकार के अयाचनाव्रती हे साधु! शरीर से अत्यन्त कृश और भूखप्यास मार्ग की थकान, तप आदि के द्वारा शक्ति हीन हो जाने पर भी आहार के समय बिजली की चमक की तरह दाताओं को केवल अपना रूप दिखाकर गृहस्थ के द्वारा दिये गये ग्रास को दोनों हाथों को पुटाकार करके ग्रहण करते हुए याचना परीषह

को सहन कर।

एक नगर में मासोपवासी मुनिराज आहार को पहुंचे। शीत ऋतु थी। एक गरीब महिला ने विवेक से आहार में गर्म-गर्म पानी और गुड़-राई का हलवा बना कर निरन्तराय आहार कराया। भक्ति के प्रभाव से पञ्चाश्चर्य वृष्टि हुई और वह गरीब बुढ़िया मालामाल हो गई।

दूसरी पड़ोसिन महिला ने इतनी जल्दी धनवान् बनने का कारण, मुनि को आहार दान देना है ऐसा जान स्वयं भी आहार देने का विचार किया।

वे ही मासोपवासी मुनि पुनः एक मास बाद नगर में चर्या को आये। तब उस महिला ने पड़गाहन आदि किया। गर्मी का समय था। गर्मी में कड़ी उष्णता से मुनिराज के कंठ, तालु सब सूख चुके थे। पर परघर की भिक्षा परीषह जयी को क्या चिन्ता? अविवेकी महिला ने वही गरम-गरम पानी मुनिराज के हाथों में डाला। विजयी साधुराज ने जरा भी इशारा नहीं किया। पानी से हाथों में छाले पड़ गए। पश्चात् आहार में गुड़-राई का वही गरम-गरम हलवा रख दिया। असह्य वेदना को शान्त भाव से सहनकर उसी समय समाधि को प्राप्त हो गये— "अहो!चित्रं जैनेश्वरी दीक्षा स्वैराचार विरोधिनी।" दिगम्बर साधु कभी याचना नहीं करता है। सच है साधु कभी याचक नहीं होता। याचक है वह कभी साधु नहीं होता। सत्य ही कहा है—

रानी तो काते नहीं, जो काते सो रांड।
साधु तो मांगे नहीं, जो मांगे सो भांड॥

अलाभ-परीषहजय

❑ पं. मिश्रीलाल शाह

संसार-बन्ध के कारण आस्रव और बंध हैं, संसार-निवृत्ति के कारण संवर और निर्जरा है। संवर-निर्जरा की ओर प्रवृत्ति बनाने के लिए ही जैनागम का उपदेश है। इसके लिए पूर्वाभ्यास, तत्त्वबोध, आगमनिष्ठा और मृदु स्वभाव बनाने की जरूरत है। सन्त-समागम से ये सब कुछ उपलब्ध होते हैं। संसारस्वरूप का चिन्तन, शरीरस्वभाव का विचार, देह पर निर्ममत्व के भाव,

भोगों की अरुचि का चिन्तन बहुत लाभप्रद सिद्ध होता है। सूत्रकार की स्पष्टोक्ति है-

'स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजयचारित्रैः'

अर्थात् मनोवाक्काय की विपरीत चंचलता—मन में कुत्सित भावना जगना, वासना का भाव उदित होना, अनिष्ट चिन्तन करना, मन में ईर्ष्या-द्वेष, दूसरे के पतन की भावना, मन की चंचलता कहलाती है। वचन-वाणी के द्वारा इसी प्रकार बोलना वचन की चंचलता कहलाती है। शरीर द्वारा रागवर्धिनी क्रिया की ओर प्रवृत्ति होना काय चंचलता कहलाती है। एवमेव यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति से संयम, अहिंसा की सिद्धि, रागमूलक प्रवृत्ति का उच्छेद होता है। अर्थात् सम्यक् गमन, बाह्यक्रिया में निष्प्रमाद प्रवृत्ति, प्राणी पीड़न भाव का अभाव ईर्यासमिति कहलाती है। दूसरे के मन को दुखाने वाली वाणी न बोलना भाषा समिति है। भोजन में एवं धरने उठाने में देख-शोधपूर्वक यत्नाचार प्रवृत्ति, एवमेव निष्प्रमाद देख शोधकर ही मलमूत्रोत्सर्ग आदि की समितियां (एषणा-आदान) निक्षेपण-प्रतिष्ठापन समिति कहलाती है।

अनन्तर अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, दशधर्म से आत्मस्वभाव की सिद्धि, और २२ परीषह जय से अपने लक्ष्य की सिद्धि में तत्परता रहती है। 'गुप्ति समिति धर्म की अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र साधु-जीवन में ही प्रभावशील होते हैं। अब प्रकृत प्रसंग परीषहजय में अलाभ पर सम्यक् बोध करना है। परीषह क्यों सहना चाहिए? इस संबंध में सूत्रधार का यह सूत्र "मार्गाच्यवन निर्जरार्थ-परिषोढव्याः परीषहाः" अच्छा मार्गदर्शन करता है। अर्थात् परीषह अर्थात् कष्टजनक स्थिति आने पर सम्यक् बोध• द्वारा सहिष्णुता। सहनशीलता की भावना जगाने से चारित्र से अच्युति बनती है, अतः रत्नत्रय की स्थिति परिरक्षणीय रहती है और वह निर्जरा का हेतु बनती है।

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार, वायु के समान निःसंग होने से जो अनेक देशों में विचरण करता है, जिसने दिन में एक काल के भोजन को स्वीकार किया है, जो मौन रहता है या भाषा समिति का पालन करता है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है, बहुत दिन तक या बहुत घरों में भिक्षा के नहीं प्राप्त होने पर भी जिसका चित्त संक्लेश से रहित है, दाताविशेष की परीक्षा करने में जो निरुत्सुक है तथा लाभ से भी अलाभ मेरे लिए परम तप है—इस प्रकार जो सन्तुष्ट है उसके अलाभ-परीषहजय जानना चाहिए।

यदि आहार की विधि जैसी वे चाहते हैं वैसी बहुत दिनों में और बहुत घरों में भी उन्हें नहीं मिले हो तो भी वे चित्त में खेद नहीं मानते हैं। 'आहार-प्राप्ति की अपेक्षा आहार के नहीं मिलने में ही विशेषरूप से मेरे तप की सिद्धि होती है', इस विचार से ही उन तपस्वी मुनिजनों के अलाभ-परीषह कहा जाता है।

और भी अनकों प्रकार से मुनिजनों को आहार का अलाभ होने की संभावनायें नित्य ही बनी रहती हैं, पर साधुवृत्ति के आदर्श और कर्तव्यशीलता से वह उन प्राप्त परिस्थितियों में

भी उद्विग्नमना नहीं होते और अपने ध्येय में कुशल रहते हैं। उस समय उदयगत कर्मकृत परिपाक का अनुभव करते हुए बड़ी शांति का अनुभव करते हैं। इससे सन्तोषवृत्ति का आविर्भाव, आशा-इच्छा का दमन, सहिष्णुता का प्रादुर्भाव, जितेन्द्रिय प्रवृत्त, देह में निर्ममता, तृष्णा पर विजय-ध्यान की सिद्धि आदि अनेकों गुण प्रादुर्भूत होते हैं। अलाभ को साधुजन दुखदायी नहीं मानते अपितु कर्म-निर्जरा का कारण मानते हैं। इसीलिए जिनागम के अनुकूल चर्या करने वाले निर्ग्रन्थ मुनिजन संयम-साधना की प्रतिमूर्ति होते हैं। विश्व ऐसे साधुओं की वंदना कर अपना परम सौभाग्य समझता है।

एकबार भोजन की बिरियां मौन साध बस्ती में आवैं।
जो न बने योग भिक्षाविधि तो महन्त मन खेद न लावैं॥
ऐसे भ्रमत बहुत दिन बीतें तब तप वृद्धि भावना भावैं।
यों अलाभ की परम परीषह सहें साधु सोही शिव पावैं॥

रोग-परीषहजय

❑ ब्र. कु. प्रभा पाटनी

विशाल बियाबान जंगल में कोई एक ऋषिराज ध्यान में मग्न, अपनी आत्मा में लीन थे। शरीर में गलित कोढ़ फूट निकला था, उससे रुधिर और पीप बह रहा था। चारों ओर भयंकर दुर्गन्ध आने लगी, परन्तु ऋषिराज को व्याधि का बिल्कुल असर नहीं हुआ, उसका उनके मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं दिखाई दिया। दिन, महीने व वर्ष बीत गए परन्तु उन्हें यह चिन्ता तक नहीं थी कि मेरे शरीर की क्या दशा है क्योंकि वे जानते थे कि—

बीभत्सु तापकं पूतिः शरीरमशुचेर्गृहम्।
का प्रीतिर्विदुषामत्र यत्क्षणार्धे परिक्षयि॥

इसी कारण वे शरीर से निर्मोही रहे व सावधानी से तपस्या करते हुए व्रत पालते रहे। देवों में चर्चा होने लगी कि वर्तमान में चारित्र की उज्ज्वलता को धारण करने वाले कौन हैं? उत्तर में इन्द्र ने कहा—"सनत्कुमार चक्रवर्ती मुनिराज हैं।" देव ने आकर देखा—उनका सारा

शरीर कुष्टरोग से गल रहा था, परन्तु सुमेरु के समान निश्चल होकर मुनिराज तपस्या कर रहे थे। देव ने उनकी परीक्षा करने के लिए एक वैद्य का रूप बनाया और सुनसान जंगल में घूमता हुआ चिल्ला रहा था, 'मैं एक बड़ा प्रसिद्ध वैद्य हूँ' भयंकर से भयंकर रोग को क्षण भर में शान्त कर देता हूँ। 'मुनिराज ने सोचा इस सुनसान जंगल में कौन इस प्रकार बोल रहा है। चारों ओर देखा। उस वैद्य को उन्होंने बुलाया और पूछा—तुम कौन हो भैय्या? किसलिए इस निर्जन वन में घूम रहे हो? उत्तर में देव ने कहा—'मैं एक प्रसिद्ध वैद्य हूँ। अच्छी अच्छी दवाइयाँ मेरे पास हैं, आपका शरीर बहुत बिगड़ रहा है, यदि आज्ञा दें तो मैं इसे स्वर्ण के समान बना दूँ।' मुनिराज बोले—'हाँ, तुम वैद्य तो हो यह तो ठीक है, मुझे एक और बड़ा भारी भयंकर, महाभयंकर रोग हो रहा है, मैं उसके नष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ किन्तु सफल नहीं हो पाता। क्या तुम उसे नष्ट कर दोगे?' वैद्य ने कहा—'मैं आपके रोग को जड़मूल से नष्ट कर दूँगा। वह रोग आपके इस शरीर को गलाने वाला कोढ़ ही है न'।

मुनिराज बोले—'नहीं, यह तो एक तुच्छ रोग है। मुझे इसकी बिल्कुल परवाह नहीं है, मुझे तो एक भयंकर रोग है।'

देव बोला—'ऐसा कौन सा रोग है जिसे आप इतना भयंकर बतला रहे हैं?'

मुनिराज ने कहा—'सुनो! वह रोग है संसार का परिभ्रमण। यदि तुम मुझे उससे छुड़ा दोगे तो बहुत अच्छा होगा। बोलो क्या कहते हो? सुनकर देव लज्जित हो गया। धन्य हैं आप जैसे रोगपरीषहविजयी, सूरवीर, बुद्धिमान ऋषिराज को।

रोग-परीषहः- यह शरीर वात, पित्त, कफ और सन्निपातजन्य अनेक रोगों और वेदनाओं का आकर है, दुखों का कारण और अशुचि है। यह जीर्ण-वस्त्र की तरह अवश्य ही छोड़ने योग्य है इस तरह अपने शरीर में पर-शरीर की तरह उपेक्षाभाव धारण कर सब तरह की चिकित्साओं से चित्त को हटा, शरीर-यात्रा के लिए मात्र विधिवत् आहार ग्रहण करने वाले साधु का जल्लौषधि आदि अनेक औषध ऋद्धियों के होने पर भी शरीर से निःस्पृह 'पूर्वकृत पाप का यह फल है, इसे भोगकर उऋण हो जाना ही अच्छा है' इत्यादि विचारों के द्वारा रोग का प्रतीकार न कर उसे सहन करना रोगपरीषहजय है।

जिनका आत्मा ही एक मात्र आश्रय है, शरीर की रक्षा में प्रकृति ही जिनका एक मात्र सम्बल है, पहनने को जिनके पास वस्त्र नहीं, दिशाएँ ही जिनके वस्त्र हैं, ऐसे योगीजनों का शरीर गर्मी के मौसम में पित्त रोग से और सर्दी में कफ से और बारिश में वात से जब ग्रसित हो जाता है उस समय वे चिन्तन करते हैं—पुद्गल का स्वभाव पूरण और गलन होना है। यह जब अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है तो इन रोगों के आने पर मैं क्यों अपने स्वभाव को छोड़ूँ जब पुद्गल अपने स्वभाव को नहीं छोड़ रहा है तो मुझे इससे शिक्षा लेनी चाहिए कि मैं क्यों अपने ज्ञान-दर्शन को छोड़ूँ। एक ही नहीं, एक साथ अनेकों शारीरिक-मानसिक

वेदनाओं रूपी तीर यतियों के शरीर और दिमाग पर चलते रहते हैं। कहीं बाहर की सर्दी सन्निपात का कारण बन रही है, तो गर्म वस्तु का सेवन आवश्यक हो जाता है। लेकिन वहीं अन्दर की गर्मी ने शरीर में, पेट में छिद्र कर डाले हैं। विकट स्थिति है! किस-किस को सम्हाले! अन्तरायों की तीव्रता में पेट की आग, ऊपर सूर्य की आग एवं नीचे जमीन की आग तीनों की एकता में संसारी जीव तो तड़फ उठता है परन्तु यतिराज तीनों गर्मी में ध्यानाग्नि रूपी गर्मी को और शामिल कर रत्नत्रय की सिद्धि कर लेते हैं। कैसी विचित्रता है!

मुनिराज विचार करते हैं—शरीर में है ही क्या? वात, पित्त और कफ आदि घृणित पदार्थ भरे हैं। उसमें कमी या अधिकता हुई कि शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है। जब ये अन्दर हैं तभी तो बाहर आ रहे हैं, यदि अन्दर होते नहीं तो बाहर आते कैसे। अरे आत्मन्! मनुष्य के शरीर के एक एक अंगुल में ९६ रोग हैं, समस्त शरीर में पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निन्याणवे हजार पाँच सौ चौरासी रोग हैं। तात्पर्य शरीर रोगों का घर है। फिर यदि वे रोग बाहर आते हैं तो दुख किस कारण? किसी के रोग बाहर हैं, किसी के भीतर, रोग रहित तो संसार में कोई जीव ही नहीं है फिर आर्तध्यान क्यों? अरे, जो अन्दर से बाहर आ रहा है उसमें हर्ष मनाना चाहिए। ये रोग तो तेरे असाता वेदनीय कर्म के भार को हल्का कर रहे हैं, तेरे मित्र हैं। मित्र पर कोप क्यों? अरे आत्मन्! आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण जो अन्दर छिपे हैं उनके बाहर प्रकट होने पर जैसे तू आनन्द मनाता है वैसे ही पूर्वोपार्जित कर्मों के बाहर निकलने, शरीर से रोगों के भी बाहर निकलने में तू उदास क्यों होता है? ऐसा निरन्तर चिन्तवन करते हुए यतिराज कभी खेदखिन्न नहीं होते हैं। यही रोग परीषह जय करने पर अव्याबाध सुख का कारण बन जाता है और हार जाने पर तीव्र असाता वेदनीय कर्म का कारण होता है।

वात पित्त कफ शोणित चारों ये जब घटैं बढ़े तनुमाहीं।
रोग संयोग शोक जब उपजत जगत जीव कायर हो जाहीं।
ऐसी व्याधि वेदना दारुण सहैं सूर उपचार न चाहीं।
आतमलीन विरक्त देह सों जैनयती निज नेम निवाहीं॥

असाता वेदनीय के उदय में शरीर में वात, पित्त, कफ बढ़ता घटता रहता है। संसारी जीव रुदन मचाता है, औषधादि उपचार से उसका प्रतिकार करता है। परन्तु ज्ञानी यतीश्वर कफादि बढ़ने पर भी अपने से च्युत नहीं होते।

स्व. पूज्य श्री आचार्य सुधर्मसागरजी मुनिराज को क्षय रोग ने घेर लिया। कितनी विकट स्थिति! कटोरा भर-भर कर कफ निकलता एक मिनट भी शान्ति नहीं। परन्तु आचार्यश्री शान्तभाव से सहन करते रहे।पूर्वभव में किया पुण्य पाप फल देता ही है। अरे! यदि मैं इस समय आर्त्तध्यान करता हूँ तो पूर्व का तो सहन नहीं कर पा रहा हूँ। आगे नया बँध जायेगा तो मैं कैसे कर्मों से छूट पाऊँगा, यह तो मेरे लिए कर्म निर्जरा का अपूर्व अवसर आया है—ऐसा सोचते हुए

आचार्यश्री रात भर अपने लेखन-कार्य में मग्न रहते, सौ-सौ श्लोक रोजाना संस्कृत में रच देते थे, पर रोग को अपना अपकारी नहीं उपकारी ही मानते थे। धन्य है आचार्यश्री का 'परीषह विजय'।
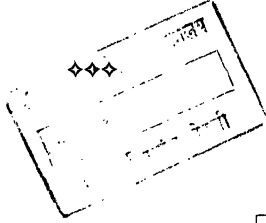
तृणस्पर्श-परीषहजय

❑ *मुनि श्री देवसागरजी*

कड़ाके की माघ मास की ठंडी में शीतप्रदेश में विहार करते हुए नग्नकाय यथाजात रूपधारी मुनिराज पधारे। कड़ी शीत लहरों से कम्पायमान शरीर के रक्षार्थ तृण (घास) लाकर किसी श्रावक ने उपचार किया। मोटी-मोटी घास पैने-पैने तृण गुरुदेव के शरीर में तीर की तरह चुभ रहे हैं। तभी घास से शरीर में खाज की तीव्र पीड़ा उत्पन्न हो गई परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा का रसास्वादन करने वाले महामुनिराज किसी भी प्रकार से खेदखिन्न नहीं हो कर्मनिर्जरार्थ सभी कुछ सहन करते रहे।

एक समय की घटना है—रात्रि में सामायिक के बाद मुनियों की वैय्यावृत्ति के बहाने बगुलाभक्त आये और घास में बहुत से आलपिन डालकर चले गये। रातभर साधुराज जिधर करवट बदलते उधर ही सुइयाँ चुभती रहीं। एक दिन एक सच्चे श्रावक ने घास उठाकर सफाई की तो उसमें पचासों सुइयाँ देखकर अश्रुधारा बह निकली। पता लगाया, खोजबीन की गई। एक महाशय पकड़े गये। अधिक नहीं बीस-बाईस वर्ष पुरानी घटना है। कैसे दुर्जन लोग धर्मात्माओं के पीछे पड़ जाते हैं? यह सब कलिकाल का ही प्रभाव नजर आता है।

साधुजन घास में सोते हैं, बैठते हैं। तृण के तीखे तिनके बाधित कर वेदना उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी तो फांस घुस जाती है। वे इन दुखों के आने पर नरकों के असह्य दुखों का स्मरण करते हुए वेदना को सहजता से सहन करते हैं.... "सेमरतरु जुत दलअसि पत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र।

हे आत्मन्! तूने अनन्तों बार नरकों की असह्य वेदना को परवश होकर सहन किया है। अब इतनी तनिक-सी तृणस्पर्श की बाधा तेरा क्या बिगाड़ सकेगी! परिषहविजयी साधु को सोते

समय घास का स्पर्श होते हुए नग्न देह में तीव्र खाज की वेदना दुःख देती है उसे भी वे शान्तभाव से सहन करते हैं। अनगार धर्मामृत में लिखा है—

> तृणादिषु स्पर्शखरेषु शय्यां भजन्निषद्यामथ खेदशान्त्यै।
> संक्लिश्यते यो न तदर्तिजातखर्जुस्तृणस्पर्शतितिक्षुरेषः ॥१०५॥

अर्थात्—सूखे तृण, पत्ते भूमि, चटाई, लकड़ी का तख्ता, पत्थर की शिला आदि ऐसे स्थानों पर जिनका स्पर्श कठोर या तीक्ष्ण हो, रोग या मार्ग में चलने आदि से उत्पन्न हुई थकान को दूर करने के लिए सोने या बैठने वाला जो साधु शुष्कतृण आदि से होने वाली पीड़ा के कारण खाज उत्पन्न होने पर भी दुख नहीं मानता है वह साधु तृणस्पर्शपरीषह को जीतने वाला विजेता है।

राजवार्तिक में अकलंकाचार्य लिखते हैं—"तृणादिनिमित्तवेदनायां मनसः अप्रणिधानं तृणस्पर्शजयः॥ यथाभिनिर्वृत्ताधिकरणशायिनः शुष्कतृणपत्रभूमिकण्टकफलकशिलातलादिषु प्रासुकेष्वसंस्कृतेषु व्याधिमार्गगमनशीतोष्णजनित-श्रमविनोदार्थं शय्यां निषद्यां वा भजमानस्य तृणादिबाधितमूर्ते—रुत्पन्नकण्डुविकारस्य दुःखमनभिचिन्तयतः तृणादिस्पर्शबाधाऽवशीकृतत्त्वात्तृणस्पर्शसहनमवगन्तव्यम्।"

सूखे तृण, पत्र, भूमि, कण्टक, काष्ठ-फलक और शिलातल आदि किसी भी प्रासुक असंस्कृत आधारों पर व्याधिमार्गश्रम, ठण्डी आदि निमित्तक क्लम को दूर करने के लिए शय्या या आसन लगाने वाले साधु का तिनके आदि से बाधा होने पर या खुजली आदि चलने पर भी दुःख नहीं मान निश्चल रहना तृणस्पर्श-परीषहजय है।

> सूखे तृण अरू तीक्षण कांटे, कठिन कांकरी पांय विदारैं।
> रज उड़ आन पड़े लोचन में, तीर फांस तनु पीर विथारैं।
> तापर पर सहाय नहीं वांछत, अपने करसैं काढ़ न डारैं।
> यों तृणपरस परीषह विजयी, ते गुरु भव भव शरण हमारैं॥

मल-परीषहजय

❑ *आर्यिका मुक्तिमतीजी*

अदुःखभावितं ज्ञानं हीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः। (समाधि शतक १०२)

आचार्य पूज्यपाद ने कहा है—दुःखों का अनुभव किये बिना प्राप्त किया ज्ञान दुःख पड़ने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए मुनि को शक्ति के अनुसार दुःखों के साथ आत्मा की भावना करनी चाहिए। अर्थात् आत्मानुभव के साथ दुःखों को सहन करने की शक्ति भी होनी चाहिए।

परीषह जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं जो जीव की शारीरिक और मानसिक पीड़ा के कारण हैं। जैसे भूख और प्यास जीव के परिणाम हैं और सर्दी-गर्मी, मल आदि पुद्गल के परिणाम हैं। ये जीव के दुःखदायक होते हैं। इन्हें ही परीषह कहते हैं। परिषहजयों में एक है मल-परीषहजय। जलकायिक जीवों की हिंसा से बचने के लिए स्नान न करना तथा अपने मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना सो मलपरिषहजय है। परीषहजय छठे गुणस्थान से शुरू होते हैं। छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों का अहिंसा महाव्रत होता है। 'अस्नानव्रत' २८ मूलगुणों में एक मूलगुण है। स्नान आदि के त्याग कर देने से जल्ल, मल और पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाना मुनि के प्राणीसंयम और इंद्रियसंयम पालन करने रूप, घोर गुणस्वरूप अस्नानव्रत होता है। जल में अवगाहन करना स्नान है, आदि शब्द—से उबटन लगाना, आँख में अंजन डालना, जल छिड़कना, शरीर में लेपन करना आदि क्रियाएँ जो कि शरीर के अंग-उपांगों को सुखकर हैं, उनका परित्याग करना स्नानादि-वर्जन कहलाता है।

जल्ल का अर्थ है सर्वांग को प्रच्छादित करने वाला मल। मल से तात्पर्य है—शरीर के एकदेश को प्रच्छादित करने वाला मल और स्वेद से अभिप्राय है रोमकूप से निकलता हुआ पसीना। अप्कायिक जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए जिसने मरणपर्यंत अस्नानव्रत स्वीकार किया है, तीक्ष्ण सूर्य की किरणों के ताप से उत्पन्न हुए पसीना में जिसके पवन के द्वारा लाया गया धूलिसंचय चिपक गया है जिससे शरीर अत्यन्त मलीन हो जाता है। यह अस्नानव्रत घोरगुण अर्थात् महान् गुण है। प्रकृष्ट गुण इस व्रत में पाये जाते हैं। यह अस्नानव्रत कषाय और इन्द्रियों का निग्रह करने वाला होने से इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम का रक्षक है।

यह मलपरीषह वेदनीय कर्म के उदय में होती है। ये परम मुनिराज सांसारिक शरीरभोग से उत्तरोत्तर विरक्त होकर इनका चिंतवन करते हुए, अशुचि भावना का चिंतवन करते हुए

मलपरीषह को आनंद से सहते हैं। ये भेदविज्ञानी मुनिराज द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को ही मल समझते हैं। धूलि, पसीना ये तो पुद्गल हैं। अतः स्वगत मल का उपचय और परगत मल का अपचय होने पर इनके मन में किसी प्रकार विकल्प नहीं होता तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी विमल जल के प्रक्षालन द्वारा कर्ममलपंक को दूर करने के लिए निरन्तर उद्यममति होते हैं। इसी को आचार्यश्री तत्त्वार्थवार्तिक में कहते हैं—

"स्वपरमलापचयोपचयसंकल्पभावो मलधारणम् जलजन्तुपीडापरिहारायऽस्नानप्रतिज्ञस्य, स्वेदपङ्कदिग्धसर्वाङ्गस्य सिध्मकच्छूदद्रूदीर्णकायस्य नखरोमश्मश्रुकेशविकृतसहजबाह्यमलसंपर्ककारणाने—कत्वग्विकारस्य स्वगत-मलापचये परमलोपचये। चाऽप्रणिहितमनसः कर्ममलपङ्कापनोदायैवोद्यतस्य पूर्वानुभूतस्नानानुलेपनादिस्मरणपराङ्मुखचित्तवृत्तेर्मलधारणमाख्यायते।

केशलुञ्चनखेदसहनोपसंख्यानमिति चेत्, न, मलपरीषहावरोधात्। स्यादेतत् केशलुञ्चने तत्संस्काराकरणे वा महान् खेदः संजायते, तत्सहनमपरमपुसंख्यातव्यमिति, तन्न; किं कारणम्? मलपरीषहावरोधात्।"

जलजन्तुओं की हिंसा के परिहार के लिए जिनके अस्नानव्रत है उन परम अहिंसक साधु को रोमों से निकलने वाले पसीने के मल से समस्त अंगों के जल जाने पर दाद, खाज आदि चर्म रोगों के प्रकट होने पर तथा नख, रोम, दाढ़ी, मूँछ आदि में अनेक बाह्यमल के संपर्क से चर्मविकार होने पर भी स्वयं मल के हटाने की या पर के द्वारा हटवाये जाने की जरा भी इच्छा नहीं करना और सदा कर्ममल को हटाने की चेष्टा करना मलपरीषहजय है। साधुजन कभी भी पूर्वकृत स्नान, अनुलेपन आदि का स्मरण नहीं करते और न अपनी शारीरिक मलीनता से हीनत्व का ही अनुभव। केशलुञ्चन या केशों का संस्कार न करने से खेद होता है। पर यह मलपरीषह में ही अन्तर्भूत है अतः उसको पृथक् नहीं गिनाया है।

यह अज्ञानी जीव अनादि काल से इस जड़ शरीर को अपना मान कर उसी में रच-पच रहा है। भौतिक वाद की चकाचौंध में यह अपने आत्मस्वरूप को भूला हुआ सच्चे 'मल' को नहीं जान रहा है। इसलिए नित नयी-नयी एक से एक ऊँची कीमत वाली, सुवासित साबुन से दिन में दो-दो तीन-तीन बार मलमल के नहाता है। क्रीम पावडर सेंट लगाता है। नित नये-नये आभूषणों से शरीर को अलंकृत करता है। किंचित् मात्र भी शरीर की मलीनता उसे भाती नहीं है। एक गुजराती कवि ने अपनी कविता में लिखा है—

पिंजड़ियाने यो पंछिड़ो दो-दो बार नहलावे।
उड़े कपूर जद आ पंछिड़ो, पिंजरियो जलबल भस्म हो जावे॥
यो पिंजड़ियो बलजासी, पंछिड़ो उड़जासी॥टेर॥

ये मुनिराज ऐसे मल को दूर न कर अपने आत्म-चिन्तन में लगे रहते हैं। धन्य हैं ऐसे परिषह-जयी साधु-महात्मा जो—

यावज्जीव जल-न्हौन तजो, जिन नग्नरूप वन थान खड़े हैं।
चले पसेव धूप की वेला, उड़त धूल सब अंग भरे हैं।
मलिन देह को देख महामुनि, मलिन भाव उर नाहिं करे हैं।
यों मल-जनित परीषह जीतैं, तिनहिं हाथ जोड़ हम सीस धरे हैं॥

सत्कार-पुरस्कार परीषहजय

❑ *ब्र. धर्मचंद शास्त्री*

आचार्य उमास्वामी अपने सूत्रग्रंथ में लिखते हैं कि जिनसे मोक्षमार्ग से च्युति न हो और कर्मों की सातिशय निर्जरा हो ऐसे परिषहों को सहन करना चाहिए। अर्थात् परीषहजय के दो प्रमुख उद्देश्य हैं- प्रथम, आत्मसाधक व्यक्ति मोक्षमार्ग में अनुत्साहित न हो और दूसरा, संचित कर्मों की निर्जरा विशेष हो, इसलिए परीषहों को सहन करना चाहिए।

अकलंकदेव ने उक्त सूत्र की वार्तिक द्वारा व्याख्या इस प्रकार स्पष्ट की है—

"कर्मागमद्वाराणि संवृण्वतो जैनेन्द्रमार्गान्माच्योष्महीति पूर्वमेव परीषहान् विजयन्ते। जितपरीषहाः सन्तः तैरनभिभूयमानाः प्रधानसंवरमाश्रित्याऽप्रतिबन्धेन क्षपकश्रेण्यारोहणसामर्थ्यं प्रतिपद्याभिन्नोत्साहाः सकलसाम्परायिकप्रध्वंसनशक्तयो ज्ञानध्यानपरशुभिः छिन्नमूलानि कर्माणि विधूय प्रस्फोटितपक्षरेणव इव पतत्त्रिणः ऊर्ध्वं व्रजन्ति इत्येवमर्थं परिसोढव्याः परीषहाः।"

कर्मों के आगमन के द्वारों को रोकते हुए जिनेन्द्रदेव के समीचीन वीतरागी धर्म से स्वयं का ही पतन न हो जाय अतएव परीषहों के विजेता, परीषहों से प्रभावित न हो कर उत्तम संवर को आश्रय करते हुए, निराबाध क्षपक श्रेणी आरोहण की सामर्थ्य प्राप्त कर परमोत्साही सम्पूर्ण साम्परायिक आस्रव के नाश करने की शक्ति धारण करते हुए, ज्ञान और ध्यान रूपी फरसे से जड़ कर्मों को काटकर स्वतंत्र पक्षी के समान ऊपर उठते हैं, यही परीषहों को सहने का प्रयोजन है।

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि स्व-पर का भेद जाननेवाले वीतरागी साधु शरीर के निमित्त से आनेवाली सभी मानसिक और शारीरिक आधियों एवं व्याधियों के उपद्रवों को अपनी ध्यान,

ज्ञान और तप की शक्ति से स्वात्मैक रमण करते हुए शान्त चित्त से विजयाकांक्षी चिरकाल युद्धकला का अभ्यास करने वाले शूरवीर की तरह कर्मों के अस्तित्व को नष्ट करने वाली परीषहों को सहन करते हैं। उक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि जब तक साधक इन परीषहों का विजेता नहीं होता तब तक आत्मा का श्रेणी-आरोहण भी संभव नहीं होता है।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य उपर्युक्त सभी परीषहों का विश्लेषण करना नहीं है परन्तु मात्र सत्कार-पुरस्कार परीषह पर कुछ विवेचना करना है। भट्टाकलंक देव ने वार्तिक में लिखा है—

"मानापमानयोस्तुल्य मनसः सत्कार-पुरस्कारानभिलाषः।"

सम्मान और अपमान के कारण उपस्थित होने पर समभाव रखने वाले साधु के सत्कार-पुरस्कार परीषहजय होती है। आचार्य वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती इस परीषह का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

ख्यातोऽहं तपसा श्रुतेन च पुरस्कारं प्रशंसा नतिं,
भक्त्या मे न करोति कोपि यतिषु ज्येष्ठोऽहमेति यः।
ग्लानिं मानं न याति स मुनिः सत्कार-जातार्जितः।
तद्दोषा मे न गुणा भवन्ति न गुण-दोषा स्युरित्यन्यतः॥

अर्थात् मैं तप और व्रत के लिए विख्यात हूँ, यतियों में श्रेष्ठ हूँ फिर भी भक्ति से कोई मेरा पुरस्कार तथा सत्कार नहीं करता है। इस प्रकार मान-कषाय से उत्पन्न ग्लानि को जो मुनि मन में नहीं लाता है और बारम्बार विचार करता है कि मेरा सत्कार- पुरस्कार नहीं करने से मेरे गुण दोष नहीं होते और दोष गुण नहीं होते हैं। मुझे गुण-दोष श्रवण में समभावी ही होना चाहिए।

कितनी सुन्दर वीतराग साधु की यह विचारधारा है। परपदार्थजन्य मान कषाय के निर्मल करने का इससे अच्छा क्या ज्ञानोपयोग हो सकता है। मान कषाय का प्रादुर्भाव न होना ही मेरा चरम लक्ष्य है। इसके लिए ही मेरा उत्कट प्रयत्न होना चाहिए।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ गोम्मटसार में लिखा है कि चारों गतियों में उत्पन्न होने के प्रथम क्षण में क्रमशः क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय होता है। यह गति स्वभाव है। मनुष्यों के सर्वप्रथम मान कषाय उदय में आती है। शायद इसीलिए मनुष्य के मूंछ लगी हुई है जिसे मरोड़-मरोड़कर वह अपने अरमान पूरा करने का प्रयत्न करता रहता है। इस मान कषाय के प्रमुखपात्र नारायण-प्रतिनारायण, चक्रवर्ती भी अधोगति के पात्र बनते हैं, साधारण जीवों की तो बात ही क्या है?

चक्रं विहाय निजदक्षिण बाहु संस्थं,
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत्
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय

मानो मनागपि हृतिं महतीं करोति॥

सत्कार-पुरस्कार-परीषह के मूल में अपने मान-सम्मान की आकांक्षा बड़ी गहराई से छिपी हुई है। इसके सम्बन्ध में साधु भी विनश्वर पुद्गलाश्रित पर्यायों में स्वयं को उच्च मानता है। दूसरों को हीन देखता है। उसे अपने दुर्गुण नहीं दिखते हैं। अतः वह गुणवानों का आदर भी नहीं करता है। फलतः वह उच्च गोत्री होकर भी नीच गोत्र का पात्र हो जाता है। गोत्र के बंध के कारणों को स्पष्ट करते हुए उमास्वामी कहते हैं:—

"परात्म-निंदा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचै र्गोत्रस्य। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य॥"

अर्थात् परनिन्दा, आत्मप्रशंसा स्व के अविद्यमान गुणों को प्रकट करना और पर के विद्यमान गुणों को ढाँकना ये नीचगोत्रकर्म के आस्रव हैं। नीच गोत्र के आस्रवों से विपरीत परप्रशंसा तथा आत्मनिन्दा और नम्र वृत्ति तथा मद का अभाव ये उच्च गोत्र कर्म के आस्रव हैं।

वास्तविकता यह है कि सामान्य जन के लिए अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा सुनना जितना सुखद लगता है उतना ही अपनी निन्दा और दूसरों की प्रशंसा करना दुखद लगता है।

इसी परीषह के विषय में मुझे जिज्ञासा हुई कि इस परीषह को सहने वाले प्राचीन आचार्य कितने महान् पुरुष हुए हैं। हमारी आचार्य परम्परा भगवान महावीर के बाद से ली जाती है। प्रारम्भिक ६८३ वर्ष के अंतराल में कोई दिगम्बर आचार्य हमें ढूँढने से भी नहीं मिलते जिनने कोई पदवी या उपाधि ग्रहण की हो। ये आचार्य श्रुतगामी थे और उपाधि को छोड़कर उपाधि के चक्कर को अपने विकास का बाधक समझते हुए सत्कार-पुरस्कार परीषह-विजय करते थे। बड़ी कठिनाई से निम्नलिखित उपाधियाँ विरुद प्राप्त किए जा सके, वे निम्नलिखित हैं— गृद्धपिच्छ, पंचानन, सुतर्कशास्त्रामृतसागर, कवीश्वर, पूज्यपाद, वादिगजकेशरी, सिद्धांत-चक्रवर्ती, षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति, षट्-तर्कतार्किकचूड़ामणि, जगदेकमल्लवादि आदि। ये उपाधियाँ घटना-निमित्तक व सार्थक हैं। परन्तु आज कलिकाल का प्रभाव देखिये उपाधियों के चक्कर में फसा जीवन इस परिषह को जीतने में असमर्थ सा नजर आ रहा है।

वर्तमान उपाधियों को देखते हुए जयपुर की एक घटना याद आ गई। बात साठ वर्ष से अधिक पूर्व की है। जयपुर में पं. चिमनलाल जी वक्ता एवं प्रबुद्ध स्वाध्यायी विद्वान् रहे हैं। एक बार उसी मंदिर में श्री गोपालदास जी बरैया (गुरुजी) का शुभागमन हुआ। गुरुजी के व्याख्यान हेतु धर्मबंधुओं ने वक्ताजी को इशारा किया कि वे सूचना कर दें कि स्याद्वाद-वाचस्पति' पं. गोपालदास जी बरैया का भाषण होगा। इतना कहने से अन्य साथियों को कोई संतोष नहीं हुआ। वे बार-बार वक्ताजी को इतना ही परिचय दे रहे थे। लोगों ने जब उन्हें अधिक कहा तो वक्ताजी ने बड़ी सरलता से उत्तर दिया—मैं जब इन पंडितजी को ही 'स्याद्वाद-वाचस्पति' कह दूँगा तो भगवान सर्वज्ञ को किस सम्मानास्पद शब्द से सम्बोधित कर उनकी महानता को

बता सकूँगा। सभी चुप हो गए और पंडितजी का भाषण ऐसा प्रभावक हुआ कि आज भी उस घटना का बखान जयपुर में हुआ करता है।

कुछ परिपाटी ही ऐसी चल पड़ी है। इस परीषहजय की उपेक्षा सर्वत्र त्यागीवर्ग में होती दिखाई दे रही है। रोग दवा करने के नाम पर बढ़ता ही जा रहा है। इसी मान कषाय के कारण संघों में अनुशासन का अभाव होता जा रहा है। नामवरी की होड़ लगी हुई है। अब भी अंगुलियों पर गिनने योग्य संघ ऐसे हैं जहाँ पर इस परीषह को विजय किया जाता है।

आम शिकायत यह है कि श्रावक साधुओं को समारोहों में जाने के लिए बाध्य करते हैं। मेरा भी कुछ ऐसा ही अनुभव है परन्तु ऐसे नाम-निरपेक्ष त्यागी विरले ही हैं। अधिकांश त्यागी इसी यश कामना से संघों में न रहकर यत्र तत्र स्वेच्छा से विचरण करते हैं, चाहे संघाधिपति की कठोर आज्ञा एकल विहार न करने के लिए निकाली जा चुकी हो।

साधुओं के लिए समादर भाव देना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। उनकी वैयावृत्य करना श्रावकों का दैनिक आचरण है। परन्तु उपाधि छोड़ने वाले निर्ग्रंथ मुनियों को उपाधि देना उनके संयम के मार्ग में बाधा पहुँचाना हैं। इस प्रकार की प्रक्रियाएँ जनता में समालोचना का स्थान ले लेती हैं। इससे लोकनिंदा तो होती ही है साथ में संयम का घात करने वाली मान कषाय का बंध भी होता है।

जे महान विद्यानिधि विजयी चिरतपसी गुण अतुल भरे हैं।
तिनकी विनय वचन सों अथवा उठ प्रणाम जन नाहिं करे हैं।
तौ मुनि तहां खेद नहिं मानै उर मलीनता भाव हरे हैं।
ऐसे परम साधु के अहनिशि हाथ जोड़ हम पायं परे हैं॥

प्रज्ञा-परिषहजय

❑ ***आर्यिका स्याद्वादमतीजी***

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण।

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः।" ज्ञान मध्यदीपक है। दर्शन की विशुद्धि और चारित्र की वृद्धि बनाये रखने में द्वितरफा साथ देने वाला है। ज्ञान-प्राप्ति सरल है, पर प्राप्त हो जाने पर अहंकार नहीं आना अत्यन्त कठिन बात है।

एक ग्राम में एक सेठजी थे। उन्हें ज्ञानियों से बहुत प्रेम था। एक बार उन्होंने दो पंडितों को भोजन कराने के लिए निमन्त्रण दिया। एक पंडितजी संस्कृत के विशेष ज्ञाता थे दूसरे प्राकृत के। संस्कृत के पंडित के पास सेठजी ने प्राकृत के विद्वान् की प्रशंसा की। पर पंडित जी को सहन नहीं हो पाई। उन्होंने कहा—वो क्या जानता है? बैल कहीं का। उसकी प्रशंसा मेरे सामने मत करो। अब प्राकृत के विद्वान् के समक्ष दूसरे की प्रशंसा की। उन्हें भी असह्य हुआ। प्राकृत के पंडित बोले—तुम व्यर्थ उसकी प्रशंसा क्यों करते हो? वो गधा क्या जानता है? पूरा मूर्खशिरोमणि है।

भोजन की थाल पर आहार लेने के लिए दोनों बैठे। सेठजी ने एक थाल में भूसा और दूसरे में हरी-हरी घास रख दी। दोनों क्रोध से लाल-लाल हो गये। सेठजी ने कहा—आप लोग विद्वान् हैं। आपने एक दूसरे को बैल और गधा बताया है। मैंने बैल और गधे के योग्य भोजन परोस दिया है। दोनो शर्मिन्दा हुए और क्षमाप्रार्थना करने लगे। आचार्य भी कहते हैं—

"अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य शब्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूत-खद्योतोद्योतवन्नितरां नावभासन्त इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञाः परिषहजयः प्रत्येतव्यः।"

अर्थात्—मैं अङ्गपूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ। शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में निपुण हूँ। मेरे आगे दूसरे जन सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए खद्योत के समान बिल्कुल ही नहीं सुशोभित होते हैं—इस प्रकार के विज्ञान मद का निरास होना प्रज्ञापरीषहजय जानना चाहिए।

यही कारण है कि समन्तभद्राचार्यादि ने सर्वप्रथम 'ज्ञान मद' को लिया। ज्ञानावरण कर्म के उदय से अज्ञान परीषह तथा प्रज्ञा-परीषह होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र जैन दर्शन का महान् ग्रन्थ है। इसमें नौवें अध्याय में आचार्य उमास्वामी महाराज ने परीषहों का सुन्दर विवेचन किया है। यहाँ प्रकरणवशात् हमें 'प्रज्ञा' परीषह की चर्चा करना है। इसका लक्षण ऊपर बता दिया है। अब यह होती किस हेतु से है तो आचार्य कहते हैं—"ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने" अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

प्रश्न—ज्ञानावरण के होने पर अज्ञान-परीषह तो मानना ठीक है; पर प्रज्ञा-परीषह तो उसके अभाव में होता है इसलिए ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा-परीषह कैसे संभव है? समाधान—क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के होने पर मद उत्पन्न करती है। समस्त ज्ञानावरण के क्षय होने पर नहीं, इसलिए ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञापरीषह होती है यह कथन बन जाता है।

विकल्प अर्थ श्रुतज्ञान में है, इसलिये जहां तक श्रुतज्ञान होता है कि वहां तक "मैं अधिक जानता हूँ" ऐसा विकल्प देखा जाता है। यद्यपि इस प्रकार का विकल्प करने वाले व्यक्ति को अधिक ज्ञान का लाभ ज्ञानावरण कर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम से होता है तथापि जब तक क्षायोपशमिक ज्ञान होता है तभी तक यह विकल्प होता है और क्षायोपशमिक ज्ञान का उदय सापेक्ष होता है इसलिये यहाँ पर इस प्रकार के विकल्प का मुख्य कारण ज्ञानावरण कर्म का उदय कहा है। श्री कुन्दकुंन्द आचार्य ने समयसार में लिखा भव्य जीवो! मैं छद्मस्थ कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं कर लेना।" इतना गहरा सूक्ष्म ज्ञान होने पर भी अपनी लघुता प्रकट करना परिषहजयी साधुओं का ही साहस है। आचार्य उमास्वामी लिखते हैं—

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसंधि विवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।

अर्थात्—द्वादशांग श्रुतरूप अगाध समुद्र के अवगाह में कौन विमूढ़ नहीं हो सकता है अतः अक्षर, मात्रा, पद, स्वर, व्यञ्जन, संधि, रेफ आदि की जो भी गलती हो गई हो वह सज्जनों के द्वारा क्षम्य हो।

प्रज्ञापरिषहजयी अनेकानेक साधुगण जैन परम्परा में हुए हैं। वे सदैव यही ही चिन्तन करते रहे—"णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी। अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो।"

अर्थात् जिस संयत के सारे प्रमाद नष्ट हो गये हैं और जो समग्र ही महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त है, शरीर और आत्मा के भेदज्ञान में निरन्तर लीन रहता है, वह ज्ञानी है। अभी ११ अंग १४ पूर्व के पाठी होकर भी हमें निर्विकल्प समाधिं अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हुई है, अतः सच हम ज्ञानी कहाँ? अज्ञानी हैं। यही चिन्तन द्वादशांग के पाठी में भी 'अहं' का नाशक बन जाता है।

केवलज्ञान त्रिकालवर्ती सकल पदार्थों को युगपत् जानता है। उस क्षायिक ज्ञान के सामने हमारा ज्ञान तो तुच्छ ही है। हम अज्ञानी हैं। सच्चे ज्ञानी तो केवलज्ञानी ही हैं। प्रज्ञापरिषहजय की यह एक पैनी ध्यानधारा है।

मानतुङ्ग आचार्य के प्रज्ञापरीषह-जय का सुन्दर चित्रण देखिये-

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्र-चारु-कलिकानिकरैकहेतुः॥६॥भ. स्तोः॥

अहो! इतने महान् ऋषियों की लघुता वास्तव में आचरणीय है। अनगार धर्मामृत में पं. आशाधर लिखते हैं—

विद्याः समस्ता यदुपज्ञमस्ताः प्रवादिनो भूपसभेषु येन।
प्रज्ञोर्मिजित् सोऽस्तु मदेन विप्रो गरुत्मता यद्वदखाद्यमानः॥१०८॥६॥

जो अंग, पूर्व और प्रकीर्णरूप समस्त विद्याओं का प्रथम उपदेष्टा है और जिसने अनेक राजसभाओं में प्रवादियों को पराजित किया है फिर भी जो गरुड़ के द्वारा न खाये जाने वाले ब्राह्मण की तरह मद से लिप्त नहीं होता वह साधु प्रज्ञापरीषह को जीतने वाला है॥

भर्तृहरि ने अपने शतक में लिखा है—जब मुझे थोड़ा ज्ञान था तब मैं हाथी की तरह झूम झूमकर चलता था, पर अब कुछ विशेष ज्ञान होने पर, ज्ञान के अथाह सागर की अपारता को दृष्टिपात करने पर, मैं एक-एक पग फूँक-फूँककर चलता हूँ। सच्चा ज्ञानी साधु ही प्रज्ञा-परिषहजयी होता है।

प्रज्ञापरिषहजयी निर्ग्रन्थ साधुराजों को सद्ज्ञान प्रकाशनार्थ शतशः नमोस्तु।

तर्क छन्द व्याकरण कलानिधि आगम अलंकार पढ़ जानैं।
जाकी सुमति देख पर वादी विलखत होंय लाज उर आनैं॥
जैसे सुनत नादि केहरि का बनगयन्द भाजत भय मानैं।
ऐसी महाबुद्धि के भाजन पै मुनीश मद रञ्च न ठानैं॥

अज्ञान-परीषहजय

❑ *आर्यिका जिनमतीजी*

आचार्य पूज्यपाद 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखते हैं—

"अज्ञोऽयं न वेत्तिन्त्र्य पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्य परमदुश्चरतपोऽनुष्ठायिनो नित्यमप्रमत्तचेतसो मेऽद्यापि ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इति अनभिसन्दधतोऽज्ञानपरीषहजयो अवगन्तव्यः।" अर्थात् यह मूर्ख है, कुछ नहीं जानता है, पशु के समान है इत्यादि तिरस्कार के वचनों को मैं सहन करता हूँ, मैंने परम दुश्चर तप का धारण (अनुष्ठान) किया है, मेरा चित्त निरंतर अप्रमत्त रहता है, तो भी अभी तक मेरे ज्ञान का अतिशय नहीं उत्पन्न हुआ—इस प्रकार विचार नहीं करने वाले के अज्ञानपरीषहजय जानना चाहिए।

यह अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होता है, बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक इसका सद्भाव है। यद्यपि उपशम या क्षपक श्रेणी में ध्यानावस्था होने के कारण संकल्प-विकल्प रूप वेदना या कष्ट से अनुभव रूप यह परिषह नहीं होती है, फिर भी तत् तत् परीषहों के अन्तरंग कारण रूप कर्मों का उदय मौजूद रहने से श्रेणी में परीषहों का अस्तित्व माना जाता है। मुनिराज जिस प्रकार तपश्चरण द्वारा शारीरिक कष्ट सहन करते हैं। उसी प्रकार सामान्य जनों के लिए जिनका जीतना अत्यंत कठिन है ऐसे मानसिक संताप रूप अज्ञान परीषह, सत्कार-पुरस्कार परीषह आदि को भी सहन करते हैं। त्रैलोक्य के द्वारा नमस्कृत तीर्थंकर परमदेव भी जिस मुद्रा को धारण करते है ऐसे यथाजात रूप दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले यतीश्वर जब अनेक प्रकार से शास्त्रों के अध्ययन में प्रयत्नशील होने पर भी शास्त्रज्ञान से शून्य रहते हैं, तब विचार करते हैं कि मेरे अभी ज्ञानावरण कर्म का तीव्र उदय है, मैं सब प्रकार से पठन में उद्यत हूँ, इतने पर भी ज्ञानातिशय न हुआ तो मुझे खेदखिन्न नहीं होना है, न स्वाध्यायादि से विरत होना है। मुझे यदि कोई कहे कि, 'यह अज्ञ है, 'कुछ नहीं जानता' तो वह ठीक ही कहता है, उस पर मुझे क्रोध नहीं आना चाहिए। मुझे आत्मा का ज्ञान इतना तो प्राप्त हुआ ही है जो कि अतीत अनंत भवों में दुर्लभ था। इस प्रकार चिंतन करके मुनिजन अज्ञान परीषह को जीतते हैं।

शिवभूति नाम के एक अत्यंत निकट भव्य जीव थे। परम वैराग्य युक्त होकर उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा धारण की और घोर तपश्चरण करने लगे। वे शास्त्र के "तुष माष भिन्नं" इतने अक्षरों को जानते थे, इससे अधिक कुछ भी पाण्डित्य उनमें नहीं था। वे आत्मा को शरीर तथा कर्मों से पृथक् जानते थे। उन्हें आगम का कुछ वाक्य नहीं आता था, मात्र गुरु द्वारा वाक्य का अर्थ समझाया गया था कि जिस प्रकार तुष (छिलका) से माष (उड़द) भिन्न है, उसी प्रकार शरीर आत्मा से पृथक् है, बार-बार उच्चारण करने पर उक्त शब्दों को शिवभूति मुनि भूल गये। एक बार कोई स्त्री उड़द को छिल्का से पृथक् कर रही थी। उस प्रक्रिया को देखकर मुनि ने प्रश्न किया—तुम क्या कर रही हो? स्त्री ने कहा—तुष से माष को भिन्न कर रही हूँ। बस, इतना सुनकर मुनिराज को अपने गुरु द्वारा पढ़ाया हुआ वाक्य स्मरण हो आया और वे उतने शब्दों के अर्थ स्वरूप भाव श्रुत को प्राप्त कर उसीसे आत्मा में इतने तल्लीन हुए कि शुक्लध्यान द्वारा घाति कर्म रूप ईन्धन को भस्म कर दिया और नौ क्षायिक लब्धियों को प्राप्त किया अर्थात् केवलज्ञानी हो गये।

शास्त्र सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर उस ज्ञान का मद नहीं होना बहुत कठिन है, अर्थात् कला, चातुर्य, सिद्धांत, व्याकरण आदि में निपुणता प्राप्त करके भी गर्व नहीं होने देना, यह बात सुलभ नहीं है। इसी प्रकार अपने को कम ज्ञान है, जड़ता है, किसी भी विषय में निपुणता नहीं है, अन्य लोग हीन दृष्टि से देखते हैं तो भी तत् संबंधी खेद मन में नहीं आना, अपने में ज्ञान की कमी होने पर भी दुःखी नहीं होना, यथासंभव स्वाध्यायादि

में तल्लीन रहना मुनियों का अज्ञानपरीषहजय है।

सावधान वर्तें निशि वासर, संयम शूर परम वैरागी।
पालत गुप्ति गये दीरघ दिन, सकल संघ ममता परित्यागी।
अवधिज्ञान अथवा मनपर्यय केवल ऋद्धि अजहुं न जागी।
यों विकल्प नहिं करे तपोनिधि, सो अज्ञानजयी बड़भागी॥

अदर्शन-परीषहजय

❑ डॉ. रमेशचन्द्र जैन

क्षुधादिवेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उस वेदना को सह लेना-परीषह का जीतना परिषहजय है। अन्तिम परिषह अदर्शन परिषह है। इसका लक्षण बतलाते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि परम वैराग्य की भावना से मेरा हृदय शुद्ध है, मैंने समस्त पदार्थों के रहस्य को जान लिया है, मैं अरहन्त, आयतन साधु और धर्म का उपासक हूँ, चिरकाल से मैं प्रव्रजित हूँ, तो भी मेरे अभी तक भी ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ है। महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वालों के प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न हुए, यह सब प्रलाप मात्र है, यह प्रव्रज्या अनर्थक है, व्रतों का पालन निरर्थक है—इत्यादि बातों का दर्शन विशुद्धि के योग से मन में नहीं विचार करने वाले के अदर्शन-परिषह जय जानना चाहिए। दर्शनमोह के सद्भाव में अदर्शन परिषह होती है। इसकी व्याख्या करते हुए सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री ने कहा है—दर्शनमोह से यहाँ सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति ली गयी है। इसका उदय रहते हुए, चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं। सम्यक्त्व के रहते हुए भी आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में नाना विकल्प होना 'चल' दोष है। जिस प्रकार जल के स्वच्छ होते हुए भी उसमें वायु के निमित्त से तरङ्ग माला उठा करती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष यद्यपि अपने स्वरूप में स्थिर रहता है तथापि सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से आप्त, आगम और पदार्थ के विषय में उसकी बुद्धि चलायमान होती रहती है यही चल दोष है। मल का अर्थ मैल है। शङ्कादि दोषों के निमित्त से सम्यग्दर्शन का मलिन होना मल दोष है, यह भी सम्यक्त्व मोहनीय के उदय में होता है तथा अगाढ़ का अर्थ है—स्थिर न रहना। सम्यग्दृष्टिजीव लौकिक प्रयोजन वश कदाचित्

तत्त्व से चलायमान होने लगता है। उदाहरणार्थ, अन्य अन्य का कर्ता नहीं होता, यह सिद्धान्त है और सम्यग्दृष्टि इसे भली प्रकार जानता है, पर रागवश वह इस सिद्धान्त पर स्थिर नही रह पाता। वह परमार्थिक कार्य को भी लौकिक प्रयोजन का प्रयोजक मान बैठता है। इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से ये तीन दोष होते हैं। ये तीनों एक हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय की दृष्टि से यहाँ इन्हें पृथक्-पृथक् परिगणित किया है। यहाँ इसी दोष को ध्यान में रखकर अदर्शन परीषह का निर्देश किया है कि यह दर्शनमोहनीय के उदय से होता है, इसलिए इसे दर्शनमोहनीय का कार्य कहा है। भोजनादि पदार्थों के न प्राप्त होने से अलाभ को लाभान्तराय कर्म का कार्य कहा है। पर के लाभ को स्व का लाभ मानना मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय का कार्य है। इसलिए यहाँ इसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ तो अलाभ परिणाम किसके उदय में होता है, इसका ही विचार किया गया है। इस प्रकार अदर्शनभाव मोहनीय कर्म का और अलाभ भाव लाभान्तराय कर्म का कार्य है। यह निश्चित होता है।

यहाँ विशिष्ट कारण दर्शनमोह को कहा गया है। अतः यहाँ अवधिदर्शन आदि विषयक सन्देह नहीं रहता है। यद्यपि दर्शन के श्रद्धान और आलोचन ये दो अर्थ होते हैं। पर यहाँ मति आदि पाँच ज्ञानों के अव्यभिचारी श्रद्धानरूप दर्शन का ग्रहण है। अलोचन रूप दर्शन श्रुत और मनःपर्यय ज्ञानों में नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं है। यद्यपि अवधिदर्शन आदि के उत्पन्न होने पर भी 'इसमें वे गुण नहीं हैं' आदि रूप से अवधिदर्शन आदि सम्बन्धी परीषह हो सकती हैं, पर वस्तुतः ये दर्शन अपने अपने ज्ञानों के सहचारी हैं, अतः अज्ञान परीषह में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश के अभाव में प्रताप नहीं होता, उसी तरह अवधिज्ञान के अभाव में अवधिदर्शन नहीं होता। अतः अज्ञानपरीषह में ही उन-उन अवधिदर्शन भाव आदि परीषहों का अन्तर्भाव है। इसी प्रकार श्रद्धानरूप दर्शन को ज्ञानाविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञा परीषह में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि कभी-कभी प्रज्ञा के होने पर भी तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव देखा जाता है, अतः व्यभिचारी है।

दर्शनमोह के तीन भेद हैं-१. सम्यक्त्व, २. मिथ्यात्व और ३. तदुभय। दर्शनमोह बन्ध की अपेक्षा एक होकर भी सत्कर्म की अपेक्षा तीन प्रकार का है। इन तीनों में से जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरुत्सुक तथा हिताहित का विचार करने में असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है। वही मिथ्यात्व जब शुद्ध परिणामों के कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है और उदासीन रूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है, तब सम्यक्त्व है। इसका वेदन करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीण मदशक्तिवाले कोदों के समान अर्द्धशुद्ध स्वरस वाला होने पर तदुभय कहा जाता है। इसी का दूसरा नाम सम्यग्मिथ्यात्व है। इसके उदय से अर्द्धशुद्ध मद शक्ति वाले कोदों और ओदन से प्राप्त हुए मिश्र परिणाम के समान उभयात्मक परिणाम होता है।

दर्शनमोहरूप जीव की अवस्था का वर्णन टोडरमल जी ने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। उनके कथनानुसार दर्शनमोह के उदय से जो मिथ्यात्वभाव होता है, उससे यह जीव अन्यथा प्रतीति रूप अतत्त्व श्रद्धान करता है। जैसा है वैसा तो नहीं मानता और जैसा नहीं है, वैसा मानता है। अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी अनादिनिधन वस्तु आप है और मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादिकों से रहित, जिनका नवीन संयोग हुआ, ऐसे पुद्गलादि पर हैं, इनके संयोग रूप नाना प्रकार की मनुष्य तिर्यंचादिक पर्यायें होती हैं— उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण करता है, स्व-पर का भेद नहीं कर सकता। जो पर्याय प्राप्त करे, उस ही को आप रूप मानता है। उस पर्याय में जो ज्ञानादिक हैं वे तो अपने गुण हैं और रागादिक हैं वे अपने कर्मनिमित्त से औपाधिक भाव हुए हैं तथा वर्णादिक हैं वे शरीरादिक पुद्गल के गुण हैं और शरीरादिक में वर्णादिकों का तथा परमाणुओं का नाना प्रकार पलटना होता है, वह पुद्गल की अवस्था है। वह इन सबको ही अपना स्वरूप मानता है, स्वभाव का विवेक नहीं हो पाता। मनुष्यादि पर्यायों में धन, कुटुम्ब आदि का सम्बन्ध होता है, वे प्रत्यक्ष अपने से भिन्न हैं तथा वे अपने अधीन नहीं परिणमित होते, तथापि उनमें ममकार करता है कि ये मेरे हैं, वास्तव में वे किसी प्रकार अपने नहीं होते हैं। (मोही जीव) मनुष्यादि पर्यायों में कदाचित् देवादि की या तत्त्वों की अन्यथा स्वरूप जो कल्पित क्रिया है, उसकी प्रतीति तो करता है, परन्तु यथार्थ स्वरूप जैसा है, वैसी प्रतीति नहीं करता। इस प्रकार दर्शनमोह के उदय से जीव को अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्याभाव होता है। जहाँ तीव्र उदय होता है, वहाँ सत्यश्रद्धान से बहुत विपरीत श्रद्धान होता है। जब मन्द उदय होता है तो सत्यश्रद्धान से थोड़ा विपरीत श्रद्धान होता है।

आचार्य पूज्यपाद ने मोह की परिणति के विषय में कहा है—

> मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
> मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनक्रोद्रवैः॥

अर्थात् मोह से आवृत ज्ञान वाला व्यक्ति स्वभाव को प्राप्त नहीं करता है, जिस प्रकार मदनकोद्रवों से मत्त हुआ व्यक्ति पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है।

दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से, जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसा भव्य जीव राग और द्वेष की निवृत्ति के लिए सम्यक्चारित्र को धारण करता है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

> मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
> रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचार-४७)

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा उत्कृष्टपने को प्राप्त होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा जाता है।

जिस प्रकार मूल कारण बीज के न होने पर वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में मूलकारण सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की फलोत्पत्ति नहीं हो सकती है—

विद्यावृत्तस्य सम्भूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचार-३२)

ऊपर सम्यक्त्व के मूलों में शङ्कादिक दोषों का उल्लेख किया गया है। ये पाँच हैं-१. शङ्का, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. संस्तव और ५. अन्यदृष्टिप्रशंसा।

निःशङ्कितत्व आदि के प्रतिपक्षी शङ्का आदि हैं। मिथ्यादृष्टि के ज्ञान-चारित्र गुणों का मन से अभिनन्दन करना प्रशंसा है तथा वचन से विद्यमान-अविद्यमान गुणों का कथन संस्तव है।

अदर्शन परीषह सहन करने हेतु दर्शन विशुद्धि भावना का योग आवश्यक है। अकलङ्कदेव ने कहा है—

"आर्तरौद्रध्यानपरिणामसंक्लेशस्तदभावो विशुद्धिरात्म-स्वात्मन्यस्थानम्-अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान परिणामों को संक्लेश कहते हैं और उसके अभाव को अर्थात् धर्मध्यान, शुक्लध्यान रूप परिणामों को विशुद्धि कहते हैं। उस विशुद्धि के होने पर ही आत्मा में स्थिरता होती है। आचार्य विद्यानन्द ने कहा है—

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः त एव संक्लेश परिणाम इति न विरुध्यते तेषामार्त्तरौद्रध्यानपरिणामकारणत्वेन संक्लेशाङ्गत्ववचनात्।"

अर्थात् बन्ध के कारण मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ही संक्लेश परिणाम है और क्योंकि वे आर्त्त और रौद्र ध्यानरूप परिणामों के कारण हैं, इसीलिए उन्हें संक्लेश का कारण कहा है।

जयधवला भाग (४ पृष्ठ १४१) में वीरसेन स्वामी ने लिखा है—

"का नाम विसोही? जेसुपरिणामेसु समुप्पण्णेसु कसायाणं हाणि होदि। थिर, सुह, सुभग, साद सुस्सरादीणं सुहपयडीणं बंध च ते परिणामा विसोहीणा"।

अर्थात् जीव के जिन परिणामों के होने पर कषायों की हानि होती है स्थिर, शुभ, सुभग, साता और सुस्वर आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उन परिणामों का नाम विशुद्धि है।

सम्यग्दर्शन सहित विशुद्धि का नाम दर्शनविशुद्धि है। यह उसी के होती है, जिसकी जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग में रुचि हो।

दर्शनविशुद्धि के आठ अंग हैं—इहलोक, परलोक, व्याधि, मरण, अगुप्ति, अरक्षण और आकस्मिक इन सात भयों से मुक्त रहना अथवा जिनोपदिष्ट तत्त्व में 'यह है या नहीं' इस प्रकार की शङ्का नहीं करना निःशङ्कित अङ्ग है। धर्म को धारण करके इस लोक और परलोक में विषयोपभोग

की आकांक्षा नहीं करना और अन्य मिथ्यादृष्टि सम्बन्धी आकांक्षाओं का निरास करना निःकांक्षित अङ्ग है। शरीर को अत्यन्त अशुचि मानकर उसमें शुचित्व के मिथ्यासंकल्प को छोड़ देना अथवा अर्हन्त के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में 'यह अयुक्त है, घोर कष्ट है, यह सब नहीं बनता' आदि प्रकार की अशुभ भावनाओं से चित्तविचिकित्सा नहीं करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है। बहुत प्रकार के मिथ्यानयवादियों के दर्शनों में तत्त्वबुद्धि और युक्तियुक्तता को छोड़कर मोहरहित होना अमूढ़दृष्टिता है। उत्तमक्षमादि धर्मभावनाओं से आत्मा की धर्मवृद्धि करना उपबृंहण है। कषायोदय आदि से धर्मभ्रष्ट होने के कारण उपस्थित होने पर भी अपने धर्म से परिच्युत नहीं होना उसका बराबर पालन करना स्थितिकरण है। जिनप्रणीत धर्मामृत से नित्य अनुराग करना वात्सल्य है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशमान करना प्रभावना है।

इस प्रकार दर्शनविशुद्धि के योग से अपने श्रद्धान को दृढ़ करना अदर्शन परीषह-जय है। मुनि को इसे अवश्य ही धारण करना चाहिए।

मैं चिरकाल घोर तप कीना अजहूं ऋद्धि अतिशय नहीं जागे।
तप बल सिद्धि होय सब सुनियत सो कुछ बात झूठ सी लागे।
यों कदापि चित में नहिं चिन्तित समकित शुद्ध शांति रस पागे।
सोई साधु अदर्शन विजई ताके दर्शन से अघ भागे॥

सल्लेखना में विवेक-शुद्धि

❑ *स्व. आचार्य श्री श्रेयांससागरजी*

भक्त ने भगवान् के चरणों में मस्तक झुका दिया। अन्तस् से वाणी फूट पड़ी—हे भगवन्! मेरे दुःखों का क्षय हो। भगवान् का उत्तर मिला—वत्स! जब तक तेरे कर्मों का क्षय नहीं होगा तब तक दुःखों का क्षय नहीं हो सकता। भक्त फिर पुकार उठा—भगवन्! मेरे कर्मों का क्षय हो। फिर भगवान् का उत्तर था—कर्मों का क्षय तब तक नहीं हो सकता जब तक बोधि का लाभ नहीं। भक्त ने कहा—भगवन्! मुझे बोधि की प्राप्ति हो। उत्तर मिला—तब तक बोधि की प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक सुगति में गमन नहीं हो। भक्त ने कहा—भगवन्! मेरा गमन अच्छी गति में हो। फिर उत्तर मिला—तब तक सुगति में गमन नहीं हो सकता जब तक 'समाधि-मरण' नहीं हो। भक्त ने कहा—मुझे समाधिमरण प्राप्त हो। तात्पर्य है—प्रतिदिन प्रार्थना करो कि हे भगवन्! मेरे—

(१) दुःखों का क्षय हो।

(२) कर्मों का क्षय हो।

(३) बोधि की प्राप्ति हो।

(४) सुगति में गमन हो।

(५) समाधिपूर्वक मरण हो।

समाधि का दूसरा नाम है 'सल्लेखना'—'सत्'- सम्यक्प्रकारेण स्वर्गादिफल-निरपेक्षत्वेन 'लेखना'-कायकषाययोः कृषीकरणम् इति सल्लेखना—समीचीन प्रकार से काय और कषायों का निग्रह करना सल्लेखना है। जैन ऋषि, मुनि या श्रावक अपने जीवन में अहिंसा-धर्म के पालक, स्व और पर के रक्षक होते हैं। ये आत्महत्या कभी भी नहीं करते हैं। जैसे धीर-वीर, योद्धा सेना के साथ कुशल पीलवान के द्वारा नियन्त्रित गन्धहस्ती पर सवार होकर शत्रुओं को जीतता है वैसे ही धीर-वीर मुमुक्षु व्रतरूपी सेना के साथ उच्च ज्ञानरूपी पीलवान के द्वारा नियन्त्रित निर्दोष सम्यग्दर्शन रूपी गन्धहस्ती पर आरूढ़ होकर समाधि रूपी शस्त्र के द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है।

"जातस्य हि ध्रुवोर्मृत्यु ध्रुवः जन्म मृतस्य च"

अर्थात् जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसका मरण होता है उसका जन्म निश्चित है।

"तप करते यौवन गयो, द्रव्य गयो मुनि दान।
प्राण गये संन्यास में तीनों गये न जान"।

सभी मृत्यु से बचने के उपाय तो करते हैं पर मृत्यु की विधिवत् तैयारी प्रायः कोई नहीं करता। व्यवहार में गृह-निर्माण, पाक-कला, पठन-पाठन, शादी, व्यापार आदि सबकी विधि है। वैसे ही मृत्यु की भी विधि है जिसे केवल जैनाचार्यों ने बतायी है। जैनाचार्यों ने आत्महत्या या अन्य क्रियाओं से मरण को अमंगल बनाने की सलाह कभी नहीं दी। अकलंकदेव ने लिखा है—आत्मा अजर-अमर है। शरीर का मरण है क्योंकि वह नश्वर है। वर्तमान शरीर से उसका पृथक् होना ही मृत्यु है। यदि साधक के अन्तर में सच्ची श्रद्धा है कि आत्मा अजर-अमर है तो शरीर त्यागने के पूर्व वह कषायों को विधिवत् क्षीण कर आहार आदि का क्रमशः त्याग कर इस शरीर का त्याग करता है, तो उनकी मृत्यु भी महोत्सव बन सकती है। आचार्यों ने सत्रह प्रकार के मरण बताये हैं। उनमें पाँच मरण विशेष उल्लेखनीय हैं—

पंडिदपंडिद-मरणं पंडिदयं बाल पंडियं चेव।
बालमरणं चउत्थं, पंचमं बाल-बालं च॥

अर्थात् १. पंडित-पंडित मरण, २. पंडितमरण, ३. बालपण्डितमरण, ४. बालमरण और ५. बाल-बालमरण।

(१) पंडित-पंडितमरण—केवली भगवान के शरीर त्याग करने को पंडित-पंडितमरण कहते हैं।

(२) पंडितमरण—संयत मुनिराज (७ से ११वें गुणस्थानवर्ती मुनियों) का मरण पंडितमरण है।

(३) बालपंडितमरण—संयतासंयत व्रती—देशसंयमी का मरण बाल-पंडितमरण है।

(४) बालमरण—असंयमी सम्यग्दृष्टि जीव का मरण बालमरण है।

(५) बाल-बालमरण—मिथ्यादृष्टि के मरण को बाल-बाल मरण कहते हैं। क्योंकि इनके सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अभाव होता है।

समाधिमरण की ओर अग्रसर मुनि या श्रावक के लिए शुद्धियों की नितान्त आवश्यकता है। समाधि के लिए पाँच शुद्धियाँ आवश्यक हैं—(१) आलोचना-शुद्धि, (२) शय्या-संस्तर-शुद्धि, (३) उपकरण-शुद्धि, (४) भक्तपान शुद्धि और (५) वैय्यावृत्यकरण शुद्धि।

(१) आलोचना-शुद्धि—मायाचार-छल-कपट-रहित होकर, जो अपने अपराधों को गुरु के सम्मुख नहीं प्रकट करता उसकी आत्मा मलिन रहती है। दोषों को प्रकट कर देने पर आत्मा स्वच्छ हो जाती है।

(२) शय्या-संस्तर-शुद्धि—शय्या (वसतिका) और संस्तर में उद्गम-उत्पादनादि दोषों को नहीं

लगाना तथा "यह शय्या व संस्तर मेरा है" ऐसा ममत्व न रखना शय्या-संस्तर-शुद्धि है। जो शय्या-संस्तर में ममत्व रखता है वह परिग्रही माना जाता है। उसमें ममत्व का त्याग आत्मा को शुद्ध बनाने में सहायक है।

(३) उपकरण-शुद्धि—पिच्छी-कमण्डलु आदि भी उद्गमादि दोष रहित तथा ममत्व रहित होना चाहिए। उपकरण में भी ममत्व परिग्रह ही माना गया है। उपकरण भी हिंसादि पापों के जनक नहीं हों। निर्दोष उपकरणों में भी ममत्व का त्याग आत्मविशुद्धि का हेतु है।

(४) भक्तपान-शुद्धि—छियालीस दोष रहित भोजन-पान-ग्रहण करना, भक्तपान-शुद्धि है। निर्दोष भोजनपान में भी मोह रहने से परिणामों में विकलता रहती है अतः आत्मविशुद्धि के लिए भक्त-पान-शुद्धि आवश्यक है।

(५) वैय्यावृत्यकरण-शुद्धि—संयमी के योग्य सेवा, उस पद्धति का ज्ञान, वैय्यावृत्य-शुद्धि मानी गयी है। जिसको मुनि के योग्य वैयावृत्य का ज्ञान नहीं है, उसके वैयावृत्य-शुद्धि का अभाव है।

इन शुद्धियों से युक्त तथा समाधिधारण करने वाले, हँसते-हँसते मृत्यु को जीतने वाले महापुरुषों की मृत्यु 'महोत्सव' बन जाती है तथा उस समय आनन्द के गीत गाये जाते हैं।

'जिस मृत्यु से हम भय खाते हैं, उस मृत्यु का सामना मुनिराज उपर्युक्त शुद्धियों पूर्वक करते हैं। जिस प्रकार आपको पुराने घर, कपड़ा आदि छोड़कर नये को ग्रहण करने की इच्छा होती है उसी प्रकार योगीराज पुराने जीर्णकाय रूपी घर को छोड़कर, नये कायरूप घर में प्रवेशार्थ समाधि धारण करते हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—जो ज्ञानी और विवेकी मानव मरण को मांगलिक नहीं बना सकता उसके जीवन और पशु-जीवन में कोई भेद नहीं रहता। मरण को मंगल बनाने के लिए जीवन में धर्म व ज्ञान आवश्यक है। विश्व का ऐसा कोई धर्म नहीं है जो शांतिपूर्ण मरण को श्रेष्ठ नहीं बताता हो। विश्व का हर प्राणी शान्तिपूर्ण मरण की कामना करता है। अतः हमें शक्त्यनुसार मरण को शान्तिपूर्वक साधने की कला अवश्य सीखनी चाहिए। जिस मानव में धार्मिक संस्कार होते हैं, और मनोबल ऊँचा होता है, वह अन्त समय में अस्पतालों में नहीं मरता, वह डॉक्टरों की प्रतीक्षा नहीं करता, वह कभी औषधि की कामना नहीं करता। धर्मात्मा के लिए अन्तिम समय की औषधि है—आत्मशोधनपूर्वक अपूर्वचिन्तन—

(१) सब जीवों से क्षमा-याचना और सबको क्षमा करना।

(२) चार प्रकार के आहार का त्याग।

(३) ममता-मोह का त्याग।

(४) संसार एक धर्मशाला है।

(५) शरीर जीर्णकुटी है।

(६) परिवार—नाना देशों से आये हुए पक्षीसमूह की तरह है जो सायंकाल वृक्ष पर आते हैं व सुबह अपना-अपना कार्य करके उड़ जाते हैं।

(७) परमौषधि—"अरहंत सिद्ध साहु पार के लगाऊं। मैं धरूं ध्यान तेरा तू कर्म काट मेरा॥"

(८) परमोत्कृष्ट औषधि—आत्मा अजर अमर है। इसका नाश नहीं होता। मैं आत्मा हूँ, मेरा नाश नहीं होता। शरीर के नाश से मुझे हर्ष या विषाद क्यों? इन उपर्युक्त औषधियों का सेवन करने वाला धर्मात्मा अंतिम समय में शांतिपूर्वक 'अरिहंत-सिद्ध' उच्चारण करते हुए प्राणों का विसर्जन करता है जिसे समाधिमरण, मृत्यु-महोत्सव, सल्लेखना, भक्तप्रत्याख्यान आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

सल्लेखना-विवेक

चींटी चढ़ते-चढ़ते छत से गिर जाये तो उसका चढ़ना निरर्थक है। बालक पढ़ते-पढ़ते परीक्षा में फेल हो गया तो वह पढ़ने का फल नहीं है। मन्दिर पूरा बन गया शिखर नहीं चढ़ाया तो मन्दिर की शोभा नहीं। बड़ा विशाल महल बनाया पर गृहिणी नहीं तो महल की शोभा नहीं। सुन्दर रूपवती नारी है पर शील नहीं तो कुरूपा ही है। माँ के सत्पुत्र नहीं तो माँ की शोभा नहीं। उसी प्रकार जीवन भर धर्म करते रहे, व्रताचरण भी किया पर अन्त में समाधिपूर्वक मरण नहीं किया तो व्रतों की कोई शोभा नहीं।

चारित्र व संयम रूपी मन्दिर का शिखर समाधिमरण है। जन्म तो सभी प्राणी लेते हैं पर जीने की कला सबको नहीं आती है। जीने की सच्ची कला धर्म से ही आती है। जीने की कला के साथ-साथ मरण को मांगलिक बनाने की कला भी धर्म से ही संभव है।

समाधि क्या है?—इन्द्रियों और मन का दमन करना, कषायों का शमन करना, मिथ्यात्व का वमन करना, आत्मा में रमण करना, प्रभु का भजन करना, मोक्ष में गमन करना, बस यही तो समाधि है। समाधि के लिए मृत्यु से लड़ना, अपने में जमना, पर से हटना, भोगों से भागना, आत्मा का पड़ोसी बनना, आत्मा में ममत्व जोड़ना और मोक्ष-मार्ग में दौड़ लगाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि मानव-जीवन को सफल बनाने के लिए विधिवत् समाधि की तैयारी करे। समाधि में पाँच प्रकार का विवेक आवश्यक है—(१) इन्द्रिय-विवेक, (२) कषाय-विवेक, (३) उपाधि-विवेक, (४) भक्तपान-विवेक और (५) देह-विवेक।

(१) इन्द्रिय-विवेक—समाधि लेने के पूर्व मुनि या साधक के अपनी इन्द्रियों के सक्षम होने का पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है कि इन्द्रियाँ शिथिल हो रही हैं या हो चुकी हैं। आँखों से कम दिखने लगा अतः जीवों की रक्षा नहीं हो पा रही है। कान से सुनाई नहीं देता, पंचेन्द्रियों

की शिथिलता के कारण विवेकपूर्वक इन्द्रियों की वासना का दमन करने वाले समाधि-साधक का विवेक इन्द्रिय-विवेक कहलाता है।

(२) कषाय-विवेक—समाधिस्थ (क्षपक) को आत्मविशुद्धि के लिए कषायविवेक यानी बुद्धिपूर्वक क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग आवश्यक है। समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—सल्लेखना धारण करने वाला क्षपक स्नेह (राग) और द्वेष तथा मोह, चौबीस प्रकार के परिग्रह को छोड़कर, निर्मलचित्त वाला होकर अपने परिवार तथा समस्त नौकर-चाकरों को क्षमा करके, उन सबसे भी क्षमा करावे यही कषायविवेक है।

(३) उपाधि-विवेक—प्राचीन काल में व्यक्ति कुर्सी का त्याग करके सुखी था। आज कुर्सी की लड़ाइयाँ घर-घर में हैं। उपाधि भी बीमारी हैं। आचार्य, उपाध्याय पद भी उपाधियाँ हैं। जब संघनायक आचार्य सल्लेखना के लिए उद्यत होते हैं तब अपना आचार्य पद त्याग देते हैं। बुद्धिमान श्रावक अपने योग्य पुत्र पर घर का भार सौंप कर निश्चिन्त मरण को प्राप्त करता है। समाधिमरण में कुशल आचार्य अपने योग्य शिष्य को आचार्य पद का भार सौंप देते हैं। वे आचार्य पद के लिए सक्षम मुनि को अन्य मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं के मध्य बिठाकर पूरे संघ को सूचित करते हैं कि मैंने इतने समय तक संघ की सेवा की है, अब मैं आत्म-कल्याण करने के लिए संघ से अपना संबंध छोड़ता हूँ और इस पद पर आगम के वेत्ता उत्तम शील स्वभाव वाले व्यवहार-निपुण इस साधु को नियुक्त करता हूँ। ये अपना और आपका उद्धार करेंगे। अत. आप लोगों को इनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य अपनी उपाधि का त्याग कर आत्मशोधन में तत्पर हो जाते हैं। उपाधियाँ विकल्प की जननी हैं अतः उपाधियों का त्याग ही 'उपाधिविवेक' है।

(४) भक्तपान-विवेक—सल्लेखनाधारी (क्षपक) की सल्लेखना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का है। आचार्य शिवकोटि ने लिखा है—मुमुक्षु को बारह वर्ष पहले से मरने की तैयारी करनी चाहिए। उस बारह वर्ष की अवधि में भक्त-पान का विवेक उल्लेखनीय है। संयमी प्रथम चार वर्ष का काल अनेक प्रकार के तपश्चरण में बिताये। उन चार वर्षों में, अपने परिणामों को निर्मल बनाते हुए, कायक्लेश तप का आचरण करे। अगले चार वर्षों में संयमी दूध, दही, घृत, गुड़ आदि रसों का त्याग करते हुए, रूक्षादि आहार कर शरीर को कृश करे। इससे काया कृश होगी, परिणाम निर्मल होने से कषाय भी कृश होगी। अन्तिम के चार वर्षों में पहले दो वर्ष (आचाम्ल, कांजी) भोजन, चटनी, शाकादि स्वाद रहित भोजन करके बिताये तथा अन्तिम दो वर्षों में से एक वर्ष आचाम्ल भोजन से बिताये। अन्तिम एक वर्ष के प्रथम छः मास में मध्यम तपस्या का अनुष्ठान कर, शरीर को कृश करे तथा अन्तिम छः मास में उत्कृष्टोत्कृष्ट काय-क्लेश कर शरीर को क्षीण करे। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता-प्रतिकूलता से तपस्या का अनुष्ठान और आहारादि ग्रहण व त्याग करना चाहिए।

समन्तभद्र स्वामी संक्षेप में कहते हैं कि—सल्लेखनाधारी साधक अशन, खाद्य व लेह्य के क्रम से आहार का त्याग करके, दुग्धादिक का ग्रहण करता रहे, बाद में उसका भी त्याग करके छाछ ग्रहण करे, फिर उसका भी त्याग करके गर्म जल ग्रहण करे, तदनन्तर उष्ण जल का भी त्याग करके अपनी शक्ति अनुसार उपवास करके सर्वप्रयत्न से पञ्चनमस्कार मंत्र को मन में स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़े।

(५) देह-विवेक—सल्लेखनाधारी मुनि या श्रावक अपनी आयु का निर्णय करे। शरीर की स्थिति देखकर कार्य करे। निमित्तज्ञानी, विशेष विवेक गुरु आदि से अपने वर्तमान शरीर की आयु का निर्णय कर के आगे साधना-मार्ग में विवेक बढ़ाये।

आचार्यों का उपदेश है कि आपकी शक्ति नहीं है तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त ४८ मिनट के लिए भी समाधिमरण धारण कर लो। मोह-ममता का त्याग कर, प्रभु भजन में मग्न हो जाओगे तो तुम्हारा जीवन सुधर जायेगा।

सल्लेखना का फल—आचार्य कहते हैं, जो एक बार भी समाधिपूर्वक मरण करता है वह जघन्य से सात-आठ भव तथा उत्कृष्ट से दो-तीन भव से अधिक संसार में नहीं टिकता।

"जहण्णेण सत्तट्ठभव उक्कसेण दो तिण्णिभव गहणाणि।"

धर्मरूपी अमृत का पान करने वाला सल्लेखनाधारी जीव समस्त प्रकार के दुःखों से रहित होता हुआ अपार दुर्लभ उत्कृष्ट उदय वाले मोक्ष स्वरूप के सुख के समुद्र को पीता है या अनुभव करता है।

समाधि—आधि, व्याधि, उपाधि से रहित अवस्था समाधि है। जीवन भर तप, व्रत, संयम, पूजा, अनुष्ठान किया। अन्त समय जिसके शारीरिक, मानसिक पीड़ा और उपाधि यानी आचार्य, उपाध्याय या प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति आदि उपाधियों का रोग नहीं है वही जीव जीवन के अन्त में समाधिमरण कर सकता है।

समाधिमरण जीवनरूपी महल का शिखर है। जिस प्रकार मंदिर में मूर्ति है, शिखर नहीं तो उसकी शोभा नहीं उसी प्रकार जीवन भर संयम, व्रत, पूजा, दान किया लेकिन अन्तिम समय में समतापूर्वक शरीर का त्याग नहीं किया तो संयमादि की कोई शोभा नहीं है। नीतिकार कहते हैं—समय का भरोसा नहीं। काल किस समय कवलित कर ले, अतः मृत्यु को सन्निकट जानकर सदैव परिणामों को निर्मल रखो, धर्म धारण करो।

जीने की कला हर प्राणी सीखता है पर जैनाचार्य ने मरण की कला भी सिखायी है। जन्म को हर प्राणी मांगलिक कहता है परन्तु जैनाचार्य ने मरण को भी मांगलिक कहा है इसीलिए मृत्यु को केवल उत्सव नहीं 'मृत्यु-महोत्सव' कहा। संसार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है परन्तु सदैव जीवित नहीं रह सकता तथा कभी मरना नहीं चाहता है पर मरना अवश्य ही होगा—मरण ही आगामी जीवन का प्रारम्भ है। दिगम्बर साधु मृत्यु से डरते नहीं वरन् मृत्यु

को आमन्त्रण देकर, खुशी-खुशी शरीर का त्याग करते हैं। समाधिमरण का दूसरा नाम सल्लेखना है।

दिगम्बर साधु की चर्या अलौकिक होती है। आचार्य कहते हैं कि एक समाधिमरण सुधारना और एक करोड़ मन्दिर बनवाना—दोनों का पुण्य बराबर है।

एक बार के समाधिमरण में अनेको भवों के संस्कार, जीवन की कठोर साधना का रहस्य छिपा है। त्याग, सुसंस्कार एवं संयम की साधना के बिना मरण कभी भी मंगल नहीं बनता है। मरण को मंगलमयी बनाने के सरल उपाय हैं—

प्रतिदिन भावना करना चाहिए—कि हर समय अरहन्त का नाम सुनूँ और अरहंत सिद्ध कहते-कहते मेरी आयु पूर्ण हो।

प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है, रात्रि में सोते समय सीमित परिग्रह का नियम कर अन्य का त्याग करे। खाने-पीने का त्याग कर, सोये। यदि सोते-सोते ही प्राण निकल गये तो संयमपूर्वक मृत्यु होगी।

प्रतिदिन भोजन के बाद, पानी पीने के बाद १-२ घंटे के लिए उनका त्याग कर देना चाहिए। इतना भी नहीं कर सकते हो तो खाने के बाद, 'जब तक पुनः नहीं खायेंगे तब तक का त्याग है, इतना भी नियम कर लें तो धीरे-धीरे संयम संस्कार मजबूत बन जायेंगे। संयमपूर्वक जीवन बीतेगा। असंयमी जीव की अन्तिम समय में बुरी दशा होती है। इस सम्बन्ध में एक कहानी है—एक सेठ जी के ४ लड़के, ३ लड़कियाँ, पोता-पोती सब थे। सेठ जी बीमार थे, जीवन का अन्तिम क्षण गिन रहे थे। चारों ओर सारा परिवार भगवान का नाम सुनाने में मग्न था। सेठजी आँखें फाड़-फाड़कर चारों ओर देख रहे थे। बड़े लड़के ने कहा—पिताजी, किसको याद कर रहे हो? चारों बेटे-बेटियाँ हम सब यहीं आपकी सेवा में हैं। सेठजी गुस्से में चिल्लाये—तुम मेरे पास खड़े हो तो दुकान पर कौन है? परिग्रही सेठजी के उसी समय प्राण निकले और वे दुकान में धन की रक्षार्थ सर्प बन गये।

किसी से बैर नहीं रखते हुए क्षमाभाव धारण करना चाहिए। अधिक त्याग नहीं कर सकते तो कम से कम ४८ मि. पहले भी जिसने आहार-पानी का त्याग किया है उसकी मृत्यु समाधिपूर्वक होगी।

✧✧✧

विरोध अकालमरण का, पोषण नियतिवाद का

❑ पं. श्यामसुन्दरलाल शास्त्री

'अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा' अज्ञान से अथवा प्रमाद से जिनागम के विरुद्ध बोला जाना, लिखा जाना कदाचित् अल्प पापबंध या अबन्ध का कारण हो सकता है किन्तु यदि अहंमन्यता या पंडितमन्यता के कारण यह प्रक्रिया अपनायी जाती है तो यह अवश्य ही तीव्रातितीव्र अशुभ कर्मबन्ध का कारण हो जाता है और घोर श्रुतावर्णवाद के कारण दर्शनमोहनीय का, जो अनन्त संसार का कारण है, ससम्मान आमन्त्रण हो जाता है।

साधारणतया देखा जाता है कतिपय सज्जन पन्थव्यामोह, खेमाबन्दी अथवा स्वल्पकालिक आर्थिक लाभ या ख्यातिलाभ के कारण जनसाधारण में आगमविरुद्ध बोलने में संकोच नहीं करते और अपने खेमे के पत्रों में यथार्थता के विपरीत कुयुक्तियों से लच्छेदार भाषा में अपना अनागमिक पक्ष सिद्ध करते रहते हैं। साधारण या स्वल्पज्ञानी लोग तात्कालिक प्रभाव में बह जाते हैं। जिसे अपना माथा लगाने का समय नहीं—माथा लगाना आता नहीं, अथवा बुद्धि होते हुए भी, उसे व्यक्त करने का तरीका नहीं है और साहस भी नहीं है वह ऐसे अनागमिक—सुविधापूर्ण मार्ग का पथिक बन जाता है।

सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यप्रवर नेमिचन्द्र की निम्नलिखित दो गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं :—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा॥२७॥गो.जी.कां॥

सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी॥२८॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव जिनोपदिष्ट तत्त्व का श्रद्धान करता है। कदाचित् गुरु के अन्यथोपदेश से या अज्ञानतावश अन्यथा श्रद्धान भी कर बैठता है वहाँ तक उसके सम्यक्त्व का विनाश नहीं होता है किन्तु यदि कोई वस्तुतः तत्त्ववेत्ता उसे आगम से यथार्थता का परिज्ञान कराता है फिर भी वह अपनी अयथार्थता को बदलता नहीं, तो उसी समय से वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

ये दो गाथायें उन भ्रमित भाईयों को अमृततुल्य हैं जिन्होंने किसी प्रकार की चकाचौंध में गृहीतमिथ्यात्व अंगीकृत कर लिया है और अपना तत्त्वश्रद्धान भगवान् कुन्दकुन्द की दुहाई के साथ साथ मिलावट से प्रदूषित कर लिया है। इस प्रसंग में आचार्यश्री की यह गाथा कितनी वस्तुपरक है—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छाइट्ठि मुणेयव्वो॥३८॥भ.आ.॥

जिनवाणी का विपुल ज्ञानी भी यदि भगवत्-जिनोक्त एक पद या अक्षर को भी अप्रामाणिक मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

विगत कुछ वर्षों से अकालमृत्यु या अकालमरण को लेकर यथार्थता से बहुत दूर जो वातावरण निर्मित हुआ है वह सर्वथा आगमविरुद्ध तो है ही, निष्क्रियता का जन्मदाता, नियतिवाद का पोषक, आत्मकल्याण का विनाशक और मुमुक्षुता की गन्ध से भी बहुत दूर है।

अकाल-मरणः- अकाल+मरण शब्द इन दो शब्दों का संयोगी शब्द है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में 'स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणं,' अर्थात् अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन वचन काय इन तीन बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है—यह मरण शब्द की व्याख्या है। इन्द्रियों और बलों का सद्भाव या अभाव निश्चित रूप से आयु के सद्भाव और अभाव पर निर्भर करता है और इसीलिए धवलाकर ने पुस्तक १३ में 'आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात्' आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना है। 'अनुभूयमानायुःसंज्ञक पुद्गलगलनं मरणं' इस प्रकार आयुकर्म के विनाश को ही सभी आचार्यों ने मरण की संज्ञा प्रदान की है। जिस प्रकार ज्ञानावरणीय आदि सात कर्म प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार बंध युक्त हैं उसी प्रकार यह आयुकर्म भी चारों बन्धयुक्त है। जिस प्रकार अन्य कर्मों की स्थिति नियत है उसी प्रकार इस आयुकर्म की स्थिति नियत है। जिस भव में बध्यमान आयु जिन परिणामों से जिस परिमाण में बाँधी गई है उस भव में उन परिणामों के परिणमनवशात् अग्रिम भव की आयु की स्थिति घट भी सकती है, बढ़ भी सकती है। महाराज श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में मृतसर्प को डालकर ३३ सागर की उत्कृष्ट नरकायु का बन्ध किया था, पश्चात् भगवान् वीर प्रभु के चरण सान्निध्य में शुभ परिणामों से उस स्थिति का ह्रास कर मात्र चौरासी हजार वर्ष नरकायु रह गई थी। उसी प्रकार प्रथम स्वर्ग की २ सागर की उत्कृष्ट आयुबन्ध करने वाला जीव सम्यग्दर्शन की विशुद्धि या विशिष्ट संयम के बल से कुछ अधिक सागर की स्थिति ले जाकर प्रथम स्वर्ग में भोग करता है। यह क्रम बारहवें स्वर्ग तक है।

देव नारकी जीव जितनी आयु-बंध की स्थिति होती हैं उतनी नियम से भोगते हैं। उसी प्रकार तद्भव मोक्षगामी एवं भोगभूमियाँ जीव भी पूरी आयु का भोग करते हैं। महान् सूत्रकार उमास्वामी का यह कथन —"औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" अटल और अनपवाद युक्त है। शेष जीव मनुष्य या तिर्यंच जितनी बध्यमान आयु लेकर चलते हैं उतनी पूरी का भी भोग करते हैं और बीच में कारणवशात् मरण भी कर जाते हैं। इसी का नाम अकालमरण है जैसा कि युगप्रवर्तक भगवान कुन्दकुन्द ने भावपाहुड़ में स्पष्ट किया है—

"विष खा लेने से, वेदना से, रक्त का क्षय हो जाने से, तीव्र भय से, शस्त्राघात से, संक्लेश की अधिकता से, आहार और श्वासोच्छ्वास के रुक जाने से आयु का क्षय हो जाता है।

धवलाकार ने पुस्तक १४ में किसी किसी क्षुद्रभवधारी सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव तक को भी कदलीघात (अकाल) मरण वाला निरूपित किया है। महान् तार्किकविभूति आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा सम्यग्दर्शन की महिमा में लिखा श्लोक ध्यान देने योग्य है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यक्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायु र्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥

अविरत शुद्ध सम्यक्दृष्टि जीव भी नरक (प्रथम रहित), तिर्यंच गति, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अपमृत्यु-अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते हैं।

राजवार्तिक में भगवान् अकलंकदेव की तर्कयुक्त देशना यहाँ कितनी प्रासंगिक है—

'अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्त्याभाव इति चेन्न दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् यथा अवधारित पाककालात्प्राक् सोपायोप्रक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकः तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणा प्रत्ययः आयुषो भवत्यपवर्तः' अर्थात्—अप्राप्त काल में मरण की उपलब्धि न होने से आयु के अपवर्तन (विनाश) का अभाव है? नहीं। जैसे पुआल आदि के संयोग से आम आदि को समय से पूर्व ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरणकाल से पहले भी उदीरणा के कारणों से आयु का क्षय हो जाता है।

कहाँ तक लिखा जाय उक्त कथन का सुप्रसिद्ध जैनागम श्लोकवार्तिक, धवला, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में विशद वर्णन-समर्थन मिलता है। स्वामी अकलंकदेव अपनी सशक्त वाणी में कहते हैं—

अकाल मृत्यु के निवारण के लिए ही आयुर्वेद और रसायन-शास्त्रों का सृजन किया गया है।

सारांश यह है कि नियमतः जो कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यंच अपने पूर्व भवान्त में आयुकर्म की जितनी स्थिति वाले निषेक साथ में लाये हैं उतनी स्थिति तक उनका उपभोग करते हैं किन्तु विपरीत कारणों के, जिन में कुछ का उल्लेख ऊपर (विष आदि) किया गया है, मिलने पर आयुकर्म के निषेक पूर्ण स्थिति से पूर्व झड़ जाते हैं (घड़ी की चाबी की भांति)। जिस प्रकार अन्य कर्मों की उदीरणा का आगम में वर्णन है उसी प्रकार (देव नारकी आदि अपवाद छोड़कर) आयुकर्म की भी उदीरणा हो जाती है। पं. दौलतराम जी का स्वर्णिम छन्द है—

निज काल पाय विधि झरना तासौं निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खपावे सो ही शिवसुख दरसावे॥५॥११॥छह॥

अपमृत्यु अनेकानेक जीवों की होती है। नारायण कृष्ण, सुभौम एवं ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती द्वय

एवं अनेक अर्धचक्री राजाओं की भी मृत्यु का उल्लेख अकालमृत्यु के रूप में पुराणशास्त्रों में पाया जाता है। सामान्य मनुष्य और तिर्यंचों की अकालमृत्यु तो आज साधारण बात हो गई है। जिनकी सकालता या अकालता हमारे ज्ञानगोचर नहीं है किन्तु उनके कारण अवश्य अकाल मृत्यु के भासते हैं।

इस प्रकार आगम के प्रकाश में अकालमृत्यु का होना वास्तविक तर्कसिद्ध—न्यायसंगत—कर्म-फलानुरूपी और आर्षपरम्परा से मान्य सिद्ध होता है, फिर भी हमारे कुछेक विद्वान् अपनी हठवादिता के कारण उक्त विषय में आचार्यप्रवर स्वामिकार्तिकेय की गाथा को ऊँचे स्वर में प्रमुखता देते हैं—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को टालेदुं सक्को इंदो वा अह जिणंदो वा॥

अर्थात्—जो जिसका जिस देश में जिस प्रकार से जिस काल में जन्म या मरण जिनेन्द्रदेव ने नियत रूप से जाना है उसका उस देश में उस प्रकार से उस काल में होना निश्चित है, उसें टालने में इन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं।

आचार्य के इस सहज और साधारण कथन को आधार बनाकर इतना तूल बाँध दिया है कि परमागम जिनागम की रीढ़ श्रमण संस्कृति ही चकनाचूर होने की स्थिति में आ पहुँची है।

यहाँ विचारणीय है कि जिनेन्द्र भगवान का ज्ञान और दर्शन अनन्त पदार्थों की अनन्त पर्यायों का ज्ञाता दृष्टा है या भगवान के दर्शन में तीन लोक की त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें युगपत् प्रतिभासित होती हैं उन पर्यायों को भगवान एक समय में जानते हैं उनका संचालन नहीं करते। भगवान् का ज्ञान कोई वैरोमीटर नहीं है जो बटन दबाते ही कक्षा में स्थित उपग्रह को धमाके के साथ कक्षा के बाहर करदे, यह काम बैटरी का है, परणति पदार्थ की है। दूरबीन की नहीं, दूरबीन देखती है, पदार्थ में परिवर्तन नहीं करती। पदार्थों की व्यतीत, वर्तमान एवं अनागत अनंत पर्यायों का ज्ञान केवलज्ञानी आत्मा की परिणति अथवा पर्याय है। चित्र लेते समय कैमरा द्वारा नाक पर बैठी मक्खी का चित्र आ जाना कैमरा का कार्य है, नाक पर मक्खी का बैठा देना नहीं।

जीवन और मरण में प्रधान कारण आयु कर्म का उदय, उदीरणा और क्षय है। उस आयु कर्म की स्थिति को ही काल की संज्ञा दी गई है, केवली के ज्ञान को नहीं। स्वामि कार्तिकेय की उक्त गाथा यही स्पष्ट करती हैं कि सभी जीव अपनी सभी पर्यायें स्वयं संचालित करते हैं। केवली भगवान उन्हें देखते जानते मात्र हैं, अणुमात्र भी उनमें परिवर्तन नहीं कर सकते। यदि केवली के ज्ञान से ही जीवन-मरण आदि पर्यायों को बांध दिया जावे तो कर्म की उदीरणा अवस्था ही समाप्त हो जावेगी, तदनुरूप ही उदय-उत्कर्षण-अपकर्षण भी शब्द मात्र रह जायेंगे, कार्यकारी नहीं। फिर तो "श्राम्यति इति श्रमणः" जो आत्ममार्ग की विशुद्धि में श्रम करता है

वह श्रमण है यह व्युत्पत्यर्थ मात्र रूढ़ि रह जायगा। इस स्थिति में "तपकरि जो कर्म खपावे" का सुसंगत सिद्धान्त क्या अभिप्राय रखेगा?

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय-तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥१२२॥र. श्रा.॥

स्वामिसमंतभद्र की इस अमृतमयीवाणी में शरीर छोड़ने की जिस असाधारण प्रक्रिया को अपनाने के लिए साहसी वीरों को आह्वान किया है वह किसी प्रकार तर्क संगत नहीं रहेगा। जबकि पदार्थ में अनागत सभी पर्यायें दीवाल में ईंटों के समान क्रमबद्ध चिनी हुई होंगी वह क्रम तो टूटेगा नहीं फिर सल्लेखना-अणुव्रत-महाव्रत-गुप्ति-समिति आदि केवल दंड-बैठक ही रह जावेंगे।

प्रायः नियतकालिक सल्लेखना धारण करने वाले सभी वीर श्रमणराज अकालमरण को ही आमन्त्रित करते हैं। वे तिल तिल सड़कर आयु के अन्तिम निषेक और क्षण की प्रतीक्षा नहीं करते, वीरवृत्ति से भारी पुरुषार्थ द्वारा शरीर से आत्मा को निकाल कर ले जाते हैं। इस प्रक्रिया में आयु का पूर्ण उपभोग भी हो सकता है और अकालमरण भी हो सकता है, इससे कुछ लेना देना नहीं है। आत्मपुरुषार्थ की निरन्तर जागरूकता में अकाल मरण हो जावे इसमें कोई दोष नहीं, दोष है दीनाशय होकर विवशता में शरीर छूट जानें में और 'जो जो देखी वीतराग ने' की आड़ में कोसों दूर पलायन में।

वीतराग प्रभु ने जो देखा है वह अवश्य ही होगा। यादवकुल चन्द्रमा नेमिप्रभु द्वारा द्वारावती दाह की भविष्यवाणी सुनकर प्रद्युम्नकुमार-शंबुकुमार अनिरुद्धकुमार आदि शतशः सहस्रशः दिगम्बरी दीक्षा धारण कर गये, अनेक द्वारिका छोड़ गये, एक ऐसे भी थे जो भगवान की वाणी को चुनौती देने फिर द्वारिका लौट आये, अस्तु। उन्हें तो भगवान की वाणी सुनने का साक्षात् सुअवसर मिला था तदनुसार अपनी-अपनी श्रद्धानुसार उन्होंने आचरण किया किन्तु आज हमें तो श्रीमज्जिनेंद्र के मुख से वाणी सुनने का अवसर ही उपलब्ध नहीं है और कोई कान में चुपके से कह भी नहीं गया है। क्यों न हम फिर चित्र का दूसरा पहलू उठाकर देखें। आर्यक्षेत्र, मनुष्यजन्म, उत्तम कुल, दिगम्बर धर्म, निर्ग्रन्थ साधु समागम, भव्य देशना हमें इस निकृष्ट कलिकाल में प्राप्त हुई है। अवश्य ही अगले कुछ भवों में मोक्षप्राप्ति की बलवती सम्भावना है, सम्मेदशिखर तीर्थराज की वन्दना अधिक से अधिक ४१ भवों का संकेत है। यदि समाधिपूर्वक मरण हो जावे तो ७-८ भवों में ही परिगमन का वीसा प्राप्त समझिये। इस प्रकार अनुलोम विचार व चिन्तन की ओर क्यों नहीं बढ़ते। यदि प्रतिलोम विचार व चिन्तन है तो अवश्य ही किसी कंपा देने वाले पारिणामिक भाव के द्योतक हैं।

मृत्यु सकाल होवे या अकाल होवे इससे कोई वास्ता नहीं—कोई चिन्ता नहीं, वीतराग प्रभु से एक ही प्रार्थना है कि वह समाधिपूर्वक होवे। ◇◇◇

श्रावकाचार

श्रावकाचार

दशलक्षण धर्म

आर्यिका स्याद्वादमती

भाद्र मास के पावन दिवस हमारे को पुनीत करने के लिए आते हैं। भाद्र मास शिक्षा दे रहा है– "भद्र बनो' परिणामों में भद्रता लाओ। उत्तमक्षमादि धर्म को धारण करो।" यह पर्यूषण पर्व भाद्र शुक्ल पञ्चमी से क्यों प्रारम्भ होते हैं? इसका समाधान पुराणों में इस प्रकार है कि प्रलय के बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से ४९ दिन की सुवृष्टि होती है। इसके बाद उत्सर्पिणी का विकास होने लगता है। प्राणियों के विचारों में उत्कर्षता बढ़ने लगती है। ४९ दिनों के बाद भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी ही आती है। अतः पञ्चमी से यह पर्व आरम्भ होता है। १0 दिन तक यह पर्व बड़े उत्साह से मनाया जाता है।

जीवन का प्रकाश : उत्तम क्षमा

क्षमा-क्रोध के अभाव में जो गुण प्रकट होता है वह क्षमा है। अनगार धर्मामृत में कहा है–"सत्यपि सामर्थ्य अपकारसहनं क्षमा" बदला लेने की सामर्थ्य होने पर भी अपकार सहना क्षमा है।

यहाँ उत्तम शब्द अपनी विशेषता लिये है–मूलाचार में लिखा है-उत्तम-तम-अन्धकार, उत्=मूल से उखाड़ना। अनादिकालीन अन्धकार में फँसे जीवन को प्रकाश की किरणें प्राप्त कराने के लिए उत्तम शब्द सभी धर्मों के प्रारम्भ में दिया है। जीव के साथ तीन तम (अन्धकार) लगे हैं- (१) मिथ्यातम, (२) अज्ञानतम और (३) चारित्रमोहतम। उत्तमक्षमादि धर्म इन तमों का नाश कर धर्मरूपी सूर्य से आत्मा को प्रकाशित करते हैं।

क्षमा जीव का स्वभाव है, क्रोध विभाव और सम्यक्त्वपूर्वक की जाने वाली क्षमा उत्तम क्षमा है। यह साधुओं के सर्वदेश और गृहस्थों के एक देश होती है।

क्रोध में चेहरा लाल हो जाता है। उस समय यदि किसी का फोटो खींचकर उसे दिया जाये तो वह भी नहीं लेगा। क्रोधी के वचन टेप करिये, सुनने की इच्छा नहीं होगी। क्रोधी के सामने दर्पण रखिये, वास्तविकता का पता लगेगा। क्रोध एक अग्नि है।इसे क्षमारूपी जल से शान्त करना चाहिये। कामाग्नि ब्रह्मचर्य जल से, कर्माग्नि वैराग्य जल से, उदराग्नि अशन जल से शान्त होती है, वैसे ही क्रोधाग्नि क्षमारूपी जल से शान्त होती है। क्षमा वीरों का भूषण है। वह ज्ञान का आभूषण है–

नरस्याभरणं रूपं, रूपस्याभरणं गुणम्।

गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा॥

यशोधर मुनिराज के गले में श्रेणिक राजा ने मरा हुआ सर्प डाल दिया। क्षमाशील मुनिराज के सारे शरीर पर चींटियाँ काटने लगी, घाव पड़ गये। श्रेणिक ने पत्नी चेलना से कहा, "मैंने तेरे मुनि के गले में सर्प डाल दिया है।" चेलना दुःखी हुई। श्रेणिक ने कहा—"अरे घबराओ नहीं, तीन दिन हो चुके हैं, वे तो भाग गये होंगे।" चेलना सम्यग्दृष्टि थी; उसने कहा—"दिगम्बर साधु कभी भाग नहीं सकते। पतिदेव, आपने यह कुकृत्य किया और मुनिराज पर उपसर्ग किया इसकी मुझे चिन्ता नहीं। साधुओं का जीवन ही उपसर्ग परीषहों से घिरा रहता है। परन्तु खेद इस बात का है कि मुझ जैसी पत्नी के होते हुए मेरा पति सातवें नरक की आयु बाँधे यह असहनीय है।" श्रेणिक राजा चेलना की वेदना को समझ गया। अब क्या करें? दोनों मुनिराज के चरणों में पहुँचे। मुनिराज की वही ध्यानस्थ मुद्रा देख श्रेणिक आश्चर्य में डूब गये। चेलना ने सर्प को निकाला और मुलायम कपड़े से चींटियों को दूर किया, घावों पर घी लगाकर उनकी असह्य वेदना को शान्त किया। मुनिराज ने ध्यान तोड़ा। दोनों राजा-रानी ने 'नमोऽस्तु' किया। मुनिराज ने दोनों को समान आशीर्वाद दिया। श्रेणिक ने सोचा—मैंने इनके गले में सर्प डाला, चेलना ने उपसर्ग दूर किया। धन्य है साधुओं की क्षमा, दोनों को समान आशीर्वाद दिया—धर्म की वृद्धि हो। श्रेणिक अपनी निन्दा-गर्हा करने लगा। मुनिराज के चरणों में नतमस्तक हो उसने अपने पापों का प्रायश्चित किया। वह श्रेणिक आगे चलकर भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर बनेंगे।

जीवन की शान्ति का नाशक क्रोध आते ही मौन हो जाओ। कुछ क्षण रुककर चिन्तन करो क्रोध क्या है? विभाव परिणाम है? फिर क्यों आया? शाश्वत है? नहीं। तुम्हारी चीज है? नहीं। जब क्रोध मेरी चीज नहीं, मेरा स्वभाव नहीं, सदा मेरे साथ रहने वाला नहीं तो मैं क्रोध क्यों करूँ? सोचते ही वह नौ-दो ग्यारह हो जायेगा।

हम दूसरों पर क्रोध करते हैं। आफिसर आफिस का गुस्सा स्त्री पर, स्त्री अपना गुस्सा बच्चों पर, बच्चे अपना गुस्सा पुस्तकों या स्लेटपाटी पर निकालते हैं। गुस्से पर गुस्सा कोई नहीं करता, गुस्से पर गुस्सा करने वाला क्षमाधर्म को पाता है।

अधिक गुस्सा हो तो एक ग्लास में ठंडा जल लीजिए, णमो अरहन्ताणं आदि पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्र का उच्चारण कर पीजिये। गुस्सा क्षमा में बदल जाएगा। क्षमा करने वाला रात भर सोता है, क्रोधी रात भर रोता है।

पुष्पकोटि समं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटि समं जपः।
जपः कोटि सम ध्यानं, ध्यानकोटि समं क्षमा॥

क्षमा सबसे महान तप है, ध्यान है, स्वाध्याय है। जीवन भर पूजा-पाठ किया, पर क्रोध नहीं छोड़ा तो व्यर्थ है। अपने पूजा के स्थान पर दूसरा खड़ा है, बस, क्रोध से लाल-लाल चेहरा

हो गया। नये पुजारी को निकाल फेंका। जिन्दगी भर की पूजा का फल व्यर्थ चला गया। अतः—

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ति मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि॥

उत्तम मार्दव

भूमि जितनी मृदु होगी उतना ही विशेष धान्यरूप फल देगी।

"मृदोर्भावः मार्दवम्" अर्थात् आत्मा के कोमल परिणाम को 'मार्दव धर्म' कहते हैं। मान-कषाय के अभाव में मार्दव गुण प्रकट होता है। अभिमान आत्मघातक है। साधर्मी भाइयों में वात्सल्य भाव, गुणीजनों में प्रमोद भाव, दीन-दुखी जीवों पर दया भाव रखना मार्दव धर्म है। विनयवान् प्राणी गुणीजनों की सेवा-सुश्रुषा कर जीवन सफल मानता है। विनयगुण से लोकोत्तर गुणों का पात्र होता है।

अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन घोड़े पर चढ़कर शाम की हवाखोरी के लिए बाहर निकले। कुछ मजदूर एक भारी लट्ठे को छत पर चढ़ाना चाहते थे। यदि एक आदमी और हाथ लगा दे तो लट्ठा आसानी से छत पर चढ़ जाय। जमादार खड़ा-खड़ा उन मजदूरों को साहस दे रहा था। राष्ट्रपति ने जमादार से कहा-"तुम हाथ क्यों नहीं लगा देते?" जमादार ने लाल-पीली आँखे निकालकर जवाब दिया—"मैं जमादार हूँ। मेरा काम मजदूरों से काम लेना है, न कि खुद।

"अच्छा यह बात है?" कहकर राष्ट्रपति घोड़े से कूद पड़े, और लट्ठे में भरपूर शक्ति के साथ दोनों हाथ लगा दिये। लट्ठा ऊपर पहुँच गया। तब राष्ट्रपति ने जमादार से कहा— "सलाम जमादार साहब! यदि फिर कभी किसी लट्ठे में हाथ लगाने के लिए एक आदमी की जरूरत पड़े तो मुझे बुला लेना। मेरा नाम जार्ज वाशिंगटन है। यह सुनते ही जमादार दौड़ा और राष्ट्रपति के चरणों पर गिर कर रोने लगा। उसने क्षमा मांगी। राष्ट्रपति ने कहा—"तुम गरूर का अभ्यास कर रहे हो और मैं नम्रता में मानवता का दर्शन कर रहा हूँ। इस शर्त पर क्षमा किया कि भविष्य में कभी मानवता का निरादर न होने पाये।"

जीवन में मान कभी करना नहीं, स्वाभिमान छोड़ना नहीं।

(१) विणओ जिणसासणो मूलो अर्थात् विनय जिनशासन है, मूल धर्म है।

(२) विणओ मोक्खद्वारं अर्थात् विनय मुक्ति का द्वार है।

(३) मार्दव धर्म से पारस्परिक विरोध नष्ट हो जाता है।

(४) मार्दव धर्म से शत्रु मित्र हो जाता है।

(५) जो व्यक्ति पर का अपमान करता है, वह स्व-सम्मान नहीं पा सकता।

उत्तम आर्जव

ऋजो र्भावः आर्जवम् अर्थात् सरल भावों का नाम आर्जव है। यही सरलता यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक हो तभी वह उत्तम आर्जव है अन्यथा यह आर्जव मात्र रह जायेगी। उसे उत्तम आर्जव नहीं कह सकेंगे। धर्म का अर्थ है—"संसार दुःखतः सत्वान् यो धरति उत्तमे सुखे" जो प्राणियों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में रखे वह धर्म है। इस प्रकार उत्तम आर्जव धर्म का अर्थ स्पष्ट हुआ कि "सम्यग्दर्शनपूर्वक सरलता संसार के दुखों से निकालकर प्राणी को उत्तम सुख प्रदान कर सकती है। उत्तम आर्जव को धर्म इसलिए कहा है कि कुटिलता का अभाव होने पर ही, सच्चा वास्तविक धर्म हो सकता है अतः यह धर्मसाधना की आद्य भूमिका है। क्योंकि तीन शल्यों (माया, मिथ्यात्व, निदान) में यह प्रथम शल्य है। प्रथम शल्य के अभाव बिना शल्यों का अभाव नहीं हो सकता और शल्यों के अभाव बिना धर्म की आद्य भूमिका नहीं बन सकती। इसलिए मोक्ष—शास्त्र में कहा है कि "निःशल्यो व्रती' व्रती अर्थात् साधक के लिए शल्यों से रहित होना चाहिये तभी धर्म साधना का प्रारम्भ हो सकता है, तभी उसका सच्चा फल प्राप्त हो सकता है। कुटिलतापूर्ण धर्मसाधना आप कितनी और कैसी भी क्यों न कर लो किन्तु वह आपके कर्मनिर्मूलन में समर्थ नहीं हो सकती अपितु कर्मों को और जटिल ही करेगी।अवसर आने पर ऐसी साधना अवश्य ही अपना दुष्परिणाम प्रदान करेगी, जिसका संताप प्राणियों को अधिकांशतः संताप द्वारा ही होगा। उस समय दृष्टि फिर ऊपर नहीं उठ सकेगी। शर्मिन्दगी के कारण किसी को मुँह दिखाने तक की भी इच्छा नहीं होगी।

इसलिए आचार्यों ने कहा है कि "स्पष्ट वक्ता बनो, और स्पष्ट कार्यकर्त्ता बनो"। कितना रहस्य है इन शब्दों में। क्योंकि कहा भी है "स्पष्ट वक्ता न वञ्चकः" अर्थात् स्पष्ट सत्य बोलने वाला प्राणी कभी भी वञ्चक नहीं हो सकता, उसे नीचा देखने का अवसर नहीं आयेगा। किन्तु हमारी परिणति बिल्कुल विपरीत ही चल रही है। ऊपरी-ऊपरी भाव से हम कह देते हैं कि हमारी प्रशंसा मत करो, किन्तु अन्दर कुछ दूसरी ही बात होती है। हम बड़े प्रसन्न हो जाते हैं अपनी प्रशंसा सुनकर, चाहे हमारे अन्दर कथित एक भी गुण न हो और चुप रहकर सम्मति भी दे देते हैं। यह भी एक माया है। कभी-कभी अवसर आने पर, दूसरों की बड़ी प्रशंसा कर देते हैं किन्तु अन्दर में कुछ और ही होता है। कितनी बार चार सज्जनों के बीच की साधना में और अकेले हुई साधना में कितना बड़ा अन्तर दिख जाता है, यह भी माया है। चुगली करना, पीठ पीछे किसी की बुराइयाँ करना, सत्य को छिपाना, किसी के गुणों को ढाँकना, ईर्ष्यावश दोषों का कहना, कुटिलता पूर्ण प्रशंसा करना, कुछ का कुछ उत्तर देना, मात्र जी हजूरी करना, मिलावट करना आदि अनेक तरह माया होती है। प्राणी सोचता है कि हमने कितना अच्छा किया कि इस बात का किसी को पता तक नहीं होने दिया किन्तु यह नहीं सोचते कि आखिर में उसका पता होने पर (भेद खुलने पर) क्या नतीजा निकलेगा। मायाचारी का कोई विश्वास

नहीं रखता, जब वह धोखा देगा तब देगा किन्तु उसकी भूमिका (प्लान) वह कितने दिन पहले से बना लेता है। चाहे कपट कर सके या न कर सके किन्तु जिस दिन से उक्त वृत्ति का विचार किया, उसी समय से कर्मों का आस्रव (आना) प्रारम्भ हो गया था। ऐसे प्राणी क्षण-क्षण में महान् जटिल कर्मों का आस्रव कर लेते हैं। कहा भी है कि—

मायाचारी जीव जगत के, निस दिन पाप कमाते हैं।
बगला भक्ति दिखा दिखाकर, अपने ऐब छिपाते हैं॥

अगर ऐसे समय में बंधापकर्ष (आयु बँधने) का समय (काल) भी आ जाये तो नियम से तिर्यञ्च आयु का ही बंध होगा। क्योंकि आयु कर्म के आस्रव का वर्णन करते हुए तत्वार्थसूत्र में उमास्वामी महाराज ने लिखा है—"मायातैर्यग्योनस्य" अर्थात् मायाचारी करने से तिर्यञ्च आयु का आस्रव तथा बंध होता है तथा तिर्यञ्च गति प्राप्त होने पर यहाँ भी कुटिलता नहीं जाती। तिर्यञ्च गति में सर्वाधिक कुटिलता होती है। यदि क्वचित् कदाचित् मनुष्य आयु का बंध हो जाने पर भी कुटिलता चलती रही हो ऐसा प्राणी मनुष्य तो होगा किन्तु पुरुषत्व को नहीं प्राप्त कर सकता, नियम से स्त्री ही होगा।ऐसी अवस्था में वहाँ पर भी पूर्णतः ऋजुता नहीं आ सकती, स्वभावतः मायाभाव की अधिकता होती है। माया का परिपाक बड़ा ही भयंकर एवं खतरनाक हुआ करता है। भेद खुलने पर प्राणी अपना अपघात कर, अमूल्य जीवन का विनाश तक करते देखे गये हैं।अतः कल्याणच्छुकों को चाहिये कि ऐसी माया का सदा-सदा के लिए त्याग करें, भूलकर भी इसके फंदे में न फंसे। क्योंकि एक बार भी फंसने पर उससे सुलझना बड़ा दुष्कर है। मायाचारी करने से उस समय तो बहुत अच्छा लगता है किन्तु अन्त में पश्चात्ताप एवं संताप का ही कारण बन जाता है। इसलिए ही कहा है कि जो प्राणी इसका त्याग कर देता है वास्तव में वही महात्मा है—

यथा चित्तं तथा वाचा यथा वाचा तथा क्रिया।
चित्ते वाचि क्रियायां च, महात्मानामेकरूपता ॥

जो बात जिस प्रकार से मन में है उसे उसी प्रकार वचन से कहो तथा जिस प्रकार वचन से कह रहे हो उसे उसी प्रकार से क्रिया में लाओ। क्योंकि सज्जन पुरुषों के विचार, वचन और क्रिया (कार्य) एक रूप ही होते हैं। किन्तु दुराचारी प्राणी उक्त लक्षण से बिल्कुल विपरीत ही होता है। कहा भी है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

सज्जन पुरुषों के मन, वचन और कार्य में एकरुपता होती है परन्तु दुर्जनों के मन में कुछ होता है, कहते कुछ और हैं तथा कार्य में इनके पृथक् बात होती है।इसी का नाम मायाचार है। मायाचारी, छल, कपट, धोखेबाजी, कुटिलता आदि सब एकार्थवाची है। "मुख में राम बगल

में छुरी" इसीलिए प्रचलित हुई है। मायाचारी प्राणी ऊपरी सफाई से अपने दोषों को छिपाना चाहता है किन्तु छिपा नहीं पाता, वह किसी न किसी रूप में व्यक्त हो ही जाते हैं। ध्यान रखो ऊपरी सफाई और हाँ हजूरी से अन्दर की सफाई करना बेहतर है, अच्छा है क्योंकि अन्दर से शून्य मात्र बाह्य सफाई बक-चेष्टा सदृश है।

एक बार की घटना है कि जिस समय राम-लक्ष्मण व सीता तीर्थाटन कर रहे थे। विचरण करते-करते किसी एक वन के तालाब के सन्निकट पहुंचे। तालाब की शोभा बड़ी ही मनोहारी थी। फूले हुए कमल एवं हंस, सारस, बगुला की चहल पहल की आवाज सुनकर सभी बड़े प्रसन्न हुए तथा उस दिन का विश्राम उन्होंने वहाँ ही किया। अवर्णनीय दृष्य को देखते हुए लक्ष्मण की दृष्टि एक पक्षी पर पहुँची।उसे देखते ही आश्चर्य चकित हो कहने लगे कि—"हे भाई! हे सीते! देखिये देखिये! कैसा यह अनोखा पक्षी कितना सुन्दर ध्यान कर रहा है। जल में एक पैर से खड़ा तपस्या में लीन है। दृष्टि को भी चञ्चलता से रहित स्थिर किये हैं, ध्यान के तेज से जिसका सारा वदन दमक रहा है। अभी तक हम समझते थे कि मनुष्य ही योगी होते हैं किन्तु यह नहीं मालूम था कि पक्षी भी योगी होते हैं। धन्य है उसका जीवन। चलो; हम सब उस बक योगी का दर्शन करें।" लक्ष्मण की बात सुनने के बाद राम ने कहा—

उज्वल वर्ण गरीब गति, एक टांग मुख ध्यान।
देखत लागत भरत सम, निपट कपट की खान॥

लक्ष्मण ने इस दोहे को सुनते ही कहा—भाई, ऐसा क्यों कहते हैं? राम ने कहा—लक्ष्मण, तुम नहीं जानते। यह पक्षी श्वेत वर्ण का है, नीचे सिर किये हैं, एक पैर से खड़ा है, ध्यान-मुद्रावत् दिख रहा है किन्तु भक्तसदृश इसकी क्रिया मात्र दिख रही है, वास्तविकता ऐसी नहीं है। कपट का खजाना है यह पक्षी। पुनः लक्ष्मण ने कहा—प्रभो! ऐसा कैसे? राम ने कहा-उसे देखते रहो, अभी वास्तविकता का निर्णय हो जायेगा। कुछ समयोपरान्त बक योगिराज अर्थात् बगुला के पास से जैसे ही मछली गुजरी की उसने शीघ्र ही उसे झपट कर चोंच में दबोच लिया। ठीक ही कहा है—

झूठ छिपाये न छिपे, छिपे न मोटो भाग।
दाबी दूबी न रहे, रुई लपेटी आग॥

मायाचार रूपी वृत्ति को आप कितना भी क्यों न छिपाना चाहो किन्तु छिप नहीं सकती।अवश्य ही वह कभी न कभी किसी भी रूप में प्रकट हो जायेगी। जिस प्रकार रूई में लिपटी आग समय पाकर प्रादुर्भूत हो जाती है उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिये। अतः हे आत्मन्! तुम कपट करते हो और सोचते हो कि इसे कोई जान न जाये किन्तु गहराई से विचार करो, क्या केवली भगवान के ज्ञान में यह आपकी वृत्ति बच सकती है, मनःपर्ययज्ञानी के ज्ञान में क्या आपकी यह वृत्ति प्रकट नहीं हो जाएगी? अर्थात् अवश्य ही प्रकट हो जायेगी।

दूसरी बात यह है कि सत्य कहने से तुम डरते क्यों हो? कायर क्यों बनते हो? यह कायरों का धर्म नहीं है, कायरता में इस धर्म का पालन नहीं हो सकता। तीसरी बात यह है, मान लो आपने किसी के साथ मायाचारी की और उसे दूसरा जान भी नहीं पाया किन्तु क्या कर्मास्रव से उक्त वृत्ति छिपा सकते हैं? विस्रसोपचयरूप कार्माण वर्गणाएँ हर समय सजग हैं। जैसे ही जीव को वैभाविक रूप होते देखती नहीं कि तुरंत बंध को प्राप्त हो जाती है। बाँध लेती हैं जीव को।

चौथी बात यह है कि मायाचारी प्राणी सदा शंकाशील रहता है। कहीं यह भेद खुल न जाये, किसी को यह बात मालूम न चल जाये आदि। पाँचवी बात, यह प्राणी हमेशा भयभीत रहता है, भेद खुलने का क्या परिणाम होगा, इत्यादि चिन्तायें घेरे रहती हैं। ध्यान रखो! सत्य बोलने पर इतना दण्ड नहीं मिलता जितना कि उसे छिपाने पर मिलता है। सत्य बोलने वाला प्राणी कभी भी बदनाम नहीं हो सकता किन्तु उसे छिपाने वाले प्राणी सदा-सदा के लिए कलंकित हो जाता है।

उत्तम शौच

आत्मा के पवित्र परिणामों को शौचधर्म कहते हैं। शुचेर्भावः शौचं। शुचिता का परिणाम शौचधर्म है। क्रोध के अभाव में क्षमा, मान के अभाव में मार्दव, मायाचार के अभाव में आर्जव और लोभ के अभाव में शौच धर्म प्रादुर्भूत होता है। क्रोध से शरीर गर्म हो जाता है। आँखे लाल-लाल हो जाती हैं। मान में शरीर अकड़ जाता है, व्यक्ति बनावटी ढंग से सीना तानकर चलता है। मायाचार में शरीर सिकुड़ क्रोध से शरीर गर्म हो जाता है। मायाचार में शरीर सिकुड़ जाता है, छिप-छिप कर कार्य करता है और लोभकषाय में शरीर फूल जाता है।

लोभ का त्याग शौचधर्म है। शरीर की पवित्रता से आत्मा कभी पवित्र नहीं होती। आत्मा को पवित्र करने के लिए कोई योग धरता है, कोई तपादि करता है किन्तु अंतरंग की शुचिता के बिना सब व्यर्थ जाता है।

"कोई मौन धरे कोई योग करे,
कोई आसन मांड के ध्यान ठहरावे।
कोई तीर्थ फिरे कोई जाप करे,
कोई प्रीति सुअंग विभूति लगावे।
कोई राम कहे रहमान कहे,
कोई गंग समुद्र के संगम नहावे।
जो लौ तत्व विचारन चेतन,

तोलौं मुक्ति वधू नहीं पावै।"

जब तक तत्वविचार नहीं हो तब एक मात्र स्नानादि क्रिया से आत्मा पवित्र नहीं होने वाली है।

जो भव्यात्मा समता एवं संतोषरूपी जल से तीव्र लोभरूपी मल को धोता है तथा जिसकी भोजन विषय-वासना आदि में विशेष लिप्सा नहीं है उसी भव्यात्मा के निर्मल शौच धर्म होता है।

एक सेठजी के पास बहुत-सा धन था। एक दिन धन की रोकड़ जोड़ी। धन सात पीढ़ी तक चलेगा। आठवीं पीढ़ी में क्या होगा? लोभी सेठजी बेहोश हो गये। अब क्या करुँ, कैसे धन का सञ्चय करूं कि सौ पीढ़ियों तक भी समाप्त न हो—

एक हुआ तो दस होते, दस होकर सौ की इच्छा है,
सौ होकर भी सन्तोष नहीं, अब सहस्र होय तो अच्छा है,
यों ही इच्छा करते-करते, लाखों की हद तक पहुँचा है,
तो भी इच्छा पूरी ना होती, यह ऐसी डायन इच्छा है।

डॅाक्टर, वैद्य, हकीम, सभी सेठजी की नब्ज पकड़े हैं। कुछ शीतोपचार के बाद सेठजी को होश आया। सेठानी ने सारी घटना जानी। मुस्कराने लगी। वह ज्ञानी थी। कहने लगी— मैं जैसा कहूँ वैसा आप करना, आपके घर में अटूट सम्पत्ति हो जायेगी। सेठजी ने सोचा, क्या आश्चर्य है! एक दिन में ऐसा धन मिलेगा। पता नहीं क्या मन्त्र-तन्त्र करेगी। प्रातः सेठानी ने सीधा देकर सेठजी को ब्राह्मण को देकर आने को कहा। सेठजी सीधा लेकर ब्राह्मण के घर पहुँचे। ब्राह्मण को हाथ में देने लगे कि ब्राह्मण ने कहा—आज तो हमारे घर में भोजन की व्यवस्था है। कल की मुझे चिन्ता नहीं है। सेठजी ने उसे कहा- ले लो, कल काम आयेगा। निर्लोभी ब्राह्मण ने सीधा स्वीकार नहीं किया। सेठजी की आँखे खुल गई, घर पहुंचे-देवी (पत्नी से बोले), तूने मेरी आँखे खोल दीं। उस ब्राह्मण को कल की चिन्ता नहीं है और मैं आठवीं पीढ़ी की चिन्ता कर रहा हूँ। धिक्कार है मुझे! आत्मज्ञान जागृत हुआ। शौच धर्म की प्राप्ति कर सेठजी सब क्षणभंगुर वैभव को छोड़कर दिगम्बर साधु बन गये।

गो धन गज धन बाज धन, और रतन धन खान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।

उत्तम सत्य

जीव के लिए चार बातें श्रेष्ठता की प्रतीक हैं : (1) मधुर सत्य भाषण, (2) नम्रता, (3) सन्तोष और (4) अहिंसा। प्रिय वचन वशीकरण मंत्र है। वाणी से मानव के कुल एवं जाति

की पहिचान होती है।

बोली बोल अमोल है, बोल सके तो बोल।
हिये-तराजू तोल के पीछे बाहर खोल॥

ऐसी बानी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आप हु शीतल होय॥

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्म सनातनः॥

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप॥

सत्य और मधुर भाषा जीवन को शान्ति प्रदान करती है। ऐसा सत्य जो कटु है या परपीड़ाजनक है वह भी असत्य ही है। हित, मित परिमित और सूत्रानुकूल वाणी सत्य धर्म की पोषक है। जो वाणी या व्यवहार तुम्हें पसन्द नहीं वह दूसरों को भी मत बोलो।

परमधर्मी व देशभक्त गोपालकृष्ण गोखले जब बाल्य-अवस्था में पाठशाला में पढ़ते थे तब एक दिन अध्यापक ने कुछ गणित के प्रश्न घर से हल करके लाने को कहा। गोपाल कृष्ण को उनमें से एक प्रश्न नहीं आया। इसलिए उसने दूसरे विद्यार्थी की मदद से उसे हल कर लिया। पाठशाला में सब विद्यार्थियों की कॉपी देखी गई, तो केवल गोपालकृष्ण के सारे हिसाब सही निकले। यह देखकर अध्यापक बहुत खुश हुए और पुरस्कार देने लगे। बालक गोपालकृष्ण ने पुरस्कार तो लिया नहीं, प्रत्युत नीचा मुख करके रोना शुरू कर दिया।यह देख कर शिक्षक को बहुत आश्चर्य हुआ और तुरंत रोने का कारण पूछा। बालक ने दोनों हाथ जोड़कर कहा— आपने तो यह समझा होगा कि इन सब गणित के प्रश्नों का हल इसी छात्र ने अपनी बुद्धि से किया है पर यह बात ऐसी नहीं है। इनमें से मैंने एक प्रश्न को हल करने में मित्र से सहायता ली थी। तब आप ही बतलाइये कि मैं पुरस्कार पाने योग्य हूं या दण्ड पाने योग्य। यह सुनकर शिक्षक बहुत ही प्रसन्न हुए और बालक गोखले की पीठ थपथपाते एवम् हाथ में पुरस्कार देते हुए कहा कि अब यह पुरस्कार मैं तुझको तेरी सत्यप्रियता के लिए देता हूँ। तू इस गुण से अनेकों गुण का स्वामी होगा और वैसा ही हुआ।

यदि आज के विद्यार्थी भी ऐसे ही होंवे तो कहना ही क्या।

उत्तम संयम

मनुष्यगति सभी गतियों में श्रेष्ठ गति है। सभी योनियों में श्रेष्ठ योनि है। क्यों? आखिर इसका कारण क्या है? ऐसी क्या विशेषता है जिससे मनुष्यों को श्रेष्ठ कहा जाये? उत्तर प्राप्त

होता है- चार गति, चौरासी लाख योनि रूप संसार-परिभ्रमण का निरसन इस मनुष्यगति में ही हो सकता है-क्योंकि संसार मूल को नष्ट करने वाला पूर्ण संयम मनुष्यगति में ही हो सकता है। बिना संयम के कोई भी संसार-परिभ्रमण को नष्ट नहीं कर सकता और न मोक्ष की सिद्धि। अनादि से लेकर आज तक जितने भी भव्य मोक्ष को प्राप्त हुए उसका मूल कारण संयम है। प्यारे बन्धुओं, उनका मनुष्य जीवन पाना ही सार्थक एवं श्रेष्ठ है जिन्होंने संयम धारण किया है।उनका जीवन सफल है क्योंकि उन्होंने वास्तविक ज्ञान का कार्य किया। वही सच्चा ज्ञान है जो संयम को अंकुरित कर दे। ज्ञान बीज है तो संयम उसका फल है। अल्प से भी अल्प संयम धारण करने वाला प्राणी इन्द्रों अहमिन्द्रों से बढ़कर है। अतः संयम धारण करना चाहिये। जीवन भर के लिए जो समता धारण की जाती है उसका ही नाम संयम है। संयम के दो भेद हैं- (१) प्राणी संयम और (२) इन्द्रिय संयम। किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से दुख नहीं देना और उनके प्रति राग-द्वेष नहीं करना प्राणीसंयम है तथा कोई भी इन्द्रिय विषयों में आसक्त नहीं होना अर्थात् पाँचो इन्द्रियों को वश में रखना इन्द्रिय संयम है। जो प्राणी इस संसार की वृत्ति को अंगीकार करता है उसे संयमी कहते हैं। अतः हम सभी को संयमी बनना चाहिये। संयम में बड़ी शान्ति एवं आनन्द है। यदि आप पूर्णतः संयम का पालन करने में असमर्थ हों तो देशसंयम का पालन करो। यथाशक्य पदार्थों से मोह ममता हटाते हुए उनका त्याग करो, त्याग से घबराओ नहीं। त्याग में कष्ट दिखता जरूर है किन्तु वास्तव में कष्ट नहीं होता। उस कष्ट को उत्तीर्ण करने में अपूर्व सुख होता है।

इसलिए यथाशक्ति अभक्ष्य व अनुपसेव्यों का तो त्याग करना ही चाहिये। जैसे कि मद्य (शराब), मांस, मधु (शहद), सप्त व्यसन, पंचोदुम्बर-फल, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भांग, रात्रि भोजन आदि; क्योंकि यह त्याग ही मनुष्य जीवन का सुफल है। अन्यथा उक्त पदार्थों का सेवन करने वाले प्राणी तिर्यञ्च से भी गया बीता है क्योंकि उपरोक्तों में से बहुत कुछ बातें तिर्यञ्चों में भी नहीं पायी जाती। व्रत नियम संयम से घबराना नहीं चाहिये अपितु उन्हें हर्षोल्लाससे धारण करते हुए धन्य समझना चाहिये। इस प्रकार का सत्प्रयास बढ़ते-बढ़ते संयम तक अवश्य पहुंचकर, एक न एक दिन संयमी बना देगा।

एक समय की बात है। किसी नगर में परम प्रशान्त मुद्रा के धारी, समस्त परिग्रह से रहित परम दिगम्बर मुनि महाराज का आगमन हुआ। चातुर्मास का समय नजदीक था इसलिए उस वर्ष का वर्षा योग उसी ग्राम में करना उचित समझा तथा स्थापित भी कर लिया। उसी ग्राम में एक सेठजी भी रहते थे। वे वर्ष में तीन दिन ही जिन मन्दिर जाया करते थे। सेठानी बड़ी धर्मात्मा थी। वह सेठजी को धर्ममार्ग पर लाने का अथक प्रयास कर चुकी थी किन्तु सेठजी उस मार्ग पर नहीं आ सके। एक दिन सेठानी ने अपनी सारी बात मुनिराज को कह दी।साथ ही प्रार्थना भी कि, "हे महाराज! आपके द्वारा ही उनका कल्याण हो सकता है अतः आप ही उन्हें सन्मार्ग पर लाने की कृपा करें।" महाराज- ने कहा "मैं सेठजी को नहीं जानता।" सेठानी

ने उनकी सारी पहिचान आदि बता दी। भाद्र शुक्ला दशमी (सुगंध दशमी) को सेठजी धूप खेने के लिए श्री मन्दिर पहुँचे। जैसे ही मन्दिर में प्रवेश करने लगे, उसी समय महाराज ने बुलाया। सुनते ही सेठजी घबड़ाये और 'आता हूँ अभी आता हूँ दर्शन करके, इत्यादि कहकर अन्दर चले गये और अन्दर ही अन्दर पीछे से निकल गये। कुछ दिनों के उपरान्त दीपावली के दिन पुनः मन्दिर जी में आए। उस दिन महाराज दरवाजे के सन्निकट बैठे थे। जैसे ही सेठ अन्दर जाने लगे, महाराज ने पुनः उन्हें बुलाया। सेठजी ने बहुत आना-कानी की किन्तु महाराज ने एक न सुनी। तब सेठजी कहने लगे- "महाराज! आपके पास मैं नहीं आना चाहता, क्योंकि आप त्याग दिलाते हैं।" महाराज ने कहा— "तुम घबड़ाते क्यों हो? क्या हम तुम्हें जबरदस्ती त्याग दिला सकते हैं?" इतना वाक्य सुनते ही सेठ जी डरते-डरते महाराज के निकट बैठ गये। महाराज ने कहा—"तुम त्याग से डरते क्यों हो?" सेठ ने कहा—"महाराज मुझ से किसी भी वस्तु का त्याग नहीं निभ सकता। मैं किसी भी पदार्थ का त्याग नहीं कर सकता। "तब महाराज ने कहा—" क्या तुम पत्थर खाते हो?" सेठ ने कहा—"महाराज, कैसी बात करते हो, पत्थर क्या खाने की चीज है? पत्थर को तो जानवर तक नहीं खाते।"

महाराज—फिर तुम पत्थर खाने का त्याग कर दो।

सेठ—ठीक है महाराज, तो मैं आज से ही प्रतिज्ञा करता हूँ कितनी भी आपदा क्यों न आ जाये, तो भी मैं कभी पत्थर नहीं खाऊँगा।इस प्रकार प्रतिज्ञा लेकर सेठजी अपने घर पहुँचे। वे बहुत प्रसन्न थे। सोच रहे थे, बहुत अच्छा हुआ महाराज जी ने कोई बड़ा त्याग नहीं दिलाया।इत्यादि। जैसे ही सेठजी ने उक्त प्रतिज्ञा के बारे में अपनी स्त्री से कहा। सेठानी ने सुनते ही कहा- "यह क्या किया, अब तुम चक्की तथा घट्टी का भी पिसा आटा नहीं खा सकते क्योंकि उनके पाट पत्थर के होते हैं। सेठजी आश्चर्य चकित हो गये किन्तु किया भी क्या जा सकता था। जो प्रतिज्ञा ली उसमें बड़े दृढ़ थे। सेठानी ने अपनी कुशलता से लोहखंड में कूटे गये धान्य ने अनेक पकवान बनाये। जब सेठजी ने उन्हें खाया तो बड़े स्वादिष्ट लगे। उन्होंने सेठानी से पूछा कि इतना स्वादिष्ट भोजन अभी तक क्यों नहीं बनाया। क्या कमी थी? सेठानी ने कहा— "मात्र एक कमी थी, वह थी आपके त्याग की। तदनन्तर सेठ अपनी प्रतिज्ञा को सानन्द निभाने लगे तथा खान-पान विशुद्ध होने के कारण परिणामविशुद्धिपूर्वक दिन-प्रतिदिन संयम की ओर कदम बढ़ते गये। कुछ ही दिनों में उन्होंने मुनिव्रत धारण कर आत्मकल्याण किया।

देखो, थोड़ा सा व्रत का प्रभाव कि संयम की पूर्ण भूमिका तक पहुँचा दिया। अतः सभी को चाहिये यथाशक्य संयम का पालन करें, घबड़ाये नहीं, इससे अवश्य ही शाश्वत शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

उत्तम तप

रणभूमि में युद्ध जीतने वाला सैनिक बारह तपों को तपता है तब कहीं युद्ध जीतता है,उसी प्रकार कर्मभूमि को जीतने के लिए भी बारह तप आवश्यक हैं—अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्याशन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

युद्ध क्षेत्र में सैनिक को कई बार भोजन नहीं मिलता—(अनशन तप)।

सबको पेट भर समय पर भोजन मिलता नहीं- (ऊनोदर)।

कभी जंगल में, कभी पर्वत पर, कभी चट्टानों पर, कभी जहाजों से गिराया हुआ भोजन करते हैं- (वृत्तिपरिसंख्यान)।

छहों रस उन्हें कहाँ मिलते हैं? नमक है तो घी नहीं, कभी शक्कर नहीं तो कभी रूखा-सूखा ही भोजन करते हैं- (रस परित्याग)।

जहाँ कहीं ऊंची-नीची पर अल्प निद्रा लेते हैं-(विविक्तशय्याशन)।

काया को सदैव ठंडी-गर्मी की बाधाओं से पीड़ा होती रहती है-(कायक्लेश)।

किसी प्रकार की गलती होने पर दण्ड मिलता है—(प्रायश्चित्त)

गोली आदि चलाना सीखते हैं, झुक-झुक कर सीखते हैं, देश की रक्षा के भाव—(विनय)।

एक दूसरे को चोट लगने पर सेवा करते हैं- (वैयावृत्ति)।

रणकौशल का निरन्तर अभ्यास करते हैं- (स्वाध्याय)।

एकाग्रचित्त होकर वार करते हैं- (ध्यान)।

शरीर, स्त्री, पुत्रादि से ममत्व का त्याग करते हैं- (व्युत्सर्ग)

इस प्रकार बारह तपों को तपने वाला योद्धा शत्रुओं को परास्त कर देता है। मुमुक्षु जीव अन्तरंग और बाह्य बारह प्रकार तपों को तप कर कर्मशत्रुओं का नाशकर सिद्धालय में विराजमान हो जाता है।

जैसे—अनाज पकता है तपने के बाद, रोटी पकती है तपने के बाद, सोना चमकता है तपने के बाद, फल पकता है तपने के बाद। वैसे-आत्मा भी शुद्ध होती है तपने के बाद।

> जे तपसूरा संजमधीरा सिद्ध वधू अणुराईया।
> रयणत्तय रंजिय कम्मह गंजिय ते रिसिवर मम झाइया॥

तप से दोषों का निराकरण होता है। मिट्टी अग्नि की तपन सहन कर पात्र बनती है। तपाग्नि में तपकर आत्मा-परमात्मा बनती है। तप के दो भेद हैं- अन्तरंग और बहिरंग। एक साधन है दूसरा साध्य है। कार्य की सिद्धि होने तक दोनों साथ-साथ चलते हैं। दोनों एक सिक्के

के दो पहलू हैं। तबे पर रोटी सेकी जाती है। यदि एक तरफ से सेक दें दूसरी ओर से नहीं, तो कच्ची रहेगी।इसी प्रकार केवल अन्तरंग को महत्व दें, बहिरंग को नहीं तो वह परिपक्व तप नहीं होगा। दोनों तप से ही भेद-विज्ञान सिद्ध होगा।

> तप का उल्टा पत होता है, तपन पतन का नाशक है।
> तपने वाले का इस जग में पतन कभी नहीं होता है॥

उत्तम त्याग

एक खान से निकला स्वर्ण पाषाण अशुद्धियों को त्यागकर, चमकता हुआ हार बन गया। एक चट्टान का पत्थर अशुद्धियों (अप्रयोजनीय पाषाण) को त्याग कर वीतराग मूर्ति बन गया। गुलाब काँटो का त्याग कर भगवान् के चरणों में चढ़ गया। तात्पर्य यह है-हाथी मद से, पानी कमल से, रात्रि चन्द्रमा से, वाणी व्याकरण से, नदियाँ हंस से, सभा पण्डितों से, स्त्री शील से, अश्व दौड़ने से, मन्दिर जिनदेव से, पृथ्वी राजा से शोभा पाते हैं वैसे ही इस लोक में मावन जीवन दान से शोभा पाता है। पूर्व के सारे धर्म त्याग से सुशोभित होते हैं.

त्याग—त्यजतीति त्यागः—छोड़ना त्याग है। अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादि दानं त्यागः अर्थात् संयत (मुनि, आर्यिका ऐलक, क्षुल्लक) के योग्य पिच्छी-कमण्डलु, शास्त्रादि का दान करना त्याग कहलाता है।

अथवा—"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।" अपने और पर के उपकार के लिए धनादिक का देना दान है। दान देने में अपना उपकार तो यह है कि पुण्य का बन्ध होता है और पर का उपकार यह है कि दान लेने वाले को धर्मसाधन में सहायता मिलती है।

त्याग किया जाता है, दान दिया जाता है।

त्याग निश्चयवृत्ति है, दान व्यवहार-क्रिया है। दोनों का अविनाभावी संबंध है। दान करने वाला त्याग करता है। जिसने आहार दान दिया है वह त्याग करता है। आ. शान्तिसागर महाराज जी के शब्दों में- "दान करने वाला भी त्याग करता है। दान आधार है, त्याग आधेय है। जो संयतों को पिच्छी देता है, वह एक दिन संसारचक्र का त्याग करता है।

जीवन का हर सुख त्याग पर अवलम्बित है। बिना त्याग के एक क्षण भी नहीं बीतता-एक बालक माँ का त्याग कर पढ़ने का आनन्द या ज्ञान प्राप्त करता है। एक वृक्ष फलों का त्यागकर नवीन फल पाता है। पुत्री माँ का त्याग कर पति का प्रेम पाती है। व्यापारी पैसों का त्याग करके पैसा पाता है। गुरु विद्या का त्याग करें तब शिष्य पाते हैं। घर का त्याग करें तब उपदेश सुनते हैं। अरे! बिना पैसों के त्यागे किये तो सिनैमा, टी. वी. भी नहीं देख सकते। विचारणीय स्थिति है। त्याग जीवन में कितना उपकारी है। प्रतिक्षण त्याग जीवन का सहचारी

बनकर साथ में चलता है.

दान के लिए आचार्यों ने कहा- "सप्त क्षेत्रों में दान करना चाहिये।" सप्त क्षेत्रों में दिया गया दान समय पाकर जीवों को इष्टफल की सिद्धि में सहायक बनता है। सप्तक्षेत्र हैं- (१) जिन-चैत्य, (२) जिन-चैत्यालय, (३) जिन-पूजा, (४) जिन-प्रतिष्ठा, (५) श्रुतलेखन, (६) तीर्थयात्रा और (७) चार प्रकार का दान।

श्रावक के छह कर्तव्यों में सर्वप्रथम दान को लिया गया है। अतः जिनमूर्ति, मंदिर, पूजा, प्रतिष्ठा, शास्त्र छपवाना, चारों प्रकार के दानादि शुभ कार्यों में दान करना चाहिये। प्रत्येक गृहस्थ को अपनी कमाई का चौथा अथवा थोड़ा हिस्सा दान में लगा देना चाहिये। जो व्यक्ति या जिस घर में अपनी कमाई का दसवाँ हिस्सा सप्तक्षेत्रों में दान या दयादत्ती, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति आदि में नहीं लगाया जाता है वह घर कभी भी खुशहाल नहीं बनता। वहाँ सदैव दरिद्रता का वास रहता है। सुख चाहते हो तो छोड़ो। जोड़ो नहीं। "जोड़ेगा वही जो छोड़ेगा।" जो छोड़ता गया ऊँचा उठता गया और जो जोड़ता गया वह डूबता गया। एक त्याग करना नहीं चाहता है पर हो जाता है, जोड़ना चाहता है पर जुड़ता नहीं है।

गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा—त्याग क्या है? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—

कार्यमित्येव यत्कर्म नित्यं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

"त्याग मेरा कर्तव्य है" ऐसा समझकर शास्त्रविधि से नियत करणीय कार्य को न छोड़ कर उसमें आसक्ति और फल का त्याग सात्विक त्याग है।

दान चार प्रकार के बताये हैं— (१) आहार दान, (२) औषधिदान, (३) शास्त्रदान और (४) अभयदान।

ध्यानेन शोभते योगी, संयमेन तपोधना।
सत्येन वचसा राजा, गेही दानेन शोभते॥

एक समय की बात है। एक बुढ़िया भूखी-प्यासी एक कूप के समीप पहुँची। वहाँ चार महिलायें अपने-अपने सौदर्न्य की प्रशंसा कर रही थी। आपस में विवाद चल रहा था कि महिलाओं ने निर्णय बुढ़िया पर छोड़ दिया। वृद्ध माँ, बताओ किसके हाथ सबसे सुन्दर हैं। वृद्धा चतुर थी। उसने कहा- मुझे भूख लगी है, पहले भोजन करा दो फिर उत्तर दूँगी। अब! सब चुप। गोरा-गोरा शरीर, मुलायम हाथ कैसे रोटी बनाये? एक काले-काले (शरीर) हाथ वाली महिला वृद्धा को अपने घर ले गई, भोजन बनाया और प्रेम से उसे खिलाकर उसी कूप पर वृद्धा को लेकर आ गई। गोरे-गोरे कोमल हाथों में अंगूठियाँ, कंगन पहने तीन महिलाएँ फिर पूछने लगीं— बताओ, किसके हाथ सुन्दर हैं। वृद्धा ने कहा—सबसे सुन्दर हाथ (जो काली-कलूटी महिला थी) इसके हैं। वे तीनों गरजने लगीं—झूठ क्यों कहती हो? उसके काले कठोर हाथ कितने बदसूरत

हैं और तुम सुन्दर कहती हो? वृद्धा ने कहा—बेटा! हाथों की शोभा गोरापन, कोमलता, कंगनादि से नहीं होती। हाथों की शोभा दान से है। तीन दिन की मुझ भूखी को इसने भोजन बनाकर खिलाया, इसके हाथ सबसे सुन्दर हैं। जो हाथों से दान नहीं देता उसके हाथ तो डण्डे हैं। इसीलिए कहा है कि ध्यान से योगी, संयम से तपस्वी, सत्यवाणी से राजा और दान से गृहस्थ शोभा पाता है। दान के अभाव में हाथों की या गृहस्थ की कोई शोभा नहीं रहती। भूखे को अन्न दो, प्यासे को पानी दो, डूबते को सहारा दो। ज्यादा नहीं कुछ है तो सहानुभूति दो, वात्सल्य दो।

आहार-दान करना उत्तम बताया है। कारण कि आहार-दान करने वाला चारों दानों की सिद्धि कर लेता है। आहार से शरीर टिकता है, शरीर से तप, तप से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। योग्य विधि से श्रद्धावान्, तुष्टिवान्, भक्तिवान्, निर्लोभी, क्षमावान्, विवेकवान् दाता के द्वारा प्रदत्त दान, दाता और पात्र दोनों का उपकार करता है—

भुक्तिमात्रप्रदानेषु का परीक्षा तपस्विनः।
ते सन्तोवासन्तोऽवा गेही दानेन शुद्धयति॥

हे श्रावकों! मात्र रोटी के दो टुकड़ों को दान करने के लिए साधु की परीक्षा मत करो कि वे सन्त हैं या नहीं वे भावलिङ्गी हैं या द्रव्यलिङ्गी? पिच्छी, कमण्डलु, नग्नता, केशलोंच और संस्कार (संगार) रहित देखकर तपस्वी को आहार दो। "गृहस्थ तो दान देने से शुद्ध हो जाता है।" परीक्षा या टीका टिप्पणी करने वालों की शुद्धता कहाँ बनती है?

औषधिदान देने से शरीर बनता है। औषधालय खोलकर शुद्ध औषधियों से रोगियों के रोग दूर करना चाहिये। राजवर्तिक में कहा है-आहारदान क्षुधाशान्ति के पश्चात्, औषधिदान रोगशांति के पश्चात्, अभयदान भयमुक्ति के पश्चात् अल्पप्रभावी हो जाते हैं परन्तु ज्ञानदान भव-भवान्तर तक साथ चलता है, सतत् प्रभावी रहता है। अतः ज्ञानियों के ज्ञान की वृद्धि का प्रयत्न करना, पाठशालाएँ खुलवाना, स्वयं पढ़ना या पढ़ने वालों को साधन जुटाना, कापी, पेंसिलें, बाटना आदि सब ज्ञानदान कहलाते हैं।

प्राणीमात्र की रक्षा करना, शरणागत की रक्षा करना अभयदान है। आचार्य कहते हैं—

त्यागो एको गुणः श्लाघ्यः किमन्यैः गुणराशिभिः।
त्यागाज्जगति पूज्यन्ते पशु-पाषाण-पादपाः॥

एक त्याग गुण ही महान् है, अन्य अनेक गुणों की राशि से भी क्या प्रयोजन। त्याग से ही जगत् में पूज्यता होती है। गंगाधर तिलक ने गीता में लिखा—"जैनधर्म अविच्छिन्न रूप से चलता आ रहा है इसका कारण उसका त्याग चरमसीमा पर पहुंच चुका है।" जिस धर्म में त्याग का महत्व नहीं, वे समय पाकर कालकवलित हो गये। जैनधर्म में अरहन्त को त्याग के कारण ही प्रथम नमस्कार किया है।

उत्तमत्याग कहो जगसारा, औषधशास्त्र अभय आहारा।
निहचै राग-द्वेष निरवारे, दाता दोनों दान सम्हारे।

जिस प्रकार कोई पुरुष यह पर-द्रव्य है ऐसा जानकर दूसरों की वस्तु को दूर से ही छोड़ देता है उसी प्रकार समस्त विभाव परिणामों को 'पर' जानकर ज्ञानी उसको छोड़ देता है। निश्चय से राग-द्वेष का त्याग, त्यागधर्म है। तात्पर्य यह है कि बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्त हो, निजशुद्धात्मा में लीन हो, समस्त विभाव भावों का त्याग करना उत्तम त्याग है। दान उसका व्यावहारिक रूप है। व्यवहार में दान ही त्याग है।

शतेषु जायते वीरा, सहस्रेषु च पण्डिता।
वक्ता शतसहस्रेषु, दाता भवन्ति वा न वा॥

सैकड़ों में वीर, सहस्रों में पण्डित, लाखों में वक्ता मिलना सरल है परन्तु करोड़ों में योग्य दाता मिलना कठिन है। अतः दान करते समय तुरंत दे दो, कल का इंतजार मत करो।

युधिष्ठिर के पास एक भिक्षुक लेने आया। युधिष्ठिर कार्य में व्यस्त थे। कहा- कल आ जाना। मैं कल दान दूँगा। अर्जुन ने आश्चर्ययुक्त हो विचारा, कल किसने देखा? भैय्या, इतनी बड़ी गलती क्यों कर रहे हैं? पर हिम्मत नहीं थी कि बड़े भाई से कुछ कहें। तुरंत नगाड़ा बजवा दिया। चारों तरफ लहर उठी। क्या खुशी की खबर है? अर्जुन नाच उठे—"आज भाई साहब ने काल को जीत लिया है।" युधिष्ठिर पछताये, कल का क्या भरोसा? तुरंत भिक्षुक को बुलाकर भिक्षा दी। अरे! दान देते समय एक क्षण भी विलम्ब मत करो। दायें-बायें हाथ का भी विचार मत करो। पता नहीं, लोभी मन एक क्षण में बदल जाये।

जो है मंजूर धन रक्षा, तो धनवानो बनो दानी।
कुएं से जल न निकलेगा तो, सड़ जायेगा सब पानी।
दिया जल बादलों ने हमें, ऊंचा हो गया बादल।
रहा नीचा ही सागर है, अदाता को पशेमानी॥

खाओ और खिलाओ। पेट भरो, पेटी ना भरो। धन की तीन ही गतियाँ हैं-दान, भोग और नाश। हँसते-हँसते, जीते जी छोड़ दो, नहीं तो छोड़कर जाना पड़ेगा। जो तजेगा, वो भजेगा।

उत्तम आकिञ्चन्य

न किंचन इति अकिञ्चन—मेरा कुछ नहीं इस प्रकार के भाव को आकिञ्चन्य कहते हैं।

यतो न किञ्चित् परतो न किञ्चित्,
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।

विचार्य पश्यामि न कुतोऽपि किञ्चित्,
स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित्॥

यहां कुछ नहीं है, दूसरी जगह कुछ नही है, जहाँ जाता हूँ वहाँ कुछ नहीं है। विचार कर देखता हूँ तो कहीं भी कुछ नहीं, अपने आत्मावबोध से अधिक कुछ नहीं है। सारा जगत् स्वप्नजाल है—

धारा नगरी में राजा भोज के राज्य में एक विद्वान् ब्राह्मण था। कर्मोदय से वह दरिद्री हो गया। महाराज भोज के राजभवन में चोरी करने पहुँचा। विवेकी ब्राह्मण के विवेक ने उसे पर-वस्तु उठाने से रोका। परेशान हो गया। जैसे ही कोई चीज चुराता विवेक रोक देता। रात्रि समाप्त हुई।

प्रातः सेवकों की आहट सुनकर बेचारा भोज की शैय्या तले छिप गया। नियमानुसार राजा के जागरण के समय समस्त रानियाँ, दासियाँ उनके सामने जल की झारी आदि लेकर पंखा देती हुई खड़ी थी। सेना, पदाधिकारी, सेवक आदि प्रातःकालीन अभिवादन के लिए यथाविधि प्रस्तुत हुए। राजद्वार पर हाथी घोड़े सभी प्रस्तुत हुए। उसी समय राजा भोज जगे और यह सब देखकर हर्षविभोर हुए। उन्होंने एक श्लोक बनाया—

चेतोहराः युवतयः सुहृदानुकूला
सद्बान्धवाः प्रणयगर्वगिरश्च भृत्याः।
वलन्ति दन्ति स्तरलास्तुरङ्गा

अर्थात् मेरे पास देवाङ्गना समान रानियाँ, आज्ञाकारी मित्र के परिवार और सेवक हैं तथा चिंघाड़ते हुए मस्त हाथी और हिनहिनाते घोड़े हैं मेरे सब सुख सामग्री है। भोज बार-बार तीन पदों को दुहरा रहे थे किन्तु चौथा पद नहीं बन पा रहा था। उसी समय शय्या के नीचे बैठा ब्राह्मण गुनगुनाया—

सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति

अर्थात् नेत्र बन्द हो जाने पर यह सब कुछ ठाठ काम नही आते। महाराज सुनकर चौके। उनका मद चूर-चूर हो गया। बन्धुओं, इस संसार में जहाँ हम अपनत्व मानकर आनन्द ले रहे हैं, विचार करो हमारा परिवार, शरीर, महल, मकान तो दूर रहे, एक समय मन में उठने वाले हमारे विचार भी तो हमारे नहीं है। सब क्षणभंगुर हैं।

जैसे नारियल अलग है, छिलका अलग है, मैं अलग हूँ। पर से भिन्न आत्मस्वरूप की सच्ची प्रतीति अर्थात् 'पर मेरा नही मैं पर का नहीं यह वास्तविक आकिञ्चन्य धर्म है।

उत्तम ब्रह्मचर्य

ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचर्यः—ब्रह्म यानि आत्मा में रमण करना ब्रह्मचर्य है।

आज का व्यक्ति सीधे-सीधे ब्रह्म में रमण करना चाहता है। पर समझने की बात है-जिनमें मानवता के दर्शन नहीं हो पा रहे हैं वह जीव परमात्मा कैसे बन सकता है। मात्र शुद्धस्वरूप की रट लगाने से या आत्मा के गीत गाने से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होगी। जड़ के अभाव में वृक्ष कभी हरा भरा नहीं हो सकता है।

हम चले देवता कहलाने, पर मानव ही कहला न सके,
हम चले विश्व विजयी बनने, पर विजय स्वयं पर पा न सके।
हम चाहते हैं कैसे भी बस जल्दी से भगवान बने।
पर नहीं चाहते हैं हम कि पहले इससे इन्सान बनें॥

इन्सानियत का पता नहीं और भगवान बनने की कल्पना बिना पत्थर के मकान की रचना के समान निरर्थक है। लौकिक में देखा जाता है-किसी भी बच्चे को सीधे बी.ए. या एम. ए. की क्लासेज में नहीं बैठाया जाता, उसे क्रम से पूर्व की कक्षा में पास होना पड़ेगा। उसी प्रकार यहाँ जैन धर्म में भी एक क्रम है।

पूर्व की भूमिका के बाद उत्तर अवस्थाएँ प्राप्त होती है। ब्रह्म में रमने का इच्छुक जीव सर्वप्रथम एक देश ब्रह्मचर्य का पालन करता है। अपनी स्त्री के अलावा अन्य को माता बहिन की तरह देखता है। रावण सीता को बुरी दृष्टि से देखने का कारण निन्दा का पात्र बना।आज रावण का नाम कोई भी लेना नहीं चाहता। परन्तु राम की महानता ने उनको पूज्य बना दिया। मन्दोदरी राम की प्रशंसा में कहती है—

धन्या राम त्वया माता, धन्या राम त्वया पिता।
धन्या राम त्वया वंशज, परदारा न पश्यसि॥

काम की अग्नि से दग्ध एक मानव ने सुकरात से पूछा—जीवन में भोग कितनी बार करना चाहिये। सुकरात ने कहा—एक बार। यदि अशक्य हो तो? वर्ष में दो बार। यदि यह भी अशक्य हो तो? महीने में एक बार। यह भी अशक्य हो तो? कफन ओढ़कर घूमो। तात्पर्य है—प्रयोजनभूत भोग का सेवन करें। सिंह जीवन में एक बार भोग करता है, अन्य पशु भी ऋतुकाल में ही भोग करते हैं पर कामी मानव रात-दिन भोगाभिलाषा से संतप्त रहता है। कहा है—

ब्याह की चाह उठे मन माँहि तो, पन्द्रह बीस पचीस लौ कीजे।
बीस बरस पचीसगये, चालीस भये तब नाम न लीजे॥
काम की दाह उठे मन माँहि तो, ज्ञान सुधा रस पान करीजे।
साठ बरस में जी ललचे तो, जूता उतार कपाल में दीजे॥

व्यवहार में स्त्रीमात्र का त्याग करने वाला ब्रह्मचारी है। निश्चय से अपनी आत्मा में रमण करना ही ब्रह्मचर्य धर्म है। परन्तु जिसने अभी अन्याय अभक्ष्य का त्याग नहीं किया है, सप्त व्यसन नहीं छोड़े हैं वह कितनी भी रट लगायें, ब्रह्म में रमण नहीं कर सकता है। जिसके व्यवहार की शुद्धि नहीं है उसके निश्चय की शुद्धि कभी नहीं हो सकती। मंजिल पर पहुँचने के लिए पहली दूसरी सीढ़ियाँ जरूरी हैं, चढ़ने के बाद उन्हें छोड़ने की जरूरत नहीं, वह स्वयं छूट जाती हैं।इसी प्रकार आत्मानुभूति, ब्रह्मरमण के लिए व्रत, नियम संयमादि से पूर्व-पूर्व की भूमिका बनाना आवश्यक है। बिना इसके तोता रटन्त बकवास मात्र है, उससे कार्य सिद्धि नहीं हो सकेगी।

इस प्रकार भूमिकानुसार आत्मविकास के क्रम में धर्म के दश लक्षण हैं। वस्तुतः धर्म तो आत्मस्वरूप है जिसकी उपलब्धि किसी धर्म के वास्तविक (सम्यक्)आचरण से ही सम्भव है।

***
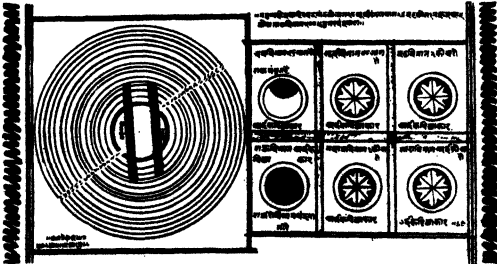
अहिंसा/हिंसा का रहस्य

❑ पं. नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"— संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं। जिस प्रकार परकृत किसी भी अप्रिय व्यवहार को हम सहन नहीं कर सकते, उसी प्रकार संसार के अन्य प्राणी भी हमारे ही समान हैं, हम उन्हें कष्ट क्यों पहुँचायें? अहिंसा के इसी आदर्श पर हमें चलते हुए अपने जीवन को पवित्र बनाना है। अहिंसा-हिंसा की शास्त्रीय परिभाषा अन्तरंग में रागादि विभावों के सद्भाव एवं उनके असद्भाव से मानी जाती है। यह व्यापक लक्षण है।इस दृष्टि से पूर्ण अहिंसा वीतराग अवस्था में ही संभव है। किन्तु साधक जीवों से भरे हुए इस जगत में अपने भावों से ही कर्मबंध एवं मोक्ष का अधिकारी बनता है। साधकों में, मुनि अहिंसा महाव्रती और गृहस्थ अहिंसाणुव्रती होता है। यहाँ भी महाव्रती को केवल हिंसा का मन-वचन-काय आदि नवकोटि से एवं अणुव्रती को स्थूल रूप से त्याग ही नहीं है, अपितु असत्य, अचौर्य, कुशील एवं परिग्रह का त्याग भी साथ में लगा हुआ है।

गृहस्थ जीवन में संकल्पपूर्वक त्रसहिंसा का त्याग होता है, किन्तु गृहारम्भ एवं उद्योग धंधों में होने वाली हिंसा का गृहस्थ त्यागी नहीं हो पाता। विरोधी (आत्मरक्षा या धर्मरक्षा हेतु) हिंसा का भी वह त्यागी नहीं होता। यह सब मजबूरी से उससे हो जाती है।इनमें हिंसा का दृष्टिकोण नहीं, अपितु मर्यादा का ख्याल रखता है। रोग-निवारण के लिए मांस, मद्य, मधु आदि प्राणिज पदार्थों का वह कदापि उपयोग नहीं करता। आयुर्वेदिक हो या एलौपेथिक अथवा यूनानी चिकित्सा सभी में जीवहिंसा से निर्मित औषधियों का वह त्यागी होता है।अहिंसक जीवन व्यतीत करने में आहार और रहन-सहन दोनों का ध्यान आवश्यक है। जानकारी और विवेक बिना, इसमें होने वाली हिंसा से बचा नहीं जा सकता।अमर्यादित दुग्ध, दही, आटा, बेसन, खाद्य वस्तु तथा आवश्यक सामग्री सागभाजी, अचार मुरब्बा इत्यादि तथा चर्मज एवं प्राणिज श्रृंगार की वस्तुओं का उपयोग नहीं किया जाये। अण्डा शाकाहारी होता ही नहीं, वह मांसाहार में शामिल है। आरंभ और उद्योग संबंधी गृहस्थ को त्रसजीवों की रक्षा का ख्याल करते हुए उनकी हिंसा के कार्यों से बचना चाहिये। जीव-हिंसा से आजीविका अहिंसक के लिए उचित नहीं है। पहले भारतीय शासक और प्रजा प्रायः शाकाहारी होने से, देश में शांति का साम्राज्य था, किन्तु मद्य-मांस से परहेज न कर उनका धीरे-धीरे उपयोग करने के कारण जीवन में विलासिता और फूट आदि की वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप हमारा पतन प्रारम्भ हुआ। नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक पतन के पीछे प्रमुख कारण यही है कि हमारे पूर्वजों का सात्विक जीवन न

रहकर तामसिक हो गया। धर्म के नाम पर भी पशु-पक्षियों की हिंसा यहाँ कम नहीं हुई है। पशुयज्ञ और देवी देवताओं के सामने क्रूरतापूर्वक पशुओं की बलि को क्रम क्रम से बन्द कराने का श्रेय भगवान् महावीर के अहिंसात्मक उपदेश को है। विजयादशमी आदि पर भी अब पशुध बन्द हो चुका है।

देश के एक नेता ने लिखा था कि भारत को जैनों की अहिंसा ने कायर बना डाला है।ऐसी ही धारणा अनेक लोगों की रही होगी। लेकिन महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक आन्दोलन द्वारा भारत को स्वाधीन बनाकर उक्त गलत धारणा को दूर कर दिया। चन्द्रगुप्त आदि जैन राजाओं ने धार्मिक नियमों का पालन करते हुए अपने राज्य की रक्षा के लिए युद्ध भी किया था, जो जैनधर्म के प्रतिकूल नहीं था। श्री राम को सीता की रक्षा के लिए भयंकर युद्ध करना पड़ा था, वह भी धर्म के अंतर्गत ही था। भगवान् वृषभदेव ने भूख से पीड़ित भोगभूमिकालीन जनता को कृषि का उपदेश दिया था। कल्पवृक्षों की शक्ति धीरे-धीरे कम हो जाने के कारण उनसे भोजन सामग्री प्राप्त न हो सकने से, भविष्य में भूख से पीड़ित व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का वध कर उसका मांस भी भक्षण कर सकता है, अतएव इस भयंकर हिंसा से रक्षा का उपाय कृषि ही था, जिसे तीर्थंकर ऋषभदेव ने निर्धारित किया था। अहिंसक जैन शासकों ने दुष्टों को उनके अपराध का दंड देने हेतु प्रजा का ध्यान रखकर मृत्युदंड तक दे दिया था, जैसा कि न्यायपालिका द्वारा वर्तमान में भी दिया जाता है। नीतिकारों ने भी लिखा है कि दंड इस लोक और परलोक की रक्षा करता है।

सम्यग्दृष्टि धार्मिक व्यक्ति को भी उस पर किये गये आक्रमण तथा अपने धर्मायतन, बहू-बेटियों व गुरुओं की बेइज्जती को चुपचाप सहन न करते हुए,उसका प्रतिकार करना पड़ता है। जो डरपोक व कायर है वह आर्तध्यानी हिंसक माना गया है। अत्याचार करना हिंसा है तो उसको सहन करना भी हिंसा है। अहिंसा व हिंसा में भावों की प्रधानता है। उदाहरण स्वरूप मछली मारने वाला धीवर दिन भर जाल डालकर नदी पर बैठा रहता है पर जाल में एक भी मछली नहीं आती है और कृषक खेत जोतता है जहाँ बहुत से जीव-जन्तु मर जाते हैं। इन दोनों में किसान से धीवर अधिक पापी है। क्योंकि धीवर के जीव-हिंसा का तीव्र संकल्प है, जबकि किसान का जीव-हिंसा का उद्देश्य न होकर अन्नोत्पादन का संकल्प है। बीमार के घाव का ऑपरेशन करने वाला चिकित्सक बीमार की मृत्यु हो जाने पर भी, हिंसा का दोषी नहीं है। मुनिराज चार हाथ भूमि देखकर चलते हैं।यदि पीछे से उमड़कर अन्य किसी कारण से उनके पैर के नीचे कोई कीड़ा मर जाता है तो मुनिराज को हिंसा का दोष नहीं लगता। वही मुनिराज यदि प्रमादवश भूमि देखे बिना चलते हैं और किसी जीव की हिंसा भी नहीं होती, तो भी वे हिंसा के भागी माने जाते हैं।

आचार की अपेक्षा हिंसा और अहिंसा का विवेचन उक्त प्रकार किया गया है। विचार की अपेक्षा उनका कथन एकान्त और अनेकान्त द्वारा इस प्रकार है—

पहले हिंसा और अहिंसा का विवेचन उक्त प्रकार किया गया है। विचार की अपेक्षा उनका कथन एकान्त और अनेकान्त द्वारा इस प्रकार है–

पहले हिंसा अहिंसा विचारों में उतरती है। पीछे उनका आचरण रूप में उपयोग होता है। विश्व में जो अशांति है और युद्ध के खतरे हैं; भूतकाल में भी जो रक्तपात हुआ है, वह किसी वाद या संप्रदाय के आग्रह को लेकर हुआ है। दूसरे वाद या सम्प्रदाय को उसने आँख मूँदकर अपना विरोधी माना है। बड़े-बड़े शास्त्रार्थ भी दर्शन व धर्म के पक्ष में विचारों को लेकर इसी एकांत हठ के कारण हुये हैं। विचारों में समन्वय, सह अस्तित्व और सहिष्णुता के बिना मानसिक धरातल पर पहले हिंसा उतरती है। पश्चात् वह आचरण के रूप में आकर कहर बरसाती है। परस्पर संघर्ष से बचने के लिए अनेकान्त विचारधारा आवश्यक है जो सर्वत्र भावशांति का कारण है। अहिंसा धर्म की आत्मा है। असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, शोषण, भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि हिंसा के ही विविध रूप हैं। अहिंसक को इनसे बचना चाहिये।

***

जैनदर्शन में सत्य की विशालता

❑ *आर्यिका श्री आदिमतीजी*
(शिष्या आ. शिवसागरजी)

सम्पूर्ण विश्व की स्थिति सत्य पर अवलम्बित है। जब भी सत्य की उपासना या सत्य की खोज की चर्चा चलती है वहाँ पर निश्चय रूप से ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण अव्यक्त सत्य अपेक्षित होता है जो हमारा उपास्य हो, जिसका आश्रय प्राप्त करने योग्य हो। दार्शनिकों और आध्यात्मिकों का उपास्य मात्र सत्यवचन ही नहीं हो सकता किन्तु जिसके आश्रय से धर्म की उत्पत्ति हो और जो अनन्त सुख-शान्ति का आश्रय बन सके, ऐसे सत्य की साक्षात्मूर्ति स्वरूप कोई महान् चेतनात्मा ही हो सकता है। ऐसे सत्यतत्व को यदि वचनों तक सीमित किया जाय तो वह स्वयं असत्य की कोटि में आ जायेगा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि चेतना बहुत मूल्यवान् है। हम सारे मूल्यों की चर्चा, चेतना के आधार पर ही करते हैं । जड़ जगत में मूल्यों की चर्चा कभी नहीं होती क्योंकि वे अचेतन है। सारे सिद्धान्त चेतना के जगत में बनते हैं इसलिए चेतना को मूल्य देना तर्कसंगत है। किन्तु शुद्धचेतना मूक है। उसके पास वाणी नहीं होती। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो विश्व का व्यवहार बिना वाणी के चल नहीं सकता अतः वाणी का सौंदर्य, शरीर के सौंदर्य से भी अधिक महत्त्वशाली एवं मूल्यवान् है। चेहरे पर कितनी ही सुन्दरता क्यों न हो किन्तु वाणी में यदि सुन्दरता नहीं है तो चेहरे की सुन्दरता भी निरर्थक एवं फीकी है।

भाषा के माध्यम से, एक देश से दूसरे देश में संबंध स्थापित करके बड़े-बड़े करोड़ों अरबों के व्यापार चलते हैं, वाणी के द्वारा ही एक व्यक्ति दूसरे पर विश्वास करता है। सभी प्रकार के संबंध वचन पर निर्भर हैं। यदि वचन न हो, तो दुनियाँ सिमट जाय। चूँकि समाज का विस्तार और सभी प्रकार के संबंधों का विस्तार वाणी के माध्यम से होता है इसलिए दुनियाँ में सब से अधिक मूल्यवान् वाणी है। कितना ही बड़ा ज्ञानी हो, अतीन्द्रिय दृष्टा हो यदि उसके पास भाषा नहीं है तो वह पर के लिए अनुपयोगी बन जाते हैं। केवलज्ञानी भी मूक हो सकते हैं, वे केवलज्ञान के द्वारा त्रिलोक-त्रिकाल के सभी पदार्थों को जानते हैं परन्तु वाणी के द्वारा ही उसका ज्ञान दूसरों को करा सकते हैं।

तीर्थंकर केवली की दिव्य ध्वनि से ही मोक्षमार्ग प्रवर्तन होता है तथा असंख्य प्राणी भगवान् की देशना सुनकर संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। तीर्थंकर की भाषा सत्य एवं अनुभय होती है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने सत्य-असत्य-उभय-अनुभय इसे चार विभागों में

विभाजित किया है।

सत्य पदार्थ को कहने के लिए जो वचन की प्रवृत्ति होती है वह सत्य वचन है, इससे होने वाले योग को सत्यवचन-योग कहते हैं। सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं, जैसे—यह जल है। मिथ्याज्ञान के विषयभूत पदार्थ को मिथ्या-असत्य कहते हैं। जैसे—मरीचिका को ही जल समझना। दोनों के विषयभूत पदार्थ को उभय कहते हैं। जैसे-कमंडलु में यह घट है, क्योंकि कमंडलु घट का भी काम करता है इसलिए यह कथचित् सत्य है और घटाकार नहीं है इसलिए असत्य भी है। जो दोनों ही प्रकार के ज्ञान का विषय न हो उसको अनुभय वचन कहते हैं। जैसे सामान्यरूप से यह प्रतिभास होना कि "यह कुछ है" यहाँ पर सत्य-असत्य का कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता इसलिए अनुभय है।

सत्य के दश भेद

दसविह सच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचि जोगो।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥२२०॥जी. कां.॥

दश प्रकार के सत्य अर्थ के वाचक वचन को सत्यवचन और उससे होने वाले योग को सत्यवचन-योग कहते हैं। इससे जो विपरीत है उसे मृषा और जो कुछ सत्य और कुछ मृषा का वाचक है उसे उभयवचन योग कहते हैं।

जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोस वचिजोगो।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणी आदी ॥२२१॥जी. कां.॥

जो न सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो उसको अनुभयवचन योग कहते हैं। असंज्ञियों की समस्त भाषा और संज्ञियों की आमंत्रणी आदिक भाषा अनुभय भाषा कही जाती है।

जणवद—सम्मदि-ठवणा णामे रुवे पडुच्चववहारे।
संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं॥२२२॥जी. कां.॥

जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावनासत्य और उपमासत्य इस प्रकार सत्य के दश भेद हैं।

दश प्रकार सत्य के दृष्टांत—

भत्तं देवी चंदप्पह पडिमा तह य होदि जिणदत्तो।
सेदो दिग्घोरज्झदि कूरोत्ति य जं हवे वयणं ॥२२३॥जी. कां.॥

सक्को जंबूदीवं पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च।
पल्लोवमं च कमसो जणवद सच्चादि दिट्ठंता ॥२२४॥जी. कां.॥

उपर्युक्त दश प्रकार के सत्यवचन के दश दृष्टांत हैं। ततदेशवासी मनुष्यों के व्यवहार में जो शब्द रूढ़ हो रहा है उसे जनपद सत्य कहते हैं। जैसे-भात-कुळु आदि। बहुत जनों की सम्मति से जो साधारण में रुढ़ हो उसको सम्मतिसत्य या संवृत्तिसत्य कहते हैं। जैसे-पट्टरानी के सिवाय किसी साधारण स्त्री को भी देवी कहना। भिन्न वस्तु में भिन्न वस्तु के समारोप करने वाले वचन को स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे—प्रतिमा को चन्द्रप्रभ कहना। दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहार के लिए किसी का संज्ञा कर्म करना नाम सत्य है। जैसे—जिनदत्त इत्यादि। यद्यपि उसको जिनेन्द्र ने नहीं दिया है तथापि व्यवहार के लिए उसे जिनदत्त कहते हैं। पुद्गल के रूपादिक अनेक गुणों में से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाता है उसे रूपसत्य कहते हैं। जैसे—किसी मनुष्य के केशों को काला कहना अथवा उसके शरीर में रसादि रहने पर भी उसको श्वेत कहना। किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना प्रतीति सत्य है अथवा आपेक्षिक सत्य है। जैसे—किसी को बड़ा लम्बा या स्थूल कहना। नैगमादि नयों की प्रधानता से जो वचन बोला जाय उसको व्यवहार सत्य कहते हैं। जैसे—नैगमनय की प्रधानता से 'भात पकाता हूँ"। संग्रहनय की अपेक्षा से "सम्पूर्ण सत् है" अथवा "सम्पूर्ण असत् है" आदि। संभाव्य का परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म के निरूपण करने में प्रवृत्त वचन को संभावना सत्य कहते हैं। जैसे-इन्द्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है। आगमोक्त विधि-निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणामों को भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हो उसे भावसत्य कहते हैं। जैसे—शुष्क, पक्व, तिक्त और नमक, मिर्च, खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है। यहाँ पर यद्यपि सूक्ष्म जीवों को इन्द्रियों से देख नहीं सकते तथापि आगम प्रमाण से उसकी प्रासुकता का वर्णन किया जाता है।इसलिए इस ही तरह के वचन को भावसत्य कहते हैं। दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। इसके आश्रय से जो वचन बोला जाय उसको उपमासत्य कहा जाता है। जैसे-'पल्योपम'। यहाँ पर रोमखण्डों का आधारभूत गड्ढा पल्य के सदृश होता है इसलिए उसको पल्य कहते हैं, इस संख्या को उपमासत्य कहते हैं।इस प्रकार से ये दश प्रकार के सत्य के दृष्टांत हैं। इसी प्रकार और भी वचनों को जानना चाहिये।

अनुभय वचन के भेद

आमंतणी आणवणी याचणिया पुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी संसयवयणी इच्छानुलोमा य ॥२२५॥जी. कां.॥

णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवंति भासाओ।
सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तस संजणया ॥२२६॥जी. कां.॥

आमंत्रणी, आज्ञापनी, याचनी., आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोम्नी,

अनक्षरगता वे नव प्रकार की अनुभयात्मक भाषा है। क्योंकि इनके सुनने वाले को व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अँशों का ज्ञान होता है। खुलासा इस प्रकार है-हे देवदत्त! यहाँ आओ, इस तरह के बुलाने वाले वचनों को आमंत्रणी भाषा कहते हैं। 'यह काम करो' इस तरह के आज्ञा वचनों को आज्ञापनी भाषा कहते हैं। 'यह मुझे दो, इस तरह के प्रार्थना वचनों को याचनी भाषा कहते हैं। "यह क्या है? इस प्रकार के प्रश्नरूप वचनों को आपृच्छनी भाषा कहते हैं। मैं क्या करूँ! इस तरह के सूचना वाक्यों को प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। मैं इसको छोड़ता हूं' इस प्रकार के छोड़ने वाले वाक्यों को प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं। 'यह बलाका है अथवा पताका', ऐसे संदिग्ध वचनों को संशयवचनी भाषा कहते हैं। 'मुझको भी ऐसा ही होना चाहिये', ऐसी इच्छा को प्रकट करने वाले वचनों को इच्छानुलोम्नी भाषा कहते हैं। इन्द्रियादिक असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों की भाषा अनक्षरात्मक होती है। ये सब ही भाषाएँ अनुभयवचन रूप हैं। क्योंकि इनके सुनने से व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही प्रकार के अंशों का ज्ञान होता है। इसलिए सामान्य अंश के व्यक्त होने से असत्य भी नहीं कह सकते और विशेष अंश के व्यक्त न होने से सत्य भी नहीं कह सकते।

इस प्रकार इनके मूल कारण पर विचार किया जाय तो उसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाते हैं—

मयवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुण्णदेहउदओदु।
मोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं ॥२२७॥जी. कां.॥

सत्य और अनुभय मनोयोग तथा वचनयोग का मूल कारण पर्याप्ति और शरीर नामकर्म का उदय है। मृषा और उभयमनोयोग तथा वचनयोग का मूल कारण अपना-अपना आवरण कर्म है। इस प्रकार सत्य-असत्य—उभय—अनुभय इन चारों प्रकार के वचनों के विषय में प्रतिपादित लक्षणों का निर्देशन किया गया।

आचार्यों ने वाणी की सत्यता एवं वाणी के संयम पर विचार करके, इसे अपने जीवन में उतारने के लिए चार विभागों में विभक्त किया है। यथा—सत्याणुव्रत, सत्यमहाव्रत, भाषासमिति और वचनगुप्ति।

सत्याणुव्रत—स्थूल झूठ नहीं बोलना सत्याणुव्रत है।

सत्यमहाव्रत—सूक्ष्मरूप से भी झूठ नहीं बोलना अर्थात् पूर्णरूप से असत्य का त्याग होना। सत्यमहाव्रत का लक्षण आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में इस प्रकार किया है—

रागदीहि असच्चं चत्ता परतापवसच्चवयणुत्तिं।
सुत्तत्थाण वि कहणे अयधा वयणुज्झणं सच्चं ॥६॥

आचारवृत्ति-राग-द्वेष मोह आदि के द्वारा और पैशून्य ईर्ष्या आदि के द्वारा असत्य वचनों का त्याग करना। पर-प्राणियों को जो तपाते हैं, पीड़ा देते हैं वे वचन परिताप कहलाते हैं।

ऐसे सत्यवचन भी अर्थात् जिस सत्यवचन के द्वारा पर-जीवों को परितापादि होता है उन सत्यवचनों को भी छोड़ देवें। जो जैसे के तैसे नहीं हैं वे अयथा-वचन हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि की अपेक्षा न करके सर्वथा ऐसा ही है इत्यादि प्रकार के सभी वचनों का परिहार करना असत्यवचन-त्याग है। अथवा सदाचारी आचार्य के द्वारा अन्यथा अर्थ कर देने पर भी दोष नहीं है, अर्थात् यदि आचार्य सदाचारी अर्थात् सदाचार प्रवृत्ति वाले पापभीरू हैं और कदाचित् अर्थ का वर्णन करते समय कुछ अन्यथा बोल जाते हैं या उनके वचन स्खलित हो जाते हैं तो उसे दोषरूप नहीं समझना।

भाषा समिति—सत्य भी कैसा बोला जाय? जो कठोर न हो, अप्रिय कटुक न हो किन्तु हितकर, सीमित एवं प्रिय हो, ऐसा वचन बोलना भाषा-समिति है।

पेसुण्णहास कक्कस परणिंदाप्पपसंस विकहादी।
वज्जिता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं ॥१२॥

आचारवृत्ति—चुगली के भाव को पैशून्य कहते हैं अर्थात् निर्दोष में दोषों की उद्भावना करना, निर्दोष को दोष लगाना हास्य कर्म के उदय से अधर्म के लिए हर्ष होना हास्य है। कान के लिए कठोर और युद्ध के प्रवर्तक वचन कर्कश हैं। पर के सच्चे अथवा झूठे दोषों को प्रकट करने की इच्छा का होना अथवा अन्य के गुणों को सहन नहीं कर सकना पर-निन्दा है, अपनी प्रशंसा स्तुति करना अर्थात् अपने गुणों को प्रकट करने का अभिप्राय रखना और स्त्रीकथा, चोरकथा और राजकथा आदि को कहना विकथादि हैं। इन चुगली आदि के वचनों को छोड़ कर अपने और पर के लिए सुखकर अर्थात् कर्मबन्ध के कारणों से रहित वचन बोलना भाषा-समिति है।

वचनगुप्ति—बोलना ही नहीं अर्थात् किसी प्रकार के भी शब्दों का प्रयोग न होना, मौन रखना वचनगुप्ति है।

इस प्रकार से जिनागम में वचन को सत्य एवं संयमित रखने के लिए उसे चार स्थानों में प्रतिबद्ध किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि बिना बोले काम चले तो बोलो ही मत। यदि बोलना पड़े तो हित-मित-प्रियवचन बोलना वह भी पूर्णतः सत्य किन्तु सत्य के साथ मधुरता होना भी अति आवश्यक है। ताकि सत्य को सुनकर भी उद्वेग न हो। अप्रिय और दोषयुक्त भाषा को तो सभी धर्मशास्त्रों में निंद्य कहा है। शरीर की कुरूपता को बदलना मनुष्य के वश की बात नहीं, किन्तु वाणी की कुरूपता को तो बदल ही सकता है। यदि सूक्ष्म असत्य से न बच सके तो स्थूल असत्य तो कभी नहीं बोलना चाहिये।

वाणी एक ऐसी शक्ति है जो एक ओर मन का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरी और शरीर में उछलकूद मचा देती है। आदमी किसी से लड़ता है तो वाणी के द्वारा, आदमी से प्रेम करता है तो वाणी के द्वारा। आदमी किसी को अपना बनाता है तो वाणी के द्वारा, किसी को विरोधी

बनाता है तो वाणी के द्वारा ही तो बनाता है। भाषा में बहुत बड़ी शक्ति है। मुँह से एक बात निकलती है और सामने वाले व्यक्ति को जो चाहे वैसा बना देती है। भाषा को बिना समझे अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। एक अंग्रेज पानी में डूब रहा था। उसे एक भारतीय व्यक्ति ने देखा। मन में करुणा जागृत हुई, वह तैरना जानता था। पानी में कूद गया और अंग्रेज को बचा लिया। तट पर अंग्रेज ने कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हुए कहा, 'थैंक्यू'। परन्तु बचाने वाला अनपढ़ था। वह समझा नहीं, उसे समझा कि यह कह रहा है कि "फैंक दो'। उस भारतीय व्यक्ति ने अंग्रेज को वापस पानी में गिरा दिया और बोला—मैंने ही निकाला और मुझे ही कहता है फैंक दो। यह सब वाणी का चमत्कार था, शब्दों का चमत्कार था। निकालने वाला भी वही था, और फैंकने वाला भी वही था, उसके मन से करुणा गायब हो गई, मन में आक्रोश जाग गया, करुणा का स्थान क्रूरता ने ले लिया। अंग्रेज पानी में तड़फ रहा है, वह तट पर खड़ा-खड़ा उसे देख रहा है। इस दुनियां में वाणी के द्वारा क्या-क्या नहीं होता है, सारा इतिहास वाणी पर आधारित है। सारा ज्ञान शब्दों में निबद्ध होकर पुस्तकों में प्राप्त है। जो कुछ मिलता है वह सब वाणी के द्वारा मिलता है।

हमारे जीवन-तंत्र के तीन साधन हैं-मन, वाणी, शरीर। यह जीवन की सीमा है। हमारा सारा आचार-विचार इनकी सीमाओं में निर्धारित होता है। कोई बुरा विचार मन में उभरा और मन तक ही सीमित रहा तो व्यवहार में वह हानिकारक नहीं बनता। मन में आया कि उस व्यक्ति को दो-चार मुक्के जमा दूँ, गला घोंट दूँ यह विचार मन तक रहा तब तक तो कोई बात नहीं, आया और चला गया। किन्तु यह विचारधारा जब भाषा में प्रवाहित होने लग जाय तो क्या होता है उसे सभी जानते हैं।आचरण की सीमा आगे बढ़ गई, रोष पैदा हो गया, आक्रोश पनपा और सामने वाले की भृकुटी तन गई, यह बात केवल भाषा तक ही सीमित होती है तो केवल तनाव की स्थिति बनती है और वही यदि काया में उतरती है तो स्थिति और भी गम्भीर बन जाती है, हाथ उठ जाता है, संघर्ष प्रारंभ हो जाता है।इसलिए वाणी पर संयम होना चाहिये, कोई बुरी बात मुख से न निकल जाय, बड़ी कठिनता से प्राप्त जिह्वा का दुरुपयोग न हो। सत्य आत्म साक्षात्कार का साधन है, सत्य आत्मा का ही एक पक्ष है। इसलिए व्यक्त सत्य तो आंशिक रूप में होता है तथा पूर्ण सत्य तो आत्मानुभव है। जब तक यह आत्मा विशेषरूप से आत्मवस्तु के सत्यस्वरूप को नहीं समझेगा तब तक सत्यधर्म की उत्पत्ति ही संभव नहीं है।

गृहस्थ अणुव्रत ग्रहण करते हैं, किन्तु जब वे मुनिव्रत धारण करते हैं तो महाव्रती, भाषासमिति, वचनगुप्ति के पालक बन जाते हैं। अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति, समिति ये सब बीच के पड़ाव है। ये प्राप्तव्य नहीं हैं, अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। अन्तिम अवस्था सिद्ध अवस्था है। सत्यधर्म तो आत्मा की वीतराग परिणति है जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र से समन्वित है।

उस सत्य स्वरूप को प्राप्त करने के लिए असत्य भाषण का त्याग करके सत्य को अपनाना

अपना प्रथम कर्तव्य है। मानव-जीवन में यदि सत्यनिष्ठा न होगी तो उसके जीवन में धर्म का भी कोई अस्तित्व न होगा, धर्म की जड़ें सत्य पर आधारित हैं।

आज मानव अपने थोड़े लाभ के लिए दूसरों को लाखों की हानि पहुँचाने के लिए असत्य बोलने से जरा भी संकोच नहीं करता है। घूँस देकर झूठी गवाही दिलाना तो आम बात हो गई है। पं. जवाहर लाल नेहरू ने एक बार कहा था कि मैंने डा. राजेंद्र प्रसाद जी को जीवन में कभी भी असत्य बोलते न देखा न सुना। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि राजनीति में कूटनीति चलती है किन्तु राजनीति में रहकर भी यदि व्यक्ति चाहे तो सत्य का प्रयोग कर सकता है, उसे अपने जीवन में उतारा जा सकता है।

'सत्यमेव जयते' सत्य की सदा विजय होती है। जिसने सत्य को प्राप्त कर लिया उसे संसार में अन्य वस्तु की प्राप्ति की आवश्यकता नहीं है। उत्तमसत्य दया से परिपूर्ण है, उभयलोक में सुखदायी है। सत्य में विश्वसनीयता का निवास है। सत्य संसार-समुद्र को पार करने के लिए सेतु है। मानव-जीवन की शोभा सत्य से ही है। उत्तम सत्य को तो तीर्थंकर वीतरागी साधु ही धारण कर सकते हैं, परन्तु व्यावहारिक सत्य का तो सभी जनों को पालन करना चाहिये.

सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि विसे णत्थि।
जदि संजदो य मोसे ण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥

यदि मनुष्य में अन्य गुण न हों तब भी वह एक सत्य के कारण जग में प्रामाणिक माना जाता है। यदि संयमी मनुष्य भी असत्य भाषण करता है तो सज्जनों के मध्य में तृण से भी तुच्छ माना जाता है।

अलियं स किं पि भणियं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं।
अदि संकिदो य संयम वि होदि अलिय भासणो पुरिसो ॥

एकबार भी बोला गया झूठ बहुत बार बोले गये सत्यवचन का घात करता है। लोग उसकी सत्य बात को भी झूठ मानने लगते हैं। झूठ बोलने वाला मनुष्य स्वयं भी भयभीत रहता है।

किसी नीतिकार ने कहा है—

जिह्वायाः खंडनं नास्तितालुको नैव भिद्यते।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति वचने का दरिद्रता॥

सत्य एवं प्रियवचन बोलने से जीभ के टुकड़े नहीं होते और न तालु में छिद्र ही होता है, तथा मिष्ट भाषण से अक्षरों का नाश भी नहीं होता है, तब हम वचनों के दरिद्री क्यों बनें। भाषा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा अपनी एवं दूसरो की भी भलाई हो सकती है। भाषा में बुराई और भलाई करने की शक्ति है।

वाणी के साथ तीन और भी शक्तियाँ काम करती हैं। यथा-वाणी, भावना, और वाणी से पैदा होने वाली तरंगे।

भाषा के साथ भावना की वैज्ञानिकता

वाणी के साथ भावना का बहुत बड़ा संबंध है। जिस भावना से वाणी निकलती है वैसा ही कार्य होने लगता है तथा वैसी ही तरंगे पैदा होने लगती है। भावना बिना हमें किसी की वाणी समझ में नहीं आ सकती। व्यक्ति अपनी भावना से ही दूसरे की बात को पकड़ता, तथा वैसी ही क्रिया करने लगता है। भावना क्या है?एक अंतर्जन्य सूक्ष्मवाणी है। हमारी भावना ही सबसे ज्यादा काम करती है। जितने मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हैं, सब भावनात्मक वाणी के द्वारा होते हैं।

एक बुढ़िया सिर पर गठरी लिये जा रही थी। एक आदमी घोड़े पर बैठकर जा रहा था। उसने बुढ़िया को देखा, मन में दया उमड़ी और बुढ़िया से कहा—माँ! मैं तुम्हारे ही गाँव जा रहा हूँ, लाओ गठरी दे दो, मैं घोड़े पर रख लूँ, आगे जहाँ भी ठहरूँगा वहाँ पर ले लेना। बुढ़िया ने गठरी दे दी। कुछ दूर जाकर घुड़सवार रुका। बुढ़िया भी पहुंच गई। पानी पिया बुढ़िया बोली—भाई! अब तुम जाओ, घोड़ा भी थक गया है। गठरी दे दो, तुमने इतनी दूर तक पहुँचाकर बड़ी कृपा की। घुड़सवार ने गठरी बुढ़िया को वापस दे दी। घुड़सवार आगे बढ़ गया परन्तु उसके मन में आया कि मैंने बुढ़िया को गठरी देकर भूल की, गठरी भारी थी अवश्य उसमें कुछ माल होगा, यदि मैं गठरी लेकर आगे बढ़ जाता तो बुढ़िया क्या कर लेती। पश्चाताप करने लगा कि मैंने गलत काम किया कि जो बुढ़िया का हाथ में आया हुआ माल वापस दे दिया। यह सोचकर वह वहीं रुक गया। इतने में बूढी माँ धीरे-धीरे आ गई। घुड़सवार बोला-माँ! थक गई होगी, लाओ गठरी दे दो। आगे रुक जाऊँगा। बुढ़िया बोली- नहीं, गठरी नहीं दूँगी। जो तुम्हें कह गया, वह मुझे भी कह गया।

बुढ़िया समझ गई कि अब इस घुड़सवार के मन में कपट की भावना जागृत हो गई है क्योंकि भावना की शक्ति प्रसरणशील होती है जो सामने वाले की मनोभावना को प्रभावित करती है। उसके मन एवं वाणी में वैसा ही परिवर्तन हो जाता है। यह एक जाना-पहिचाना मनोवैज्ञानिक सत्य है, जिसको पलटा नहीं जा सकता। एक व्यक्ति सामने वाले के लिए अच्छे विचार करता है तो उसमें भी अच्छे विचार पैदा हो जाते हैं, यदि बुरे विचार करता है तो उसके भी बुरी भावना अनजाने ही जागृत हो जाती है।

मंत्रोच्चारण भी एक महान् प्रक्रिया है। हमारे मन-मस्तिष्क एवं शरीर में जो परिवर्तन होता है उसके लिए हमारे ऋषि-महर्षि पहले ही बहुत विस्तृत रूप में बतला चुके हैं। आज के वैज्ञानिक उन्हीं की वाणी का आधार प्राप्त कर तथा चिन्तन कर उसी बात का समर्थन सिद्ध कर बतलाते हैं।

मंत्रोच्चारण से मन का आवेग शिथिल पड़ता है। किसी भी बीजाक्षर अर्हं, ॐ, क्लीं आदि से मस्तिष्क व्यवस्थित हो जाता है। जाप्य आदि के प्रयोग से शान्ति की तरंगे उत्पन्न होती है। एकाग्रता का विकास होता है। कुछ एक अक्षरों का जाप ठंडक पैदा करता है, कुछ मंत्राक्षरों का जाप गर्मी पैदा करता है। ऐसा भी बतलाया गया है कि एक हजार बार 'र' बीजाक्षर का उच्चारण करने से तापमान बढ़ जायेगा। तथा इसी प्रकार आकर्षण-वशीकरण आदि करने के भी बीजाक्षर मंत्र, जाप्यादि हैं जो अपना प्रभाव दिखाते हैं। हाँ, उच्चारण सही-शुद्ध होना चाहिये।

अतः वाणी की शक्ति के विकास के लिए भाषा शुद्धि अपेक्षित है। बहुत लोग जाप्य करते हैं और वे कहते हुए देखे-सुने जाते हैं कि हमको जप करते हुए इतने वर्ष बीत गये परन्तु जाप से कुछ शान्ति सफलता नहीं मिल पाई। किन्तु मिले कैसे! जब तक मंत्र शब्द के शुद्ध उच्चारण का रहस्य हाथ में नहीं आता तब तक मंत्र अर्थवान् नहीं हो सकता। शक्तिशाली नहीं होता तथा यह बात भी निश्चित एवं तथ्यपूर्ण है कि गुरु के बिना मंत्रोच्चारण का रहस्य हस्तगत नहीं होता।

उच्चरण भेद से भिन्न-भिन्न परिवर्तन

उच्चारण के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। भाषा के उच्चारण का बहुत महत्त्व है। मंत्रशास्त्र में शब्द के उच्चारण को प्राथमिकता दी गई है।लाभदायी मंत्र भी अशुद्ध उच्चारण से अलाभप्रद हो जाते हैं।

वाणी और शब्दों का संयोजन हमारी भावनाओं को प्रभावित करता है इसलिए सत्य एवं वचनशुद्धि की प्रत्येक अवस्था में आवश्यकता है।

यदि हम आज की समस्याओं का विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उसके मूल में सत्य का बहुत बड़ा हाथ है, इसलिए सारी समस्याएँ जटिल होती जा रही है। व्यक्ति सोचता है कि असत्य के बिना समाज का व्यवहार नहीं चल सकता. सारी राजनीति कूटनीति के आधार पर चलती है।

आज प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह आस्था बैठ गई है कि समाज में सच बोलने का अर्थ है अनेक प्रकार से आपत्तियों को निमंत्रण देना, संकटों का आह्वाहन करना। जो झूठ बोलने में चतुर होते हैं वे बच जाते हैं और सत्य बोलने वाले बिना अपराध के भी फँस जायेंगे, तथा पागल कहलायेंगे। यह है आज की आस्था। किन्तु इस प्रकार की धारणा एवं मान्यता से सारा व्यवहार गड़बड़ हो गया है, मूल में ही भूल हो रही है।

आचार्यों ने तो कहा है कि सत्य वही है जहाँ पर मन, वचन और काय की सरलता है, सत्य में किसी भी प्रकार का विसवाद नहीं होता है। सत्यवादी के कथन को कोई असत्य

नहीं कर सकता। देखो, वसुराजा सत्य को असत्य का मुकुट लगाने लगा तो वसुराजा सिंहासन सहित पृथ्वी के अन्दर धस गया। इसलिए इस जगत में सत्य का ही बोलबाला रहेगा और झूठे का मुँह काला।

सत्य के बल से वचनसिद्धि प्राप्त हो जाती है। जिसको सत्य के प्रति अटूट श्रद्धा है वह उसके द्वारा प्रत्येक कार्य की सिद्धि कर लेते हैं। वास्तव में यदि सत्य का प्रयोग हो तो वाणी में अपार शक्ति का संचरण होने लगे। क्योंकि कार्य और मन के बीच में वाग्देवता सरस्वती का निवास है जो दोनों को ही नियंत्रित कर सकती है किन्तु सत्स्वरूप वाग्देवता की उपासना सत्यरूप से की जाय तभी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति सरल बन सकेगी। जब तक वचनशुद्धि नहीं तब तक कार्य और मन अशुद्ध बने रहते हैं। अतः सरस्वती जो वाग्देवता है, उसकी उपासना-आराधना करना अति आवश्यक है। असत्य बोलकर सरस्वती का अपमान-अविनय करना उचित नहीं।

व्यक्ति को एक झूठ का सत्य सिद्ध करने के लिए हजारों झूठ बोलने पड़ते हैं तथा असत्यवादी सदा सशंकित बना रहता है असत्य दुर्गति का कारण है। इसलिए गृहस्थ जीवन में यदि अणुव्रत रूप से सत्य का परिपालन नहीं करेंगे तब तक गृहस्थ जीवन भी पवित्र एवं श्रेष्ठ नहीं बन सकता।

अनन्त प्राणी संसार में विद्यमान हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक प्राणी हमारे दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि दो इन्द्रिय से ही जिह्वा इन्द्रिय प्राप्त हो जाती है किन्तु चौइन्द्रिय तक के प्राणियों तक के प्राणियों में स्पष्ट और सार्थक भाषा बोलने की क्षमता ही नहीं है तथा पंचेन्द्रियों में भी विशालकाय हाथी, ऊंट, घोड़ा अपने विचारों का आदान-प्रदान करने में असमर्थ हैं। केवल मनुष्य ही एक ऐसा है जो दूसरों की समझ में आने वाली भाषा बोल सकता है और अपने विचारों को दूसरों को अवगत करा सकता है।इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्य ने अन्य प्राणियों की अपेक्षा विशेषरूप से सुकृत एवं पुण्य उपार्जन किया होगा, जिसके फलस्वरूप अन्य की अपेक्षा विशेष बौद्धिक शक्ति तथा मानसिक क्षमता प्राप्त हुई है। संसार का प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपनी किसी भी बहुमूल्य वस्तु को व्यर्थ में नहीं खोता। उसका पूरा-पूरा लाभ उठाता है, जिससे वाणी की प्राप्ति में खर्च हुए पुण्य की अपेक्षा भी और अधिक नवीन पुण्य संचय कर लेता है। यह है विवेक और ज्ञान का मूल्यांकन।

चाणक्यनीति में वाणी का बहुत महत्त्व बताया है। कहा है—

> संसारकटुवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
> सुभाषितं च सुस्वादु संगति सुजने जने ॥

इस विराट विश्वरूपी विष वृक्ष में अमृत के सदृश दो ही फल हैं, एक है सुमधुर सरस प्रियवचन, तथा दूसरा सज्जन पुरुषों की संगति।

इस युग में जिधर भी नजर दौड़ाते हैं उधर ही संघर्ष और वैर-विरोध का वातावरण दिखायी देता है। चाहे राष्ट्र में देखें, समाज में परिवार में देखें, धर्मक्षेत्रों में, स्कूल, कॉलेजों में, सभी स्थानों में अशान्ति कलह का साम्राज्य दिखायी पड़ता है।इसका मूल कारण यदि खोजें तो अधिकतर वाणी का दुरुपयोग, वाणी की कटुता ही परिलक्षित होती है। भाषा की मधुरता से व्यक्ति सर्वत्र आदर और प्रेम का भाजन बनता है।

इसलिए किसी कवि ने कहा है—

जिव्हा में अमृत वसे, विष भी तिसके पास।
इक बोले तो लाख ले एके लाख विकाय॥

अमृत और विष दोनों ही जिव्हा में विद्यमान हैं। जो व्यक्ति मधुर और प्रियवाणी का प्रयोग करता है वह अनेक प्रकार से लाभान्वित होता है। और वाणी के कटुक प्रयोग से अनेक हानियों का शिकार बनता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य की भाषा में अपार शक्ति है। इस छोटी सी जिव्हा से चाहें तो महाभारत के समान युद्ध ठन जाय और चाहें तो शत्रु भी मित्र बन जाये। इसलिए अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाना है तथा लोक में यश-प्रतिष्ठा की प्राप्ति करते हुए परलोक में शुभगति को प्राप्त करने के लिए तथा वाणी के मूल्य को समझाने के लिए प्रयत्नपूर्वक वचनशुद्धि का सतत प्रयास करना चाहिये। इससे हमारी आत्मा का कल्याण होगा।

※※※

अचौर्य व्रत

❑ डॉ. शेखरचन्द्र जैन

अचौर्य महाव्रत को समझने से पूर्व हम संक्षेप में 'व्रत' शब्द एवं उसके भाव को समझें।इससे हमारी व्रत संबंधी मान्यताएँ दृढ़ एवं भ्रांतियाँ दूर होंगी। सामान्यतः व्रत का अर्थ नियम या कुछ क्रियाओं के साथ जुड़ा है। व्रत की व्याख्या करते हुए क्षु. जिनेन्द्रवर्णी ने 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोष' में लिखा है— "यावज्जीवन हिंसादिक पापों की एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति को व्रत कहते हैं वह दो प्रकार का है—श्रावकों के लिए अणुव्रत या एक देश व्रत तथा साधुओं के लिए महाव्रत या सर्वदेशव्रत होता है। इन्हें भावना सहित निरतिचार पालने से साधक को साक्षात् या परंपरया मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः मोक्षमार्ग में इसका महत्त्व है।" तत्वार्थसूत्र में पंचपापों की निवृत्ति को व्रत कहा है। सवार्थसिद्धि में कहा गया है—प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। या यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है। सागारधर्मामृत में व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं- किन्हीं पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभकर्मों में उसी प्रकार संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभकर्मों में उसी प्रकार संकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।"

ऊपर की व्याख्याओं में एक सामान्य तथ्य स्पष्ट होता है कि पंच पापों से बचने के लिए गृहस्थ और साधु नियम धारण करके उनका पूरी निष्ठा से पालन करें। प्रतिज्ञा शब्द दृढ़ता से आरुढ़ होने की भावना का प्रतीक है। क्योंकि यदि दृढ़ता नहीं होगी तो किसी भी व्रत का पालन संभव नहीं, उसमे निरंतर अतिचार लगते रहेंगे। इस प्रतिज्ञा में ही 'भेद-विज्ञान' दृष्टि का विकास होता है। करणीय-अकरणीय की दृष्टि मनुष्य को हिताहित का विवेक प्रदान करके उसे व्रतों में दृढ़ बनाती है। गृहस्थ के लिए समय की अवधि हो सकती है, पर महाव्रती साधु के लिए उसका पूर्ण रूप से आजीवन पालन करना आवश्यक है, अन्यथा वे मोक्षमार्ग से च्युत हो जायेंगे।

नियम आदि का पालन व्यावहारिक दृष्टि से हमारी विस्मृत मनोवृत्तियों पर संयम की लगाम का काम करता है। हम उच्छृंखलता से बचते हैं। जब हम बाह्य व्रतों में पूर्णरूपेण दृढ़ होते हैं तब आत्मा के निश्चय व्रतों में स्थिर बनते हैं। द्रव्यसंग्रह की टीका में निश्चय की व्याख्या इस प्रकार की गई है-'निश्चयनय की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव धारक निज आत्मतत्व की भावना से उत्पन्न सुख रूपी अमृत के आस्वाद के बल से सब शुभ व अशुभ

राग आदि विकल्पों से रहित होना व्रत है।" पंचाध्यायी उत्तरार्ध में इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—"......जो मोहनिय कर्म के उदय के अभाव में शुद्धोपयोग होता है, वही निश्चय से चारित्र है जिसका दूसरा नाम ऐसा उत्कृष्ट व्रत है।"

आचार्यों ने श्रावक व मुनि दोनों को सम्यक्त्व के साथ ही व्रताराधना पालन करने का आदेश दिया है। व्रत का पालन तभी हो सकता है जब सम्यग्दर्शन का अष्टांगसहित ग्रहण किया जाये अन्यथा मिथ्यादर्शन विपरीत मार्ग पर भटका देता है।

जब मुनि अपने आचार्य से व्रत ग्रहण करता है तब वह बायीं ओर बैठता है। इन्हीं व्रतों को पूर्ण सम्यक्त्व के साथ धारण कर मुनि महाव्रती बनता है। महाव्रती प्राणों से भी अधिक व्रतों की रक्षा में, उन्हें निरंतर दृढ़ बनाने में ही दत्तचित्त रहता है। सागार धर्मामृत में कहा है—"प्राणान्त होने की सम्भावना होने पर भी गुरु-साक्षी के लिए गये व्रत को भंग नहीं करना चाहिये क्योंकि प्राणों के नाश से तो तत्क्षण ही दुःख होता है, पर व्रत भंग से भव-भव में दुःख होता है।"

इसी संदर्भ में महाव्रत के लक्षण को जान लें ताकि हम अपने प्रतिपाद्य विषय को अधिक सुगमता से समझ सकेंगे। तत्वार्थसूत्र में भी स्पष्ट किया है कि-"हिंसादिक पंचपापों से सब प्रकार से निवृत्त होना महाव्रत है।" इसी प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी इसी बात का अनुमोदन करते हुए लिखा है-"हिंसादि पांचों पापों का मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करना महापुरुषों का महाव्रत है।" प्रायः सभी शास्त्रों ने महाव्रत के अन्तर्गत समस्त पाप एवं तज्जन्य क्रियाओं का पूर्ण त्याग करना माना है। इनका पूर्ण रूप से पालन करना ही तीर्थंकरत्व का बंध व मोक्षमार्ग है। इनका पालन प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिये। इसीलिए तत्वार्थसूत्र में 'निःशल्यो व्रती' कहकर मार्मिक व्रत के संदर्भ में विधान किया है। व्रतों की धारणा तो करें ही, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक वेदनारहित होकर प्राणों से भी अधिक प्रिय मानकर उनका जतन करें।

चूँकि विषय तीसरे व्रत 'अचौर्य' से सम्बद्ध है तथा महाव्रत के परिप्रेक्ष्य में इसका सीधा संबंध महाव्रती मुनिराजों के साथ है।

अचौर्य का दूसरा नाम अस्तेय है। सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि "बिना दी हुई वस्तु का लेना स्तेय है।" इस कथन का अभिप्राय है कि बाह्यवस्तु ली जाये या नहीं। किन्तु जहाँ संक्लेशरूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है। प्रायः सभी जैनाचार्यों ने किसी न किसी रूप में यही प्रतिपादित किया है कि जो किसी की रखी, भूली या गिरी हुई वस्तु को न लेता है, न हरण करता है, न लूटता है उसके अचौर्याणुव्रत होता है। इसी प्रकार किसी वस्तु को कम भाव से लेना, तस्करी, कालाबाजार, संग्रह आदि का भी चौर्यकर्म में समावेश होने से उनका त्याग करना भी अचौर्यव्रत का धारण करना है।इस महाव्रत का लक्षण नियमसार की मूलटीका में इस प्रकार किया गया- "ग्राम में, नगर में या वन में परायी वस्तु को देखकर जो उसे ग्रहण

करने के भाव को छोड़ता है उसको तीसरा (अचौर्य) महाव्रत है"। इसी प्रकार की भावना मूलाचार में व्यक्त की गई है-"ग्राम आदिक में पड़ी हुई, भूली हुई, रखी हुई इत्यादि रूप से अल्प भी स्थूल-सूक्ष्म वस्तु को, दूसरे के द्वारा इकट्ठे किये गये ऐसे परद्रव्य को ग्रहण नहीं करना अदत्तत्याग अर्थात् अचौर्य महाव्रत है।

महाव्रती मुनिवर के लिए अस्तेय की भावनाओं की चर्चा 'भगवती आराधना' में करते हुए लिखा है—

(१) उपकरणों को उसके स्वामी की (परवानगी) आज्ञा के बिना ग्रहण न करना।

(२) उनकी अनुज्ञा से यदि ग्रहण करे तो उसमें आसक्ति न करना।

(३) अपने प्रयोजन को बताते हुए कोई वस्तु न माँगना।

(४) अपनी मर्जी से यदि देगा तो 'वह सबकी सब ग्रहण कर लूँगा'—ऐसी भावना न करना।

(५) ज्ञान या चारित्र में उपयोगी वस्तुएँ या उपकरण को ही ग्रहण करना, अन्य नहीं।

(६) घर के स्वामी द्वारा घर में प्रवेश की मनाई होने पर उसके घर में प्रवेश न करना।

(७) आगम से विरुद्ध संयमोपकरण की याचना न करना।

ऐसे ही अचौर्यमहाव्रत की भावनाएँ है। अनगार धर्मामृत में आचार्य ने दो प्रकार से पाँच-पाँच भावनाएँ बतलाई हैं, जो क्रम से आचार-सार एवं प्रतिक्रमण-शास्त्र के अनुसार हैं।

आचारशास्त्र के अनुसार भावनाएँ—

(१) स्वामी के द्वारा अनुज्ञात तथा योग्य ही वस्तु का ग्रहण करना।

(२) अनुमत वस्तु में भी आसक्त बुद्धि न रखना।

(३) जितने से अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाता है उतना ही ग्रहण करना, बाकी को छोड़ देना।

(४) गोचरादिक करते समय जिस गृह में प्रवेश करने की उसके स्वामी की अनुमति नहीं है उसमें प्रवेश न करना।

(५) सूत्र के अनुसार योग्य वस्तु की याचना करना।

प्रतिक्रमणशास्त्र के अनुसार भावनाएँ—

(१) शरीर की अशुचिता या अनित्यता आदि का विचार करना।

(२) आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न समझना।

(३) परिग्रह-निग्रह अर्थात् जितने भी चेतन या अचेतन पर-पदार्थ हैं, उनके सम्पर्क में आत्मा अपने हित से मूर्च्छित हो जाता है'—ऐसा विचार करना।

(४) भक्त-संतोष अर्थात् विधिपूर्वक जैसा भी भोजन प्राप्त हो उसमें ही संतोष धारण करना।

(५) पान-संतोष अर्थात् यथालब्ध पेय वस्तु के लाभालाभ में संतोष रखना, उन दोनों की प्राप्ति के लिए गृद्धि न होना। महापुराणकार ने मुनि के आहार पर विशेष जोर देते हुए अस्तेय की भावनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) परिमित आहार लेना।

(२) तपश्चरण के योग्य आहार लेना।

(३) श्रावक के प्रार्थना करने पर आहार लेना।

(४) योग्य विधि के विरुद्ध आहार न लेना।

(५) प्राप्त हुए भोजन में संतोष रखना।

जहाँ तक महाव्रती मुनि का संबंध है—वहाँ गृहस्थ की तरह सांसारिक व्यवहार नहीं होने से अन्य चौर्यकर्म करने का स्वयं अभाव रहता है। व्यावहारिक रूप से गृहस्थ जीवन व्यापन के लिए किन्हीं अंशों में, चौर्यवृत्ति से जुड़ता है। फिर धनेषणा के कारण भोगविलासादि वृत्ति के कारण, अनर्गल मार्गों को अपना कर चोरी आदि कार्य करता है। कम तौलना, कम भाव देना, तस्करी, दलाली, करचोरी, झूठ बोलकर धन कमाना आदि सभी कार्य चोरी के अंतर्गत आते हैं। पर, मुनि इन सबसे मुक्त होने के कारण चोरी के इस सीधे पाप-कर्म से बचता है। गृहस्थ-जीवन का त्याग ही उसकी वैराग्य-भावना का प्रबलतम कारण है। मोक्ष का पंथ स्वीकार करना उसका लक्ष्य है। वह पंचपापों से बचने के लिए गृहस्थ-जीवन में अणुव्रत धारण करके उसमें दृढ़ होते-होते मुनि अवस्था को स्वीकार करके पंचमहाव्रतों में आरूढ़ होता है और अंतिम लक्ष्य मुक्ति के लिए उन महाव्रतों में दृढ़ बनता है। अतः पंचपापों की मुक्ति के लिए पंच महाव्रत -एवं वैराग्य भावना ही उसका सर्वस्व बन जाता है। मुनि की दृष्टि संसार, शरीर या भौतिक पदार्थों पर नहीं रहने से उसे सांसारिक हिंसादि पंचपापों में प्रवृत्ति होने की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरो को सताकर हिंसा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसकी दृष्टि तो करुणा, दया, क्षमा से ओत-प्रोत होती है। अपने स्वार्थ के लिए उसे झूठ की आवश्यकता ही क्या? रहा प्रश्न चोरी का सो किस वस्तु की किसके लिए चोरी? फिर भी व्रताराधना में इसका समावेश किया गया। आचार्यों का आशय मुनि को अधिकाधिक आत्मचिंतन में लीन बनाने का है। दिगम्बरमुनि जिसने वस्त्र भी त्याग दिये हैं-उसे शास्त्र के अलावा और क्या चाहिये? पर, सूक्ष्मतम अचौर्यवृत्ति का पालन करने वाले मुनि को इन उपकरणों की भी प्राप्ति के लिए कोई भी याचना नहीं करनी चाहिये। आवश्यकता से अधिक उपकरण नहीं रखना चाहिये। ऐसा उपकरण हो ऐसी भावना भी नहीं करनी चाहिये। अन्यथा अचौर्यमहाव्रत में स्खलन होने की संभावना बढ़ती है। आवश्यकता से अधिक दाता द्वारा प्रदान करने पर भी, उसे नहीं लेना ही उसकी व्रताराधना का अंग होना चाहिये।

"साधु जीने के लिए भोजन करता है--खाने के लिए नहीं जीता" इस सूक्ति के आधार पर शुद्ध विधिपूर्वक जो भी भोजन मिले उसे धर्माराधना के लिए शरीर के आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार करना, लक्ष्य होना चाहिये। इसीलिए महापुराण में भोजन को, उसके परिणाम वृत्ति को अस्तेय की भावनाओं में रखा गया है।

***
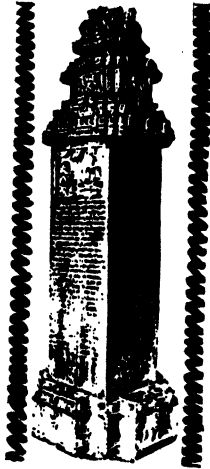
ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

❑ गणिनी आर्यिका विजयमतीजी

जीवन का सार है संसार की समाप्ति और मुक्ति की प्राप्ति। आत्मा का विकास और विषयों का ह्रास। अध्यात्म जगत का जागरण और भौतिक जगत का मारण अर्थात् नाश। यह कार्य दृष्टि से फेर पर अवलम्बित है। दृष्टि बदली की सृष्टि बदली, सुख और दुःख दोनों पर-स्वभाव हैं, स्व तो आत्मा है जो मात्र ज्ञानानन्द स्वरूप है। यही है सत्-चिदानन्द जिसके स्रोत माया, मिथ्यात्व व अज्ञान से रुद्ध हो रहे हैं। संसार की परिपाटी का यही आधार है। उनके मूल में है ब्रह्म और परिग्रह का भाव। इनका संयोग ही संसार है। सागारधर्मामृत में गृह की परिभाषा करते हुए द्वितीय अध्याय में लिखा है—गृहिणी का नाम ही घर है, न कि दीवाल, कपाट आदि का संयोजन। कन्यादान के प्रकरण में लिखा है कि धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ की साधक गृहिणी है। ये तीनों पुरुषार्थ संसार के रंगमञ्च पर ही प्रदर्शित होते हैं। गृहिणी के मूल में काम, भोगवासना अन्तर्निहित है, जो अब्रह्म और परिग्रह का द्योतक है, राग द्वेष की जननी और संसार की मूल है। यों भी संसार का प्रसार मूलतः जर, जोरू और जमीन पर ही आधारित है। जर और जमीन परिग्रह है। दोनों का अन्योन्याश्रय संबध है। इनके योग से संसार की परिपाटी वृद्धिंगत होती है। अस्तु! यह सुनिश्चित है कि जहाँ परिग्रह है वहाँ अब्रह्म भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। अब्रह्म भाव के साथ परिग्रह अपना अस्तित्व जमाये रखता है। यही है संसार। इसके विपरीत है मुक्ति।

आचार्य पद्मनन्दी अपने ग्रंथ 'पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका' में ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिः प्रकरण में लिखते हैं—

> दारा एवं गृहं न चेष्टरचितं तत्तैर्गृहस्थो भवेत्,
> तत्त्यागे यतिरादधाति नियतं स ब्रह्मचर्यं परम्।
> वैकल्यं किल तत्र चेत्तदपरं सर्वं विनष्टं व्रतम्,
> पुंसस्तेन विना तदा तदुभयं भ्रष्टत्वमापद्यते ॥११॥

अर्थात् स्त्री ही घर है, ईंटों से निर्मित घर वास्तविक घर नहीं है। इस स्त्री के संसर्ग से ही श्रावक गृहस्थ कहलाता है. रमणी-रमण का त्याग करने पर ही साधु निर्दोष, नियमित उत्तम ब्रह्मचार्य को धारण करता है। ब्रह्मचर्य व्रत के विषय में दोष आने पर अन्य सभी व्रत नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत के बिना उस पुरुष का उभयलोक भ्रष्ट हो जाता है।

उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थसूत्र में 'मैथुनम्ब्रह्म" कहा है अर्थात् स्त्रीसंसर्ग, रमणीरमण भाव या रतिकर्म ही अब्रह्म है। इसी ग्रंथ में परिग्रह की परिभाषा करते हुए लिखा है— "मूर्च्छा-परिग्रहः"-मोह ममकारबुद्धि परिग्रह है। सुनिश्चित है कि नारी के प्रति अनुराग और परिग्रह और उसके साथ सम्भोग अब्रह्म है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक है। इस विश्लेषण के निष्कर्ष से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिग्रह-पिशाच से रक्षण करने के लिए ब्रह्मचर्य पालन अत्यावश्यक है, सर्वोपरि है।

ब्रह्म का अर्थ है आत्मा और चर्य का अर्थ है आचरण-रमण करना। अर्थात् आत्मा में रमण करना या लीन होना है ब्रह्मचर्य। यह कार्य अहंकार और ममकार का त्याग किये बिना नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मचारी के निकट परिग्रह आ ही नहीं सकता। इस व्रत का बड़ा महत्त्व है। इसे असिधाराव्रत संज्ञा प्रदान की गई है। तलवार की धार पर चलना और इस व्रत का पालन करना समान है। यह आत्मस्वरूप का द्योतक है, आत्मस्वरूप ही है। ब्रह्मचर्य साहचर्य से सुब्रह्मचारी का माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा है—

> विद्यामंत्राश्च सिद्धयन्ति किंकरन्त्यमराण्यपि।
> क्रूरा शाम्यन्ति नाम्नाऽपि निर्मल-ब्रह्मचारिणः॥

आत्मा ज्ञानधन है और विद्या मंत्रादि ज्ञान के ही रूप हैं। ब्रह्मचारी का आत्मस्वरूप ही प्रकट होने लगता है,स्वाधीन बल, वीर्य जागृत हो जाता है। स्वशक्ति को जागृत रहते भला अन्य क्रूर हिंस्रप्राणी क्या आक्रमण कर सकते हैं? नहीं कर सकते। अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत में एकत्व विभक्त भाव निहित है। उस एकत्व में स्थिति को ही कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वसमय कहा है। जहाँ परमाणु मात्र भी पर-द्रव्य में मूर्छा-ममत्व है वहाँ स्व-स्वरूप की सिद्धि अशक्य है। इसीलिए तो ब्रह्मचर्य को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है।

ब्रह्मचर्यव्रत को जीवन में लाने के लिए दो भागों में विभक्त किया है—अणु अर्थात् एक देश और सर्वदेश के भेद से अर्थात् अणुव्रत और महाव्रत के भेद से। अणुव्रत को स्वदार-संतोषव्रत भी कहते हैं। नवकोटि पूर्णतः स्त्रीमात्र का त्याग करना महाव्रत है। गृहस्थाश्रम में अणुव्रत रूप स्वदार-संतोषव्रत पालन हो सकता है और यति-साधु सर्वदेश महाव्रत रूप में ब्रह्मचर्यव्रत पालते हैं। यह क्रम स्पष्ट करता है कि ज्यों-ज्यों ब्रह्मचर्यव्रत का विकास होता जाता है, परिग्रह का त्याग भी होता जाता है। 'ममेदं तवेदं' का द्वन्द नष्ट होता जाता है और तब संसार का मूल राग द्वेष भी कम होता जाता है। समता भाव जागृत होने लगता है। शील के १८000 भेदों का विश्लेषण करने पर यह विषय और भी सुस्पष्ट हो जाता है। सर्वप्रथम स्त्री के २ भेद किये-चेतन और अचेतन। चेतन स्त्री की अपेक्षा निम्न भेद हैं—

मानुषी, तिर्यञ्ची और देवांगना के भेद से स्त्री के ३ भेद हैं। इनके साथ ३ योग, ३ कृत-कारित-अनुमोदना, ४ संज्ञा (आहार-भय-मैथुन-परिग्रह), १६ कषाय, १0 इन्द्रियों (५ द्रव्य

व ५ भावेन्द्रियाँ) का गुणा करने पर ३×३×३×४×१६×१०=१७२८० भेद चेतन-स्त्री की अपेक्षा से है।

इसी प्रकार अचेतन स्त्री संबंधी ७२० भंग होते हैं।

काष्ठ, पाषाण, चित्र के भेद से ३ भेद; योग २-मन और काय; कृत-कारित-अनुमोदना ३; कषाय ४ और इन्द्रियाँ १०, इनका परस्पर गुणा करने से ३×२×३×४×१०=७२० भेद हो जाते हैं। इनको चेतन-स्त्री के १७२८० भेदों में मिलाने पर १७२८०+७२०=१८००० भेद हो जाते हैं।

इन भेदों को निकालने के अन्य तरीके भी हैं—

(१) विषयाभिलाषा, (२) वस्तिमोष (३) प्रणीतरस सेवन, (४) संसक्त द्रव्यसेवन, (५) शरीराङ्गोपाङ्गावलोकन, (६) प्रेमी का सत्कार-पुरस्कार, (७) शरीर-संस्कार, (८) अतीत भोग-स्मरण, (९) अनागत भोगाकांक्षा, (१०) इष्ट विषयसेवन। चिन्तादि १० (चिन्ता, दर्शनेच्छा, दीर्घनिश्वास, ज्वर-दाह, आहार की अरुचि, मूर्छा, उन्माद, जीवन-सन्देह और मरण), इन्द्रियाँ ५, योग ३, कृतादि ३. जागृत स्वप्न २. चेतन-अचेतन २-इन सबका गुणा करने पर १०×१०×४×३×३×२×२=१८००० भेद हो जाते हैं। अन्य प्रकार भी हैं—

स्त्री के ४ भेद, योग ३, कृतादि ३, इन्द्रियाँ ५, श्रृंगार रस के भेद १०, काय-चेष्टा के भेद १० से गुणा करने पर ४×३×३×५×१०×१०=१८००० भेद प्राप्त हो जाते हैं। शीलव्रत की पूर्णता क्रमशः होते होते १४ वें गुणस्थान पर पहुँचने पर होती है। यहीं आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है और यहीं चारित्र गुण की भी पूर्णता होती है, जिसे अभी परिग्रह ने चारों ओर से आच्छादित कर रक्खा है। प्रथम अवस्था में "रागद्वेषनिवृत्तिचरणं प्रतिपद्यते साधु" कहा है। शंका—यह राग द्वेष क्या है? समाधान—अन्तरङ्ग परिग्रह, जो ब्रह्म परिग्रह के त्याग से ही छूटते हैं। बाह्य परिग्रह के तीन भेद हैं— (१) सचित्त, (२) अचित्त और (३) मिश्र। सचित्त परिग्रह है-स्त्री, पुत्र, पुत्री, बन्धु-बांधव, पशु आदि। मकान, दुकान, सुवर्ण, रजत, धनसंपत्ति इत्यादि अचेतन द्रव्य हैं, और मिश्र हैं वस्त्रालंकार युक्त पुत्र-कलत्रादि। यहाँ भी नारी का ही प्रामुख्य हैं, उसके साथ ही अन्य सर्व संबंध हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण करते हुए श्री आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखा है—

न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि ॥५९॥

यहाँ 'पापभीतेः' शब्द विशेष विचारणीय है। "लोभ पाप का बाप बखाना" युक्ति के अनुसार पाप शब्द कषाय या राग का द्योतक है, यह मैथुन के साथ परिग्रह का भी संकेत करता है। अतः स्वदार-संतोषव्रती परस्त्री का सेवन न स्वयं करता है और न अन्य को ही प्रेरणा देता

है। वह सतत् पाप से—परिग्रह भाव से भयभीत रहता है। अन्तरङ्ग मूर्च्छा बिना बाह्य परिग्रह में प्रवृति नहीं होती। पूज्यपादस्वामी ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा है—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ॥३७॥

यथा यथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

अर्थात् ज्यों-ज्यों संसार गृहिणी विषयांकाक्षा से भीति होती है, जीव अक्लिष्ट प्राप्त विषयों में भी रुचि-प्रीति नहीं करता। सुलभता से प्राप्त भोग सामग्री से भी उसे घृणा हो जाती है और उत्तरोत्तर वैराग्यभाव जागृत होता जाता है। स्व-स्वरूपोन्मुख हो बाह्यभ्यन्तर परिग्रह को त्याग अखण्ड महाव्रत में रमण करता है।

अपरिग्रहमहाव्रत की क्या बात, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का लक्षण ही देखिये—

धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमित-परिग्रहस्यादिच्छापरिमाण नामापि ॥६१॥ र. श्रां. ॥

अनावश्यक धन, धान्य, परिवार में मूर्च्छा भाव नहीं रखना, ममत्व न रखना, इच्छाकृत परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है। वस्तुतः परिग्रह सतत पापास्रव करता है। उसी प्रकार विषयी-कामसेवी भी निरंतर कलुषित परिणामों का आस्पद बना रहता है।

परिग्रह और कामसेवन की दुर्लालसा प्राप्त और अप्राप्य उभय अवस्था में जीव को धुंधलाती, सुलगाती रहती है। श्री गुणभद्र स्वामी ने अपने 'आत्मानुशासन' में बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है—

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरेन्धनः।
उभयथाऽपि ज्वलत्युच्चैः अहो मोहाग्नि उत्कटः ॥

बाह्य अग्नि ईंधन का सहयोग पाकर उत्तरोत्तर बढ़ती है और ईंधन के नहीं मिलने पर शांत हो जाती है, किन्तु अन्तरङ्ग मोहाग्नि अपना विषय पाकर तो जलती ही है, नहीं मिलने पर और अधिक भयंकर हो, प्राणी को ही जला डालती है।

वेदमार्गणा में श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती कामवेदना का चित्रण करते हुए लिखते हैं—

जो न स्त्री है, न पुरुष ही है—उभयलिंग रहित नपुसंक की कषाय भट्टी में पकती हुई ईंट के समान अति तीव्र होती है। "इट्ठावग्गि समाणा वेदण गरुओ कलुसच्चितत्ते' तीव्र कषाय से निरंतर कलुषित चित्त रहता है, परन्तु स्त्री-सम्भोग नहीं मिलता। अहर्निश मूर्च्छाभाव से आच्छादित हुआ आतुर बन दुःखानुभव करता है। अपगत-वेदियों का निरुपण करते हुए वह लिखते हैं—

तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का।
अवगयवेदाजीवासगसंभवणंतवरसोक्खा ॥२७६॥ गो. जी.

अर्थात् तृण की अग्नि, कारीष अग्नि और ईटपाक के समान-वेद परिणामों से रहित जीव अपगतवेदी हैं, ये स्वात्मा से उत्पन्न अनन्त और सर्वोत्कृष्ट परमानन्द का उपभोग करते हैं। अर्थात् पुरुषवेद की कषाय तृण (तिनके) की अग्नि के सदृश क्षणिक है, स्त्रीवेद की कषाय कारीष (कण्डे) के समान तीव्रतर है और नपुसंकवेद की कषाय अवा में पकने वाली ईंट के समान तीव्रतम है। इन अग्नित्रय से दूर रहने वाले जीव ही आत्मोत्थ चिर सुख और शांति का अनुभव करते हैं।

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहवाद आत्मा के स्व-स्वरूप हैं। जितने अंश में इनकी प्राप्ति होगी जीव उतने ही अंशों में सुख, शांति, आनन्द, निराकुलता और संतोष का अनुभव कर सकेगा।

जन समुदाय का क्रमिक विकास इन दोनों ब्रह्मचर्य और परिग्रहवाद पर ही निर्भर है। ब्रह्मव्रत और अपरिग्रह भाव जितने अंशों में वृद्धिगत होगा, जीवन उतना ही सौम्य, शांत, सुगठित और उन्नत होता जायेगा। नैतिक उत्थान के साथ सर्वांगीण विकास होगा। व्यष्टि के उन्नत होने पर परिवार, समाज, राष्ट्र देश सभी विकासोन्मुख हो सकते हैं, क्योंकि व्यष्टि समुदाय ही परिवार, समाज एवं राष्ट्र है।

यदि अब्रह्म और परिग्रह संचय सुखसंवृद्धि के द्योतक होते तो उमास्वामी आचार्यवर्य स्वर्ग सुख के निरुपण में यह क्यों लिखते हैं कि 'गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः" अर्थात् प्रथमादि स्वर्गों से ऊपर-ऊपर स्वर्ग वाले देव गमन, शरीर अवगाहना, परिग्रह-ऋद्धि आदि वैभव एवं अहंकार आदि से हीन-हीन होते हैं, परन्तु इससे उनके सुखादि इसके विपरीत वृद्धिंगत होते जाते हैं. यथा—"स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः" अर्थात् वे स्वर्गवासी अमरगण ऊपर-ऊपर के स्वर्ग में स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, कान्ति, लेश्या-विशुद्धि-भावविशुद्धि, इन्द्रिय-विषय की हीनता, अवधिज्ञान विषय की वृद्धि की अपेक्षा विशेष अधिक-अधिक होते हैं। अर्थात् अब्रह्म और परिग्रह की हीनता के साथ-साथ उनके आत्मीय गुण ज्ञान-दर्शनादि वृद्धि को प्राप्त होते जाते हैं।

उपर्युक्त सिद्धांत के विपरीत नारकियों की स्थिति है। 'नपुंसकानि" वे सभी नारकी नपुंसक ही होते हैं, किन्तु उनकी कषायें उग्रतम होती जाती हैं। दुःखःसंताप उग्र से उग्रतर होता जाता है। तीव्र वेदोदय से अहर्निश भट्टी की भांति संक्लेशभावाग्नि में जलते रहते हैं। यह तो रहा सिद्धांत। जरा इसे व्यावहारिक जीवन में भी तो विचार कर देखे।

वर्तमान भौतिकता में तेजी से दौड़ रहा है। विज्ञान की चकाचौंध में उछाले मार रहा है। भोगविलास के दलदल में आपादमस्तक डूबकर आज का मानव कराह रहा है। बाह्य सुख-सुविधा के साधन, वर्षा ऋतु में बढ़ने वाले पतंगों की भांति बढ़ रहे हैं। प्रतिदिन नये

नये आविष्कार हो रहे हैं। तार, बेतार, रेडियो, टेलीविजन, टेलीग्राम, सिनेमा, लिफ्ट, बिजली पंखा, गैस का चूल्हा आदि। संक्षेप में विज्ञान आज अपने प्रभुत्व से जल, थल और आकाश को कुछ ही घंटों में लाखों मील पार कराने में समर्थ है। भूगर्भ में चीर-फाड़कर भी उसका निरीक्षण कर सकता है। मशीनरी, औषधि परीक्षण यंत्र आदि से सर्वत्र नाना आविष्कारों के चमत्कार दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इन बनावटी, अप्राकृतिक उपादानों से सनकर आज का मानव और उसके मनोविचार भी प्रायः बनावटी हो गये हैं।

विचारणीय है कि इन असंख्य साधनों के बीच रहने वाला मानव क्या सुखी है? कञ्चन-कामिनी का वीभत्स नग्न दृष्य प्रदर्शित करने वाला क्या सच्चा आनन्द लेने में समर्थ हुआ है। एक क्षण भी उसे संतोष मिल सका क्या? सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक ही प्राप्त होगा। क्यों? इसका हेतु क्या है? सुख-सामग्री की वृद्धि और दुःखो का उत्पाद। भला यह विरोधी क्रिया क्यों? उत्तर— पूर्व में ही लिखा जा चुका है कि भौतिक भोग जीवन को भले ही क्षणिक बनावटी सुख प्रदान कर दें, किन्तु अन्तर्जगत्त को वे एकक्षण भी शांति प्रदान नहीं कर सकते। ये सभी साधन प्रमाद को प्रोत्साहन देकर मानव के अन्दर छिपे वासना-पिशाच को उभारने वाले हैं। प्रमाद के कथन में आचार्यों ने उसके ३७५०० भेद बतलाये हैं। वर्तमान युग में ऐसा लगता है कि ये सभी भेद एक साथ प्रगट होकर हमारी तितली बनी महिलाओं के सुन्दर मधु मक्खियों के छत्ते समान जूड़ों में, ओठों की लाली में, झिलमिल झिनी ड्रेसों में और पुरुषवर्ग के सीधे खड़े कालरों, मांगों और लम्बे बढ़े हुए बालों में उलझकर आ बसे हैं। इनकी उलझन में ही वे सुखाभास में पड़कर सुख के स्थान पर दुःख का अनुभव कर रहे हैं।

आज ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भाव प्रायः उड़ सा गया है। गृहवासियों की तो क्या बात, आश्रमवासियों में भी इनका पूर्ण सद्भाव पाना प्रायः दुर्लभ हो गया है।

परिग्रह-संचय की धक्का-धुक्की में अन्याय, अत्याचार और दुराचार का खुला प्रदर्शन हो रहा है। मानव दानव बना जा रहा है। मोह के प्रसार और प्रचार में वे अपने कर्तव्य को भूल चुके हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है—

> बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
> तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२६॥ (इष्टोपदेश)

पञ्चेन्द्रिय विषयों में अंधा भला निर्मम भाव का स्वप्न भी देख सकता है क्या? कभी नहीं। फिर बन्ध का अभाव होना तो खरगोश के सींग की भांति असंभव ही है। बद्धदशा में सुख की कल्पना गाय के सींग से दूध दुहने के समान है। अतः संसार-बन्धन से छुटकारा पाने के लिए ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रहवाद ही समर्थ हैं। ये ही भुक्ति-मुक्ति उभयपद प्रदान करने वाले हैं। राग के मूल कारण स्त्री एवं अन्य परिग्रह हैं। रागयुक्त गृहस्थ ही नहीं, साधु भी हैं तो भी वह प्रशंसनीय नहीं कहा है। आत्मानुशासन में लिखा है—

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचारित्रनिवृत्तोऽपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥२३१॥

अर्थात् संयम धारण कर चरित्र पालन करता हुआ भी यदि स्नेह-राग भाव से सहित है, मूर्च्छा भाव युक्त है तो वह दीपक के समान कालिमा ही उत्पन्न करने वाला होगा, प्रशंसनीय नहीं हो सकता। कर्म-मलोत्पादक होने से वह मुक्ति का भाजन किस प्रकार हो सकता है? नहीं हो सकता।

जहाँ राग है वहाँ स्व-स्वरूप से च्युति है अब्रह्म है और कर्मास्रव का निमित्त है। श्री कुन्कुन्दस्वामी ने समयसार में लिखा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदि जीवो विराग-संपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

पुण्य-पापरूप कर्म के आने और बंधने का मूल स्रोत राग है और उसका अवरोधक एवं नाशक विराग है। राग अब्रह्म और परिग्रह का प्रतीक है, तो विराग ब्रह्मव्रत और अपरिग्रह का द्योतक। बंधन क्लेश-दुःख का कारण है, तो मुक्ति सुख और शांति का सफल उपाय।

आत्म-विकास के लिए ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उतनी ही आवश्यकता है जितनी प्राण-संरक्षण को अन्न-जल की। नैतिक स्तर को उन्नत बनाने का एक मात्र यही उपाय है। आध्यात्मिक जीवन की समुन्नति इन्हीं पर आधारित है। आत्माराम के ये ही क्रीड़ास्थल हैं, जहाँ विहार कर वह पूर्ण स्वातन्त्र्य का अनुभव कर सकता है। सच तो यह है कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आत्मस्वरूप ही हैं। जिस प्रकार रत्नत्रय को छोड़कर कहीं और आत्मा नहीं और आत्मा के सिवाय रत्नत्रय नहीं। उसी प्रकार ये भी आत्म रूप ही हैं। इनका जीवन में आना ही आत्मा का पाना है। आत्मोपलब्धि प्रत्येक भव्य को अभिप्रेत है, वह एकमात्र ब्रह्मचर्य और परिग्रह से ही उपलब्ध हो सकती है।

***

साईं इतना दीजिये, जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय।।

सोलहकारण भावना

❑ ब्र. रजनी जैन

संसार में सभी प्राणी सुख चाहते हैं और सुख प्राप्ति के लिए ही उपाय करते हैं परन्तु फिर भी सुख को प्राप्त नहीं कर पाते। वास्तव में संसारी जीव असली सुख का स्वरूप तथा उसके उपाय न तो जानते हैं और न ही उसका साधन करते हैं। संसारी जीव को सुख इसलिए नहीं मिलता क्योंकि प्रत्येक संसारी प्राणी राग और द्वेष से ग्रस्त है। वह अपने इष्ट मित्रों के प्रति मोह, राग भाव व अपना अहित करने वालों से द्वेष व शत्रुता रखता है। इस राग ने ही संसार को दुःख में डुबो रखा है। उससे उद्धार का एक मात्र उपाय, वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत धर्म में हैं। संसारी जीवों के कर्मों के मूल भेद आठ व उत्तर भेद १४८ हैं। इन कर्मों में तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध सबसे अधिक पुण्य कर्म उपार्जित करने पर ही होता है, यह पुण्य कर्म करोड़ों मनुष्यों में कोई बिरला व्यक्ति ही उपार्जित कर पाता है।

जिस मनुष्य की ऐसी उत्कृष्ट भावना हो कि त्रिलोकवर्ती समस्त प्राणियों का उद्धार हो तथा संसार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त हो, इस भावना के साथ ही जिसके सोलह अन्य भावनाओं में से दर्शनविशुद्धि भावना के साथ कोई एक, दो, तीन, आदि और भी भावना हो उस महान् जगत् हितैषी पवित्र व्यक्ति के तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। तीर्थंकर प्रकृतिवाला जीव नरक में भी अन्य नारकी जीवों से श्रेष्ठ रहता है। जिस समय वह माता के गर्भ में आता है तो उससे छः मास पूर्व माता के घर आँगन में स्वर्ग से रत्नों की वर्षा होती है। देवियाँ माता की सेवा करती हैं। तीर्थंकर के जन्म के शुभ अवसर पर देवों द्वारा महान् अद्भुत उत्सव किया जाता है। तीर्थंकर के शरीर का सौन्दर्य, ज्ञान, बल, पराक्रम जन्म से ही असाधारण होते हैं, उनको मल-मूत्र नहीं होता, रुधिर दूध के समान श्वेत होता है, शरीर में पसीना नहीं आता। शरीर सुगंधित होता है, शरीर में १००८ शुभ लक्षण होते हैं।

जिस समय तीर्थंकर को वैराग्य (संसार, शरीर व भोगों से) होता है उस समय लौकान्तिक देव उनके वैराग्य की प्रशंसा करके उन्हें वैराग्य की और अधिक प्रेरणा देते हैं। तब देव, इन्द्र उनको बड़े उत्साह से वन में ले जाते हैं वहाँ तीर्थंकर अपने समस्त वस्त्राभूषण उतार कर पंचमुष्टि केशलोंच करते हैं और आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं। सौधर्म इन्द्र उनके केशों को क्षीर सागर में क्षेपण करता है। कुछ समय तपस्या करने के उपरान्त तीर्थंकर को चार घातिया कर्मों से मुक्ति मिल जाती है, तब उन्हें कैवल्य पद प्राप्त होता है। केवल ज्ञान के द्वारा वे समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं। तीर्थंकर भगवान का सर्वहित प्रभावशाली उपदेश कराने

के लिए महाविशाल समवसरण नामक एक सुन्दर सभा बनाते हैं। उसमें 'गंधकुटी' नामक उच्च स्थान पर विराजमान होकर बिना इच्छा के स्वयं उनकी दिव्यवाणी निकलती है। उस दिव्यवाणी को समवसरण में बैठे समस्त देव-देवियाँ, स्त्री-पुरुष, मुनि-आर्यिका, पशु-पक्षी अपनी-अपनी भाषा में सुनकर, महान आत्मलाभ प्राप्त करते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का उदय इसी समय होता है, उसी के कारण जगत उद्धारक तीर्थंकर का उपदेश होता है। छद्मस्थ अवस्था में वे उपदेश नहीं दिया करते। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद वे अनेक देशों में विहार करके धर्म का प्रसार करते हैं। वे जहाँ कहीं भी विहार करते हैं वहाँ पर तत्काल देवों के द्वारा समवसरण की रचना की जाती है। इसी महान् धर्म प्रचार के कारण उनका तीर्थंकर नाम सार्थक होता है।

तीर्थंकर की आयु जब बहुत ही अल्प रह जाती है तब उनका विहार बन्द हो जाता है, उनकी दिव्यध्वनि व शारीरिक क्रियायें बन्द हो जाती हैं, पूर्ण रूप से योग निरोध होने पर उनके शेष अघाति कर्म (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र) भी नष्ट हो जाते हैं। उस समय वे पूर्ण मुक्त होकर सिद्धालय में विराजमान हो जाते हैं। तीर्थंकर के मुक्त हो जाने पर देव इन्द्र मध्यलोक में तीर्थंकर के मुक्तिस्थान पर आकर महान उत्सव करते हैं। भरत ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थंकरों के पाँचो कल्याणक होते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारण १६ भावनाएँ होती हैं, जिन्हें सोलह-कारण भावना कहते हैं।

(१) दर्शनविशुद्धि भावना

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम, अथवा क्षय हो जाने से जिस सुख का आत्मा को अनुभव होता है, उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन समस्त धर्म का मूल है। उपशम सम्यग्दर्शन पूर्ण निर्मल तो अवश्य होता है, किन्तु वह केवल अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन अनन्तकाल तक बना रहता है, जबकि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कुछ कम ६६ सागर तक रहता है। सम्यग्दृष्टि के जिनेन्द्र प्रभु के वचन अमृतरूप औषधि हैं। सम्यक्त्व बिना श्रावकधर्म भी नहीं होता और मुनि धर्म भी नहीं होता। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र मिथ्याचरित्र है, तप मिथ्यातप है। सम्यग्दर्शन बिना, इस जीव ने अनन्तानन्त काल परिभ्रमण किया। इस चतुर्गति रूप संसार के परिभ्रमण से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन अनिवार्य है।

दर्शनविशुद्धता निर्वाण सुख का कारण है, तथा दुर्गति का निराकरण करने वाली है। विनयसम्पन्नता आदिक पन्द्रह भावनाओं का मूल कारण है। अगर दर्शन की विशुद्धता नहीं तो अन्य पन्द्रह भावनाएँ भी नहीं होती। दर्शनविशुद्धि भावना संसार के दुःख रूप का नाश करने के लिए सूर्य के समान है। भव्य जीवों के लिए परम शरण है, ऐसी दर्शनविशुद्धि भावना को

भावो। अनादिकाल से इस जीव ने मिथ्यात्व नाम कर्म के वश होकर अपने तथा पर के स्वरूप की पहचान नहीं की, कर्म के उदय से जैसी पर्याय प्राप्त करता है, उसी पर्याय को अपना स्वरूप समझ लेता है और अपने स्वरूप को न जानता हुआ संसार में परिभ्रमण करता रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है, उस समय मिथ्यात्व प्रकृति के तीन भाग हो जाते हैं– (१) मिथ्यात्व, (२) सम्यक्मिथ्यात्व और (३) सम्यक्त्व प्रकृति।

मिथ्यात्व—सप्त तत्वों का अश्रद्धान या विपरीत श्रद्धान कराने वाला मिथ्यात्व है।

सम्यक्मिथ्यात्व—श्रद्धा-अश्रद्धा के मिश्रित रूप परिणाम को उत्पन्न करने वाला सम्यक्मिथ्यात्व है।

सम्यक्प्रकृति—सम्यक्त्व में चल-मल-अगाढ़ दोष उत्पन्न कराने वाली।

जब इन तीनों प्रकृतियों का क्षय तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से जो सम्यग्दर्शन होता है उसमें २५ दोष सम्भाव्य होते हैं।

सम्यग्दर्शन के २५ दोष

शंका—जिनवाणी में संदेह करना शंका है।

आकांक्षा—संसार के विषय भोगों की इच्छा करना आकांक्षा है।

विचिकित्सा—मुनि-त्यागियों का मलिन शरीर देखकर ग्लानि करना।

मूढ़ दृष्टि—जिनेन्द्र प्रणीत तत्वों तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के विषयों में अनभिज्ञ बने रहना।

अनुपगूहन—धार्मिक पुरुषों के गुणों को छिपाना व उनके दोषों को प्रकट करना। अपने विद्यमान दोषों को छुपाना तथा अविद्यमान गुणों को प्रकट करना।

अस्थितिकरणः—धर्म आचरण में कोई शिथिल होता है, तो होने देना और उसे धर्म में दृढ़ न करना।

अवात्सल्य—साधर्मी भाईयों से प्रेम न करना तथा दोष रखना।

अप्रभावना—जैन धर्म का प्रभाव आम जनता में फैलाने का प्रयास न करना।

कुलमद—अपने पिता के कुल का अभिमान करना।

जातिमद— अपने मामा के वंश का अभिमान करना।

रूपमद—अपने शरीर की सुन्दरता का घमण्ड करना।

ज्ञानमद—अपने ज्ञान का अभिमान प्रकट करना।

धनमद—अपनी धन, संपत्ति का गर्व करना।

बलमद— अपने शरीर की शक्ति या बल का अभिमान करना।

तपमद— अपनी तपस्या का घमण्ड करना।

प्रभुतामद— अपने शासन, अधिकार व पद का घमण्ड करना।

देवमूढ़ता—राग द्वेषी, कामी, देवी-देवताओं को पूजना।

गुरुमूढ़ता—आत्मज्ञान शून्य, क्रोधी, अहंकारी, परिग्रही, धनलोलुपी, चिमटाधारी, साधुओं को गुरु मानकर उनकी भक्ति करना।

लोकमूढ़ता— नदी तालाब आदि में स्नान करना, अग्नि में जलने-जलाने तथा पीपल-बड़ आदि पूजने में धर्म मानना लोक मूढ़ता है।

कुगुरू अनायतन—आरम्भी, परिग्रही, धनलोलुपी, जटाधारी साधु को नमस्कार करना, उनकी भक्ति करना कुगुरु-सेवा है।

पशुओं की बलि देना, पशुओं का हवन करना, इन कार्यों में धर्म समझना, इनसे संबंधित स्थानों या मन्दिरों का मानना कुधर्म सेवा है। कुदेव भक्तों की संगति करना, उनके कार्यों में सहमत होना, सहयोग देना, उनकी विनय करना आदि कुधर्म है।

इन २५ दोषों से सम्यग्दर्शन मलिन होता है। इन्हीं २५ दोषों का निवारण करके सम्यग्दर्शन निर्मल रखना दर्शनविशुद्धि भावना है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने में यह भावना सबसे अधिक आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति के १५ भावनाएँ हो जावें और विशुद्धि भावना न हो तो उस पुरुष के तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं हो सकता है। हाँ! दर्शन विशुद्धि भावना के रहते शेष १५ भावनाओं में से कोई भी १,२, ३, ४, आदि भावनाएँ हों तो उसके तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है।

(२) विनयसम्पन्नता भावना

आत्मा के गुणों का तथा निर्मल आत्मगुणधारी मुनीश्वरों का हृदय से सम्मान करना विनय-सम्पन्नता कहलाती है। जब मनुष्य किसी को अपने से अधिक महत्वशाली और गौरवपूर्ण समझता है, तब वह उनको आदरणीय, सम्माननीय समझकर उनका हृदय से आदर करता है इसी को विनय कहते हैं। विनय के कारण ही आत्मा में सम्यक्त्व, ज्ञान, चरित्र आदि गुणों का विकास होता है। जो मनुष्य अभिमानी बनकर अपने से बड़े पूज्यजनों के सम्मुख भी नम्र न होकर उनका सम्मान नहीं करता, उस पुरुष में किसी भी गुण का उदय नहीं होता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र आत्मा के सबसे प्रधान गुण है। इन गुणों के कारण आत्मा सब दुःख चिन्ता आदि से मुक्त होकर अजर-अमर अविनाशी हो जाता है। इन तीनों गुणों को हितकारी

समझकर इन गुणों की अपने ह्रदय में मान्यता रखना, इनको उपादेय समझकर उनकी ओर उन्मुख करना और इनको निर्दोष पालन करने का प्रयत्न करना रत्नत्रय की विनय है।

रत्नत्रयधारक मुनि, उपाध्याय, आचार्य आदि की विनय करना, उनके समीप आ जाने पर खड़े हो जाना, नम्रता के साथ हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर नमस्कार करना, ऊंचे आसन पर बैठाना, यदि वे विहार करें तो उनके पीछे-पीछे चलना, यदि वे बोलें तो ध्यानपूर्वक उनकी बात सुनना, जैसे वे आदेश दे उसके अनुकूल आचरण करना गुरुविनय है। विनीत शिष्य से सदा गुरु संतुष्ट रहते हैं। प्रसन्नता के कारण वह शिष्य को ज्ञान के सूक्ष्म रहस्य, अनेक प्रकार की विद्याएँ एवं कलाएँ अल्पकाल में ही सिखा देते हैं। गुरु आर्यनन्दी ने विनीत जीवन्धर कुमार की विनय से प्रसन्न होकर उसको अक्षरविधा, राजनैतिक एवं शास्त्रविद्या थोड़े ही समय में सिखाकर पारंगत बना दिया था जिससे जीवन्धर ने यश और अक्षय कीर्ति प्राप्त की।

इस प्रकार विनय गुण मनुष्य को अनेक गुणों का पात्र बना देता है। अर्थात् विनय का ठीक प्रकार से आचरण करना विनय सम्पन्नता है। विनय के चार भेद हैं "ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारा' (तत्वार्थ सूत्र) ॥२३॥ (नवम अध्याय)

दर्शनविनय—जीव अजीवादि सात तत्वों पर भगवान की वाणी के अनुसार उनका यथार्थ श्रद्धान करना, परमपूज्य अरहंत भगवान्, जिनवाणी तथा निर्ग्रंथ गुरु का शुद्ध ह्रदय से श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन को आत्म-उन्नति का मूल कारण समझकर आदरभाव से पालन करना, उनमें रंचमात्र दोष न लगाना, सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठों अंगों का विधि-अनुसार पालन करना सम्यग्दर्शन की विनय है।

ज्ञान-विनय—ज्ञान से ही विवेक जागृत होता है, भेदविज्ञान ज्ञान का ही एक निखरा रूप है। वह भेद-विज्ञान ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का मूल साधन है। सम्यग्ज्ञान के आराधन में उद्यम करना तथा सम्यग्ज्ञान के कारण जो अनेकान्त रूप जिनसूत्र हैं, उनके श्रवण-पठन में बहुत उत्साह रूप होना तथा वन्दना-स्तवनपूर्वक बहुत आदर से पढ़ना विनय है। ज्ञान आत्मा की सदा प्रकाशमान ज्योति है। इस ज्योति का प्रकाश अधिक बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान को बढ़ाने के लिए प्रथमानुयोग के ज्ञान को बढ़ाकर केवलज्ञान प्राप्त करने की भावना रखना यह सब 'ज्ञानविनय' है।

चारित्र-विनय—सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी जब तक आत्मा व्रत, समिति, गुप्ति आदि का निर्दोष पालन नहीं करता, तब तक कर्मों से मुक्त होकर आत्मा की शुद्धि नहीं हो पाती। इस कारण आत्मशुद्धि का साक्षात् कारण सम्यक्चारित्र है। अपनी शक्तिप्रमाण चारित्र धारण में हर्ष करना, चारित्र की उज्ज्वलता के लिए विषय-कषायों को घटाना, चारित्र के धारण करने वालों में अनुराग करना चारित्रविनय है। विषयों से यथासंभव अपनी आत्मा को बचाना मनुष्य का यथार्थ जीवन है और मनुष्य जीवन की शोभा चारित्र से है। सम्यग्दृष्टि देव भी

अपने पर्याय में चारित्र पालन नहीं कर सकते, इसलिए वे मनुष्यभव पाने के लिए लालायित रहते हैं कि कब हम मनुष्यभव पाकर संयम धारण करें और संयम पालन करके अजर-अमर व मुक्त बन जायें। ऐसे महत्त्वपूर्ण चारित्र को यथाशक्ति अवश्य धारण करना चाहिये।

उपचार-विनय—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के आचरण करने वाले मुनिराजों-आचार्य, उपाध्याय, ऐलक, क्षुल्लक महाराज आदि की विनय करना, उनको नमस्कार करना, ऊंचे आसन पर बैठाना, स्वयं नीचे बैठना उपचार-विनय है। गृहस्थों को अपने धर्मगुरु, विद्यागुरु व गुणगुरुओं की विनय करना चाहिये।

(३) शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

शील और व्रतों का निर्दोष पालन करना शीलव्रतेष्वनतिचार व्रत है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पाँच व्रत हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील परिग्रह इन पाँचों पापों के पूर्ण त्याग करने को महाव्रत कहते हैं और उनके सहायक यम-नियमों को शील कहते हैं। शील नाम आत्मा के स्वभाव का है। आत्मस्वभाव का नाश करने वाले हिंसादिक पाँच पाप हैं। इनमें कुशील (काम-सेवन) नामक एक पाप ही हिंसादिक समस्त पापों को पुष्ट करता है, क्रोधादि कषायों को तीव्र करता है। इसके विपरीत यह शील दुर्गति के दुःख को हरने वाला होता है, स्वर्गादि शुभ गति का कारण है। शील बिना तप करना, व्रत धारण करना, संयम का पालन करना कार्यकारी नहीं। बिना शील के व्रत, तप, संयम, धर्म की निन्दा करने वाला है ऐसा जानकर शील व्रत का पालन करना चाहिये।

व्रतों एवं शीलों के पालन में विपरीत आचरण या विपरीत भाव हो जायें या कुछ दूषण लग जावे उसे अतिचार कहते हैं। महाव्रतों तथा शीलों में अतिचार न लगने देना, निर्दोष रूप से शीलव्रतों का पालन करना ही शीलव्रतेष्वनतीचार भावना है। शीलव्रत को इन्द्र भी नमस्कार करते हैं। पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रतों के जो अतिचार होते हैं उन अतिचारों को दूर करके, निर्दोष रूप से उन्हें पालन करना, गृहस्थों की निरतिचार शीलव्रत भावना है। अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों के, तीन गुणव्रतों के तथा चार शिक्षाव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं। जिस प्रकार खेत को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारों ओर काटों या तारों की बाढ़ लगा देते हैं तथा बाग को सुरक्षित रखने के लिए चारों ओर मिट्टी की दीवार बना देते हैं उसी प्रकार व्रतों को सुरक्षित रखने के लिए जो यम-नियम धारण किये जाते हैं उन्हें शील कहते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पायन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अर्थात् जिस प्रकार नगरों की सुरक्षा के लिए चारों ओर परकोटे बनाये जाते हैं उसी प्रकार

व्रतों को सुरक्षित रखने के लिए शीलव्रतों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। यह शीलव्रत मनुष्यजन्म में ही होता है, अन्य गति में नहीं। इसलिए अगर मानव-जन्म सफल करना चाहते हों तो शील व्रत का पालन करो।

(४) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना

ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है। उस ज्ञान को बढ़ाने के लिए सदा ज्ञान का अभ्यास करते रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना है। जिस प्रकार आँखों के बिना मनुष्य अपने पास रखी वस्तु को नहीं देख सकता उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान के बिना अपनी आत्मा को भी नहीं जाना जा सकता है। सम्यग्दर्शन भी तभी हो सकता है जब कि जीव को तत्त्वों का कुछ ज्ञान हो। ज्ञान के बिना मनुष्य करोड़ों वर्षों तक तपस्या करता रहे, तो भी वह इतने कर्मो की निर्जरा नहीं कर सकता, जितनी निर्जरा ज्ञानी जीव थोड़े समय में ही कर देता है। ज्ञान के बिना चारित्र आत्मा के लिए भार के समान है। वास्तव में चारित्र की शोभा ज्ञान द्वारा ही होती है। पं. दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है—

> कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरैं जे,
> ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।
> मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ।
> पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥४॥

और भी कहा है—

> ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
> इहि परमामृत जन्म-जरा-मृत्यु रोग निवारन ॥३॥

अर्थात् इस जगत में ज्ञान के समान आत्मा के लिए सुखदायक और कोई पदार्थ नहीं हैं। जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु एवं रोग दूर करने के लिए यह ज्ञान ही अमृत के समान है। ज्ञान के अभ्यास के बिना मनुष्य पशु के समान है। समन्तभद्र आचार्य ने ज्ञान के द्वारा ही भारतवर्ष में सब जगह बड़े-बड़े शास्त्रार्थ करके, 'परमत' वाले विद्वानों को परास्त करके जैन धर्म की प्रभावना बढ़ाई थी। अकलंकदेव ने भी ज्ञान के द्वारा बौद्धधर्म का खण्डन करके जैनधर्म का प्रकाश किया था। आध्यात्मिक ज्ञान के लिए ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' आदि ग्रंथों की रचना की। आजकल भी जो अनेक शास्त्रों के रूप में जिनवाणी पढ़ने को मिल रही है वह आचार्यों के विशाल ज्ञान के कारण ही उपलब्ध है।

राज्य-वैभव, स्वर्ण-चाँदी आदि पदार्थ तो आत्मा के साथ सदा बने नहीं रहते, वे तो अशुभ कर्म के उदय से भव से छूट जाते हैं, पर भव में तो कुछ साथ जाता नहीं, किन्तु शास्त्र-अभ्यास से उपार्जित ज्ञान तो आत्मा से छूटता ही नहीं। वह तो आत्मा के साथ इस भव में भी बना

रहता है और परभव में भी साथ जाता है। ऐसी अमूल्य निधि जिस भी मनुष्य के पास नहीं वह वास्तव में महान् दरिद्री है। ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए पं. दौलतराम जी ने कहा है–

जो पूरब शिव गये, जाहि अरु आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै हैं॥
विषय चाह दव-दाह जगत जन अरनि दझावे।
तासु उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावे ॥७॥

अर्थात् श्री जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि जो भी जीव भूतकाल में मोक्ष गये, वर्तमान में विदेहक्षेत्र से जा रहे हैं और भविष्य में जो मुक्ति प्राप्त करेंगे, उन सबके लिए ज्ञान ही का महान् प्रभाव रहा है। पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों की इच्छा वन में लगी भयंकर अग्नि के समान है जो संसार के जनसमूह रूपी जंगल को जला रही है। इस इच्छा रूपी अग्नि को ज्ञान रूपी मेघसमूह ही बुझा सकते हैं, उसको शान्त करने का और कोई उपाय नही। तात्पर्य यह है कि विषयवासना को केवल ज्ञान के द्वारा ही रोका जा सकता है। ज्ञान के अतिरिक्त सब पदार्थ अस्थिर हैं। ज्ञान का कारण विवेक को बतलाते हुए पं. दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है–

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवे।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे॥
तास ज्ञान को कारण, स्वपर-विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ ॥६॥

अर्थात् धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-कबीला, हाथी-घोड़े, राज-साम्राज्य तो इस आत्मा को काम नहीं आते, इनसे आत्मा का कुछ भी हित नहीं होता, परन्तु ज्ञान आत्मा का स्वरूप है और वह सदा आत्मा के पास स्थिर रहता है। धनादिक पदार्थ सदैव आत्मा के साथ नहीं रहते, इसलिए हे भव्य जीवों! जैसे बने, वैसे ही करोड़ों उपायों के द्वारा उस सम्यग्ज्ञान को हृदय में धारण करो। ज्ञान के समान कोई धन नहीं, ज्ञान के दान समान कोई दान नहीं, ज्ञान बिना संसार रूपी समुद्र में डूबते हुए जीव को हस्तावलम्बन देकर कौन रक्षा करे! विद्या के समान कोई आभूषण नहीं, निर्धन को परमनिधान कराने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है।

इस प्रकार ज्ञान आत्मा का सबसे अधिक मूल्यवान गुण है। ज्ञान के द्वारा ही आत्मा चेतन कहलाती है, ज्ञान के कारण ही इसको अपनी उन्नति का मार्ग सूझता है। इस ज्ञान का आत्मा में अक्षय भण्डार भरा हुआ है। ज्ञान को कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता है। वह ज्ञानभण्डार तो ज्ञानावरण से ढका हुआ है निरन्तर ज्ञानाभ्यास करते रहने से ही ज्ञानावरण कर्म दूर हो सकता है। अतः मनुष्य को ज्ञानप्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिये।

(५) संवेग भावना

पंच परमेष्ठी और साधर्मी लोगों से प्रीति करना अथवा संसार के दुःखों से भयभीत होना, या धर्म तथा धार्मिक कार्यों से प्रेम करना यह सब 'संवेग' भावना है।

"तत्सुखं यत्र नाऽसुखम्।" अर्थात् सुख वह है जहाँ जरा भी दुःख न हो। किन्तु संसार में वह सुख कहीं भी नहीं है, क्योंकि संसारी जीव जिसको सुख समझता है वह तो मात्र सुखाभास है जैसे खाज खुजाते समय होता है। खाज को खुजा लेने के बाद महान् कष्ट होता है, वह उस क्षणिक सुख पर भी पानी फेर देता है। कहा भी है—

> जो संवेग भाव विस्तारे, सुरग मुकति पद आप निहारे।
> दान देय मन हरष विशेखे इह भव जस पर भव सुख देखे॥

अर्थात् संवेग भाव का विस्तारपूर्वक वर्णन करें, तो स्वर्ग मुक्तिपद स्वतः ही प्राप्त हो जाये। दान देने पर मन में हर्ष उत्पन्न होता है, तथा सम्पूर्ण जगत में यश एवं सुख की प्राप्ति होती है। किन्तु इस संसार में रहते यह सब कुछ सम्भव नहीं, क्योंकि संसार में अनेकों दुःख साथ लगे हुए हैं और खोटे भावों के परिणामस्वरूप जब नरक गति को प्राप्त हुआ तो पं. दौलतराम जी ने वहाँ के दुःखों का वर्णन इस तरह किया है—

> तहाँ भूमि परसत दुःख इसो, बिच्छू सहस डसै नहीं तिसो।
> तहाँ राधश्रोणित वाहिनी कृमि-कुल-कलित देह दाहिनी ॥९॥

अर्थात् "इस जीव को नरक की भूमि स्पर्श करने से ही इतना कष्ट होता जितना कि एक साथ हजार-हजार बिच्छुओं के डसने से भी नहीं होता। वहाँ पर पीप और रक्त की नदी बहती है, जो कीड़ों से भरी हुई है। उसका स्पर्श ही सारे शरीर में जलन उत्पन्न कर देता है।" यही नहीं, वहाँ पर बहुत अधिक भूख लगती है, लेकिन खाने के लिए एक दाना भी अन्न का नहीं मिलता। इसी भाँति वहाँ पर प्यास भी अत्यन्त तीव्र लगती है, किन्तु एक बूंद पानी भी नहीं मिलता। नारकी जीव एक दूसरे को शस्त्रों से काटते रहते हैं किन्तु जब तक वहाँ की आयु समाप्त नहीं हो जाती तब तक उनकी मृत्यु नहीं होती।

एकेन्द्रिय जीवों में निगोद के जीवों को सबसे अधिक दुःख होता है। वे एक श्वास में १८ बार जन्म और मरण करते हैं। निगोद के अतिरिक्त दूसरे एकेन्द्रिय जीव भी ज्ञान की कमी व सुरक्षा की कमी से अन्य जीवों द्वारा दुःख पाते रहते हैं। द्वि-इन्द्रिय आदि जीव भी वस्तुओं के रखने-उठाने-झाड़ने आदि से मरते रहते हैं। पंचेन्द्रिय में भी सैनी-असैनी जीव आपस में एक दूसरे से वैरभाव रखते हुए मारते काटते रहते हैं; जैसे चूहे को बिल्ली ने मार दिया, बिल्ली को कुत्ते ने और कुत्ते को भेड़िये आदि ने मार दिया। इसी प्रकार वध-बन्धन आदिक दुख भी तिर्यञ्च गति में ये संसारी प्राणी सहन करते हैं।

मनुष्य गति में जीव दरिद्रता, रोग, नौकरी आदि के कारण अत्यन्त दुख उठाते हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग आदि के बड़े बड़े दुःख मनुष्य के सामने आते हैं। यही नहीं, कुटुम्बीजन, स्त्री-पुत्र-मित्र आदि के द्वारा भी यह जीव इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग आदि का दुःख भोगता रहता है।

देवगति में भी छोटे-बड़े पन का भेदजनित दुःख होता है। नीचजाति के या नीचे के स्वर्ग के देव उच्चकोटि के या ऊपर के स्वर्ग के देवों को देखकर ईर्ष्या करते हैं। उच्चकोटि के देव विषयभोगों में लीन रहते हैं। जिन देवों को सम्यग्दर्शन एवं आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है वे समझते हैं कि आत्मा का सच्चा हित मनुष्य पर्याय से तपश्चरण द्वारा प्राप्त होगा। इस देवपर्याय में हम आत्मशुद्धि के लिए व्रत, तप, त्याग, संयम कुछ नहीं कर सकते। इस मनुष्यपर्याय के लिए देव भी तरसते हैं।

इस प्रकार संसार की योनि, प्रत्येक शरीर, प्रत्येक गति दुःखमय है इस तरह चिंतन करने से विरक्ति हो जाती है, संसार से मुक्त होने की जिज्ञासा प्रबल होती है तथा आत्म-अनुभव की ओर रुचि प्रबल होती है, यही संवेग भावना है।

कवि पं. भूधरदास जी ने वैराग्यभावना में संसार का बड़ा विचित्र चित्रण किया है–

यह संसार महावन भीतर भ्रमते छोर न आवे।
जामन मरन जरा दो दाझै जीव महादुख पावे॥

अर्थात् इस संसार रूपी विस्तृत वन में संसारी जीव को भटकते-भटकते अन्त नहीं मिलता। जन्म, जरा, मृत्यु रूपी शत्रु सदा इसका पीछा करता है, जिससे जीव सदा दुःख उठाता रहता है।इस प्रकार संसार की परिस्थिति पर विचार किया जावे, तो निराकुल और स्थायी सुख संसार में कही नहीं है।

जो संसार विषै सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागै।
काहे को शिव साधन करते संयम सो अनुरागै॥

अर्थात् यदि संसार में सुख होता है तो तीर्थंकर देव अपने राज्य एवं परिवार का त्याग क्यों करते और वे किसलिए निर्ग्रंथ तपस्वी बन कर संयम से प्रेम करके वन-पर्वतों में जाकर संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करते। इस प्रकार संसार के स्वरूप का चिन्तवन करके संसार से भयभीत होना तथा धर्म के फल (जिसकी महिमा का करोड़ों जिह्वाओं से कथन करने में भी हम समर्थन नहीं हैं) में अनुराग करना संवेग भावना है।

(६) शक्तितस्त्याग भावना

अपनी शक्ति के अनुसार एवं परहित के लिए द्रव्य का दान करना शक्तितस्त्याग भावना है।

यद्यपि-धन-संपत्ति भौतिक पदार्थ हैं किन्तु जब तक संसारी जीव शरीर के आश्रित जीवन व्यतित करता है तब तक उसे भोजन वस्त्र आदि अनेक सामग्रियों को जुटाना पड़ता है। ये सामग्रियाँ धन से ही प्राप्त होती हैं।इस प्रकार संसारी जीवन में धन भी एक आवश्यक वस्तु है। धन उपार्जित करने के लिए मनुष्य सदैव क्रियाशील रहता है। वह अनेक संकटों को सहन करके और जब कभी अनीतियों का सहारा लेकर संचय करता है, क्योंकि गृहस्थाश्रम की गाड़ी धन के सहारे ही चलती है। धन एकत्र करने में मनुष्य को अपनी आत्मनिधि को नहीं भूलना चाहिये। धन-संपत्ति द्वारा शरीर को तो खुराक मिल जाती है, किन्तु आत्मा को खुराक दान द्वारा ही मिलती है। आचार्यों ने गृहस्थों को प्रतिदिन अपनी शक्ति के अनुसार दान देने के लिए कहा है। दान करने से आत्मा परिग्रह के भार से कुछ हल्का हो जाता है। उसके मोह, तृष्णा एवं लोभ में कमी आती है। उससे आगामी समय के लिए पुण्यकर्म का बंध होता है। दान देने से यश की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दान देने से केवल परोपकार ही नहीं होता, साथ साथ 'स्व-उपकार' भी होता है।

धन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग दान करना ही है। अतः गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे साधु सत्पुरुषों को अति श्रद्धा-भक्ति सहित आहार आदि का दान करें। दीन-दुःखियों को करुणाभाव से दान करें। इधर धन के मद में मनुष्य अनेक प्रकार के अनर्थ करता है। यह अनर्थकारी धन तभी हितकारी हो सकता है जबकि इसको सविनय परोपकार में खर्च किया जावे। एक कवि ने अन्योक्ति रूप से कहा है—

> वितर वारिद वारिद वातुरे, चिर पिपासित चातक पोतके।
> प्रचलिते मरुतेक्षणमन्यथा, क्वच भवान् क्व पयः क्वच चातकः।

अर्थात्— हे बादल! इस बहुत देर से प्यासे चातक पक्षी के लिए कुछ बिन्दु जल बरसा दे। अन्यथा प्रबल पवन के आते ही पता नहीं तू कहाँ उड़कर पहुँचेगा? कहाँ पर तेरी बूँद जा गिरेगी, और कहाँ पर बेचारा यह चातक पहुँचेगा।

कवि ने यह पद धनिक व्यक्तियों को लक्ष्य करके लिखा है और कहा है कि आज तेरे पास जो धन है उससे, तू कुछ पर उपकौर (दूसरों का कल्याण) कर ले, अन्यथा दुर्भाग्य से अगर वह धन रूपी लक्ष्मी तेरे हाथ से चली गयी तो फिर तू सिर धुन कर पछतायेगा।

(७) शक्तितस्तप भावना

अपनी शक्ति के अनुसार आत्मशुद्धि के लिए तपश्चरण करना शक्तिस्तप भावना कहलाती है। जिस मनुष्य-भव को पाने के लिए लौकान्तिक देव, अहमिन्द्र देव तथा सबसे अधिक सुखसम्पन्न सर्वार्थसिद्धि के देव भी तीव्र उत्कण्ठा रखते हैं, उस मनुष्य-भव को प्राप्त करने में, यदि कोई महत्वपूर्ण बात है तो वह इतनी ही है कि जिस तपश्चरण से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा

तथा आगामी कर्मों का संवर होते हुए अन्त में सर्वकर्म क्षय से मुक्ति प्राप्त हुआ करता है वह तपस्या सिर्फ मनुष्य भव में ही सम्भव है। यदि कोई देव उपासना करना चाहे तो वह एक उपवास भी नहीं कर सकता, क्योंकि देवों को जिस समय भूख लगती है उस समय उनके गले में से स्वयं अमृतझर कर, भूख की शांति हो जाती है। मनुष्य शरीर में यह बात नहीं है। आदिनाथ भगवान् ने छः मास का उपवास स्वेच्छा से और छः मास का उपवास विधिपूर्वक आहार प्राप्त न होने के कारण किया। भगवान् बाहुबली ने एकासन से खड़े होकर आत्मध्यान लगाकर, एक वर्ष का उपवास किया था।

इस प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख प्राप्त करने का साधनभूत मनुष्यशरीर पाकर यदि हमने तपश्चरण करने का कार्य न किया तो यह मनुष्य शरीर पाना व्यर्थ है। "इच्छा निरोधस्तपः" अर्थात् विषयभोगों की इच्छाओं को रोकना ही तप है। आत्मा में अशुद्धि विषय भोगों की इच्छाओं के फलस्वरूप कर्मबन्ध होते रहने के कारण हुआ करती है। इस अशुद्धि को दूर करने के लिए सफल साधन तप ही है। जिस प्रकार अग्नि पर भली भाँति तपा देने से अशुद्धि दूर हो कर सोना पूर्ण शुद्ध बन जाता है, उसी प्रकार तपों से तपाकर आत्मा भी कर्ममल रहित पूर्ण निर्मल हो जाती है। देव-शास्त्र-गुरु की तथा सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चरित्र की मन से विनय करना भी तप है। बाह्य वस्तुओं से तथा शरीर से मोह ममता छोड़ना अथवा मोहकर्म को कम करना भी तप है।इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा तथा सबसे सरल या सबसे कठिन तप है अच्छे विचारों में मन को लगाना जिसका दूसरा नाम ध्यान है। पापध्यान द्वारा तो अशुभ कर्म का बन्ध होता है और शुभध्यान द्वारा शुभकर्म का बन्ध होता है। शुद्ध ध्यान से कर्मों का क्षय होता है। अपने शरीर की शक्ति के अनुसार आत्मा को शुद्ध करने के लिए अन्तरंग बहिरंग तपों को तपना चाहिये किन्तु शक्ति के अनुसार। कहा भी है—

देखा देखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग।

अर्थात् जितने तपश्चरण से शरीर कार्य करता रहे और आत्मा में शान्ति उत्साह बना रहे, उतना तप मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। जिन मनुष्यों का समय तपश्चर्या में व्यतीत होता है, वे धन्य हैं। तपस्या द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है।

किसी कवि ने कहा है—

तप करते जीवन गयो द्रव्य गयो मुनिदान।
प्राण गये सन्यास में तीनों गये न जान ॥

अर्थात्—तपस्या करते हुए यौवन अवस्था व्यतीत हो जाये, धन दान आदि में खर्च हो जाये, और समाधि के साथ प्राण चले जावें, तो उस यौवन, धन तथा प्राण का चला जाना लाभदायक है। अतः जब तक शरीर में शक्ति है तब तक कुछ न कुछ तप अवश्य करना चाहिये। इन्द्रियों की इच्छा का दास बने रहना कायरों का काम है। जिन व्यक्तियों में आत्मबल होता

है वे इन्द्रियों को अपना दास बनाकर इच्छाओं को नियंत्रण करते हैं। श्रेष्ठ तप का आचरण, मुख्य रूप से गृह परिवार से सम्पर्क छूट जाने पर स्वाधीन अवस्था में होता है।इसलिए शक्ति को न छिपाकर तप करना शक्तिस्तप भावना है।

(८) साधु-समाधि भावना

मुनि-तपस्वियों पर आये उपसर्ग का निवारण करना अथवा समाधि से धर्मध्यानपूर्वक शरीर का परित्याग करना साधुसमाधि है। महाव्रती साधु जगत के सबसे उपकारी सन्त हैं। वे अपने लिए संसार से कुछ नहीं लेते। जिस प्रकार मधु-मक्खी फूलों को बिना कष्ट पहुँचाये उनसे रस लिया करती है, उसी प्रकार महाव्रती मुनि भी अपने शरीर की स्थिति के लिए थोड़ा सा रुखा सूखा भोजन दाता को बिना कुछ कष्ट दिये ग्रहण करते हैं और अपना समस्त समय आत्मध्यान तथा लोककल्याण में व्यतीत करते हैं। ऐसे साधुओं की जीवनचर्या संसार के लिए बहुत लाभदायक है। संसार में ऐसे अनेक दुष्ट भी होते हैं जो अकारण ही ऐसे शान्त निस्पृह साधु महात्माओं को कष्ट पहुँचाते हैं, उन्हें गालियाँ देते हैं, यही नहीं, कभी-कभी तो दुष्ट लोग उनके ऊपर प्राणघातक हमला (आक्रमण) भी कर देते हैं। जैसे कि गजकुमार मुनि पर, पाँचों पाण्डवों पर, मूर्ख निर्दयी लोगों ने उपसर्ग किये। आये उपसर्ग को मुनिगण तो अपनी परीक्षा का समय समझ कर, शान्ति-साहस-क्षमा भाव से सहन करते हैं। वे मुनिराज शक्ति रहते हुए भी उस उपसर्ग का निवारण नहीं करते और अपने मन में जरा सी भी क्रोध, लोभ, क्लेश की विकार भावना नहीं आने देते अपितु उस समय आत्मध्यान में निमग्न हो जाते हैं।

इस प्रकार अविकार रूप से उपसर्ग सहन कर अल्पकाल में ही वे बहुत भारी लाभ (सर्वार्थसिद्धि, मुक्ति) प्राप्त कर लेते हैं किन्तु उपसर्ग के कारण उनकी समाधि हो जाने पर संसार को उनसे जो लाभ होना चाहिये वह नही हो पाता। अतः समाजहितैषी धार्मिक सज्जनों का कर्तव्य है कि यदि कहीं मुनिराजों पर उपसर्ग आवे, तो उसे दूर करने की पूरी चेष्टा करे। धर्म-गुरु से बढ़कर पूज्य व्यक्ति दूसरा नहीं होता। अतः गुरु पर आये उपसर्ग को दूर करने के लिए तन, मन और धन सर्वस्व अर्पित कर देना चाहिये।

इस प्रकार अविकार रूप से उपसर्ग सहन करने वाले, रत्नत्रय के भण्डार, परम दयालु मुनि महाराज पर आये उपसर्ग को मिटाने के लिए यदि प्राण भी न्यौछावर करना पड़े तो धार्मिक पुरुषों को पीछे नहीं हटना चाहिये। एक कहावत है कि मृत्यु समय प्रायः आगामी भव की आयु बंधा करती है—'अन्तमति सो गति' अर्थात् मरते समय जैसे भाव होंगे वैसी ही गति मिलेगी। अतः मृत्यु के समय भोजनपान कम करते हुए, अन्त में सब का त्याग कर दे। कुटुम्बी जन, इष्ट मित्रों से मोह ममता तथा शत्रुओं से राग द्वेष भाव त्याग करके भगवान् का ध्यान करते हुए शक्तिपूर्वक शरीर का त्याग करें जिससे श्रेष्ठ गति प्राप्त हो।इसी का नाम

साधुसमाधि या समाधिमरण है।

वैसे तो संसार में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अनेक मित्र बन जाते हैं परन्तु नीति शास्त्र के अनुसार सच्चा मित्र वही है जो- 'पापान्निवारयति योजयते हिताय।' जो अपने मित्र को पापमार्ग से हटाता हो और हितमार्ग में लगाता हो। गुप्त बात को प्रकट न करके मित्र के गुणों को प्रकट करता हो, आपत्ति के समय साथ न छोड़ता हो तथा आवश्यकता पड़ने पर सहायता करता हो। विद्वानोंने सच्चे मित्र के ये लक्षण बताये हैं। अतः सच्चे मित्र के समाधिमरण में उसे पूर्ण सहायता प्रदान करनी चाहिये। उसे आत्महितकारी उपदेश देकर उसके मन में शान्ति वैराग्य आत्मभावना उत्पन्न करनी चाहिये। उसके हृदय में धर्म का अंकुर उत्पन्न करना चाहिये।

उदाहरणार्थ, जीवन्धर कुमार ने एक मरणोन्मुख कुत्ते को णमोकार मंत्र सुनाया। कुत्ते ने शक्तिपूर्वक णमोकार मंत्र सुना, तत्काल देवायु का बंध हो गया। इससे स्पष्ट है कि समाधिमरण में सहायक होना महान उपकार है। हितैषी मित्रों का परम कर्तव्य है कि वे उस समय वैराग्यवर्द्धक पाठ, श्लोक आदि सुनाकर समाधि सुधारे यही साधु समाधि भावना है।

(९) वैयावृत्यकरण भावना

रोगग्रस्त वृद्ध, थके हुए मुनि, त्यागी-व्रती की सेवा करना वैयावृत्यकरण भावना है। मनुष्य के मन में जब धर्म का अनुराग होता है तथा अहिंसा एवं करुणाभाव लहराने लगते हैं तब उसकी आत्मा किसी मुनि आदि की सेवा के लिए तत्पर होती है। 'सेवा धर्म' में परिणाम अत्यन्त निर्मल, उदार एवं निस्पृह होते हैं, जबकि 'सेवा वृत्ति' में ऐसे परिणाम नहीं होते, क्योंकि यह नौकरी के रूप में की जाती है। सेवा का उत्तम फल प्राप्त करने के लिए सेवा निस्वार्थ भाव से करनी चाहिये। जिस सेवा में थोड़ी-सी भी स्वार्थ की भावना प्रकट होगी, उस सेवा का महत्त्व तभी समाप्त हो जायेगा। यदि कोई मुनि, व्रती-त्यागी बीमार हो जाये तो उसकी चिकित्सा कराने के लिए प्रबंध करना चाहिये, जिससे वे अपने चारित्र पालन तथा धर्म-प्रचार में लगे रह सकें। मुनि त्यागी की सेवा करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि कोई ऐसा कार्य नहीं होना चाहिये जिससे कि उनकी चर्या में दूषण लगे। उनके महाव्रत तथा त्याग के अनुरूप ही उनकी चिकित्सा, औषधि एवं सेवा होनी चाहिये।

दीन-दुःखी की सेवा-बहुत से दीन दुःखी मनुष्य समय पर सहायता न मिलने से अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। यदि कोई गरीब व्यक्ति सर्दी में ठिठुरता हो तो उस समय उसको वस्त्र देना चाहिये। दीन-दुःखी व्यक्ति की सेवा करने के बराबर कोई अहिंसा धर्म नहीं है। दीन-दुःखी जीव का जो शुभाशीर्वाद होता है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। अतः दीन-दरिद्री की सेवा करके उनका आशीष लेना चाहिये। कहा भी है—

'सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।"

अर्थात् सेवाधर्म बड़ा गूढ़ एवं रहस्यमय है। इसका पूरा रहस्य बड़े-बड़े योगियों को भी ज्ञात नहीं हो पाता। एक समय था जबकि दाता बहुत थे और दुःखी जनता जिसकी सेवा की जाये, बहुत कम थी। किन्तु दुर्भाग्य से आज का समय उस काल से विपरीत हो गया है। इस युग में दीन-दुःखी स्त्री-पुरुषों की संख्या इतनी अधिक हो गयी कि उनकी सहायता करने वाले दाता खोजने पर नहीं मिलते। ऐसी गम्भीर दशा में समाजहितैषी लोगों का कर्तव्य है कि वे ऐसे दीन-दुःखी, अनाथ स्त्री-पुरुषों की सहायता सेवा करने के लिए समुचित, सफल एवं स्थानीय प्रबंध करें। सभी को सदा ऐसी पुनीत भावना रखनी चाहिये—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।'

वैयावृत्ति जगत में उत्तम है ऐसी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा (शिक्षा) है। जो व्यक्ति अपनी सामर्थ्य प्रमाण छः काय के जीवों की रक्षा में सावधान है, उसके समस्त प्राणियों की वैयावृत्ति का पुण्य होता है।

(१0) अरहन्त—भक्ति भावना

चार घातिया कर्म रहित अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त बल संयुक्त अरहन्त परमेष्ठी होते हैं। उन अरहन्त परमेष्ठी की भक्ति करना 'अरहन्त-भक्ति भावना' कहलाती है। यदि सूर्य न हो तो संसार में अंधकार बना रहे और प्रकाश न हो, इसी प्रकार अरहन्त भगवान की वाणी न हो, तो संसार में ज्ञान का प्रकाश न हो और जीवों की आत्मा से अज्ञान-मोह का अंधकार दूर न हो सके। अर्हन्त भगवान् ने अपने तपोबल से आत्मा के सबसे अधिक अहित करने वाले घातिया कर्मों का क्षय किया। अतः वे पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण सुखी, पूर्ण वीतरागी, और अनन्त शक्तिशाली बन गये। वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी होने के कारण समस्त संसार में पूज्य देव बन गये। ये तीनों विशेषताएँ संसार के किसी अन्य देव में नहीं पायी जाती, क्योंकि वे रागद्वेष से मलिन है। संसार से छूटकर अमर बनने के लिए तो वैसा ही देव उपयोगी हो सकता है जो रागद्वेष से मुक्त हो। ऐसे देव तो अरहन्त भगवान् ही हैं।

जिनेन्द्र भावना के अतिरिक्त संसार के जितने भी अन्य देव हैं वे अपने भक्त को सदा सेवक ही बनाये रखते हैं। कभी अपने समान नहीं बनाना चाहते किन्तु अर्हन्त भगवान् की जो मनुष्य सेवाभक्ति करता है, वह कुछ समय बाद स्वयं अर्हन्त भगवान बन जाता है। केवल अर्हन्त भगवान ही अपने भक्त को अपने जैसा भगवान बना देता है। सुख प्राप्त करने के लिए अरहन्त भगवान की भक्ति अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि जो जैसा बनना चाहता है वह वैसे ही देव की सेवाभक्ति करता है। जैसे विद्या लेने के लिए विद्यागुरु की भक्ति की जाती है, तथा जौहरी बनने के लिए जौहरी की सेवा की जाती है उसी प्रकार अनन्तसुखी अनन्तज्ञानी

बनने के लिए अरहन्त भगवान की भक्ति करनी चाहिये। अरहन्त भगवान के पूर्ण मुक्त (सिद्ध) होने का ज्ञान उनकी प्रतिमा से प्राप्त किया जा सकता है। अरहन्त भगवान जिस प्रकार पूर्ण शान्त, वीतराग थे ठीक वही गुण उनकी प्रतिमा से प्रकट होता है। न इनको किसी पर क्रोध है और न राग। अरहन्त जैसे निर्भय, निर्विकार, वीतराग थे वैसी ही मूक शिक्षा उनकी मूर्ति से प्राप्त होती है। अरहन्त की मूर्ति का दर्शन करते ही वीतरागता एवं शान्त भावना जाग उठती है। अर्थात् संसार की मोह-माया से वैराग्य भाव उत्पन्न होने लगता है।

अतः जो भव्य जीव संसार से पार होना चाहते हैं और कर्मबन्धन काट कर सदा के लिए मुक्त होना चाहते हैं उनको संसार-सागर से परागामी, घाति कर्म बन्धन से मुक्त, मुक्ति मार्ग के प्रदर्शक, परम शुद्ध निरंजन, निर्विकार अरहन्त भगवान के श्रद्धालु बनना चाहिये। अरहन्त भगवान की भक्ति से तो अनन्त अविनाशी मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने का उद्देश्य रखना चाहिये। संसार का सुख तो स्वतः ही मिल जाता है।इस प्रकार अरहन्त भगवान की प्रतिमा को साक्षात् अरहन्त मान करके ही दर्शन-पूजन-भक्ति बड़े उत्साह के साथ करनी चाहिये यही-'अरहन्त-भक्ति भावना' है।

(११) आचार्यभक्ति भावना

साधु संघ के अधिनायक आचार्य कहलाते हैं। वे धर्मगुरुओं के प्रमुख होते हैं। उनकी भक्ति करना 'आचार्य भक्ति भावना' है। आचार्य एक पद है। यह पद मुनिसंघ के सबसे अधिक तपस्वी, अनुभवी, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ज्ञाता, पाँच आचारों के पालक, प्रायश्चित शास्त्र के जानकार, महान् मुनि को, समस्त मुनियों की अनुमति से प्रदान किया जाता है। संघस्थ सभी मुनि आचार्य की आज्ञानुसार चर्या करते हैं। नवीन मुनि की दीक्षा भी आचार्य ही देते है। मुनिजन आचार्य महाराज के समक्ष ही अपने दोषों की आलोचना करते हैं और मुनियों को उनकी शक्ति के अनुसार प्रायश्चित भी आचार्य ही देते हैं। संघ में यदि कोई साधु बीमार हो जाये तो उसकी वैयावृत्ति का प्रबंध भी आचार्य ही करते हैं। आचार्य अपने मुनिसंघ के नायक होते हैं। जिस प्रकार नायक बिना घर, समाज और देश की व्यवस्था बिगड़ जाती है उसी प्रकार बिना आचार्य के मुनिसंघ में भी अनेक प्रकार की विषम समस्यायें आ खड़ी हो जाती हैं। उन्हें सुलझाकर पथप्रदर्शन करने के लिए मुनिसंघ का नायक होना परमावश्यक है।

आचार्य का स्वरूप- जो बारह प्रकार अनशनादि तपों में निरंतर प्रयत्नशील हैं, छह आवश्यक क्रिया में सावधान हैं, पंचाचार के धारक हैं, दश लक्षण धर्म जिनकी परिणति है और मन-वचन-काय की गुप्ति से सहित हैं ऐसे छत्तीस गुणों से आचार्य सुशोभित होते हैं। आचार्य समस्त संघ के नायक होते हैं, और आचार्यों के आश्रित ही धर्ममार्ग निर्बाध रूप से चलता है। आचार के पाँच भेद हैं- १. दर्शनाचार, २. ज्ञानाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार, और ५. वीर्याचार।

ऐसे आचार्य महाराज की भक्ति करना आचार्यभक्ति है। अरहन्त भगवान् के साक्षात् अभाव में मोक्षमार्ग के नेता आचार्य ही तो होते हैं। उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना ही आचार्यभक्ति भावना है।

(१२) बहुश्रुतभक्ति भावना

उपाध्याय की भक्ति करना 'बहुश्रुतभक्ति भावना' है। मुनिसंघ में आचार्य के बाद उपाध्याय का पद होता है। मुनियों में जो सबसे अधिक विद्वान् साधु होते हैं, उनको उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। वे समस्त मुनियों को पढ़ाते हैं। उनके २८ मूलगुणों के सिवा ११ अंग और १४ पूर्वों का ज्ञानस्वरूप २५ गुण और भी माने गये हैं। यद्यपि ११ अंग और १४ पूर्वों का ज्ञान श्रुतज्ञानी को होता है, जिनको श्रुतकेवली भी कहते हैं। यथार्थ में पूर्ण श्रुतज्ञानी ही उपाध्याय होना चाहिये, किन्तु पूर्ण श्रुतज्ञानी न होने पर भी संघ में जो सबसे अधिक ज्ञानी साधु होते हैं, उन्हें ही उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। द्रव्यश्रुत ज्ञान के दो भेद हैं। (१) अंगप्रविष्ट और (२) अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट के १२ भेद हैं।

इस प्रकार उपाध्याय बहुश्रुतों के पारंगत होते हैं, विद्वान् होते हैं इसलिए उनका नाम बहुश्रुत भी है। बहुश्रुत भक्ति से विविध शास्त्रों का, अंगों एवं पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता है। यही बहुश्रुत भावना तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है।

(१३) प्रवचन भक्ति भावना

जिनवाणी के प्रतिपादक शास्त्रों की भक्ति करना प्रवचन भक्ति है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत आगम का नाम ही प्रवचन है।

> पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
> पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो दु सुदणिबद्धो ॥ (गो/जी. ३३४)

अर्थात् तीर्थंकर केवलज्ञान द्वारा जितना कुछ जानते हैं, उसका अनन्तवाँ भाग उनकी दिव्यध्वनि से प्रतिपादित होता है और जितना उनकी दिव्यध्वनि से प्रतिपादित होता है, उसका अनन्तवाँ भाग विषय द्वादशांग श्रुत से गूँथा जाता है। द्वादशांग से अनन्त गुना केवलज्ञान द्वारा जाना जाता है। तीर्थंकर की ध्वनि उस जाने हुए समस्त पदार्थ को नहीं कह सकती, उसके अनन्तवें भाग का ही वर्णन कर सकती है। दिव्यध्वनि द्वारा जितना कहा जाता है वह सम्पूर्ण रूप में द्वादशांग श्रुत में नहीं रचा जाता। केवल उसका अनन्तवाँ भाग प्रमाण ही श्रुतरचना में आता है।

तीर्थंकर के मुखकमल से उदित गणधर देव द्वारा द्वादशांग अंगों में गुरु-शिष्य परंपरा से प्रवाहित जिनवाणी सर्वथा नष्ट न हो जावे, भविष्य में भी लोक का हित सम्पादन करती रहे, इस भावना से शेष श्रुतज्ञान को वे मुनिराज शास्त्रों के रूप में लिख देते हैं। उन्हीं शास्त्रों को प्रवचन कहते हैं। जैन शास्त्रों में कहीं भी परस्पर विरोधी कथन नहीं मिलता। जैन सिद्धांत की कोई भी बात युक्ति से खण्डित नहीं होती, स्याद्वाद सिद्धांत द्वारा पदार्थों का सत्य निर्णय किया जाता है। इस प्रकार जैन शास्त्र ही सर्व हितकारी अर्थात् ईश्वर (जिन) की वाणी मानी जाती है। अतः जैन शास्त्रों को सुनने सुनाने से सब का कल्याण होता है। शास्त्रों के स्वाध्याय करने पर ज्ञान के पर्दे खुल जाते हैं इसलिए प्रवचन भक्ति भावना बहुत उपयोगी है।

(१४) आवश्यकापरिहाणि भावना

जो अवश्य करने योग्य होता है उसे आवश्यक कहते हैं। समता (सामायिक), वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये छः आवश्यक कार्य साधुओं के होते हैं। इन दैनिक कार्यों में लेशमात्र भी कमी न आने देना, यथा समय प्रत्येक आवश्यक कार्य करना 'आवश्यकापरिहाणि' भावना है।

समता :—आत्मा में क्षोभ राग और द्वेष के कारण हुआ करता है। मुनिजन प्रातः, दोपहर, संध्या तथा रात्रि के समय संसार के समस्त पदार्थों में रागद्वेष त्यागकर, एक अचल आसन से प्रतिदिन आत्मचिंतन करते हैं। यह समता या सामायिक नामक आवश्यक कार्य है। वास्तव में देखा जाये, तो संसार में न कोई पदार्थ अच्छा है और न बुरा। सब अपने अपने रूप परिणमन कर रहे हैं। ऐसी ही बात संसार के सभी पदार्थ की है। किसी से राग करना, किसी से द्वेष करना, आत्मस्वरूप के प्रति गलत धारणा का परिणाम है। इसलिए राग-द्वेष आदि कषाय भावों से आत्मा को परतंत्र बनाने वाला कर्म बन्ध होता है। आत्मा यदि स्वतंत्र होना चाहे तो उसको अपने राग द्वेष पर नियंत्रण करके समता भाव लाना होगा।

वन्दना :—भगवान् जिनेन्द्रदेव परम शुद्ध परमात्मा हैं। मुनिगण के लिए तथा समस्त विश्व के लिए परम आदर्श हैं। मुनिगण की तपस्या का उद्देश्य अपने आपको कर्म कषाय विजेता जिनेन्द्र बनाना है। इसलिए वे प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान् को परम आराध्य देव मानकर उन्हें हाथ जोड़कर सिर झुकाते हुए विनय भाव के साथ नमस्कार करते हैं यह वन्दना नामक आवश्यक कार्य है।

स्तुति :— अपने पूज्य व्यक्ति के गुणों को भक्ति के साथ कहना 'स्तुति या स्तवन है। साधुगण प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र देव की बड़ी विनय और भक्ति के साथ स्तुति किया करते हैं। यह साधुओं की स्तुति नामक तीसरा आवश्यक कार्य है।

प्रतिक्रमण :—भोजन करने में, मल मूत्र करने में, आने-जाने में, बातचीत करने में जो अन्य जीवों को बाधक या कुछ सावद्य कार्य हो जाया करता है, उससे शुद्ध होने के लिए मुनिजन

प्रतिदिन "मिच्छा मे दुक्कड़' अर्थात् मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जावें, मेरे साथ न रहें, छूट जावें, इस भाँति पाठ करते हुए अपनी मनोवृत्ति का मार्जन, संशोधन करते हैं इस कार्य को प्रतिक्रमण कहते हैं।

स्वाध्याय :— अपने ज्ञान को विस्तृत करने के लिए शास्त्रों का अभ्यास, पाठ करना, शंका-समाधान करना, मनन करना, पढ़ना-पढ़ाना आदि आवश्यक है। क्योंकि बिना अभ्यास के ज्ञान की चमक खतम हो जाती है। अतः मुनिराज प्रतिदिन स्वाध्याय किया करते हैं, उपदेश देते हैं, तथा अनेक विषयों का चिन्तवन करते हैं। यह मुनियों का स्वाध्याय नामक आवश्यक कार्य है।

कायोत्सर्ग :— शरीर से मोह ममता दूर करने के लिए तथा आत्मशुद्धि के लिए खड़े होकर जो आत्मध्यान करते हैं उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। अन्य वस्तुओं से ममता छोड़ दे देना तो सरल है किन्तु शरीर से मोह ममता छूटना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जब तक शरीर का मोह नहीं छूटेगा, तब तक आत्मशुद्धि होना असम्भव है, इस शरीर की ममता को दूर करने के लिए मुनिराज कायोत्सर्ग किया करते हैं।

श्रावक के षट् आवश्यकः—प्रत्येक श्रावक को नित्यप्रति निम्नलिखित छः आवश्यक कार्य करने चाहिये।

देवपूजा :—श्री जिनेन्द्र भगवान् की अष्ट द्रव्यों से भक्तिपूर्वक विधि के अनुसार पूजा करना, अभिषेक आदि करना गृहस्थ का मुख्य कार्य है।

गुरु उपासना :— आचार्य, उपाध्याय, मुनि, आर्यिका, त्यागी धर्मगुरु हैं। उनकी भक्तिपूर्वक पूजन करना, स्तुति करना, सेवा-सुश्रुषा करना, उनको आवश्यकतानुसार पिच्छी कमण्डलु देना, शास्त्र आदि देना, उन्हें शुद्ध आहार देना, गुरु उपासना हैं।

स्वाध्याय :—शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, धर्मचर्चा करना, चिन्तवन करना स्वाध्याय है।

संयम :—सावधानीपूर्वक देखभाल कर कार्य करते हुए जीवों की रक्षा करना तथा इन्द्रियों को विषयभोगों की ओर से हटाकर अपने वश में करना संयम कहलाता है।

तप :— इच्छाओं का रोकना तप है। अतः विषय-भोगों की इच्छाओं को रोक कर अनशनादि करना, उपवास करना, एकासन आदि करना ही तप कहलाता है।

दान :— अपने द्वारा कमाये धन में से शक्ति अनुसार आहार, औषधि, अभय, शास्त्र दान देना दान है।

यदि मनुष्य इस सांसारिक कार्यों के समान ही आध्यात्मिक कार्यों को भी आवश्यक समझें और इन्हें भी यथा संभव प्रतिदिन आवश्यक करें, उसमें कमी न आने दें, तो इस जीव का

भार कम हो जायेगा, पाप संचय की जड़ सूखती जायेगी और अन्त में आत्मा प्रगतिशील होकर सुखी हो जायेगी। इसलिए श्रावकों को भी षट् आवश्यक अवश्य ही करना चाहिये।

(१५) मार्ग-प्रभावना

जैन धर्म का प्रभाव समस्त जनता में फैलाने का उद्यम करना मार्ग-प्रभावना है। अर्थात् सन्मार्ग जो मोक्ष का सत्यार्थ मार्ग है, उसका प्रभाव प्रकट करना ही मार्ग प्रभावना है और वह सन्मार्ग रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मा का स्वभाव है और संसार में सबसे प्रभावशाली पदार्थ आत्मा है। वैसे तो जड़ पदार्थों में भी अनन्त शक्ति पायी जाती हैं, परन्तु आत्मा की प्रभावशालिनी शक्ति कर्मआवरण से उसी प्रकार छिपी हुई है, जिस प्रकार कि बादलों से सूर्य का प्रकाश छिप जाता है और बादलों के हटने से सूर्य का प्रकाश फिर छा जाता है, उसी प्रकार कर्मों का पटल हटने से आत्मा का प्रभाव प्रकट हो जाता है।

तपस्या और सच्चरित्र के आचरण से आत्मा में प्रभाव प्रकट होता है। अतः जैन धर्म की प्रभावना के लिए सर्व प्रथम हमें जैन धर्म को ग्रहण करके अपने आपको प्रभावशाली बनाना चाहिये। आत्मा प्रभावशाली धर्मनिष्ठा, निर्मल ज्ञान तथा पवित्र आचरण के द्वारा बना करती है। जो मनुष्य अटल श्रद्धालु, ज्ञानवान तथा सदाचारी होते हैं उनके मुख पर आत्मतेज झलकता है, उनकी वाणी में बल होता है, उनका हृदय अनुपम शक्ति का केंद्रक बन जाता है। ऐसे व्यक्तियों को संसार में कोई अन्य व्यक्ति महान बनाने नहीं आया करते। वे तो स्वयं महान बन जाते हैं। उस दशा में वे धार्मिक प्रभावना का केंद्र हो जाते हैं। प्रभावना सदा उनके चारों ओर घूमती रहती है।

'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रंथ में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने प्रभावना के विषय में लिखा है—

"आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय-तेजसा सततमेव।
दान-तपोजिनपूजा-विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥३०॥

अर्थात्-निर्मल रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र) द्वारा आत्मा का सदा प्रभाव बढ़ाना चाहिये। दीन-दुःखी- जनता की सेवा आवश्यक दान देकर करनी चाहिये। तप करना, चाहिये व जिनेन्द्रदेव की पूजन करना चाहिये। इस प्रकार जगत में जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिये।

(१६) प्रवचन-वात्सल्य भावना

प्रवचन वात्सल्य भावना सोलहकारण भावना की मूल जड़ है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ भूमि के अन्दर होती है, उसी पर सम्पूर्ण वृक्ष खड़ा होकर फलता फूलता है, उसी प्रकार इन सब भावनाओं की यह मूल जड़ वात्सल्य भावना है। इस भावना की जड़ पर ही सभी भावनाएँ

खड़ी रहकर फलती-फूलती हैं। जिस वृक्ष की जड़ मजबूत होती है वह वृक्ष सब प्रकार से मजबूत होता है। जिस समय जीव के मन की भूमि में यह भावना आ जाती है, वह प्राणी संसार में कभी दुःख नहीं पाता। वह उत्तम गति, उत्तम स्थान में जन्म लेता है और कालान्तर में शीघ्र ही अनन्त सुख स्वरूप स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार गाय और बछड़े का पारस्परिक प्रेम, निर्मल, निष्कपट होता है उसी प्रकार धर्मात्मा जन भी निर्मल पवित्र प्रेम, जिनधर्म और धर्मात्मा जनों से, जिन धर्म के आयतनों द्वारा हृदय से करते हैं इसी को 'प्रवचन वात्सल्य भावना' कहते हैं।

आचार्य विद्यानन्दी स्वामी कहते हैं:—

वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्सं प्रकीर्तितं।
जैनप्रवचने सम्यक्, श्रद्धा-ज्ञान-वत्स्वणि॥

अर्थात् बछड़े और गाय के प्रेम को वत्सल भाव कहते हैं, वैसे प्रेम भाव का होना वात्सल्य है। यह प्रेमभाव प्राणी मात्र में होना चाहिये। यह प्रेम विशेष रूप से सम्यग्दृष्टि जीवों में और सम्यक् चारित्रवान् जीवों में अवश्य होना चाहिये। इस जीव की जितनी धर्मात्मा जीवों से प्रीति होती है, उतनी पाप की क्षति तथा पुण्य की प्राप्ति होती है। पापरत जीवों की संगति यहाँ भी दुःखदायी है और अगले भव में भी दुःख देती है। अतः जो प्राणी सुख चाहते हैं उन्हें धर्मात्मा जीवों (महाव्रती साधुओं) की सेवा हृदय से करनी चाहिये।

इस जीव को धर्म का लाभ कर्म-भूमि में धर्मात्मा जीवों के उपदेश से, संसर्ग से, जिनवाणी के पठनपाठन से तथा सम्यक्चारित्र की निधि साधुओं के चरणारविन्द की सेवा से ही प्राप्त होती है। सुख क्या है और सुख का मार्ग क्या है- इस तथ्य को बताने वाले जिन प्रवचन (शास्त्र) ही हैं। इस जीव का कल्याण करने वाले जिन प्रवचन ही हैं। शास्त्र वे ही सच्चे हैं, जो वीतराग देव की वाणीरूप हैं। आत्मा का हित करने वाला एक वीतराग धर्म ही है। इसलिए जिनधर्म में अटूट श्रद्धा-भक्ति को धारण करना भव्य जीवों का कर्तव्य है। जिस प्रकार संसारी जीव की संसार के कार्यों में अटूट प्रीति होती है, उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि जीव की देव, शास्त्र, गुरु में अटूट भक्ति व प्रीति होती है। इसमें जीव का सम्यक्त्व गुण ही कारण है।

इस प्रकार प्रवचन वात्सल्य के स्वरूप को समझकर इसको धारण करना चाहिये और इसकी भावना ग्रहण करनी चाहिये। इन सोलह कारण भावनाओं को सम्यग्दृष्टि जीव ही धारण करता है। यह प्रवचन वात्सल्य भी सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्तम रीति से धारण करता है। उपदेश तो प्राणी मात्र के लिए होता है। वे पुरुष धन्य हैं जो सम्यग्ज्ञान से मोह नष्ट करके आत्मा के गुणों में वात्सल्य रखते हैं। जो षट्काय के जीवों में वात्सल्य भाव रखते हैं, वे ही तीनों लोकों में अद्भुत अतिशय रूप तीर्थंकर प्रकृति का उपार्जन करते हैं। इसलिए जो आत्मकल्याण के इच्छुक हैं उन्हें जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा उपदिष्ट वात्सल्य गुण की महिमा जाननी चाहिये।

सोलहकारण भावना की महिमा अचिन्त्य है। इससे तीन लोक में आश्चर्यकारी अनुपम वैभव की धारक तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।

"आगम के आलोक में पूजा-पद्धति

❑ आ. प्र. विजयमती माताजी

जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतल, अग्नि का दाहकत्व, सूर्य का तपन, चन्द्र का शीतल, इक्षु का मधुर, पवन का गमन, श्रमण का श्रम, मुनि का मौन है; उसी प्रकार जीव का चेतना है, जानना, देखना है। ज्ञाता-दृष्टाजीव अपने में रहकर स्वानुभूति पाता है, निश्चल होता है, निराकुल हो जाता है। यही सुख है। प्राणीमात्र सुख चाहता है। परन्तु संसारी प्राणी सांसारिक विषय वासनाओं में उलझा अपने से च्युत हो स्वयं की भूल से भटकता आ रहा है। यह भूल भी अनादि है। स्वयं उपार्जित कर्म श्रृंखला से आपाद मस्तक बद्ध हो, जीव संकल्प-विकल्पों के जाल में उलझा है, फंसा है। अहर्निश राग द्वेष की धाराओं में बहता रहता है। संसार सागर के ज्वार भाटों से त्रस्त होने पर भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव का अभाव तो वस्तु के सत् का ही नाशक है जो सिद्धान्त विरुद्ध है "सत् का कभी नाश नहीं होता, नाही असत् का उत्पाद" यह अकाट्य है। तो भी विभाव परिणति के कारण यह जीव दुखी है। इसका मूल कारण है अज्ञान व मोह। यह मोह का योग अनादि से चला आ रहा है। विभाव रूप सुख-दुख के थपेड़ों में जीवात्मा अहर्निश आकुलित रहता है। चाह की दाह में अनन्त संकल्पों विकल्पों को संजोता है, सुख की आशा में निराशा के गर्त में पड़कर पश्चाताप-अनुताप की जलन में झुलसता रहता है। किसी किसी प्रकार मनुष्य पर्याय पाता-है।

मानव जीवन में बुद्धि का वैभव इसे प्राप्त होता है। गृहस्थी की चार दिवारों में प्रविष्ट हो सुख शान्ति की खोज में लगता है। परन्तु यहाँ भी मृग तृष्णा ही पाता है। आपाद मस्तक विपत्तियों में फंस जाता है। कुटुम्ब का मोह, विषयों का आकर्षण, भोगों की चमक, पञ्चेन्द्रियों का जाल, मन का वितान इसे सुख शान्ति का असत् प्रलोभन देकर फंसा लेते हैं। विराग पर राग का साम्राज्य छा जाता है, सम्यक्तव को मिथ्यात्व दबा लेता है। विपरीतता का नशा प्रतिकूल दिशा में जीवन को ढो ले जाता है। चारो ओर से त्रस्त, हताश, निराश मानव कहीं सुख शान्ति का अन्वेषण करता है। कुछ ऐसा कार्य करना चाहता है जिसके द्वारा थकान दूर हो, आकुलता मिटे, शान्ति जगे, सुख का आभास मिले, यही स्थान धर्म है। धर्म की छाया में प्राप्त मानव संसार ताप से छुटकारा पाता है। अब वह निरा मानव नहीं रहता मानवता का भी रसास्वादी होता है। धर्म ही मेरा रक्षक है, यह उसे विदित होने लगता है। धर्म क्या है? उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? वह कहाँ मिलेगा? मेरा मार्गदर्शक कौन हो सकता है? मैं किसकी शरण

जाऊँ? किन-किन निमित्तों का संग्रह करूं? मेरे अपराधों का शोधन कहाँ हो सकता है? मैं किस प्रकार अपने स्वभाव को पाऊँ? मैं कौन हूँ? मेरा धर्म क्या है? इत्यादि प्रश्न उसे उद्वेलित करते हैं। वह अपने आराध्य की आराधना में तत्पर होता है। आश्रय चाहता है। आश्रय किसका ले? यह विचारणीय हो जाता है। विवेक जागृत होता है। अपना सर्वाङ्गीण विकास चाहता है। पूर्णता पाने की लिप्सा जागती है जो स्वयं पूर्ण हो चुका निरापद हो कृतकृत्य हो जाता है, परमात्म पद पा चुका है, पूज्य बन चुका है वही आराधक को भी निज समान बनाने में निमित्त हो सकता है। बस, यही भावना पूजा की जन्म दात्री बनती है।

भारतीय संस्कृति में पूजा का विशेष महत्व है। जिन शासन में सागार का धर्म पूजा प्राण स्वरुप है। श्रावक धर्म की आधार शिला जिनेन्द्र पूजा है। जिस प्रकार ध्यान और अध्ययन के बिना यति धर्म नहीं टिक सकता उसी प्रकार जिन पूजा और पात्रदान के बिना श्रावक धर्म नहीं रह सकता। पूजा शब्द 'पूज्' धातु से बना है। पूजा सनातन सत्य है। यह सागार धर्म का तो अकाट्य, अनिवार्य एवं आवश्यक अंग है ही भाव की दृष्टि से यति धर्म का भी प्राण है, क्योंकि पञ्च परमेष्ठी के गुण चिन्तन, गुणस्तवन भी पूजा शब्द वाचक ही है। पूजा का अर्थ पूजना है। जिन शासन में अन्यमतों की भांति व्यक्ति विशेष की पूजा का विधान नहीं है अपितु पूज्य पुरुषों के गुणों की पूजा-अर्चा की पद्धति वर्णित है यथा उत्तम क्षमा, मार्दवादि गुणों की पूजा, सम्यक्‌दर्शन आदि की पूजा। एक-एक गुण का अपना-अपना वैशिष्ट्य है, मान्यता एवं प्रभाव है। हाँ, ये सभी गुण चैतन्य आत्मा के ही है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव के अङ्ग हैं। अङ्गों का समुदाय ही अङ्गी है अतएव स्पष्ट हो जाता है कि पूजा आत्मा की, शुद्धात्मा की ही होती है। विविध नयों की पद्धति से शुद्धावस्था प्राप्त एवं उस अवस्था की प्राप्ति के मार्ग पर आरूढ़ पवित्रात्माओं को भी पूज्यता प्राप्त है। इसलिए पञ्चपरमेष्ठी पूज्य है। उनकी पूजा करने वाला श्रावक भी अपनी निर्मल निर्विकार भावनानुसार शुद्धावस्था प्राप्त करने में समर्थ होता है। मत में अर्हंत परमेष्ठी की पूजा का सर्वाधिक प्रचार व प्रचलन है। कारण कि अर्हन्त सर्वज्ञ केवली भगवान ही उभय धर्म के उपदेष्टा मोक्षमार्ग के नेता हैं, भव्यजनों के त्राता होने से प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते हैं। सकलज्ञ ही वीतरागी हो सकता है और वीतरागी ही सकलजीवों का अभ्युदय करने वाला उपदेश दे सकता है। इसलिए युक्त्यनुशासन में श्री समन्तभद्राचार्य ने "आपका ही शासन सर्वोदय हो सकता है" कहकर स्तुति रूप भाव पूजा की है। अस्तु, मुक्त या मुक्तिपथ पर समारूढ़ परमात्मा, अन्तरात्मा, उत्तम, मध्यम, जघन्य आत्मा ही यथा योग्य पूज्य हो सकती हैं।

पूज्य के गुणों में अनुरक्त, उन गुणों की प्राप्ति का अभिलिप्सु ही पूजक कहा जा सकता है। पूज्य के प्रति मात्र समर्पण कर देना, समस्त फल उसे ही प्रदान कर देना पूजक का लक्ष्य नहीं हो सकता, न वह पूजक ही बन सकता है, अपनी आहुती देकर अपने अस्तित्व को खो देना, भक्त का स्वरूप नहीं है। भक्ति या पूजा वह है जो भक्त को भगवान, पूजक को पूज्य

बना दे। अतः पूजक का लक्ष्य या ध्येय पूज्य के गुणों को ज्ञात कर अपने स्वभाव में अन्तर्निहित उन्हीं जैसे गुणों को प्रकट करना होना चाहिए। गुण-ग्राहकता ही पूजक का गुण होना चाहिए इस प्रकार विचार करने पर सहज ही यह प्रश्न आता है कि हम किस प्रकार पुजारी बनें, पूजा की विधि-पद्धति क्या हो, जिनवाणी में पूजा का स्वरुप क्या बतलाया है। उसे किस-किस प्रकार करना चाहिए। अर्थात् पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा का फल इन चार बातों का ज्ञाता ही सच्चा पूजक बन सकता है और यथार्थ फल प्राप्ति कर सकता है। इस निबन्ध में पूजा पद्धति पर प्रकाश डालना है। आगम में किस प्रकार पूजा का विधान है और उसका द्रव्य, क्षेत्रकाल एवं भावानुसार किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए। मानव बुद्धिजीवी प्राणी है। प्रत्येक कार्य को नय, प्रमाण, तर्क, आगम आदि की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करता है। वस्तु तत्त्व विवेच्य है, उसकी विवेचना होना ही चाहिए। दही को बिना मथे मक्खन नहीं प्राप्त होता, तिल को पेले बिना तैल कहाँ मिलता है? उसी प्रकार आगम का मथितसार निकाले बिना तत्त्व का यथार्थ स्वरूप उपलब्ध नहीं हो सकता है।

साधारणतः पूजा सद्गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य है। गृहिणी का कर्तव्य घर है। घर की अधिष्ठात्री धर्मपत्नी कहलाती है। पति के साथ-साथ समस्त धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन जहाँ दम्पत्ति वर्ग करते है वही सागार धर्म है अतः श्रावकाचार एक ही प्रकार वर्णित है। कहीं भी आगम में श्रावकाचार और श्राविकाचार पृथक-पृथक् नहीं बतलाये हैं। अतः दोनों ही दम्पत्ति को समान रूप से जिनेन्द्र प्रभु की पूजा करने का अधिकार आगम में उपलब्ध है। यथा—

> सपत्नीकोऽभिषेका चर्या सामग्री हस्तसात्कृता
> उपादाय ततो गच्छेदीर्यापथ शुद्धितः ॥30॥शान्ति. वि.।

श्री जिनेन्द्र भगवान् की अभिषेक पूर्वक पूजा करने वाली श्राविका का स्वरूप वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं—

> पूर्वस्नाताऽनुलिप्ताऽपि धौतवस्त्रान्वितापरम्।
> षोडशाभरणोपेतास्याद्वधूः पूजयेज्जिनम् ॥149॥
>
> सती शीलव्रतोपेता विनयादिसमन्विता।
> एकाग्रचित्ता प्रयजेज्जिनान् सम्यक्त्व मण्डिता ॥150॥

अर्थात् प्रातः क्रिया स्नानादि कर शुभ, शुद्ध वस्त्र धारण करे। सुन्दर यथा योग्य षोडश आभरण पहने तथा सती शील शिरोमणि, विनयादि गुणों से युक्त, एकाग्र चित्त हो जिनेश्वर प्रभु की अभिषेक पूजा करे। इसी प्रकार आगे लिखा है—

> सापूजाअष्टविधाज्ञेया, गृहिणीगृहमेधिनाम्
> जलादिफलपर्यन्ता, भवान्तकरण क्षमा ॥160॥उ. श्रा

इस प्रकार वह पूजा अष्ट द्रव्यों से दम्पत्ति वर्ग द्वारा की जानी चाहिए। इससे स्पष्ट होता

है श्रावक और श्राविकाओं को विधिवत् प्रतिदिन नित्यमह पूजा अवश्य ही करनी चाहिए। यथा समय शक्तिनुसार अन्य विशेष पूजाएँ भी करनी अनिवार्य हैं।

श्रावक को गृहस्थाश्रम की क्रियाओं का सम्पादन करना होता है। तदर्थ उसे अर्थोपार्जन अनिवार्य है। इस क्रिया में सावद्य होता ही है। फिर गृह कार्यों पञ्चसूनादि टल नहीं सकते। पीसना, कूटना, झाड़ना, बुहारना, रसोई बनाना (भोजन तैयार करना) और पानी भरना इस प्रकार पाँचों क्रियाओं में निरन्तर कुछ न कुछ पापार्जन होता ही रहता है। इसके अतिरिक्त व्यापार, धंधा एवं पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोगों में राग-द्वेषादि परिणामों की उत्पत्ति भी स्वाभाविक है। इसलिए गृहाश्रम में मुक्ति का निषेध है। क्योंकि विषय-कषाओं में आकुलित मन स्थिर नहीं हो सकता। ध्यान सिद्धि हो नहीं सकती। अस्तु, इन सावद्य क्रियाओं के उपार्जित पापकर्म की निवृत्ति या उस विपाक की कमी के लिए आचार्यों ने श्रावक धर्म में जिन पूजा और सुपात्रदान को महत्त्व दिया है। जिनेन्द्र प्रभु वीतरागी हैं। उनके लघुनन्दन आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु परमेष्ठी भी वीतराग पथारूढ़ हैं। उपचार महाव्रत, संयुक्ता आर्यिकाजन भी उसी पथ की पथिक हैं अतः जिनागम में इनकी पूजा का विधिवत् उल्लेख पाया जाता है। इनके अतिरिक्त उत्तम श्रावक-श्राविका-क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं का भी पादार्चनादि का पूजा विधान है। यहाँ हमें जिन पूजा क्रम का विवेचन करना है। वर्तमान में आचार सार ग्रन्थ अनेक सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा रचित उपलब्ध होते है। सभी में पञ्चामृताभिषेक पूर्वक पूजा का विधान वर्णित मिलता है। यथा—

(1) महाभिषेक—पूज्यपाद स्वामी
(2) वृहद्स्नपन—गुणभद्र भदन्तजी
(3) जिनाभिषेक—सोमदेव सूरिजी
(4) लघुस्नपन सटीक—अभयनन्दि सूरिजी
(5) जैनाभिषेक सटीक—गजाङ्कुश कवि
(6) नित्य महोद्योत—पंडित आशाधर सूरि
(7) जन्माभिषेक विधि—पंडित अय्यपार्य
(8) नित्यमह—पं. नेमिचन्द्रजी
(9) जिनस्नपन—इंद्रनन्दी योगींद्र
(10) रत्नत्रयाद्यभिषेक—आचार्य सकलकीर्तिजी
(11) सिद्धचक्राभिषेक—भट्टारक शुभचन्द्राचार्य
(12) उमास्वामी श्रावकाचार—आ. उमास्वामी

(13) वसुनन्दी श्रावकाचार—आ. वसुनन्दीजी

(14) गुणनन्दी श्रावकाचार—आ. गुणनन्दीजी

(15) पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका—आ. पद्मनन्दीजी

(16) श्रीपाल चरित्र सिद्धचक्र माहात्म्य-आ. सकलकीर्तिजी

(17) रत्नकरण्ड श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्रजी

इन सभी ग्रन्थों में प्रथम पञ्चमृताभिषेक कर पुनः अष्टविध अर्थात् आठ प्रकार के उत्तमोत्तम द्रव्यों से तिलकार्चन बिना पूजा का फल नहीं होता—

मुक्तिश्रिया ललामं वा तिलकं समुदाहृतम
तेनार्थत्वमिंद्रस्य पूजकस्य च तैर्विना।।122।। उ. श्रा.

अर्थ—

तिलक मुक्ति लक्ष्मी का सुन्दर आभूषण है, इस कारण उन 9 तिलकों के बिना पूजक इन्द्र की पूजा निरर्थक है।।122। इसमें भगवान की पूजा करने का उल्लेख किया है। अभिषेक एवं पूजा सम्बंधी द्रव्य शुद्ध, पवित्र एवं मनोरञ्जक होने चाहिए। सर्व प्रथम अभिषेक विधि पर दृष्टिपात करना उचित होगा, इसके लिए पूजक कैसा हो और पूजा या अभिषेक द्रव्य कौन-कौन होना चाहिए तथा किस क्रम से अभिषेक किया जाय यह ज्ञातव्य है।

अभिषेक करने वाला मन्त्रादि पूर्वक स्नानादि करें। यज्ञोपवीत धारण करें, 9 स्थानों में तिलकार्चन करें। मुकुट, केयूर, कुण्डल, अंगुलियक (अंगूठी) आदि धारण करें। पुनः पीठ प्रक्षालन कर उसके मध्य में श्री कार वर्ण लिखे। तदन्तर श्री जिनेन्द्र प्रभु की आरती करें, सकलीकरण क्रिया करें। दश दिक्पालों का आवाहन करें। उन्हें अर्घ्य समर्पण करें। क्षेत्रपाल को अर्घ्यावदान दे। पुनः चार कोणों पर चार कलश स्थापन करें। केशर घिस कर तैयार करें। (ध्यान रहे हार श्रृंगार के फूल कभी भी उपयोग में न लें) इस प्रकार समस्त सामग्री तैयार कर क्रमशः श्री जिनेन्द्र प्रभु का अत्यन्त भक्ति भाव से अपने को इन्द्र, इन्द्राणी मानकर तथा श्री जिन प्रतिमा को साक्षात् अर्हंत मानता हुआ प्रथम श्लोक पढ़कर मन्त्रोच्चारण करते हुए जलाभिषेक करना चाहिए। पुनः रकाबी में अष्ट द्रव्य ले अर्घावतारण करें। पुनः क्रमशः इक्षुरस, घृताभिषेक, क्षीराभिषेक, दुग्धाभिषेक, दह्याभिषेक एवं सर्वोषधिस्नपन करें। प्रत्येक पदार्थ के अभिषेक के बाद अर्घावतारण करता जाये। पुनः सुगंधित गंध से लेपन कर, नाना प्रकार के सुमनोहर सुगंधित पुष्पों की वृष्टि करें, शक्त्यनुसार सुवर्ण रजतादि के पुष्पवर्षण भी किये जा सकते हैं। तदनन्तर, दही, अक्षत, दूर्वा, पुष्पादि के साथ दीप लेकर निरञ्जन प्रभु भगवान की नीराञ्जना आरती करना चाहिए। पुनः चतुः कोण कलशों से अभिषेक करे अर्घ्य चढ़ावे। तदन्तर सुगंधित कलश से स्नपन

करावे। अन्त में समयानुसार बृहद्, मध्यम लघु शान्तिधारा करे। शुद्ध-स्वच्छ कोमल वस्त्र से पोंछकर श्री जिनबिम्ब को यथा स्थान वेदी या सिंहासन पर विराजमान कर नमस्कार करें। यदि साधुजन हों तो उन्हें अर्घ्य लेकर चढ़ावें तथा नमोऽस्तु आदि कर गंधोदक देवें पुनः स्वयं लेवें तथा अन्य साधर्मियों को विनय पूर्वक वितरण कर देवें। सभी श्री जिनगंधोदक को मस्तक पर चढ़ावें। आवश्यकतानुसार सर्वाङ्गों में भी लगा सकते हैं। यथा मैनासुन्दरी ने कुष्टी श्रीपाल (अपने पति) और अन्य (700) कुष्टियों के शरीर पर क्षेपण कर उस भयङ्कर असाध्य व्याधि का नाश किया था। कुछ मनीषियों का भ्रान्त विचार है कि मैना सुन्दरी ने तो मात्र यन्त्र का ही अभिषेक किया था। परन्तु यह भ्रान्ति निम्न आचार्य श्री सकलकीर्तिजी के ही कथन से दूर हो जाती है—

> सौवर्णं रजतं ताम्रं यन्त्रं वा क्रियते शुभम्।
> जिनेन्द्र प्रतिमाग्रेण पीठे संस्थाप्य निश्चले॥65॥
>
> तदद्वयं पञ्चपीयुषैः सत्तोयेक्षु घृतादिभिः
> दुग्धैर्दधि प्रवाहैश्च स्नापियत्वामहोत्सवैः॥65॥
>
> कर्पूरागरु काश्मीर चन्दनैलादि वस्तुभिः
> सर्वौषधि जलेनोच्चैः प्रक्षाल्य परमादरात्॥87॥

अर्थात् स्वर्ण रजत (चांदी) या ताम्र का शुभयन्त्र-सिद्ध यंत्र तैयार कर श्री जिनेन्द्र प्रभु की प्रतिमाजी के सामने अभिषेक पीठ में स्थापित करे। पुनः उन दोनों अर्थात् जिन प्रतिमा और यंत्र का विधिवत् पञ्चामृताभिषेक करना चाहिए। प्रथम उत्तम जल से, पुनः क्रमशः इक्षुरस, घृत (घी) दूध, दही, सर्वौषधि (इलायची, लवंग, कपूर, अगर, तगर, चन्दन, आदि सुगंधित वस्तुओं का चूर्ण) से महामहोत्सव पूर्वक अभिषेक करना परम श्रद्धा-भक्ति से श्री जिनेन्द्र प्रभु और यन्त्र का महाभिषेक कर पुनः अष्टविध अर्चना करना—(श्रीपाल चरित्र अ. श्लोक नं 67....106)

प्रथम जन्म ,जरा-मृत्यु का नाश करने वाली जल से पूजा करे। पुनः क्रमशः सुन्दर सुगंधित चन्दन से, अखण्ड शुभ्र निर्मल अक्षत पुञ्जों से परमानन्ददायी पूजा करे। जाति चम्पक, पुन्नाग पद्म आदि सुवासित सुमनों से अर्चना करना, सुमधुर सुस्वादु क्षीरान्न से बनाये पक्वान्न व्यञ्जनादि से पूजे, अज्ञान तिमिर नाशक दीपक से पूजा करना, दशाङ्ग धूप अग्नि में क्षेपण करना, श्रीफल, आम्र, जाम्बीर, दाड़िम आदि फलों से की गई पूजा स्वर्ग, मोक्ष फलदायिनी जाननी चाहिए। अष्ट द्रव्यों को एक साथ मिलाकर स्वर्णपात्र में रखकर अर्घ्य चढ़ाना। इस प्रकार पूजा विधान करने से रोग, शोक, संताप, पीड़ा आदि का नाश होता है। हे पुत्री! तुम अभिषेक पूजाकर आठ दिन तक अपने पति को गंधोदक स्नान कराना। इससे सर्व कुष्ट नष्ट हो कञ्चनमय काया हो जायेगी इत्यादि।

विपदाग्रस्त नारी ही श्री जिन बिम्ब अभिषेक कर सकती हो यह बात भी नहीं है क्योंकि

कुमारी मदन सुन्दरी भी प्रतिदिन श्री जिन प्रभु का अभिषेक पूर्वक ही पूजा करती थी। यथा—

अथैकदा सुता सा च सुधी मदनसुन्दरी
कृत्वा पञ्चामृतैः स्नानं जिनानां सुख कोटिदम्॥80॥
पूजां विधाय सद्वस्तु सदोहैस्सुजलादिभिः
तत्सद् गंधोदकं पित्रे ददौ परम पावनम्॥81॥

अर्थ—

एक समय अर्थात् एक दिन उस मदन सुन्दरी (मैना सुन्दरी) बुद्धि शालिनी ने जिनालय में करोड़ों सुख-सम्पदा को देने वाला जिन बिम्बों का महापञ्चामृताभिषेक किया तथा अष्ट द्रव्यों से पूजा की। पुनः शुभ मंगल कारक गंधोदक लाकर पिता को दिया।

इस प्रकार अभिषेक एवं पूजा की विधी है।

पूजा का काल कौन है? जिन पूजा त्रिकाल करना चाहिए-1. प्रातः काल, 2. मध्यान्ह काल और 3. संध्या काल यथा :—

त्रिकालं क्रियते भव्यैः पूजा पुण्यविधायिनी।
या कृता पाप संघातं हन्त्याजन्मसमर्जितम्(॥180॥) उ. श्रा.
पूर्वाण्हे हरते पापं मध्यान्हे कुरुते श्रियम्।
ददाति मोक्षं संध्यायां जिन पूजा निरन्तरम्॥(181)॥

अर्थ—

सतिशय पुण्य विधायिनी पूजा भव्यात्माओं को त्रिकाल करनी चाहिए। यह पूजा अनेक जन्मों में किये घोर पाप समूह को नष्ट करने में समर्थ होती है। प्रातः काल (पूर्वान्ह) में की गई पूजा पाप का संक्षय करती है, मध्यान्ह कालीन पूजा श्री लक्ष्मी प्रदाता है। लक्ष्मी बाह्याभ्यन्तर दो प्रकार की है, बाह्य धन वैभव संतति के साथ अन्तरङ्ग ज्ञान दर्शनादि अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी श्री प्रदान करती है अर्थात् पूजक स्वर्गापवर्ग की प्राप्ति करता है। संध्याकाल में की गई देव शास्त्र गुरू की पूजा नियम से मुक्तिधाम को देने वाली होती है। निरन्तर विधिवत् की गई पूजा आत्मसिद्धि दायक होती है। अष्ट विधार्चन पूजा के 5 अङ्ग बतलाये हैं।

आव्हानं स्थापनंचैव, सन्निधिकरणं तथा।
पूजा विसर्जनं चेति, उपचारास्तु पञ्चधा॥ (महाङ्ग संहिता)

अर्थात् 1. आह्वाननम् 2. स्थापना, 3. सन्निधिकरण, 4. पूजा और 5. विसर्जन ये पांच पूजा

के उपचार अंग कहलाते। हैं इसकी विधि (1) ॐ ह्री श्रीं क्लीं ऐं अर्हं परब्रह्मणे अनन्तानन्त ज्ञान शक्तये हे अर्हत्परमेष्ठिन अत्रावतरावततर। अत्र एहि-एहि संवौषट् नमोऽर्हते स्वाहा। इति आह्वाननम्

इस प्रकार मन्त्र बोल कर आकर्षक मुद्रा से खड़े होकर पुष्पादि क्षेपण करें।

(2) ॐ ह्रीं श्रीं.....हे अर्हत्परमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः नमोऽर्हते स्वाहा (इतिस्थापनम्) पुनः पुष्पादि क्षेपण करें।

(3) ॐ ह्री....हे अर्हत्परमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट् नमोऽर्हते स्वाहा। पुष्पादि क्षेपे। यह सन्निधिकरण है।

(4) उपर्युक्त मन्त्र उच्चारण कर क्रमशः जल चन्दनादि अष्ट द्रव्य चढ़ाना पूजा कर्म उपचार है।

(5) विसर्जन :—उपरोक्त विधि से अर्हत्सिद्ध, शास्त्र गुरु व अन्य जो भी पूजाएँ करनी हों, करे। पुनः शान्तिपाठ बोलकर विसर्जन पाठ पढ़ पुष्प क्षेपण करे। यही विसर्जन है। अन्त में अष्टाङ्ग व पञ्चाङ्ग नमस्कार करे महिलावर्ग गवासन से नमस्कार करें। तीन प्रदक्षिणा दें, कार्योत्सर्ग कर पुनः नमस्कार करें। इस प्रकारजोभव्यश्रावक-श्राविका पूजा में रत होते हैं वे ही मोक्ष मार्ग का आचरण करने वाले हैं। यथा—

जिण पूजा मुणिदाणं करेई जो देई सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावय-धम्मी सो होई मोक्खमग्गरओ।।र. सा.

अष्ट द्रव्य चढाने का फलः— जल धारा पाप मल प्रक्षालन करती है। जलझारी से तीन धारा छोड़कर जल चढ़ाना चाहिए। ये धाराएँ जन्म, जरा और मरण के नाश की द्योतक है। चन्दन भगवान के चरणों के अंगूठों पर चढ़ाना चाहिए-चर्चित करना चाहिए। यह सौभाग्य सम्पदा दायक है- संसार ताप विनाशक है। अखंडित अक्षत को दोनों मुट्ठी में लेकर पुञ्ज चढ़ाना चाहिए। यह पूजा अक्षय नौ निधि व 14 रत्नों को देती है, अक्षोभ, रोग, शोक रहित निर्भय बनाती है, अन्त में अक्षय मोक्ष को प्राप्त कराती है। सुगंधित पुष्प श्री जिन देव के चरणों के अग्रभाग पर चढ़ाना चाहिए। यह काम ज्वर नाशक है। नानाविध चरू, नैवेद्य, विविध पक्वान्न थाल में या तस्तरी में भरकर चढ़ाना चाहिए। इससे पूजक शक्ति, क्रान्ति, तेज, सौन्दर्य सम्पन्न व सुखी होता है। घृत के दीपों से पूजा करने से ज्ञान ज्योति प्रकट हो क्रमशः कैवल्य प्राप्ति होती है। दीपक लेकर आरती उतारकर चढ़ाना चाहिए। धूप दशाङ्ग अग्नि में अर्पण करनी चाहिए। इससे त्रैलोक्यव्यापी यश प्राप्त होता है।फलों से पूजा करने से परम निर्वाण प्राप्त होता है। फल सुन्दर, सरस थाल, या रकाबी में भरकर चढ़ावें। इस प्रकार का क्रम अनेकों आचार ग्रन्थों, पुराणों आदि में है। देखिये-वसु. श्रा. 483-592/सागा. ध-30-31/ति. प. 105/ पद्म पु.11/ 345/म.पु. 16/345/

कुछ सज्जन सचित्त द्रव्यों यथा पुष्प फलादि का निषेध करते हैं। किन्तु आगम में कहीं भी इन द्रव्यों का निषेध उपलब्ध नहीं होता अपितु सर्वत्र विधान ही मिलता है। कुछ उदाहरण निम्न प्रकार देखिये—

जिनकी लक्ष्मी बहुत विस्तृत है ऐसे राजा भरत ने पके हुए मनोहर फलों-आम्र, जामुन, कैथा, कटहल, केला, अनार, बिजौरा, सुपारियों के सुन्दर गुच्छे और नारियलों से भगवान के चरणों की पूजा की। म. पु. श्लोक 78-408, 252। जीवन्धर कुमार की भक्ति और भी बढ़ गई (जिनालय के स्वयमेव किवाड़ खुल गये) उन्होंने उसी सरोवर में स्नान कर उसमें उत्पन्न बहुत से फल ले जिनेन्द्र भगवान की पूजा की।।409।। इसके अतिरिक्त वसु. श्रा. पं. सदासुख जी का 110/160/8 देखें। सर्वत्र जम्बीर, नीबू, बिजौरा आदि नाना सुरभित सुमनों से श्री जिन भगवान के चरण सरोज की पूजा विधान विहीत है।

नैवेद्य के विषय में सदासुख जी ने र. क. श्रा. 110/160/16 में लिखा है "कोई अष्ट प्रकार सामग्री बनाय चढ़ावे, केई सूखे जव गेहूँ, चना, मक्का, बाजरा, उड़द, मूँग, मोठ इत्यादि चढ़ावें। केई रोटी, राबडी, बावड़ी के पुष्प, नाना प्रकार के हरे फल तथा दाल, भात अनेक प्रकारके व्यञ्जन चढ़ावे। केई मेवा, मोतीन के पूञ्ज, दुग्ध, दही, घी, नाना प्रकार के घेबर, लाडू, पेड़ा, बरफी, पुडी पुवा इत्यादी चढ़ावें है। यहाँ जिन पूजन सचित्त द्रव्यनि तैं हुं अचित्त तैं हुं करिये हैं। दो प्रकार आगम की आज्ञा प्रमाण सनातन मार्ग हैं। अपने भावनि के अधीन पुण्य बंध के कारण हैं। ज्ञानीजन, बुद्धिमानों को पक्षपात छोड़ विवेक पूर्वक क्रिया करनी इत्यादि।"

जिनेन्द्र भगवान की पूजा, नृत्य, गान, वादित्रादि सहित महावैभव पूर्वक करना चाहिए। (ति.प./8/584-587) मर्दल, जय घंटा, पटह, काहल, आदि बजते रहते वे देव जिन पूजा को करते हैं। नाना छत्र चामरादि से पूजा करते हैं। पश्चात् हर्ष से विचित्र शैलियों से वे देव बहुत रस व भावों से युक्त दिव्य नाना प्रकार के नाटकों को करते हैं। उत्तम रत्नों से विभूषित दिव्य कन्याएँ विविध प्रकार के नृत्य करती हैं। (5/115) (ति.प. 3/118/227/ति.प./104/116) भाव और द्रव्य पूजा दोनों ही मान्य हैं। यथायोग्य दोनों प्रकार की पूजा करनी चाहिए। किन्तु सर्वारम्भ-परिग्रह त्यागी साधु यतिजनों को भाव पूजा ही मुख्य है। श्रावक श्राविकाओं को द्रव्य पूजा प्रमुख कर भाव पूजा का विधान है। श्रावकों को शुद्धिपूर्वक अपने घर से ही पूजा द्रव्य नित्य लेकर जाना चाहिए। स्वयं द्रव्य लेकर जाने से विशेष भाव शुद्धि और राग भाव का अभाव होता है।

कतिपय सुधारक वादी भौतिकता से चुंधिया जाकर पूजा में सावद्य है, आरम्भ-सारम्भ होता है, हिंसा का लेशांश आ जाता है, भला उससे आत्मविशुद्धि कैसे हो सकती है? यह प्रश्न प्रमादियों का है, सुबुद्धि सम्यग्दृष्टि का नहीं हो सकता। "सार संग्रह" में कहा है—

जिनाभिषेक जिन प्रतिष्ठा जिनालये जैन सुपात्रकायाम्।

सावद्य लेशो वदते सपापी सनिन्दको दर्शन घातकाश्च॥

अर्थात्-जो जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक, जिन बिम्ब प्रतिष्ठा (जिन पूजा-पंचकल्याणादि) जिनालय निर्माण् और सुपात्रदानादि में थोड़ा भी पाप सावद्य कहता है, वह पापी निन्दक स्वपर सम्यग्दर्शन का घातक है। जिन पूजा में यदि पाप कह कर त्याग दे तो श्रावक मानव नहीं, हैवान, दानव, बन जायेगा क्योंकि वह कुटुम्ब का भारवाही मात्र रह जायेगा, पापाचार का व्यापारी हो जायेगा। देखिये—

तथा कुटुम्ब भोगार्थमारम्भः पापकृद्भवेत्
धर्म कृद्दान पूजादौ हिंसा लेशो मतः सदा॥(144)उ.श्रा.

अर्थ—

जो आरम्भ कुटुम्ब पालन भोग के लिए किया जाता है वह पाप उपार्जन के लिए ही होता है। किन्तु दान पूजा आदि में किया गया आरम्भ तो सदा धर्म का करने वाला होता है। हाँ, उसमें हिंसा का स्वल्पलेश अवश्य माना है। किन्तु इस लेश का प्रक्षालन पूजा से उत्पन्न प्रभूत पुण्य प्रवाह् के समक्ष तुच्छ तिनके के समान बह जाता है। आचार्य समन्तभद्रजी का समाधान बेजोड़ है—

पूज्यं जिनं त्वामर्चयतोजनस्यसावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य न दूषिका शीत शिवाम्बु राशौ॥५९॥

क्या एक विषबिन्दु अथाह् सागर के जल को विषाक्त कर सकती है? नहीं। उसी प्रकार हे जिनेश प्रभु! आपकी पूजा से उत्पन्न अत्यल्प सावद्य उस पूजा ही से प्राप्त असीम सागर सम पुण्य पुञ्ज को मलिन कर सकता है? कदापि नहीं। सर्वत्र इसके प्रमाण उपलब्ध हैं।

पूजाभिषेके प्रतिमासुप्राप्ते जिनालये कर्मणिदेवकार्ये।
सावद्य रुपं तु वदन्ति येऽपि जनाश्च ते दर्शन घातकास्युः।।३५७।।भ. मा. उ. यन
पूजा च विधिमानेन सावद्यं सिन्धु मुद्रिरवत्।
यथा न शक्यते दूष्यं तथा पुण्यं न दूष्यते॥३५८॥भ. मा. उ. यन

इतना ही नहीं जिनेन्द्र-अर्हन्तपूजा अनेक जन्मों के उपार्जित पाप समूह को नष्ट करने में समर्थ होती है। देखिये—

जिनार्चाऽनेक जन्मोत्थं किल्विषं हन्ति यत्कृतम्।
सा किं न यजना चार संभवं सावद्यमङ्गिनाम्॥१४१॥उ. श्रा.

जो जिन पूजा अनेक जन्मों के संचितपापों का विनाश करती है वह क्या पूजनविधि के आचार से उत्पन्न पाप का नाश नहीं करेगी? अवश्य ही करेगी। और भी कहा है।

प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमः।
तत्राल्प शक्ति तेजस्सु का कथा मशकादिषु॥१४२॥उ. श्रा.

जिस भयंकर वेगयुक्त पवन द्वारा पर्वत समान गज उड़ा दिये जाय भला उस वायु के समक्ष बेचारे मच्छरों की क्या कथा अर्थात् वे तो उड़ा ही दिये जायेंगे। इसी प्रकार जिन पूजा भव-भव के पाप समूह को विध्वंश करने में समर्थ है फिर भला उससे उत्पन्न सावद्य कैसे टिक सकेगा।

जिन विचारकों की धारणा है कि पूजा भले ही पुण्य बंध की कारण हो किन्तु वह संवर निर्जरा पूर्वक मुक्ति की कारण नहीं हो सकती। यह भी निर्मूल है। पूजा शुभास्रव के साथ अशुभ का निरोध कर संसार वैभव पूर्वक परमपद की प्रदात्री है। जहाँ पूज्य, पूजक, पूजा का हेतू यथोक्त-आगमोक्त है तो उसका फल भी मुक्ति ही है। आचार्यश्री कहते है।

पूज्यो जिनपतिः पूजा पुण्य हेतुर्जिनार्चना।
फलं स्वाभ्युदयामुक्ति भव्यात्मापूजकः स्मृतः॥१४६॥उ. श्र.

जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करने वाला भव्यात्मा अपने अनुपम उत्तम भावानुसार सिद्धिनारी के प्रासाद में अनुपम ही सुख का भोक्ता होता है।

स्नपनयो जिनेन्द्रस्य कुरूतेभावपूर्वकम्
स प्राप्नोति परं सौख्यं सिद्धि नारी निकेतनम्॥१८७॥ उ. श्रा.

यहाँ कोई प्रश्न करे कि "साक्षात् भगवान्-समवसरण स्थित अर्हन्त भगवान की पूजा का ऐसा महान् महात्म्य हो जावे परन्तु प्रतिमा (धातु, पाषाण, मणि, मुक्ता, निर्मित) भला इस प्रकार के स्वर्ग मोक्षादि फल चक्रवर्त्यादि विभूति की दाता किस प्रकार हो सकती है? आचार्यों ने इसके उत्तर में कहा है–

स्वर्ण चन्दन पाषाणैश्चतुराङ्गुल मानकम्।
कारयित्वा जिनं भक्तया प्रत्यहं पूजयन्ति ते (८४)

येना कारेण मुक्तात्मा शुक्ल ध्यान प्रभावतः
तेनायं श्री जिनोदेवो बिम्बाकारेण पूज्यते॥७५॥

आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्याया कृति पूजनम्।
तार्क्ष्य मुद्रा न किं कुर्याद् विषसामर्थ्य सूदनम्॥७६॥

जो मनुष्य, स्वर्ण, चन्दन और पाषाण से चार अंगुल मात्र जिनबिम्ब कराकर प्रतिदिन पूजा करते हैं वे उसके फल से उसी आकार (अर्थात् जिन रूप होकर) लोगों से पूजे जाते हैं। शुक्ल ध्यान के प्रभाव से जिस प्रकार जो जीव जिस आकार से मुक्त होता है, मोक्ष में उसी आकार से अवस्थित रहता है। इसी प्रकार जो जिस आकार की पूजा करता है, वह उसी आकार से

पूज्य होता है। अर्थात् शुद्ध ज्ञानाकार रूपसिद्ध और अर्हत्स्वरूप जिनबिम्ब का पूजन करने से वैसा आत्मस्वरूप प्राप्त होता है।

आप्त के प्रत्यक्ष-साक्षात् नहीं होने पर भी उनकी आकृति का पूजन क्या पुण्य प्राप्ति को नहीं होता? होता ही है। साक्षात् गरूड़ के अभाव में गरूड़ की मुद्रा क्या विष की सामर्थ्य का विनाश नहीं करती? करती ही है।

जिन पूजा महान् फल की दाता है-

> परलोक सुखं भुक्त्वा पश्चान्मन्दर पर्वत।
> सुर पूजां ततो लब्ध्वा निर्वृतिं यान्ति ते नराः।।७८।।

अर्थः—

जिनेन्द्र पूजा करने वाले परलोक में इन्द्रादिक के सुख भोगकर तत्पश्चात् सुमेरू पर्वत पर देवों के द्वारा जन्माभिषेक पूजा को प्राप्तकर पुनः मुक्ति को जाते हैं।।।७७।।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य पूजा दोनों ही जीवन में परमावश्यक और महत्वपूर्ण है। नयापेक्षा मुख्य-गौण रूप से इनका विधान है। तो भी सम्पूर्ण में भाव तो आधार हैं ही। जैसा कि नियमसार की टीका में पद्मप्रभमल धारी कहते हैं-

> अथ नय युग युक्तिं लंघयतो न सन्तः।
> परम जिनद्वय पदाब्ज द्वन्दमत्त द्विरेफाः।।
>
> सपदि समयसारं ध्रुवं प्राप्नुवन्ति,
> क्षितिषुप परमतोक्ते किं फलं सज्जनानाम्।। नि,. सा)

अर्थात जो साधक परम भक्ति विभोर हो उभय नयों व्यवहार और निश्चय के विधान का उल्लंघन न कर युक्ति पूर्वक श्री जिनेन्द्र भगवान के चरणद्वय सरोज में मत्तषट्पद (भ्रमर) की भाँति भक्ति में लीन रहते हैं वे शीघ्र ही निश्चय से परम समयसार शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेते हैं फिर भला और अन्य संसारिक सुखों की तो बात ही क्या है? वे तो मिल ही जाते हैं। धान्य के साथ घास फूंस भी प्राप्त होते हैं अतएव भगवद् जिन पूजा, मुक्ति प्राप्त पर्यन्त अहर्निश करना ही चाहिए। यह "उभय धर्मसिद्धि की अमोघ रसायन है, जो सेवन करेगा अमर बनकर ही रहेगा।"

जब हम इस विषय का व्याकरण की दृष्टि से विचार करते हैं तो अवगत होता है कि 'पूज्' चुरादि गणीय धातु सेल्युट् प्रत्यय कर यु के स्थान पर अन् हो जाने से पूजनम् बनता है। पूजू+अ+टाप्=पूजा, यहाँ क-प्रत्यय होने से गुण नहीं हुआ। अतः 'पूजा' शब्द बना। इसी प्रकार पूज्य=पूजृण्यत्प्रत्यय लगाकर 'पूज्य' की सिद्धि होती है। इस प्रकार शब्द विश्लेषन करने

पर निश्चय नय की दृष्टि से स्वयं आत्मा ही पूज्य है, वही पूजक है। इसका एकत्व नाम ही शिव है, मुक्ति है, आत्मा का पूर्ण विकास और स्वभावोपलब्धि है।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि।।३८।

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निश्चयकर सदाकाल अरूपी हूँ, अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ भी नहीं लगता है, यह निश्चय है।

श्रावक की त्रेपन क्रियाएँ

❑ भरतकुमार काला, बम्बई

संसार के सभी प्राणी सुख की कामना करते हैं और यत्किंचित् भी दुख नहीं चाहते।

पंडित प्रवर श्री दौलतरामजी ने 'छहढ़ाला' नामक अनुपम अध्यात्मिक कृति में प्राणी की इस दशा का बहुत ही सुन्दर रेखांकन किया है—

'जे त्रिभुवन में जीव अनंत, सुख चाहें दुःखतैं भयवंत।
तातैं दुःखहारि सुखकार, कहैं सीख गुरू करूणाधार।।

जीव की यह दशा क्यूँ हुई है? इस पर भी प्रकाश डालते हुए लिखा है-

'ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण।
मोहमहामद पियो अनादि, भूलि आपको भरमद वादि।।

अनादि काल से मोह माया में पड़कर इस प्राणी पर जो संस्कार पड़ गये उसको जब तक दुरूस्त नहीं किया जा सकता तब तक प्राणी कभी भी सच्चे सुख का अनुभव नहीं कर सकता। प्राणियों में सबसे श्रेष्ठतम योनि है— मनुष्य योनि, क्योंकि इस योनि में ही जीव अपने को सुसंस्कारित कर उत्तमोत्तम पद को प्राप्त कर पाता है।

परमपद को प्राप्त होने पर ही यह जीव सर्वोच्च ऐसे अनंत सुख का सदा सर्वदा अनुभव कर सकता है। यह पद प्राप्त होना सरल नहीं है। एक तो मनुष्य भव प्राप्त होना ही अत्यन्त दुर्लभ है। और वह प्राप्त भी हो जाय तो सदाचार युक्त उत्तम माता पिता याने उत्तम जाति व कुल व अनंत सुख का पथ दर्शन देनेवाला धर्म व वैसे संस्कारों का होना इससे भी दुर्लभ है।

सागरोपम वर्षों तक दुःखमय जीवन को भोगते हुए किसी कर्मयोग से मनुष्य भव प्राप्त होने पर तथा उत्तम कुल व उत्तम माता-पिता, उत्तम जाति व उत्तम धर्म धारण करने जैसा वातावरण मिलने पर उत्तम श्रावक बनने का पुरूषार्थ आवश्यक है।

जैनाचार्योंने मनुष्य की दशा को सुधारने का मार्ग प्रशस्त करते हुए उत्तम श्रावक बनने के लिये त्रेपन प्रकार के संस्कार याने त्रेपन क्रियाएँ करना आवश्यक बताया है। ये त्रेपन क्रियाएँ स्वयं अपने आप में ऐसे संस्कार हैं जिनकी प्राप्ति से यह मनुष्य भव सुसंस्कारित हो अत्युच्च ऐसे अनंत सुखों की प्राप्ति की तरफ अग्रसर हो पाता है। समीचीन संस्कारों से ही वह जितेन्द्रिय का पालक, अनुगामी का अधिकारी बन सकता है, बनता है। जितेन्द्रिय द्वारा कथित जिनधर्म

सुनने का अधिकार भी ऐसे जीवों को प्राप्त होता है जो सुसंस्कारों से युक्त हो।

श्रद्धा, विवेक और क्रिया द्वारा अपने मनुष्य जीवन के तथा नामको सार्थक बनानेवाला जैन श्रावक अपने बाल-बालिकाओं को सुसंस्कारित और सुशिक्षित किस प्रकार करें इसके लिये जैनोचार्योंने श्रावक की त्रेपन्न क्रियाओं का बहुत ही सुंदर निरूपण किया है।

जैनाचार्य श्री जिनसेन-स्वामी ने महापुराण नामक महान ग्रन्थ में श्रावक की इन त्रेपन क्रियाओं का बहुत ही सुस्पष्ट विवेचन कर उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला है।

व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण शुभाशुभ वृत्ति उसके संस्कारों के आधीन है। इन संस्कारों में कुछ को वह अपने पूर्वभव से साथ में लाता है और कुछ इसी भव में संगति एवं शिक्षा आदि के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं।

प्रथम तो माता पिता के रज वीर्य से बनने वाला पिण्ड, जहाँ जीव आता है, उस पर माता पिता के जीवन का प्रभाव पड़ता है। गर्भाधान के पश्चात् माता के सद्विचार, आचार एवं आहार-विहार के प्रभाव से बालक की शक्तियाँ दृढ़ होती हैं। जिस तरह से खान से निकाले गये सोने को तपातपाकर अग्नि के संस्कार से शुध्द किया जाता है, जिस प्रकार ओबड़-धोबड़ पत्थर से एक कलाकार अपनी कुशाग्र बुद्धि से टांके पर टांके, घाव पर घाँव लगाकर एक सुंदर मनोज्ञ पूजनीय मूर्ति का निर्माण करता है, उसी प्रकार एक व्यक्ति को भी पूजायोग्य सुसंस्कारों की अनेकों सीढ़ियों से मनुष्य योनि में आने से पूर्व से ही पार होना अति आवश्यक होता है।

भोगमूमि में उपलब्ध सामग्री के अभाव में कर्मभूमि के प्रारम्भ में हुए प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ ने असि, मसि, कृषि, शिल्प, सेवा, वाणिज्य के उपदेश के साथ देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन गृहस्थ जीवन के दैनिक षट्कर्मो का जनता को उपदेश दिया और अपने प्रथम पुत्र भरत चक्रवर्ती को सुसंस्कृत किया और स्वयं ने भी विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थ जीवन के बाद का आदर्श प्रस्तुत करते हुए दिगम्बर मुनि की जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष का द्वार उद्घाटित किया।

तत्पश्चात् षट्खण्ड के विजय के बाद भारतवर्ष को अपने नाम से सार्थक बनानेवाले भरत चक्रवर्ती ने जिनेन्द्र देव की महामहपूजा के अन्तर्गत जनता को जिनागम के आधार से इज्या, वार्त्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का निर्देश करते हुए क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में जिन संस्कार विधि का प्रचार प्रसार किया। उसका आचार्य जिनसेन स्वामी के आदिपुराण इस महान ग्रन्थ के अनुसार जो कि श्रावक की तिरेपन क्रियाएँ (संस्कार) नाम से प्रसिद्ध हैं उसका विचार यहां किया जाना है।

क्रियाएँ (संस्कार) तीन प्रकार की बतायी हैं—

"गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः।

कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मताः।।51।। आदिपुराण पु. 38 पर्व

(1) गर्भान्वय क्रिया (2) दीक्षान्वय क्रिया (3) कर्त्रन्वय क्रिया।

गर्भान्वय क्रिया (संस्कार) गर्भाधान आदि से त्रेपन प्रकार की हैं।

(1) गर्भाधान संस्कारः—

आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः।
पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया।।70।। आदिपुराण पु प. 38

स्नान की हुई स्त्री को मुख्य कर गर्भाधान के पूर्व अरहन्तदेव की पूजा और मन्त्रपूर्वक जो पूजा संस्कार किया जाता है उसे 'आधान' क्रिया कहते हैं।

विवाह केवल विषयाभिलाषा की पूर्ति हेतू नहीं अपितु पुत्रोत्पत्ति एवं गृहस्थ जीवन द्वारा सदाचरण, लोक सेवा तथा आत्मोन्नति के उद्देश्य से किया जाता है।

गर्भ में आने वाले बालककों मानसिक और शारीरिक शक्तियों की दृढ़ता और कमजोरी माता द्वारा प्राप्त होती है। माता के मन, वचन और काय की क्रिया का असर बालक पर पड़ता हैं अतः माता को विवेकशील और धर्मात्मा होना चाहिये।

स्त्री मासिक-धर्म के 4 दिन बाद पांचवे दिन स्नानादि से शुद्ध होकर मन्दिर जाकर जिनेन्द्र-देव की पूजा स्वाध्याय आदि करना चाहिये।

जिन प्रतिमा के दाई तरफ तीन चक्र, बाईं तरफ तीन छत्र और तीन प्रकार की पुण्याग्नि स्थापन कर दोनों पति-पत्नि अरहन्त भगवान की पूजा कर अग्निकुंडों में होम विधि करके पूजन विधि पूर्ण करे।

आयुर्वेद और ज्योतिष के अनुसार मासिक-धर्म के पाँचवे दिन से समरात्रि 6, 8, 10 जैसी रात्रि में पति-पत्नि सहवास करे तो पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है और विषम रात्रि में सहवास से कन्या प्राप्ति होती है। इस प्रकार के संस्कार विधि से गर्भ में आने वाले आत्मा पर अच्छा प्रभाव डालना गर्भाधान क्रिया है।

(2) प्रीति क्रियाः— गर्भाधान के पश्चात् तीसरे महिने में यह संस्कार क्रिया की जाती है। इस क्रिया में भी पूर्वोक्त विधि से अरहंत पूजन करना चाहिये। दरवाजे पर तोरण बांधना चाहिये। पूजन के साथ ही 112 आहुतियों से हवन,पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ, समाधिपाठ, विसर्जन करावें। पति पत्नि पर पुष्पक्षेपण करते हुए नीचे लिखा मन्त्र कहे—

"त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञाती भव, त्रिरत्नस्वामी भव,"

तदन्तर ॐ कं ठ व्हः पः अ सि आ ऊ सा गर्भोमेकं प्रमोदेन परिरक्षत स्वाहा' यह मन्त्र तीन बार पढ़कर गर्भवती के उदर पर पति द्वारा जलसिंचन करावें।

प्रथम गर्भाधान क्रिया में भी पूजन हवनोपरान्त नीचे लिखा मन्त्र पढ़कर पति-पत्नि पर पुष्पक्षेपण करना चाहिये–

सज्जातिभागी भव, सद्गृहीभागी भव, मुनिन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागीभव, परमराज्यभागी भव, अरहन्तभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव'।

(3) **सुप्रीति क्रियाः–** गर्भाधान से पांचवे महिने में यह संस्कार किया जाता हैं। इसमें पूर्ववत् पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करके निम्न प्रकार खास मन्त्रों से आहुति व पुष्पों से आशीर्वाद देवे–

'अवतार कल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेक कल्याणभावि भव, निष्कांति कल्याणभागी भव, अर्हन्त कल्याणभागी भव, परम निर्वाण कल्याणभागी भव।

इसी समय पति पत्नि के सिर की मांग में सिंदूर और 108 जौ के दानों की पहिले से तैयार कराई गई माला 'ॐ, झं, वं, क्ष्वीं हं सः कान्तागले यवमालां क्षिपामी झौं स्वाहा' मन्त्र पढ़कर पत्नी के गले में पहनावें। पत्नी अपने आंखों में अंजन लगावे।

(4) **धृति या सीमंतोन्नयन संस्कारः–** यह क्रिया सातवें माह में करे। इसका दूसरा नाम हे खोल भरना। इसमें भी पूर्ववत अरहन्त पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करें। नीचे लिखे मन्त्रों से आहुती व आशीर्वाद देवें–

'सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहस्थदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव।

अनन्तर पुत्रवाली सौभाग्यवती स्त्री द्वारा तेल व सिंदूर में डूबोकर शमी 'सोना' वृक्ष की समिधा (सींक) से गर्भणी पत्नी के केशों की मांग भरी जावें। इसी दिन खोल में श्रीफल, मेवा, फल आदि भराकर पति पत्नि जिन मन्दिर जावे, साथ में महिलाएँ भी गीत गाती जावें।

(5) **मोद संस्कार**–गर्भ से नौवें महीने में यह संस्कार किया जाता है। इसमें पूर्ववत अर्हन्त पूजा, यंत्रपूजा, हवन करें। साथ ही नीचे लिखे खास मन्त्रों से आहुती व दम्पति को आशीर्वाद देवें–

'सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहस्थकल्याणभागी भव, वैवाहृकल्याणभागीभव, मुनीन्द्रकल्याणभागीभव, सुरेन्द्रकल्याणभागीभव, मन्दराभिषेकल्याणभागीभव, यौवराज्यकल्याणभागीभव

पुण्याहवाचन शान्ति पाठ के बाद द्विज विद्वान या स्वयं पति गर्भणी के शरीर पर गात्रिका बांध मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लिखते हैं और मंगलाचार करके आभूषण पहनाकर उसकी रक्षा के लिये उसे कंकण सूत्र बांधते हैं।

गर्भिणी महिला को प्रतिदिन 'ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा नमः' इस मन्त्र का जाप (एक माला 108) कर ना चाहिये। ब्रह्मचर्यपूर्वक रहें, सादा भोजन करें। जिनवाणी के स्वाध्याय में अधिक समय लगावें। हाथ चक्की से आटा पीसने का अभ्यास रखें।

(6) **प्रियोद्भव क्रिया** :—बालक के जन्म के बाद यह क्रिया की जाती हैं। जन्म का 10 दिन का सूतक होने से गृहस्थाचार्य या जिनको सूतक न लगे, वे जिन मन्दिर में पूजा विधान करें। हवन में 'दिव्य नेमिविजयाय स्वाहा, परम नेमिविजयाय स्वाहा, अर्हन्त नेमिविजयाय स्वाहा, घातिजयो भव, श्री आदि देव्यः जाता क्रिया कुर्वन्तु, मन्दराभिषेकार्हो भवतु' इन मन्त्रों से आहुति देवें। पिता आदि भी पुत्र को देखकर यह आशीर्वाद देवें। बाजे आदि बजवावें।

(7) **नाम कर्म संस्कार** :—जन्म से 12, 16 या 32 वें दिन शुभ नक्षत्र में यह संस्कार करें। इसमें भी अर्हन्त देव की पूजन आदि पूर्ववत किया जाता हैं। 10 दिन का सूतक होने से जिनाभिषेक, पूजा, शास्त्र का स्पर्श नहीं है। मुनिराज भी यहाँ आहार नहीं लेते। अतः उपर्युक्त पूजन किया जाता हैं। घर का प्रसुति स्थान 45 दिन तक अशुध्द रहता हैं। 45 वें दिन नवजात शिशु को जिन मंदिर लेजावे। वहां जिनेन्द्रप्रतिमा के सामने शिशु को माता नीचे सुला देवें और गृहस्थाचार्य या अन्य कोई व्यक्ति नव बार णमोकारमन्त्र उसके कानों में सुनावें। बालक को उसी समय अष्ट मूलगुण (पांच उदम्बर और तीन मकार का स्थूल रूप से त्याग) धारण करा देवें और जैन बनावें। इस त्याग की जिम्मेदारी बालक विवेकवान होते तक उसके माता पिता की है। जिस घर में मद्य, मांस, मधु का भी त्याग न हो वह जैन घर कैसे माना जावें।

नामकर्म के लिये जन्मपत्रिका बनवाकर जिस राशि का नाम आवें उसके अनुसार 1008 जिन सहस्त्रनामों में से कोई भी अनुकूल नाम रख देवें। कन्या का नाम पुराणों में प्रसिद्ध महिलाओं के अनुकूल रखें।

दिव्याष्टसहस्त्रनामभागीभव, विजयाष्टसहस्त्रनामभागीभव, परमाष्टसहस्त्रनामभागीभव इन मंत्रों से आशीर्वाद दिया जावे।

नाम घोषित करते समय ' ओं ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं अमुक बालकस्य नाम करण करोमि। अयं आयुरारोग्यैश्वर्यवान् भवतु भवतु क्ष्वीं क्ष्वीं अ सि आ उ सा स्वाहा' मन्त्र पढा जावें।

(8) **बहिर्यान क्रिया**:—जन्म के बाद दूसरे-तीसरे महिने में मंगल क्रिया मंगल वाद्यपूर्वक बालक को प्रसूति गृह से बाहर निकालना बहिर्यान क्रिया हैं। इसके आशीर्वाद मंत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

'उपनयनिष्क्रांतिभागी भव, वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रांतिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रांतिभागीभव, आर्हन्त्यनिष्क्रांतिभागी भव'

बालक को जिनालय में दर्शन कराते समय "ओं नमोर्हते भगवते जिनभास्कराय जिनेन्द्र प्रतिमा

दर्शने बालकस्य दीर्घायुष्यं आतादर्शनं च' यह मन्त्र पढ़े।

(9) **निषद्या क्रिया** :—जन्म से पांचवे माह में बालक को बैठाने की क्रिया की जाती है। उस समय पूर्व मुख कर सुखासन से बैठावें। नीचे लिखे आशीर्वाद सूचक खास मन्त्र पढ़ें:—

'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागीभव, परम सिंहासनभागी भव'।

(10) **अन्नप्राशन क्रिया:**—जन्म से 7,8,या 9 माह बीत जाने पर अर्हन्त्य भगवान की पूजा पूर्वक बालक को अन्न आहार खिलाना अन्नप्राशन क्रिया है। इसका मन्त्र है—

'दिव्यामृतभागीभव, विजयामृतभागीभव, अक्षीणामृतभागीभव'

(11) **वर्ष-वर्धन (व्युष्टि) संस्कार क्रिया:**—यह क्रिया बालक के एक वर्ष का होने पर करें। इस दिन जिन-मन्दिर में पूजा विधान करावें। बालक को भी मन्दिर भेजे। उसका जन्म दिवस मनावें। नीचे लिखे मन्त्र से बालक को आशीर्वाद देवें—

'उपनयन जन्म वर्ष वर्धनभागीभव, वैवाहनिष्ठवर्धनभागीभव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागीभव, सुरेन्द्रवर्षवर्धनभागीभव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागीभव, यौवराज्यवर्षवर्धनभागीभव, महाराज्यवर्षवर्धनभागीभव, परमराज्यवर्षवर्धनभागीभव, अर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागीभव'।

(12) **चौल संस्कार:**—बालक के पांच वर्ष होने पर यह क्रिया की जाती है। यूँ तो दो-तीन वर्ष में भी यह क्रिया की जा सकती है। जिनेन्द्रपूजन के बाद बालक का मुंडन करना चौल क्रिया है। इसका मन्त्र इस प्रकार है:—

उपनयनमुँडभागीभव, निर्ग्रंथमुँडभागीभव, निष्क्रांतिमुँडभागीभव,परमनिस्तारकेशभागीभव, सुरेन्द्रकेशभागीभव, परमराज्यकेशभागीभव, अर्हन्त्यकेशभागीभव'।

केश निकल जाने पर चोटी के स्थान पर केशर से स्वस्तिक बनावें, पुष्पक्षेपण करे। इसी समय कर्ण, नासिका वेध क्रिया भी करते हैं।

(13) **लिपि संख्यान क्रिया:**—बालक के पांचवे वर्ष होने पर घर में पाठशाला में अक्षरों का दर्शन करने के लिये यह संस्कार किया जाता है। जिन मन्दिर में या घर पर पूजा के बाद यह क्रिया करें। सर्व प्रथम ओं और ओं नमः सिद्धेभ्यः" बालक से पट्टी पर लिखावें और इनका उच्चारण करावें। इस समय आशीर्वाद सूचक निम्न मन्त्र पढ़े—

'शब्दपारगामीभव, अर्थपारगामीभव, शब्दार्थसम्बन्धपारगामीभव'। बालक को लिपि पुस्तक दी जावें।

(14) **उपनीति संस्कार क्रिया:**—गर्भ से आठवें वर्ष में बालक पर यह उपनीति या यज्ञोपवित संस्कार किया जाता है।। रक्षाबंधन के त्यौहार पर भी यह क्रिया सम्पन्न की जा सकती है। इसका मन्त्र इस प्रकार है—

परमनिस्तारकलिंगभागीभव, परमर्षिलिंगभागीभव, परमेन्द्रलिंगभागीभव, परमराज्यलिंगभागीभव, परमार्हन्त्यलिंगभागीभव, परमनिर्वाणलिंगभागीभव'।

यज्ञोपवित पहनने का मन्त्रः—

ओं नमः परमशान्ताय शान्तिकराय पवित्रीकृताहं रत्नत्रय स्वरूपम् यज्ञोपवीतम् दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हनमः स्वाहा'।

यज्ञोपवित पहनने से अष्टमूलगुणों का स्थूलरूप से पालन हो जाता है। रात्रिभोजन त्याग भी करना होता है।

(15) **व्रतचर्या क्रियाः**—करधनी, श्वेतधोती, उरोलिंग जनेऊ और शिरोलिंग-चोटी इन ब्रह्मचर्य व्रत के योग्य चिन्हों को धारण करना व्रतचर्या क्रिया होती है। अध्ययन पूर्ण होने तक इन व्रतों का पालन करना चाहिये। इस अवधि में पलंग पर सोना, उबटन लगाना आदि त्याज्य है। पांच अणुव्रत आदि व्रत पालन करना चाहिये। विद्याध्ययन होने तक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरूमुख से उपासकाचार पढ़कर अध्यात्मशास्त्र, व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, छन्द अलंकार कोष, गणित आदि पढ़ने चाहिये। लौकिक शिक्षा प्राप्ति में भी उर्पयुक्त संस्कारों से युक्त रहने से बहुत ही लाभ होते हैं।

(16):—**व्रतावतरण संस्कार क्रियाः**—विद्याभ्यास समाप्त होने पर यज्ञोपवित, पांच अणुव्रत, अष्टमूलगुण आदि व्रतों के सिवाय शेष सभी जैसे पृथ्वी पर शयन करना, आभूषण त्याग आदि व्रतों को बारह या सौलह वर्ष बाद त्याग कर देना व्रतावतरण क्रिया है। इस क्रिया के बाद गुरू की आज्ञा से वस्त्र, माला, आभूषण आदि ग्रहण किये जाते हैं।

(17) **विवाह संस्कार क्रियाः**—गुरू आज्ञापूर्वक सुकुल सज्जाति में उत्पन्न कन्या के साथ विधिवत् विवाह होना विवाह क्रिया है। मंगलाष्टक, अर्हन्तपूजा, हवन, पुण्याहवाचन, शांतिपाठ, विसर्जन आदि से यह क्रिया होती है।

(18) **वर्णलाभ क्रियाः**—पिता की आज्ञानुसार धन धान्य सम्पदा लेकर अलग रहना यह वर्णलाभ क्रिया है।

(19) **कुलचर्या क्रियाः**—पिता के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त कर विशुद्धि रीति से जीविका चलाना और देवपूजा आदि षट्कर्म करना कुलचर्या क्रिया है।

(20) **गृहीशिता क्रियाः**—गृहस्थाचार्य बनने योग्य क्रियाएँ करते हुए इस क्रिया को प्राप्त होना चाहिये

(21) **प्रशान्ति क्रियाः**—अनन्तर अपने पुत्र पर गृहभार छोड़कर स्वाध्याय उपवास आदि करते हुए अत्यन्त शान्ति प्राप्त करना प्रशान्ति क्रिया है।

(22) **गृहत्याग क्रियाः**— गृह आदि छोड़ने को उद्यत होना गृहत्याग क्रिया है।

(23) **दीक्षाद्य क्रियाः**— दिगम्बर मुनिराज के पास जाकर क्षुल्लक दीक्षा लेना दीक्षाद्य क्रिया है।

(24) **जिनरूपता क्रियाः**—दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा : जैनेश्वरी याने दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण करना जिनरूपता क्रिया है।

(25) **मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रियाः**—साधु के शास्त्रज्ञान की समाप्ति होने तक मौनपूर्वक अध्ययन करना यह मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया है।

(26) **तीर्थकृद्भावना क्रियाः**—तीर्थंकर पद के कारणभूत सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करना तीर्थकृद्भावना क्रिया है।

(27) **गुरूस्थानाभ्युपगम क्रियाः**—गुरू के आचार्य पद के प्राप्त करने योग्य होकर आचार्य पद प्राप्त करना 'गुरूस्थानाभ्युपगम क्रिया है।

(28) **गणोपग्रहण क्रियाः**—चतुर्विध संघ के पालन करने में तत्पर होना गणोपग्रहण क्रिया है।

(29) **स्वगुरू-स्थानावाप्ति क्रियाः**—अपने योग्य शिष्य को आचार्य पद भार समर्पण करना स्वगुरू-स्थानावाप्ति क्रिया है।

(30) **निःसङ्गत्वात्मभावना क्रियाः**—शिष्य, पुस्तक आदि का ममत्व छोड़कर निःसंग होकर आत्मा-भावना में लीन होना निःसङ्गत्वात्म भावना क्रिया हैं।

(31) **योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रियाः**—मोक्ष में अपनी बुद्धि स्थापन कर ध्यान में तत्पर होना योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया है।

(32) **योगनिर्वाण साधन क्रियाः**—चतुराहार त्याग कर शरीर के छोड़ने में उद्यत होना योगनिर्वाणसाधन क्रिया है।

(33) **इन्द्रोपपाद क्रियाः**—मन, वचन और काय के योगों की समाधि लगाकर प्राणों का त्याग कर इन्द्र पद में उत्पन्न होना इन्द्रोपपाद क्रिया है।

(34) **इन्द्राभिषेक क्रियाः**—इन्द्रपद में जन्म होने के बाद देवगण मिलकर उस इन्द्र का अभिषेक करते हैं वह इन्द्राभिषेक क्रिया है।

(35) **विधिदान क्रियाः**—तदन्तर नम्रीभूत हुए देवों को उन उनके पद पर नियुक्त करना विधिदान क्रिया है।

(36) **सुखोदय क्रियाः**—देवों से वेष्टित इन्द्र बहुत काल तक स्वर्ग सुख का अनुभव करता है वह 'सुखोदय नाम' की क्रिया है।

(37) **इन्द्रपदत्याग क्रियाः**—इन्द्र जब अपनी आयु की स्थिति थोड़ी रहने पर अपना स्वर्ग से च्युत होना जान लेता है तब वह देवों को समझाकर इन्द्रपद का त्याग करता है उसे इन्द्रपद

त्याग क्रिया कहते है।

(38) **इन्द्रावतार क्रिया:**—गर्भ में आने के छः महीने पहले माता को सोलह स्वप्न होना, रत्नों की वर्षा आदि होना। पुनः वहाँ से च्युत होकर माता के गर्भ में आना 'इन्द्रावतार क्रिया' है।

(39) **हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया:**—हिरण्यगर्भ भगवान हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हुए इस प्रकार गर्भ में ही मति, श्रुत, अवधि ज्ञान के धारक भगवान की यह 'हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया है।

(40) **मन्दराभिषेक क्रिया:**—भगवान का जन्म होने पर इन्द्रगण आकर सुमेरू पर लेजाकर अभिषेक करते है यह मंदराभिषेक क्रिया है।

(41) **गुरूपूजन क्रिया:**—बिना किसी के शिष्य बने भगवान ही सबके गुरू है अतः इन्द्र आकर सर्व जगत के गुरू का पूजन करता है यह 'गुरूपूजन क्रिया है।

(42) **यौवराज्य क्रिया:**—कुमार-काल प्राप्त होने पर भगवान को युवराज पद का पट्ट बन्ध किया जाता है वह यौवराज्य क्रिया है।

(43) **सम्राटपद क्रिया:**—सम्राट पद पर अभिषिक्त होना सम्राट पद क्रिया है।

(44) **चक्रलाभ क्रिया:**—चक्ररत्न की प्राप्ति होने पर यह चक्रलाभ क्रिया होती है।

(45) **दिशांजय क्रिया:**—चक्ररत्न को आगे कर दिशाओं को जीतना 'दिशांजय क्रिया है।

(46) **चक्राभिषेक क्रिया:**—दिग्विजय पूर्ण कर अपने नगर में प्रवेश करने पर 'चक्राभिषेक नाम की' क्रिया होती है।

(47) **साम्राज्य क्रिया:**—साम्राज्य पद पर अभिषिक्त होने पर भगवान अनेक राजाओं को शिक्षा देकर न्याय नीति बतलाते है यह साम्राज्य क्रिया हैं।

(48) **निष्क्रान्ति क्रिया:**—राज्य से विरक्त होने पर लोकान्तिक देवों द्वारा स्तुत्य भगवान स्वपुत्र को राज्य देकर दीक्षा के लिये जाते है वह 'निष्क्रान्ति क्रिया है।

(49) **योगसम्मह क्रिया:**—भगवान बाह्य अंतरंग परिग्रह छोड़कर ध्यान में लीन होते हैं तब केवलज्ञान तेज प्रगट होजाता है वह योग सम्मह क्रिया है।

(50) **आर्हन्त्य क्रिया:**—केवलज्ञान उत्पन्न होने पर समवशरण की रचना होती है वह आर्हन्त्य क्रिया है।

(51) **विहार क्रिया:**—धर्मचक्र को आगे कर भगवान का विहार होता है वह विहार क्रिया है।

(52) **योगनिरोध क्रिया:**—विहार समाप्त होकर समवशरण विघटित हो जाने पर भगवान का

योग निरोध होता है। वह योग निरोध क्रिया है।

(53) **अग्रनिवृत्ति क्रिया:**—अघातिया कर्मों का नाश हो जाने से मोक्ष में स्थान पर पहुँच जाने पर अग्रनिवृत्ति क्रिया होती है।

इस प्रकार गर्भाधान से लेकर निर्वाण याने मोक्ष पर्यंत मिलाकर त्रेपन क्रियायें होती हैं। भव्य जीवों को उनका सदा अनुष्ठान करना चाहिये।

आदिपुराण के रचयिता भगवज्जिनसेनाचार्य ने गर्भाधान आदि समस्त क्रियाओं का संस्कार विधि का महत्त्वपूर्ण प्रभाव बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार विशुद्ध खानि से उत्पन्न हुआ मणि संस्कार विधि से अत्यन्त उज्ज्वल व कान्तिशाली हो जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी गर्भाधान आदि संस्कार व मन्त्रों के संस्कार से उज्ज्वल, अत्यन्त निर्मल व विशुद्ध हो जाता है। एवं जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम संस्कार क्रिया (छेदन, भेदन व आग्रपुटपाक आदि) से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार भव्य पुरूष भी उत्तम क्रियाओं-संस्कारों को प्राप्त हुआ विशुद्ध हो जाता है। यह संस्कार धार्मिकज्ञान से उत्पन्न होता है और सम्यग्ज्ञान सर्वोत्तम है।

मानवजीवन और अष्ट मूलगुण

❑ *पं. राजकुमार शास्त्री, निवाई*

निवृत्तिपरक आदर्श जैनाचरण दो प्रक्रियाओं में विभाजित है- एक मुनिमार्ग और दूसरा श्रावकमार्ग। इसे मुनिधर्म और श्रावकधर्म भी कहते हैं। इनमें प्रथम मार्ग, जो सभी प्रकार के आरम्भ और परिग्रहत्यागी, यथाजात लिंगधारी नग्नरूप, तिलतुष मात्र जिनके परिग्रह नहीं, पूर्ण अहिंसादि पंच महाव्रतों के धारी, सभी प्रकार के इन्द्रिय-विषयों से सदा विरक्त ज्ञान-ध्यान में सदा रमण करने वाले, प्राणी मात्र के मित्र, वीतरागी, सभी आकांक्षाओं से विरक्त, पूर्ण समताधारी, दिगम्बर जैन मुनियों का है। इस प्रकार के श्रेष्ठ आचरण को जैन धर्म ने जैनाचार की मुख्य प्रक्रिया मुनिमार्ग या मुनिधर्म माना है। इसमें चंचल मन पर, और उसकी सभी प्रकार की उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर इतना कठोर अंकुश लगाया गया है कि वह उधर भटक नहीं पाता है और फिर वह शुद्ध और संयमित होकर, मात्र आत्मस्वरूप की खोज में लग जाता है और अनन्त काल से कर्मावरण से युक्त आत्मा को विशुद्ध बनाने में लग जाता है। धीरे-धीरे अपनी तपोग्नि द्वारा उन आवरणों को जलाता जाता है। जब वे सभी भस्म हो जाते हैं तब आत्मा के अपने गुण अनंतज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य (शक्ति) ये अनंतचतुष्टय प्राप्त हो जाते हैं। यह आत्मा अनंत शक्तिवान् हो केवलज्ञानी (अनंतज्ञानी), सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, निराकुलतायुक्त परम सुखी बन जाता है। यही आत्मा का (जीव का) परम लक्ष्य था जिसे वह प्राप्त कर लेता है।

(२) जो इस उत्कृष्ट प्रक्रिया पर चलने में असमर्थ हैं, उनके लिए भी इस मुख्य प्रक्रिया तक पहुँचने के लिए, एक सरल मार्ग श्रावक (गृहस्थ धर्म) मार्ग भी जैन धर्म में है। लक्ष्य तो इसका भी वही मोक्षप्राप्ति का ही है किन्तु धीरे-धीरे चलते हुए, अभ्यास करते हुए, उस मुख्य प्रक्रिया (मुनिमार्ग) तक पहुँच जाना है। क्योंकि मुख्य प्रक्रिया की साधना बहुत ही कठिन है, उस पर यकायक चलना सभी के लिए संभव नहीं है, इसलिए दूसरी सरल प्रक्रिया का भी मार्ग प्रदर्शित किया गया है।

कहा भी है "करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान"। यह श्रावकमार्ग (गृहस्थधर्म) अभ्यास-मार्ग है। धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए, अनादि काल से भ्रमित आत्मा को सुसंस्कारों से संस्कारित करते हुए आगे बढ़ाने का मार्ग है।

अज्ञानता के कारण अनंत काल तक तो यह जीव निगोद राशि में पड़ा रहा। बहुत काल स्थावर काय में, त्रस काय में (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय जीवों की पर्यायों में) पैदा होता रहा। वहाँ इसे कोई सुयोग, आत्मा की उन्नति करने का अवसर नहीं

मिला, एक-एक पर्याय में हजारों बार जन्मा और मरा।

सैनी तिर्यंच भी हुआ तो कम शक्तिवान् हुआ, फलतः दूसरे (ताकत वालों) से मारा गया, खाया गया। मानवों के सम्पर्क में आया, उन से भी कुछ सुख नहीं मिला। न ही संबोधा गया। शक्ति से ज्यादा काम लिया गया। कमजोरीवश या रोग-ग्रसित होने से उनके वाहनों का बोझा न खींच सका, तो उन्हीं के द्वारा निर्दयता से पीटा गया। देवी-देवताओं के मठों में, अन्धश्रद्धा से बलिदान कर दिया गया। सर्दी, गर्मी, वर्षा के आघात सहता रहा। भूख-प्यास की वेदना समय-समय पर झेलता रहा, सहता रहा, भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान न होने से सभी कुछ खाया पिया। अनेक प्रकार का आधिव्याधियों का शिकार होता रहा। बूढ़ा या अशक्त या अपंग होने पर, कसाईयों के हाथ बेच दिया गया। कत्लखाने में भेज दिया गया। जीवित अवस्था में ही खड़ा कर मशीनों द्वारा खाल (चमड़ी) उतार ली गई- आदि-आदि अनेक वेदनाएँ सही।

आर्तध्यान से मरकर नरक गति में पहुँच गया। वहाँ की वेदना, जिव्हा से कही नहीं जा सकती। वहाँ की जमीन छूते ही नारकी जीव इतना दुःख पाता है, जैसे एक ही जगह हजारों बिच्छू डंक मारें। वहाँ की मिट्टी इतनी दुर्गन्धमय होती है कि उस जमीन का एक सरसों के दाने बराबर कण भी यहाँ आ जावे तो उसकी दुर्गन्ध से बहुत से दूरवर्त्ती जीव भी तत्काल मर जाएँ। सर्दी-गर्मी वहाँ इतनी तेज होती है कि सुमेरु पर्वत जैसा लोहे का गोला भी गल जाये। भूख भी इतनी लगती है कि सारे लोक का अनाज खा जावे मगर एक दाना भी नहीं मिल पाता। प्यास भी वहाँ ऐसी लगती है कि समुद्र का सारा पानी पी जावे, मगर वहाँ एक बूंद भी जल नहीं मिलता है। वहाँ के दुष्ट स्वभावी असुरकुमार देव भी उन्हें आपस में लड़ाकर प्रसन्नता अनुभव करते हैं। वैसे भी वे सभी नारकी आपस में लड़ते ही रहते हैं। एक क्षण भी वहाँ सुख शान्ति नहीं मिलती है। तिर्यंच और नरक इन दोनों स्थानों (गतियों) में फिर किसी-किसी सौभाग्यशाली को किन्हीं के द्वारा आत्मबोध कभी प्राप्त हो जाता है तो उन्हें भविष्य में आत्मकल्याण करने का सुयोग मिल जाता है। लेकिन जब तक वे वहाँ रहेंगे उन्हें शारीरिक वेदना तो सहनी ही पड़ती है। विचारों में अन्तर आ जाता है। उसी से उसका भावी जीवन बनता है। कोई शुभ कर्म के उदय से मनुष्य गति भी पाई तो ऐसे लोग बने कि जिन्हें अच्छे और बुरे कार्यों को समझने का ही संयोग नहीं मिला, वे शुभ और अशुभ कर्मों को जानते ही नहीं। दीन हुए, दुःखी हुए, रोगी हुए, तो वे अपने दुःखों से ही परेशान रहे। भक्ष्याभक्ष्य का ही उन्हें ज्ञान नहीं तो अपना कल्याण कैसे कर सकते थे।

अच्छे कुल और जाति में पैदा भी हुए तो भौतिक चकाचौंध में फँस गये। वे भौतिकता की ओर आकर्षित करने वाले भोग-विलासों में फँस गये। उसी के संचय में लगे रहे और उन्हीं के भोगने में ही सुख मान बैठे। उन्हीं भोग-विलासों में ही शान्ति की कल्पना कर उसी के संचय करने में लगे हुए हैं। वे मृग-मारीचिका में ही उलझे रहते हैं। उस धर्म को ही भुला बैठते हैं, जिस धर्म के प्रभाव से ही उन्हें अच्छा सम्मान्य कुल, निरोग शरीर, और वैभव से

भरा घर, अच्छा सुखद परिवार प्राप्त हुआ है। उन्हें कितने काल बीतने के बाद और न जाने कितनी पर्यायों के कितने-कितने कष्ट झेलने के बाद यह दुर्लभ जीवन मिला है। यह मानव-जीवन हमें भाग्यवशात् प्राप्त हुआ है। इस मानव-पर्याय की गति के लिए तो स्वर्ग के देव और देवेन्द्र भी तरसते हैं। हम इसे सफल कैसे बनावें, इसके लिए क्या करें? इसके लिए उनकी चेतना शुष्क हो गई है जो जागृत ही नहीं होती। जब कभी सुयोग्यवश इस आत्मा का अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल अवशेष रहे और काल-लब्धि प्राप्ति का सुअवसर समीप हो, तब आत्मा में चेतना जागृत हो और उसे अपने कल्याण की ओर रुचि हो, तभी सुअवसर का यह आत्मा लाभ ले सकती है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्ण इन तीन वर्णों की स्थापना आदि तीर्थंकर श्री वृषभदेव ने विदेह स्थित व्यवस्था के अनुसार की थी। इन तीन वर्णों को द्विज संज्ञा दी गयी है। इसका संबंध दो जन्मों से घोषित किया गया है- एक गर्भजन्म और दूसरा संस्कारित जन्म।

ये गर्भ जन्म सभी के होता है किन्तु संस्कारित जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का ही होता है, यह शास्त्रीय विधान है। जीवन में संस्कारों का अपना बड़ा महत्व है। मानव संस्कारों से महत्व पाता है। अनेक चीजें भी संस्कारों से बड़ा महत्व पा जाती है। खान से निकला हुआ सोना जब अग्नि द्वारा तपा लिया जाता है तभी वह सौ टंच शुद्ध सोना कहा जाता है। फिर उसी के आभूषण बनाये जाते हैं जिनकी कीमत भी बहुत बढ़ जाती है। उसका रूप और रंग भी बहुत निखर जाता है। इसी तरह हीरा, पन्ना, माणिक, मोती भी संस्कारित किये जाने पर ही बहुमूल्यवान बनते हैं।

खान में जमे हुए पत्थर को कौन पूजता है कारीगर जब खान से उस पत्थर को निकाल कर हथौड़ा लगा लगाकर उस पत्थर में बहुत समय से लगे हुए कीट, काई, धब्बों आदि को निकालकर, धोकर, घिसकर शुद्ध कर लेता है और टाँकी आदि की सहायता से अपनी कला कौशल द्वारा उस नगण्य पत्थर को तीर्थंकर की मूर्ति का रूप दे देता है, फिर उसे सूर्यमंत्रादि से संस्कारित कर दिया जाता है तब वह विश्ववंद्य भगवान् रूप बन जाता है, जिसके सामने आचार्यों के, ऋषि-महर्षियों के, देव-देवेन्द्रों के, चक्रवर्तियों के, सभी गणमान्य महानुभावों के मस्तक झुक जाते है और उस मूर्ति के दर्शन कर, पूजन कर, अपने जीवन को धन्य और सफल मानते हैं और उनके लिए बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ बड़े-बड़े भव्य मंदिर निर्माण करते हैं, फिर उनके लिए अनेक पुण्य आयोजनों को कर उन्हें उन दिव्य मंदिरों में विराजमान कराते हैं। आपने देखा संस्कारों का प्रभाव! वह खान का साधारण पत्थर संस्कारों द्वारा त्रिलोक पूजित भगवान् बन गया। जैनधर्म में संस्कारों को बड़ा महत्व दिया गया है क्योंकि जीवन की शुद्धि संस्कारों से ही होती है।

जैन धर्म में मानव जीवन को ही सप्त परम स्थानों की प्राप्ति का अधिकारी माना है।

मानव से देव बहुत सुखी हैं, समृद्धिशाली हैं, आधि-व्याधियों से बहुत अंशों में रहित है, मल-मूत्र की बाधा से रहित हैं। खाने-कमाने का झंझट भी नहीं है। सब चीजें आवश्यकतानुसार उन्हें सहज में ही कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाती हैं। वे यथेष्ट भ्रमण करने में सक्षम हैं। मगर उनमें संस्कार नहीं संजोये जाते हैं इसीलिए वे सीधे मोक्ष के अधिकारी नहीं माने जाते हैं।

मुख्यतया सप्त परमस्थान प्राप्ति के लिए संस्कारों की आवश्यकता है। बिना संस्कारों के मोक्ष-प्राप्ति की संभावना तो बहुत दूर, मुक्तिमार्ग को भी नहीं पा सकते हैं। बिना संस्कारों के कोई जड़ पदार्थ भी मूल्यवान् नहीं बन पाता। घोड़ा, हाथी, तोता, शेर, भालू, बन्दर, जानवर की शिक्षा और संस्कारों के कारण ही अनेक मन-लुभावने करतब कर दिखाते हैं। तो फिर मनुष्य संस्कारों के प्रभावों से सुयोग्य क्यों नहीं बन सकेगा? संगति और संस्कार जैसे मिलेंगे, वह वैसा ही बन जावेगा। भारत में संस्कारों की प्रथा अनादि काल से ही चली आ रही है तभी तो तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी संतानों को संस्कारों से संस्कृत किया था, वे तो आदि तीर्थंकर थे।

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य कुन्दकुन्द आचार्य परम वीतरागी महान् संत ने ग्यारह वर्ष की आयु में ही दिगम्बर मुनि मुद्रा धारण कर ली थी। यह उनकी मातुश्री की स्वभावतः वैराग्य वृत्ति का ही प्रभाव था। वे गृहस्थोचित सभी कार्य करती थी लेकिन वे महान् विरागिनी थीं। गृहस्थावस्था में सांसारिक सभी कार्य सम्पन्न करती हुई भी जल से भिन्न कमल की तरह रहती थी। वे बारह भावनाओं का चिंतन किया करती थी। सारी अशुभ क्रियाओं का उन्होंने त्याग कर दिया था। तत्वज्ञान उच्चकोटि का था। वे हमेशा संसार की स्थिति पर विचार करती थी। कभी तीर्थों की वंदना करती हुई विचार करती थी— कौन सा शुभ दिन आवेगा, जब वह आत्मकल्याण कर सकेंगी। वे शिशु कुन्दकुन्द को झूला झुलाते हुए भी यह लोरी सुनाती रहती थी-

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
संसारतस्त्वं त्यज मोहनिद्रां, श्रीकुन्दकुन्दजननीमिदमेवमूचे॥

"हे प्रभु तुम शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरंजन हो, संसार एक माया जाल है, तुम इसे छोड़ो। संसार एक सपना है, तुम इस मोह निद्रा का त्याग कर आत्म स्वरूप में लीन होओ। अपने आप में जागृत होओ", इसी प्रकार की न जाने कितनी लोरियाँ उस संसार स्थिति की जानकर उस प्रबुद्ध माता ने उस नन्हे मुन्हें कुन्दकुन्द को सुनाई होंगी। तभी तो कुन्दकुन्द स्वामी ने अपनी माता के मुख से निकली हुई भेदविज्ञानजनक प्रभावी वाणी से प्रभावित होकर ग्यारह वर्ष की अल्पवय में ही महान दुर्धर दिगम्बरी मुनि मुद्रा धारण कर ली। और फिर भेदविज्ञान नीति के प्रचारक एवं स्व और पर का कल्याण करके जगत्पिता बन गये। आज उनके द्वारा लिखे शास्त्रों को पढ़कर आत्मज्ञानी बनकर अनेकों ने अपना कल्याण कर लिया है और भविष्य में भी करते रहेंगे। आज जो भी दिगम्बर मुद्रा दिख रही हैं, यत्र तत्र दि. मुनि अवस्था धारी

महान संत कुछ दिख रहे हैं उसका सारा श्रेय भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य को ही जाता है। क्योंकि गणधर देव के बाद यही परम प्रभावी आचार्य हुये हैं जिनके स्मरण करने मात्र से अनंत पापों का क्षय हो जाता है। धन्य है वह नारी (माता) जिसने ऐसे नररत्न को जन्म देकर विश्व को उपकृत किया और माता के आचार-विचारों का तो गर्भस्थ शिशु पर प्रभाव पड़ता ही है।

अष्टमूल गुण

मुख्य गुण को मूल गुण कहते हैं। मूल शब्द का अर्थ जड़ है। जिस तरह बिना जड़ के न पौधा जम ही सकता है न अंकुरित हो सकता है, न वृद्धिगंत हो सकता है, न फल-फूल सकता है। पौधे को अंकुरित होने, वृद्धिंगत होने और फलीभूत होने के लिए उसकी जड़ को मजबूत होना जरूरी है। इसीलिए जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम मूलगुण रखे हैं। मूल शब्द के साथ गुण शब्द रखने का प्रयोजन आचार्यों का यही रहा है कि इस मूल (जड़) को गुणित करो यानि चढ़ाओ। सबसे प्रथम पाँच उदुम्बर फल याने बड़, पीपल ऊमर और कठूमर तथा पाकर और तीन मकार रखे गये हैं। मकारों में मद्य, मांस, और मधु (शहद) हैं। अब इन आठों चीजों के विषय में जैनाचार्यों की सूझ-बूझ और गुणवत्ता एवं महत्ता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

पाँच उदुम्बर फलों में और मांस तथा मधु में प्रत्यक्ष जीव राशि दिखती है। उदुम्बरों में कितने ही सूक्ष्म और मोटे (स्थूल त्रसकाय) जीव प्रत्यक्ष लक्षित होते हैं। माँस बिना जीव को मारे प्राप्त नहीं हो सकता है। यह तामसिक आहार है। इस आहार के खाने वाले के हृदय में दयाभाव उग ही नहीं सकता। दया बिना करुणा भाव या शुभ भावना उत्पन्न होने का सवाल ही नहीं है। इन्हीं के साथ मद्य (शराब) को ले लिया गया है। यह बुद्धि को विकृत ही नहीं करती, किन्तु सदा-सदा के लिए मंद भी कर देती है। शराबी में सही और स्वस्थ विचार पैदा ही नहीं हो पाते हैं। वह अर्द्ध विक्षिप्त (आधा पागल-सा) हो जाता है।

जैन शिशु को ८ वर्ष के पहिले ही इनको (मूलगुणों को) छोड़ने की आज्ञा है। इनको त्यागे बिना कोई व्यक्ति पाक्षिक श्रावक (जैन) कहलाने का अधिकारी नहीं है। लेकिन जिनका हृदय गर्भ में आते ही आधानादि संस्कारों से सिंचित हो चुका है उन्हें तो अष्टमूल गुण धारण करने में कोई कठिनाई ही नहीं होती है। जैसे—जिस जमीन को किसान जल से सिंचित कर, हल से जोत कर नर्म बना लेता है, इसी तरह धर्म संस्कारों से सिंचित हृदय में धार्मिक अंकुर शीघ्र ही उग आते हैं।

पाक्षिक श्रावक को अहिंसा धर्म की प्राप्ति के लिए सबसे पहिले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिये। उसके बाद देशसंयम की ओर बढ़ते हुए, अष्ट मूलगुणों का पालन करना ही होगा। कहा भी है कि—

मांसादिषु दया नास्ति, न सत्यं न मद्यपादिषु।
अनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु॥

मांस खाने वालों में दया, शराबियों में सत्यता, मधु और उदुम्बर भक्षण करने वालों में भद्रता कैसे आ सकती है! इसलिए अहिंसा व्रत के पालन हेतु इनका त्याग होना आवश्यक है।यह व्रतों के मूल हैं। इनके धारण किये बिना व्रतों का पालन नहीं हो सकता है। इसीलिए तो इन्हें मूलगुण संज्ञा दी गयी है। मूलगुणों में यद्यपि आचार्यों ने समय और क्षेत्रों की अवस्थानुसार कुछ अन्य क्रियाओं का भी समावेश किया है किन्तु मूल भावना वही है, उसमें कोई भेद नहीं है। सागार धर्मामृत में पंडितप्रवर आशाधरजी ने लिखा है कि परमत की अपेक्षा मूलगुणों का विभाग भी किया गया है। जैसे—

पाँच उदुम्बर फल और तीन मकार मद्य, मांस, मधु इन आठों का त्याग तो मूलगुण है ही, लेकिन कोई आचार्य पाँच उदुम्बरों फलों के स्थान में अहिंसाणुव्रतादि पाँच अणुव्रतों को धारण करना और मद्य, मांस मधु के त्याग को अष्ट मूलगुण मानते हैं। कुछ ने पाँच फलों में (पंच उदुम्बरों के) त्याग करने और मधु के स्थान में जुआ खेलने के त्याग को गर्भित किया है।मूलगुणों के विषय में सोमदेव आचार्य ने उपासकाध्ययन में, पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को और मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारों के त्याग को ही अष्ट मूलगुण कहा है। श्री समन्तभद्राचार्य ने पाँच उदुम्बरों के स्थान में पाँच अणुव्रत पालन और तीन मकारों के त्याग करने को भी अष्ट मूलगुण स्वीकार किया है। श्री जिनसेनाचार्य ने पाँचों पापों के त्याग के साथ मद्य, मांस और (मधु के स्थान में) जुआ खेलने के त्याग को अष्टमूलगुण बताया है। इन मूलगुणों में जो भिन्न-भिन्न मत किये गये हैं इनसे सिद्धांत में कोई बाधा नहीं आती है। भावना एक ही है। श्रावकाचार में सबसे पहिले पालन करने योग्य अष्टमूलगुण ही हैं। इनके बिना उत्तर गुण नहीं हो सकते हैं। करुणासागर सहृदय जैनाचार्यों ने उन्मार्गी लोगों के समझाने में कोई कोर-कसर नहीं रखी है फिर भी मोहान्ध अज्ञानी मानव सचेत नहीं होता है। पाँच उदुम्बर फलों के खाने से कितने ही जीवों का विनाश हो जाता है और जो इन्हें खाता है उनके शरीर में नाना भयंकर रोग खड़े हो जाते हैं। मांस पशुओं को मारे बिना तो प्राप्त होता ही नहीं है और जब किसी को मारा जाता है तो उसे कितनी पीड़ा होती होगी, क्या मांस खाने वाले यह कभी सोचते है? कारण स्पष्ट है कि मांस खाने वालों का हृदय बड़ा कठोर हो जाता है। उनके विचारों में दया आती ही नहीं। वे निर्दयी बन जाते हैं। मांस में प्रति समय अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं। मांस या अंडों के खाने से अनेक मारक और भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। धार्मिक-दृष्टि से तो यह महापाप है ही, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह महान घातक है। आज विश्वभर के महान डाक्टरों ने, वैद्यों ने और वैज्ञानिकों ने अनुसंधान करके इसे तन्दुरुस्ती में महान हानिकर, कैंसर, क्षय और भगन्दर जैसे भीषण रोगों का जनक बताया है। आज विदेशों में इसी कारण मांसाहार को छोड़कर शाकाहार को अपनाया जा रहा है।

आज विदेशों में, हजारों लोग शाकाहारी बन गये हैं और निरंतर बन रहे है। लोगों की इस धारणा को भी इस वैज्ञानिकों ने निर्मूल कर दिया है कि मांस शक्ति-वर्धक है। इन्होंने विज्ञान के प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि मांस से कई गुणी शक्ति शाकाहार में है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मांसाहारी भी मांस शाकाहारी प्राणियों का ही खाते हैं अन्यथा वे मांसाहारी प्राणियों का ही मांस खाते। अगर मांस शक्तिवर्धक होता है और वह स्वास्थ्य संरक्षक होता तो जो प्राणी निरंतर मांस ही खाते हैं उनके मांस में तो बहुत ज्यादा शक्ति होनी चाहिये, जैसे शेर, बघेरा, भेड़िया आदि और पक्षियों में गिद्ध, कौआ, चील, चमगादड़ आदि। लेकिन वे गाय, बैल, घोड़ा, भैंस, बकरा, हिरन, कबूतर आदि का ही मांस खाते हैं क्योंकि ये सब विशुद्ध शाकाहारी हैं। इससे सिद्ध होता है कि शाकाहार ही शक्ति साहस और बल का वर्धक है। एक बैल जो शुद्ध शाकाहारी है वह बीसों मन बोझ से भरी गाड़ी को खींच कर ले आता है। हाथी जो शुद्ध शाकाहारी है अपनी ताकत से बड़े पेड़ों को उखाड़ फेंकता है, बड़े-बड़े किलों की दीवारों को, फाटकों को ध्वस्त कर डालता है। यह कार्य शेर-बघेरों और रीछों से संभव नहीं। बड़ी-बड़ी यांत्रिक मशीनों की शक्ति का अश्वों की (घोड़ा की) ताकत से पावर नापा जाता है। कहा भी जाता है कि यह मशीन इतने होर्स पावर (घोड़ों की ताकत) की है। इतने बड़े-बड़े प्रत्यक्ष प्रमाणों के होते हुए भी मांस को शक्ति या बलवर्धक और स्वास्थ्य का संरक्षक बताने वालों और मानने वालों को क्या कहा जाय?

मद्य (शराब) के एक बिन्दु के जीव बड़ा रूप बनाकर संचार करने लगें तो वे तीनों लोकों को पार कर दें अर्थात् तीनों लोकों में समा नहीं सकते और इसमें मादकता इतनी है कि इसको पीने से मानव विवेकशून्य हो जाता है। बुद्धि कुंठित हो जाती है। उसे हित और अहित का ध्यान ही नहीं रहता है।इस लोक में शराबी की सभी निंदा करते हैं। उसके बाल-बच्चे, स्त्री आदि पूरा परिवार भ्रष्ट हो जाता है। घर में नित्य कलह होती रहती है और परभव में भी उसे घोर दुर्गतियों में भटकना पड़ता है। इसलिए आचार्यों ने कहा है– "मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद् दुर्गतेः। मद्यं सिद्धं सदा त्याज्यमिहामुत्र दोषकृत्॥" अर्थात् मद्य (शराब) मन को मोहित (बेसुध) करने का कारण और दुर्गति का कारण होने से दोनों लोकों में भ्रष्ट करने का कारण समझ इसे पीना तत्काल छोड़ देना चाहिये। और भी लिखा है–

विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं, शौचं दया क्षमा।
मद्यात् प्रलीयते सर्वं, तृष्णा वन्हि कणादिव॥

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि के कण से सम्पूर्ण घास जल जाती है उसी प्रकार शराब पीने से ज्ञान, संयम, विवेक, सत्य, शौच, दया, क्षमा आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। मांस, अंडा, मधु के खाने से, शराब के पीने से मानव में क्रूरता, दुष्टता, दरिद्रता पैदा हो जाती है। उसी के कारण यह जुआ खेलने लग जाता है तथा हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि पांचों पापों को करने लग जाता है। संसार में ऐसा कोई दुष्ट कार्य नहीं है जिसे अंडा, मांस आदि खाने वाला

और शराब पीने वाला न करें। इसीलिए जैनाचार्यों ने मूल पर प्रहार किया है। जैन आचार्यों ने बाल्यावस्था में ही, अष्टमूलगुण धारण कर व्यक्ति का सुधार कर, देश का सुधार किया है। वे जैनाचार्य अन्तर्दृष्टा थे। वे जानते थे कि व्यक्तियों से ही समाज बनता है और समाजों से ही राष्ट्र बनता है। व्यक्ति के सुधरने से समाजें सुधरेंगी। और समाजें सही और सदाचारी हो गई तो राष्ट्र भी आदर्श बनेगा। जैन धर्म ने हार, आचार और विचार को मुख्यता देकर प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान इस ओर ही आकर्पित किया है। आहार से ही आचार बन पाता है और फिर आचार के अनुकूल ही विचार बनते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि आहार यदि सात्विक है तो विचार भी पवित्र होंगे. और फिर विचारों के अनूकूल ही विचार बनते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि आहार यदि सात्विक है तो विचार भी पवित्र होंगे और फिर विचारों के अनुकूल ही आचार बनेंगे।

एक देश में कुछ बड़े-बड़े अपराधी पकड़े गये। उनके लिए पुलिस ने रिमार्क दिया था कि इन्हें कई बार हमने पकड़ा है, कई बार इन्हें कारागरों में कई-कई वर्षों तक रक्खा जा चुका है, मगर ये अपराध करने से बाज नहीं आते हैं। ये फिर अपराध करते हैं, ये आदतन अपराधी हैं। इन्हें कड़ी से कड़ी सजा दी जानी चाहिये। न्यायाधीश ने उन्हें पैनी नजर से देखा और उन्हें मुकदमें के दौरान ३-३ महीनों तक भिन्न भिन्न जेलों में रखा गया और फिर उनमें से कुछ को सात्विक आहार पर दूध, दही, छाछ और अन्नाहार फलाहार पर रक्खा गया। दूसरे ग्रुप को चटपटे मसालेदार शाक, उत्तेजक और पौष्टिक राजसिक भोजन दिया गया। और तीसरे ग्रुप को वही तामसिक भोजन, मांस, अंडे, शराब आदि जैसा वे खाते थे, दिया गया। तीन महीने बाद न्यायाधीश स्वयं जेल में जाकर उनसे मिले तो तीनों ग्रुपों में बड़ा अंतर पाया। जिन्हें सात्विक भोजन दिया गया था वे तो एकदम शान्त थे, अपने कृत्यों पर पछता रहे थे और भविष्य में वैसे अपराध न करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। दूसरा ग्रुप जिसे राजसिक भोजन दिया गया था वे बहुत कुछ सुधर चुके थे। अपने कृत्यों पर उन्हें भी पश्चात्ताप हो रहा था मगर विचारों में कुछ उग्रता थी। तीसरे ग्रुप में कोई परिवर्तन नहीं आया था। वे नये-नये अपराध करने की योजना बना रहे थे। यह था आहार का प्रभाव। आज देश में सर्वत्र अत्याचार, बलात्कार, हत्याकांड बढ़ रहे हैं। इन अपराधों को, इन दुष्कृत्यों को रोकने के लिए सरकार नित्य नये कानून बना रही है। संविधान में संशोधन कर रही है और सजा को कड़ी से कड़ी करने के लिए अध्यादेश निकाल रही है। मगर पापाचार शमन नहीं हो रहे हैं। इसका कारण एक मात्र हमारा अशुद्ध खान-पान है। इसकी ओर अगर ध्यान दिया जावे तो आज ये बढ़ते हुए सभी अनाचार, पापाचार, आतंकवाद, हत्याकांड जो बढ़ रहे हैं स्वयं समाप्त हो जावें। मगर सरकार का इस ओर ध्यान ही नहीं है।

हमें इस बात का गौरव है कि आज अपराधवृत्ति वालों में संख्या के अनुपात से जैन बन्धुओं की संख्या नगण्य ही है। ये प्रभाव जैन बन्धुओं में जैन संस्कारों का ही है जो उन्हें

गर्भ से लेकर अन्त तक प्राप्त होते रहते हैं। जैनाचार के सर्व प्रथम संस्कार अष्ट मूलगुणों का धारण करना है जो बाल्यकाल में ही धारण करा दिया जाता है। अष्टमूलगुणों के धारण कराने का एकमात्र कारण व्यक्ति का आचार शुद्ध करना ही है। हम कुछ अष्ट मूलगुणों को प्रकारान्तर से लिख चुके हैं। अब कुछ और भी लिख रहे हैं। भाव सबका एक ही है, प्रकार भिन्न-भिन्न भले ही हैं—

"मद्य-पल-मधु-निशासन, पंचफलविरति-पंचकाप्तनुती।
जीवदया-जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः॥१८॥ (सा. धर्म. द्वितीय अध्याय)

अर्थात् (१) मद्य (शराब का त्याग) (२) मांस का त्याग, (३) मधु (शहद) का त्याग, (४) रात्रिभोजन त्याग, (५) पंच उदुम्बर फलों का त्याग, (६) पंचपरमेष्ठी की वंदना (कम से कम नित्य देवदर्शन करना), (७) जीवदया पालन करना (८) पानी छानकर पीना (ये अष्टमूल गुण हैं)। श्रावक होने के लिए इनका पालन करना जरूरी है। इनके पालन किये बिना श्रावक नहीं माना जाता है। पंडितप्रवर आशाधर जी ने जनेऊ को भी व्रत का चिन्ह माना है। कहा भी है—

यावज्जीवेदिति त्यक्त्वा महापापान् शुद्धधी।
जिनधर्म श्रुते योग्यः स्यात् कृतोपनयो द्विजः॥१९॥ (सा. धर्म द्वि. अ.)

यहाँ महापाप मद्य मांसादि को ही माना है। द्विज होने के नाते उसे जनेऊ धारण करना चाहिये। इसके धारण करने का लक्ष्य (उद्देश्य) ग्रहण किये हुए व्रतों की स्मृति रखना और उनका पालन करना है। जनेऊ व्रती होने और द्विज होने का स्मृति चिन्ह है। यदि आज के राष्ट्र के संचालक महानुभाव इन तथ्यों की ओर ध्यान दें और इन्हें क्रियान्वित कर सकें तो भारत में ही नहीं समूचे विश्व में सुख और शान्ति का प्रसार हो जायेगा, यह निश्चित है।

***

आहार-दान

❑ आर्यिका सुप्रभामतीजी

नवधाभक्तियुक्त नव कोटी से विशुद्ध दान का जो स्वामी अर्थात् प्रयोग करने वाला है उसे दाता कहते हैं। वह श्रद्धाभक्ति आदि गुणों के द्वारा, परमविशुद्धि उदार भाव से निरपेक्ष होकर अपने द्रव्य का यथायोग्य स्थान में सदुपयोग करता है, अर्थात् सत्पात्र को प्रदान करना है उसे दान कहते हैं। वह दान मुख्य रूप से चार प्रकार का है—आहारदान, ज्ञानदान, औषधदान और अभयदान।

आहार दान देने वाला दाता कामधेनु के समान है। उसने योगीश्वरों को मानो गति, मति, शरीर का तेज, कान्ति, सज्जनता, सत्य, व्रत, नियम, आज्ञा और धर्मतीर्थप्रवृत्ति इत्यादि गुणों का भण्डार ही प्रदान किया है।

अन्नदान के समान दूसरा दान नहीं है। कहा भी है—

> तुरंगशतसहस्रं, गोकुलं भूमिदानं,
> सुरयुवतिसमानं कोटि-कन्याप्रदानम्।
> सुवर्णरजतपात्रं, मेदिनी सागरान्ता,
> न हि भवति समानत्वन्नदानात्प्रधानात् ॥ ३१८ (स. कौ.)

कन्या, भूदान, घोड़े, हाथी, सुवर्ण, चाँदी इन सब दानों में अन्नदान प्रधान है। कर्मभूमि के प्रारंभ में सर्वप्रथम भगवान ऋषभदेव को आहारदान देकर अक्षय पुण्यसंपत्ति प्राप्त करने का अनुपम सौभाग्य हस्तिनापुर के नरेश श्रेयांस महाराज ने प्राप्त किया था।

भगवान ऋषभनाथ देव ने छह मास अनशन के उपरान्त आहार करने के लिए विहार प्रारंभ किया किन्तु किस विधि से दिगंबर मुद्राधारी भगवान् का सन्मानपूर्वक आहार कराया जाय इसका अभिज्ञान लोगों को नहीं था। भगवान् मौनपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान में विहार करते थे, तब भक्त लोग प्रेमपूर्वक आकर प्रणाम करते थे। कई रत्नों की भेंट करते थे, तो कोई वाहन आदि लाते थे। वे लोग भिन्न-भिन्न सामग्री द्वारा सन्मान करने का प्रयत्न करते थे, परंतु प्रभु के भावों को कोई नहीं जान सका और इस प्रकार छह माह का समय और व्यतीत हो गया।

एक दिन राजा श्रेयांस ने स्वप्न में मेरू देखा—फलस्वरूप मेरू के समान उन्नत तथा मेरुपर्वत पर अभिषिक्त महापुरुष आपके राजप्रासाद में पधारेंगे। लोगों की प्रभु दर्शन की उत्कण्ठा जागृत

हुई। प्रभु को देखते ही राजा श्रेयांस को जातिस्मरण हो गया, पुरातन संस्कार के प्रभाव से उन्हें आहारदानविधि का स्मरण हो आया। जीव के होने वाले यह पूर्व संस्कार ही आत्मोत्थान में सहकारी बनते हैं।

आज से आठ भवपूर्व राजा वज्रजंघ व रानी श्रीमती की पर्याय में पुंडरीकिनी पुर के सर्प सरोवर पर श्रीदमधर तथा सागरसेन चारणऋद्धिधारी को अतिहर्ष से, अत्यंत श्रद्धा, भक्तिपूर्वक, पवित्र भावना से आहारदान दिया था। इस पुण्यस्मृति की सहायता से श्रेयांस राजा ने एक वर्ष के महोपवासी जिनेन्द्र आदिनाथप्रभु को विधिपूर्वक नवधाभक्ति से इक्षुरस का आहार देकर अपने जीवन को पवित्र किया। यह दान अक्षय पद प्रदाता तथा अक्षय कीर्ति का निमित्त बना और देवों के द्वारा पंचाश्चर्य को प्राप्त हुआ अर्थात् राजा श्रेयांस के प्रांगण में रत्नों की वर्षा, दुंदुभिवादन, जय-जय शब्दों की ध्वनि, मंद सुगंधित वायु का संचार और सुवासित पुष्पों की वृष्टि हुई। दान-तीर्थ प्रवर्तक राजा श्रेयांस की निर्मलयशचंद्रिका इस धरातल पर आज भी है।

दान की महिमा अपरंपार है। देयवस्तु की मूल्यता पर दान की महत्ता अवलंबित नहीं है। भक्तिपूर्वक अल्प दिया हुआ दान भी वटवृक्ष के समान मनोवांछित फल देने वाला होता है। नदी उद्गम स्थान में छोटी रहती है किन्तु समुद्रपर्यंत पहुँचने तक उत्तरोत्तर बढ़ती है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि की संपदा अल्प होते हुए भी, उसके द्वारा नवधाभक्ति से दिया हुआ दान विशेष रूप से परिणत होता है- "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः"।

नवधा भक्ति

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधिमाहुः॥

संग्रह (प्रतिग्रह), उच्चस्थान, चरण-प्रक्षालन, अर्चा-प्रणाम, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणाशुद्धि अर्थात् आहारजल की शुद्धता ये नवधा भक्ति है।

संग्रह—अपने द्वार पर अतिथि आने पर भक्तिपूर्वक प्रार्थना कर, 'भो गुरु! नमोऽस्तु! नमोऽस्तु! नमोऽस्तु! अत्र—यहाँ पर, तिष्ठ-ठहरिए ठहरिए' इस प्रकार बहु सन्मान से, आदरयुक्त भक्ति से स्वागत करने को संग्रह या प्रतिग्रह कहते हैं।

उच्चस्थान— घर में ले जाकर अतिथि को उच्चस्थान (पाटा पर) बैठाना।

पादोदक—श्रद्धा, भक्तिपूर्वक चरणाप्रक्षालन करना।

अर्चा— विनयपूर्वक अष्टद्रव्य से पूजा-अर्चना करना।

प्रणाम—पंचांग नमस्कार करना।

मनःशुद्धि—मन की प्रसन्नता, भावना की सरलता तथा पवित्रता से आदरपूर्वक परम हर्ष

उत्साह से, भय-क्रोध-लोभादिक से रहित, तथा ईर्ष्या मत्सर छोड़कर, आर्तरौद्र परिणाम विमुक्त होकर, आदर-भावनायुक्त आहारदान में मन का उपयोग लगाना मनःशुद्धि है।

वचनशुद्धि—कर्कश, कठोर मर्मभेदी वचन रहित, मृदु मिठास वचन तथा विवेकपूर्वक बहुसम्मानपूर्वक वचनों का प्रयोग करना वचन-शुद्धि है।

कायशुद्धि में—आहार दान देने वाले दाता की शुद्धि का विचार किया जाता है। शुद्धकुलोत्पन्न हो, निर्व्यसनी, रोगमुक्त शरीर, भूतपिशाचग्रस्त न हो। नपुसंक, व्यभिचारी न हो तथा सूतकपातक आदि अशुद्धि से रहित हो। बालक का जन्म होने पर कुटुम्बीजन को कुछ कालावधि तक अशुचि अवस्था रहती है। इस समय आहारदान पूजादि धार्मिक कार्य नहीं करना चाहिये।

एषणा—शुद्धि अर्थात् आहारजल की शुद्धि। नवधाभक्ति के अंतर्गत एषणाशुद्धि का महान् स्थान है। नवकोटि से विशुद्ध शुद्ध आहार कहते हैं। दाता, भक्ति, श्रद्धा, विवेक, क्षमा, आदि सप्तगुण सहित धर्मवात्सल्य से अनुरागपूर्वक निरपेक्षवृत्ति से, अति हर्ष से, मनवचनकाय की सरलता से, उन्मादि दोषरहित पवित्र भावना से सद्पात्र को दान करता है। तथा अतिथि भी शरीर की रक्षा हेतु, शरीर स्थिति के लिए छयालिस दोष, चौदह मलदोष, बत्तीस अंतराय टाल कर आगम के अनुसार विशुद्ध आहार, पवित्र भावना से तथा प्रसन्नमन से सेवन करते हैं उसे एषणाशुद्धि कहते हैं।

यह एषणाशुद्धि समस्त चारित्र की जड़ है, दावानल अग्नि शांत करने के लिए पानी की वर्षा है। भगवान् जिनेन्द्र तथा मुनिगण द्वारा सेव्य है। इंद्रिय विषय और कर्मरूपी शत्रु को नाश करने के लिए भिक्षाशुद्धि एक अमोघ शस्त्र है, सर्वोत्कृष्ट गुणों की खान है तथा स्वर्ग एवं मोक्ष को देने वाली है अतः मुनियों को प्रयत्नपूर्वक एषणाशुद्धि धारण करना चाहिये।

मुनीनां क्षुल्लीकानां चार्याणां त्यक्तगृहात्मनाम्।
दानं च नवधा भक्त्या देयं सम्यक्त्वशालिभिः॥ (सु. श्रा. १७१/११)

सम्यग्दृष्टि पुरुषों को नवधाभक्तिपूर्वक ही मुनियों के लिए दान देना चाहिये, नवधाभक्तिपूर्वक ही आर्यिकाओं को दान देना चाहिये और नवधाभक्तिपूर्वक ही गृहत्यागी को दान देना चाहिये।

देने योग्य वस्तु को द्रव्य कहते हैं। शुद्ध अन्नादि आहार, औषध, आवास, पुस्तक, पिच्छिका, कमंडलु आदि साधु को देने योग्य द्रव्य हैं, जिस द्रव्य को ग्रहण करने से राग-द्वेष असंयम, मद आदि आत्मविकार उत्पन्न न हों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की वृद्धि के कारण हों, स्वाध्याय तप बढ़ाने के लिए सहाय्य हों उसे द्रव्य विशेष कहते हैं।

मुनिराज की प्रकृति शीत, उष्ण, वायु, पित्त, रूप में से कौन सी है? कायोत्सर्ग या गमनागमन से कितना परिश्रम हुआ है? शरीर में पीड़ा तो नही है? इत्यादि बातों का विचार करके, उसके उपचार स्वरूप दान देना चाहिये।

हित-मित, प्रासुक, शुद्ध अन्नपान, निर्दोषी हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, ज्ञानोपकरण आदि योग्य वस्तुओं की आवश्यकता के अनुसार सुपात्र में दान देना द्रव्यशुद्धि है।

भक्ति, श्रद्धा, सत्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा दाता के मुख्य रूप से ये सात गुण होते हैं। नवधाभक्तिपूर्वक नवकोटि से सप्तगुणयुक्त जो दिया जाता है उसे दान कहते हैं। दाता की विशेषता से दान में विशेषता होती है।

गुणानुरागः— महान परम पावन ऋषिवर्य का दर्शन अति भाग्य से आज हुआ। मुनिराज की त्याग, संयम, तपस्या, अलौकिक है। तीन लोक की संपदा जिनकी दासी बन कर चरणों में झुक जाती, किन्तु तिलतुषमात्र उन संबंधी अनुराग न होने से उसे ठुकरा कर कदम बढ़ाते हुए वन का आश्रय लेते हैं। धन्य हैं वे ऋषिराज! ऐसे महान् तपधारी को देखते ही मनरूपी मयूर हर्ष-विभोर होकर नाचने लगता है। सारा शरीर रोमांच से पुलकित हो उठता है वाणी से वचनोद्गार निकल जाते हैं—

"गुरु की महिमा वरणी न जाय। गुरु नाम जपो मनवचनकाय।"

श्रद्धा—अर्थात् विश्वास, प्रतीति, रुचि। श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है और यह विश्वास होता है कि—वे महान् ऋषिराज ही संसार-समुद्र तिराने के लिए नौका के समान हैं। अन्तरंग में इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

सत्व—श्रद्धा भक्ति से तथा निर्मल पवित्र भावना से नवधाभक्तिपूर्वक दिया हुआ सत्पात्रदान धनाढ्यवृत्तिवालों को भी आश्चर्य करने वाला होता है।

तुष्टि—मन की प्रसन्नता होना, आनंदविभोर होना तथा सत्पात्र में द्रव्य का सदुपयोग होने से मन में हर्ष, उत्साह होना।

ज्ञान— विधिपूर्वक नवधाभक्ति का अभिज्ञान होना, दान योग्य वस्तु की शुद्धाशुद्धता का विवेक होना। यथाकाल यथायोग्य वस्तु को प्रदान करने की समयसूचकता होना।

अलौल्य—लोभ का त्याग अर्थात् वस्तु संबंधी ममत्व छूटे बिना दूसरों को वस्तु नहीं दी जाती है इसलिए 'पात्रदानं त्यागः' कहा है।

स्व— पर उपकारार्थ अपने द्वारा अर्जित धन का चार प्रकार के दान में विनियोग करना त्याग है। जिस दान में लेशमात्र भी लोभ न हो वह वास्तविक दान है।

क्षमा—क्रोध का अभाव क्षमा है। कारण उपस्थित होने पर मन में शांति धारण करना क्षमा है। भक्ति श्रद्धा से यथाशक्ति नवधाभक्तिपूर्वक वस्तुसंबंधी ममत्व हटाकर लोभादि कषाय का त्याग और निष्काम वृत्ति से सद्पात्र को दान देकर दाता शांतिसुख का अनुभव करता है। कोई कुछ भी ईर्ष्या से द्वेष से कहे तो भी अपने कर्तव्य का पालन करने में सदा लीन रहता

है, यही वास्तविक क्षमा है।

सप्तगुणों के अतिरिक्त और भी दाता के दातृत्व को वृद्धिगत करने वाले गुण होते हैं। करुणाभावना, अंतरंग में सततादानशील की भावना, समयवृत्ति, तथा त्याग की उदारता से दान में विशेषता प्राप्त होती है।

पात्र

यत्तारयति जन्माब्धे स्वाश्रितान् यानपात्रवत्।
मुक्त्यर्थं गुण-संयोगभेदात् पात्रं त्रिधा मतम्।।

नौका के समान अपने आश्रितों को संसार-समुद्र से पार करता है वह पात्र है। मुक्ति के कारणभूत सम्यक्त्वगुणों के संयोग से पात्र तीन प्रकार का—उत्तम, मध्यम और जघन्य माना है।

रत्नत्रयधारक दिंगबरं मुनि उत्तम पात्र हैं, सम्यग्दर्शनज्ञानयुक्त, देशसंयमी श्रावक मध्यमपात्र हैं, तथा अवितरत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है। ये तीनों ही पात्र संसारसमुद्र से तारक हैं।

उत्तमपात्र—दिगंबरमुनि—दिग् याने दिशा, अंबर अर्थात् वस्त्र अर्थात् जिनके दिशा ही वस्त्र है। जो दिशारूपी वस्त्र को धारण करते हैं उन्हें दिगंबर कहते हैं। यह दिगंबरत्व निर्विकारत्व का द्योतक है। काम-वासना पर विजय प्राप्त करने वाला ही दिगंबर मुद्राधारक बन सकता है।

मानव के ह्रदय-भंडार का द्वार खोलने वाली, निम्नता से उच्चता की ओर ले जाने वाली, गुणों का विकास करने वाली यदि कोई वस्तु है तो दिगंबर मुद्रा ही है।उसे धारण कर मनुष्य जीवन का सर्वतोमुखी विकास कर सकता है। सांसारिक वैभव को त्याग कर आत्म-अनुभव में लीन रहने वाले महामना पुरुषों का जीवन किरण बनकर दूसरों को मार्गदर्शन करने में समर्थ होता है।

व्यक्ति जिसकी प्रकृति की छटा से विमुग्ध होकर आत्मविभोर हो जाते हैं उसी प्रकृति की गोद में नग्न दिगंबर मुनि वास करते हैं।

गिरीकंदरदुर्गेषु ये वसन्ति दिगंबराः।
पाणिपात्रपुटाहारास्ते यान्ति परमां गतिम्।।

पर्वत की गुफा में, एकाकी घने जंगलों में, वृक्षलताओं के निर्जनस्थान में, कलकल आवाज करने वाले झरनों के बीच में सहज स्वाभाविक प्रकृति की गोद में जहाँ दिगंबर मुद्राधारी आत्मज्ञानी आत्मविभोर होकर आत्मावलोकन करते हैं वे ही भव्यात्माओं का उद्धार करने वाले निर्मोही महामानव परमगुरु संसार-तारक होते हैं।

श्रमण महामुनि की मनोवृत्ति मोही जगत से निराली होती है। क्योंकि जगत के प्राणी जिन धनधान्यादि वस्तुओं का संग्रह करने के लिए सतत व्याकुलचित्त रहते हैं, मुनिजन उन धनधान्यादि परिग्रहों को जीर्ण तृणवत् त्यागकर आत्मानुभव में लीन रहते हैं। निर्ग्रंथ यति धन सम्पदा की तो आशा करते ही नहीं, सन्मार्ग पर अपना कदम बढ़ाने के लिए जीवन की ममतावश कभी पीछे नहीं लौटते। अकिंचनपन उनकी संपत्ति है। कर्तव्य पालन करते हुए आत्म-जागृतिपूर्वक मृत्यु को वे जीवन मानते हैं।

जिस मृत्यु के नाम को सुनकर मोही प्राणी का हृदय काँप उठता है उस मरण को शुभ मंगलमय यात्रा मानकर हँसते-हँसते प्रयाण करते हैं ऐसे साधक मृत्यु को अपना स्नेही एवं परम मित्र मानते हैं।

परमर्षि विज्ञानामृत को पीकर तथा तपश्चर्यारूपी सुस्वादु बलयुक्त आहार को ग्रहण कर शनैः शनैः विकास पथ पर प्रगति करते हुए ज्ञाता-दृष्टा का संस्कार करते हुए आगे बढ़ते हैं।

बालक जैसे स्वच्छ, छलकपट से सर्वथा रिक्त, सरलव्यवहार, विनम्र, सज्जनता, निर्दोषक्रिया, मधुरता एवं तत्वों से भरे वचन व्यवहार वाले ऋषिगणों के बहिरंग एवं आतंरिक सौंदर्य को देखकर दर्शकों की आंखे तृप्त नहीं हो यह हो ही नहीं सकता। ऐसे पारिजात पुष्प पर न जाने कितने मधुलोलुप भव्य भ्रमर मंडराते रहते हैं और उसके पराग से लाभान्वित होकर धन्य बनते हैं।

दिगंबर साधुत्व की उच्चभूमिका का स्पर्श करने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच दोषों का प्रत्याख्यान (त्याग) करना पड़ता है।

इन पाँच दोषों के कारण ही मानवता संत्रस्त होती और कुचली जाती है। इन्हीं के प्रभाव से मानव दानव, राक्षस, चोर, लुटेरा, अनाचारी, लोभी, स्वार्थी प्रपंची, मिथ्यावादी और न जाने किन किन बुराइयों का घर बन जाता है। किन्तु जब मनुष्य इन पर पूर्णतः विजय प्राप्त कर लेता है तो उन्हें महात्मा एवं परमात्मा बनने में क्षणभर का विलंब नहीं लगता।

यह दोष मानव तथा अन्यान्य जीवधारियों के जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों के कारण प्रश्रय पा रहे हैं। वस्तुतः ये ही आत्मा के वास्तविक शत्रु हैं। इन हिंसादि पाँच पापों के त्याग से अहिंसा आदि पाँच महाव्रत उत्पन्न होते हैं। यह पाँच महाव्रत साधु के अट्ठाईस मूलगुणों में प्रधान होने से प्रथम कहे गये हैं।

आहारशुद्धि-जिनमुद्राधारी श्रमण संयम की रक्षा हेतु शरीर की स्थिति के लिए दिन में एक बार छयालिस दोषों (चौदह मल दोष और बत्तीस अंतरायों) को टाल करके आगम के अनुकूल नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। इसी को पिण्डशुद्धि या आहार-शुद्धि कहते हैं।

छयालिस दोष

उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १०, तथा संयोजना, प्रमाण, इंगाल, धूम ये ४ इस प्रकार १६+१६+१०+४=४६ दोष हो जाते हैं। इन सबके अतिरिक्त एक अधःकर्म दोष है जो महादोष कहलाता है, क्योंकि इसमें पंचसूना-कूटना, पीसना, रसोई बनाना, पानी भरना, बुहारी देना, ऐसे पंचसूना नामक आरंभ से षट्कायिक जीवों की विराधना होने से यह दोष गृहस्थाश्रित है। अतः मुनि, आर्यिका आदि पात्रों द्वारा सर्वथा त्याज्य है।

उद्गमदोष—दाता के निमित्त से आहार में जो दोष लगते हैं उन्हें उद्गम दोष कहते हैं। ये सोलह हैं—

(१) औद्देशिकदोष—साधु आदि के निमित्त से बनाया हुआ आहार लेना।

(२) अध्यधि—पकते हुए अन्नादि में, संयत को आते हुए देखकर चावल आदि और अधिक डालना।

(३) पूतिदोष—प्रासुक तथा अप्रासुक को मिश्र कर देना।

(४) मिश्रदोष—असंयतो के साथ साधु को देना।

(५) स्थापित—पात्र से भोजन निकालकर स्वगृह या अन्यगृह में रखकर आहार देना।

(६) बलिदोष—यक्ष, नागकुल देवता के चढ़ाने के हेतु से बनाये हुए भोजन का आहार लेना।

(७) प्रावर्तित— काल की वृद्धि या हानि करके (आहार-काल के अतिरिक्त) आहार देना लेना।

(८) प्राविष्करण—आहारार्थ साधु आने के बाद खिड़की आदि खोलना, या बर्तन आदि माँजना।

(९) क्रीत—आहार के समय वस्तु खरीद कर लाकर देना।

(१०) प्रामृष्य—ऋण लेकर आहार बनाना।

(११) परिवर्त— शालि आदि देकर बदले में अन्य धान्य लेकर आहार बनाना।

(१२) अभिघट—पंक्तिबद्ध सात घर के अतिरिक्त अन्य स्थान से अन्नादि लाकर मुनि को देना।

(१३) उद्भिन्न—बर्तन का ढक्कन आदि खोलकर अर्थात् सील मुहर आदि हटाकर वस्तु निकालकर देना।

(१४) मालारोहण—सीढ़ी से चढ़कर वस्तु लाकर देना।

(१५) आच्छेद्य—राजा आदि के भय से आहार देना।

(१६) अनीशार्थ—दानपति के द्वारा किया गया अन्न का आहार देना। ये सोलह दोष (दातार) श्रावक के आश्रित हैं। ज्ञात होने पर मुनि ऐसा आहार नहीं लेते हैं।

उत्पादन दोष—ये भी सोलह होते हैं—

(१) धात्री—धाय के समान बालक का पोषण संरक्षण आदि करके आहार लेना।

(२) दूत—दूत समान किसी का समाचार अन्य ग्राम में पहुँचाकर आहार लेना।

(३) निमित्त—स्वरव्यंजन आदि निमित्तज्ञान से, श्रावकों को हानि-लाभ बताकर प्रेरणा करके आहार लेना।

(४) आजीवदोष—अपनी जाति, कुल, कला, योग्यता बताकर दातार को आकर्षित करके आहार लेना।

(५) वनीपक—दातार के अनुकूल बोलकर यदि मुनि आहार लेते हैं तो वनीपक दोष है।

(६) चिकित्सादोष—औषधि आदि बताकर दाता को खुश करके आहार लेना।

(७) क्रोधदोष (८) मानदोष (९) मायादोष (१०) लोभदोष इन चार कषायोंको उत्पन्न करके आहार करना।

(११) पूर्वस्तुति—पहले दातार की प्रशंसा करके, आहार उत्पन्न करा करके लेना।

(१२) पश्चात्स्तुतिदोष— आहार के बाद दाता की प्रशंसा करना।

(१३) विद्यादोष—दातार को विद्या का प्रलोभन देकर आहार ग्रहण करना।

(१४) मंत्रदोष—मंत्र का माहात्म्य बताकर आहार ग्रहण करना।

(१५) अञ्जनचूर्ण—आदि का प्रयोग बताकर ग्रहण करना।

(१६) मूलकर्मदोष—अवश को वश करने का प्रयोग बताकर आहार लेना।

ये सभी दोष मुनि के आश्रित होते हैं इसलिए उत्पादन दोष आदि कहलाते हैं। इन दोषों को टालकर मुनि अपने को अलग करते हैं।

एषणासंबंधी दस दोष

(१) शंकित—यह आहार लेने योग्य है या नहीं इत्यादि शंका से आहार लेना।

(२) म्रक्षित—घी-तेल आदि चिकने हाथ से या चम्मच से दिया हुआ आहार लेना।

(३) निक्षिप्त—सचित पृथ्वी जल आदि से संबंधित आहार लेना।

(४) पिहित—अप्रासुक तथा प्रासुक ऐसे बड़े आच्छादन हटाकर आहार लेना।

(५) संव्यवहरण—जल्दी से वस्त्र पात्रादि खींचकर बिना विचारे या असावधानी से दिया हुआ आहार लेना।

(६) दायक—आहार के अयोग्य मद्यपायी नपुंसक पिशाचग्रस्त अथवा सूतकपातक आदि से सहित दातारों का आहार लेना।

(७) उन्मिश्र—अप्रासुक वस्तु या समिश्र आहार लेना।

(८) अपरिणत—अग्न्यादि से अपरिपक्व, आहार-पान आदि लेना।

(९) लिप्त—गीले हाथ, गेरू आदि से लिप्त हाथों से दिया हुआ आहार लेना।

(१०) छोटित—हाथ की अंजुलि से बहुत कुछ नीचे गिराते हुए आहार लेना।

ये दस दोष मुनि से संबंध रखते हैं। मुनि इन दोषों से अपने को सदैव बचाते हैं।

(१) संयोजना दोष—आहारादिक पदार्थों को मिश्र कर देना, ठंडे जल आदि में उष्ण भात आदि मिला देना, अन्य भी प्रकृति विरुद्ध वस्तु का मिश्रण करना संयोजना दोष है।

(२) अप्रमाण दोष—आहार में दो भाग रोटी, एक भाग पेयपदार्थ, दूध, रस आदि और एक भाग खाली रखना यह प्रमाण है किन्तु इसका उल्लंघन करना अप्रमाण दोष है।

(३) अंगार दोष—जिह्वा इंद्रिय की लंपटता से आहार करना।

(४) धूम दोष—भोज्य वस्तु आदि की मन में निंदा करते हुए आहार ग्रहण करना।

इस प्रकार छयालीस दोष होते हैं।

बत्तीस अंतराय

(१) काक—आहार को जाते समय, या खड़े होते समय या आहार लेते समय कौवा आदि वीट कर दे तो काक नाम का अंतराय है (अर्थात् आहार छोड़ देना चाहिये)।

(२) अमेध्य—विष्ठा आदि अपवित्र वस्तु से पैर लिप्त हो जाना।

(३) छर्दि—वमन होना।

(४) रोधन—आहार को जाते समय किसी के द्वारा यकायक रोकना (आप नहीं जा सकते ऐसा सुनना)।

(५) रक्तस्राव—अपने शरीर से या अन्य के शरीर से चार अंगुलपर्यन्त रक्त बहता हुआ, आहार करते हुए देखना रक्तस्राव अंतराय है।

(६) अश्रुपात—दुःख से अपने या पर के अश्रु गिरने लगें।

(७) जान्वधः परामर्श– यदि मुनि जंघा के नीचे के भाग को स्पर्श कर ले।

(८) जानुपरिव्यतिक्रम–मुनि घुटने के ऊपर के स्थान को उल्लंघन करके जावे अर्थात् बहुत ऊंची सीढ़ी का व्यतिक्रम करके चढ़ें।

(९) नाभ्यधोनिर्गमन–नाभि के नीचे मस्तक करके आहार के लिए जाना।

(१०) प्रत्याख्यात सेवन–देव गुरु के साक्षीत्याग की हुई वस्तु खाने में आ जाय।

(११) जंतुवध–कोई जीव अपने सामने किसी का वध करे।

(१२) काकादि पिंडहरण–कौवे आदि पक्षी के द्वारा मुनि के हाथ का ग्रास हरण हो जाना।

(१३) ग्रास पतन–भोजन करते समय साधु के हाथ से ग्रास गिर जाना।

(१४) पाणि जंतुवध–आहार करते समय कोई मक्र मक्खी आदि जंतु स्वयं हाथ में आकर मर जाए।

(१५) मांसादि दर्शन–मांस, मद्य, या मरे हुए का कलेवर (पंचेन्द्रिय शरीर) देखने पर।

(१६) पादान्तर जीव–आहार लेते समय दोनों पावों के बीच से पंचेद्रिय जीव चूहा आदि का निकलना।

(१७) देवाद्युपसर्ग–आहार लेते समय, देव, मनुष्य तिर्यंच, आदि द्वारा उपसर्ग होने पर।

(१८) भाजनसंपात–देने वाले के हाथ से बर्तन गिर जाना।

(१९) उच्चार–आहार करते समय उदर से विष्टा आदि का निकलना।

(२०) प्रस्रवण–आहार करते समय मलमूत्र निकलना।

(२१) अभोज्यघर-प्रवेश-आहार समय चांडालादिं के घर में, या सूतक पातक सहित श्रावकों के घर में आहार लेना।

(२२) पतन–मूर्च्छा, थकावट आदि से गिरने पर।

(२३) उपवेशन–आहार के समय साधु के बैठ जाने पर।

(२४) सदंस–कुत्ता, बिल्ली वगैरह के द्वारा काटा जाना।

(२५) भूमिस्पर्श–सिद्धभक्ति के अनंतर हाथ से भूमिस्पर्श हो जाना।

(२६) निष्ठीवन–आहार करते समय कफ, थूक आदि निकलने पर।

(२७) वस्तुग्रहण–आहार करते समय हाथ से कुछ वस्तु उठा लेने पर।

(२८) अदत्तग्रहण–नहीं दी हुई किंचित् वस्तु ग्रहण करने पर।

(२९) उदरकृमिनिर्गमन–पेट से कृमि का निकलना।

(३०) प्रहार–अपने या दूसरों पर शत्रु द्वारा शस्त्र प्रहार होने पर।

(३१) ग्रामदाह–ग्राम आदि में उसी समय आग लग जाने पर।

(३२) पादेन किंचित् ग्रहण–. पैर से किंचित् वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

ये बत्तीस अंतराय बतलाये गये हैं। इन कारणों से आहार छोड़ देने का नाम ही अंतराय है। इनके अतिरिक्त चाण्डालादि स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मीक सन्यासमरण, प्रधानमरण आदि प्रसंगों में भी अन्तराय होता है।

अन्तराय के अनंतर साधु मुखशुद्धि करके आते हैं। मन में किंचित् भी विषाद या खेद को न करते हुए "लाभादलाभो वरं" लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक कर्मनिर्जरा होती है ऐसा विचार करके वैराग्यभावना की अधिक पुष्टि करते हैं।

इन अन्तरायों के अतिरिक्त मलदोष भी माने गये हैं।

नख, रोम, जन्तु (विकलत्रय) दो, तीन, चार इन्द्रिय जीव मृत शरीर, अस्थि, धान्य, कण-जौ, गेहूं आदि का अवयव, कुण्डक (शालि आदि अंदर का अवयव), पीव, रक्त, चर्म, मांस, बीज, फल, कंदमूल ये चौदह मलदोष हैं। इनमें कोई महादोष कोई अल्पदोष है। रक्त, पीव, चर्म, अस्थि ये महामल (दोष) हैं। आहार में इनका दर्शन होने से आहार त्याग करके प्रायश्चित कर लेना चाहिये। अंकुरोत्पन्न धान्य–कण, कुण्ड, बीज, कंदफल और मूल इनको अलग कर आहार ग्रहण कर सकते हैं।

आहारदान की विशेषता

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥ (रत्न. श्रा.), ११३॥

अर्थात् सर्वसावद्ययोगविरति अथवा गृहमिवमुक्त अतिथि को अर्थात् मूल-उत्तरगुणधारी, अठारह हजारशील के घनी, एषणा-संबंधी दोष के अभिज्ञानी, ज्ञानी, ध्यानी ऐसे महान् महर्षि को तथा मुनि, आर्यिका क्षुल्लक, क्षुल्लिका को, (नवपुण्यैः) नवधाभक्तिपूर्वक भद्रपरिणामी–उच्चकुलीन सदाचारी, पापभीरू श्रद्धाभक्ति, विवेक आदि गुणयुक्त श्रावकों के द्वारा जो आहारादि दान किया जाता है उसे दान कहते हैं। वह दान विद्या, धर्म, तप, ज्ञान, मोक्ष की प्राप्ति का कारण होता है।

आहारदान का फल

उच्चैर्गोत्रं प्रणते र्भोगोदानादुपासनात्पूजा।

भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥रत्न. श्रा. ११५॥

तपस्वी मुनि को प्रणाम करने से उच्चगोत्र की, नवधाभक्तिपूर्वक दान देने से भोग अर्थात् उत्तमभोगभूमि तथा स्वर्ग की और सेवा-वैयावृत्ति (उपासना) करने से पूजा-सत्कार मान्यता और उनका स्तवन करने से यश कीर्ति की प्राप्ति होती है।

नवधाभक्तिपूर्वक अल्प सा दिया हुआ दान भी सम्यग्दृष्टि को वटवृक्ष की विशाल छाया के समान उत्तम ऐश्वर्य और विभूति सहित इच्छानुसार भोगोपभोग आदि अनेक फलों को देता है।

"गृहविमुक्तानां-अतिथिनां" गृहविमुक्त अतिथि को दान देने से गृहस्थी के—व्यापारजनित आरंभजनित गृहकर्मों से संचित पापों का नाश होता है। जैसे जल से खून धोया जाता है।

"केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखं।
आहार-दानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ (अमितगति श्रा., ११/२५॥

केवलज्ञान के समान ज्ञान, निर्वाण सुख के समान सुख, तथा आहारदान के समान दान जैसी (लोकमें) उत्तम दूसरी वस्तु नहीं है क्योंकि—

मोक्षाभिलाषी मुनि के लिए नवधाभक्तिपूर्वक दिया हुआ दान केवल मुनि के लिए मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति नहीं कराता किन्तु अपने आपको मोक्ष पहुँचाता है। जैसे देवालय बनाने वाला कारीगर जैसे-जैसे देवालय ऊंचा होता जाता है वैसे वैसे वह भी ऊंचे स्थान पर चढ़ता जाता है।

जिनलिंग तथा जिनमुद्रा को देखकर आहारदान देना चाहिये, उस समय पात्र-अपात्र की परीक्षा करने की क्या आवश्यकता?

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ये सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृहीदानेन शोभते॥

अमृतचंद्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं—

घर पर आये हुए अतिथि को यदि श्रावक आहार नहीं देता वह लोभी भला क्यों नहीं? अर्थात् पदार्थ का लोभ, ममत्व हटे बिना वस्तु दूसरों को निकालकर नहीं दी जा सकती।

जो भव्यात्मा जीव मुनिमहाराज के आहारदान के पश्चात् अवशेष प्रसाद समझकर सेवन करता है वह संसार के सारभूत सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्षगामी होता है।

दानी नवधाभक्ति से एषणाशुद्धिपूर्वक, निरपेक्ष वृत्ति से, निरभिमान से, सत्पात्र को दान देकर "गृहकर्मणापिनिचितंकर्मविमार्ष्टि" गृहकर्म से संचित पाप कर्म को नाश करता हुआ इह-परलोक संबंधी अम्भुयदय के सुख को प्राप्त होता है।

तथा गृहमुक्त अतिथि शुद्धभावना से, मन की प्रसन्नता से ज्ञान, ध्यान, तप, स्वाध्यायवृद्धि

हेत्वर्थ (दिया हुआ) आहार ग्रहण करके रत्नमय धर्म की उन्नति करते हुए मोक्षगामी बनते हैं। इस प्रकार इन चार कारणों से "विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषात् तद्‌विशेषः।" दान में विशेषता प्राप्त होती है।

आहारदान के समान ज्ञानदान, औषधदान, तथा अभयदानादि भी गृहस्थ जीवन को उन्नत तथा सफल बनाते हैं। जो मानव बढ़ती हुई किन्तु चंचल लक्ष्मी का धर्म कार्य में विनियोग करता है उसकी संपत्ति द्विगुणी-चौगुणी बढ़ती है क्योंकि बिजली के समान अस्थिर लक्ष्मी का उपयोग तीन प्रकार से है—दान, भोग या नाश। जो महामना अस्थिर नाशवंत लक्ष्मी का सत्पात्र के दान में सदुपयोग करता है वह सुखी और मोक्षगामी होता है।

सत्पात्र को नवधाभक्तिपूर्वक दान देने से उत्तम फल की प्राप्ति होती है। नवधाभक्ति का संबंध-आहार औषध दान के साथ है। अतः जो आहार-दान देता है वह शेष दान का भी पुण्यशाली बन जाता है। क्योंकि—

> भोयण दाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।
> भुक्ख-तिसाए वाही दिणे दिणे होंति देहीणं ॥३६३॥ (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

भोजनदान में तीनों दान का फल प्राप्त होता है। क्योंकि प्राणियों को भूखप्यासरूपी व्याधि प्रतिदिन होती है।

भूख प्यास के समान कोई रोग नहीं और आहार दान के समान कोई औषध नहीं। आहार देने वाले कुशल गृहस्थ के समान दूसरा कोई पुण्यवान कुशल वैद्य नहीं।

नवधाभक्तिपूर्वक आहार देते समय विवेकी दाता यदि वेदनायुक्त संयमी को व्याधिमुक्त करने के लिए योग्य अनुकूल तथा पथ्यापथ्य का विचार करके आहार देता है तो वह आहार औषधि का काम करता है। आहारदान के पुण्य के साथ साथ औषधदान का सहज ही पुण्य लाभ मिलता है। इसलिए दाता को कुशल वैद्य कहा है।

> भोयण बलेण साहू सत्थं सेविदि रत्ति दिवसंपि।
> भोयण दाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ॥ ३६४॥ (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

आहारदान के बल से ज्ञानीसाधु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी बनता है। अर्थात् निरंतर स्वाध्याय करता है, ज्ञान उपार्जन करता है। भूख से व्याकुल चित्त वाले का मन स्वाध्याय में स्थिर नहीं होता। इसलिए आहार दान देने वाला ज्ञानदान भी प्रदान करता है।

सभी जीवों को अपने प्राण प्यारे होते हैं। संकटग्रस्त होने पर, भूख से पीड़ित होने पर, उपसर्ग आने पर आपत्ति से बचता है तो मानो प्राणदान या जीवनदान ही प्राप्त हुआ। इन प्राणों की रक्षा या स्थिरता आहारदान से होने से अभयदान का आहारदान में अंतर्भाव हो जाता है।

आहारदान की महिमा अचिंत्य अलौकिक है। आहार देना तो दूर रहा, केवल आहारदान की अनुमोदना करने वाले मतिवरादि मंत्री तथा नेवला, बंदर, सिंहादि तिर्यंच प्राणी भी भोग भूमि को प्राप्त हुए। इतना ही नहीं, दान का स्मरण मात्र से वज्रजंघ का जीव प्रथम तीर्थंकर वृषभनाथ के रूप में अवतरित हुआ और रानी श्रीमती का जीव श्रेयांस राजा हुआ जो दानतीर्थ के प्रथम प्रवर्तक हुए।

सत्पात्र को दिया हुआ दान चारित्र का संचय करता है। विनय को बढ़ाता है। ज्ञान की वृद्धि करता है। प्रशमभाव को परिपक्व करता है, तप को प्रबल करता है। आगम ज्ञान को उल्लसित करता है, पुण्य की जड़ों को पुष्ट करता है। पापों को नष्ट करता है। स्वर्गसुख प्रदान करता है और क्रम से मोक्षलक्ष्मी का स्वामी बनाता है।

***
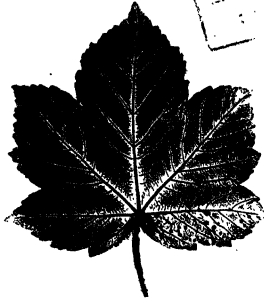
औषध दान
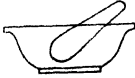
❑ आर्यिका चन्द्रमतीजी
शिष्या स्व. मुनि श्री सन्मतिसागरजी

दान-माहात्म्य : दान से मनुष्यों को भोग सुलभ होते हैं, दान से लोक में यश स्थिर रहता है, दान से शत्रु वशीभूत होते हैं, दान से राज्य प्राप्त होता है, दान से भोगभूमि में जन्म मिलता है, दान से परलोक में स्वर्ग प्राप्त होता है, सम्यग्दृष्टि मनुष्य अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

दान के भेद :– दान मुख्य रूप से चार प्रकार का है–आहारदान, ज्ञानदान, अभयदान, औषधदान। ये चारों दान अपनी शक्ति और श्रद्धा के अनुसार देना चाहिये।

दान के दूसरे भेद

उत्तम सात्विकं दानं, मध्यमं राजसं भवेत्।
दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः॥

अर्थात् उत्तम दान सात्विक है, मध्यम दान राजस है और तामस दान सब दानों में जघन्य दान है।

सात्विक दान–जिसमें अतिथि के लिए देय वस्तु हितकारी हो और दाता श्रद्धा आदि गुणों से सहित हो उसे सात्विक दान कहते हैं।

राजसदान– जो दाता की आत्मप्रशंसा से सहित हो, जिसमें आहार के योग्य पदार्थ के विषय में कुछ संदेह हो तथा जो दूसरों के प्रेरणा से दिया गया हो, वह राजस दान है।

तामसदान–जिसमें पात्र अपात्र का समान सत्कार हो, जो प्रसन्नता से रहित हो तथा दास और सेवक आदि से मिलाया गया हो, वह तामस दान कहलाता है।

दान का फल–आहार दान से भोग मिलते हैं, ज्ञान दान से श्रुतकेवली होता है, अभयदान से सुन्दर रूप मिलता है और औषधदान से स्वस्थ शरीर प्राप्त होता है। मुनियों को शारीरिक, मानसिक या कोई आगन्तुक रोगादिक की बाधा होने पर, गृहस्थों को उसका प्रतिकार करना चाहिये। वात-पित्त-कफ रुधिराधि धातु और मल के विकार से जो रोग होते हैं उन्हें शारीरिक कहते हैं। मन को दूषित होने से, बुरे स्वप्नों से या भय आदि के कारण से जो रोग होते हैं वे मानसिक हैं। ठण्ड वायु वगैरह के लग जाने से जो आकस्मिक बाधा हो जाती है उसे

आगन्तुक कहते हैं। इन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न गृहस्थों को करना चाहिये, क्योंकि रोगग्रस्त मुनियों की उपेक्षा करने से, मुनियों की समाधि नहीं बनती और गृहस्थों का धर्म-कर्म नहीं बनता। आशय यह है कि मुनियों को किसी तरह की बाधा होने पर यदि गृहस्थ उसका निवारण न करें तो व्याधिग्रस्त होने के कारण मुनिजन ठीक रीति से आत्मसाधना नहीं कर सकते। और चूँकि गृहस्थ अपने कर्तव्यपालन में प्रमाद करते हैं। अतः वे भी अपने धर्म-कर्म से च्युत कहे जायेंगे क्योकि धर्म को मुनिजनों के ही आश्रय से चलता है। अतः गृहस्थों को रुग्ण साधुओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

दान साधु भी देते हैं, गृहस्थ भी देता है, क्या अंतर है? साधु ज्ञानामृत और रत्नत्रय का दान देते हैं जो संसार रुपी समुद्र को पार करने में परमावश्यक है। गृहस्थ जो दान देता है वह भी परम्परा से मोक्ष का कारण है, क्योंकि साधु दान को ग्रहण करके ध्यान-तप-संयम आदि धर्माराधना को निरंतर भाते हैं अगर स्वास्थ्य ठीक हो तो निरतिचार पालन करते, अगर स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो कुछ भी नहीं कर पाते। "शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।" अगर ठीक तरह से साधु को आहार न मिले तो शरीर टिक नहीं सकता। शरीर की अस्वस्थता धर्म-साधना में बाधक बनती है। पं. दौलतराम जी बताते हैं– "ले तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन पोषते तजि रसन को" तप के निमित्त दान को ग्रहण करते हैं। शरीर को पुष्ट करने के लिए नहीं। ऐसे दान को आचार्यों ने परम धर्म कहा है। लोक में अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक पात्र के लिए एक बार भी किया गया दान अनन्त फल को प्राप्त कराता है। सुपात्र को दान करने से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। जैसे मनुष्य उत्तम खेत में अच्छे बीज को बोता है तो उसका फळ मनोवांछित रूप से प्राप्त होता है।इसी प्रकार उत्तम पात्र में विधिपूर्वक दान देने से सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है। आचार्य बताते हैं–

> इह णियसुवित्तवीयं जो ववई जिणुत्तसत्तखेत्तेसु।
> सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाण पंचफलं ॥ (र. सा. १८)

जो भव्यात्मा अपने द्रव्य को सात क्षेत्रों में विभाजित करता है वह पंचकल्याणक से सुशोभित त्रिभुवन के राज्यसुख को प्राप्त होता है। उसे चक्रवर्ती पद की भी प्राप्ति होती है।

औषधदान

औषधदान यानी वैयावृत्ति। शरीर की वैयावृत्ति जिससे रत्नत्रय का पालन हो सके ऐसा दान। व्यवहार में भी देखा जाय, तो जो औषध होती है, उसका पान करने से रोग नष्ट हो जाता है और क्षणिक सुख की झलक देखने को मिलती है। पर सबसे बड़ा रोग कौन-सा है? आचार्यों ने जन्म, जरा-मरण को ही बड़ा रोग बताया है।इस रोग के निवारण के लिए रत्नत्रयरूप

औषधि देना सबसे परम आवश्यक है। रत्नत्रय रूपी औषध का दान तो हमारे गुरुदेव ही देते हैं। वह औषधदान ही यथार्थ है जो हमारे सबसे बड़े रोग जन्म, जरा-मरण को दूर करने में समर्थ हैं, जिसके द्वारा हमें सच्चे सुख की और अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है। हमारे पुराणों में ऐसे अनेक दृष्टांत पाये जाते हैं। सनत्कुमार मुनि को पूरे शरीर में कुष्ठरोग उत्पन्न हो गया था। वह जिनेन्द्र देव की भक्ति से ठीक हो गया। श्री पाल राजा का भी कुष्ठरोग जिनेन्द्र देव के गंधोदक से दूर हो गया था। इसलिए सच्चे देव की भक्ति भी औषधदान ही है। औषधदान का महत्व श्रावकाचार ग्रंथ (टीकानुवाद) में बतलाया है–

"जाके जन्म ते लगाय शरीर को ताप उपजा ने वाला रोग न होय है तिस सिद्धि समान महात्मा का सुखकहिये. जो पुरुष करि औषध दीजिए है सो यहु पुरुष कान्ति दीप्तिनि का तो भण्डार होय है और कीर्तिनि का कुल मंदिर होय है जामें यशकीर्ति सदा बसै है, बहुरि सुंदरता का समुद्र होय है।" ऐसे औषधदान से निरोगी, स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर की प्राप्ति होती है। ऐसे औषधदान से तीर्थंकर गोत्र का बंध होता है। आचार्य कहते हैं कि कृष्ण महाराज ने औषधदान के प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है। औषधदान की महिमा अपार है। कथानक है–

एक बार द्वारिका नगरी में दिगम्बर साधुओं का एक संघ विराजमान था। सभी साधु वर्ग अपने ज्ञान-ध्यान में लीन रहते थे। उस समय एक मुनिराज को बड़ा असाध्य रोग हो गया। रोगशमन के लिए औषधि देना परमावश्यक था। लेकिन श्री कृष्णजी सोचते हैं, किस प्रकार औषधि दी जाये ताकि मुनिराज स्वस्थ हों। औषध कहाँ पर तैयार की जाये? यह औषधि लड्डू के अन्दर देना परम आवश्यक थी। लड्डू एक घर से दूसरे घर नहीं ले जा सकते तो क्या किया जाय? श्री कृष्ण महाराज ने समस्त नगरवासियों को लड्डू बनाने के लिए कह दिया और औषधि दे दी क्योंकि दिगम्बर साधु तो याचना के त्यागी व अतिथि हैं। अयाचन वृत्ति के धारक होते हैं, कहीं पर भी उनका आहार हो सकता है। पूरे नगर में ऐसी व्यवस्था हो गयी और मुनिराज स्वस्थ हो गये।

इसलिए आचार्यों ने औषधदान का विशेष महत्व बताया है। हम जितनी ज्यादा वैयावृत्ति आदि करेंगे उतना ही हमें अच्छे स्वस्थ, सुन्दर, निरोगी शरीर की प्राप्ति होगी, उत्तम संहनन की प्राप्ति होगी जिसके द्वारा वीरासन ग्रहण व धारण करके उत्तम सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर सकेंगे।

अजब नहीं तासीर धर्म की खाक को चाहे जर कर दे।
चींटीं से अख्तर सबसे बहत्तर नौकर को अफसर कर दे।।

ज्ञानदान

❑ ग. आर्यिका विजयमतीजी

भारतीय संस्कृति में दान का अद्वितीय स्थान है। प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति-आबालवृद्ध किसी न किसी रूप में दान करते हैं। इसलिए कि दान धर्म का एक अभिन्न अङ्ग माना जाता है। धर्म प्राणी का स्वभाव है। प्रत्येक जीव ज्ञात या अज्ञात अवस्था में, कुछ दान करता है। दान का सरल अर्थ है देना। किसी भी कार्य का विधान करते समय उसका निषेधात्मक पहलू भी आ जाता है। यथा देना तो लेना नहीं रह सकता। फलतः आदान-प्रदान की पद्धति ही दान की जन्मदात्री कही जा सकती है। वनस्पति जलादि एकेन्द्रिय प्राणियों से लेकर पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मनुष्य पर्यन्त सभी इस कार्य के कर्त्ता हैं। कोई मिट्टी पान आदि लेकर फल-फूल, धान्यादि प्रदान करते हैं, कोई मुक्ताफलादि तो कोई अन्य प्रकार के चित्र विचित्र आभूषण खेल खिलौने आदि। किन्तु यहाँ विचारणीय है कि क्या यह यथार्थ दान है? गाय, भैंस, बकरी आदि प्राणी भी दुग्धादि वस्तुओं से मानव जाति का उपकार करते हैं। ये उपकारी हो सकते हैं परन्तु दानी नहीं कहला सकते। पथिक का श्रम दूर करने वाला सघन वृक्ष उपकारी कहा जाता है किन्तु उसे दानी नहीं कहा जाता। फलतः यह प्रश्न आता है कि आखिर दान क्या है? दानी कौन है और पात्र कौन हो सकता है? विवेकपूर्वक, चिन्तन सहित अपनी इच्छा से, धर्मबुद्धि से, त्यागभावना से उभयलोक की सिद्धि के अभिप्राय से जो दिया जाता है वह कहलाता है दान। इस विवेचन से यह फलित होता है कि दाता बनने की योग्यता मनुष्य में ही है और पात्रता भी उसी में समाहित है। चूँकि विवेक, ज्ञान, धर्म और अभिप्राय एवं मान्यतायें विभिन्न सम्प्रदायों की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् हैं। इसीलिए दान में भी भेद होना सहज है।

जैन सिद्धांत में, आर्हत मत में जैनाचार्यों ने प्रत्येक तत्व का सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण किया है। उनकी दृष्टि भौतिक जगत में सीमित नहीं रही, अपितु आध्यात्मिक आत्मीय जगत की छानबीन करने में अधिक तीक्ष्ण रही है। वे लोक से लोकोत्तर अवस्था में पहुँचते हैं। आज का विज्ञान जिस प्रकार मैटर का विश्लेषण करने में दत्तचित्त है उसी प्रकार हमारे आचार्य परमेष्ठियों ने अमूर्तिक, अचिन्त्य, आत्मद्रव्य के अन्वेषण में अपने पुनीत त्यागमय जीवन को समर्पित किया। जिनागम में दान भी आत्मशोधन का एक उत्कृष्ट साधन माना गया है। दान का सीधा संबंध है त्याग से, और त्याग है शुद्ध, निर्लेप आत्मा की प्राप्ति का उपाय। जिस प्रकार कुशल-शिल्पी पाषाण खण्ड से उसके साथ जुड़े अनावश्यक भाग को छैनी द्वारा त्याग करा देता है और सुन्दर-सौम्य, अभिनन्दनीय मूर्ति को प्रकट करा देता है, उसी प्रकार साधक अपने त्याग द्वारा

साधना की छैनी से आत्मा से संयोजित अनुपयोगी पर-रूप भाग (कर्म-नोकर्म) को दूर कर, शुद्ध आत्मा को प्रकट कर लेता है। अस्तु दान जैन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है।

आचार्य उपास्वामी ने "अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम्" (त. स. ७/३८) सूत्र द्वारा दान का स्वरूप निरूपण किया है। अनुग्रह के लिए अपने धन का विसर्जन, त्याग करना दान है। यहाँ अनुग्रह शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। अनुग्रह का सीधा अर्थ है उपकार, परन्तु किसका उपकार करना? स्वयं अपना भी करना और पात्र का भी करना। स्व-पर में भी उपकृत्य है क्या? विषय भोगादि नहीं अपितु आत्मतत्व के पोषक ज्ञान, ध्यान, तप, त्याग आदि के सहायक पदार्थों का त्याग करना दान है। आत्मस्वरूप साधना में निरत ही पात्र होता है, उसी को दिया दान सार्थक फल पाता है। आचार्य स्वामी ने लिखा है– "परानुग्रहबुद्धया स्वस्यातिसजज्ञन दानम्।" (त. रा. वा.) अथवा "रत्नत्रयवद्‌भ्यः स्ववित्तपरित्यागो दानं रत्नत्रयसाधनादित्सा वा" अर्थात् रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रदान करने की इच्छा का नाम दान है।इस प्रकार दान की व्यवस्था से स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक निज और पर के रत्नत्रय के साधनार्थ दान कर अपने कर्तव्य में प्रवृत्त होता है। गृहाश्रम में शुद्ध धर्म का अवकाश न होने से श्रावकधर्म में दान की प्रधानता प्ररूपित है। यह दान मूलतः दो प्रकार का है– १. अलौकिक दान और २. लौकिक दान। अलौकिक दान साधु सन्तों को दिया जाता है। लौकिक दान साधारण व्यक्तियों को प्रदान किया जाया है।

अलौकिक दान के चार भेद हैं–१. आहार, २. औषध, ३ ज्ञान, और ४. अभयदान। लौकिक के समदत्ति, करुणादत्ति, पात्रदत्ति, अन्वयदत्ति, ये चार भेद हैं। महापुराण में कहा है–अनुग्रह योग्य प्राणियों के समूह पर दयाकर, त्रियोगशुद्धि से उनके भय निवारण के लिए प्रयत्न करना दयादत्ति है। महातपस्वी, मुनि आदि उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को नवधाभक्ति, सप्तगुण सहित प्रदत्त दान पात्रदत्ति कहलाता है। क्रिया मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने समान हैं अथवा संसार से पार कराने वाले उत्तम श्रावक-गृहस्थ हैं, उन्हें कन्या, हस्ति, अश्वादि देना समदत्ति दान कहा जाता है। अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुलपति तथा धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करना अन्वयदत्ति है। (चारि. सा. ४३/६) (सा. ध. ७/२७/२८)। इस प्रकार दान की विविध शाखाएँ है।

पात्र दान के चार भेदों में से यहाँ ज्ञानदान विवेचनीय है। इस विषय के स्पष्टीकरण में हमें ज्ञान, विज्ञान, सुज्ञान एवं कुज्ञान का स्वरूप अवगत करना परमावश्यक है क्योंकि बीजारोपण करने के पूर्व बीज, भूमि, काल, ऋतु आदि का ज्ञान करना अनिवार्य है। ज्ञान सामान्य जानना है। संसार का जीवमात्र ज्ञानी है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही "ज्ञान" है। ज्ञान लक्षण युक्त जीव है। विविध चमत्कारों का द्योतक विज्ञान है। निज-पर का यथार्थ अवबोधक सुज्ञान या सम्यग्ज्ञान है और पदार्थ के स्वरूप को विपरीत दर्शाने वाला कुज्ञान या मिथ्याज्ञान है। यहाँ सुज्ञान विवेच्य है, क्योंकि उस ही स्वरूप ज्ञानधन शुद्धात्मा है।

"जानाति, ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रं व ज्ञानं" जो जानता है वह ज्ञान है (कर्त्तृसाधन), जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है (करण साधन) एवं जानना मात्र ज्ञान है। (भाव साधना)। (त. रा. वा. १.१. २४/९/१; ध. १/१/१/११५/१०)। एवंभूत नय की दृष्टि में ज्ञानरूप परिणत आत्मा ही ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञानस्वभावी है। "भूतार्थप्रकाशनं ज्ञानं। अथवा सद्भाव विनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्। शुद्धनय विवक्षायां तत्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्...। द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम्।" (१) अर्थात् सत्यार्थ का प्रकाशन करने वाली शक्ति विशेष का नाम ज्ञान है। (२) अथवा सद्भाव अर्थात् वस्तुस्वरूप का निश्चय करने वालेधर्म को ज्ञान कहते हैं। शुद्ध नय की विवक्षा में वस्तु स्वरूप का उपलम्भ करने वाले धर्म को ही ज्ञान कहा है। (३) जिसके द्वारा द्रव्य, गुण, पर्यायों को जानते हैं उसे ज्ञान कहते हैं। (ध. १/१.१.४/१४२/३)। सम्यगवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित्॥" (स्या. म. १६/२२१/२८) अर्थात् जिससे यथार्थ रीति से वस्तु जानी जाय उसे संवित् ज्ञान कहते हैं। "येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्थाः व्यवस्थितास्तेन तेन प्रकारेण तेषामवगमः सम्यग्ज्ञानम्।" (स. सि. १/१/५/६)। "सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः (त. सा. (१/१८)। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रीति से आचार्यों ने सम्यग्ज्ञान की निरुपणा की है, किन्तु यह भेद शैली मात्र है, वस्तुतः लक्ष्य एक ही स्व-पर-भेद विज्ञान है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेदयदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥ (र. क. श्रा.)

अर्थात् न्यूनाधिकता से रहित, जैसा का तैसा, संशय विपर्यय, अनध्यवसाय रहित वस्तुस्वरूप का जानना सम्यग्ज्ञान है। उसे स्वार्थ व्यवसायात्मक अर्थात् स्वपर पदार्थों का ज्ञाता-ग्राहक जानना चाहिये। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने अमूल्यरत्न समयसार में कहा है—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एयमादा जो जाणदि सो हवेदि णाणी ॥७५॥

अर्थात् जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को, इसी प्रकार नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है, अपितु जानता है वह ज्ञानी है, ज्ञाता है। आत्मानुशासन में ही गुणभद्रस्वामी ने लिखा है—

रसादिराद्यो भागः स्यात् ज्ञानावृत्यादिरन्वितः।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः ॥२१०॥

भागत्रयमिदं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम्।
भाग द्वयात्प्रथक्कर्तुं यो जानाति स तत्ववित्॥२११॥

अर्थात् संसार प्राणी का रस आदि सात धातुओं रूप पहला भाग है, इसके पश्चात् ज्ञानावरणादि कर्मों का रूप दूसरा भाग है तथा तीसरा भाग उसका ज्ञानादि रूप है, इस प्रकार से संसारी जीव तीन भाग स्वरूप है। इन तीनों भागों में स्थित संसारी आत्मा को, जो प्रथम दो भागों

से अलग कर तीसरे भाग को प्राप्त करना जानता है, वही ज्ञानी है।

इस प्रकार हम देखते है कि जो जो साधन ज्ञानधन स्वरूप आत्मोपलब्धि में सहायक होते हैं उन-उन साधनों को उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को प्रदान करना ज्ञानदान है। ज्ञान-दान आत्मसिद्धि का मुख्य हेतु है। सत्साहित्य-जिनवाणी को पुस्तकाकार देना अर्थात् छपाना, लिखना, लिखाना, वितरण करना, पठन-पाठन, मनन-चिन्तन, स्वाध्याय, प्रवचन करना-कराना आदि ज्ञानदान है। जिनवाणी-सरस्वती का अध्ययन करने के लिए पाठशाला, सरस्वतीभवन आदि निर्माण कराना, प्राचीनग्रंथों का जीर्णोद्धार करना-कराना, वेष्टनादि द्वारा उनका संरक्षण करना, जिनका प्रकाशन नहीं हुआ तो उन-उन महत्वपूर्ण ग्रंथों की टीकादि कराकर या करके प्रकाशन कराना, इनमें मन, वचन, काय, धन, समय लगाना यथार्थ निदान है। साधु-श्रमण, श्रमणियों के ज्ञानार्जन के सरल साधन उपलब्ध करना-कराना प्रभृति ज्ञानदान है। ज्ञानदान दाता के भी ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम होता है, परम्परा से क्षायिक की पात्रता आ जाती है।कहा है—

लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वामवभासकम्।
अपर-ज्ञान-लाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना ॥४७॥ (अ. श्रा. ११)

अर्थात् ज्ञानदाता त्रैलोक्य प्रकाशक केवलज्ञान भास्कर को पा लेता है फिर अन्य लाभ की क्या बात है! अर्थात् सकलज्ञ-सर्वज्ञ बन जाता है।

शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम्।
वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यात-शिक्षः प्रजायते ॥५०॥११॥

अर्थात्—"शास्त्र-सरस्वती-जिनवाणी को देने वाला पुरुष संतनि करि पूजनीय होय है, सभा का रंजायमान करने वाला वक्ता होय है, अर पंडितनि के सेवनीक होय है, वादीनि के जीतने वाला होय है, नवीन ग्रंथ रचने वाला होय है, कवि होय है, अर मानने योग्य होय है, अर विख्यात है शिक्षा जाकी ऐसा होय है"। अतः ज्ञानदान महान् है।

उन्नत बुद्धि के धारक भव्य जीवों को जो ज्ञानदान, भक्तिपूर्वक पुस्तकादि दान किया जाता है अथवा उनके लिए तत्त्व का व्याख्यान किया जाता है, उसे ही विद्वद्जन ज्ञानदान कहते हैं या श्रुतदान कहते हैं। इस ज्ञानदान के सिद्ध हो जाने पर कुछ थोड़े से भवों में मनुष्य केवलज्ञान की प्राप्ति कर लेता है जिसके द्वारा समस्त विश्व प्रत्यक्ष-साक्षात् देखा जाता है जिसके प्रकट होने पर, तीनों लोकों के प्राणी उत्सव की शोभा करते हैं। सागार धर्मामृत में कहा है—

आरोग्यमौषधाज् ज्ञेयं श्रुतास्यात् श्रुतकेवली॥

अर्थात् औषध दान से आरोग्यवृद्धि होती है और श्रुतदान से मनुष्य श्रुतकेवली हो जाता है। वर्तमान युगीन कलिकाल सर्वज्ञ, साक्षात् समवसरण में श्री सीमंधर स्वामी के प्रत्यक्ष दर्शन करने वाले परम ऋषीश्वर आचार्य परमेष्ठी श्री कुन्दकुन्द स्वामी को ८४ पाहुड़ का रचयिता बनाने वाला कौन है? श्रुतज्ञान ही तो है। कहाँ पामर, तुच्छ गोप पर्याय, ग्वाला का जीव

और कहाँ अध्यात्म रहस्य के ज्ञाता, तीक्ष्ण बुद्धि, आत्मान्वेषी कुन्द-कुन्द देव। भक्ति, श्रद्धा, संतुष्टिपूर्वक दिया गया उत्तम पात्र का दान वट-बीज की भाँति एक ही भव में फलित हो गया. आज यदि कन्दकुन्द का मार्गदर्शन हमें नहीं मिलता तो हम निरे अन्धकार में रह जाते। हमारी ज्ञान-चक्षुओं में उन्मेष के लिए, आपका सत्साहित्य ही सफल शलाका है।आपकी पूर्वभव की सम्पूर्ण कथा पुण्यास्रव कथाकोष में वर्णित है, वहाँ से ज्ञातव्य है।

सम्यग्ज्ञान, अल्प होने पर भी, परम्परा से मोक्ष का कारण है। मिथ्याज्ञान प्रभूत होने पर भी संसार दुःख का कारण है। अप्रयोजनीय हेय है। हीरा की कणी अत्यल्प भी बहुमूल्य प्राप्त करा सकती है, पाषाण गाड़ी भरा भी है तो अत्यल्प मूल्यदायी होता है। अभिप्राय यह है कि सम्यग्ज्ञान ही जीवनोपयोगी है, परन्तु वह शुद्ध रूप में होना चाहिये। आचार्य कहते हैं—

ज्ञान संसार का मूल है,
ज्ञान संसार का कूल है,
राग सहित प्रतिकूल है,
राग रहित अनुकूल है।

अर्थात् जो विद्या-ज्ञान राग-द्वेष की, अहंकार-ममकार की वृद्धि का कारण होता है वह नियम से आत्मा का घातक है।उसका पाना या देना दान की श्रेणी में नहीं आ सकता क्योंकि वह मिथ्यात्व का पोषक है, संसार का कारण है। दान में आत्मस्वरूप साधक वस्तु ही दातव्य कही है। सम्यक् ज्ञान अल्प भी आत्मानुभूति का कारण होता है। आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने लिखा है—

अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहितोऽन्यथा ॥९७॥

अल्पज्ञान (सम्यग्ज्ञान) मोह से मिश्रित है तो बन्ध का कारण है, मोह रहित होने पर वह स्वल्पज्ञान भी बंध का कारण नहीं होता। अल्पज्ञान भी मोहरहित होने से मोक्ष का कारण होता है। और इसके विपरीत मिथ्याज्ञानबन्ध का कारण है। मिथ्यात्व ही जीव का भयङ्कर शत्रु है।

उत्तम दातव्य वस्तु है और कुपात्र को अर्पण की तो बंजरभूमि में वपित बीज के समान विपरीतफल का कारण होता है।

यथा—

कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिषु।
संभुञ्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुष-कुलेषु वा॥११५॥ (ह. पु.)

अर्थात् कुपात्र में दान के फलस्वरूप मनुष्य अन्तर्द्वीपों में कुभोगभूमिज तिर्यञ्च या मनुष्यों

में जाकर जन्मता है। और भी कहा है—

कुपात्र-दानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम्।
उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते॥८४॥

येऽन्तर द्वीपजाः सन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजाः।
कुपात्र-दानतः सर्वे ते भवन्ति यथायथम् ॥८५॥

वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यञ्चाः सन्ति भूमिषु।
कुपात्रदान वृक्षोत्थं भुञ्जते तेऽखिलाः फलम् ॥८६॥

दासीदास द्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये।
कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥८७॥

दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह।
सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदयाः॥८८॥ (अमितगति श्रा.) ॥११॥

अर्थात् कुपात्र में दान के फल से मनुष्य कुभोगभूमि में जन्म लेता है। ठीक ही है, कुत्सित-अयोग्य भूमि में बोया गया बीज, सुयोग्यभूमि के बोये बीज के समान फलदायी नहीं होता। जितने भी जीव अन्तर्द्वीपों में और म्लेच्छ खण्डों में उत्पन्न हुए हैं; वे सब कुपात्र-दान के फलस्वरूप ही यथायोग्य फल के भागी हुए हैं। उत्तम, मध्यम, जघन्य, भूमियों में तिर्यञ्च भी कुपात्रदान रूपी वृक्ष के फलों को ही यथायोग्य भोगने वाले समझना चाहिये। दासी, दास, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ता आदि पर्यायों में इस कुपात्रदान से ही उत्पत्ति होती है। समस्त नीच कुलोत्पन्न जातियों में ही विभूति-वैभव देखा जाता है उस ऐश्वर्य का कारण भी कुपात्र दान है। विद्युत् की चमक सदृश यह विभूति स्वल्पकाल असत् सुख की झलक दिखलाकर नष्ट हो जाती है। यद्यपि थोड़ा-सा सुख, सम्मान प्राप्त होता है किन्तु वह क्षणमात्र में विलीन हो मोहतम का वितान तानकर विलीन हो जाता है। पुनः संसारचक्र परिभ्रमण और दुःख संतति परम्परा ज्यों की त्यों चालू रहती है। कुपात्र-दान से स्वल्प सांसारिक विषयसुख प्राप्त होता भी है किन्तु अपात्र को दिया दान तो निष्फल हो जाता है। पाषाण पर वपन किया बीज क्या उत्पन्न होगा? फूलेगा? फलेगा? नहीं। इसी प्रकार अपात्रदान की स्थिति है। आचार्यों ने कहा है—

अम्बु निम्बुद्रुमे रौद्रं कोद्रवे मदकृत् यथा।
विषं व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतितं तथा ॥११८॥(अ. ग. श्रा.)

अर्थात्—जिस प्रकार शीतल, मधुर, जल नीम के वृक्ष की जड़ में सींचने से कटुरूप परिणत हो जाता है, कोद्रव में जाकर मदोत्पादक बन जाता है तथा सुपाच्य, सुस्वादु पौष्टिक दुग्ध सर्प के मुख में विष रूप हो जाता है उसी प्रकार अपात्र को दिया द्रव्य योग्य-न्यायोपात्त होने पर भी, विपरीत हो जाता है, दुःख का कारण बन जाता है या यों कहें निष्फल हो जाता है। अथवा—

जह उसरम्मि खित्ते पइण्णवीयं ण किं पि रुहेइ।
फला वज्जियं वियाणइ अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥२४२॥

अर्थात् जिस प्रकार ऊसर-बंजर भूमि में बोया हुआ बीज नहीं जमता है, नहीं उगता है, उसी प्रकार अपात्र को दिया दान समझना चाहिये अर्थात् निष्फल होता है। इतना ही नहीं, अपितु, दुःख का कारण हो जाता है। दृष्टान्त के लिए देखिये, किमिच्छक दान के दाता एक दानी निजभक्त सेठ ने बिना विचारे किसी धीवर को दान दिया। उसने प्रतिदिन एक-एक रुपया पाकर कुछ दिन में एक जाल खरीद लिया। मछलियों को पकड़-पकड़ कर शिकारी जा बना। इधर मानो सेठजी की लक्ष्मी अपना दुरुपयोग देख रुठ गई और सेठ साहब के यहाँ दानों के लाले पड़ गये। पुण्य योग से एक दिन परम तपोधन वीतरागी मुनिराज के दर्शन मिले। उपदेश सुना। परम भक्ति से उनकी वन्दना, अर्चना कर अपनी दुःखद कथा सुनायी, उसका कारण और निर्वृत्ति का उपाय भी पूछा। परम दयालु मुनिराज ने बताया, 'हे भव्योत्तम! समस्त शुभकार्यों के सम्पादन में विवेक, सावधानी, यथायोग्य, विधि, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, दाता, पात्र आदि की अपेक्षा अनिवार्य है। आपने बिना विचारे धीवर को द्रव्य दान दिया। उसके यहाँ तुम्हारे द्रव्य का दुरुपयोग हुआ, क्योंकि उसने जाल बनाकर हिंसा कार्य किया। हिंसा पाप है, धर्म का घातक है। उसी पाप से आपकी यह हालत हुई है।" सुनकर सेठ अति भय भीत हुआ। मुनिराज ने पुनः कहा, 'वह जाल उसके यहाँ से ले आओ और ध्वंश कर दो तो पुनः आपका वैभव आपको प्राप्त हो जायेगा।' उसी प्रकार करने पर पुनः उसका व्यापार बढ़ने लगा। यश के साथ-साथ ऐश्वर्य भी वृद्धिगत हुआ। पूर्वापेक्षा अब वह सप्तक्षेत्रों में अपनी सम्पत्ति को लगाने लगा। नाना शास्त्रों को लिखवाया और साधु सन्तों, चतुर्विध संघ में वितरण किया। फलतः दानी के साथ ज्ञानी भी हो गया। मणि स्वयं मूल्यवान होती है, प्रशंसनीय होती है फिर आभूषण में जड़ गई तो कहना ही क्या है। इसी प्रकार दान के साथ ज्ञान रहने पर, वह महान फल को प्रदान करता है।

प्रत्येक दान के साथ दाता को नवधाभक्ति और सप्तगुणों से युक्त होना चाहिये। वर्तमान में प्रायः नवधा भक्ति आहार दान के साथ ही जुड़ी रह गई है, किन्तु अन्य दानों में भी आवश्यक है। यथा शास्त्र दान करते समय भी सुपात्र को सम्पादन कर, आह्वान कर, उच्च स्थान पर विराजमान कर पादार्चना पूर्वक, त्रियोग शुद्धि से उल्लासपूर्वक शास्त्र समर्पित करना चाहिये। शास्त्र भी परमम्पराचार्यों द्वारा रचित हो, आर्षानुकूल, आगम से अविरोधी विषय प्रतिपादक होना चाहिये। एकान्त पोषकग्रंथों का दाता और पात्र दोनों ही विपरीत फल के भागी होंगे क्योंकि मिथ्यात्व के पोषक-प्रतिपादक पोथा मिथ्यात्वी ही बनायेंगे, कारण उनके पास वही (मिथ्यात्व) है। पूज्यपाद स्वामी ने इसका बड़ा ही रोचक वर्णन किया है—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं-ज्ञानी समाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥(इ. दे.)

अर्थात् अज्ञानी की उपासना का फल अज्ञान और ज्ञानी की उपासना भक्ति का फल ज्ञानप्राप्ति होता है क्योंकि यह सुप्रसिद्ध है कि जिसके पास जो वस्तु होती है, वह वही वस्तु अन्य को देता है। जो जिसके पास है ही नही, वह अन्य को देगा ही कहाँ से? अस्तु, ज्ञानदान महान दान है। आत्मा का सार है। स्वानुभूति का मूल हेतु है। आत्मानुभव की कुञ्जी है। आत्मदर्शन का अमोघ उपाय है। जड़बुद्धि भी शास्त्र-दान के प्रभाव से प्रज्ञावान बन जाता है। जो दान, दाता, पात्र को स्वपर भेदज्ञानी बना दे वही दान ज्ञानदान की संज्ञा पाने का अधिकारी है। यह दान मोहमिथ्यात्वरूपी सघन अंधकार में टार्च का काम करता है। तत्वज्ञानी अपनी राह में भटक भी जाय तो दिग्विमूढ़ नहीं होता। उपसर्ग परीषह उसे पथभ्रष्ट नहीं कर सकते। अहंकार और ममकार उसके दूर होते जाते हैं। ज्ञानी ही ध्यानी बनता है। इसीलिए तो योगियों का भोजन 'ज्ञानामृत' कहा है। ज्ञान कोई पर पदार्थ नहीं, वह स्वयं आत्मा ही है, निज स्वभाव है। उसके प्रकट करने का उपाय ज्ञानदान है। ज्ञान क्या है?

येन तत्वं विबुध्यते, येन चित्तं निरुध्यते।
येन आत्मा विशुध्यते, तज्ज्ञानं जिनशासने॥

जो सम्यक् तत्व का बोध करावे, चंचल चित्तरूपी गज को अंकुश हो, मनरूपी उन्मत्त अश्व की लगाम हो, जिससे आत्मा उत्तरोत्तर शुद्धतम होता जाय उसे ही जिनशासन में ज्ञान कहा है। यह ज्ञानदान अल्प होते हुए भी महान फल का दाता होता है—

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छाया विभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥११६॥ (र. श्रा.)

ऋतु के अनुसार उचित समय पर बोया हुआ बट का बीज अतिलघु-छोटा सा होने पर भी महान विशाल वृक्ष का रूप धारण कर सघन छाया प्रदान करता है, अनेक पथिकों का श्रम हरण करने में आश्रयदाता बन जाता है उसी प्रकार सुपात्र में गया समयानुकूल अत्यल्प दान भी महाफल प्रदान करता है अर्थात् अल्पज्ञानदान महाविशालकाय केवलज्ञानरूपी वृक्ष को प्राप्त होकर स्वयं-ज्ञानी के साथ असंख्य भव्य प्राणियों का आश्रयदाता बन जाता है, अपनी सान्द्र-छाया में अनेकों ताप नाश कर, अजर-अमर शान्ति प्रदान करता है। आचार्यप्रवर सकलकीर्ति ने अपने श्रीपालचरित्र में ज्ञानदान की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है—

जिनोक्त-शास्त्रदानेन पात्रेभ्यः परमादरात्।
संभवेत् केवलज्ञानी सुभव्यः क्रमतो ध्रुवम् ॥४९॥

जो भव्यात्मा जिनोक्त-जिनेश्वर प्रणीत शास्त्र—आगम का दान करता है, सत्पात्रों को वितरण करता है, परम आदर से भक्ति श्रद्धा से समर्पित करता है, वह सुनिश्चित रूप से केवलज्ञानी हो जाता है। यहाँ जिनोक्त शब्द अत्यन्त विवेचनीय और विचारणीय है। इससे समस्त एकान्त प्ररूपक पोथा मात्र थोते सिद्ध हो जाते हैं। कलह, विसंवाद, वितण्डावाद पैदा करने वाले समाज

में विद्रोह उत्पन्न करने वले संगठन का विघटन करने वाले, मनोमालिन्य के वर्द्धक, जाति कुल परम्परा का लोप करने वाले शास्त्र, व्याख्यान, प्रचार, प्रसारक सामग्री न देय हैं और नही ज्ञानदान की कोटि में आ ही सकते हैं। वर्तमान युग एक ऐसी नाजुक पटरी से गुजर रहा है कि हर क्षण गाड़ी उलटने की संभावना बनी हुई है। इसलिए हमें दाता और पात्रों का विशेष रूप से स्वरूप जानना आवश्यक है। दातव्य वस्तु का परिज्ञान भी उतना ही जरूरी है। नाम के लिए दानकर्ता यथार्थ फल का दाता नहीं हो सकता है। दान तो वह है जो दानी को विनीत बना दे। उसी रूप को प्रकट करने वाला होता है सच्चा दान। आचार्य लिखते हैं—

दातुमिच्छति चेद्दातुः सदयादभयपूर्वकम्।
दानं सर्वजनानन्दं संसारच्छेदन-क्षमम्॥

हे भव्यात्मन्! यदि दान देना चाहते हैं तो अभयपूर्वक सर्व जनों को आनन्द देने वाला और संसार का उच्छेद करने में समर्थ हो ऐसा दान देना चाहिये। दान-परम्परा को देखकर मिथ्यात्वी भी हर्षित हो, प्रभावित हो मिथ्यात्वरूप विष का वमन कर दें। ज्ञानदान इस प्रकार का होना चाहिये जो सद्बोध जागृत करने में समर्थ हो। वह सद्बोध कैसा है?

येन आत्मा बुध्यते तत्वं, मनो येन निरुध्यते।
पापात् विमुच्यते येन, तज्ज्ञानं ज्ञानिनो विदुः॥२॥

येन रागादयो दोषाः प्रणश्यन्ति द्रुतं सताम्।
संवेगाद्याः प्रवर्द्धन्ते, गुणा ज्ञानं तदूर्जितम् ॥३॥

येनाक्षविषयेभ्योऽत्र विरज्य शिववर्त्मनि।
ज्ञानी प्रवर्तते नित्यं, तज्ज्ञानं जिनशासने ॥४॥ (मू. प्र. अधि. ६)

अर्थात् जिस ज्ञान से आत्मा तत्वबोध पा सके, मनोविकारों का निरोध कर एकाग्रध्यान सिद्धि में समर्थ हो, पाप से अपना रक्षण कर सके ज्ञानियों ने उसे ही यथार्थ ज्ञान कहा है।

जिससे शीघ्र ही रागादि दोषों का नाश हो जाये, संवेगादिगुणों की वृद्धि होवे, उसे यथायोग्य सद्ज्ञान कहते हैं। जिससे इन्द्रिय विषयों से विरक्ति हो, मोक्षमार्ग पर आरुढ़ हो सकें, निरन्तर ज्ञानपूर्वक सत्पथ पर प्रवर्तन होता रहे, जिन शासन-में उसे ही सच्चा ज्ञान कहा है। जो ज्ञानदान दाता और पात्र दोनों को इस प्रकार का आत्मज्ञान प्रकाशित करे वही सार्थक है। अतः हमें 'विधि द्रव्य-दातृपात्र विशेषात्तद्विशेषः। (त., सू. सू. ३९ अध्या. ७) 'अधिकस्य अधिकं फलम्' के अनुसार प्रत्येक सद्गृहस्थ को ज्ञानदान करना परमावश्यक है।

अभयदान एवं करुणादान

❑ डा. सुशील जैन

आचार्य प्रणीत चार प्रकार के दानों में अभयदान और करुणादान सर्वोपरि हैं, क्योंकि प्राणियों की रक्षा करना, उनके प्रति सदैव करुणा का भाव रखना अभयदान का मुख्य अंग है। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं, जो मरने की आकांक्षा रखता हो चाहे वह पुरुष हो, बालक हो, पशु हो या अन्य जीवधारी। सभी प्राणी जीवन चाहते हैं, अतः छह काय के जीवों के प्रति मन, वचन और काय से एवं भगवान् महावीर का सन्देश "जीओ और जीने दो" को अंतःकरण में रखते हुए किसी भी जीव के प्रति पीड़ा नहीं पहुँचाना, उनकी आत्मा का घात नहीं करना ही अभयदान है। हिंसा का जहाँ लेश मात्र भी भाव नहीं रहता वहीं अहिंसा है। अहिंसा विनय की जननी है। इसमें बुद्धि और बोधि दोनों है। जहाँ ज्ञान नहीं, विवेक नहीं, वहाँ अहिंसा नहीं। माता की गोद के समान अहिंसा समस्त प्राणियों को अभयदान प्रदान करने वाली है। इस शब्द की मधुरता को चखकर प्राणियों के परस्पर वैरभाव का उपशम होता है। वैरभाव की निवृत्ति से हृदय में शक्ति की शीतल नदी प्रवाहित होती है।

हमारे परम पूज्य वीतराग दिगम्बर मुनिराज इसी कारण पिच्छि-कमण्डलु को धारण करते हैं। क्योंकि ये संयम की रक्षा के अंग हैं। बिना पिच्छि के जीव-रक्षा करना असम्भव है। इसलिए वे मार्ग में जाते समय जमीन को देखते हुए चलते हैं कि कोई भी जीव उनके पैरों तले न आ जाये। उनके अन्तरंग में हमेशा करुणा की भावना विद्यमान रहती है। जिस प्रकार प्रखर सूर्य की रश्मियों से संतप्त जगत् को शीतांशु (चन्द्रमा) अपनी रश्मियों द्वारा निरपेक्ष शीतलता देता है उसी प्रकार महान पुरुषों का स्वभाव है कि वे संसार-ताप से संतप्त प्राणियों की पीड़ा को हरण कर एवं दुःखों को दूर कर अभयदान प्रदान करते हैं। अभयदान को सर्वोत्तम बताते हुए पंचतंत्र में इसका वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है—

> न गौप्रदानं न मही प्रदानं, न चान्नदानं हि तथा प्रधानं।
> यथा वदन्तीह बुधा-प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्॥

अर्थात् सभी प्रकार के दानों में अभयदान को विद्वान् लोग जितना श्रेष्ठ बतलाते हैं उतना श्रेष्ठ न गौ दान ही है, न भूदान ही और न अन्नदान ही। यहाँ तक कहा है कि सुमेरु पर्वत के बराबर स्वर्णदान से जिस पुण्य की प्राप्ति होती है, अभयदान के प्रभाव से उससे भी सविशेष पुण्य की प्राप्ति होती है।

एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः।
परं फलं तु पूर्वजं-कृषेश्चिन्तामणेरिव॥ (षट्प्राभृत)

एक ओर अकेली जीवदया और दूसरी ओर समस्त क्रियायें रखी जावें परन्तु उत्कृष्ट फल जीव-दया का ही होगा। जिस प्रकार एक ओर अकेला चिन्तामणि रत्न रखा जावे और दूसरी ओर समस्त खेती परन्तु उत्कृष्ट फल चिन्तामणि का ही होता है। अतः प्राणियों की रक्षा कर उत्कृष्ट फल के भागीदार बनें। जहाँ भी हिंसा हो रही हो वहाँ रोकने का प्रयत्न करें। क्योंकि हिंसा भय से उपजती है। जब मनुष्य मृत्यु से भयभीत हो जाता है, तो वह अपने आपको सुरक्षित एवं चिरंजीवी बनाने के लिए लोभ में आकर, दूसरों की हिंसा करता है। अहिंसा की निर्मलता परिग्रह के आधिक्य में टिक नहीं सकती। जितना अधिक परिग्रह का विकास होता जाता है, उसका प्रतिफल उतना ही अधिक बढ़ जाता है इसीलिए आचार्यों ने कहा है—

रागदीनामनुत्पादः अहिंसकत्वमिति देशितं समये।
तेषां चेद् उत्पत्तिः हिंसा इति जिनैर्निर्दिष्टा॥

अर्थात् राग आदि की उत्पत्ति हिंसा है और उसकी अनुपस्थिति अहिंसा है. अहिंसा हमारे जीवन में निर्भयता उत्पन्न करती है। भगवान् महावीर ने निर्जन वन में, यक्ष दुर्देव्य के उपसर्गों को अविचलित मन से सहन किया। महावीर की उपस्थिति चण्कौशिक (श्वेताम्बर कथानुसार सर्प) अपने क्षेत्र में नहीं देख सका, उसके हिंसा के परिणाम प्रचण्ड रूप धारण कर गये और उत्तेजित होकर महावीर के पैरों में दंश करने लगा, डंक मारता रहा परन्तु उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, हिंसा को अहिंसा के सामने झुकना पड़ा। अहिंसा की विजय हुई। हिंसा और अहिंसा का माहात्म्य बतलाते हुए आचार्य कहते हैं।

हीनोऽपि निष्ठया निष्ठा गरिष्ठः स्यादहिंसया।
हिंसया श्रेष्ठनिष्ठोऽपि श्वपचादपि हीयते ॥१०१॥ (धर्मा अ. १०१ द्वि.)

व्रतादि के अनुष्ठानरूप निष्ठा से हीन व्यक्ति द्रव्य और भाव हिंसा के त्याग से निष्ठाशाली होता है और उत्कृष्ट निष्ठा वाला भी व्यक्ति हिंसा करने से चाण्डाल से नीच होता है।

जो फल प्राणियों को दया देता है वह चारों वेद भी नहीं देते और न समस्त यज्ञ ही। तमाम तीर्थों की स्नान-वन्दना भी वह फल नहीं दे सकती। बड़े-बड़े दान का फल भी कुछ काल में क्षीण हो जाता है किन्तु भयभीत को अभयदान का फल कभी भी क्षीण नहीं होता। एक हजार गायों को ब्राह्मणों को दान देने का वह फल नहीं जो एक जीव को जीवनदान देने का है। इष्ट वस्तु का दान, बड़े-बड़े तपों का तपना और तीर्थों की सेवा करना यह सब अभयदान के सोलहवें भाग के समान हैं, स्वर्ण, गौ, पृथ्वी आदि के दाता तो बहुत हैं परन्तु प्राणियों को अभयदान देने वाले विरले ही होते हैं। जिनको प्राणियों पर दया नहीं उनके लिए आचार्य कहते हैं।

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ॥६॥

जिसे प्राणियों पर दया नहीं, उसके समीचीन चरित्र कैसे हो सकता है? क्योंकि जीवों को मारने वाले की देव-पूजा, दान, स्वाध्याय आदि कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती। जिस प्रकार तुम्बी को अनेक तीर्थों को स्नान करा दिया जावे परन्तु उसका कड़वापन फिर भी समाप्त नहीं होता उसी प्रकार दयाहीन मनुष्य अनेक तीर्थों की वन्दना कर आये, त्रिवेणी नहाये परन्तु उसकी क्रिया फलदायक सिद्ध नहीं होती।

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु।
निर्दयस्तत्फलैर्दीनः पीनश्चैकां दयां चरन् ॥८॥ (धर्मा. चतुर्थ अ.)

निर्दय मनुष्य चिरकाल तक तपस्या करे, खूब व्रत करें, दान देवे, किन्तु उस तप, व्रत, और दान के फल से वह दरिद्र ही रहता है उसे उसका किंचित् भी फल प्राप्त नहीं होता, और केवल एक दया को पालने वाला उसके फल से पुष्ट होता है। दया को धर्म का मूल कहा है और मूल को कन्द भी कहते हैं। कन्द में ही अंकुर फूट कर, पत्र फली आदि निकलते है। इन सबके समूह को कदली कहते हैं। जिस प्रकार कन्दली कन्द का कार्य है उसी प्रकार दया का कार्य सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र जीवदया में से ही प्रस्फुटित होता है। अतः दयालु मनुष्य अपने स्वभाव को सुरक्षित रखने के लिए सभी परिग्रहों का त्याग करता है, क्योंकि परिग्रह दयाभाव के शत्रु है और उसको धारण करने पर हिंसा की उत्पत्ति होती है।

आगम में रागादिक अनुत्पत्ति को अहिंसा और रागादिक उत्पत्ति को हिंसा कहा है, यह जिनागम का सार है। अतः उत्कृष्ट दया अहिंसा ही है। दया में से ही अहिंसा की भावना प्रस्फुटित होती है। वही अहिंसा के रूप में विकसित होती है।

जैसे कोई चोर किसी के घर धनादि की सम्पत्ति के लिए चोरी ही नहीं करता अपितु परिवार के सदस्यों को बाधा उपस्थित होने पर मार भी डालता है उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मनुष्य की बुद्धि को युक्तायुक्त विचार से भ्रष्ट ही नहीं करती किन्तु दया भाव से भी भ्रष्ट कर देती है।अतएव हमें अन्तरंग में करुणा भाव की उत्पत्ति कर प्राणियों पर पर दया करनी चाहिए।

एक बार गणेशप्रसाद जी वर्णी सागर विद्यालय के तीसरे खण्ड की कोठरी में बैठे अध्ययन कर रहे थे। उस समय वे ब्रह्मचारी थे। बाहर सड़क से उठते कोलाहल और लोगों की भीड़ से उन्हें ज्ञात हुआ कि सड़क के किनारे तीन फीट गहरी खाई में एक गधा गिर पड़ा है और निकलने के लिए छटपटा रहा है लोग चिल्ला रहे थे कि बेचारा गधा मरा जा रहा है पर उसकी सहायतार्थ कुछ नहीं कर रहे थे। वर्णीजी ने अतिशीघ्र सड़क पर आकर कुछ साथी विद्यार्थियों के सहयोग से, उस बेचारे गधे को संकट से मुक्ति दिलायी। बाहर निकलते ही गधा प्रसन्नता

से कूदता फाँदता भाग गया। वर्णीजी जिस कोठरी में अध्ययन कर रहे थे उसका द्वार छोटा था, सिर्फ साढ़े चार फीट ऊंचा। अतः शीघ्रतापूर्वक बाहर निकलने में, उनका सिर टकरा गया, जिसके कारण चोट लगे स्थान से खून बहने लगा था, परन्तु उस समय उसकी कोई चिन्ता नहीं की, गधे को बाहर निकालने के बाद ही अपने सिर की मरहम पट्टी की। बचपन से उनमें करुणा की भावना, प्राणी मात्र के लिए कूट-कूट कर भरी थी। हमें भी वर्णी जी के कार्य से शिक्षा ग्रहण करते हुए, दूसरे प्राणियों के लिए बिना स्वार्थ सहायता करनी चाहिये।

किसी साधु पर ध्यान करते समय, यदि कोई उपसर्ग या परीषह आ जाये तो उसे दूर कर देने से साधु का ध्यान निर्विघ्न होता है। इससे वह सनाथता अनुभव करता है कि उसकी भी कोई चिन्ता करने वाला है। इससे ग्लानि दूर होकर, निर्विचिकित्सा अंग का पालन होता है और वात्सल्य बढ़ता है।

अहिंसा और दया ही धर्म का मूल है, सुखानन्द की बेल है। यह बेल सूख गयी तो जीवन मे फिर क्या बचेगा? हिंसा नरक का रास्ता है; कहा भी है—

> दया सुखानी वेलड़ी, दया सुखानी खान।
> अनन्तजीव मुक्ति गया, दया तणा फल जाण॥
>
> हिंसा दुखनी वेलड़ी, हिंसा दुःख की खान।
> अनन्ता जीव नरक गया, हिंसा तणा फल जाण ॥

आज कुछ लोग स्वयं अपने को और अपने संबंधियों को सुखी करने और दुःख दूर करने की इच्छा से मिथ्यात्वी आचार्यो की वाणी मानकर हिंसा करते हैं। अहिंसा-प्रेमियों को उनसे दूर रहना चाहिये, क्योंकि वह तो नरक के पात्र हैं।

धर्मवीर पाप से दूर रहते हैं और सम्यक् पुरुषार्थ करके क्रोध, भय आदि को जीतते हैं। वे प्राणियों की हिंसा नहीं करते बल्कि पाप से विरक्त रहकर पूर्ण सुखी रहते हैं। अतएव हमें नियमपूर्वक दीनदुःखी, अन्धे-लंगड़े आदि को दयापूर्वक भोजन वस्त्र आदि देना चाहिये। यह करुणादान है और विष, वेदना, शास्त्राघात आदि के भय से भयविह्वल दीन-दुःखी प्राणियों की रक्षा करना अभयदान है। दान से ही संसार में गौरव प्राप्त होता है। जैसे कुएँ से जल निकालने से वह बढ़ता है वैसे ही धन दान से बढ़ता है।

आजकल मांसभक्षण के साथ-साथ हत्या होना शुरू हो गयी है। यह हत्या किसी चींटी, बकरी के बच्चे की अथवा गरीब व्यक्ति की नहीं अपितु सह-हत्या है। मनुष्य के अपने पुत्र-पुत्रियों की हत्या-जिसे बहुत से व्यक्ति जाने और अनजाने कर रहे हैं।इसका मुख्य कारण है दहेज की समस्या। आज हमारे देश समाज में, दहेज की समस्या विकृत हो चुकी है। दहेज की बढ़ती मांग को पूरा करने मे मध्यम एवं निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने आपको असमर्थ पाते हैं और वे नहीं चाहते कि उनके यहाँ लड़की पैदा हो। दूसरे, हमारे समाज में शुरू से ही लड़के और

लड़की को अलग-अलग समझा जाता है। उनके अन्दर छोटी उम्र में ही, यह बात बिठा दी जाती है कि तुम लड़के हो, और तुम लड़की। जहाँ लड़के के पैदा होने की खुशियाँ मनायी जाती हैं वहाँ लड़की होने पर कोसा जाता है। ऐसी हालत में लड़की यह समझने लगती है कि उसका जन्म गलती से हो गया है और वह उस सब की हकदार नहीं है जिसका हकदार एक लड़का है। पराया धन समझकर सारे कार्य कलाप इस ढंग से किये जाते हैं कि वह कल की शादी करके अपने घर चली जायेगी। फिर कौन बचेगा जो बुढ़ापे में सहारा बनेगा। इन्हीं सब त्रुटियों को देखते हुए भ्रूण-हत्या की प्रथा चरम सीमा पर पहुँच गई है। जैन लोग भी इस हत्या से पीछे नहीं हैं, इनकी संख्या इतनी है कि पाठक अपने-अपने परिवार का निरीक्षण स्वयं कर लें कि कहीं मेरा नाम तो इस श्रृंखला में सम्मिलित नहीं हैं।

भ्रूण-परीक्षण के दौरान यदि पता चल जाये कि भ्रूण लड़के का है तो ठीक, यदि लड़की का हो तो ऐसी स्थिति में बहुधा जीव-हत्या का जघन्य अपराध किया जाता है। भ्रूण को नष्ट कर दिया जाता है और इस विषय में उत्कृष्ट साधु-श्रावक आपत्ति करें तो कहने लगते हैं कि आजकल धर्म में परिवर्तन करना आवश्यक है।

मैं चाहूँगा, इस संदर्भ में कुछ दिल दहलाने वाली बातें हैं जिसे हम सभी ध्यान में रखकर उस पर अमल करें. कुछ समय पूर्व अमेरिका में ३८ मिनट की 'साइलेण्ट स्क्रीम' नाम की फिल्म ने गर्भपात करने वाले और करवाने वाले लोगों को गहरे सोच में डाल दिया है। इस फिल्म के कारण वहाँ की जनता में तीव्र जागृति उत्पन्न हुई है। इस फिल्म में यथार्थ रूप से दिखाया गया है कि माँ के गर्भ में पल रहा भ्रूण अपनी हत्या के समय मरते-मरते कैसे चीखता है।

'साइलेण्ट स्क्रीम' नामक इस फिल्म ने यह सिद्ध कर दिया कि भ्रूण कितनी ही उम्र का क्यों न हो, उसमे प्राण-संचार हो चुका होता है इसलिए उसकी हत्या करना एक मनुष्य की हत्या करने के समान है। Right of Life (जीवन का अधिकार) नाम की संस्था ने मानवता को जगाने वाली प्रभावशाली फिल्म की बहुत सराहना की है। 'मारल मेजारिटी' अर्थात् 'नैतिक बहुमत' नाम की संस्था के 'रेवेरेण्ड जेर फारवेल' कहते हैं– "इस फिल्म की मदद से हम गर्भपात के हत्यारे काम को बन्द करवा सकेंगे।"

इन सब दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए अन्त मे यह कहना चाहूँगा कि मांस का त्याग करें। प्राणियों की रक्षा कर उन्हें भय से मुक्त करायें। "सत्त्वेषु मैत्री" की भावना को ध्यान रखकर सच्चे श्रावक बनें और आत्म-कल्याण के लिए ज्ञान की सच्ची उपासना करें।

हमारे भारत वर्ष में जो कल्पित गुण बताकर मांस व अण्डे खाने का प्रचार सरकारी स्तर पर हो रहा है यह उचित नहीं। मानव-जीवन को गुमराह बनाने का एक प्रकार का असत्य प्रचार किया जा रहा है जिसके कारण हिंसा को बढ़ावा प्राप्त हो रहा है। प्राणी मात्र भय से त्रसित हैं, दुःखी है इसलिए ऐसे अपराधों को रोकें और प्राणियों को अभयदान व करुणादान प्रदान करें।

◇◇◇

रात्रिभोजन त्याग : एक वैज्ञानिक अध्ययन

❑ डा. ज्ञानचन्द जैन

जैन साधु बार-बार उपदेश देते हैं कि जीवों की रक्षा हेतु हमें दिन में ही भोजन कर लेना चाहिये पर आधुनिक विज्ञान के पाठी कितने ही जैन ऐसे कुतर्क उठाते देखे सुने जाते हैं कि प्राचीन काल में बिजली आदि के तेज प्रकाश का अभाव था, सो उस समय दिन में भोजन कर लेना उचित था, पर वर्तमान में अत्यधिक तीव्र प्रकाश के साधन उपलब्ध होने से रात में भोजन कर लेने से जीवों का घात नहीं होता। सो यह मन्तव्य दोषपूर्ण एवं अवैज्ञानिक है।इस तथ्य को भली प्रकार समझने हेतु हमें विभिन्न प्रकार के प्रकाशों का अध्ययन करना होगा।

प्रकाश हमें सूर्य से, चन्द्र से, ताराओं आदि से, बिजली के बल्ब से, गैस जलाने से, मोमबत्ती से एवं और भी कई साधनों से प्राप्त होता है। यह सभी प्रकार वास्तव में इकाई या ELEMENT नहीं है, वरन् स्कंध या मिश्रण या COMPOUNDS हैं। एक तिकोने काच या PRISM की सहायता से हम प्रत्येक प्रकाश के अंशों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जब हम सूर्य के प्रकाश की एक किरण को प्रीज्म से गुजारते हैं, तो वह किरण क्रम से नौ अशों में विभाजित हो जाती है। इन नौ के नौ अंशों को स्पेक्ट्रम (SPECTRUM) कहते हैं। इन नौ अंशों में बीच के सात अंशों को हम लाल-पीले-नीले-बैंगनी आदि रंग की किरणें के रूप में आँख से देख सकते हैं, पर किनारे के दो अंश देखे नहीं जा सकते। इन दोनों के सद्भाव का निर्णय इनकी गर्मी को महसूस करके किया जा सकता है। लाल रंग की किरण के बाहर का अंश इंफ्रारेड (INFRARED) और बैंगनी किरण के बाहर का अंश अल्ट्रा वायलेट (ULTRA-VOILET) कहा जाता है। बीच की सातों रंगीन किरणों के रंग ठीक वही हैं जो आकाश में बनें इन्द्रधनुष मे होते हैं। यह सब की सब किरणें गरम नहीं हैं।

मनुष्य एवं पशुपक्षी व पेड़-पौधे जो भोजन खाते हैं, उस का पचना पूर्व कथित दोनों गर्म स्वभाव वाली किरणों पर निर्भर है। सूर्य के प्रकाश को छोड़कर जब अन्य स्रोतों से प्राप्त प्रकाशों का स्पेक्ट्रम बनाते हैं तो पाते हैं कि चाँद व तारों के प्रकाश में और ट्यूब लाइट आदि के प्रकाश में पूर्व कथित दोनों गर्म किरणें है ही नहीं। कार्बन या आर्क लैम्प के प्रकाश में एक वैल्डिंग के प्रकाश में वे किरणें बहुत कम शक्ति की रहती है। कम शक्ति की इन्फ्रारेड और अल्ट्रा वायलेट भोजन पचाने में सहायक नहीं हो सकतीं।

रिफ्रैक्शन आफ लाईट (REFRACTION OF LIGHT) के कारण यह पाया गया है

कि सूर्य अपने वास्तविक उदय-काल से एक मुहूर्त (४८ मिनिट) पहले दिखने लग जाता है और वास्तविक अस्त-काल के एक मुहूर्त पश्चात् भी दिखता रहता है। अतः यह सिद्ध है कि उपरोक्त दोनों गर्म किरणें सूर्य के उदय के ४८ मिनिट पश्चात् पृथ्वी पर आती हैं और सूर्य-अस्त के ४८ मिनिट पहले ही पृथ्वी पर आना बन्द हो जाती हैं। इन कारणों में से प्रत्येक जीव को दिन मे खाना खा लेना चाहिये। सूर्य उदय के ४८ मिनिट पश्चात् और सूर्य अस्त के ४८ मिनिट पूर्व खाना ग्रहण कर लेना चाहिये। ऐसा करने से भोजन पूर्ण रूप से हजम होगा और शरीर बलवान बनेगा।

आपने सुना होगा कि वैष्णव विद्वान् सूर्य ग्रहण के काल मे भोजन करने का निषेध करते हैं। इस का वैज्ञानिक पहलू यही है कि सूर्यग्रहण के वक्त सूर्य से किसी भी गरम किरण की प्राप्ति नहीं होती। अतः हमारा हित इसी में है कि हम केवल सूर्य के सद्भाव मे ही भोजन करें। कितने ही जैन रात में केवल अन्न से बने पदार्थों का ही त्याग करते हैं, दूध के बने पदार्थ और फल मेवा आदि खा लेते हैं। सो कोशिश यह होनी चाहिये कि सभी खाद्यों का रात मे त्याग रहे।

यह धारणा भी भ्रामक है कि बल्ब आदि के अत्यधिक प्रकाश मे जीवों का घात नहीं होता, सो रात को तेज रोशनी में भोजन कर लेना चाहिये। परीक्षण से पाया गया है कि कितने ही कीट पतंग ऐसे हैं जो सूर्य के प्रकाश में सक्रिय नहीं होते। सूर्य-अस्त पर यह सक्रिय हो जाते हैं। रात में भोजन करने पर ये कीट-पतंगे भोजन मे गिर कर स्वयं मरते हैं और हमारे स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं।

अस्तु : रात में भोजन करने से न केवल अन्य जीवों का घात होता है वरन् अपने निज स्वास्थ्य की भी हानि होती है। इसलिए रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिये। इस त्याग से स्वास्थ्य की रक्षा तो होगी है, साथ में व्रताचरण के प्रति एक कदम भी उठेगा।

रात्रिभोजन त्याग

❑ *वैद्य मोतीलाल जैन*

जैन समाज मे कुल परम्परा से यह जातीय संस्कार चला आ रहा है कि जैन लोग रात्रि में भोजन नहीं करते हैं। यह संस्कार धार्मिक होते हुए शारीरिक दृष्टि से भी बहुत लाभदायक है। हैजा आदि संक्रामक रोगों से मरे हुए मनुष्यों की सरकारी रिपोर्ट देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्हीं जातियों की मृत्यु संख्या अधिक पायी जाती है जिन जातियों में रात्रि भोजन की प्रथा है। ऐसे संक्रामक रोगों के शिकार नियमित रूप से दिन में भोजन करने वाले जैनी लोग बहुत ही कम होते हैं।

इसी प्रकार समाचार पत्रों में भी प्रायः देखने मे आता है कि अमुक ग्राम में भोजन करते समय इतने आदमी बेहोश हो गये या इतने आदमियों की मृत्यु हो गयी। जब भोजन की सामग्री देखी गई तो उस में मरी हुई छिपकली पाई गई या मरा हुआ सर्प पाया गया। इसीलिए यह बात स्पष्ट है कि रात्रि में भोजन सामग्री न दिखने से रात्रि भोजन करने वालों में ही प्रायः ऐसी घटनाएँ घटित हुआ करती है।

वैज्ञानिकों ने भी यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है कि सूर्य के प्रकाश और रश्मियों में ऐसी शक्ति है जो सूक्ष्म कीटाणुओं को नष्ट करके नवीन कीटाणुओं की उत्पत्ति में बाधक होती है और इस बात का सभी लोगों को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव ही होता है कि सूर्य के अभाव में रात्रि के समय डांस, मच्छर, खटमल, मकड़ी, झींगुर, सांप, बिच्छू आदि कितने ही भयानक जीवों का संचार देखा जाता है जो कि दिन के समय में इधर-उधर छिपे पड़े रहते हैं और रात्रि होते ही निकल आते हैं। रात्रि के समय भोजन करने से इन जीवों के गिरने की प्रायः संभावना रहती है। अतः दिन में ही भोजन करना चाहिये।

वैज्ञानिकों की मान्यता है कि ऑक्सीजन गैस प्राणवायु होती है और कार्बन गैस शरीर के लिए हानिकारक होती है। दिन के समय में मनुष्य ऑक्सीजन को श्वास द्वारा खींचतें हैं और शरीर के अन्दर कार्बनडाई-आक्साइड को निकलाते हैं तथा वृक्ष दिन में श्वास के द्वारा कार्बनडाई आक्साईड को खींचते हैं और उसे शुद्ध ऑक्सीजन बना कर छोड़ते हैं जिससे वायुमण्डल शुद्ध रहता है। किन्तु रात्रि के समय में वृक्ष भी कार्बन छोड़ते हैं अतः रात्रि के समय वायुमंडल दूषित हो जाता है। अतः रात्रि में स्वास्थ्य की दृष्टि से भी भोजन नहीं करना चाहिये।

जिस जगह सूर्य की किरणें और प्रकाश नहीं पहुँचता वह असंख्यात् जीवों की उत्पत्ति

मानी गई है। यही कारण है कि जमीन के अंदर अंधकार में होने वाले आलू, मूली, अरबी, आदि कंदमूलों में असंख्यात जीव होने से उनका जैन धर्म में त्याग बताया है। रात्रि, अंधकारमय तामसी होती है। अतः उस समय असंख्यात जीव स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने से भी रात्रि के समय भोजन नहीं करना चाहिये।

वर्तमान में सूर्यरश्मि चिकित्सा अच्छी विश्वस्त चिकित्सा मानी गई है। तपेदिक, वातरोग आदि अनेक कष्ट साध्य रोगों मे सूर्यकिरण चिकित्सा बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है। जबकि सूर्य की उपस्थिति से कष्ट साध्य रोगी भी स्वस्थ हो जाते हैं तो तन्दुरुस्त मनुष्यों को तो दिन के समय में खाया हुआ भोजन स्वास्थ्यकारक होगा ही।

प्रायः देखा जाता है कि हर तरह के रोगी का रोग रात्रि के समय बहुत तकलीफ देता है। जिस रोगी का दिन बहुत सहूलियत से बीत जाता है उसको रात्रि का मिनट मिनट गुजारना कठिन होता है, क्योंकि रात्रि तामस होने से सब रोगों को बढ़ाने वाली होती है और दिन सात्विक होने से फायदा पहुँचाने वाला होता है। अतः यह बात कुदरती रूप से अनुभूत है कि फायदे की दृष्टि से भोजन का समय भी दिन है और रात्रि में भोजन करना हानिकारक है।

यदि बिजली या गैस के लैम्प आदि के स्पष्ट प्रकाश में भोजन करने से मच्छर आदि आंखों से दिखने वाले स्थूल जीवों का पतन नहीं भी हो तो रात्रि के समय सूर्य के अभाव से सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति स्वाभाविक मानी गई है। अतः उन सूक्ष्म जीवों का भोजन से निवारण करना अशक्य होने से रात्रि भोजन करना सर्वथा त्याज्य है।

कौवा, चील, कबूतर आदि मनुष्य की तरह दिन में परिश्रम करने वाले पक्षीगण प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए दिन के समय ही खाते-पीते हैं। रात्रि होते ही सब शान्त होकर अपने नियत स्थानों पर बैठ जाते हैं।इस प्रकार प्राकृतिक नियमों का पालन करने के कारण ही वह प्रायः स्वस्थ रहते हैं। इन से विपरीत राक्षसों की तरह रात्रि में विचरने वाले चमगीदड़ उल्लू आदि ही रात्रि के समय खाते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि रात्रि के समय ही राक्षस, भूत, पिशाच आदि का संचार होता है और कई बार रात्रि का भोजन उनके द्वारा दूषित भोजन को खाने से मनुष्य बीमार हो जाता है।

हमारे शरीर में सात्विक, राजस और तामस इस प्रकार तीन गुण माने गये हैं। यह गुण मानसिक हैं। इनमें से सात्विक तो प्राकृतिक और रजस, तामस, वैकृतिक माने गये हैं। दिन में भोजन करने से प्राकृतिक सात्विक गुण की वृद्धि होती है। जिस से ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति, धृति, सत्य और आस्तिक्य रूप परिणाम रहते हैं तथा रात्रि में भोजन करने से तामस गुण की वृद्धि होने से क्रूरता, विषाद, अधर्म, अज्ञान और आलस्य रूप राक्षसी परिणाम रहते हैं। रात्रि भी तो अंधकारमयी होने से तामसी मानी गयी है। अतः उस समय खाया हुआ भोजन

तामसी परिणामों को बढ़ाने वाला होना स्वाभाविक ही है।

प्रसिद्ध विद्वानों का कहना है कि भोजन में कीड़ा-मकोड़ा खा जाने से बुद्धि और बल का नाश होता है। मकड़ी खा जाने से कोढ़ (कुष्ठ) पैदा हो जाता है। जू खा जाने से जलोदर हो जाता है। फांस खा जाने से गले में पीड़ा हो जाती है। बाल खा जाने से स्वरभंग हो जाता है। मक्खी खा जाने से विसर्प और बिच्छू खा जाने से तालु में छेद हो जाता है। रात्रि के समय भोजन करने से इस सब का भोजन में पड़ना प्रायः संभव रहता है। अतः रात्रि के समय भोजन नहीं करना चाहिये।

धार्मिक दृष्टि से ही भोजन का समय सुबह करीब १० बजे और शाम को करीब ५.३० बजे माना गया है। आयुर्वेदिक दृष्टि से भी भोजन का समय सुबह शाम माना गया है। इसी विषय में आयुर्वेद के प्रसिद्ध ऋषि सुश्रुत ने लिखा भी है कि—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुति चोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥

अर्थात् श्रुति (वेद) में मनुष्यों के भोजन का समय सुबह और शाम को कहा गया है। जिस प्रकार यज्ञ, तप आदि ठीक समय पर किये जाते हैं उसी प्रकार व्यवधान न करके प्रातः सायं ठीक समय पर भोजन कर लेना चाहिये।

सारांश यह है कि रात्रि भोजन इस भव में अजीर्ण, अग्निमान्द्य और हैजा आदि अनेक दुःखदायक रोगों का कारण है तथा परभव में भी नरक गति, तिर्यंचगति के अनेक दुःखों का कारण है। अतः रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिये।

शाकाहार क्यों ?

❑ *डॉ. डी. सी. जैन, दिल्ली*

अमेरिका, इंग्लैंड, मैक्सिको, युगोस्लाविया, जापान, चीन आदि देशों में वहाँ के निवासी मांसाहार का त्याग कर शाकाहार ग्रहण कर रहे हैं। विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति के साथ-साथ मनुष्यों की आहार-पद्धति मे परिवर्तन का क्या कारण हो सकता है? क्या मानव संसार में बढ़ती हुई हिंसा से तृप्त है? अथवा वह हिंसा की पराकाष्ठा पर पहुंच चुका है? आइये, इस विषय पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करें।

चिकित्सा विज्ञान और शाकाहार

दुनियाँ के उत्कृष्ट कोटि के चिकित्सकों और वैज्ञानिकों का कहना है कि शाकाहार भोजनपद्धति सर्वश्रेष्ठ है। वैज्ञानिकों ने शाकाहार भोजन में भोजन तन्तु अधिक पाये हैं। भोजन-तन्तुओं की प्रचुरता से आँतों में भोजन का हलन-चलन व्यवस्थित रहता है। आँतों का कार्य ठीक प्रकार से चलता है। आँतों मे कैंसर की संभावना कम हो जाती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि आंतों के कैंसर का एक प्रमुख कारण मांसाहार है। यदि शाकाहार भोजन किया जाता है तो कब्ज, कोलाइटिस, हरनिया की बीमारी नहीं होती है। बवासीर की बीमारी भी भोजन-तन्तुओं की प्रचुरता में नहीं होती है।

हृदयरोग और शाकाहार

शाकाहार से हृदय-रोगों की रोकथाम की जा सकती है। अधिकांश व्यक्ति जो हृदय-रोग से पीड़ित हैं, वे भोजन में वसायुक्त (चर्बी) पदार्थ अधिक खाते हैं जिससे उनके रक्त में कोलिस्ट्राल की मात्रा अधिक हो जाती है। कोलिस्ट्राल की अधिकता के कारण उनकी रुधिर-नलिकाएँ तंग हो जाती हैं और धीरे-धीरे बन्द हो जाती हैं जिससे रक्त का प्रवाह बन्द हो जाता है। हार्ट अटैक की बीमारी का एक प्रमुख कारण है। अमेरिका के उच्चकोटि के डाक्टर ब्राउन और गोल्ड स्टीन का कहना है कि उनके देश में हार्ट-अटैक की बीमारी का एक प्रमुख कारण भोजन में वसा का अधिक होना है। इन वैज्ञानिकों को १९८५ में अपनी इसी खोज के लिए नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया है। वैज्ञानिकों ने भारतीय उक्ति "कम खाओ, समय से खाओ, बार-बार नहीं खाओ, गम खाओ" की पुनः पुष्टि की है।

मांसाहार से फैलने वाले रोग

आपने मलेरिया, फाइलेरिया, चेचक का नाम अवश्य सुना होगा परन्तु मांसाहार से फैलने वाली बीमारियों के नाम नहीं सुने होंगे। विश्व स्वास्थ्य संघ ने १६० बीमारियों के नाम अपने समाचार पत्र में घोषित किये हैं जो मांसाहार से फैलती हैं। इन बीमारियों में मिर्गी की बीमारी प्रमुख है। यह बीमारी मस्तिष्क में टीनिया सोलिइम नाम के कीड़े से हो जाती है। यह कीड़ा सुअर का माँस खाने से हो जाता है। इसी प्रकार जो जानवर गंदा-पानी भोजन करते हैं उनके शरीर में अनेक कीटाणु होते हैं। इन जानवरों को खाने से मनुष्य के शरीर में अनेक रोग हो जाते हैं। दुर्भाग्य की बात है कि इन बीमारियों की कोई स्थायी चिकित्सा नहीं है।

आर्थिक दृष्टि

भोजन की पौष्टिकता और सस्तापन आम व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण पहलू है। साधारण व्यक्ति महंगा भोजन नहीं कर सकता।इस दृष्टिकोण से शाकाहारी भोजन मांसाहार से अपेक्षाकृत सस्ता पड़ता है।

दीर्घायु और शाकाहार का संबंध

रूस के अबेकिशिया प्रांत में अधिकांश निवासी शाकाहारी हैं। वे विश्व में दीर्घायु के लिए प्रसिद्ध है। कुछ व्यक्ति तो १३५ वर्ष के ऊपर है। इसी प्रकार भारतवर्ष, जापान, अफ्रीका के अनेक व्यक्ति शतायु पाये जाते हैं।

शारीरिक क्षमता और शाकाहार

आप इस बात से चौंक जायेंगे कि दुनियाँ के अधिकांश उच्च कोटि के पहलवान, धावक, खिलाड़ी, शाकाहारी रहें हैं। लंबी दौड़ करने वाले कई धावक शाकाहारी नियम का पालन करते देखे गये हैं। उच्च कोटि की कला और नृत्य करने वाली महिलाएं भी शाकाहारी हैं।

पर्यावरण और शाकाहार

पशु-पक्षी, पेड़-पौधे पर्यावरण के संतुलन में अद्‌भुत भूमिका निभाते हैं। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि भूमि की उर्वरा-शक्ति पेड़ों और जानवरों पर निर्भर करती है। मेंढक जैसा प्राणी कृषि को उपजाऊ बनाता है। इसलिए हरेक प्राणी का योगदान पर्यावरण के संतुलन में महत्त्वपूर्ण है। यदि जानवरों को मनुष्य खाकर नष्ट कर दे तो यह संसार उसके रहने योग्य

नहीं रहेगा, और न ही यह धरती उपजाऊ रहेगी। सारा संसार वीरान हो जावेगा। इस धरती से जहाँ-जहाँ पेड़-पौधे काट दिये गये हैं वहाँ की उर्वरा-शक्ति पूर्ण रूप से समाप्त हो गयी है।

व्यापारियों का छलकपट

अनेक व्यापारियों ने धनोपार्जन हेतु शराब, सिगरेट का झूठा प्रचार करके जनता को गुमराह कर रखा है। इसी प्रकार उच्च क्रय प्राप्त करने के लिए, होटल धंधे की वरीयता देने के लिए मांसाहार का जी तोड़ प्रचार किया जा रहा है। परन्तु पाश्चात्य देशों में, जनता की सूझबूझ ने इनका पर्दाफाश कर दियाहै। अब वहाँ की जनता शराब, मांस और सिगरेट का प्रयोग पहले की अपेक्षा बहुत कम कर रही है। वहाँ के सिनेमाघरों में, समाचारपत्रों में, दूरदर्शन पर इनके विज्ञापनों पर प्रतिबंध इसी दिशा में जारी एक ठोस सराहनीय प्रयास है जो बहुत सफल रहा है।

सारांश

शाकाहार आंदोलन अनेक कारणों पर आधारित है। यह भोजन-पद्धति, पशु और मानव जीवन के लिए तथा विश्व से हिंसा को दूर करने की दिशा में ठोस कदम है। हरेक व्यक्ति को इस कार्य में अपना व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामुदायिक सहयोग प्रदान करना चाहिये।

अष्ट कर्म

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

अष्ट कर्म

❑ ब्र. कु. प्रभा पाटनी

ज्ञानरविका आच्छादक—ज्ञानावरण कर्म

कर्म शब्द कर्त्ता, कर्म और भाव तीनों साधनों में निष्पन्न होता है और विवक्षानुसार तीनों यहाँ परिगृहीत हैं। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखनेवाले आत्मा के द्वारा निश्चय नय से आत्मपरिणाम और पुद्गल के द्वारा पुद्गलपरिणाम; तथा व्यवहारनय से आत्मा के द्वारा पुद्गलपरिणाम और पुद्गल के द्वारा आत्मपरिणाम, जो भी किये जायें वह कर्म है।

साध्य-साधनभाव की विवक्षा न होने पर, स्वरूप मात्र कथन करने से कृति को भी कर्म कहते हैं।

"जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि।" (आप्त. टीका/११३/२९६) अर्थात् जीव को जो परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं। अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं—उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं।

सामान्य से, कर्म आठ प्रकार का भी है अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोकप्रमाण भी उसके भेद हैं। सामान्य से जो आठ भेद हैं वह इस प्रकार हैं—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।
आउगणामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ ॥८॥

अर्थात्—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

कर्म-स्वभाव

प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची हैं। जिस प्रकार पाषाण में किट्ट कालिमा का अनादि संबन्ध है, उसी प्रकार जीव और शरीर (कार्मण) का अनादि से सम्बन्ध है। दोनों का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है। जो स्वभाव को प्रकट न होने दे, उस स्वभाव को ढक देता है, अथवा जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। ये द्रव्यकर्म आत्मा के स्वभाव को व ज्ञानादि गुण को प्रगट नहीं होने देते हैं—

ज्ञानावरणीय कर्म पाँच हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

मतिज्ञानवरण—जो जीव के मतिज्ञान को प्रकट नहीं होने दे वह मतिज्ञानावरण कर्म है।

श्रुतज्ञानावरण—जो जीव के श्रुतज्ञान को आच्छादित करे।

अवधिज्ञानावरण—जो जीव के अवधिज्ञान को आच्छादित करे।

मनःपर्यय ज्ञानावरण—जो जीव के मनःपर्ययज्ञान को आच्छादित करे।

केवलज्ञानवरण—जो केवलज्ञान को आच्छादित करे।

ज्ञानावरणीय कर्म यह सर्वघाती है। इसके कारण जीव के अनुजीवी गुणों का पूर्णरूप से घात होता हैं। यह ज्ञान गुण को प्रकट नहीं होने देता है।

"बहिरंगार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धक-ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम्।" (ध. १/१.१.१३१/३८१/९) अर्थात् बहिरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है।अर्थात् जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकट न होने दे अथवा ज्ञान गुण के अविकास में जो निमित्त हो वह ज्ञानावरण कर्म है। जैसे देवता के मुख पर ढकेवस्त्र अर्थात् इसका स्वभाव है कि जैसे देवता के मुख पर ढका वस्त्रदेवता के ज्ञान को नहीं होने देता, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को आच्छादित करता है।

ज्ञान का सामान्य अर्थ :—ज्ञान, अवबोध, अवगम और परिच्छेद ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। उस ज्ञान को जो आवरण करता है वह ज्ञानावरणी कर्म है। अथवा "जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रं वा ज्ञानम्" (स. सि.) जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है, या जानना मात्र ज्ञान है।

"सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं ज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं वा आवृणोतीति ज्ञानावरणं।" सहज शुद्ध केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत ज्ञानशब्द का वाच्य परमात्मा जिसके द्वारा आवृत होना है वह ज्ञानावरण कर्म है।

सौन्दर्यमयी प्रकृति पर संध्या की अरुणाई, सरोवर को सुशोभित कर रही थी। सुन्दर सी लहरें लहरा रहीं थीं—अचानक क्या हुआ? सरोवर उदासीनता में सिमट गया, क्यों? किसे पता था? कुछ समझ में नहीं आया। आश्चर्य था जिन कमलों को प्यार से पालकर बड़ा किया वे ही सौरभ एवं शोभा के केन्द्र उसी तालाब की गोद में मुरझा गये। चिंता से चिंतित, रात्रिभर पुत्रों की याद में सरोवर तड़प उठा। सौंय-सौंय कर मानों आँसू भर-भर कर उभर रहा था एक साथ हजारों पुत्रों का वियोग। ओफ! जन-जन की निद्रा को दूर करने वाले सूर्य का हृदय द्रवित हो उठा। प्रातःकालीन स्वर्णिभ लालिमा को बिखरते हुए सूर्य ने अपनी किरणों के बाणों को मृतप्रायः कमल-पुत्रों पर फेंकना शुरू कर दिया। बाणों के लगते ही सारे कमल विकसित

हो गये। "तालाब कमल" सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही प्रफुल्लित हो गये।

एक मानव के पास अनेकों कमल थे पर सभी विकसित थे। किन्तु एक कमल मुरझाया हुआ था, अतः मानव का चेहरा उदासीन था। आप जानते हैं सुन्दर सी गाड़ी में बुद्धिमान ड्रायवर, योग्य यात्री हैं, पर ब्रेक नहीं है तो किस समय मृत्यु का मुख देखना पड़ जाये, पता नहीं ठीक इसी प्रकार सारे कमल विकसित हों परन्तु यदि एक अविकसित हुआ तो जीवन दुःखों का घर बन जाता है। आप सोचेंगे कौन से हैं कमल? तो आइये देखें।

१. मुखकमल, २. हृदयकमल, ३. करकमल, ४. चरणकमल, ५. भव्यकमल, ६. ज्ञानकमल आदि।

मुखकमल—मुखकमल जो असत्, कठोर, कर्कश वाणी से मुरझाया हुआ था आज हित-मित प्रियवाणी, मधुर, स्तुति, शक्ति, भजनादि के द्वारा मानव ने इसे मुस्कान भरा बना लिया है। मुखकमल मधुर वाणी रूपी किरणों से विकसित हो अपने चारों ओर खुशबू फैला रहा है।

हृदयकमल—हृदय में निरन्तर शुभाशुभ विचारों की शहनाई गूँज रही थी फलतः अनादिकाल से इसको विकास के लिए कहीं स्थान ही नहीं प्राप्त हुआ, पर आज शुभ विचारों का केन्द्र बनकर विकसित हो उठा। शुभ विचार रूपी किरणों के स्पर्श से हृदयकमल की एक-एक पंखुड़ी खिल उठी, मन मयूर नाच उठा।

करकमल—करकमल मारकाट, हिंसादि आरंभकी क्रियाओं के कारण डंडे की तरह दुःख के कारण बने हुए थे। आज ये करकमल मुनियों को आहारदान, जिनपूजा आदि का सौभाग्य पाते ही विकसित हो सुगन्धित हो गये हैं।

चरणकमल—जो चरणकमल व्यर्थ के पंचपरावर्तन की भटकन से मुरझाये दुर्गन्धित हो रहे थे वे ही आज तीर्थवन्दना अकृत्रिम जिनवन्दनादि रूपी किरणों के स्पर्श से खिल कर महक रहे हैं।

भव्यकमल—जो भव्यकमल मिथ्यात्व की चकाचौंध में मुरझाया नजर आ रहा था, वही आज गुरु उपदेश, दिव्यध्वनि से सम्यक्त्वरूपी सूर्य के उदय होते ही पूर्ण विकसित हो अपनी सौरभ से चारों दिशाओं को सुरभित कर रहा है।

ज्ञानकमल—सभी कमल विकसित हो सुरभि बिखेर रहे हैं, पर ज्ञानकमल की मुकुलित अवस्था ने मानव को झकझोर दिया है। ज्ञानकमल के विकास के बिना सारे कमलों की सौरभ भी मन को मोहित नही कर पाती है।

> आत्मास्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
> विलीनसंकल्पविकल्पजालं, प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥१०॥

अर्थात् —आत्मा का स्वभाव परद्रव्यों के भावों से भिन्न है। यह ज्ञान से पूर्ण लबालब भरा

हुआ, अनादि, अनंत एक ज्ञानपुंज है। पर आज वह ज्ञानकमल सुगंधि क्यों नहीं बिखेर रहा है? सुगंधि से पृथ्वीतल तभी सुरभित होगा जब संकल्प-विकल्पों का जाल विलीन होगा। ज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा कोड़ी सागर व जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

ज्ञानावरण कर्म का बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है, उदय बारहवें गुणस्थान तक तथा सत्ता दसवें गुणस्थान तक रहती है।

ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद हैं -

१. मतिज्ञानावरण २. श्रुतज्ञानावरण ३. अवधिज्ञानावरण ४. मनः पर्ययज्ञानावरण और ५. केवलज्ञानावरण।

मतिज्ञानावरणः— जिस कर्म के उदय से जीव का मतिज्ञान प्रकट न हो वह मतिज्ञानावरण कर्म है।

श्रुतज्ञानावरण :— जो जीव के श्रुतज्ञान को प्रकट न होने दे वह श्रुतज्ञानावरण कर्म है।

अवधिज्ञानावरण :— जो जीव के अवधिज्ञान का आवरण करे वह अवधिज्ञानावरण है।

मनः पर्ययज्ञानावरण :— जो कर्म मनःपर्यय ज्ञान को प्रकट न होने दे उसे मनः पर्ययज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

केवलज्ञानावरण :— जो कर्म केवलज्ञान को प्रकट न होने दे वह केवल ज्ञानावरण कर्म है।

त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाला ज्ञान-कमल आज भी मुकुलित है। जैसे बादलों के आवरण में छिपा सूर्य अपनी किरणों को बिखेर नहीं पाता वैसे ही प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात जैसे मलों की रज में पड़ा ज्ञानकमल अपनी सौरभ को बिखेरने में असमर्थ हो रहा है।

ज्ञानावरण कर्म के आश्रव के कारणों को बताते हुए श्री उमास्वामी आचार्य लिखते हैं :—

"तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।" (तत्त्वार्थसूत्र ६/१०)

अर्थ— प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात ये ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

(१) प्रदोष—किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा का नहीं सुहाना प्रदोष है।

"ज्ञानकीर्तनान्तरमनभिव्याहरतोऽन्तःपैशुन्यं प्रदोषः" अर्थात् ज्ञानकथा के समय मुँह से कुछ न कहकर भीतर ही भीतर ईर्ष्या के परिणामों का होना प्रदोष है। अथवा "मोक्ष का मूलसाधन" जो मत्यादिक ज्ञान है ताकि कोई प्रशंसा करे सो अन्तरंग में बुरी लागे सुहावे नहीं सो प्रदोष

है। वा तत्त्वज्ञान की कथनी में हर्ष का अभाव सो प्रदोष है।"

इस प्रदोष को दूर कर अप्रदोष का पालन करने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अप्रदोष प्रदोष ज्ञान का बाधक है अतः ज्ञानप्राप्ति का हेतुभूत अप्रदोष है। किसी धर्मात्मा के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्रशंसा सुनकर मन में आह्लादित होना, धर्मात्मा के ज्ञान की प्रशंसा करना 'अप्रदोष' है।

एक धर्मात्मा पति अपनी शीलवती धर्मपत्नी सहित मंदिरजी में अष्टमी चतुदर्शी आदि दिनों में तत्त्वज्ञान, स्वाध्यायादि किया करता था। दोनों के तत्त्वज्ञान की प्रशंसा लोक-प्रसिद्ध हो गई। अज्ञानी व्यक्ति ईर्ष्या से जाग उठा फलतः उसने स्वाध्याय करते हुए पति-पत्नी को तलवार से मृत्यु के घाट उतार दिया। दोनों भव्यात्मा स्वर्ग में देव-देवियाँ हो गये। और यह अज्ञानी नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ राजपुत्र हो गया परन्तु एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं था। पढ़ना-लिखना कुछ आता नहीं, चारों तरफ अनादर हुआ। अन्त में मुनिराज के पास जाकर अपने अज्ञान का कारण पूछने पर मुनिराज ने पूर्वकृत पापकार्य का वर्णन किया। वह मुनिदीक्षा लेकर मौनव्रत से रहने लगा और अपने अन्दर में पूर्वकृत पापों की निन्दा, गर्हा करने लगा। भाग्य से वही जोड़ा देवलोक से मुनिराज के दर्शन को आया। इन्होंने सब जानकर मुनि होकर भी उनसे अपने पूर्वकृत पाप की क्षमा माँगी। उनके तत्त्वज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा एवं अपने दुष्कृत्य की मुनिराज निन्दा करने लगे। फलतः अप्रदोष गुण की वृद्धि होते ही उसी भव में केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त हो गये।

(२) निह्नव—"पराभिसन्धानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः"

किसी बहाने से "मैं नहीं जानता", इत्यादि रूप से ज्ञान का लोप करना निह्नव है।

"बहुरि कोउ कारणकरि सम्यग्ज्ञान की कथनी पूछे, ताकू कहे, मैं नहीं जाणूं वा ऐसे नहीं है", ऐसे सम्यग्ज्ञान को छिपाना सो निह्नव है। उस निह्नव से बचने के लिए अनिह्नव का पालन करना चाहिए।

अनिह्नव—किसी भी कारण से ज्ञान को नहीं छिपाना अनिह्नव है। एक उत्तम बुद्धि वाला बालक, अपने ज्ञात विषयों को दूसरे से छिपाता है। सोचता है कहीं मेरा ज्ञान कम नहीं हो जाय या मेरा नंबर पीछे नहीं हो जाय। मान बढ़ाई, ईर्ष्या आदि कई कारणों से ज्ञान को छिपाया जाता है फलतः ज्ञान कुण्ठित हो जाता है, उसके विकास को स्थान नहीं मिलने से लोप भी हो जाता है। अतः ज्ञान को विकसित करने के लिए महान उपाय है कि—अपने पास प्राप्त ज्ञान को छिपाना नहीं चाहिए। ज्ञानधन एक ऐसा धन है जिसे जितना व्यय करेंगे उतना बढ़ेगा और जितना छिपा कर रखना चाहेंगे उतना ही आपसे छिप जाएगा, आपको कुंठित बना देगा। नीतिकार कहते हैं—

व्यये कृते वर्धति एव नित्यं विद्याधनंसर्वधनं प्रधानम् ।

और भी कहते हैं—

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारती।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात् ॥

अरे भव्यात्माओं, विद्याधन एक ऐसा अपूर्व खजाना है, जो जितना व्यय किया जायेगा उतना बढ़ेगा और जितना संचय करोगे उतना घटेगा। कुएँ से पानी नहीं निकला तो सड़ जाता है, फल पकने पर वृक्ष ने छिपा लिया तो सड़ जायेगा। फूल खिलने पर प्रभु चरण में चढ़ाया नहीं तो मुरझा जायगा, पैरों में रौंदा जायगा। सरोवर ने कमल को अपनी ओट में छिपा लिया तो मुरझाकर सड़ जाएगा, सरोवर को ही गन्दा कर देगा और यदि निस्पृही होकर बाँट दिया, मनुष्य को दे दिया तो वही कमल अपने रूप से सबको अपनी बहार लुटाकर स्वयं भी हँसता है, दूसरे को भी हँसाता है। ठीक उसी प्रकार ज्ञानार्जन करके छिपाया, बाँटा नहीं तो ज्ञानकमल भी मुरझा जायेगा। ज्ञानकमल को विकसित करके उसकी सौरभ को चारों ओर बिखेरते चलें। ज्ञान-पिपासु बाल, वृद्ध, शत्रु-मित्र, नर-नारियों सभी को अपनी सौरभ से सुरभित करते चलें अन्यथा यह विकसित कमल मुरझाकर आत्मसरोवर को गन्दा कर संसाररूपी कीचड़ में ऐसा आकंठ फँसायेगा जहाँ से निकलना भी दुष्कर होगा।

(३) मात्सर्य—"यावद्यथावद्देयज्ञानमप्रदानं मात्सर्यम्।" अर्थात् देने योग्य ज्ञान को भी किसी बहाने से न देना मात्सर्य है। अथवा बहुरि आपकरि अभ्यास किया सम्यग्ज्ञान देने के योग्य शिष्य के लिए नहीं देना सो मात्सर्य है।" (मू.आ., पृ. ६३४)

मात्सर्य का अभाव कर, अमात्सर्य को अपनाने से ज्ञानगुण प्रकट होता है।

अमात्सर्य—अपने द्वारा अर्जित ज्ञान को योग्य शिष्य में बिना किसी छलकपट के दे देना अमात्सर्य है। देने योग्य ज्ञान को यदि योग्य शिष्य में दे दिया जाता है तो वह ज्ञानसंतति निरन्तर अबाध रूप से प्रवाहित रहती है और केवलज्ञान के लिए कारण बनती है। अथवा वस्तु स्वरूप को जानकर यह भी पंडित हो जायगा अतः मेरा सम्मान या मेरी प्रतिष्ठा कम हो जायेगी ऐसे मात्सर्य भाव को नहीं रखते हुए प्राप्त ज्ञान को देना अमात्सर्य है।

मात्सर्य से ज्ञान की हीनता होती है। एक दृष्टान्त है—बौद्ध विद्वान् जैन बालकों को इसी मात्सर्य से नहीं पढ़ाते थे कि वस्तुतत्त्व का सही ज्ञान होने पर ये हमारा खंडन करेंगे अतः अकलंक-निकलंक बालक बौद्ध भेषी बनकर बौद्ध मठों में पढ़ते थे। एक दिन गुरुजी ने एक सूत्र लिखा। सूत्र अशुद्ध लिखा देख, विचक्षण बालकों ने गुरुजी की अनुपस्थिति में उसे सुधार दिया। गुरुजी ने जब यह देखा तो मात्सर्य जागृत हो उठा। अरे! यह कौन है हमारा शत्रु? इसे खत्म कर देना चाहिये। अंततोगत्वा दोनों बालकों की हत्या के कई उपाय हुए और निकलंक के प्राणों की बलि भी हो गई। परन्तु बालक अकलंक ने ज्ञान बल से बौद्धों को 'वाद' में हरा

दिया। अकलंक मुनिराज ने जैन धर्म का झंडा विश्व में फहरा दिया। अतः अमात्सर्य ज्ञानप्राप्ति का अमोघ उपाय है।

(४) अन्तराय—"ज्ञानव्यवच्छेदकारणम् अन्तरायः"। अर्थात् कलुषता से ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। "बहुरि कोई धर्मानुरागी ज्ञान का अभ्यास करते होई, तिनके व्यवच्छेद करना, स्थान बिगाड़ देना, पुस्तक का संयोग बिगाड़ देना, पढ़ाने वाले का सम्बन्ध बिगाड़ देना सो अन्तराय है।" अन्तराय ज्ञान का बाधक है। अनन्तराय से ज्ञान में वृद्धि होती है।

अनन्तराय—किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न नहीं डालना अनन्तराय है। उदाहरणार्थ, एक बालक पढ़ रहा था। मां को काम था जाकर असमय में पुस्तक बंद कर दी। रात्रि के समय बालक पढ़ रहा था। बिजली चालू रहने से पिताजी को नींद नहीं आ रही थी, बिजली बुझा दी। दो ज्ञानी आपस में चर्चा कर रहे थे, अज्ञानी वहाँ जाकर जोर-जोर से चिल्लाने लगा तत्व चर्चा में बाधा कर दी। मुनिराज स्वाध्याय कर रहे थे, जाकर जोर जोर से नमोऽस्तु नमोऽस्तु करना चालू कर दिया। स्वाध्याय या प्रवचन चल रहा है, श्रावकों की अपनी बातें चल रही हैं अतः इन सब कारणों से जीव तीव्र ज्ञानावरणी कर्म बाँधता है और तीव्र अन्तराय करता है। अतः ज्ञानप्राप्ति के उपाय हेतु पढ़ते हुए को कभी रोकना नहीं चाहिये। अपने सुख के लिए बिजली आदि बंद नहीं करना चाहिए। व्यर्थ जोर-जोर से बकवास नहीं करना चाहिए। ज्ञानियों की आपसी चर्चा को ध्यान से सुनना, प्रवचनादि में मौन रहना, बीच में आना-जाना नहीं होना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के उपायों में किसी प्रकार विघ्न नहीं करते हुए, ज्ञानाभ्यासी को हर प्रकार से मदद करना, उनके विघ्नों को दूर करना यह अनंतराय ज्ञानप्राप्ति का उपाय है।

अन्तराय करने से हानि—एक बालक बुद्धिमान् था और परीक्षा में द्वितीय नम्बर से पास होता था। उसने प्रथम नंबर आये यह सोचकर, प्रथम नंबर आने वाले विद्यार्थी की पढ़ाई में अंतराय करना आरंभ कर दिया। पुस्तक फाड़ना, पढ़ते हुए की बिजली बन्द कर देना, चिल्लाना, पढ़ते समय तेज आवाज में चिल्लाना, रेडियो लगाना आदि विघ्न किये और इसी में समय पूरा कर दिया। पढ़ाई कुछ नहीं हो सकी फलतः योग्य बालक तो अपनी पूर्ववत् क्रिया करता हुआ प्रथम नम्बर से पास हो गया और बुद्धिमान् इर्ष्यालु फेल हो गया। अतः ज्ञानप्राप्ति के इच्छुक मानव को कभी भी ज्ञानाभ्यास में विघ्न नहीं डालना चाहिए।

(५) आसादना—वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम् अर्थात् दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का काय या वचन के द्वारा वर्जन करना आसादन है। "बहुरि परकरि प्रकाश्या ज्ञानकूं वचनकरि वर्जन करना सो आसादन है। (मू. आ. ६३४)

अनासादन के द्वारा आसादन दोष को मिटा सकते हैं।

अनासादन—दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने वाले ज्ञान को नहीं रोकना अनासादन है। कोई लेखक, कवि, उपदेशक, तत्त्वज्ञानी एवं धर्मप्रभावक है ऐसे ज्ञानी के ज्ञान के प्रकाश का निरन्तर प्रयत्न करना ज्ञानप्राप्ति का अमूल्य उपाय है। यदि लेखक या कवि है तो सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों के प्रकाशन कराकर, उनके एवं स्वयं के ज्ञान का विकास करें। यदि उपदेशक है तो स्थान-स्थान पर प्रवचनादि का आयोजन कराके, उनके ज्ञान से स्वयं का एवं धर्मप्रिय जनता का ज्ञान-विकास करें। तत्त्वज्ञानी है, तो तत्त्वनिर्णय की पद्धति का ज्ञान स्वयं सीखें और अन्य को सिखाने की उनसे प्रार्थना कर उनके ज्ञान का प्रकाशन करते हुए अपना विकास करें। यदि धर्मप्रभावक है तो तीर्थवन्दना, रथयात्रा, पूजा, तप, त्याग आदि धर्मप्रभावक कार्यों से ज्ञानी के ज्ञान विकास में सहायक बनकर अपना ज्ञान-कमल सुरभित करें, पुष्पित करें।

(६) उपघात—"प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातं"। अर्थात् बुद्धि और हृदय की कलुषता से प्रशस्तज्ञान में दूषण लगाना उपघात है। अथवा "बहुरि अपनी बुद्धि की दुष्टताकरि प्रशंसा योग्य ज्ञानकूं दूषण लगावना सो उपघात है।" (मू.आ.।६३४ पृ.)

आसादन में विद्यमान ज्ञान का विनय-प्रकाशन गुण-कीर्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघात में ज्ञान को ही अज्ञान कहकर नाश किया जाता है।

अनुपघात—सच्चे ज्ञान में दोष नहीं लगाना अनुपघात है। ज्ञानियों को सबसे भारी उपसर्ग यही सहन करना पड़ता है कि अज्ञानी दुष्ट जन, उनके ज्ञान को सहन नहीं कर पाते हैं और किसी भी उपाय से, ज्ञानी के निर्दोष ज्ञान को कलंकित कर जड़मूल से उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सच्चा ज्ञानसूर्य बादलों की ओट में दबता नहीं अपितु अन्दर ही अन्दर तेजी से धधकता है और फलतः पूर्ण तेजपुञ्ज केवलज्ञान सूर्य तीन लोक के प्रकाशन करने में समर्थ कैवल्य ज्योति को प्राप्त होता है।

(७) आचार्य, उपाध्याय के प्रतिकूल प्रवृत्ति, (८) अकाल अध्ययन, (९) अश्रद्धा, (१०) अभ्यास में आलस्य, (११) अनादर से अर्थ सुनना, (१२) तीर्थोपरोध अर्थात् दिव्यध्वनि के समय स्वयं व्याख्या करने लगना, (१३) बहुश्रुतपने का गर्व करना, (१४) मिथ्योपदेश से बहुश्रुत का अपमान करना, (१५) स्वपक्ष का दुराग्रह, (१६) दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप, (१७) सूत्रविरुद्ध बोलना, (१८) असिद्ध से ज्ञानप्राप्ति (१९) शस्त्र विक्रय आदि हिंसादि कार्यों रूपी कीचड़ में फंसा ज्ञान-कमल मुरझा रहा है, ऐसे समय आलस्य, निद्रा, संक्लेश, शोक, अधिक रोग, चिंता की दलदल में फंसे मानव का ज्ञान-कमल ज्ञानावरणी मेघों से आच्छादित होता जाता है।

स्वाध्याय—"स्वाध्यायः परमं तपः" अर्थात् स्वाध्याय से ज्ञान-गुण की वृद्धि व अज्ञान का नाश होता है।

मन-वचन-काय की एकाग्रता—लोभी-लालची-मन, चंचल मन, चोर मन प्रवृत्ति को रोकना चाहिए। वचनों की चंचलता, व्यर्थ बकवास, बिना प्रयोजन बोलना, असत्य बोलना, अपशब्दों

का उच्चारण, अशुद्ध उच्चारण इस सबसे पूर्णतः बचना चाहिए। जो अशुभ, अशुद्ध, असत्य, अप्रिय, अश्लील वचनों को न बोलकर, भाषा समिति का पालन करता है उसे शीघ्र ही ज्ञान की उपलब्धि होती है।

काय की चंचलता होने पर ज्ञान का विकास रुक जाता है। काय की शुद्धि, काय से दुश्चेष्टाओं का अभाव कर काय को वश में रखना काय की एकाग्रता है।

जिस प्रकार मन्दिर के लिए मूर्ति आवश्यक है,

पुत्र-प्राप्ति के लिए विवाह या मोक्ष के लिए केवलज्ञान आवश्यक है,

केवलज्ञान के लिए शुक्ल ध्यान-आवश्यक है,

शुक्लध्यान के लिए शुद्धोपयोग आवश्यक है,

शुद्धोपयोग के लिए मुनिव्रत आवश्यक है,

मुनिव्रत के लिए षष्ठ-सप्तम गुणस्थान आवश्यक है,

ठीक इसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन, वचन, काय की एकाग्रता आवश्यक है।

आलस्य भी ज्ञानप्राप्ति में बाधक है। ठीक ही कहा है—"आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः" अथवा "अलसस्य कुतो विद्या"।

निद्रा—पंचेन्द्रिय मानव को एकेन्द्रियवत् कर देने वाली महादेवी निद्रा है। कहावत है—"सुआ पालक चूका" जो सो गया वह पल चूक गया। अधिक निद्रा ज्ञान की बाधक है।

संक्लेश—इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग जनित अहंकार, ममकार, बुद्धि रूप संक्लेश परिणाम जीव के ज्ञान-विकास के बाधक है। शल्य भी ज्ञान की बाधक हैं।

जिस प्रकार सहस्रों किरणों वाले सूर्य का तेजपुञ्ज बादलों की ओट में छिपते ही ढ़क जाता है उसी प्रकार केवलज्ञान ज्योति पुञ्ज चैतन्य आत्मा ज्ञानावरण कर्म रूपी बादलों से आच्छादित हो रहा है। विवेकी को चाहिए कि ज्ञान को आवृत्त करने वाले हेतुओं से बचकर, उसे प्रकाशमान करने वाले सच्चे पुरुषार्थ से, चैतन्य चमत्कार आत्मा को ज्ञान की किरणों से जगमग करे। केवल ज्ञानमयी आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये ज्ञानावरण कर्म के आने के द्वारों से बचना मुमुक्षु का कर्तव्य है।

चाहे लाख करो तुम पूजा तीरथ करो हजार।
दीन दुखियों को सताया तो सब कुछ है बेकार।।

दर्शनावरण कर्म : एक चिन्तन

❑ *डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन', महावीरजी*

दर्शन धर्म का मूल है तथा धर्म मनुष्यों का अभिन्न अंग है। धर्म के बिना मनुष्य पशु सदृश माना गया है। कहा भी है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः
धर्मेण हीना पशुभिः समानाः॥

धर्म पुरुष के चार पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थों के नाम हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें काम और मोक्ष साध्य तथा अर्थ और धर्म उनके साधन हैं। मुमुक्षु को मोक्ष की कामना होती है। मनुष्य पर्याय पाकर मनुष्य मोक्ष के योग्य कार्य नहीं कर सका तो किसी पर्याय में न कर सकेगा। पुरुष होने की सार्थकता इसी में है कि वह धर्म पुरुषार्थ की अनवरत साधना करे जिससे कि मोक्ष सध सके।

धर्म की साधना के लिए दर्शन का बोध अपेक्षित है। दर्शन को जाने-समझे बिना धर्म की सम्यक् साधना संभव नहीं है। अतः यहाँ दर्शन की विवेचना ही अपेक्षित है।

दर्शन का सामान्य अर्थ

दर्शन—देखने अर्थ में प्रसिद्ध दृश् धातु में ल्युट् प्रत्यय के संयोजन से निष्पन्न शब्द है। इसका सामान्य अर्थ है—देखना। "पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति से 'जिसके द्वारा देखा जावे' यह भी एक अर्थ दर्शन का बताया गया है। इस व्युत्पत्ति से देखने के साधन आँख और प्रकाश आदि उपकरण दर्शन ज्ञात होते हैं, किन्तु जैन-दर्शन में देखने के उपकरणों को दर्शन नहीं माना गया। दर्शन पर्याय से परिणत आत्म-दर्शन को दर्शन कहा गया है।

दार्शनिकों की दृष्टि में दर्शन का यह अर्थ नहीं होता। 'दर्शन' शब्द सुनते ही उनका ध्यान षड्दर्शन की ओर जाता है। वे दर्शन से बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय दर्शन समझते हैं।

आध्यात्मिक अर्थ

सामान्यतः देखने का नाम दर्शन है। इसके दो भेद हैं—बाह्य दर्शन और आभ्यन्तर दर्शन। इनमें बाह्य दर्शन का अर्थ है— जगत् के पदार्थों को सामान्य रूप से देखना और आभ्यन्तर दर्शन का अर्थ है—पदार्थों को देखकर, उनके भीतरी स्वरूप को जानना। दर्शन का आध्यात्मिक अर्थ भी यही है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने दंसणपाहुड़ में बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित, त्रियोग में संयमी हो, ज्ञान की करणशुद्धि तथा कृत, कारित और अनुमोदना की शुद्धिपूर्वक खड़े होकर हाथ में आहार करने में दर्शन बताया है। गाथा है—

दुविहंपि पि गन्थचायं तीसु विजोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि॥१४॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने ही बोधपाहुड में निर्ग्रन्थ और ज्ञानमयी मोक्षमार्ग, सम्यक्त्व, संयम और आत्मा का धर्म दिखाने वाले को 'दर्शन' कहा है।

कुन्दकुन्द के इन उल्लेखों से अध्यात्म के क्षेत्र में दर्शन का अर्थ है आत्म-दर्शन, जिसका सम्बन्ध चर्म-चक्षुओं से न रहकर आत्म-चक्षुओं से रहता है। प्रस्तुत लेख में ऐसे ही दर्शन की विवेचना करना अभिप्रेत है।

दर्शन के अंग

दर्शन के दो ही अंग दिखाई देते हैं—दर्शक और दृश्य। जैनदर्शन में छः द्रव्य बताये गये हैं। जिनमें जीव दर्शक है और जो शेष पाँच द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं, इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्त होने से दृश्य हैं।

जीव का लक्षण चेतना है और पुद्गल का अर्थ है वे पदार्थ जिनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जाय। पुद्गल रूपी और शेष द्रव्य अरूपी होते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य जीव की गति तथा स्थिति में सहकारी होते हैं, प्रेरक नहीं। आकाश सभी द्रव्यों को अवकाश देने में और काल जीवों के परिणमन में सहकारी होता है।

जीव में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीन गुण पाये जाते हैं। एक पर्याय से दूसरी पर्याय प्राप्त करना उसका उत्पाद, पूर्व पर्याय का न रहना व्यय और विभिन्न पर्यायों में चेतन का यथावत् बना रहना उसका ध्रौव्य है।

यथार्थ में द्रव्यों का न उत्पाद होता है और न व्यय। उनका अवस्थान्तरण होता है। जीव अपनी वर्तमान पर्याय का उसी प्रकार त्याग कर देता है जैसे मनुष्य कपड़े जीर्ण हो जाने पर उनका त्याग कर देते हैं और जीव नयी पर्याय उसी प्रकार धारण कर लेता है जैसे मनुष्य

फटे वस्त्र त्याग कर नये वस्त्र धारण कर लेता है।

जीव का अवस्थान्तरण होने पर भी उसका चेतन अपरिवर्तित रहता है। उसके ध्रुवत्व गुण में कोई बाधा नहीं आती जैसे कोई सोने के मुकुट को मिटवाकर कंगन बनवा ले। इसमें मुकुट का नाश और कंगन का उत्पाद हो रहा है परन्तु स्वर्ण में कोई उत्पाद और विनाश नहीं होता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

चेतन का अस्तित्व

जीव अनादिनिधन है। स्व कर्म के अनुसार वह विभिन्न शरीर धारण किये हुए है। सुख और दुःख का अनुभव करने वाला शरीर नहीं है, शरीर के भीतर रहने वाला चेतन है। चेतनविहीन शरीर में यह क्रिया नहीं देखी जाती। अतः चेतन आर शरीर दो विभिन्न द्रव्य समझ में आते हैं। शिशु की दुग्धपान क्रिया में भी उसके पूर्व संस्कार ही कारण हैं। जीवों के जातिस्मरण भी प्रमाणित हुए है। इससे स्वयं सिद्ध है कि चेतन का अविनाशी अस्तित्व है।

जीव और पुद्गल का सम्बन्ध

जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य हैं जिनका शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का परिणमन होता है। किसी भी द्रव्य का आप में आप रूप परिणमन शुद्ध परिणमन है और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से मिलकर, एकीभाव को प्राप्त होना अशुद्ध परिणमन है। जीव और पुद्गल (देह) का परिणमन अशुद्ध परिणमन है, जैसे हल्दी और चूना, अपने पीत और श्वेत रूप का त्याग कर, रक्त रूप धारण कर एक रूप हो जाते हैं, ऐसे ही जीव और पुद्गल संसार में एकरूप दिखाई दे रहे हैं। दोनों के एकरूप होने में कारण है—वैभाविक शक्ति जो जीव और पुद्गल में ही पाई जाती है, अन्य द्रव्यों में नहीं। इस शक्ति के सिवाय दोनों के एकरूप होने में पुद्गल की स्निग्ध और रूक्ष पर्याय भी सहकारी होती हैं। जीव का विकृत परिणमन उसे एकरूप होने को बाध्य करता है। यह परिणमन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण होता है। इनसे आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है और वे विकृत परिणमन योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार पुद्गल और जीव दोनों एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं। जीव और पुद्गल दोनों विजातीय होने से, इन दोनों का एक क्षेत्रावगाही होना विजातीय बन्ध कहलाता है।

दर्शन के भेद

जीव को जो शरीर, वचन, मन, उच्छ्‌वास और निःश्वास तथा सुख-दुःख, जीवन और मरण प्राप्त हो रहे हैं वे सब पुद्गल के उपकार हैं। इस प्रकार जीव और पुद्गल का संयोग बना

हुआ है। कमल जल का संयोग पाकर भी जैसे जल से अलिप्त रहता है इसी प्रकार जीव विकार-भावों से अलिप्त रहकर, यथार्थ भी देख सकता है और विकारग्रस्त होकर अयथार्थ भी।

जीव का ऐसा दर्शन जिससे जीव का कल्याण होता है, सम्यग्दर्शन है और जिस दर्शन से इसके विपरीत स्थिति बनती है वह मिथ्यादर्शन है। दूसरे शब्दों में, बन्धमोचिनी दृष्टि सम्यग्दृष्टि और बन्धकारी दर्शन मिथ्यादर्शन है। जीव जैसे चाहे दृष्टि का उपयोग करने में स्वतंत्र है।

दर्शन प्रभावक तत्त्व

सामान्यतः इन्द्रियों में चक्षु देखने का काम करती है जिस पर आहार और विचारों एवं वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। पीत ज्वर के रोगी को पीला दिखाई देने में जैसे पीत-ज्वर कारण है इसी प्रकार अच्छा-बुरा देखने में जीव के तद्रूप विचार कारण बनते हैं। जीव जब काम-वासनाओं से ग्रस्त होता है, उस समय वह स्त्री के रूप पर मुग्ध हो जाता है किन्तु विषयों से विरक्त होने पर वही स्त्री उसे मांस-मज्जा का घर दिखाई देती है। यह है जीव के विचारों का, उसकी दर्शनशक्ति पर प्रभाव।

आहार-विहार से भी दर्शनशक्ति प्रभावित होती है। अभक्ष्य भक्षण करने वालों और मांसभोजियों का दर्शन हिंसामय होता है। साधु-सन्तों के साथ रहने से अहिंसा के दर्शन होते हैं, अहिंसामय दृष्टि बनती है।

दर्शन, शक्ति और शरीर

पाँच इन्द्रियों में चौथी इन्द्रिय का नाम चक्षु है जिसका कार्य है देखना। चक्षु को देखने की शक्ति देने वाला है चेतन। उसके अभाव में न चक्षु इन्द्रिय अपना काम कर पाती है और न उसके उपकरण। जब चेतन देह से निकल जाता है तब चक्षु इन्द्रिय और उसके उपकरण विद्यमान रहने पर भी उनसे देखने की क्रिया निष्पन्न नहीं हो पाती अतः दर्शन चेतन का गुण है, चक्षु का नहीं।

आवरण का सामान्य अर्थ

आवरण का अर्थ है—आच्छादन। वस्तु को ढक लेना। जैसे मेघ वर्षा में सूर्य के तेज को ढक लेते हैं, इसी प्रकार वस्तु को आच्छादित करने का नाम आवरण है।

कर्म

दर्शन और आवरण के पश्चात् कर्म का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। जीव में आकर्षण शक्ति होती है और पुद्गल में आकर्ष्य शक्ति। अतः चुम्बक जैसे लोहे को अपनी ओर खींच लेता है और लोहा उसमें चिपक जाता है इसी प्रकार जीव योग के निमित्त से पुद्गल की कार्माणवर्गणाओं को आकर्षित करता है और उनमें आकर्ष्य शक्ति होने से वे आकर्षित हो जाती हैं तथा जीव का साथ कर लेती हैं, इन्हें ही कर्म कहते हैं। जीव का विकारभाव कर्म साथ लिए रहता है और कर्मों का सद्भाव रहने से जीव में विकारभाव होते रहते हैं, वह अपने स्वभाव को नहीं समझ पाता। जैसे धान से छिलका पृथक् करने पर चावल का रूप प्रकट हो जाता है ऐसे ही कर्मों का नाश होते ही जीव अपने स्वरूप को पा जाता है।

कर्म-भेद

कर्म आठ बताये गये हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ये जीवों के गुणों का घात तथा इष्टानिष्ट पदार्थों का संयोग-वियोग करते हैं। जो गुणों का घात करते हैं उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के नाम उल्लेखनीय हैं, ये घाति कर्म कहलाते हैं।

दर्शनावरण कर्म

यह पदार्थों का प्रतिभास कराने वाली जीव की चेतना शक्ति में पदार्थ का सामान्य प्रतिभास नहीं होने देता। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शकों को राजा के दर्शन नहीं होने देता, दर्शकों को द्वार पर ही रोक लेता है, राजदरबार में नहीं जाने देता इसी प्रकार यह कर्म पदार्थ का समान्य प्रतिभास ही नहीं होने देता जिससे जीव, पदार्थ के विशेष प्रतिभास से वंचित हो जाता है। अनन्तदर्शन का भी प्रादुर्भाव नहीं हो पाता।

यह कर्म एक बार जीव के साथ होकर बहुत समय तक साथ रहता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण काल तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त बताई गई है।

दर्शनावरण कर्म के नौ भेद

दर्शनावरण कर्म के आचार्यों ने नौ भेद बताये हैं। वे हैं—१. चक्षुदर्शनावरण, २. अचक्षुदर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण, ५. निद्रा-दर्शनावरण, ६. निद्रानिद्रा-दर्शनावरण, ७. प्रचलादर्शनावरण, ८. प्रचलाप्रचला-दर्शनावरण और ९. स्त्यानगृद्धि-दर्शनावरण।

इनमें चक्षु इन्द्रिय का कार्य है पदार्थ का सामान्य प्रतिभास करना। ऐसा न होने देने में,

निमित्तभूत कर्म चक्षुदर्शनावरण और चक्षु के सिवाय अन्य शेष चार इन्द्रियों तथा मन से पदार्थ का सामान्य प्रतिभास न होने देने में निमित्तभूत कर्म अचक्षुदर्शनावरण कहलाता है। समस्त मूर्त द्रव्यों को देखने वाले अवधिदर्शन और लोकालोक के समस्त पदार्थों का दर्शन करनेवाले केवल-दर्शन को न होने देनेवाले कर्म, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण कर्म कहलाते हैं।

मद, खेद और परिश्रमजन्य थकान दूर करने के लिए अल्प आहट पाकर ही, भंग हो जाने वाली श्वान-निद्रा के समान नींद लेने में निद्रादर्शनावरण और ऐसी गाढ़ निद्रा का आना कि वृक्ष, पहाड़ या विषम भूमि पर सो जाये, जगाये न जगे, खर्राटे भरे इसमें निद्रानिद्रा दर्शनावरण कर्म निमित्त होता है। निद्रा का तीसरा रूप है प्रचला। बैठे-बैठे झपकियाँ लेने लगना, नेत्र और गात्र का विकृत हो जाना, आँखें रेत से भरी हुई के समान प्रतीत होना और सिर भारी हो जाना प्रचलादर्शनावरण के चिन्ह हैं तथा नींद की पुनः पुनःआवृत्ति होना और गाढ़ निद्रा में लार गिरने लगना प्रचलाप्रचला दर्शनावरण कर्म है।

स्त्यानगृद्धि-दर्शनावरण-कर्म नींद की पराकाष्ठा का प्रतीक है। ऐसी नींद में मनुष्य सोते हुए बड़बड़ाता है, रौद्रकर्म करता है, घर के दरवाजे खोलकर पुनः सो जाता है। जागने पर उसे द्वार खोलने का ज्ञान नहीं होता।

दर्शनावरण कर्म के कारण

जीव का चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन क्यों आवृत होता है? इसी प्रकार उसे ऐसी विविध प्रकार की नींद क्यों आती है? आचार्यों ने इसका अध्ययन किया और उन्होंने इसके निम्न कारण दर्शाए हैं–

(१) प्रदोष :– तत्त्वज्ञान के उपदेशक की प्रशंसा नहीं करना उल्टे उसे देखकर उसके प्रति अशुभ परिणाम रखना प्रदोष है। ऐसा करने से उपदेशक से प्राप्त होने वाला मार्गदर्शन प्राप्त नहीं होता। उपदेशक के अन्तर में अशुभ भाव जागते हैं और उनका हमारे चक्षुदर्शन पर मूक प्रभाव पड़ता है। किसी की आँख निकाल कर उसके दर्शन में बाधा पहुँचाने से ऐसा करने वाले के चक्षुदर्शन में भी बाधा आवेगी। चक्षुदर्शनावरण का यह प्रमुख कारण है। बहुत नींद लेने, दिन में शयन करने, सम्यक् दर्शन में दोष लगाने, नास्तिकपने के भाव रखने, सिद्धक्षेत्रों के दर्शन न करने, मुनियों को देखकर ग्लानि करने और प्राणि-घात से भी ऐसा होता है। इन कारणों को बचाने के लिए मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

२. निह्नव :—वस्तु स्वरूप पूछे जाने या उसके साधन माँगे जाने पर अपनी देखी वस्तुओं को नहीं बताने के लिए अज्ञानता प्रकट करना तथा देखे साधनों को नहीं बताना निह्नव है। इससे दूसरों के दर्शन में अवरोध उत्पन्न होता है जो हमारे दर्शनावरण का कारण बन जाता है।

निह्नव और अचक्षुदर्शन दोनों का सम्बन्ध मन से होने के कारण निह्नव-अचक्षुदर्शनावरण का कारण होता है।

(३) मात्सर्य :—दूसरा पंडित न बन जावे इस ईर्ष्या भाव से उसे तत्त्वज्ञान के कारण शास्त्र आदि नहीं दिखाना और न बताना मात्सर्य है। इसमें भावों की कुटिलता है। कुटिल भाव अवधि और केवलदर्शन में बाधक होते हैं अतः इन दोनों के आवरण में मात्सर्य ही कारण होता है।

(४) अन्तराय :—दूसरों के लिए पदार्थ देखने में विघ्न उपस्थित करना अन्तराय है। निद्रा के विविध रूप इसी के फल ज्ञात होते हैं।

(५) आसादन :—दूसरे के दर्शन गुण को छिपाना, किसी के द्वारा देखी हुई वस्तु को स्वीकार नहीं करना।

(६) उपघात :—निर्दोष दर्शन में दोष लगाना। किसी दूसरे के निर्दोष सम्यक् दर्शन को दूषित बताना। देखने की शक्ति में दोषारोपण करना।

दर्शनावरण कर्म-नाशक उपाय

चिकित्सा शास्त्र में जैसे रोग, उसका कारण और उसका निदान (निवारण-उपाय) बताया जाता है इसी प्रकार आचार्यों ने कर्मों का नाश करने के लिए निम्न उपाय दर्शाए हैं—

(१) मिथ्यादर्शन-निर्वृत्ति

वस्तु स्वभाव जैसा है वैसा न देखकर विपरीत स्वरूप के दर्शन करना मिथ्यादर्शन है, जैसे देह और चेतन को एक रूप देखना उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं जानना। इससे यथार्थता का बोध नहीं हो पाता और ऐसा बोध न होने से उसका आचरण भी सम्यक् नहीं रह पाता। अतः मिथ्यादर्शन से निर्वृत्ति परमावश्यक है। जिसका दर्शन ही मिथ्या हो वह वस्तुस्वरूप को कैसे समझ सकता है?

(२) अविरति-निर्वृत्ति

व्रतों का धारण नहीं करना, छह काय के जीवों की हिंसा तथा छहों इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति अविरति है। ऐसा जीव विषयाग्रही होने से विषय रूप ही दर्शन करता है। वह स्त्री के सौन्दर्य को ही देखता है जबकि विषयों से निर्वृत्त पुरुष स्त्री के सौन्दर्य को देखते हुए भी उसके आभ्यन्तरिक घृणित स्वरूप को भी देख लेता है अतः यथार्थ-दर्शन के लिए व्रतों से विरति नहीं, व्रतों में प्रवृत्ति चाहिए; तभी दर्शन का आवरण हटेगा और दर्शनावरण कर्म का नाश हो सकेगा।

(३) प्रमाद-निर्वृत्ति

अपने कर्त्तव्य के प्रति अनादर भाव प्रमाद है। इसके पन्द्रह भेद कहे हैं—पाँच इन्द्रिय, चार विकथा, चार कषाय, निद्रा, और प्रणय (स्नेह)। जीव स्त्रीकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा और राजकथाओं, इन्द्रिय-विषयों, कषायों, नींद और स्नेह के आधीन होकर अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। समयाधीन दर्शन से वंचित हो जाता है और ऐसा होने से दर्शनावरणकर्म जीव के साथ बना रहता है। व्यवहार में भी प्रमादी जीव सुखी दिखाई नहीं देता अतः प्रमादनिर्वृत्ति दर्शन के लिए आवश्यक है।

(४) कषाय-निर्वृत्ति

आत्म-परिणामों में निर्मलता न होना कषाय है। कषाय करनेवाला जीव अपनी कषायों के अनुसार ही दूसरे जीवों को देखता है। अपने बैरी को सदा बैर भाव से ही देखता है जबकि बैरी ऐसा नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वास्तविकता का वह दर्शन नहीं कर पाता। इसके लिए कषायों में प्रवृत्ति नहीं, निर्वृत्ति चाहिए।

(५) योग-निर्वृत्ति

आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दन होना योग है। यह मन, वचन और काय के योग से होता है। कषायों के कारण उत्पन्न परिणामों की क्रियान्विति में इनका ही हाथ होता है। अतः यदि गांधी जी के तीन बन्दरों को ध्यान में रखा जावे तो योगों से निर्वृत्ति होगी। वे तीन बन्दर हैं—(१) बुरा मत सोच, (२) बुरा मत बोल, (३) बुरा मत देख।

दूसरे जीवों के साथ हम जैसा व्यवहार करते हैं, वैसा ही व्यवहार हमें प्राप्त होता है। अच्छे कार्य का फल अच्छा ही होता है। अच्छे परिणाम जीवन में अच्छाई का ही सृजन करते हैं, अतः अच्छा दर्शन करें। शुभ दर्शन से ही दर्शन के आवरण दूर होंगे और यथार्थता का दर्शन हो सकेगा। सरल उपाय यही है कि वे कारण दूर किये जायें, जिनसे दर्शन आवृत होता है।

दर्शनावरण कर्म-निवारण-फल

दर्शन, मनुष्य की क्रिया-प्रदर्शन का प्रथम अंग है। जैसा-जैसा देखा जाता है वैसे ही विचार बनते हैं और जैसे विचार होते हैं जीव के आचरण भी वैसे ही होते हैं। दर्शनविशुद्धि से सम्यक् ज्ञान होगा और सम्यक् ज्ञान होने पर सम्यक्चारित्र की सृष्टि होगी, निर्ग्रन्थ होकर तप करने के भाव होंगे। तपश्चरण होगा और तपश्चरण रूपी अग्नि में जलेंगे कर्म, तब प्राप्त होगा मोक्ष जहाँ है अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्तवीर्य।

अतः श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह नित्य देव, शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु के श्रद्धापूर्वक दर्शन

करें। देव-दर्शन से 'सोऽहं' के भाव उत्पन्न होते हैं। कहा भी है—

दासोऽहं रटते हुए आया जिन के द्वार।
दर्शन से दा न रहे हिय के खुलें किवार॥

अतः सदैव ऐसा दर्शन करें जो सम्यक् हो तथा धर्म का मूल हो, जिससे सुख का मार्ग प्रशस्त हो।

वेदनीय कर्म : सद्वेद्य और असद्वेद्य
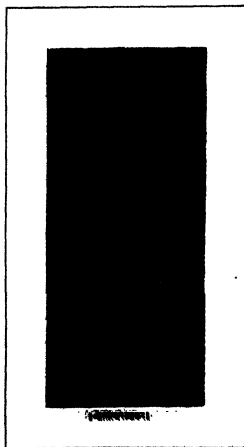
❑ लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'

कर्म उसे कहते हैं, जो आत्मा का असली स्वभाव प्रगट नहीं होने दे। जैसे बहुत-सी धूल मिट्टी उड़कर सूरज की रोशनी को ढक लेती है वैसे ही बहुत से पुद्गल परमाणु (छोटे-छोटे टुकड़े) जो इस आकाश में सब जगह भरे हैं, आत्मा में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होने से आत्मा के प्रदेशों के साथ मिलकर आत्मा के स्वरूप को ढक देते हैं। कषाय के सम्बन्ध से उनमें सुख-दुख वगैरह देने की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है, इसलिए इन्हें ही कर्म कहते हैं।

राग-द्वेषादिक परिणामों के निमित्त से कार्माण वर्गणा रूप जो पुद्गल जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।

जिसके द्वारा आत्मा परतन्त्र किया जावे, उसे कर्म कहते हैं। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है और इन दोनों का सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। कर्म के परमाणु और आत्मा के प्रदेश दूध और पानी की तरह एकमेक हो रहे हैं।

आत्मा में एकत्र योग-कषाय तथा योग्य पुद्गलों का जो भी परिणाम होता है, वह कर्म है। मन, वचन और काय का योग कर्म है।

आत्मा द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं, उस क्रिया के निमित्त से परिणाम विशेष को प्राप्त होने वाले पुद्गल को कर्म कहते हैं।

जैनधर्म-दर्शन-संस्कृति के कर्मवाद को जैनेतर दार्शनिकों ने भी स्वीकारा है। न्याय-वैशेषिक कर्म को 'अदृश्य' कहते हैं और मीमांसक 'अपूर्व'। सांख्य-योग दर्शन कर्म को 'आशय' मानते हैं और वैदिक दर्शन इसे 'अविद्या' संज्ञा देते हैं। बौद्धविद्वान कर्म को 'वासना' कहते हैं और पाश्चात्य दार्शनिक कर्म को सौभाग्य-दुर्भाग्य मानते हैं। जैन चिन्तकों सदृश जैनेतर भी "जो जस करई सो तस फल चाखा' स्वीकारते हैं। वे एक ओर "As you sow so shall you reap" "जैसा बोओ वैसा काटो" यह सर्वसाधारण की समझ है। जैन कर्मवाद पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सहज स्वीकृती देता है और अनीश्वरवाद पर अपनी अमिट अक्षय आस्था रखता है तथा ईश्वर को विश्व का स्रष्टा-संरक्षक-संहारक स्वीकारना अमान्य करता है। संसृष्टि के समस्त जीवात्माओं के सुख-दुख का आधार कर्म है। जीवात्मा कर्म रूपी काँवट को अतीत से आज तक ढो रहा है। कर्म-फल भोगे बिना कोई भी विश्व का व्यक्ति बचा नहीं है। आदर्श अर्हन्त और सफल सिद्ध तो क्रमशः चार-आठ कर्म नष्ट करके ही हुए हैं। कर्म के क्षय के लिए संवर

और निर्जरा चाहिए, न कि आस्रव न बन्ध।

वेदनीय कर्म का स्थान

संस्कृत भाषा में एक धातु या क्रिया है विद् ज्ञाने। इससे 'वेत्ता' जानने वाला, ज्ञान वाला बना है और वह 'वेद' भी बना, जिसका अर्थ सच्चा और वास्तविक ज्ञान है। वेद भारतीय आर्यों के सर्वप्रधान व सर्वमान्य धर्म-ग्रन्थ हैं तथा श्रुतिआम्नाय से सम्बन्धित हैं। वेदन (अनुभव) शब्द पुल्लिंग है और वेदना स्त्रीलिंग है। यह पीड़ा या हार्दिक व्यथा वेदना की प्रतीक है। वेदन से संवेदन लिए संवेदनीय हो, संवेदित सन्देशवाहक सभी जीव या जीवनधारक बने हैं। वेदन-संवेदन में सुख-दुख का अनुभव करना है। संवेदना मन में होने वाला बोध या अनुभव है। किसी को कष्ट में देखकर मन में होने वाला दुख सहानुभूति है। विद् वेदमूलक, ज्ञानसदृश, संवेदन से संवेदित तुल्य वेदनीय शब्द बना है। वेदनीय का आशय और अर्थ उस अनुभवनीय ज्ञान से है जो सुख-दुख मूलक है, हर्ष-विषाद और उत्थान-पतन का भी सूचक है।

कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं और उनके अपने ठाट हैं जो उत्तर प्रकृतियों के भेद से १४८ हैं। ज्ञानावरण (५), दर्शनावरण (९), वेदनीय (२), मोहनीय (२८), आयु (४), नाम (९३), गोत्र (२) और अन्तराय (५)। इनमें वेदनीय कर्म का स्थान तीसरा है पर धर्म-ग्रन्थों में घातिया-अघातिया कर्म की दृष्टि से भी वर्णन उपलब्ध है। विचार के इस धरातल में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म घातिया हैं। घातिया इसलिए कि ये जीव के ज्ञान-दर्शनादि अनुजीवी गुणों का घात करते हैं। अतएव इनकी घातिया संज्ञा ही है। वेदनीय, आयु या आयुष्य, नाम और गोत्र ये चार कर्म अघातिया हैं। कारण ये जीव के ज्ञान-दर्शनादिक अनुजीवी गुणों का घात या विनाश नहीं करते हैं। इनकी स्थिति धर्म-ग्रन्थों में नाम मात्र, जली रस्सी में ऐंठ सी है। विचार के इस बिन्दु से वेदनीय कर्म का स्थान पाँचवा भी है।

वेदनीय की परिभाषा

जो आत्मा को सुख-दुख देने में निमित्त हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इस कर्म के उदय से संसारी जीवों को ऐसी चीजों का मिलाप होता है, जिसके कारण वे सुख-दुख दोनों का अनुभव करते हैं। जैसे शहद लिपटी तलवार की धार चाटने से सुख-दुख दोनों ही होते हैं अर्थात् शहद मीठी लगती है और इससे सुख होता है परन्तु तलवार की धार चाटने से जीभ कट जाती है, अतएव दुख होता है। दूसरा उदाहरण लीजिए कि प्रकाशचन्द्र ने लड्डू खाया तो अच्छा लगा, सुख हुआ, पर असावधान होकर चलने से पैर में काँटा लग गया तो रोना आया, दुख हुआ। दोनों ही दशाओं में प्रकाशचन्द्र के वेदनीय कर्म का उदय समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में वेदनीय कर्म सुख-दुख दोनों देता है। सुख और दुख दोनों का ही वेदन वेदनीय कर्म संसार

के प्रत्येक जीवात्मा को, प्रतिक्षण कराता ही रहता है। वेदन या वेदना लिये वेदनीय कर्म जीवमात्र के लिये जीवन संज्ञा लिये है यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं:—(१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय।

दोनों की परिभाषाएँ उनके नाम और गुण की दृष्टि से संक्षेप में यों होंगी—जिस वेदनीय कर्म के उदय से शारीरिक-मानसिक, आर्थिक-धार्मिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अनेक प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ मिलें, भोगोपभोग की आवश्यक पर्याप्त सुख साधन सामग्री मिले, वह सातावेदनीय है। इसका सीधा सम्बन्ध पुण्य-कार्य-फल से है। किसी के पास सुन्दर स्त्री हो, आज्ञाकारी पुत्र हो, सभ्य-शिक्षित पुत्री-बहू हो, आजीविका की सुख-सुविधा हो, अल्पश्रम में अधिक अर्थ-द्रव्य-धन की प्राप्ति हो, बढ़िया बँगला-कार-टी.वी. रेफ्रिजरेटर कूलर आदि आरामदायक विलासिता की सामग्री हो, देश और समाज में सम्मान हो तो कहा जा सकेगा कि उसे सातावेदनीय कर्म का उदय है।

जिस कर्म के उदय से दुखदायक वस्तुयें और व्यक्ति मिलें, जीवन की परिस्थितियाँ प्रतिकूल हों, वह असातावेदनीय कर्म है। इसका सीधा सम्बन्ध पाप-कार्य-फल से है। किसी की स्त्री कर्कशा हो, पुत्र अहम्भावी हो, आजीविका का ठिकाना नहीं हो, नमक-तेल-लकड़ी की चिन्ता में राग-रंग की कूकड़ी भुलाना पड़ रही हो, रोटी कपड़ा और मकान की चिन्ता में गधे को काका कहना पड़ा रहा हो, आर्थिक स्थिति नगण्य हो, पुत्र आलसी हो, पुत्री विधवा हो जावे, बहू गरीब घर समझकर पीहर में जाकर नौकरी करने लगे तो कहा जा सकेगा कि इसके असातावेदनीय कर्म का उदय है, पूर्वोपार्जित कर्मों का विपाक या परिणाम है। अतएव आरामदायक-विलासिता-आवश्यकताओं की पूर्ति तो दूर रही, अनिवार्य आवश्यकतायें भी अधूरी रह जा रही हैं।

पंडितप्रवर द्यानतराय ने अपनी 'सिद्ध पूजा' में वेदनीय के विषय में सर्वसाधारण की भाषा-शैली में पुण्यवान और पापी के माध्यम से काफी सुस्पष्ट प्रेरणादायक लिखा है, जिसे संक्षेप में यों कहा जा सकेगा—

वेदनीय कर्म शहद मिश्रित तलवार की धार सदृश है।

वेदनीय कर्म साता (सुख) और असाता (दुख) देता है।

वेदनीय कर्म के आधारभूत जो पुण्यवान और पापी मनुष्य हैं, उनकी परिस्थितियाँ प्रतिक्षण प्रतिपल अपनी रामकहानी कहती हैं—पुण्यवान महल में सोता है और पापी राह में पड़ा रोता है। पुण्यवान इच्छित भोजन पाता है और पापी माँगने पर एक टुकड़ा भी नहीं पाता। पुण्यवान जरी-जवाहर से वस्त्र-बदन की शोभा बढ़ाता है और पापी फटे-पुराने कपड़े भी नहीं पहन पाता है। पुण्यवान स्वर्ण के थाल-कटोरी में भोजन करता है और पापी के कर या घर में चीनी का प्याला भी नहीं मिलता है। पुण्यवान हाथी पर चढ़ कर चलते हैं और पापी नंगे पैर नीचे

चलते हैं। पुण्यवान के सिर पर छत्र लगते हैं और पापी के सिर पर बोझ लदते हैं। पुण्यवान की आज्ञा सभी मानते हैं और पापी की तो कोई प्रार्थना भी नहीं सुनता। पुण्यवान द्रव्य-सम्पत्ति पाता है और पापी की धन से कभी भेंट ही नहीं होती है। पुण्यवान को सभी देखने आते हैं और पापी को लोग कभी भी मुँह नहीं लगाते हैं। पुण्यवान को कभी भी रोग नहीं सताता है और पापी व्याधि-विपत्ति से बिलबिलाता है। पुण्यवान शील-रूपवान रमणी पाता है और पापी काली कानी स्त्री भी नहीं पाता है। पुण्यवान के पुत्र काफी कमाई करते हैं, पापी के पुत्र पैसे-पैसे के लिए तरसते हैं। पुण्यवान की गिरी हुई वस्तु मिल जाती है और पापी के हाथ आई वस्तु भी गिर जाती है। पुण्यवान छह ऋतुओं के सुख भोगता है और पापी प्रत्येक ऋतु में प्रत्येक दिन दुख भोगता है।

पुण्य और पाप—वेदनीय वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। जिन सिद्ध भगवान ने दोनों शाखाओं और उनके जनक वेदनीय वृक्ष को भी ध्यान की अग्नि से जला दिया, वे सिद्ध भगवान निराबाध सुख के पूर्ण धनी हैं।

वेदनीय कर्म अन्यत्र

वेदनीय कर्म भी इहलोक-परलोक में सर्वत्र तब तक बना रहता है, जब तक १४ वाँ गुणस्थान जीवात्मा प्राप्त नहीं कर लेता है। वेदनीय कर्म के आगे जो मोहनीय कर्म है, मोहराज है उसके दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं—कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय। थोड़ा इस दृष्टि से भी वेदनीय कर्म समझ लें।

धर्म के आचार्यों ने चारित्र मोहनीय का लक्षण यह लिखा कि जिस कर्म के उदय या निमित्त से आत्मा के चारित्र गुण का घात होता है, उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं। जो मोहनीय कर्म जीवात्मा को मदिरा सदृश मोहित करता है, उस मोहनीय कर्म के उदय या निमित्त से चारित्रगुण का घात होना सहज स्वाभाविक है। चारित्र मोहनीय के उल्लिखित दो भेदों में वेदनीय जुड़ा है, अतएव वेदनीय की वेदना भी मोहनीय के समकक्ष ही समझनी चाहिए। वेदनीय कर्म भी मोहनीय कर्म की जड़े सींचता है। कषायवेदनीय का लक्षण यह है कि जो आत्मा के ज्ञानादिक शुद्ध या शुभ भाव व धर्म-क्षेत्र और उत्तम क्षमादि धर्म को कृष् (कम) या नष्ट करता है वह कषाय वेदनीय है। कषाय वेदनीय के चार प्रकार ये बतलाये हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। इन चार भेदों को क्रोध-मान-माया-लोभ से गुणा करें यानी अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ लिखें तो कषाय वेदनीय के सोलह भेद हो गए। इन्हें भी संक्षेप में यों समझें।

जो कषाय आत्मा के सम्यक्त्व या सम्यक्त्वाचरण का घात करे, वह अनन्तानुबन्धी है।

यह अनन्तकाल तक अनन्त संसार का कारण है। जिस कषाय के उदय से परिणाम देशचारित्र (श्रावक के चारित्र) धारण करने योग्य नहीं होते हैं, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। सही अर्थों में श्रद्धा-विवेक-क्रियावान अणुव्रती श्रावक बनने के लिए इस कषाय से मुक्ति अत्यन्त आवश्यक है। जिस कषाय के उदय से, जीव के परिणाम सकल चारित्र या महाव्रत-मुनिव्रत धारण करने के योग्य नहीं होते हैं, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। यदि सही अर्थों में महाव्रती, मुनि श्रमण, ऋषि, यति, अनगार बनना है तो इस कषाय को हटाना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। जो कषाय भाव आत्मा के यथाख्यातचारित्र में बाधक है, जो संयम के साथ जगमगाए पर प्रमादादि दोषों द्वारा किंचित् डगमगाए, आत्मिक वैभव के परिणाम जलावे, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं इसे ईषत् कषाय भी कह सकते हैं। अनन्तानुबन्धी पत्थर पर उत्कीर्ण रेखा है तो अप्रत्याख्यान खेत में हल द्वारा खींची रेखा है और प्रत्याख्यान पगडंडी पर गाड़ी के चाक की रेखा है तो संज्वलन पानी में खींची क्षणिक रेखा है।

अकषायवेदनीय के हास्य-रति-अरति, शोक-भय-जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष-नपुंसक भेद हैं जो अपनी संज्ञानुसार सर्वसाधारण भी समझ सकते हैं।

सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने कर्मकाण्ड में वेदनीय की परिभाषा इस प्रकार दी है— जो सुख-दुख का वेदन करावे या अनुभव करावे वह वेदनीय कर्म है। इसका स्वभाव शहद लपेटी तलवार की धार के समान है जिसको कि पहले चखने से कुछ सुख होता है परन्तु पीछे से जीभ के दो टुकड़े होने पर, अत्यन्त दुःख होता है। इस तरह साता और असाता वेदनीय से सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। यही बात आचार्य उमास्वामी ने बहुत पहले अपने मोक्षशास्त्र के आठवें अध्याय के 'सद्सद्वेद्ये' सूत्र के माध्यम से कही है। यानी सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय कर्म के भेद हैं। सद्वेद्य वह है जिसके उदय से देव-मनुष्य आदि गतियों में शारीरिक तथा मानसिक सुख की प्राप्ति हो। असद्वेद्य वह है जिसके उदय से नरक-तिर्यञ्च गतियों मे तरह तरह की व्यथा और वेदना प्राप्त हो। दूसरों को दुःख देने, दुःखी करने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। पाँच पाप और चार कषाय करने से जीवात्मा स्वयं दुखी होता है और अन्य जनों को भी दुखी करता है। पुण्यवर्धक देव-पूजा, गुरु-उपासना, शास्त्र-स्वाध्याय, संयम, तप और दान से जीवात्मा स्वयं सुखी होता है और अन्य जनों को भी सुखी करता है।

साता-वेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र ये पुण्य-प्रकृतियाँ हैं। सातावेदनीय से भिन्न असातावेदनीय है। अतएव असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र ये पाप-प्रकृतियाँ हैं। इस दिशा में स्मरणीय यह भी है कि घातिया कर्मों की सभी प्रकृतियाँ पापरूप हैं पर अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप दोनों रूप वाली प्रकृतियाँ हैं।

वेदनीय के आगमन-द्वार

आचार्यप्रवर उमास्वामी ने 'मोक्षशास्त्र' के छठे अध्याय में असातावेदनीय कर्म के आगमन के द्वार अथवा आस्रव का वर्णन इस प्रकार किया है—'दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यत्मपरोभय-स्थान्यसद्वेद्यस्य'। सूत्र का सरल संक्षिप्त अर्थ यह है कि निज और पर दोनों के विषय में स्थित दुःख-शोक, ताप-आक्रन्दन, वध-परिदेवन ये असातावेदनीय के आगमन-द्वार हैं। दुख से आशय पीड़ा रूप परिणाम विशेष का है। इस क्षेत्र में भी वरिष्ठ-विशिष्ट लोग निपुण हैं, प्राथमिकता के पात्र हैं। शोक से अभिप्राय अपने उपकारक पदार्थ अथवा व्यक्ति का विछोह-वियोग होने पर विकलता का है। ताप का तात्पर्य संसार में अपनी निन्दा होने पर, पश्चात्ताप करने का है। ताप को लेकर विरले ही तपन से बच पाते हैं। आक्रन्दन से आशय, पश्चात्ताप के साथ अश्रुपात करते हुए रुदन करना है। यह अपना जी हल्का करने के लिए भी हो सकता है और अन्यजनों से सहानुभूति पाने के लिए भी हो सकता है। परिदेवन से अभिप्राय संक्लेश परिणामों का सहारा लेकर इस प्रकार रुदन करने का है कि दर्शक-श्रोता के हृदय में दयार्द्र परिणाम हो जाएँ। मन और मति से जितने भी प्रकार के दुख सम्भव हैं उन सभी का समावेश पूर्वोक्त छह प्रकारों में समझाना चाहिए। इन्हें करेंगे तो असातावेदनीय कर्म में अभिवृद्धि होगी, अतएव इनसे बचकर रहें।

सातावेदनीय कर्म के आगमन-द्वार अथवा आस्रव ये हैं:—

'भूत-व्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य' (त.सू.अ. ६/१२) अर्थात्—भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच तथा अर्हद्‌भक्ति सातावेदनीय कर्म के आगमन-द्वार हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पा से अभिप्राय संसार के सभी प्राणियों और विशेषतया व्रताचारियों के प्रति दयामयी भावना-कृपा करने का है। दान से आशय निज और पर के उपकार के लिए वस्तु या द्रव्य को देना है। सरागसंयमादि योग से तात्पर्य पाँच इन्द्रियों और छठे मन को विषयवासनाओं से रोकने का है तथा छह काय के जीवों की हिंसा नहीं करके संयम को स्वीकारने का है और राग सहित संयम को स्वीकारना है। 'संयम के बिना जीव की एक घड़ी भी नहीं बीते', विचारने का है। यहाँ सूत्र में उल्लिखित आदि शब्द से संयमासंयम (श्रावक के व्रत संयम-कुछ असंयम), अकामनिर्जरा, बालतप (मिथ्यादर्शन सहित तपस्या) का भी ग्रहण किया जाता है। व्रत को विधिवत् पालन करना सरागसंयमादि योग है।

क्षान्ति से आशय क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का अभाव करने का है। जहाँ कषाय का अभाव है वहाँ शान्ति है। कषाय के सद्‌भाव में शान्ति आकाशकुसुम है। लोभ का त्याग करना शौच है। मनुस्मृति में 'योऽर्थशुचिः स शुचिः' लिखा है। जो अर्थ (द्रव्य/धन) की दृष्टि से पवित्र है वही वस्तुतः पवित्र है। सूत्र में उल्लिखित इति शब्द से तात्पर्य अर्हद् भक्ति और

मुनिवरों की वैयावृत्ति करने का है। सभी प्राणियों के प्रति सरल और वात्सल्यमूलक व्यवहार का है।

प्रस्तुत प्रसंग में वेदनीय कर्म के आगमन-द्वारों के विषय में, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) के यशस्वी प्रणेता आचार्य नेमिचन्द्र से मार्ग-दर्शन के लिए प्रार्थना करें तो वेदनीय के आस्रव या प्रत्यय बतलाने के लिए अपनी निम्नलिखित गाथा पुनः पुनः पढ़ने को कहेंगे—

भूदाणुकंप-वद-जोग जुजिदो-खंति-दाण-गुरुभत्तो।
बंधदि भूयो सादं विवरीयो बंधदे इदरं॥ (८०१)

गाथा का सँक्षिप्त सरल अर्थ यह है कि सब प्राणियों पर दया करना, अहिंसा सत्यादि व्रत स्वीकारना और समाधिपरिणाम रूप योग से जो व्यक्ति सहित हो तथा क्रोध के त्याग रूप क्षमा को, मान के त्याग रूप मार्दव को, माया के त्याग रूप आर्जव को और लोभ के त्याग रूप शौच धर्म को अंगीकार किए हो, जो आहार-औषधि-शास्त्र-अभयदान देता हो, अर्हन्त सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की गुरु-भक्ति में जुटा हो, ऐसा जीवात्मा बहुभाग में बहुधा प्रचुर अनुभाग के साथ सातावेदनीय कर्म को बाँधता है। इसके विपरीत अदया असत्य जैसे अनेक अवगुणों का धारक जीवात्मा तीव्र स्थिति अनुभाग सहित असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। सातावेदनीय के बन्ध की प्रचुरता न बताने का कारण यह है कि स्थितिबन्ध की अधिकता विशुद्ध परिणामों से नहीं होती।

कर्म-क्रम-सन्दर्भ

कर्मकाण्ड के अध्ययन-अनुभव-अभ्यास करने पर लगता है कि आचार्यश्री ने अनेकशः अपने ग्रन्थ की संज्ञा सार्थक की और अपनी विलक्षण बुद्धि का चमत्कार दिखाया है।

एक प्रश्न यह है कि अन्तराय कर्म को, जो घातिया कर्म है, अघातिया कर्मों के बाद क्यों कहा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने १७वीं गाथा लिखी जिसका सरल संक्षिप्त अर्थ यह है कि यद्यपि अन्तराय कर्म घातिया है तथापि अघातिया कर्मों की तरह समस्तपने से जीव के गुणों को घातने में समर्थ नहीं है। नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों के निमित्त से ही अन्तराय कर्म अपना कार्य करता है अतएव उसे अघातिया कर्मों के अन्त में कहा है।

एक प्रश्न यह भी है कि वेदनीय कर्म अघातिया कर्म है, उसको घातिया कर्मों के मध्य कहने में क्या तुक है? क्या यह साहूकार को चोरों के मध्य स्थान देना नहीं है? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थ की १९वीं गाथा के माध्यम से सुस्पष्टतया दिया है।

वेदनीय कर्म (मोहनीय कर्म के भेद जो राग-द्वेष रूप हैं—उनके उदय के बल से ही) घातिया कर्मों की तरह जीवों के अनुजीवी गुणों का घात करता है अर्थात् इन्द्रियों के रूपादि विषयों

में से किसी में रति (प्रीति) और किसी में अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख तथा दुख स्वरूप साता और असाता का अनुभव कराकर जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता है बल्कि पर स्वरूप में लीन करता है। इस कारण अर्थात् घातिया कर्मों की तरह होने से घातिया कर्मों के मध्य में तथा मोहनीय कर्म के पहले इस वेदनीय कर्म का पाठ क्रम रखा गया। भावार्थ या सूर्य सत्य तो यह है कि जब तक राग-द्वेष रहते हैं तब तक ही यह जीव किसी को बुरा और किसी को भला समझता है। कारण, एक ही वस्तु किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय लगती है। जैसे कटुक-रस वाला नीम का पत्ता ऊँट को प्रिय लगता है और मिष्टान्नप्रिय मनुष्य को अप्रिय लगता है। इससे यह सत्य ज्ञात होता है कि वस्तु तो जैसी है वैसी ही है अर्थात् वस्तु किसी के लिए भली हो और किसी के लिए बुरी हो, ऐसा नहीं है। वस्तु सभी के लिए समान है, पर उसके उपभोग के प्रति जिसका जैसा मनोभाव होता है वस्तु भी उसे वैसी प्रिय-अप्रिय लगने लगती है यानी मोहनीय कर्मरूप राग-द्वेष के निमित्त से वेदनीय का उदय होने पर ही इन्द्रियों से उत्पन्न सुख और दुख का अनुभव होता है। चूंकि मोहनीय कर्म के बिना वेदनीय कर्म वैसे ही कुछ भी नही कर पाता है जैसे निर्बल सैनिक राजा की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं कर पाता है, अतएव विचार के इस बिन्दु से ही घातियाकर्मों के बीच में अघातिया वेदनीय कर्म को स्थान देना पड़ा यानी दर्शनावरणी और मोहनीय के बीच सुरक्षित रूप से रखना पड़ा।

वेदनीय कर्म के निगमन-द्वार

विश्व छह द्रव्यों का समूह है। छह द्रव्यों में, केवल जीव और पुद्गल में ही वैभाविक शक्ति है, परस्पर ध्यानाकर्षण की क्षमता है, परस्पर प्रभावित होकर जीव और पुद्गल प्रकृत से विकृत होते हैं और तदनुरूप आचरण या व्यवहार करने लगते हैं। जीव और पुद्गल के विकृत परिणमन का परिणाम विश्व दृष्टिगोचर हो रहा है। विश्व में एक मानव की दृष्टि से पुरुष और स्त्री दोनों पृथक् रूप में हैं पर जब वे दम्पति बनकर जीवन व्यतीत करने सामाजिक और धार्मिक संस्कारों में बँधते हैं, परस्पर सम्बद्ध होते हैं, शारीरिक-मानसिक-धार्मिक-आर्थिक विचार-विनिमय व्यवहार करते हैं तो वे जनम जनम के फेरे लगाने जैसे काम करने लगते हैं। सन्तति (पुत्र-पुत्री) के रूप में वे धर्म व समाज के सम्मुख प्रमाणपत्र भी प्रस्तुत करने लगते हैं और उनके लिए तन-मन-धन देकर अपना पितृत्व-मातृत्व सफल समझने लगते हैं। विवाह के बन्धन में फँसकर अपनी स्वतन्त्रता की इतिश्री करके परतन्त्रता को जीवनपर्यन्त स्वीकारते हैं। वेदनीय के फलस्वरूप सुख-दुःख भोगते हैं। विषम-वेदना सहन करते हुए भी, वेदना के प्रतिकार हेतु विरोधी उपाय-बचाव नहीं करते हैं। इस प्रकार अपनी प्रवृति से स्त्री-पुरुष और जीव-पुद्गल अनादिकाल से उल्टी गंगा बहाने में अपना अहोभाग्य मान रहे हैं।

जीवात्मा में राग-द्वेष भाव उत्पन्न होना उसका विकृत परिणमन है और पुद्‌गल में कर्म स्कन्धादि रूप परिणमन होना उसका विकृत परिणमन है। जीव की विकृत परिणति, पुद्‌गल कर्म की उदयावली से उद्‌भूत होती है और पुद्‌गल की विकृत परणति जीवात्मा के विकृत क्रियाकलापों के कारण होती है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से आज तक चला आ रहा है। जीव की चतुर्गति रूप संसार-पर्याय शुद्ध-जीव की पर्याय नहीं है। जीव और पुद्‌गल के संयोग से निर्मित संयोगी पर्याय के कारण जीव की संसारी पर्याय, अशुद्ध-पर्याय कहलाती है और पर-द्रव्य संयोग से रहित होने के कारण सिद्ध परमेष्ठी की पर्याय शुद्ध-पर्याय कही जाती है। जब तक आत्मा और शरीर का संयोग है तब तक रोटी-कपड़ा-मकान-संस्थान चाहिएं पर जहाँ आत्मा ने कर्म रूपी भवन ही ध्यान रूपी अग्नि से जला दिया, वहाँ शुद्धात्मा के लिए रोटी, कपड़ा, मकान संस्थान का प्रश्न ही नहीं रहा। इस विषय में मननीय सत्य-तथ्य यह भी है कि अनादिकाल से साथ रहने पर भी, कभी जीव पुद्‌गल नहीं हुआ और कभी पुद्‌गल जीव नहीं हुआ। श्रीमती इन्दु जैन के शब्दों में वस्तुस्थिति यह है कि—

जिस्म का रूह से रिश्ता भी अजब रिश्ता है।
उम्र भर साथ रहे फिर भी तार्रूफ न हुआ॥

जैसे कर्म के आगमन-द्वार हैं वैसे कर्म के निर्गमन-द्वार भी हैं। मन-वचन-काय के योग से जैसे कर्म आते हैं वैसे संवर और निर्जरा के सहयोग से कर्म जाते भी हैं। जब तक कर्म-बन्धन है तब तक मोक्ष नहीं है। जहाँ कर्मबन्ध रूपी रज्जु जली कि मुक्तिश्री मिली। राग-द्वेष पर विजय मिली नहीं कि मुक्तिश्री ने वरमाला डाली। आस्रव का निरोध करना संवर है। आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आगमन होता था, उन कारणों को दूर करना ताकि अन्य कर्मों के आगमन से मुक्ति मिले। कर्मों के आगमन को रोकने के लिए एक ओर पुद्‌गलमय कर्म आस्रव रोकना और दूसरी ओर पुद्‌गल कर्मास्रव के कारण भूत भावों का अभाव करने के लिए सक्षम/सक्रिय होना। आत्मा की सुरक्षा और विकास के लिए दुष्कर्मों से बचने का सुदृढ़ संकल्प करना यानी मन वचन काय को वश में रखना, जीव-हिंसा से बचने के लिए यत्नाचारपूर्वक विवेकमयी प्रवृत्ति करना, उस धर्म को स्वीकारना जो जीवात्मा को संसार के दुखों से छुड़ावे और अभीष्ट शाश्वत 'शिव' कल्याणरूप स्थान प्राप्त करावे। शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता का पुनः पुनः मनन-चिन्तन निदिध्यासन करना, भूख-प्यास, शीत-उष्ण, दंशमशक, नग्नता-अरति, स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या, आक्रोश-वध-याचना, अलाभ-रोग-तृण-स्पर्श-मल परीषहजय करना, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा-अज्ञान-अदर्शन जैसी स्थितियों में ज्ञानानन्दमयी मनोभाव सुस्थिर रखना बुद्धिमानी है। एक वाक्य में, शरीर से आत्मा की, सृष्टि से मोक्ष की दिशा में चलने के लिए उतना परिश्रम करना कि जितना भी शक्य और सम्भव हो। वस्तुस्थिति-देशकाल-स्वशक्ति को दृष्टि में रखते हुए मिथ्यादर्शन , मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को छोड़ना और अपनी आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जोड़ना ही उचित है। इस दिशा में सामायिक-छेदोपस्थापना,

परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र की सम्यक दिशा में बढ़ना। कर्म-आगमन का द्वार बन्द कर, बाहरी सुरक्षा से सुखद सांस लेने का उपक्रम संवर है।

बाहर के कर्म-आगमन-द्वार बन्द कर निश्चिन्त होकर, खुर्राटे भरने लगना नितान्त अनुचित है। जब तक भीतरी कर्म नष्ट नहीं होते हैं तब तक मोक्ष सुदूर है, वहाँ संसार ही है, अतएव भीतरी कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिए ज्ञानरूपी दीपक जलाना चाहिए और उसमें तपस्या रूपी तेल भरना चाहिए तथा अन्तरंग में स्थित कर्मों की खोज-शोध कर के उन्हें ध्यानपूर्वक निकालना चाहिए। आत्मिक जीवन-ज्योति जागृत करने की सफलता तब ही है, जब सभी कर्म क्षय हो जाएँ, तभी शिव-थल या सिद्ध-शिला की प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं।

चूँकि कर्मों का क्षय तप द्वारा ही सम्भव है, अतएव छह बाह्य और छह आभ्यन्तर तप अपनाना चाहिए। बाह्य तप की अपेक्षा अन्तरंग तप पर विशेष ध्यान देना चाहिए; कारण, अन्तरंग के कर्म खोज कर निकालना है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र और उपचार विनय जहाँ रखें, वहाँ वैयावृत्य के दश प्रकारों को भी नहीं भूलें। स्वाध्याय, जिसे धर्मज्ञ आचार्यों ने परम-चरम तप कहा, उसकी सर्वतोमुखी अभिवृद्धि करने के लिए वाचन, पृच्छना, आम्नाय भी दृष्टि-पथ में रखना चाहिए। व्युत्सर्ग तप बढ़ाने के लिए, बाहरी-भीतरी चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग कर, सही अर्थों में क्षीणमोह वीतराग निर्ग्रन्थ बनने का प्रयत्न होना चाहिए। ध्यान की दिशा में आर्त्त और रौद्र ध्यान का पूर्णतया परित्याग करके, धर्मध्यान-शुक्लध्यान को ही अंगीकार करना चाहिए। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ से आगे स्नातक बनने के लिए प्राण-प्रण से प्रयत्न करना चाहिए। एक बार अर्हन्त बने कि सिद्ध बनने के लिए शत-प्रतिशत सम्भावनाएँ सुनिश्चित हुईं।

संक्षेप में, कर्मों के आस्रव को संवर और निर्जरा द्वारा रोकना चाहिए और अपने आत्मा में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त बल, अनन्त सुख प्रकट करना चाहिए। हम चेतन होकर, जड़ कर्मों से पराजय स्वीकार करें, उनके दास बनें, इससे तो हमारी ज्ञान-चेतना पर बहुत बड़ा लांछन लगता है, पुरुषत्व पर बट्टा लगता है। एक वेदनीय क्या, आठों कर्मों को जीतने की क्षमता हममें है, यह बात अर्हन्तों ने बार-बार दुहराई है, इसलिए अपनी शक्ति पहचान कर हम आगे बढ़ें।

स्मरणीय सत्य-तथ्य

आचार्य नेमिचन्द्र ने कर्मकाण्ड में (गाथा ६३३/६३४ में) वेदनीय के भंगों के विषय में लिखा है कि वेदनीय की गति सभी गुणस्थानों में है। साता और असाता इन दोनों में से एक ही का बन्ध अथवा उदय योग्यस्थान में होता है और सत्व दो दो का ही सयोगी पर्यन्त है। अयोगी के अन्त समय में जिसका उदय उसी का सत्व होता है, इसलिए वेदनीय कर्म के गुणस्थानों की अपेक्षा से भंग इस प्रकार कहे हैं कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त चार भंग हैं, सयोगी जिनपर्यन्त

दो भंग होते हैं और अयोगी गुणस्थान में चार भंग हैं।

आचार्य उमास्वामी ने 'वेदनीये शेषाः' सूत्र लिखकर स्वर्णोपदेश दिया कि क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, तृणस्पर्श और मल ये एकादश परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं। इन्हीं आचार्यश्री ने 'वेदनायाश्च' सूत्र के माध्यम से समझाया कि योगजनित पीड़ा का निरन्तर चिन्तवन करना, यह वेदनाजन्य आर्तध्यान है। यानी जैसे सुख भोगते हैं वैसे ही दुख भी भोगना चाहिए। सुख और दुख दोनों स्थितियों में समभाव रखेंगे तभी वीतरागता की प्राप्ति होगी। इन्हीं आचार्यश्री ने 'एकादशजिने' सूत्र लिखकर समझाया कि सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान में रहने वाले जिनेन्द्र भगवान के ग्यारह परीषह होते हैं (जो 'वेदनीय शेषाः' के अन्तर्गत पूर्व में लिख दिए गए)। इस विषय में स्पष्टीकरण यह भी है कि जिनेन्द्र भगवान के वेदनीय कर्म का उदय होने से उसके उदय से होने वाले ग्यारह परीषह कहे गये हैं। यद्यपि मोहनीय कर्म का उदय नहीं होने से भगवान को क्षुधादिक की वेदना नहीं होती है। वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म की संगति पाकर ही दुख का कारण बनता है। स्वतन्त्र या पृथक् होकर नहीं—कारण, वह अपने आप में निर्बल सैनिक है? तथापि इन परीषहों का कारण वेदनीय कर्म मौजूद है, इसलिए उपचार से ग्यारह परीषह कहे गये हैं। वास्तव में तो जिनेन्द्रदेव के एक भी परीषह नहीं होता है।

नेमिचन्द्र आचार्य ने वेदनीय कर्म की परिभाषा समझाई कि जो उदय में आकर, देवादि गति में जीव को शारीरिक तथा मानसिक सुखों की प्राप्ति रूप साता का 'वेदयति' भोग करावे अथवा वेद्यते अनेन, जिसके द्वारा जीव उन सुखों को भोगे वह सातावेदनीय कर्म है व जिसके उदय का फल अनेक प्रकार के नरकादिक गतिजन्य दुखों का भोग-अनुभव कराता है, वह असाता वेदनीय कर्म है। साता और असातावेदनीय कर्म का मूल स्रोत, पुण्य-पाप है, उसके फल में आसक्ति रखना अनुचित है। हर्ष-विषाद करना निष्फल है। पंडितप्रवर दौलतराम जी ने छहढाला में इसी सत्य को यों समझाया है—

पुण्य-पाप फल मांहि हरख विलखो मति भाई।
यह पुद्गल परजाय उपजि विनसै थिर थाई॥

वेदनीय विषयक निश्चित निष्कर्ष

(१) अष्ट कर्मों की श्रृंखला में वेदनीय कर्म तीसरा कर्म है। (२) वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस सागर है। (३) वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। (४) वेदनीय कर्म सुख-दुख के वेदन कराने में निमित्त है। (५) वेदनीय का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। (६) वेदनीय कर्म एक रथ-चक्र सदृश है। (७) वेदनीय सांसारिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु है। (८) वेदनीय वेदनामय जीवन का प्रतीक है। (९) वेदनीय का विनाश १४वें गुणस्थान बाद है (१०) वेदनीय का विकास अनिश्चित

सा होता है (११) वेदनीय अघातिया कर्म है (१२) वेदनीय अनुजीवी गुणों का घात नहीं करता है (१३) वेदनीय जीवात्मा के अव्याबाध गुण के विकास में बाधक है (१४) वेदनीय का आस्रव-बन्ध कभी भी, कहीं भी हो सकता है (१५) वेदनीय कर्म की संवर-निर्जरा असाध्य न हो, कष्टसाध्य तो है ही (१६) वेदनीय भी शेष कर्मों के सदृश जीवात्मा की मुक्ति में बाधक है।

वेदनीय कर्म ही क्या, सभी कार्यों को 'प्रकृति' कहा गया है। प्रकृति का अर्थ बतलाने के लिए गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में आचार्य नेमिचन्द्र ने निम्नलिखित गाथा लिखी है—

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइ संबंधो।
कणयो वले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं॥२॥

गाथा का सरल अर्थ यह है कि कारण के बिना जो सहज स्वभाव होता है, उसको प्रकृति शील अथवा स्वभाव कहते हैं। जैसे कि आग का स्वभाव ऊपर को जाना है, पवन का तिरछा बहना है और जल का स्वभाव नीचे की ओर बहना है। प्रकृत में यह स्वभाव जीव और अंग (कर्म) का ही लेना चाहिए। इन दोनों में से जीव का विभावरूप स्वभाव रागादि रूप परिणमने का है और कर्म का स्वभाव रागद्वेष रूप परिणमावने का है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है। जीव और कर्म का अस्तित्व भी स्वयं ही ईश्वरादि कर्त्ता के बिना ही स्वतःसिद्ध है। जिस प्रकार शराब और भांग का स्वभाव बावला/पागल कर देने का है और पीने वाले जीवात्मा का स्वभाव पागल हो जाने का है वैसे ही जीव का विभावरूप स्वभाव रागद्वेष पाप-कषाय रूप होने का हो रहा और कर्म या अंग का स्वभाव जीव को राग-द्वेष पाप-कषाय रूप परिणमाने का अनादिकाल से हो रहा है। वर्तमान विश्व भी विविधताओं और विचित्रताओं का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। भिन्न रंग, भिन्न रूप, भिन्न भाषा, भिन्न भोजन, भिन्न-व्यवहार, भिन्न धर्म, भिन्न संस्कृति, भिन्न साहित्य, भिन्न जीवन, भिन्न दर्शन, भिन्न शरीर, भिन्न माता-पिता, भिन्न देश-काल, भिन्न आचार-विचार, भिन्न आत्मा, भिन्न स्थिति। इस भिन्नता में, अभिन्नता खोजना अतीव कष्ट साध्य कार्य है। सभी बाहरी भेदों की अपेक्षा भीतरी एकता अभेद अखण्ड है। इसमें अणु भर भी सन्देह नहीं है। सबकी आत्मा एक जैसी है, सभी सुख चाहते हैं, सभी को अपने प्राण प्रिय हैं। इसलिए विश्व के व्यक्ति युद्ध से अयुद्ध (शांति) की ओर चलकर ही 'जियो और जीने दो' या 'परस्परोपग्रहो जीवानां ' सूत्र का संकेत सन्दर्भ समझ सकते हैं, विरोधी बन कर नहीं। विवेकी, असंयमी बनकर नहीं बल्कि संयमी बनकर ही, विश्व की एक मानव संज्ञा सार्थक कर सकते हैं, अपने धर्म-कर्म सार्थक कर सकते हैं।

कभी जीवात्मा को जीवन-यात्रा में यह मति-भ्रम हो जाता है कि मैं अन्य जनों के लिए बहुत कुछ करता हूँ, मेरे ही कारण वे इतने सुखी-दुःखी हैं, यानी मैं उन्हें सुख-दुख देता रहा हूँ। यह भाव पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, अधिकारी-अधीनस्थ में अहंभाव बढ़ाता है, अज्ञान का अन्धकार बढ़ाता है। आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने इस दिशा में सूर्यसत्य यह कहा है—

सुख दुख भी निश्चय से अपने ही कर्मों के उदय से होते हैं।

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिद सुहिदं करेमि सत्ते ति।
स मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।। (समयसार गाथा-२५३)

अर्थात् जो जीव अपने मन में ऐसा समझता है कि मैं इन जीवों को दुखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ तो ऐसा विचार करने वाले जीव मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं। ज्ञानी का विचार तो इसके विपरीत ही होता है। अर्थात् वह अपने लिए अन्य का कर्त्ता नहीं मानता है। आगे उन्होंने कहा—अपने कर्मोदय के निमित्त से ही सब जीव सुखी या दुखी होते हैं। ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है और तू उनको कर्म देता नहीं है तब तेरे द्वारा वे प्राणी कैसे सुखी-दुखी किए गये? वे सब जीव तुझे कर्म देते नहीं हैं फिर उन्होंने तुझे कैसे सुखी-दुःखी किया? सभी अपने कर्मों के फल भोगते हैं। महाप्रभु आदिनाथ का जीवन कर्मफल चेतना का ज्वलन्त निदर्शन है। उनके गर्भ-जन्म-तप के समय स्वर्ग के देवता आए पर उनके आहार-लाभ के प्रसंग में कोई सहायता नहीं कर सका, न चक्रवर्ती पुत्र, न अन्य अधीनस्थ।

जीव के लिए चार बातें श्रेष्ठता की प्रतीक हैं।
(१) मधुर सत्य भाषण (२) नम्रता (३) सन्तोष (४) अहिंसा।
प्रिय वचन वशीकरण मन्त्र है।
वाणी से मानव के कुल एवं जाति की पहिचान होती है।

संसारभ्रमण का मूलकारण : मोहनीय कर्म

❑ ब्र. कु. प्रभा पाटनी

"मोहयति मोह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्।"—जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है।

"मोहनीयस्य का प्रकृतिः? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचार-विकलता।" मोहनीय कर्म का क्या स्वभाव है? मद्यपान के समान हेय—ज्ञान की रहितता अर्थात् अविवेक मोहनीय कर्म की प्रकृति कहलाती है। (द्रव्यसंग्रह टीका ३३/९२/११)

"मुह्यते इति मोहनीयम्" — (धवला पु. ६) जो मोहित करे सो मोहनीय कर्म। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो मोहित करे अर्थात् शराब, धतूरा, स्त्री आदि मोहनीय कर्म हैं। यहाँ तो मोहनीय नामक द्रव्यकर्म की प्रमुखता अपेक्षित है। आठ द्रव्यकर्मों में मोहनीय कर्म ही संसार-परिभ्रमण का मूल कारण है।

मोहनीय कर्म के भेद

"मोहणीयस्स कम्मस्स अट्ठावीस पयडीओ।" जं तं मोहणीयं कम्मं तं दुविहं दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीयं चेव॥ (षट्खण्डागम ६.)। मोहनीय कर्म के अट्ठाइस भेद हैं। दो भेद भी हैं—दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव प्र. टीका में मोहनीय के चार भेद बताये हैं—दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय, कषाय वेदनीय, नोकषाय वेदनीय।

"पज्जवट्ठियणए पुण अवलंविज्जमाणे मोहणीयस्स असंखेज्जलोगमेत्तीयो होंति, असंखेज्जलोगमेत्तउदयट्ठाणण्णहीणुववत्तीदो।"—पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर तो मोहनीय कर्म की असंख्यातलोक मात्र शक्तियाँ हैं, क्योंकि, अन्यथा उसके असंख्यातलोक मात्र उदयस्थान बन नहीं सकते। (ध. पु. १२/४.) अर्थात् मोहनीय कर्म के इस अपेक्षा से असंख्यात भेद भी हैं।

दर्शनमोहनीय का सामान्य लक्षण

दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना (स.सि. ८.३) दर्शन, रुचि,

प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थ वाचक हैं। आप्त या आत्मा में, आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धान को दर्शन कहते हैं। उस दर्शन को जो मोहित करता है, विपरीत करता है, अविश्वास करता है अथवा अश्रद्धान करता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं। या जिस कर्म के उदय से अनाप्त में आप्तबुद्धि और अपदार्थ में पदार्थबुद्धि होती है अथवा आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धान की अस्थिरता होती है; अथवा दोनों में भी अर्थात् आप्त-अनाप्त, आगम-अनागम में और पदार्थ-अपदार्थ में श्रद्धा होती है, वह दर्शनमोहनीय कर्म कहलाता है।

दर्शन मोहनीय के भेद—"जं तं दंसणमोहनीयं कम्मं तं बंधादो एयविहं, तस्स संतम्मं पुण तिविहं सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि।" (षट्खण्डागम ६/१)

दर्शनमोहनीय बन्धकाल में एक प्रकार का होता है तथा सत्वावस्था में तीन प्रकार का होता है।

(१) मिथ्यात्व प्रकृति—जिसके उदय से जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरुत्सुक, हिताहित का विचार करने में असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है।

(२) सम्यक्त्व प्रकृति—वही मिथ्यात्व परिणाम जब शुभ परिणामों के कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है, और उदासीन रूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है वह सम्यक्त्व प्रकृति कहलाती है। इसका वेदन करने वाला सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

(३) सम्यग्मिथ्यात्व—वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों और ओदन के उपयोग से प्राप्त हुए मिश्रपरिणाम के समान उभयात्मक परिणाम होता है तब सम्यग्मिथ्यात्व कहलाता है।

दर्शनमोहनीय सत्वावस्था में तीन प्रकार के कोदों के समान (दला जाने वाला, अर्द्ध चावल और कोदों इन तीन अवस्था को प्राप्त होता है उसी प्रकार) दर्शन मोहनीय भी तीन अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

चारित्रमोहनीय का लक्षण

"पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्।" "घादिकम्माणिपावं। तेसिं किरिया मिच्छत्ता-संजमकसाया। तेसिमभावो चारित्तं। तं मोहेइ आवारेदि त्ति चारित्तमोहणीयं।"—पापरूप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। घातिया कर्मों को पाप कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय, ये पाप की क्रियाएँ हैं। इन पाप-क्रियाओं के अभाव को चारित्र कहते हैं। उस चारित्र को जो मोहित करता है अर्थात् आच्छादित करता है, उसे चारित्र-मोहनीय कहते हैं। अर्थात् राग का न होना,

असंयम का न होना चारित्र है। (धवला ६.१)

"चरति चर्यतेऽनेनेति चरणमात्रं वा चारित्रं, तन्मोहयति मुह्यतेऽनेनेति चारित्रमोहनीयं।" (गो.क.जीव प्र. टीका गा. ३३.)

चारित्रमोहनीय के भेद—दो भेद हैं—(१) कषाय वेदनीय (२) अकषायवेदनीय (नोकषायवेदनीय)। कषाय वेदनीय १६ भेदों वाला है। नोकषाय वेदनीय ९ भेदों वाला है।
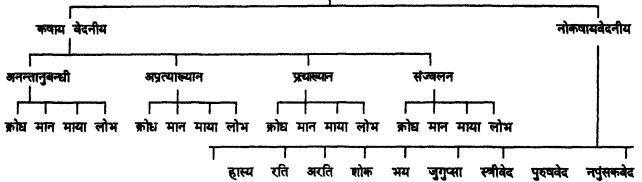
कषाय वेदनीय—"जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसायं वेदयदि तं कम्मं कसायवेदणीयं णाम।"—जिस कर्म के उदय से जीव कषाय का वेदन करता है वह कषायवेदनीय है। (धवला १३/५)

अकषाय वेदनीय—"जस्स कम्मस्स उदएण जीवो णो कसायं वेदयदि तं णोकसायवेदणीयं णाम।" —जिस कर्म के उदय से जीव नोकषाय का वेदन करता है, वह नोकषाय (अकषाय) वेदनीयकर्म है। (धवला पु. १३/५)

अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का कार्य

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि॥४५॥ (गो.क.)

पहली अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व को घातती है, दूसरी अप्रत्याख्यान कषाय देशचारित्र को, तीसरी प्रत्याख्यान कषाय सकलचारित्र को और चौथी संज्वलन कषाय यथाख्यातचारित्र को घातती है। इनके गुणों के अनुसार ही इनके नाम भी हैं।

अनन्त संसार का कारण होने के कारण से मिथ्यात्व अनन्त है, उसके साथ जो सम्बन्ध करे वह अनन्तानुबन्धी है। अप्रत्याख्यान ईषत् संयम-देशसंयम को घातती है। प्रत्याख्यान सकलसंयम नहीं होने देती तथा संज्वलन —"सम" एकरूप होकर जो संयम के साथ प्रकट रहे वह संज्वलन कषाय है। इसी प्रकार नोकषाय और ज्ञानावरणादि भी सार्थक नाम वाले हैं।

कषायों का वासना-काल

अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण॥४६॥ (गो.क.)

संज्वलन का वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त है, प्रत्याख्यानकषाय का एक पक्ष, अप्रत्याख्यान का छह महिना तथा अनन्तानुबन्धी का संख्यात-असंख्यात और अनन्तभव है।

वासनाकाल—उदय का अभाव होते हुए भी कषाय का संस्कार जितने काल तक रहे उसका नाम वासनाकाल है।

कषायों के भेद उदाहरण सहित, तारतम्यता के साथ आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती बतलाते हैं—

क्रोध कषाय के भेद व उसका फल—

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥२८४॥ (गो.जी.का.)

क्रोध चार प्रकार का होता है :(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध, पत्थर की रेखा के समान, (२) अप्रत्याख्यान क्रोध, पृथ्वी रेखा के समान, (३) प्रत्याख्यान क्रोध, धूलि रेखा के समान और (४) संज्वलन क्रोध, जल रेखा के समान। ये चारों ही क्रोध क्रमशः नरक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न करने वाले हैं। शक्ति की अपेक्षा क्रोध के चार भेद इस प्रकार हैं—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य और जघन्य।

मान कषाय के भेद—

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥२८५॥

मान कषाय चार प्रकार की होती है—(१) अनन्तानुबन्धी मान—पत्थर के समान, (२) अप्रत्याख्यान मान—हड्डी के समान, (३) प्रत्याख्यान मान—काठ के समान, (४) संज्वलन मान—बेंत के समान। ये चारों ही कषाय क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवगति की उत्पादक हैं।

माया कषाय के भेद—

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं॥२८६॥

माया कषाय भी चार प्रकार की है—(१) अनन्तानुबन्धी माया—बांस की जड़ के सदृश, (२) अप्रत्याख्यान माया—मेढ़े के सींग सदृश, (३) प्रत्याख्यान माया—गो मूत्र के सदृश व (४) संज्वलन

माया—खुरपा के सदृश। ये क्रमशः नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति को दिलाने वाली है।

लोभ कषाय के भेद—

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो॥२८७॥

लोभ कषाय भी चार प्रकार का है—(१) अनन्तानुबन्धी लोभ—कृमिराग के समान, (२) अप्रत्याख्यान लोभ—चक्रमल (रथ आदि के पहियों के भीतर का ओंगन), (३) प्रत्याख्यान लोभ—शरीर के मल के सदृश, और (४) संज्वलन—हल्दी के रंग के समान। ये चारों लोभ कषायें भी तारतम्य के साथ क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति का उत्पादक हैं।

दर्शनमोहनीय के बन्ध योग्य परिणाम

"केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य"।६/१३ (त.सू.) अर्थात् केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।

"मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्"। अर्थात् सत्य मोक्षमार्ग को दूषित ठहराना और असत्य मोक्षमार्ग को सच्चा बताना—ये भी दर्शनमोह के कारण हैं।

कषायवेदनीय के बन्धयोग्य परिणाम

"स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेदनीस्यास्रवः।" (स.सि. ६/१४/३३२)

स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिंग (वेष) और व्रत को धारण करना आदि कषायवेदनीय के आस्रव हैं।

"जगदनुग्रहतन्त्रशीलव्रतभावितात्मतपस्विजनगर्हण-धर्मविध्वंसन-तदन्तरायकरणशीलगुणदेशसंयतविरति-प्रत्यावन-मधुमद्यमांसविरतचित्तविभ्रमापादन-वृतसंदूषण-संक्लिष्टलिंगव्रतधारणस्वपरकषायोत्पादनादिलक्षणः कषायवेदनीयस्यास्रवः।" (रा.वा. ६/१४/३/५२५)

जगदुपकारी शीलव्रती तपस्वियों की निन्दा, धर्मध्वंस, धर्म में अंतराय करना, किसी को शीलगुण देशसंयम और सकल संयम से च्युत करना, मद्य-मांस आदि से विरक्त जीवों को उससे बिचकाना, चारित्रदूषण, संक्लेशोत्पादक व्रत और वेषों का धारण, स्व और पर में कषायों का उत्पादन आदि कषायवेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

अकषायवेदनीय के बन्धयोग्य परिणाम

१. हास्य वेदनीय—उत्प्रहास, दीनतापूर्वक हँसी, कामविकारपूर्वक हँसी, बहुप्रलाप तथा हरएक की हँसी मजाक करना हास्य वेदनीय के आस्रव के कारण है।

२. रति—विचित्र क्रीड़ा, दूसरे के चित्त को आकर्षित करना, बहुपीड़ा, देशादि के प्रति अनुत्सुकता, प्रीति उत्पन्न करना।

३. अरति—रति विनाश, पापशील व्यक्तियों की संगति, अकुशल क्रिया का प्रोत्साहन देना आदि।

४. शोक—स्वशोक, प्रीति के लिए पर का शोक करना, दूसरों को दुःख उत्पन्न करना, शोक से व्याप्त का अभिनन्दन आदि शोकवेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

५. भय—स्वयं भयभीत रहना, दूसरों को भय उत्पन्न करना, निर्दयता, त्रास आदि भयवेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

६. जुगुप्सा—धर्मात्मा, चतुवर्ण, विशिष्ट वर्ग, कुल आदि की क्रिया और आचार में तत्पर पुरुषों से ग्लानि करना, दूसरों की बदनामी करने का स्वभाव आदि।

७. स्त्रीवेद—अत्यन्त क्रोध के परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्याभाषण, छलकपट, तीव्रराग, परांगनागमन, स्त्रीभावों में रुचि आदि।

८. पुंवेद—मन्दक्रोध, कुटिलता का न होना, अभिमान न होना, निर्लोभ भाव, अल्पराग, स्वदार-संतोष, ईर्ष्या रहित भाव, स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदि के प्रति आदर न होना आदि।

९. नपुंसकवेद—प्रचुर क्रोध, मान, माया, लोभ, गुप्त इन्द्रियों का विनाश, स्त्री-पुरुषों में अनङ्ग क्रीडा का व्यसन, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषों को बिचकाना, परस्त्री पर आक्रमण, तीव्रराग, अनाचार आदि नपुंसक वेद के आस्रव के कारण हैं। (स.सि ६/१४)

तात्पर्य यह है कि सर्व कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्तकारण होने से मोह को "अरि" अर्थात् शत्रु कहा है क्योंकि समस्त कर्म मोह के अधीन हैं। मोह के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं जिससे कि वे स्वतन्त्र समझे जायें, इसलिए सच्चा 'अरि' तो मोहनीय कर्म है। किन्तु ऐसा माने कि मोह आधीन अन्य कर्म हैं तो मोह शत्रु को नष्ट होने पर, जन्म-मरण की परम्परा रूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं रहने से उनका सत्त्व-असत्त्व के समान हो जाता है।

> बध्यते मुच्यते जीव, समम निर्मम क्रमात्।
> तस्मात् सर्वप्रयत्नेन, निर्मम इति चिंतयेत्॥ (इष्टोपदेश)

जीव राग के द्वारा बँधता है और राग न करने से छूटता है इसलिए प्रयत्नपूर्वक राग का त्याग करना चाहिए। मनुष्य जितना बाह्य पदार्थों से राग-द्वेष मोह करना छोड़ेगा उतना उतना ही सुखी होता जायगा। आचार्य अमितगति मोहनीय कर्म को क्षय करने के लिए कहते हैं–

न संति बाह्याः मम केचनार्थाः भवामि तेषां न कदाचनाहं।
इत्थं विनिश्चिंत्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै॥२४॥

जो मनुष्य मोहनीय कर्म के उदय से मान के वशीभूत होकर देव, शास्त्र, गुरु का अवर्णवाद करता है वह सत्तर कोड़ाकोडि वर्ष की अवधि का कर्मबन्ध कर लेता है। अर्थात् यदि व्यक्ति सुख एवं सद्‌गति चाहता है तो उसे बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति का त्याग करके व्रत, नियम, दान, दया, पूजन आदि शुभोपयोग में जीवन बिताना चाहिए।

❖❖❖

भावस्थिति का सम्पादक : आयुकर्म

❑ *मुनिश्री रयणसागर जी*
शिष्य स्व. मुनि श्री दयासागर जी

परिणामों की विचित्रता है। जीवों को सदैव अपने परिणामों को सम्हालते रहना चाहिए। आयु कर्म का किस समय बन्ध हो जाये पता नहीं। आयु कर्म बड़ा प्रबल होता है। एक बार आयु का बंध हो जाने पर वह छूटता नहीं। हाँ, परिणामों के शुभ-अशुभ होने पर उसमें अपकर्षण या उत्कर्षण अवश्य हो सकता है। जैसे—

राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया। तत्काल ही नरकायु में सप्तम नरक की ३३ सागर की स्थिति का बंध पड़ गया। पश्चात् उन्होंने पश्चात्ताप के द्वारा कुकृत्यों की निंदा गर्हा की, पर एक बार आयुबंध हो गया उससे बच नहीं पाये परन्तु परिणामों की निर्मलता से सप्तम नरक की आयु का अपकर्षण होकर मात्र प्रथम नरक चौरासी हजार वर्ष की आयु ही शेष रह गई। आचार्य कहते हैं कि भैय्या, परिणामों को सदैव निर्मल रखो।

किसी जीव ने निर्मल परिणामों से मनुष्यायु का बंध कर लिया परन्तु यदि अन्तिम समय परिणाम निर्मल नहीं रहे तो वह जीव मनुष्य आयु तो पायेगा पर सम्मूर्च्छन लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य बनकर अपनी उत्तमता को खो देता है। इसी प्रकार यदि किसी वैमानिक देव की आयु निर्मल परिणामों से बांधी पर अन्त में परिणाम गिर गये तो वह भवनत्रिक देवों में पैदा होता है। यदि किसी ने अशुभ परिणामों में देवायु को (भवनत्रिक) बांध लिया पर अन्तिम समय परिणामों में विशुद्धि रही तो वह वैमानिक देवों में पैदा होता है। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यायु का बंधक भी परिणामों की निर्मलता में मरणकर उत्तमकुल में गर्भज मनुष्य पर्याय को बाँधता है।

कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि।
जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं॥ (गो. कर्मका. गा. ११)

कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मोह से अनादि चतुर्गति रूप संसार की वृद्धि होती है। गति में जीव का अवस्थान कराने वाला आयु कर्म जैसे काष्ठ का खोड़ा मनुष्य को रोककर रखता है। "देहट्ठिदि अण्णहाणुववत्तीदो" अर्थात् देह की स्थिति अन्यथा हो नहीं सकती इस अन्यथानुपपत्ति से आयुकर्म का अस्तित्व जानना चाहिए।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में आयु कर्म अघातिया कर्म है। कर्मों के क्रम में मोहनीय के बाद आयु का क्रम है। आचार्य कहते हैं कि आयुकर्म के निमित्त से भव में स्थिति होती है

इसीलिए नामकर्म से पूर्व आयुकर्म को कहा है। पर्यायधारण का निमित्त वास्तविक तो आयुकर्म है। इसका स्वभाव सांकल या काष्ठयंत्र के समान है। जैसे सांकल या काष्ठयंत्र पुरुष को अपने स्थान में ही स्थित रखता है दूसरे स्थान पर जाने नहीं देता, उसी प्रकार आयुकर्म जीव को नरकादि पर्यायों में रोके रखता है।

आयु कर्म चार प्रकार का है—(१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु और (४) देवायु। इसमें नरकायु पाप प्रकृति है तथा शेष तीन आयु पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

प्रश्न—तिर्यञ्चगति और नरकगति दोनों अशुभ मानी गई पर यहाँ तिर्यञ्चआयु को शुभ कैसे कहा?

समाधान—गति अपेक्षा से दो गतियाँ तिर्यञ्च व नरक अशुभ हैं क्योंकि तिर्यञ्च व नरकगति में कोई भी जीव जाना नहीं चाहता है परन्तु तिर्यञ्चायु शुभ इसलिए है कि एक बार तिर्यञ्चायु में जन्म लेने के बाद वह जीव वहाँ से मरना नहीं चाहता है। चाहे छोटे से छोटा जीव लट, चिंवटी, मच्छर या कोई बड़ा भी हाथी, घोड़ा बैल आदि हों वे वहाँ से छूटना नहीं चाहते, उन्हें वही अवस्था प्रिय लगती है। परन्तु नरकायु में जीव एक समय भी रहना नहीं चाहता, हर समय मरने के परिणाम आते हैं इसलिए दोनों आयुओं में शुभाशुभपना आचार्यों ने कहा है।

चारों आयु का नोकर्म—नरकायु का नोकर्म अनिष्ट आहार है। शेष तीन आयु का नोकर्म इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले अन्नपानादि है।

आयुबंध के कारण

नरकायु बंध के कारण—

> मिच्छो हु महारम्भो णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो।
> णिरयाउगं णिबंधदि पावमदी रुद्दपरिणामो॥ (गो. कर्म. गा. ८०४)

जो मिथ्यादृष्टि (तत्त्वार्थश्रद्धान से रहित) हो, बहुत आरम्भी व अपरिमित परिग्रही हो, शीलरहित हो, तीव्र लोभी हो, रौद्रपरिणामी अर्थात् हिंसादि पापकर्मों में आनन्द मानने वाला हो, पाप करने में ही जिसकी मति हो वह जीव नरकायु का तीव्र अनुभाग सहित बन्ध करता है। उमास्वामी के अनुसार—

> "बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः" (त.सू.अ. ६ सू. १५)

तिर्यञ्चायु के बन्ध के कारण—चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जो आत्मा में कुटिलभाव उत्पन्न होता है, वह माया है। इसे तिर्यञ्चायु के बंध का प्रत्यय जानना। "माया तैर्यग्योनस्य"॥ (त.सू.अ. ६/१६)

धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित जीवन बिताना, अतिसंधानप्रियता तथा मरण के समय नील व कपोत लेश्या और आर्तध्यान का होना आदि तिर्यञ्चायु बन्ध के विशेष प्रत्यय हैं।

मनुष्यायु बन्ध के कारण—जो जीव स्वभाव से ही मन्दकषायी अर्थात् मृदुस्वभावी हो, पात्रदान में प्रीतियुक्त, शील व संयम से अर्थात् इन्द्रिय-संयम व प्राणीसंयम से सहित हो, मध्य गुणों से सहित ऐसा जीव मनुष्यायु को तीव्र अनुभागसहित बाँधता है। (गो.कर्म गा. ९०६)

स्वभाव का विनम्र होना, भद्रप्रकृति का होना, सरलव्यवहार करना, अल्पकषाय का होना तथा मरण के समय संक्लेशपरिणामी नहीं होना इत्यादि मनुष्यायु के तीव्रअनुभाग के विशेष प्रत्यय हैं। कहा भी है—"अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य" (त.सू., अ. ६ सू. १७)

देवायुबंध के कारण—जो जीव सम्यग्दृष्टि है वह केवल सम्यक्त्व से एवं साक्षात् अणुव्रत महाव्रतों से देवायु को बाँधता है तथा जो मिथ्यादृष्टि है वह अज्ञानरूप बालतपश्चरण से एवं बिना इच्छा के बन्ध आदि से हुई अकामनिर्जरा से देवायु का बन्ध करता है। (कर्म. का. ८०७ गा.)

अकाम निर्जरा, बालतप, मन्दकषाय, समीचीन धर्म का सुनना, दान देना, देवगुरु व धर्म इनके सेवक इन छह आयतनों की सेवा करना, सराग संयम, सम्यक्त्व और देशसंयम ये सब देवायुबन्ध के प्रत्यय हैं। (स.सि.अ. ६/२०)

अपकर्षकाल में आयुबंध

लेस्साणं खलु अंसा, छव्वीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबंधणजोगा, अट्ठट्ठवगरिसकालभवा॥ (गो.जी.का., गा. ५१८)

लेश्याओं के कुल छब्बीस अंश, इनमें से मध्य के आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष काल में होते हैं वे ही आयुकर्म के बँधने योग्य होते हैं।

छहों लेश्याओं के जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट भेद की अपेक्षा अठारह भेद होते हैं। इनमें से आठ अपकर्षकाल संबंधी अंशों के मिलाने पर २६ भेद हो जाते हैं। जैसे किसी कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्च की भुज्यमान आयु का प्रमाण छह हजार पाँच सौ इकसठ वर्ष है। इसके तीन भागों में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथम अपकर्ष का काल कहा जाता है। इस अपकर्ष काल में परभवसंबंधी आयु का बन्ध होता है। यदि यहाँ पर बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक भाग के तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रथम अपकर्ष का काल कहा जाता है। इस अपकर्ष काल में परभवसंबंधी आयु

का बंध होता है। यदि यहाँ पर बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक एक भाग के तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीय अपकर्ष काल में परभवसंबंधी आयु का बन्ध होता है। यदि यहाँ पर भी बन्ध न हो तो इसी प्रकार से तीसरे अपकर्ष में होता है और तीसरे में भी न हो तो चौथे, पाँचवे, छट्टे, सातवें, आठवें अपकर्ष में से किसी भी अपकर्ष में परभवसंबंधी आयु का बन्ध होता है। परन्तु फिर भी यह नियम नहीं है कि इन आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बन्ध हो ही जाय। केवल इन अपकर्षों में आयु के बन्ध की योग्यता मात्र बताई गई है। इसलिए यदि किसी अपकर्ष में बन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा (भुज्यमान आयु के अन्तिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल) से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त में अवश्य ही आयु का बन्ध होता है, यह नियम है।

भुज्यमान आयु के तीन भागों में से दो भाग बीतने पर अवशिष्ट एक भाग के प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल को अपकर्ष कहते हैं। इस अपकर्ष काल में लेश्याओं के आठ मध्यमांशों में से जो अंश होगा उसके अनुसार आयु का बन्ध होगा। तथा आयुबन्ध के योग्य आठ मध्यमांशों में से जो अंश जिस अपकर्ष में होगा उस ही अपकर्ष में आयु का बन्ध होगा, दूसरे काल में नहीं।

जीवों के दो भेद हैं—एक सोपक्रमायुष्क और दूसरा अनुपक्रमायुष्क। जिनका विषभक्षणादि निमित्त के द्वारा मरण संभव हो उनको सोपक्रमायुष्क कहते हैं और इससे जो रहित हैं उनको अनुपक्रमायुष्क कहते हैं। जो सोपक्रमायुष्क हैं उनके तो उक्त रीति से ही परभवसंबंधी आयु का बन्ध होता है किन्तु अनुपक्रमायुष्कों में कुछ भेद है, वह यह है कि अनुपक्रमायुष्कों में जो देव और नारकी हैं वे अपनी आयु के अन्तिम छह माह शेष रहने पर आयु के बन्ध करने के योग्य होते हैं। इसमें भी छह माह के आठ अपकर्ष काल में ही आयु का बन्ध करते हैं—दूसरे काल में नहीं। जो भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्च हैं उनकी आयु का प्रमाण एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय से लेकर तीन पल्योपम पर्यन्त है। इसमें से वे अपनी-अपनी यथायोग्य आयु के अन्तिम नौ महीनों के आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बंध करते हैं। इस प्रकार ये लेश्याओं के आठ अंश आयुबंध के कारण हैं। जिस अपकर्ष में जैसा जो अंश हो उसके अनुसार आयु का बन्ध होता है।

आयुकर्म की आबाधा

आयुकर्म की आबाधा कोटिपूर्व के तीसरे भाग से "असंक्षेपाद्धाप्रमाणपर्यन्त" है। आयु कर्म की आबाधा में प्रतिभाग का नियम नहीं है।

आयुकर्म की उत्कृष्ट आबाधा कोटिपूर्व वर्ष के तीसरे भागप्रमाण तथा जघन्य आबाधा "असंक्षेपाद्धा" प्रमाण है। यह काल भी आवली के संख्यातवें भाग प्रमाण है। अतः आयुकर्म की

आबाधा इसी प्रकार है, अन्य कर्मों की स्थिति के समान नहीं है।

शंका—असंख्यात.वर्ष की जिनकी आयु है, उसके त्रिभागप्रमाण आबाधा क्यों नहीं कही?

समाधान—असंख्यातवर्ष की आयुवाले ऐसे देव-नारकी और भोगभूमिज की तो ६ माह आयु शेष रहने पर आयु का बन्ध होता है तथा कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यञ्च के अपनी सम्पूर्ण आयु के अन्तिम त्रिभाग में आयु बँधती है। कर्मभूमिज की उत्कृष्ट आयु कोटिपूर्ववर्ष अर्थात् संख्यात वर्ष प्रमाण है, अतः उसी का त्रिभाग उत्कृष्ट आबाधाकाल कहा। त्रिभाग के आठ अपकर्षकालों में आयु का बन्ध हो सकता है, कदाचित् आठों अपकर्षों में आयु का बन्ध नहीं हुआ तो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु के अवशेष रहने पर उत्तर भव की आयु को अन्तर्मुहूर्त काल के समय प्रबद्ध में बाँधकर निष्ठापन करते हैं तथा असंक्षेपाद्धाकाल पर्यन्त विश्राम करते हैं, उसके पश्चात् मरण होता है।

भुज्यमान आयु के अधिक से अधिक छह महीना अवशेष रहने पर देव और नारकी, मनुष्य अथवा तिर्यञ्चायु का ही बन्ध करते हैं तथा मनुष्य-तिर्यञ्च भुज्यमान आयु का त्रिभाग शेष रहने पर चारों आयुओं में से योग्यतानुसार किसी भी एक आयु का बंध करते हैं। भोगभूमिज जीव अपनी आयु का छह महीना अवशेष रहने पर देवायु का ही बंध करते हैं। एकेन्द्रिय और विकलत्रय जीव मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु में से किसी एक का बन्ध करते हैं, किन्तु तेजकाय—वायुकायिक जीव और सप्तमपृथ्वी के नारकी जीव तिर्यञ्चायु का ही बन्ध करते हैं।

नारकी आदि जीवों के अपनी-अपनी गति सम्बन्धी एक आयु का उदय एवं परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होते समय अथवा बन्ध हो जाने पर उदयागतआयु सहित (बध्यमान और भुज्यमान रूप) दो का सत्त्व, किन्तु जब तक एक भुज्यमान आयु की ही सत्ता रहती है।

एक जीव एक भव में एक ही आयु का बन्ध करता है और वह भी योग्यकाल में तथा वहाँ पर भी वह सभी स्थानों पर आयु की त्रिभागी शेष रहने पर ही बँधती है।

नाम कर्म और उसकी प्रकृतियाँ

❑ गंभीरमल सोनी

जैन दर्शन में ८ कर्म होते हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु , नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें चार घातिया कर्म हैं और चार अघातिया कर्म। कर्म जीवन के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देव रूप प्रदान करता है।

आत्मा का नारक आदि रूप नामकरण करना नामकर्म की प्रकृति है। जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नामकर्म है (राज.वा.), (प्र. सा.), (ता. वृ.)। जो नाना प्रकार की रचनावृत्ति करता है वह नामकर्म है। शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध आदि कर्मों के करने वाले जो पुद्गल जीव में निविष्ट हैं, वे नाम इस संज्ञा वाले होते हैं, ऐसा अर्थ कहा गया है।

नामकर्म का मूल भेदरूप ४२ प्रकृतियाँ हैं। उत्तर भेदरूप ९३ प्रकृतियाँ है। ४२ भेद इस प्रकार हैं—

(१) गति :—जिसके उदय से जीव दूसरे भव को प्राप्त करता है उसे गतिकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, और देवगति। जिसके उदय से आत्मा को नरकगति प्राप्त होवे उसे नरकगति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

(२) जाति :—जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि गतियों में अव्यभिचार रूप समानता से एकरूपता को प्राप्त हो वह जाति नामकर्म है। इसके ५ भेद हैं—(१) एकेन्द्रिय जाति, (२) द्वीन्द्रिय जाति, (३) त्रीन्द्रिय जाति, (४) चतुरिन्द्रिय जाति और (५) पंचेन्द्रिय जाति। जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय जाति में पैदा हो उसे एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म कहते हैं। इसी प्रकार सभी भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

(३) शरीर :—जिस कर्म के उदय से शरीर की रचना हो उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं—(१) औदारिक, (२) वैक्रियिक, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्मणशरीर नामकर्म। जिसके उदय से औदारिक शरीर की रचना हो उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

(४) अङ्गोपाङ्ग :—जिसके उदय से अङ्ग-उपाङ्गों की रचना हो उसे अंङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—(१) औदारिक शरीर अङ्गोपाङ्ग, (२) वैक्रियिक शरीर अङ्गोपाङ्ग और

(३) आहारक शरीर अङ्गोपाङ्ग। जिसके उदय से औदारिक शरीर के अङ्गोपाङ्गों की रचना होती है उसे औदारिक शरीर अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

(५) निर्माण :—जिस कर्म के उदय से अंगोपांगों की रचना यथास्थान और यथाप्रमाण हो उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं।

(६) बन्धन :—शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गल-स्कन्धों का परस्पर संबंध जिस कर्म के उदय से होता है उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं। (१) औदारिक, (२) वैक्रियिक, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्माण। बन्धन नामकर्म सब भेदों के साथ लगा देना चाहिए। जिसके उदय में लगे हुए कर्म ईंट और गारे की तरह छिद्र सहित परस्पर संबंध को प्राप्त हों वह औदारिक बन्धन नामकर्म है। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

(७) संघात :—जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरों के प्रदेशों का छिद्ररहित बन्ध हो उसे संघात नामकर्म कहते हैं। इसके भी ५ भेद हैं—(१) औदारिक, (२) वैक्रियिक, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्माण। संघात नामकर्म सब भेदों के साथ लगा लेना चाहिए।

(८) संस्थान :—जिस कर्म के उदय से शरीर की संरचना अर्थात् आकार बने उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं—(१) समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, (२) न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म, (३) स्वातिसंस्थान, (४) कुब्जकसंस्थान, (५) वामनसंस्थान और (६) हुण्डकसंस्थान।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर ऊपर नीचे तथा बीच में समान भागरूप अर्थात् सुडौल हो उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वटवृक्ष की तरह नाभि से नीचे पतला और ऊपर मोटा हो तो न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सर्प की वामी की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा हो, उसे स्वातिसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कुबड़ा हो, उसे कुब्जकसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से बौना शरीर हो उसे वामनसंस्थान नामकर्म कहते हैं और जिसकर्म के उदय से शरीर के अङ्गोपाङ्ग किसी खास प्रकृति के न हों उसे हुण्डकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

(९) संहनन :—जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बंधन में विशेषता हो तो उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसके छह भेद हैं—(१) वज्रवृषभनाराच संहनन, (२) वज्रनाराच संहनन, (३) नाराच संहनन, (४) अर्द्धनाराच संहनन, (५) कीलक संहनन और (६) असंप्राप्तसृपाटिका संहनन। जिस कर्म के उदय से वृषभ (वेष्टन), नाराच (कील) और संहनन (हड्डियाँ) वज्र की हों उसे वज्रवृषभनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से वज्र के हाड़ और वज्र की कीलियाँ हों परन्तु वेष्टन वज्र के न हों उसे वज्रनाराच संहनन कहते हैं। जिसके उदय से

सामान्य वेष्टन और कीलीसहित हाड़ हों, उसे नाराच संहनन नामकर्म कहते हैं। जिसके उदय से हड्डियाँ की संधियाँ अर्धकीलित हों उसे अर्धनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। जिसके उदय से हड्डियाँ कीलित हों उसे कीलक संहनन नामकर्म कहते हैं और जिसके उदय से जुदी जुदी हड्डियाँ नसों से बंधी हुई हों, परस्पर कीलित नहीं हों उसे असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन नामकर्म कहते हैं।

(१०) स्पर्श :—जिसके उदय से शरीर में स्पर्श हो उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं—(१) कोमल, (२) कठोर, (३) गुरु, (४) लघु, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध और (८) रूक्ष।

(११) रस :—जिसके उदय से शरीर में रस हो वह रसनामकर्म कहलाता है। इसके ५ भेद हैं—तिक्त (चरपरा), कटु (कड़ुआ), कषाय (कषायला), आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा)।

(१२) गन्ध :—जिसके उदय से शरीर में गन्ध हो उसे गन्धनामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) सुगन्ध और (२) दुर्गंध।

(१३) वर्ण :—जिसके उदय से शरीर में वर्ण अर्थात् रूप हो वह वर्ण नामकर्म है। इसके पाँच भेद हैं—(१) शुक्ल, (२) कृष्ण, (३) नील, (४) रक्त और (५) पीत।

(१४) आनुपूर्व्य :—जिस कर्म के उदय से विग्रह गति में मरण से पहले के शरीर के आकार आत्मा के प्रदेश रहते हैं उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इनके चार भेद हैं—(१) नरकगत्यानुपूर्व्य, (२) तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, (३) मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, (४) देवागत्यानुपूर्व्य। जिस समय आत्मा मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु को पूर्ण कर पूर्व शरीर से पृथक् हो नरकभव के प्रति जाने को सन्मुख होता है, उस समय पूर्व शरीर के आकार आत्मा के प्रदेश जिस कर्म के उदय से होते हैं उसे नरकगत्यानुपूर्व्य कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

(१५) अगुरुलघु :—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक के तूल की तरह हल्का न हो, वह अगुरुलघु नामकर्म है।

(१६) उपघात :—जिस नामकर्म के उदय से अपने अङ्गों से अपना घात हो उसे उपघात कहते हैं।

(१७) परघात :—जिसके उदय से दूसरे का घात करने वाले अङ्गोपाङ्ग हों उसे परघात नामकर्म कहते हैं।

(१८) आतप :—जिस कर्म के उदय से आतपरूप शरीर हो तो आतप नामकर्म कहते हैं।

(१९) उद्योत :—जिसके उदय से उद्योतरूप शरीर हो उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं।

(२०) उच्छ्वास :—जिसके उदय से शरीर में उच्छ्वास हो उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

(२१) विहायोगति :—जिसके उदय से आकाश में गमन हो, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) प्रशस्त विहायोगति और (२) अप्रशस्त विहायोगति।

(२२) प्रत्येकशरीर :—जिस नामकर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येकशरीर नामकर्म कहते हैं।

(२३) साधारणशरीर :—जिसके उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हों, उसे साधारण-शरीर नामकर्म कहते हैं।

(२४) त्रस :—जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक जीवों में उत्पन्न हो, उसे त्रसनामकर्म कहते हैं।

(२५) स्थावर :—जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न हो, उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

(२६) सुभग :—जिसके उदय से दूसरे जीवों को अपने से प्रीति उत्पन्न हो, उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

(२७) दुर्भग :—जिस कर्म के उदय से रूपादि गुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अप्रीति उत्पन्न हो, उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

(२८) सुस्वर :—जिसके उदय से मधुर स्वर (आवाज) हो, उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

(२९) दुःस्वर—जिसके उदय से खराब स्वर हो, उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

(३०) शुभ :—जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

(३१) अशुभ :—जिसके उदय से शरीर के अवयव देखने में मनोहर न हों, उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

(३२) सूक्ष्म :—जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो न किसी को रोक सकता हो और न किसी से रोका जा सकता हो, उसे सूक्ष्म शरीर नामकर्म कहते हैं।

(३३) बादर (स्थूल):—जिस कर्म के उदय से दूसरे को रोकनेवाला तथा दूसरे से रुकनेवाला स्थूल शरीर प्राप्त हो, उसे बादर शरीर नामकर्म कहते हैं।

(३४) पर्याप्ति :—जिसके उदय से अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण हो, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

(३५) अपर्याप्ति :—जिस कर्म के उदय से जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो, उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

(३६) स्थिर :—जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड़, मज्जा, और शुक्र) तथा उपधातुएँ (वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने अपने

स्थान में स्थिरता को प्राप्त हों, उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं।

(३७) अस्थिर :—जिसके उदय से पूर्वोक्त धातु और उपधातुएँ अपने अपने स्थान में स्थिर न रहें उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

(३८) आदेय :—जिसके उदय से प्रभासहित शरीर हो, उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

(३९) अनादेय :—जिसके उदय से प्रभारहित शरीर हो, उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

(४०) यशःकीर्ति :— जिसके उदय से संसार में जीव की प्रशंसा हो उसे यशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

(४१) अयशःकीर्ति :—जिसके उदय से जीव की संसार में निन्दा हो उसे अयशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

(४२) तीर्थंकरत्व :—अरहन्तपद के कारणभूत कर्म को तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते हैं।

उत्तर भेदरूप ९३ प्रकृतियाँ:—४२ + ६५ — १४ = ९३। १४ प्रकृतियों के उत्तरभेद ६५ है। मूल १४ की बजाय उनके ६५ उत्तर भेद गिनने पर नामकर्म की कुल प्रकृतियाँ उपरोक्त प्रकार से ९३ होती हैं। नामकर्म की असंख्यात प्रकृतियाँ विस्तार से हैं।

नरक गत्यानुपूर्वी :—नामकर्म की प्रकृतियाँ अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र तिर्यक् प्रतर रूप बाहल्य को श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवें उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं।

तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी :—नामकर्म की प्रकृतियाँ लोक को जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी होती हैं।

मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी :—नाम कर्म की प्रकृतियाँ ऊर्ध्व कपाट छेदन से निष्पन्न पैंतालीस लाख योजन बाहल्यवाले तिर्यक् प्रतरों के जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहन विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी हैं।

देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी:—नामकर्म की प्रकृतियाँ नौ सौ योजन का बाहल्यरूप तिर्यक् प्रतरों को जगश्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं।

प्रश्न :—पृथ्वीकाय नामकर्म कहीं भी (कर्म के भेदों में) नहीं कहा गया है।

उत्तर :—नहीं, क्योंकि पृथ्वीकायनामकर्म का कर्म एकेन्द्रिय नामक नामकर्म के भीतर अन्तर्भूत है।

प्रश्न :—यदि ऐसा है तो सूत्र प्रसिद्ध कर्मों की संख्या का नियम नहीं रह सकता है।

उत्तर :—सूत्र में कर्म आठ ही अथवा १४८ ही नहीं कहे गये हैं क्योंकि आठ या १४८

संख्या को छोड़कर दूसरी संख्याओं का प्रतिषेध करने वाला एवकार पद सूत्र में नहीं पाया जाता है।

प्रश्न :—तो फिर कर्म कितने हैं?

उत्तर:—लोक में हाथी, घोड़ा, वृक (भेड़िया), भ्रमर, मत्कुण, उद्देहिका (दीमक), गोभी और इन्द्र आदि रूप से जितने कर्मों के फल पाये जाते हैं, कर्म भी उतने ही हैं। (ध, ७/२, १, १९/७०, /७)

इसी प्रकार शेष कायिक जीवों के विषय में भी कथन करना चाहिए।

सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से जिस प्रकार वनस्पति कायिकादि जीवों के सूक्ष्मपना होता है उसी प्रकार निगोद नामकर्म के उदय से निगोदत्व होता है।

प्रश्न :—पिंड (प्रकृति) का अर्थ क्या है?

उत्तर :—बहुत प्रकृतियों के समुदाय को पिंड कहा जाता है।

प्रश्न :—त्रस आदि प्रकृतियाँ तो बहुत नहीं हैं इसलिए क्या वे अपिण्ड प्रकृतियाँ है?

उत्तर :—ऐसा ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि वहाँ भी युक्ति से बहुत प्रकृतियाँ उपलब्ध होती हैं। और वह युक्ति यह है कि, कारण के बहुत हुए बिना भ्रमर, पतंग, हाथी और घोड़ा आदि नाना भेद नहीं बन सकते हैं। इसलिए जाना जाता है कि त्रस आदि पर्यायें बहुत हैं।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अगुरुलघु नामकर्म आदि की उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ नहीं हैं। क्योंकि धव और धम्ममन आदि प्रत्येक शरीर, मूली और थूहर आदि साधारण शरीर, तथा नाना प्रकार के स्वर और नाना प्रकार के गमन आदि उपलब्ध होते हैं। (धवलापुस्तक १३।५।५१३३।३७८।११)। भवनवासी आदि सर्व भेद नामकर्म कृत हैं।

प्रश्न :—जिस प्रकार तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते हैं उसी प्रकार गणधरत्व आदि नामकर्म का उल्लेख करना चाहिए था, क्योंकि गणधर, चक्रधर, वासुदेव और बलदेव भी विशिष्ट ऋद्धि से युक्त होते हैं?

उत्तर :—नहीं, क्योंकि वे दूसरे निमित्तों से उत्पन्न होते हैं। गणधरत्व में तो श्रुतज्ञानावरण का प्रकर्ष क्षयोपशम निमित्त है और चक्रधरत्व आदि में उच्चगोत्र विशेष हेतु हैं। (रा.वा. ८।११।४१।५८०।३)

देवगति में भवनवासी आदि सर्व भेद नामकर्म कृत हैं। वे सब (असुरनाग आदि भवनवासी देवों के भेद) नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए भेद जानने चाहिए। नामकर्मोदय की विशेषता से ही वे (व्यन्तर देवों के किन्नर आदि) नाम होते हैं। जैसे:—किन्नर नामकर्म के उदय से किन्नर और किंपुरुष इत्यादि। उन ज्योतिषी देवों की भी पूर्ववत् ही निवृत्ति जाननी चाहिए। अर्थात् (सूर्य, चन्द्र आदि भी) देवगति नामकर्म विशेष के उदय से होते हैं। (राजवार्तिक,

४।१२।५।२९८।१७)

प्रश्न :—उस नामकर्म का अस्तित्व कैसे जाना जाता है?

उत्तर :—शरीर संस्थान वर्ण आदि कार्यों के भेद अन्यथा हो नहीं सकते हैं। (धवला पुस्तक ६।१।९-९,१०।१३।४)

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती नहीं है और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस कायिक आदि जीवों में उनकी उक्त पर्यायों रूप अनेक कार्य देखे जाते हैं। इसलिए जितने कार्य हैं उतने अनेक कारण रूप कर्म भी हैं। ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए। जन्म का कारण गति नामकर्म नहीं, आयु कर्म है।

प्रश्न :—ये स्त्री वेदादि चारों कर्म उत्कृष्ट संक्लेश से क्यों नहीं बँधते हैं?

उत्तर :—उत्कृष्ट संक्लेश से नहीं बँधने में कारण इनका स्वभाव है।

प्रश्न :—उत्कृष्ट स्थिति के बंधकाल में ये चारों (स्त्रीवेद, पुंवेद, हास्य और रति) प्रकृतियाँ क्यों नहीं बँधती हैं?

उत्तर :—क्योंकि वह प्रकृतियाँ अत्यन्त अशुभ नही हैं, इसलिए उस काल में इनका बन्ध नहीं होता अथवा उस समय न बँधने का इनका स्वभाव है।

गोत्रकर्म : जीव के आचरण का परिणाम

❑ बद्रीप्रसाद सरावगी

जीव का विभावरूप स्वभाव रागादि रूप परिणमने का और कर्म का स्वभाव तद्‌रूप परिणमाने का है। इसमें जीव का अस्तित्व अहं प्रत्यय से होता है तथा कर्म का अस्तित्व जीव में ज्ञान की वृद्धि और हानि से सिद्ध होता है क्योंकि आवरण कर्म के बिना तरतमता नहीं हो सकती।

सामान्य से कर्म एक प्रकार का है, द्रव्य भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। पुद्‌गलपिंड को द्रव्यकर्म कहते हैं तथा उसमें जो फल देने की शक्ति है उसे भावकर्म कहते हैं।

सामान्य से कर्म आठ प्रकार का भी है अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोक प्रमाण भी उसके भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्म के मूल भेद हैं। इनमें चार घातिया तथा चार अघातिया कर्म हैं। गोत्रकर्म अघातिया कर्म है।

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥ (गो.कर्म./मू./१३/९)

संतान क्रम से चले आये जीव के आचरण को गोत्र कहते हैं। उच्च व नीच आचरण से उच्च व नीच गोत्र होता है। ध.पु. (१३ पृ. ३७८ सूत्र १३८ की) टीका के अनुसार—"उच्चं-नीचं गमयतीति गोत्रम्" अर्थात् जो उच्च और नीच का आचरण कराता है अथवा उच्च या नीच कुल को प्राप्त कराता है उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

ध.पु. (१३ पृ. ३८९ सूत्र १३५ की) टीका के अनुसार—"न च निष्फलं गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसंबंधानां आर्यप्रत्ययाभिधान-व्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां सन्तानः उच्चैर्गोत्रं तत्रोत्पत्तिहेतुकर्माप्युच्चैर्गोत्रम्। ...... तद्विपरीतम् नीचैर्गोत्रम्"। अर्थात् गोत्र कर्म निष्फल है, यह बात नहीं है क्योंकि जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधु आचार वालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो "आर्य" इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त हैं उन पुरुषों की परम्परा को उच्चगोत्र कहा जाता है तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है। उससे विपरीत कर्म नीच गोत्र है।

उमास्वामी आचार्य तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में लिखते हैं—"उच्चैर्नीचैश्च" अर्थात् उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो भेद गोत्र कर्म के हैं।

उच्चगोत्र—जिसके उदय से लोकमान्य कुल में जन्म हो उसे उच्चगोत्रकर्म कहते हैं।

नीचगोत्र—जिस कर्म के उदय से लोकनिन्द्य कुल में जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं।

आठ कर्मों के क्रम में पूज्यता की अपेक्षा ज्ञानगुण पूज्य होने से उसे सबसे पहले रखा, पश्चात् सम्यक्त्व। वीर्य शक्ति रूप है, वह जीव-अजीव दोनों में पाया जाता है अतः उसे सबसे अन्त में कहा है। आयु कर्म के निमित्त से भव में स्थिति होती है। इसलिए नामकर्म से पूर्व आयुकर्म को कहा है और भव के आश्रय से ही नीचपना अथवा उच्चपना होता है इसलिए नामकर्म को गोत्रकर्म के पहले कहा है।

इस गोत्र कर्म का उदाहरण देते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो "गमयति" अर्थात् जीव के उच्च-नीचपने का ज्ञान करावे अथवा प्राप्त करावे वह गोत्रकर्म। है जैसे—कुम्भकार मिट्टी के छोटे-बड़े बर्तन बनाता है वैसे ही गोत्रकर्म भी जीवन की उच्च-नीच अवस्था की प्राप्ति कराता है।

नीच गोत्र कर्म का आस्रव—

"परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य॥" (त.सू.अ. ६/२५)

(१) दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना।

(२) दूसरे के मौजूद गुणों को ढाँकना।

(३) अपने झूठे गुणों को प्रकट करना।

इन खोटी क्रियाओं से जीव को नीच गोत्र कर्म का आस्रव होता है।

उच्च गोत्र कर्म का आस्रव

"तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य॥" (त.सू.अ. ६/२५)

(१) परप्रशंसा तथा आत्मनिन्दा करना।

(२) नम्रवृत्ति रखना।

(३) मद का अभाव।

इन क्रियाओं से जीव को उच्चगोत्र कर्म का आस्रव होता है।

* गोत्र कर्म की स्थिति

"विंशतिर्नामगोत्रयोः"—गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। "नामगोत्रयोरष्टौ" जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।

हे पुत्र! तू शूरवीर है, विद्यावान है, देखने में सुन्दर है, किन्तु जिस कुल में तू उत्पन्न हुआ है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते हैं। अतः तू यहाँ से भाग जा नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी।

यह आगम सम्मत तथ्य है कि रजोवीर्य का संस्कार अवश्य आ जाता है, चाहे वह कैसे भी विद्यादिगुणों से सहित क्यों न हो, उस पर्याय में संस्कार नहीं मिटता, क्योंकि जैसे रज वीर्य से शरीर-मस्तिष्क व मन का निर्माण होता है वैसे ही जीव के विचार होते हैं। खानपान व बाह्य वातावरण का भी प्रभाव विचारों पर पड़ता है।

अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं—

> एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
> दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
>
> द्वावप्येतौ युगपद्दुरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
> शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण॥

किसी शूद्री स्त्री के उदर से एक ही समय दो पुत्र पैदा हुए। उनमें से एक तो ब्राह्मण के घर पला, उसके ब्राह्मणत्व का अभिमान हुआ कि 'मैं ब्राह्मण हूं', उस अभिमान से मद्य को दूर से ही त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता, तथा दूसरा 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरा से ही स्नान करता है, उसे पवित्र मानता है। यदि इसका परमार्थ विचारा जाय तब दोनों ही शूद्री के पुत्र हैं क्योंकि दोनों ही शूद्री के उदर से जन्मे हैं, इस कारण साक्षात् शूद्र हैं। वे जातिभेद के भ्रम से आचरण करते हैं।

विचारणीय तत्त्व यह है कि जब भ्रमवशात् भी जीवों के आचरण में स्वाभाविक अन्तर पाया जाता है तब साक्षात् नीच-उच्च गोत्र में उत्पन्न हुए जीवों के आचरण में अन्तर होगा ही।

अतः अपने कुल व वंश की मर्यादाओं की रक्षा करना मानव मात्र का कर्तव्य है।

अंतराय-कर्म

❑ *श्रेयांसकुमार दिवाकर, सिवनी*

जगत् के जीवों की जीवन-चर्या, रहन-सहन आदि का अवलोकन करें तो हमें विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। कोई धनाढ्य है, कोई सर्वरूप से सम्पन्न है, कोई सुन्दर रूपवान है और कोई कुरूप, कोई आराम से बैठकर खाता है तो कोई परिश्रम करके भी दो जून (समय) की रोटी पेट भर भी नहीं खा पाता, कोई सड़क पर सोता है तो कोई महलों में। एक कवि ने कहा भी है—

एक महल पर सुख से खेले, एक सड़क पर सोता है।
जीवन चलता साथ किसी के, कोई जीवन ढोता है।

कुछ व्यक्ति जन्मतः दारिद्र्य की मूर्ति होते हैं, कुछ धनाढ्य होने पर भी बाद में दरिद्र हो जाते हैं। इस प्रकार पाँच बातों से विषमता आती है। आचार्य श्री उमास्वामी 'मोक्षशास्त्र' में उन पाँच बातों का उल्लेख करते हैं—

"विघ्नकरणमन्तरायस्य।" (त.सू.अ. ६ सू. २७) "दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्तद्व्यपदेशः।" अर्थात् दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से यह अर्थात् अन्तराय संज्ञा प्राप्त होती है।

"अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तरायः।" (ध. १३/५)—जो अन्तर अर्थात् मध्य में आता है वह अन्तराय कर्म है।

अन्तराय-कर्म के भेद

"दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्।" (त.सू. ८/१३) अर्थात् वह अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग आदिकों में विघ्न करने में समर्थ है।

दानादि अन्तराय कर्मों के लक्षण

"यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितु-कामोऽपि नोत्सहते त एते पञ्चान्तरायस्य भेदाः।"

जिनके उदय से देने की इच्छा रखता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करने की इच्छा रखता

हुआ भी नहीं प्राप्त करता है, भोगने की इच्छा करता हुआ भी भोग नहीं सकता है, उपभोग करने की इच्छा करता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है इस प्रकार ये पाँच अन्तराय के भेद हैं।

१. दानान्तराय—इस कर्म के उदय में मनुष्य के आहार, औषध, शास्त्र व अभयदान देने के भाव ही नहीं होते हैं अर्थात् त्याग के भाव जागृत नहीं हो पाते हैं। यद्यपि वह जानता है कि सम्पत्ति की तीन दशा होती हैं—भोग, दान एवं नाश। कार्नगी नामक एक अमेरिकन विद्वान् लिखते हैं— " A man who dies rich dies in disgrace." जो व्यक्ति धनवान् होकर मरता है वह अभिशाप में मरता है। अर्थात् परिग्रह का संचय करना उसका व्यय नहीं करना। यदि कोई दान आदि की प्रेरणा देता है तो वह उसे शत्रुवत् देखता है। वह यह भूल जाता है कि लक्ष्मी पुण्यानुसारिणी होती है। जब लक्ष्मी नष्ट होने को होगी तो संचित करते हुए भी नष्ट हो जाती है।

२. लाभान्तराय—इस कर्म का उदय होने पर मनुष्य कितना ही प्रयत्न करे उसे लाभ तो होता ही नहीं वरन् हानि ही होती है। जब लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है तब आसपास ही सुख सामग्री प्राप्त हो जाती है। इस कर्म का उदय एवं क्षयोपशम समझने के लिए धन्यकुमार का चरितजीवन दिशा प्रदान करता है। जब वह अकृतपुण्य के रूप में था तब दिये गये मोती के दाने अंगार रूप परिणत होते थे, जब वह धन्यकुमार के रूप में था तब पग-पग पर धन-सम्पत्ति ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती थी। आज भी हम देखते हैं जिनको लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है उसे लॉटरी के माध्यम से धन प्राप्त हो जाता है, भूगर्भ आदि से भी मिल जाता है। जिनके पाप कर्म का उदय होता है उसका धन भी मिट्टी रूप में परिणत हो जाता है।

३. भोगान्तराय ४. उपभोगान्तराय—भोग के अन्तर्गत वे सामग्रियाँ आती हैं जो एक बार भोगी जाती हैं तथा वे सामग्रियाँ जो बार-बार भोगी जाती हैं उपभोग कहलाती हैं। चक्रवर्ती के १४ रत्न, ९ निधि, ९६ हजार रानियाँ, १८ करोड़ घोड़े, ८४ लाख हाथी आदि सम्पत्ति अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही मिलते हैं।

५. वीर्यान्तराय—इस कर्मोदय के कारण शरीर इतना बलहीन होता है कि वे भोगों को भोग नहीं सकते। जैसे एक महाशय के यहाँ उत्तमोत्तम भोज्य सामग्री तैयार रखी है, घर के सभी सदस्य खा रहे हैं किन्तु वह महाशय पेट की बीमारी के कारण मूँग की दाल व रोटी ही खाते हैं। वीर्यान्तराय कर्म से ग्रसित व्यक्ति श्रावक या मुनि के व्रतों को ग्रहण नहीं कर पाता। सम्यग्दृष्टि होने पर भी क्षुधा, तृषा, शीतादि की वेदना को सहन नहीं कर पाता।

अन्तराय कर्म का कार्य—"अन्तराय कर्म के उदय से जीव चाहै सो नहीं होय है।...........बहुरि तिसही का क्षयोपशमते किंचित् मात्र चाहा भी होय।"

अन्तराय-कर्म के बन्धयोग्य परिणाम

"तद्विस्तरस्तु विव्रियते—ज्ञानप्रतिषेधसत्कारोपघात-दानलाभभोगोपभोग-वीर्यस्नानानुलेपनगन्ध—माल्याच्छादन-विभूषणशयनासन-भक्ष्य- भोज्यपेयलेह्यपरिभोग-विघ्नकरण-विभवसमृद्धि—विस्मय-द्रव्यापरित्याग-द्रव्यासप्रयोगसमर्थना-प्रमादावर्णवाद-देवता- निवेद्यानिवेद्यग्रहण—निरवद्योपकरणपरित्याग-परवीर्यापहरण-धर्मव्यवच्छेदनकरण-कुशलाचरणतपस्वि-गुरुचैत्यपूजाव्याघात-प्रव्रजित कृपण दीनानाथवस्त्रपात्रप्रतिश्रयप्रतिषेधक्रियापरनिरोधबन्धनगुह्याङ्‌छेदन-कर्ण—नासिकौष्ठकर्तन-प्राणिवधादिः।" (रा.वा. ६/२७)

ज्ञान प्रतिषेध, सत्कारोपघात, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, भूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना; विभवसमृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग न करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, अवर्णवाद करना, देवता के लिए निवेदित या अनिवेदित द्रव्य का ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरे की शक्ति का अपहरण, धर्म व्यवच्छेद करना, कुशल चरित्र वाले तपस्वी गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ को दिये जाने वाले वस्त्र पात्र, आश्रय आदि में विघ्न करना, पर-निरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेद, कान, नाक, ओठ आदि का काट देना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

प्रश्न—अन्तराय कर्म घातिया है तथापि उसे अघातिया के अन्त में क्यों रखा? इसका उत्तर है—

घादीदि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमह्मि॥१७॥ (गो.क.)

अन्तराय कर्म यद्यपि घातिया है, तथापि अघातिया कर्मों के समान जीव के गुणों को पूर्ण रूप से घातने में समर्थ नहीं है। नाम, गोत्र और वेदनीय के निमित्त से ही अन्तराय कर्म अपना कार्य करता है, इसी कारण उसे अघातिया कर्मों के अन्त में कहा है।

अन्तराय कर्म का स्वभाव "भंडारी" के समान है। जैसे दान देने के लिए तत्पर सेठजी को मुनीम के द्वारा रोक देना। कहा भी है—"दातारी दान दे भंडारी का पेट फूटे"।

अन्तराय कर्म की स्थिति

"आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः॥१४॥" आदि के तीन कर्म व अन्तराय कर्म की स्थिति उत्कृष्ट से तीस कोटा-कोटि सागरोपम है। अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार अन्तराय कर्म के कार्य को देखकर मनुष्य जीवन में कदम-कदम पर विचार करके कार्य करना चाहिए।

◇◇◇

पर्याप्ति : आधुनिक जीवविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में

❑ डॉ. रज्जन कुमार

जैनदर्शन अपने मौलिक चिन्तन के लिए प्रसिद्ध रहा है। कर्मसिद्धान्त, निक्षेप, नय, गुणस्थान, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। पर्याप्ति भी जैनदर्शन का मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य है। दार्शनिक दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही, साथ ही यह आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में भी अपना महत्त्व रखता है। प्रस्तुत निबंध में मैंने 'पर्याप्ति' की व्याख्या आधुनिक जीवविज्ञान के संदर्भ को ध्यान में रखकर की है।

पर्याप्ति जीव की एक विशिष्ट शक्ति है जिसके द्वारा वह आहार, शरीर आदि योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है तथा उन्हें उपयुक्त आहार, शरीर, इन्द्रियादि रूप में परिणत करता है। तात्पर्य यह है कि पर्याप्ति आहार, शरीरादि की निष्पत्ति का ही दूसरा नाम है।[१] वस्तुतः जीव एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब भावी जीवन की यात्रा के निर्वाह के लिए अपने नवीन जन्म-क्षेत्र में एक साथ आवश्यक पौद्गलिक सामग्री का निर्माण करता है। इसे या इससे उत्पन्न होने वाली शक्ति को या पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।[२] जैन ग्रंथों में छह प्रकार की पर्याप्तियों का उल्लेख मिलता है। इनके नाम हैं—१. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, ५. भाषा पर्याप्ति, ६. मनः पर्याप्ति।[३] इन सबकी विस्तृत चर्चा के पूर्व पर्याप्ति की व्याख्या विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कर लेना अधिक समीचीन होगा।

पर्याप्ति शक्ति पुद्गल परमाणुओं के उपचय से उत्पन्न होती है अर्थात् पर्याप्ति वह शक्ति है जिसके द्वारा जीव उत्पत्ति-देश में आए हुए नवीन पुद्गल परमाणुओं को तथा प्रतिसमय जो अन्य परमाणु ग्रहण किए जा रहे हैं उन दोनों में सम्पर्क कराता है और इस क्रिया के फलस्वरूप जो परिवर्तन होता है उसको आहार, शरीर, इन्द्रियादि रूपों में परिवर्तित करता है। तात्पर्य यह है कि पर्याप्ति के द्वारा ही जीव के शरीर, इन्द्रियादि की उत्पत्ति या निर्माण संभव है। काय या शरीर-निर्माण के लिए आहारादि की आवश्यकता होती है। आहार रूप में समस्त वस्तुओं का उपयोग संभव नहीं है। यह निर्णय करना होता है कि कौन-सी वस्तु आहार योग्य है और कौन-सी अनाहार्य है और इसका निर्णय पर्याप्ति के द्वारा ही संभव है। आहार ग्रहण के बाद उसके पोषक तत्त्वों को शरीर-निर्माण की प्रक्रिया के योग्य बनाना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। पर्याप्ति के द्वारा यह प्रक्रिया पूर्ण होती है। कमोबेश स्थिति यह है कि जीव को अपने जीवन-क्रम को बनाए रखने के लिए पर्याप्ति शक्ति से युक्त होना आवश्यक है।

जीव प्रतिक्षण आहार योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता रहता है अर्थात् वह भोजन ग्रहण करता है। यह बात व्यवहार में कुछ अटपटी लगती है कि जीव प्रतिक्षण तो आहार ग्रहण नहीं करता, हाँ कुछ अंतराल पश्चात् अवश्य आहार लेता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिक्षण आहार-पुद्गलों को ग्रहण करने की बात कुछ अर्थों में सही है। परंतु एक बात तो निश्चित है कि जीव आहार योग्य पुद्गल परमाणु को ग्रहण करता है। आहार ग्रहण के पश्चात् जीव के आंतरिक अंगों में उत्तेजनाएँ होती हैं, जिनके फलस्वरूप कुछ रासायनिक तत्त्व की उत्पत्ति होती है तथा कुछ यांत्रिक क्रियाएँ भी होती हैं, और अंततः आहार योग्य पुद्गल परमाणु रस रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। यही रस जीव के अंग-उपांगों का निर्माण करता है।

जीवों में चय (Anabolic) एवं अपचय (Catabolic) नामक दो तरह की क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। इन दोनों का संयुक्त नाम है चयापचय (Metabolism)। चय के द्वारा शरीर में निर्माण की प्रक्रिया होती है तथा अपचय के द्वारा नाश की।[४] जीव का अस्तित्व इन दोनों क्रियाओं पर ही आधारित है। क्योंकि जीव के शरीर के विभिन्न अवयवों के निर्माण के साथ-साथ उनके विनाश की प्रक्रिया भी आवश्यक है। अगर ऐसा नहीं होगा तो जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

जब कोई रोगाणु जीव शरीर पर आक्रमण करता है, तब जीव के शरीर में उपस्थित श्वेत रक्तकण (White blood corpuscles) उसकी रक्षा इन आक्रमणकारियों से करता है। इस क्रम में शरीर के अंदर रक्त की मात्रा अधिक बनने लगती है और ये रक्त-रोगाणुओं से लड़ते हैं और उसे मार डालते हैं। श्वेत रक्त के बनने की यह प्रक्रिया चय की क्रिया है। जब रोगाणु मर जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं तब ये श्वेत रक्तकण भी नष्ट होने प्रारंभ हो जाते हैं। इनका नष्ट होना अपचय की क्रिया है।

श्वेत रक्तकण का नष्ट होना क्यों आवश्यक है, इसे इस ढंग से समझा जा सकता है। जीव के शरीर में श्वेत और लाल रक्तकण पाए जाते हैं और इनकी मात्राएँ भी निर्धारित होती हैं। अगर ये दोनों रक्तकण अपनी इस सीमा का अतिक्रमण करते हैं तो शरीर में चयापचय की क्रिया प्रारंभ होने लगती है और पुनः सीमा का निर्धारण हो जाता है। लाल रक्त प्राणवायु को अपने साथ सारे शरीर में ले जाता है। इसके अतिरिक्त यह सम्पूर्ण शरीर को गर्मी भी प्रदान करता है।[५] अगर शरीर में श्वेत रक्त की मात्रा बढ़ जाएगी तो लाल रक्त की मात्रा कम हो जाएगी फलस्वरूप शरीर विभिन्न तरह की व्याधियों से आक्रान्त हो जाएगा और अंततः इसका अस्तित्व मिट जाएगा। अगर सिर्फ लाल रक्त ही अधिक बनेंगे तो श्वेत रक्त कम हो जाएगा और वस्तुस्थिति वही होगी अर्थात् शरीर का विनाश। अतः शरीर में चयापचय या निर्माण एवं विनाश का महत्त्व समझ में आ जाता है।

पर्याप्ति और चयापचय का संबंध भी समझ में आ जाता है। चूंकि पर्याप्ति के द्वारा शरीर,

इन्द्रियादि अंगों के निर्माण के साथ-साथ श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा भावनाओं (मन) को भी जोड़ दिया गया है, इस अर्थ में यह चयापचय से कुछ भिन्न अवश्य लगता है, परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। चयापचय तो एक उदाहरण है और यह भी सत्य है कि जीव की अधिकांश क्रियाएँ इसीका परिणाम हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जीव अपने कार्यों के सम्पादन हेतु चयापचय क्रिया पर ही आधारित है। अब छह प्रकार की पर्याप्तियों की चर्चा की जाएगी।

१. आहार पर्याप्ति—जीव जन्म-ग्रहण करते समय आहार के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। उन पुद्गलों या उनकी शक्ति को 'आहार पर्याप्ति' कहते हैं।

आहार पर्याप्ति के बारे में जीव-वैज्ञानिकों की व्याख्या इस प्रकार है। आहार ग्रहण करना एवं उसे रस रूप में परिवर्तित करने के लिए जीवों के शरीर को विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ करनी पड़ती हैं। आहार ग्रहण करते ही मुँह से ही पाचन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। यहाँ 'टाइलिन' नामक एक रासायनिक तत्त्व निकलता है जो आहार में उपस्थित 'वसा' तत्त्व के साथ क्रिया करता है। 'वसा' एक कार्बनिक जटिल तत्त्व है जो सरल तत्त्व में बदल जाता है। इसके बाद भोजन पेट में आता है। पेट में बहुत ही लंबी आहार नली होती है और इससे अनेक तरह के रासायनिक तत्त्व निकलते हैं। ये रासायनिक तत्त्व आहार को पूर्णतः रस के रूप में बदल देते हैं और यही रस शरीर के द्वारा सोख लिया जाता है तथा बाकी बचे हुए पदार्थ मल के रूप में निकल जाते हैं।[१]

संभवतः जीव-वैज्ञानिकों ने आहार पर्याप्ति को पाचन क्रिया के साथ जोड़ा है और यह जैन विद्वानों को मान्य नहीं भी हो सकता है, परंतु आहार पर्याप्ति के द्वारा जो योग्य आहार (पुद्गल-समूह) ग्रहण किया जाता है एवं उसे रस रूप में परिवर्तित किया जाता है इसका क्या अर्थ लगाया जाए। क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि पाचन क्रिया के द्वारा ही आहार रस रूप में बदल जाता है। अतः 'आहार पर्याप्ति' को आधुनिक विज्ञान में वर्णित 'पाचन क्रिया' मानने में किसी तरह की समस्या नहीं होनी चाहिए।

२. शरीर पर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा आहार-रस को सात धातुओं में बदल दिया जाता है उसे 'शरीर पर्याप्ति' कहते हैं। शरीर में उपस्थित सात धातुएँ हैं—१. रस, २. रक्त, ३. मांस, ४. मेद, ५. हड्डी, ६. मज्जा और ७. वीर्य। इन्हीं सात धातुओं से शरीर का निर्माण होता है। क्योंकि प्रत्येक जीव के शरीर में किसी न किसी रूप में रक्त, मांसादि आवश्यक रूप से विद्यमान रहता है। इनके बिना किसी प्रकार से शरीर की कल्पना करना संभव नहीं है।

ग्राह्य आहार का जब पूर्णतया पाचन हो जाता है अर्थात् रस में बदल जाता है तब शरीर के आंतरिक अंग उन रसों को सोखते हैं और इसकी सहायता से सात प्रकार की धातुओं का निर्माण करते हैं। धातु-निर्माण एक अत्यंत जटिल प्रक्रिया है। भोजन के तत्त्व में कई तरह के कार्बनिक एवं अकार्बनिक रासायनिक तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वों के परस्पर मिलने से ही इन

सात तरह की धातुओं का निर्माण होता है।

रक्त में विशेषकर लाल रक्त में लौह तत्त्व होता है, जो ऑक्सीजन से मिलता है और इन दोनों में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। इसके फलस्वरूप उष्मा की उत्पत्ति होती है। यही उष्मा हमारे शरीर को गर्मी पहुँचाती है और हम स्वस्थ रहते हैं। ऑक्सीजन श्वसन के साथ शरीर के अंदर आता है तथा रक्त में लौह तत्त्व आहार के साथ आता है। लाल रक्त में जो लाली है वह लौह तत्त्व के कारण ही है। वैज्ञानिक इसे हीमोग्लोबिन कहते हैं।[७] इसी प्रकार अन्य धातुओं के बारे में भी समझना चाहिए। अस्थि को ही लिया जाए यह कैल्सियम और कार्बोनेट नामक रासायनिक तत्त्व के मिलने से बनता है। यह कैल्सियम और कार्बोनेट आहार पुद्गल के पाचक रस से मिलता है। यद्यपि अस्थि बनने की क्रिया भी अत्यंत जटिल है तथा इसका विस्तृत वर्णन करना संभव नहीं है, परंतु इतना तो मानना ही पड़ता है कि इसके निर्माण में आहार-रस का ही हाथ है।

३. इन्द्रिय पर्याप्ति—धातु रूप को इन्द्रिय रूप में परिवर्तित करने की शक्ति को 'इन्द्रिय-पर्याप्ति' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो आहार ग्रहण किया गया, वह 'आहार पर्याप्ति' के द्वारा धातु रूप में बदल गया और यही धातु जब इन्द्रिय रूप में बदलता है तो यह इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है अर्थात् धातु का इन्द्रिय रूप में बदलना इन्द्रिय-पर्याप्ति के कारण संभव है। आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति एवं इन्द्रिय पर्याप्ति में एक तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि हम देखते हैं कि क्रमशः आहार, धातु एवं इन्द्रिय निर्माण की प्रक्रियाएँ एक क्रम से शुरू होती हैं और इन्द्रिय पर्याप्ति के रूप में इनका अंत होता है। यह जीव-विज्ञान में वर्णित पाचन क्रिया, पाचक रस के द्वारा निर्मित रसों से रक्तादि बनने की प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है।

इन्द्रियादि अंगों के निर्माण की प्रक्रिया का नाम कायनिर्माण या Morphology है। इन्द्रिय पर्याप्ति के द्वारा ही जीव के बाह्य अंग बनते हैं। अतः इन्द्रिय पर्याप्ति कायनिर्माण का ही दूसरा नाम है। इसे मेंढक के काय-निर्माण के द्वारा समझाया जा सकता है। मेंढक के अंडे का जब निषेचन होता है तो उसमें कोशिका के विभाजन के बाद एक अल्प विकसित टैडपोल निकलता है। यह टैडपोल केवल मुँह और पूँछ से युक्त होता है। अतः इस समय यह बाह्य आहार नहीं ले सकता है। इस समय यह अपने अंदर की कोशिका को ही आहार रस के रूप में ग्रहण करता है तथा उसे ही धातु रूप में बदलकर शरीर के अन्य अंगांगों का निर्माण करता है। बाद में श्वसन हेतु आंतरिक एवं बाह्य गिल बन जाते हैं, मुँह के दोनों जबड़ों में दाँतें बन जाती हैं एवं देह-गुहा का भी निर्माण हो जाता है। इस देह-गुहा में एक लम्बी-सी आहार-नाल होती है। अब वह बाह्य आहार लेने लगता है।[८]

बाह्य आहार लेने के बाद पुनः इसके अन्य अंगों का निर्माण होता है अर्थात् एक पूर्ण मेंढक बनने की प्रक्रिया शुरू होने लगती है और इसके बाह्य तथा आंतरिक अंगों के निर्माण की प्रक्रिया

प्रारंभ हो जाती है। इस क्रम में वह लगातार आहार लेता रहता है और आहार-पाचन की सम्पूर्ण प्रक्रिया भी उसके आहार-नाल में चलती रहती है। इन पाचक रसों के विभिन्न घटकों के परस्पर समायोजन से उसके अंग-प्रत्यंग भी बनने प्रारंभ हो जाते हैं और यह प्रक्रिया मेंढक के जीवन पर्यंत चलती रहती है। प्रारंभ में यह प्रक्रिया उसके अंग-प्रत्यंगों का निर्माण करती है तथा बाद में यही क्रिया अंगों को बलशाली बनाने, उसमें होने वाली टूट-फूट को ठीक करने में सहायक होती है।[९]

मेंढक के काय-निर्माण का यह वर्णन जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'इन्द्रिय पर्याप्ति' से मेल बैठाने के लिए किया गया है। यद्यपि जैनाचार्यों ने इन्द्रिय-पर्याप्ति की इतनी विस्तृत व्याख्या तो नहीं की है, परंतु थोड़े से शब्दों में ही उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह आधुनिक विज्ञान में प्रतिपादित काय-निर्माण की प्रक्रिया को ही इंगित करता है।

४. श्वोसोच्छ्वास पर्याप्ति—श्वासोच्छ्वासयोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करने की शक्ति 'श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति' है। इसे प्राणापाण पर्याप्ति भी कहा जाता है।

वायु में विभिन्न तरह के गैस हैं। श्वास एवं प्रश्वास की प्रक्रिया में ऑक्सीजन नामक गैस ली जाती है और कार्बन -डायक्साइड नामक गैस छोड़ी जाती है।[१०] जब हम श्वांस लेते हैं तब ऑक्सीजन के साथ-साथ वायु में मिले अन्य गैस भी हमारे शरीर के अंदर चले जाते हैं। अब प्रश्न उठता है कि जब ऑक्सीजन के साथ-साथ अन्य कई तरह के गैस हमारे शरीर के अंदर श्वास के साथ चले जाते हैं तब हम ऐसा क्यों कहते हैं कि हमने ऑक्सीजन गैस ही श्वास के रूप में लिया है। चूंकि हम जो श्वास लेते हैं उनमें ऑक्सीजन के साथ-साथ अन्य कई गैस भी रहते अवश्य हैं, परंतु शरीर के अंदर के अंगों की बनावट एवं प्रक्रिया के फलस्वरूप मात्र ऑक्सीजन गैस ही उपयोग में लाई जाती है। ऑक्सीजन का संयोग अन्य तत्त्वों के साथ होता है फलस्वरूप ऊष्मा, कार्बनडायक्साइड आदि गैस बनते हैं। कार्बनडाईक्साइड प्रश्वास के रूप में बाहर निकल आता है। यही प्रक्रिया श्वासोच्छ्वास कहलाती है।

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति में कहा गया है कि श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना एवं उन्हें श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत कर देना ही श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। वस्तुतः इसका यही अर्थ है ऑक्सीजन ग्रहण करना और कार्बनडाइक्साइड छोड़ना। क्योंकि श्वासोच्छ्वास का सही अर्थ भी यही है।

५. भाषा पर्याप्ति—जिस शक्ति से जीव भाषा-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषारूप में परिणत करे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि के रूप में छोड़े, वही शक्ति 'भाषा पर्याप्ति' है। भाषा पर्याप्ति जीव की वाक्शक्ति का द्योतक है। इसीके माध्यम से जीव अपनी अभिव्यक्ति को शब्द या भाषा रूप में व्यक्त कर पाता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार ध्वनि ऊर्जा का एक रूप है तथा इसे एक स्थान से दूसरे स्थान जाने में समय भी लगता है तथा माध्यम की भी आवश्यकता होती है। ध्वनि जब निकलती है तो वह वातावरण को कम्पित कर देती है और इसी कम्पन के फलस्वरूप वह सुनाई पड़ती है। जहाँ ध्वनि उत्पन्न होती है वहाँ कम्पन होता है और जब किसी वस्तु से कम्पन उत्पन्न होता है तो वह ध्वनि उत्पन्न करने लगता है। अब समस्या यह है कि ध्वनि बजती हुई घंटी से या स्वरित्र से हमारे कानों तक किस प्रकार पहुँचती है? अगर इस पर विचार करें तो हमारे समक्ष ये दो तथ्य उपस्थित होते हैं—१. ध्वनि-उत्पादक से छोटे-छोटे टुकड़े निकलते हैं जो हमारी आँखों को दिखाई नहीं देते हैं, परंतु हमारे कानों से टकराकर ध्वनि का अनुभव कराते हैं। २. ध्वनि-उत्पादक एक ऊर्जा केन्द्र के समान कार्य करता है और वायु में तरंगें उत्पन्न करता है और वे तरंगें हमारे कानों से टकराकर ध्वनि का अनुभव कराती हैं।[११]

प्रमाण एवं प्रयोगों के आधार पर यह निश्चित हो गया है कि ध्वनितरंगें वायु में तरंगें उत्पन्न करती हैं और यही तरंगें जब हमारे कानों के परदे से टकराती हैं तब हमको ध्वनि सुनाई देती है। अब प्रश्न यह है कि हम जो बोलते हैं, वही बातें कैसे सुनाई पड़ती हैं? इसका समाधान इस तरह से किया गया है। प्रत्येक जीव में ध्वनि उत्पन्न करने के लिए स्वर-रज्जु होता है और यह भिन्न-भिन्न जीवों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसीलिए सभी जीवों की ध्वनि में अंतर होता है। वाक्शक्ति इन्हीं स्वर-रज्जु की बनावट पर निर्भर करता है। जब कोई जीव किसी तरह के शब्द निकालना चाहता है, तब अपने स्वर-रज्जु पर दबाव डालता है और स्वर-रज्जु की बनावट ऐसी होती है कि जब उस पर दबाव डाला जाता है तो उससे ध्वनि निकल पड़ती है।[१२] जिस तरह के शब्द बोलना होते हैं, उन्हीं के अनुरूप स्वर-रज्जु का प्रयोग किया जाता है और वह शब्द वायुमंडल को उसी दबाव से कम्पित करता है और उसी तरह की कम्पित वायु हमारे कान के परदे पर दबाव डालती है और हम अपने अनुरूप शब्द सुन लेते हैं।

६. मनः पर्याप्ति—मन को ग्रहण करने योग्य पुद्गल परमाणु को मन के परिणामी भावों में व्यक्त करने की शक्ति 'मनःपर्याप्ति' है। सत्य, असत्य, उभय और अनुभय रूप चार प्रकार के मन योग्य पुद्गल द्रव्यों का अवलंबन कर चार प्रकार के मन की रचना यह जीव करता है, उस कारण की परिपूर्णता का होना मनःपर्याप्ति है।[११] मनःपर्याप्ति के विषय अन्य पर्याप्तियों से अलग हैं। चूंकि मन जैसी सत्ता का जिस रूप में वर्णन दार्शनिकों ने किया है, उस तरह की व्याख्या वैज्ञानिकों ने नहीं की है, अतः मनःपर्याप्ति की वैज्ञानिक व्याख्या एक समस्या है फिर भी एक प्रयास किया गया है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय से युक्त होते हैं। मन जैसी सत्ता मात्र पंचेन्द्रिय में ही होती है। यहाँ भी जैन दार्शनिकों ने सभी पंचेन्द्रियों को दो कोटियों में

रखा है—१. संज्ञी और २. असंज्ञी। संज्ञी पंचेन्द्रिय ही मन से युक्त होते हैं। नारक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव के रूप में भी जीवों का विभेद किया गया है और इनमें मनुष्य, देव, नारकी को संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा तिर्यंच को असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहा गया है।[१४] संज्ञी की विवेचना करते हुए 'पंचसंग्रह' में कहा गया है "जो जीव किसी कार्य को करने से पूर्व कर्तव्य और अकर्त्तव्य की मीमांसा करे, तत्त्व और अतत्त्व का विचार करे, योग्य को सीखे और उसके नाम पुकारने पर आवे, वह संज्ञी जीव है और जो ऐसा नहीं करता है वह असंज्ञी है। संज्ञी एवं असंज्ञी के लिए क्रमशः समनस्क एवं अमनस्क शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[१५] कहने का तात्पर्य यह है कि संज्ञी जीव मन से युक्त होता है और यह विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति रखता है। यद्यपि चींटी जैसे निकृष्ट जीव में भी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति, प्रतिगमन और अनिष्ट पदार्थों से हटने की बुद्धि देखी जाती है, परंतु उपरोक्त लक्षण के अभाव में वे संज्ञी नहीं कहे जा सकते हैं अर्थात् ऐसे जीव संज्ञी जीव की तरह विचार या तर्क नहीं कर पाते हैं।

'संज्ञी' और 'असंज्ञी' की इस चर्चा के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः मन भी जीव की इन्द्रिय ही है, परंतु यह बाह्य नहीं आंतरिक इन्द्रिय है एवं आंतरिक संवेदनाओं यथा सुख, दुःख जैसे मनोभावों को ग्रहण करता है।[१६] आधुनिक विज्ञान में भी अंतरिन्द्रिय की परिकल्पना की गई है और यही भूख-प्यास, सुख-दुःख जैसी अनुभूतियों को ग्रहण करता है।[१७] मन बाह्य इंद्रियों पर भी नियंत्रण रखता है तथा जब हमारे विरुद्ध कुछ घटित होता है तो हम तुरंत आक्रामक या गतिशील हो उठते हैं। जैन दार्शनिकों ने इन सबका कारण मन का सक्रिय होना माना है।[१८]

परंतु वैज्ञानिकों ने जैन दर्शन में प्रतिपादित मन की अवधारणा को तंत्रिका तंत्र से जोड़ा है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जीव के समस्त क्रिया-कलाप जो एक नियम से संचालित होते हैं वह वस्तुतः तंत्रिका तंत्र के कारण ही होता है। तंत्रिका तंत्र के मुख्य भाग मस्तिष्क, रीढ़-रज्जु तथा विभिन्न तरह तंत्रिकाएँ (Nerves fibre) हैं। जब भी संवेदनाएँ हमारे ऊपर प्रभाव डालती हैं, तंत्रिकाएँ उस संवेदनाओं को ग्रहण करती हैं और तुरंत मस्तिष्क के पास पहुँचाती हैं। मस्तिष्क इस संदेश को प्रभावी अंगों तक पहुँचाने वाली तंत्रिका को प्रेरणा के माध्यम से भेजता है और वह अंग उस संवेदना को ग्रहण कर लेता है।[१९] हमारे ऊपर जब किसी तरह का आक्रमण होता है तो हम अनायास ही इस आक्रमण का प्रतिकार कर उठते हैं। इसका मुख्य कारण रीढ़-रज्जु है और वैज्ञानिकों ने रीढ़-रज्जु की तथा जीव की इस क्रिया को प्रतिवर्ती क्रिया (Reflex action) का नाम दिया है।[२०] अतः मनःपर्याप्ति के बारे में हम इतना ही कह सकते हैं कि यह आधुनिक विज्ञान के तंत्रिका तंत्र का ही दूसरा नाम है।

◇◇◇

१. आहार शरीर :------- निष्पत्तिः पर्याप्तिः। धवला, १/१, १, ७० पृ० ३११

२. जीव-अजीव, मुनि नथमल, जैन श्वे.ते. महासभा, कलकत्ता, पृ० १९

३. आहार १ सरिरि २ दिय ३। पज्जती आण पाण ४ भास ५ मणे ६।—प्रवचनसारोद्धार, द्वार २३२, गाथा ३१; भगवई (आचार्य तुलसी, ६, ४/६३, प्रज्ञापना, १/१४ टीका.

४. The term metabolism means all chemical changes that take place inside the body. The changes may be two types—(a) synthetic (anabolism) and (b) breakdown (catabolism). These two together comprise total metabolism—Human Physiology. By Chatterjee and Banerjee, Books Allied Private Ltd., Calcutta, p-304

५. Red cells carry oxygen and carbondioxide. They help to maintain acid base balance. Red cells maintain ion balance. Ibid, p. 87

६. The term digestion may be defined as the process by which complex food particles are broken down into simple unitary fragments suitable for absorption and assimilation. Although digestion of starch starts in mouth yet plylin action chiefly takes place in the stomach. Ibid, pp 290, 291.

७. Haemoglobin, the real pigment of the blood, is a conjugated protein belonging to the class of chromoprotein—— which is an iron containing chromogen. Hand Book of Physiology, By Vazirdar, Popular Book Depot, Bombay, p. 444.

८. प्रारंभिक जीव-विज्ञान, संतप्रसाद टंडन, रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, पृ० १४५-१४८.

९. वही., पृ० १४८-१४९

१०. Air is drawn in through the nasal cavity. Three changes take place here : 1. The dust particles and bacteria become caught up and are removed. 2. The air is cooled down and is made moist. 3. The sense organ of smell being situated inside the nose, the odour of the inspired air can be easily taken. Supplies oxygen and eliminates carbon dioxide. Human Physiology, pp 200-201

११. सरल भौतिकी, कुमार एवं भार्गव, जी०आर० भार्गव एण्ड सन्स, चन्दौसी, पृ० ३४२

१२. When a blast of air is forced between the vocal cords they are set in vibration and sounds are thus produced. Hand Books of Physiology p. 172.

१३. मूलाचार वृत्ति, १२/४

१४. संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यंच एव नारकमनुष्यदेवाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव। द्रव्यसंग्रह टी./१२/३०/४

१५. मीमंसइ जो पुण्वं कज्जकज्जं च तच्चमिदरं च।

सिक्खइ णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीओ। —पंचसंग्रह/प्रा./१/१७४

१६. Mind is the internal sense-organ. It congnises the objects of all the senses as well as internal states like pleasure, pain etc.—Jain Culture, Mohan Lal Mehta, P.V. Research Institute, Varanasi, p. 56

१७. The internal sensation include deep pain, hunger, thrust and other visceral sensations. It tells us of the changes within our body and psychic personality. Hand Book of Physiology. p. 730

१८. Jain Culture, p. 56

१९. प्रारंभिक जीव-विज्ञान, पृ० १२१

२०. The spinal cord as an organ of Reflex action. It is an action induced by irritation of a sensory nerve. Hand Book of Physiology. p. 630.

जाति गोत्रादिक कर्माणि शुक्ल ध्यानस्य हेतवः।
येषु येस्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।। उत्तर पु. पर्व ७४

वाचनिक हिंसा करने की अपेक्षा गूंगा होना अच्छा है।
खोटे वचन बोलने के अवसर पर गूंगे बन जाओ।।

मानव-जीवन के अभिशाप : सप्त व्यसन
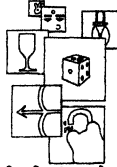
❑ *मुनिश्री विरागसागरजी*

प्राची के बालार्क की हल्की-सी लाली बिखरते ही संसार के सभी प्राणियों में नवजीवन का संचार हो उठता है। जब एक प्रकाशपुंज के बिना, संसार की गतिविधियों में ठहराव-सा आ जाता है—चेतन प्राणियों की क्रियाओं में निष्पंदता-सी छा जाती है, तब प्रभात का आगमन उस तंद्रा को तोड़ता हुआ उसी से समरस होने को प्रेरित करने लगता है। सभी प्राणी अपने अपने कर्तव्य-पथ पर चल पड़ते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी होंगे जो अदृष्ट की मार से पीड़ित होते हैं। होता क्या है.......एक ओर पुरवासी अपने कार्य में लग चुके हैं तो दूसरी ओर दैन्य और दारिद्रय की मूर्ति को साकार-सा करता हुआ एक भोला अनपढ़ ग्रामीण अपनी उनींदी आँखों को मलते हुए वन की ओर निकलता है। इस तमन्ना के साथ कि कुछ जल्दी पहुँचकर थोड़ी लकड़ियाँ और काट लेगा तो दो चार रोटियाँ अधिक मिल जावेंगी। भूख की बेवश वेदना प्राणी को कहाँ से कहाँ ला पटकती है......। रोटियों की उधेड़बुन में वह कहीं का कहीं जा पहुँचा। बीहड़ वन में, वह निरीह इधर-उधर भटक कर मार्ग खोजने लगा। क्षुधा की वेदना से सुध-बुध भी खो बैठा। बस, चिंता थी तो इतनी कि अपनी भूख मिटा लेता। बस......फिर क्या था, फलदार वृक्षों की तलाश में नेत्र घूमने लगे। देखता है कि सामने ही तो मोहक सुगन्ध बिखेरती फल से लदी डालियां झूम रही हैं। क्षुधा का मारा, परिणाम से बेखबर, वह अज्ञानी उन लाल-लाल फलों को खाने के लिए लालायित होकर लपका और उन्हें तोड़कर हर्षित हो उठा। फल पके हुए थे, तुरन्त मुँह में पानी भर आया। विवेक ज्ञान से शून्य उस प्राणी ने उन्हें तत्काल खा लिया। क्षुधा भले ही समाप्त न हुई हो किन्तु जिन्दगी जरूर समाप्त हो गई। गुण-दोष की पहिचान करने की फुर्सत कहाँ? संसार की दशा कुछ ऐसी ही है। इन्द्रियों के वशीभूत प्राणी, व्यसनों के रास्ते नित्य-प्रति, रसातल में पहुँच रहा है। जिन्दगी की खोटी आदतें पतन के मार्ग की अभिन्न सहचरी बन गई हैं और इनके संग से प्राणी उभय लोक बिगाड़कर, पश्चात्ताप के गर्त में पड़ा-पड़ा कराहता रहता है। धन्य हैं जो व्यसनों से सदा दूर रहते हैं।

प्राणी प्रारम्भ में निर्दोष होता है, किन्तु जैसे-जैसे वह वृद्धिगत होता है विकार-वासनाओं की ग्रन्थियाँ भी वैसे-वैसे परिपुष्ट होकर जीवन में अपना रंग जमाने लगती हैं। कुत्सित जनों की संगति से खोटे-निंद्य कार्य करने में निर्भीकता आने लगती है। ऐसे ही कार्यों को करने की कथावार्ता वाले साहित्य रुचिकर लगते हैं। तदनुरूप दृश्य देखने की उत्कंठा, फिर स्वयं प्रवृत्ति की अभिलाषा बलवती हो उठती है। इस प्रकार जन्म से निश्छल प्राणी संगति से अपना

जीवन व्यसनी बना डालता है। सत्संगति से उन्नति के शिखर पर भी जा विराजता है। यह है सब वातावरण का प्रभाव। संसार तो कर्मक्षेत्र है; जैसा बोया जाएगा वैसा ही काटा जायेगा।

यहाँ संक्षेप में भारतीय धार्मिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में व्यसन के संबंध में प्रकाश डाला जा रहा है जिससे निंद्य कार्यों के परिणाम को समझकर सभी प्राणी सदाचार की ओर प्रवृत्ति कर सकें।

व्यसन शब्द का अर्थ है विपत्ति और विनाश। प्रारम्भ में जो असत् कार्य शौक समझे गये, कालान्तर में वे ही व्यसन बनकर जीवन में स्थायी घर कर गये। फलतः जीवन की स्वतंत्रता भी समाप्त हो गई। आज भारत स्वतंत्र अवश्य है किन्तु नैतिक पतन के कारण परतंत्र है, हर जगह मनुष्य के आचरण में, व्यसन का ही प्रमुख स्थान है। फिर ऐसी स्वतंत्रता का भला क्या अर्थ............?इसलिए जैनागम में राजनीतिक स्वतंत्रता को नहीं माना गया बल्कि स्वतंत्र वह है जिसने वासनाओं को (व्यसनों को) परास्त कर अपनी आत्म शक्ति को पहिचान लिया है। भगवान् महावीर ने ऐसी ही स्वतंत्रता का उपदेश दिया है जिसमें मानव वासनाओं-व्यसनों को समाप्त कर अपनी जिन्दगी में सदाचरण की सुगंध बिखेर सके। सदाचरण ही मानव का सर्वोत्तम उपहार है, अतः सुख-शान्ति का जनक है। व्यसनी प्राणी की जिन्दगी में हाहाःकार के सिवाय कुछ नहीं है।

व्यसन प्राणी को इतना व्यस्त कर देते हैं कि फिर उसे क्षण भर भी विश्रान्ति का अवकाश नहीं मिलता। अणुमात्र भी व्यसन प्राणी को अहर्निश संतापित किया करते हैं तथा बुद्धि को भ्रमित कर निंद्य कार्य कराने तक में नहीं चूकते और अन्त में आदत से इतना लाचार बना देते हैं कि फिर इनसे ग्रस्त प्राणी इनका असली प्रभाव जान लेने पर भी, छोड़ने को तैयार नहीं हो पाता जिसके कारण उसके धर्म, सदाचार, शिष्टाचार, धर्माचार, लोकाचार आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसा कि वादीभसिंह सूरि ने कहा है—

विषयासक्त चित्तानां गुणः कोऽवा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥ (क्षत्रचूड़ामणि)

विषयों में आसक्तचित्त ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जो अपने समस्त गुणों को नष्ट नहीं कर देता हो अर्थात् फिर न तो उसके पास विद्वत्ता ही रहती है और न मनुष्यता, यहाँ तक कि उसमें सत्यता भी नहीं रहती। दोषों के अपार समूह उस प्राणी को ही अपने निवास का एकमात्र स्थान चुन लेते हैं जिससे इस लोक में निंदा, तिरस्कार तो होता ही है, साथ ही अनेक ऐसे असाध्य रोग भी हो जाते हैं जिनका उपचार होना असंभव हो जाता है। कितने ही प्राणी व्यसनों से इस प्रकार आसक्त हो चुके हैं कि वे अनेक भयानक रोगों के शिकार बन गए हैं, प्राण निकलने की तैयारी में हैं, डॉक्टरों ने जवाब भी दे दिया किन्तु आदत से लाचार बेचारे क्या करें, उन व्यसनों को छोड़ नहीं पाते हैं। ये व्यसन नैतिक पतन के साथ-साथ दूसरों को

भी पतित बनाने में तथा समाज में गंदा वातावरण बनाने में सहायक होते हैं। आत्मा को पथ-भ्रष्ट एवं पददलित कर देते हैं। व्यसन प्राणी को एकदम खोखला बना डालते हैं, उसकी सारी ताकत को समाप्त कर हड्डियों का पिंजरा मात्र बना देते हैं। व्यसन के एक रूप नहीं हैं, अपितु अनेकों रूपों में समाहित है। इसने विश्व के बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी एवं विद्वानों पर भी अपना अनुशासन कर उन्हें अधोगामी बनाया है।

आज प्रायः अनेक प्राणी इन व्यसनों के गुलाम बने हुए हैं। इस गुलामी के कारण ही, वे अपने आपको ठग रहे हैं। व्यसन चरित्र के लिए एक ऐसा कलंक है कि जिसका दाग जीवन भर में नहीं धुल सकता। ऐसे प्राणी कितने ही बड़े विद्वान्, त्यागी, तपस्वी एवं धनाढ्य क्यों न हो जाएँ तो भी उस दाग को धो नहीं सकते। यह आत्मा के लिए अभिशाप है तथा आत्म-साधना को वंचित कर देता है। जैनागम में इन्हें पाप ही नहीं अपितु महापाप कहा है। पाप की तो सीमा होती है किन्तु इनकी न सीमा होती है और न अन्त। इसलिए ऐसे महापाप का जीवन में त्याग कर देना चाहिए।

द्यूत-मांस-सुरा-वेश्या-चौर्याखेट-पराङ्गना।
महापापानि सप्तानि, व्यसनानि त्यजेत् बुधः॥

द्यूत (जुआ), मांस, सुरा, वेश्यागमन, चोरी, शिकार (आखेट) और परस्त्रीगमन ये सात महापाप रूप व्यसन हैं। बुद्धिमान् प्राणियों को इनका सदैव त्याग कर देना चाहिए।

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि चोर पस्सारं।
दुग्गइ गमणस्सेदाणि हेउ भूदाणि पावाणि॥ (वसुनन्दि)

जुआ, मज्जा (शराब), मांस, वेश्या, पारद्धि (शिकार), चोरी, परस्त्रीगमन इन सातों का व्यसन दुर्गति के कारणभूत पाप हैं अतः त्यागने योग्य हैं।

जुआ

जिस खेल में पासे डालकर धन (चल, अचल) की हार होती है वह सब जुआ कहलाता है।[1] अर्थात् शर्त लगाकर ताश, शतरंज, चौपड़ आदि खेलना। सप्त व्यसनों में प्रथम, सम्पूर्ण अनर्थों का मुखिया, मायाचार का घर, चोरी एवं झूठ का मुख्य स्थान एक जुआ ही है।[2] जुआ खेलने में हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ, छल-कपट आदि दोषों की अधिकता होती है। क्षण प्रतिक्षण उक्त दोष बढ़ते जाते हैं। जिस प्रकार वेश्यागमन या परस्त्रीसेवन या शिकार खेलने से यह जीव स्वयं नष्ट हो जाता है तथा धर्मभ्रष्ट होता है उसी प्रकार जुआ खेलने वाला जुआरी भी अपने आपको आपत्तियों से घेर लेता है, आपत्तियों को मोल लेता है।[3]

जुआ खेलने वाले पुरुष में क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषायें तीव्र होती हैं जिससे

जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है।[४] जुआ खेलने में अन्धे पुरुष, इष्ट मित्र को कुछ नहीं गिनते एवं गुरु, माता, पिता को भी कुछ नहीं समझते अपितु स्वच्छन्द हो न करने योग्य कार्यों को भी करने लगते हैं।[५] जुआरी के पकड़े जाने पर उसके माता-पिता भाई आदि भी कह देते हैं कि हम इसे नहीं जानते यह हमारा पुत्र, भाई आदि नहीं है।[६] बल्कि उसे सामने देख, ले जाने का आदेश देते हैं, 'हमारे सामने से इसे ले जाओ।' यहाँ तक ही नहीं अपितु उसकी सास उससे द्वेष करने लग जाती है, उसकी पत्नी उसके विरुद्ध हो जाती है। बार-बार समझाये जाने पर भी याचना करने पर भी जुआरी सुख देने वाले व्यक्तित्व को प्राप्त नहीं होता। जुआरी होने पर भी भोगों को प्राप्त नहीं होता।[७] जुए के पासे निश्चित ही अंकुश वाले होते हैं, अर्थात् जिस प्रकार चाबुक गाय, बैल, घोड़ा आदि को दुख देता हुआ अपनी इच्छानुसार चलता है, उसी प्रकार यह जड़मूल से नष्ट कर उसे संतापित कर कुटुम्बियों को भी दुखित करने वाला है। जीता हुआ धन देकर वह धन पुत्रों को मिला देता है। किन्तु बाद में शहद में सने हुई तलवार के समान सर्वस्व हरण कर उसे जान से मारने वाला होता है ।[८] जुए के पासे नीचे अक्षपट्ट पर डाले जाते हैं किन्तु जुआरियों के हृदय को ऊपर उछाल देते हैं। स्वयं हाथों से रहित होने पर भी हाथ वालों को दबा देते हैं। अनोखे अंगार सदृश ये पासे अक्षपट्ट पर फैंके जाते समय शीतल होने पर भी हृदय को जला देते हैं।[९] यह व्यसन साक्षात् धर्म के नाम को नष्ट करने वाला है, नरक गति का मार्ग है, सर्व दोषों का संगम का स्थान है, अपयश रूपी वृक्ष का मूल है, आपत्ति रूपी नदियों का किनारा है और उत्तम बुद्धि का नाशक है। ऐसे द्यूत का तुम सदा-सदा के लिए विरोध करो अर्थात् त्याग करो[१०]। क्योंकि जुआ वाला मनुष्य स्वजन में, स्वदेश में और परदेश में सभी जगह निर्लज्ज हो जाता है फिर उसका विश्वास उसकी माता तक नहीं करती।[११] जुआरी मनुष्य झूठी शपथ खाता है, झूठ बोलता है, दुष्ट भाषा बोलता है, क्रोधान्ध होकर पास में खड़ी माता, बहिन तथा बालक तक को मारने लगता है।[१२] आँखों से रहित मनुष्य यद्यपि देख नहीं सकता किन्तु शेष इन्द्रियों से जानता है किन्तु जुआरी मनुष्य देखता हुआ भी सर्वांग अन्धा होता है।[१३]

जुआरी मनुष्य न आहार करता है न ठीक से रात वा दिन में शांतचित्त नींद लेता है, हमेशा चिन्तातुर रहता है।[१४] इस लोक में अग्नि, विष, चोर और सर्प तो अल्प दुःख देते हैं किन्तु जुआ हजारों लाखों दुख देता है।[१५] संसार में जुआ प्रसिद्ध है।[१६] प्रत्येक प्राणी जानता भी है कि यह जुआ जिस समय देखा व खेला जाता है, उसके बारे में सोचना, साधन जुटाना आदि कार्य करता है उसी समय महा अशुभ कर्म का बंध करने लगता है। इसलिए समस्त आपत्तियों को उत्पन्न करने वाला यह खेल, इह व परलोक की खुशियों को समाप्त करने वाला है। अतः इसका जीवन में त्याग ही कर देना उचित है।[१७] श्रावक, भाई-बहिन मनोविनोद व विशेष त्यौहार, जैसे दीपावली आदि पर खेलना एक रस्म समझते हैं व रूढ़िवशात् ऐसे खेल को खेलते भी हैं। बात बात में शर्त लगाना, दौड़ करना, हार जीत की बात करके धन को

शर्त पर लगा देते हैं। छोटी-छोटी बातों को शर्त रूप करके उसे जुआ न मानकर उस कार्य में प्रोत्साहन आदि देने की क्रिया भी सब पाप बंध का कारण है। आज्ञा रूप युक्ति बताना आदि अतिचारों को भी छोड़ देना चाहिए। क्योंकि वास्तव में ये विषयानुराग रूप परिणाम कषाय के लिए ही होते हैं।

मांस-भक्षण

जीव के वध के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए मांस खाने वालों को नियम से हिंसा करनी पड़ती है।[१८] मृत भैंस, बैल आदि का भी मांस क्यों न हो, तो भी उसके सेवन से आश्रित रहने वाले अनन्त जीवों की हिंसा होती है।[१९] चाहे मांस कच्चा हो या पका अथवा अधपका किन्तु उसमें उस ही जाति के अर्थात् जिस पशु या पक्षी का मांस है उसमें उसकी जाति के अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं और मरते रहते हैं। जैसे बकरी का मांस है तो उसमें बकरी की जाति के अनन्त जीव उत्पन्न हो जाते हैं एवं मरते रहते हैं।[२०] इसलिए ऐसे कच्चे या पके मांस को जो खाते हैं या छूते हैं वे नियम से हमेशा करोड़ों जीवों के पिण्डों को मारते हैं।[२१] मांस अमेध्य है अर्थात् विष्टा के समान है। छोटे-छोटे कीड़ों मकोड़ों से भरा विष्टा के समान दुर्गन्धयुक्त एवं वीभत्स है। छूना तो दूर, देखना भी पाप है। फिर भला ऐसा मांस खाने योग्य कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं। फिर भी जो निर्दयी व्यक्ति उन मूक, निर्मम पशुओं को मारते हैं उनका भक्षण करते, बेचते हैं व यह कार्य अच्छा मानते हैं, बेचने व खाने वाले को बढ़ावा देते हैं, उनको सुसंस्कारित मानते हैं ऐसे जीव दुर्गति को प्राप्त होते हैं। ठीक ही है, पापी प्राणियों की स्थिरता कहाँ? अर्थात् वे कहीं भी क्यों न चले जाएँ परन्तु स्थिर सुख प्राप्त नहीं कर सकते।[२३] यही बात आचार्य उमास्वामी ने भी कही है—मांस के लिए जीवों को मारने वाला, देने वाला, पकाने वाला, खाने वाला, अनुमोदन करने वाला और खरीदने वाला ये सभी दुर्गति के पात्र हैं।[२४] क्योंकि मांस खाने वाले के इन्द्रिय-दमन, दान, दया, सत्य, क्षमा, पवित्रता, व्रत आचार, विद्या, हिताहित का विचार आदि समस्त सद्गुण का अभाव हो जाता है, नष्ट हो जाते हैं।[२५] इसलिए जिस प्रकार तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार दूसरे के प्राणों के प्रति भी दया, आदि का विचार करना चाहिए।[२६] अतः अपनी आत्मा के समान ही दूसरों के प्राणों (आत्मा) को समझना चाहिए। जो अधर्म शास्त्रों का प्रमाण देकर जीवों का वध करना धर्म बतलाते हैं वे मृत्यु होने पर नरक में शूलि पर चढ़ाये जाते हैं।[२७]

मनुस्मृति में कहा है—हे मनुष्य, पशु-पक्षियों के शरीर में जितने रोम हैं उतने हजार वर्ष तक दुख उन्हें मारने वालों को प्राप्त होता है।[२८]

हिन्दू धर्म में कहा है—जो प्राण-हिंसा करता है, मांस खाता है उसकी समस्त धर्म-साधना, तीर्थयात्रा आदि समस्त क्रिया-धर्म नष्ट (व्यर्थ) हो जाते हैं।[२९] अल्पायु, दरिद्रता, पराधीन जीवन,

दुष्कुलों में जन्म लेना यह मांसाहार का प्रत्यक्ष परिणाम है।[30] जो लोग नाना तरह के अमृत से भरे दूध, घी, फल, मेवे, अनाज, दाल, सब्जी सात्विक पदार्थों को छोड़कर घृणित मुर्दे (मांस) आदि को खाते हैं वे सचमुच राक्षस की तरह नजर आते हैं।[31] ऋग्वेद में तो मांसाहारियों को बड़े कठोर शब्दों में फटकारते हुए कहा है कि—हे अग्नि! मांस खाने वाले को भस्म कर।[32] तथा हे मित्र! जो पशु-पक्षियों और अन्य सांसारिक प्राणियों का मांस खाते हैं मैं उन दुष्टों का नाश करता हूँ।[33] मांस किसी तृण काष्ठ या पत्थर से उत्पन्न नहीं होता किन्तु-----जीवों को मारकर ही उसकी उत्पत्ति होती है इसलिए मांस भक्षण में महान् दोष होते हैं।[34] कई स्थानों पर यह मानव जीवों की हिंसा कर उनका मांस पितरों को चढ़ाते हैं और उन्हें तृप्त करना चाहते हैं। यही बात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कही है कि वेदों में कहीं भी मांस-भक्षण का उल्लेख नहीं है फिर भी जो लोग मांस खाते हैं या उसका प्रचार करते हैं वे सब राक्षस के समान हैं। 'दुर्गा स्तोत्र' में कहा है कि हे शिव! जो तामसी प्रकृति के दुष्ट मनुष्य मेरे लिए जीवों को मारते हैं वे करोड़ों कल्पकाल तक नरक में रहते हैं।[35] जब मरे हुए मनुष्य, पशु-पक्षियों का श्मशान हम नगर के पास तक नहीं होने देते हैं, तो वाह रे मानव! उन अनेकों प्राणियों को मारकर अपने घर को ही श्मशान बना दिया। अपने हृदय को भी श्मशान बना दिया![36]

मांस दुर्गन्धमय है। म्लेच्छों द्वारा सेवित है और आर्य जनों द्वारा त्याज्य है। आर्यपुरुष खून वा मांस का आहार नहीं करते क्योंकि वह अभक्ष्य और घृणित है। आर्यजनों को तो भोजन में चावल, जौ, गेहूँ, उड़द, घी, तेल, दूध, मक्खन, मिश्री लेना ही योग्य है।[38] ईसाई धर्म के संस्थापक ईसामसीह भी कहते हैं कि—मेरे शिष्यो! तुम मांस भक्षण तथा जीव हत्या मत करो।

"द गॉस्पैल ऑफ द होली टुवेल्स" में उल्लेख है— मेरे शिष्यो! तुम रक्त बहाना छोड़ दो और अपने मुंह में मांस मत डालो। ईश्वर बड़ा दयालु है, उसकी आज्ञा है कि मनुष्य पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले फल और अन्न से निर्वाह करे।[40] परमात्मा किसी का खून नहीं करता, न चाहता है। तुम लगातार प्रार्थना करोगे, तो भी मैं ध्यान नहीं दूँगा। क्योंकि तुम्हारे हाथ प्राणियों के वध के कारण रक्तमय हो रहे हैं।[41] सच्चे ईसाई किसी भी जीव का वध नहीं करते।[42] मनुष्यों! जानवरों को भी जीने का हक दो, उन्हें खाकर पेट को कब्रिस्तान मत बनाओ।[43]

मुस्लिम धर्म में कहा है कि दुनिया में सभी प्राणियों पर दया करो क्योंकि खुदा ने तुम पर बड़ी मेहरबानी की है।[44] अल्लाह खून और गोश्त पसन्द नहीं करते,[45] अल्लाह ताला की कुर्बानियों (बलि) के गोश्त और लहु से कोई वास्ता नहीं रखता, केवल तुम्हारे विश्वास की जरूरत है।[46] सिक्ख धर्म में कहा है—जो प्राणी गांजा, भांग, शराब, मांस, अण्डे, मछली खाता है उसका जप, तप, व्रत, नियम सभी व्यर्थ हो जाते हैं।[47] सिक्खों के छट्ठे गुरु हरसेन राय ने पशुओं पर दया करने का उपदेश दिया और उनके मुफ्त इलाज हेतु अस्पताल खोले। नानक का मुसलमानों के प्रति उपदेश था कि मांस खाना महान् गुनाह है अर्थात् सबसे बड़ी गलती व दोष है। इस बात को नमाज पढ़कर देख लो—राक्षस कोई दूसरा नहीं अपितु मांसाहारी व शराबी मनुष्य

ही हैं।[४८] जो पशु-पक्षी तुम्हारा मांस कभी नहीं खाते तुम उन्हें कष्ट दो, उन्हें मारो या उनका मांस खाओ यह कितना अन्याय है। ध्यान रखो, यदि तुम अपना हित चाहते हो तो सर्व प्रथम मांस-सेवन का त्याग करो।[४९] क्योंकि जब खून से लिप्त कपड़ा पवित्र नहीं हो सकता तो मांस खाने से तुम्हारा हृदय कैसे पवित्र हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं।[५०] यही बात पारसी धर्म में कही है—मांस खाने से चित्तवृत्तियाँ क्रूर एवं पाशविक हो जाती हैं, जबकि सात्विक आहार से मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ निर्मल, चुस्त, सात्विक रहती हैं। जो प्राणी मांस खाने वाले हैं उनके गंगा, केदार, प्रयाग, पुष्कर आदि में स्नान करना ज्ञान, ध्यान, तप, भक्ति, दान, होम, पूजा, गुरुस्तुति आदि सभी धार्मिक अनुष्ठान निष्फल हैं।[५१]

वैज्ञानिकों ने भी मांस-भक्षण हानिकारक कहा है। उनका कहना है कि—मांस फिजूल की गर्मी देकर शरीर की शक्ति को मल-मूत्र से निकाल देता है। मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारियों में सात गुना अधिक तीव्र बुद्धि वाले और डेढ़ गुना अधिक शक्ति वाले मनुष्य हैं।[५२]

इसी प्रकार अण्डा भी मांस का दूसरा रूप है क्योंकि जो जो दोष मांस-भक्षण में हैं वे सभी अण्डे के भक्षण में भी पाये जाते हैं। अण्डे से दिल की बीमारी, ब्लड प्रेशर, धमनियों में फोड़े, जख्म, गुर्दे की खराबियाँ, पित्त, थैली में पथरी आदि रोग उत्पन्न होते हैं।[५३] इनसे पेट में सड़ान उत्पन्न होती है क्योंकि इनमें विटामिन सी. कार्बोहाइड्रेट्स केल्शियम नहीं हैं।[५४] अठारह माह परीक्षण के बाद अण्डों में ३०% डी.डी.टी. (D.D.T.) विष पाया गया।[५५] कैंसर का मुख्य कारण मांस, शराब एवं अण्डा ही हैं। मांस लाइलाज बीमारी को उप्पन्न करता है इसलिए यह बीमारी नहीं अपितु मौत का पैगाम है।[५६]

मद्य (शराब)

अनेक प्रकार के फल, जौ, गुड़ आदि को सड़ाकर एवं निचोड़कर उनमें विभिन्न प्रकार के सेन्ट एवं रासायनिक पदार्थ आदि को डालकर रस तैयार किया जाता है उसे मद्य अर्थात् शराब कहते हैं। यह शराब अनेक एकेन्द्रिय आदि जीवों की योनिभूत अर्थात् उत्पत्तिस्थान है। इसलिए मद्यसेवन करने वाले को हिंसा का दोष अवश्य लगता है।[५७] क्योंकि जिसकी एक बूँद के जीव यदि फैल जायें तो तीनो लोकों को भी पूर्ण कर लेते हैं, अर्थात् उन जीवों से तीनों लोक भर जाते हैं। जिसके नशे में मूर्छित हुए मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों लोकों को बिगाड़ देते हैं अर्थात् दुःख सहन करते हैं ऐसे मद्य को, अपने कल्याणार्थ आर्य पुरुष कभी सेवन नहीं करते हैं। मद्य सेवन करने वालों को इसका त्याग कर देना चाहिए।[५८] जिसके पीने से मद्य में उत्पन्न होने वाले समस्त जीव-समूह की मृत्यु हो जाती है और पाप अथवा निंदा के साथ साथ काम, क्रोध, भय, भ्रम आदि प्रधान दोष उदय को प्राप्त होते हैं, उस मद्य को छोड़ने वाला पुरुष धूर्तिल नामक चोर के समान कभी भी विपत्तिग्रस्त नहीं होता और उसे पीने वाला

एकपाद संन्यासी की तरह निंद्य आचरण को करता हुआ दुर्गति को प्राप्त होता है।[५९]

मद्य के पीने से पहिले तो बुद्धि नष्ट हो जाती है फिर ज्ञान मिथ्या हो जाता है, उससे रागादि उत्पन्न होते हैं, उससे अन्यान्य क्रियाएँ तथा अत्यन्त क्लेश रूप जन्म-मरण होता है।[६०] शराब पीने वाले कुछेक धूर्त शराब के नशे में मस्त होकर माता, बहिन और पुत्री को भी स्त्री समझने लगते हैं। वे पापात्मा दुर्बुद्धि शराब के नशे में इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर उन्हें भविष्य कुछ भी नहीं दिखता और न ही उन्हें इतना विवेक रहता हैं कि भविष्य में आगे क्या परिणाम होगा।[६१] मद्य मन को मोहित करने वाला है, नरक आदि दुर्गतियों का कारण है और इस लोक तथा परलोक में दुख देने वाला है इसलिए सन्त पुरुषों को सदा इससे अलग रहना चाहिए। अर्थात् इसे छोड़ देना चाहिए[६२]। शराब मन को मोहित करने का मुख्य कारण है, संसार की आपदाओं का निदान है, और इस लोक में तथा परलोक में अनेकों दोषों को करने वाला है, इसलिए सज्जनों को इसका सदा त्याग करना चाहियो[६३] मद्य पान से मनुष्य उन्मत्त और बेखबर होकर निंद्य कर्मों को करता है और इहलोक तथा परलोक में अनंत दुखों को भोगता है।[६४] वह लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर, बेसुध होकर मतवाला बनकर गलियों में लोटता, गिरता फिरता है। ऐसी अवस्था में कुत्ता भी जीभ से चाँट जाता है।[६५] गटर आदि में पड़े-पड़े प्राण भी त्याग देता है। गटर में पड़े उस विष्टा व गन्दे पानी का सेवन कर वह उसे भी चाँट जाता है व रस का स्वाद लेता है। ऐसे समय में कुत्ते उस मनुष्य के मुँह में गन्दगी भी कर देते हैं किन्तु मूर्ख व्यक्ति उसका स्वाद लेकर सुरा का स्वाद अत्यंत मधुर है ऐसा सोचता है।[६६] अपने पुत्र, बहिन को जिन्हें अपनी इच्छानुकूल नहीं समझता उन्हें बलात् मारने लगता है और मदमत्त हुआ अपशब्द, भण्ड वचनों का भी उपयोग करता है।[६७]

ईसा मसीह ने कहा था—"यदि तुम परमपिता परमेश्वर के स्थान जाने वाले हो तो कभी भी मद्यपान नहीं करना और न अपनी सन्तान को सेवन करने देना।"

गुरु नानक की सीख थी—"जो मनुष्य शराब का सेवन करते हैं उनके लिए तीर्थस्थान में जाना, व्रत रखने एवं अन्य धार्मिक नियम पालन करने के माहात्म्य नष्ट हो जाते हैं।"

"यदि हमें दारूबन्दी जैसा साधारण सा काम भी न करना आये तो समझ लीजिये कि हम स्वतंत्रता-प्राप्ति के योग्य नहीं हैं।"

महात्मा गांधी का यह मन्तव्य कितना मननीय है—"क्या हमारे लिए यह शर्म की बात नहीं हैं कि हमारे बच्चे उस आमदनी द्वारा शिक्षण ग्रहण करें जो शराब की बिक्री से होती है।"

वेश्या-व्यसन

वेश्याओं को दारिका, वेश्या, नगरनायिका आदि नामों से पुकारा जाता है। ऐसी वेश्याएँ

संसार में प्रसिद्ध है।[६९] वेश्या मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों वंचनाओं से उनका सर्वस्व हर लेती है और पुरुष को अस्थिचर्म का परिवेश बना करके छोड़ देती है।[७०]

उसका प्रेम स्थिर नहीं रहता है और न उसका कभी विश्वास होता है। वे किसी पुरुष से कहती है—तुम्हें छोड़कर मेरा स्वामी और कोई नहीं है। इसी बात को वह अन्य-अन्य पुरुषों से भी कहती रहती हैं तथा अनेक प्रकार से खुशामद करती रहती हैं[७१]। कहा भी है कि यह पापिनी वेश्या मांस खाती है, शराब पीती है, झूठ बोलती है, धन के लिए प्रेम करती है, अपने धन और प्रतिष्ठा का नाश करती है और कुटिल मन से नीच लोगों की लार को दिनरात चाटती है, इसलिए वेश्या को छोड़कर संसार में कोई दूसरा नरक नहीं है।[७२] वेश्या तो धोबी की शिला है जिस पर आकर ऊँच-नीच अनेक पुरुषों के घृणित से घृणित और निंदनीय ऐसे वीर्य और लार आदि मल बहते हैं। वह वेश्या कुत्ते के मुँह में लगी हड्डी के खप्पर के समान आचरण करती है। ऐसी वेश्या के साथ जो पुरुष समागम करते हैं वे इसके साथ साथ परलोक की दुर्गति भी अवश्य कर लेते हैं। अर्थात् वह नरक अवश्य जाते हैं, इस वेश्या सेवन में आसक्त जीवों ने जन्म-जन्मान्तर में बहुत दुःख पाये हैं, जैसे प्रसिद्ध सेठ चारुदत्त ने वेश्या-सेवन से ही अनेक दुःख पाये।[७३] बड़े-बड़े ज्ञानी कुलीन, शूरवीर मनुष्य भी वेश्या के चक्कर में आ जाते हैं और आसक्त हो जाते हैं। आसक्त पुरुष दासता को स्वीकार कर कामान्ध होकर वेश्या के द्वारा किये गये अपमानों को सहता है।[७४] वेश्या सेवन के पाप से यह जीव घोर संसार सागर में भयानक दुःखों को प्राप्त होता है, इसलिए मन वचन और काय से वेश्या का सर्वथा त्याग करना चाहिए।[७५] जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं, उनको वेश्या सेवन का त्याग अनिवार्य है। क्योंकि जो दोष मद्य-मांस के सेवन में होता है वे दोष वेश्यागमन में भी होते हैं। इसलिए वह मद्य और मांस सेवन के पाप को तो प्राप्त होता ही है साथ ही वेश्या के अधर्म को भी नियम से प्राप्त होता है।[७७] वेश्या-सेवन से नरक आदि दुर्गतियों में पड़ना पड़ता है और इस लोक में नरक सदृश यातनाएँ वा दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः वेश्या-सेवन का त्याग करना चाहिए।[७८] वेश्या-सेवन के त्यागी श्रावक को गीत, नृत्य और वाद्य में आसक्ति, बिना प्रयोजन घूमना, व्यभिचारी पुरुषों की संगति और वेश्या के घर आने जाने आदि को भी सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।[७९]

शिकार का व्यसन

निरपराध पराधीन और भय से आकुलित हिरण आदि को जो मारते हैं, उनका शिकार करते हैं उनके समान पापी और कोई दूसरा नहीं हो सकता है।[८०] वे अनुकम्पा (दया) से रहित होने के कारण सम्यक्त्व से भी रहित हैं। क्योंकि अनुकम्पा यह सम्यक्त्व का एक प्रधान गुण है इसलिए शिकारी अन्य किसी का शिकार नहीं करता अपितु अपने सम्यक्त्व गुण का ही शिकार करता है ऐसा समझना चाहिए।[८१] वास्तव में यदि विचार किया जाए तो ऐसे शिकारी एवं व्याघ्रादि

में क्या अंतर है? क्योंकि जैसे व्याघ्र आदि अन्य जानवरों को मारते हैं वैसे ही वह शिकारी हो गया अर्थात् वह भी एक प्रकार का जानवर है।[८२]

भय के कारण रोंगटे खड़े कर के भागने वाले और दाँतों में तृण दबाने वाले, तृण भक्षण करने वाले निरपराध पशु (मृग आदि) को निर्दयी पुरुष कैसे मारते हैं?[८३] शिकार के पाप से मनुष्य संसार में अनंत दुःखों को पाता है, अतः व्यक्ति को शिकार का सर्वथा त्याग करना चाहिए।[८४] शिकार खेलने का त्याग तीन गुणव्रतों के अन्दर तीसरे अनर्थदंड-त्याग-व्रत में समाहित है।[८५] किन्तु यह शिकार भोगोपभोग शिक्षाव्रत के अन्तर्गत समाहित नहीं है क्योंकि यदि कोई कहे कि जैसे पुष्पमाला, चन्दन, स्त्रियाँ, वस्त्र आभरण, भोजन आदि समस्त पदार्थ आत्मा को सुख देने वाले हैं उसी प्रकार शिकार से भी आत्मा को सुख प्राप्त होता है अर्थात् शिकारी शिकार कर लेने के पश्चात् अपने आप में कुछ-कुछ सुख और शान्ति का अनुभव करता है। इसलिए शिकार भी भोगोपभोग में समाहित होना चाहिए।[८६] किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि भोगोपभोग की सामग्री का सेवन मात्र वासनाओं की पूर्ति के लिए ही किया जाता है उसमें अन्य कोई जीव-घात का उद्देश्य नहीं रहता, फिर भी जो हिंसा होती है इसलिए भोगोपभोग का सेवन करने वालों में संकल्पी हिंसा का त्याग संभव है किन्तु शिकार त्याग के बिना संकल्पी हिंसा का त्याग संभव नहीं है।[८७] शिकारी के शिकार खेलते समय हिंसा के ही परिणाम होते हैं चाहे कर्मोदय से भोगोपभोग सामग्री मिले या न मिले[८८]। इसलिए शिकार खेलना संकल्पी हिंसा है। और उसमें व्यर्थ ही प्राणियों की हिंसा करनी पड़ती है इसलिए अनर्थदण्ड है।[८९] शिकार के पश्चात् जो आनन्द आता है वह हिंसानन्दी रौद्रध्यान है जो कि जिनागम में नरक आयु के बंध का कारण है। अतः इस प्रकार के सभी संक्लेशों को बढ़ानेवाले शिकार खेलने का सबसे पहले ही त्याग कर देना चाहिए।[९०] और फिर जिन्हें आज हम मार रहे हैं कल वे भी हमें मारेंगे इस बात को स्पष्ट करते हुए शुभचन्द्राचार्य ने संस्थानविचय ध्यान के अन्तर्गत नरकगति का वर्णन करते हुए कहा है कि वे नारकी विचारते हैं कि जो मैंने अज्ञान के वश होकर विषयों में अन्ध होते हुए निरपराध त्रस और स्थावर प्राणियों के समूह का घात किया,[९१] जो प्राणी उस समय खरगोश के समान दुर्बल थे उनका मैंने बलवान् होने से घात किया है वे आज अनेक प्रकार के वधों (प्रहारों) के द्वारा मेरा घात करने के लिए सिंह के समान बलवान हो रहे हैं।[९२] अतः शिकार खेलने का त्याग करना चाहिए। शिकार खेलने के अभ्यास करने का, शिकार खेलने की जिज्ञासा रखने का, निशाना मारने का अभ्यास करने आदि का भी त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ये सब शिकार के अन्दर गर्भित हो जाते हैं और शिकार असाता वेदनीय कर्म के आस्रव का प्रधान कारण है[९३]। शिकार व्यसन के त्यागी को चाहिए कि वह वस्त्र, सिक्का, काष्ठ और पाषाण आदि शिल्प में बनाये गये जीवों का छेदन-भेदन नहीं करे क्योंकि ऐसा करना लोक में निंदित है।[९४]

चोरी करना

बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ले लेना चोरी है।[९५] अथवा उस वस्तु का जो स्वामी है, उसके बिना पूछे वस्तु को ले लेना चोरी है।[९६] अथवा किसी की रखी हुए, पड़ी हुए, भूली हुई या धरोहर के रूप में रखी वस्तु को ग्रहण करना चोरी है तथा ऐसा नहीं करना और न चोरी की वस्तु किसी को देना अचौर्याणुव्रत है।[९७] खेत, ग्राम, वन, गली, मार्ग, घर, कचराघर, गायों के समूह में पड़ा हुआ, भूला हुआ अथवा रखा हुआ दूसरे का द्रव्य लेना चोरी है। अतः उसे नहीं लेना चाहिए।[९८] दूसरे के धन का हरण करते समय चोरी के भय से सर्वांग कँपते हैं, वह अपने घर को छोड़कर कुमार्ग से इधर उधर भागता है और संतप्त होता है।[९९] मुझे किसी ने देख तो नहीं लिया, इस प्रकार ह्रदय में धक्धक् करते हुए चोर चोरी के लिए लुकता-छिपता है, यत्र-तत्र भागता है और नींद नहीं ले पाता है।[१००] चित्त से व्याकुल रहने वाला चोर, पीड़ित किये जाने वा मारे जाने की आशंका से भयभीत होकर दिनरात जागता रहता है। सदा व्याकुल बना रहता है।[१०१] जिस प्रकार बलवान् व्याघ्र द्वारा मारे जाने की आशंका से मृग का चित्त कहीं पर निराकुल नहीं रहता उसी प्रकार चोर का चित्त भी जनसमुदाय में स्थिर नहीं रहता है और न ही एकान्त स्थान (वन) आदि में।[१०२] चोर को चोरी करते देखकर कोतवाल आदि उसे पकड़कर रस्सी से कमर एवं हाथ आदि बाँध देते हैं।[१०३] फिर उसे जुआ-घर (जुआ खेलने का अड्डा) अथवा गलियों में घुमाते हैं और गधे पर बैठाकर उसे चोर घोषित करते हुए लोगों में उसकी बदनामी करते हैं।[१०४] अपने पुत्र को चोरी करने वाला जानकर माता भी चौर्यकर्म के दोष से भयभीत होकर उसका परित्याग कर देती है[१०५]। भाई, पिता, पुत्र, अपने वंशज, मित्र और बांधव हितैषी आदि चोरों के साथ एक क्षण भी रहना पसंद नहीं करते हैं अर्थात् चोर से सदा दूर रहते हैं।[१०६] चोरी के कारण मनुष्यों के सब सदाचरण व्यर्थ हो जाते हैं।[१०७] इसलिए न्याय निष्ठा का सार इसी में है कि मानव निष्पक्ष होकर धर्मशीलता के साथ दूसरे के देय अंश को दे देवे फिर लेने वाले चाहे शत्रु हों या मित्र। अर्थात् शत्रु व मित्र आदि किसी का भी धन ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि ग्रहण कर लिया हो तो उसे वापिस कर देना चाहिए।[१०८] कुरल काव्य में कहा है कि यदि तुम्हारा मन, नीति को छोड़कर कुमार्ग में प्रवृत्ति करने लग जाता है तो समझ लो कि अब तुम्हारा सर्वनाश निकट ही है। अतः अन्याय से उत्पन्न धन को कभी ग्रहण मत करो। चाहे उससे लाभ के अतिरिक्त अन्य वस्तु की संभावना न हो अर्थात् लाभ ही लाभ होना निश्चित हो।[१०९] क्योंकि पर द्रव्य का हरण करना पापों का द्वार है। सुअर का घात करने वाले, मृग आदि को पकड़ने वाले और परस्त्री गमन करने वाले से भी चोर अधिक पापी गिना जाता है।[११०] ठीक ही कहा है कि चोरी करने वाले पुरुष को अवश्य ही महापाप उत्पन्न होता है क्योंकि जिसका धन हरण किया जाता है उसको जैसे दुःख अपने संबंधी के मरने का होता है वैसा ही होता है।[१११] नीतिकारों ने मनुष्य का ग्यारहवाँ प्राण धन बताया है। इसलिए कहा है—जो जिसके धन को हरण करता है वह उसके जीवन

का हरण करता है क्योंकि इस बाह्य धन प्राण के रहने से ही प्राणी की जिन्दगी समझी जाती है अन्यथा धनहीन प्राणी मृत सदृश्य है।[112] चोर को तेली, बहेलिया, खटीक, बाघ, ढीमर से भी अधिक दुःख का भागी पापी कहा गया है।[113] इस प्रकार इहलोक के दुःखों को जानते हुए भी लोग चोरी से पराये धन को ग्रहण करते हैं। अपने हित को कुछ भी नहीं समझते हैं यह आश्चर्य है! हे भव्यो! मोह के माहात्म्य को देखो! परलोक में भी चोर चतुर्गति रूप संसार सागर में निमग्न होता हुआ अनन्त दुखों को पाता है, अतः चोरी का हमेशा-हमेशा के लिए त्याग कर देना चाहिए।[114]

परस्त्री-सेवन

जो पुरुष परस्त्री को देखकर उसकी अभिलाषा करता है, वह पाप के सिवाय अन्य कुछ भी प्राप्त नहीं करता।[115] परस्त्री लंपट पुरुष, जब अभिलषित महिला को नहीं पाता है तब निःश्वास लेता है, रोता है, गाता है, अपने सिर को पटकता है, भण्डवचन बोलता है और सिर धुनता है।[116] वह सोचता है कि वह स्त्री मुझे चाहती है या नहीं? मैं उसे किस उपाय से प्राप्त करूँ? किसी से कहूँ या नहीं कहूँ? इसी विचार में चिंतातुर रहता है।[117] वह कहीं भी रति को प्राप्त नहीं होता, मिष्ठ भोजन भी नहीं करता, चैन की नींद भी नहीं ले पाता और स्त्रीविरह से सदा संतप्त बना रहता है।[118] वह लज्जा, कुल, मर्यादा आदि छोड़कर मद्य-मांस आदि निंद्य भोजन करने लगता है। परस्त्रियों के चित्त को नहीं जान पाता फिर भी उनसे प्रार्थना करता है।[119] खुशामद करने पर भी वह उसे नहीं चाहती हैं तो नाना प्रकार से उनसे प्रार्थना, अनुनय करता है, यदि इतने पर भी वह सफलमनोरथ न होकर उनसे भर्त्सना पाता है, तो दुःखी और चिन्तित होता है।[120] यदि वह लम्पटी न चाहने वाली किसी महिला का बलात् सेवन करता है, तो वह उसमें सुख न पाकर प्रत्युत दुख ही पाता है।[121] यदि कोई व्यभिचारिणी अपने आप को स्वयं पर-पुरुष को अर्पण कर दे तो भी वह पुरुष उस महिला को सूने घर या मंदिर के खण्डहरों में भोगता हुआ भयभीत हो वहाँ कैसे क्या सुख पा सकता है? अर्थात् नहीं।[122] और छिपता, गिरता, भागता तथा भयभीत होता है।[123] यदि उसे कोई देख लेता है तो राजदरबार में ले जाया जाता है और चोर से भी अधिक दण्ड पाता है।[124] मोह की विडम्बना को देखो कि परस्त्री के मोह से मोहित खल लोग प्रत्यक्ष दोषों को देखकर भी अपने चित्त में पराई स्त्री की अभिलाषा करते हैं। परस्त्री-लम्पटी संसार-समुद्र में अनन्त दुख पाता है। अतः परिगृहीत-अपरिगृहीत दोनों प्रकार की परस्त्रियों का त्रियोग से त्याग करना चाहिए।[125] परस्त्री-सेवन में अनेक कार्यों का अभाव, अपमान का सहना तथा पर-लोक में नरक की भीषण यातनाएँ यह उसके फल हैं ऐसा ज्ञानी संतों ने कहा है।[126] क्योंकि एक बार भी स्त्रीसेवन करने से नौ लाख जीवों की हिंसा होती है।[127] दूसरी बात यह कि परस्त्री-सेवन विषयक सुख किंपाक फल के सदृश्य है जो कि भोगने के समय रमणीय लगता है किन्तु अन्त में नीरस

अर्थात् दुःखदायक होता है।[128] तीसरी बात यह है कि बड़े कष्टों से जहाँ कहीं पर स्त्री को पाकर प्राणी भयभीत एवं आतुरतापूर्वक उसका सेवन करता है उससे वह सुख कहाँ प्राप्त कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।[129] ऐसा परस्त्री में आसक्त पुरुष सैकड़ों तीर्थ जल से क्यों न स्नान कर ले तो भी पवित्र नहीं हो सकता।[130] और कदाचित् धर्म अनुष्ठान से पवित्र कोई भी पुरुष क्यों न हो, परस्त्री की संगति मात्र से ही उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है।[131] इस प्रकार अपने अनुभव और प्रत्यक्ष से इन सब स्त्रियों के भेदों को समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को परस्त्रीसेवन में अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए।[132] शील की रक्षा करने वालों को (पुरुषों को) परस्त्री जैसे निन्दनीय है अर्थात् त्याज्य है वैसे ही शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों को पर-पुरुष निन्दनीय अर्थात् त्याज्य है।[133]

उक्त सप्त व्यसन मानव मात्र के लिए अहितकारी व असेवनीय हैं अतः मुमुक्ष-जन को प्रथमतः इन सप्त व्यसनों का त्याग करना आवश्यक है, तभी मोक्षमार्ग पर वह आरूढ़ हो सकता है।

(१) अक्षपासादि निक्षिप्तं वित्ताज्जयपराजयम्।
क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥११४॥ (लाटीसंहिता)

(२) सर्वार्थ प्रथमं मथनं शौचस्य सद् मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्य्या सत्यास्पदं द्यूतम् ॥४६॥ (पुरुषार्थ सि.)

(३) द्यूते हिंसानृतस्तेय लोभ-माया-मये सृजन्।
क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्या खेटान्यदारवत्॥१७॥ (सा. धर्मा)

(४) जूयं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण लोह य।
ए ए हवन्ति तिव्वा पावइ पावं तदो बहुगं॥६०॥ (वसु. श्राव.)

(५) ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा।
जूवंधो वुज्जाई कुणइ अकज्जाई बहुयाई॥६३॥ (वसु. श्राव.)

(६) पिता-माता भ्रातर एवमाहुर्न जानीमा नयता बद्धमेतत्। (१०/३७/१७/ऋग्वेद)

(७) द्वेष्टि श्वश्ररय जाया रुणाद्धी नं नथितो विन्दते मडितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्द्रामि कितवस्य भोगम्॥

(८) अक्षाम इदङ्गकुशिनो नितोदिनो।

(९) नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्य हस्तासोह स्तबन्तं सहन्ते।
दिव्य अप्रगारा दूरिणेन्युप्ताः शीताः सन्तो हृदय निर्वहन्ति॥ (१०/४३४/९. ऋग्वेद)

(१०) व्यसनभुजगगर्तं धर्मनामप्रवर्तं, नरकगमनमार्गं सर्वदोषस्य संगम्।
परिभवतरुमूलं चापदासिन्धुकूलं, निहतसुभगबुद्धि द्यूतमेतद्विरुन्द्धि॥७८॥ (पद्मपुराण १६)

(११) सजणे य परजणे वा देसे सव्वत्थ होइ णिल्लज्जो। (वसु. श्राव.)
माया विण विस्सासं वच्चइ जूयं रमंतस्स॥६४॥

(१२) अलिअं करेइ सवहं जंपइ मोसं भणेइ अइदुट्ठं।
पासम्मि वहिणि मायं सिसुंपि हणेइ कोहंधो॥६७॥ (वसु. श्राव.)

(१३) अक्खेहि णरो रहियो ण मुणइ सेसिंदिएहिं वेएइ।
जूयंधो ण य केण वि जाणइ संपुण्ण करणो वि॥६६॥ (वसु. श्राव.)

(१४) ण य भुंजइ आहारं णिद्दं ण लहेइ रत्ति दिण्णं ति।
कत्थ विण कुणेइ रईं अत्थइ चिंताउरो णिच्चं॥६८॥ (वसु. श्राव.)

(१५) अग्गि विस चोर सप्पा दुक्खं थोवं कुवंति इह लोए।
दुक्खं जणेइ जूयं णरस्स भवसयसहस्सेसु ॥६५॥ (वसु. श्राव.)

(१६) प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बंधकरं स्मृतम्।
यावदापन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा॥११५॥ (लाटिसंहिता)

(१७) दोषो होढाश्चापि मनोविनोदार्थं पणोज्झिनः।
हर्षोऽमर्षो दयाङ्गत्वात् कषायो ह्यंहसेऽञ्जसा ॥१९/३/सा.धर्मा.

(१८) न बिना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्य निवारिता हिंसा ॥६५॥ (पुरुषार्थ सि.)

(१९) यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोदनिर्मथनात्॥६६॥

(२०) आमास्वापि पक्वास्वापि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥

(२१) आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीन्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्॥९८॥

(२३) हृति खादति षण्णायते फलं, मन्यते दिशति संहकरोति यः।

यांति ते बहृपि दुर्गति स्फुटं, स्थितः खलुपरत्र पापीनाम् ॥१७/५ (अमित. श्रा.)

(२४) २६६ श्लोक, उमा. श्रावक.

(२५) यतो मांसाशिवः पुंसो दमो-दान दयार्द्रता।

सत्यं शौचं वृताचारा न स्युविद्यादयोऽपि च।२/२ (सा. धर्मा.)

(२६) प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।

आत्मौपम्येन भूतानां दया कुर्वीत मानवः ॥३0/२॥ (सा.धर्मा.)

(२७) प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि येर्वधः क्रियतेऽधर्मः।

सहृयते परलोके तैः श्रभे शूलाधिरोहणम्॥२४/७॥ (ज्ञानार्णव)

(२८) यावंति पशुरोमाणि पशु-गात्रेषु भो नरः।

तावद्वर्ष सहस्त्राणि, पच्यते पशुघातकः॥ (मनुस्मृति)

(२९) महाभारत, शान्तिपर्व

(३0) विष्णु पु. ८

(३१) महाभारत, अनु0 पर्व।

(३२) ऋग्वेद, काण्ड १0 वर्ग ८७ मंत्र २

(३३) ऋग्वेद, काण्ड १0 व. ८७ मंत्र १६

(३४) महाभारत, अनुच्छेद ११६

(३६) दुर्गा-स्तोत्र

(४0) ईसा की बारहवीं आज्ञा

(४१) ईसा,

(४२) ईसाई धर्म की पाँचवीं आज्ञा

(४३) जार्ज बर्नार्ड शॉ

(४४) मोहम्मद साहब का कलाम (हदीस)

(४५) कुरान

(४६) कुरान में सूरहत

(४७) गांजा, भांग, मद्यपान, मांस, मछली जो प्राणी खाये। उसका जप तप नेम व्रत सब विरथा जाये। ग्रंथ साहिब।

४८) मांस खाना है गुनाह भारी है, लेकर पढ़के तुम कुरान देखो, राक्षस कोई और नहीं होते, ये शराबी व कबाबी व्यक्ति ही हैं। (गुरु नानक)

(५०) जो रक्त लागे कपड़ा, जागा हावे पलीत। (साहब बार मांस मल्लाह ५५ इन मानुषा)

(५२) शाकाहार रिसर्च समिति अमेरिका।

(५३) न गंगा न च केदारं न प्रयागं न पुष्करं। न च ज्ञानं न च ध्यानं न तपो न भक्तयः।

न दानं न च होमश्च न पूजा न गुरो नुतिम्। तपस्येव निष्फलं याति मांसं भक्ष्यते यो नरः॥

(५४) डा. रॉबर्ट ग्रॅास, प्रो. इर्विंग डेविडसन्, डा: केल्वाडन निम्नो D.C.R.N. Ocano California (U.S.A.)

(५४अ) Dr. E.V. Mo. Collum.

(५५) Agriculture Deptt. Florida America.

(५७) रसजानां च बहुनां जीवानां योनि रिष्यते मद्यम्।

मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यं ॥६३॥ (पुरुषार्थ सि.)

(५८) यदेकबिंदोः प्रचरन्ति जीवाश्चेतत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।

यद्विक्लवाश्चेममर्मुं च लोकं यस्यान्ति तत्कस्यमवश्यमस्येत् ॥४॥ (सा. ध.)

(५९) पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः,

कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च।

तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीवयात्यापदं,

तत्पायी पुनरेकपादिव पुराचारं चरन् मज्जति॥५॥ सा. धर्मा॥२॥

(६०) दोषत्वं प्राग्मतिभ्रंशस्ततो मिथ्यात्वबोधनम्।

रागदयस्ततः कर्म ततो जन्मेह क्लेशता॥७०॥ (लाटिसंहिता)

(६१) मत्तो मातृभगिन्यादौ कामचेष्टां प्रवाञ्छति।

वेत्ति किंचित् न पापात्मा मद्यपायी सुनिर्दयः॥२१॥ (आराधना कथा.)

(६२) मनो मोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः।

मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत्॥ (स.धर्मा.)

(६३) मनो मोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद् भवापदम्।

मद्यं सद्भिः सदा हेयमिहामुत्रं च दोषकृत् ॥२६४॥ (उमा. स्वामी. श्रा.)

(६४) मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं।

इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं॥७०॥ (वसुन. श्रा.)

(६५) अइलंघिओ विचिट्ठो पडेइ रत्थाय यंगणे मत्तो।

पडियस्य सारमेया वयणं, विलिहंति जिब्भाए।७१॥ (वसुन. श्रा.)

(६६) उच्चारं पस्सवणं तत्थेव कुणंति समुल्लवइ।

पडिओ वि सुरा मिट्ठो पुणो वि मे देइ मूढमई॥७२॥

(६७) णियर्य पि सुयं बहिणिं अणिच्छमाणं बला विधंसेइ।

जंपइ अजंपणिज्जं ण विजाणइ किं पि मयमत्तो॥७६॥

(६९) पण्यस्सी तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम्।

तन्नाम दारिका दासी वेश्या पतननायिका॥१२९॥ (वसु.श्रा.)

(७०) रत्तं णाऊण णरं सव्वं हरइ वंचणसएहिं।

काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठि परिसेसं॥१८९॥ (वसु. श्रा.)

(७१) पभणइ पुरओ एयस्स—(वसुनन्दी श्रावका. ९० गाथा)

(७२) याः खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां, जल्पंति मिथ्यावचः,

स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम्।

नीचानामपि दूर वक्तृ मनसः पापात्मिका कुर्वते,

लालावानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम्॥ (लाटी सं. ९ पृ./९)

(७३) लाटिसंहिता—गा. ३२

(७४) माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाणं।

वेस्सा कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो॥९१॥ (वसु. श्रा.)

(७५) पावेण तेण दुक्खं पाइव संसार सायरे घोरे।

तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा मण वयणकाएहिं॥९३॥ (वसु. श्रा.)

(७६) तस्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोऽर्थं यतता नृणाम्।

मद्यमांसादिदोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम्॥१३॥

(७७) जे मज्ज.............॥९२॥ वसु. श्रा.

(७८) आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतनं नृणाम्।

इहैव नरकं नूनं वेश्याव्यासक्तचेतसाम्॥१३१॥ (लाटिसंहिता)

(७९) त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं॥२०/३॥ सागारधर्मा.

(८0) निरापद्यः पराधीनः नश्यतो भयविह्वलः।

कुरंगा मे निहन्यते पापिष्ठा न परे ततः॥९४।१२॥ (अमित. श्रा.)

(८१) सम्मत्तस पहाणो अणुकंवा वण्णिओ गुणो जम्हा।

पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा॥९४॥ (वसु. श्रा.)

(८२) श्लोक ९५।१२ अमित. श्रा. । (८३) श्लोक. ९५ वसु. श्रा.। (८४) वसु. श्रा. श्लो. १00

(८५) अंतर्मास्ति तस्यापि गुणव्रत संज्ञिकैः। अनर्थदण्ड त्यागेभ्यो बाहुमानर्थ क्रियादिवत्॥

(८६)-श्लो. १४९-लाटिसंहिता १३९।२-लाटि सं.

(८७) लाटि संहिता श्लो.—१४२, १४३, १४४

(८८) आखेटके तु हिंसायाः भावः स्याद्भूरि जन्मिनः।

पश्चाद्दैवानुयोगेन भोगः स्याद्वा न वा क्वचित्॥१४५॥ (लाटिसंहिता)

(८९-९0) लाटिसंहिता, श्लोक १४६-१४७

(९१) अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना।

चरस्थिराङ्गिसंघातो निर्दोषोऽपि हतो मया॥३५॥ (ज्ञाना. संस्थान वि.)

(९२) ये तदा शशक प्राया मया बलवता हताः।

तेऽद्य जाता मृगेन्द्राभा मां हन्तु विविधैर्वधैः॥४0॥ (ज्ञानार्णव ९३)

(९३) लाटिसंहिता, ४८

(९४) वस्त्रनाणकपुस्तादि न्यस्तजीवच्छिदादिकम्।

न कुर्यात्त्यक्तपापर्द्धि-स्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम्॥२२॥ (अ.३ सा.धर्मा.)

(९५) अदत्तादानं स्तेयम्। (ता. सू. अ. ७ सू. १५)

(९६) मालिक की बिन आज्ञा कोय। चीज लहे सो चोरी होय (बा. बो. चौथाभा. ९७, ९८ श्लो. ५८)

(९७-९८) अमित. श्रा. ५८-५९/६

(९९) हरिऊण परस्स धणं परिवेव माणसव्वंगो।

चइऊण णिययगेहं धावइ उप्पहेण संतत्तो॥१0२॥ —वसु. श्रा. १0१-१0२

(१00)श्लोक ११-१0 ज्ञानार्णव

(१0१-२) ज्ञानार्णव १0, ११

(१0३)हरमाणो परदव्वं दट्ठूणारक्खिएहिं तो सहसा।

रज्जूहिं बंधिऊणं घिप्पइ सो मोरबंधेण॥१0६॥ (वसु. श्रा. १0४)

(१०५)कुराशील विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता।

विसापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम्॥८॥ (ज्ञानार्णव, चौर्यपरिहार)

(१०६)ज्ञानार्णव, शलोक ९

(१०७)ज्ञानार्णव, २ शलोक ५

(१०८)नीति मनः परित्यज्य कुमार्गं यदि धावते।

सर्वनाशं विजानीहि तदा निकटसंस्थितम्॥६।१२॥ (कुरल काव्य)

(१०९)श्लो. ३ कुरलकाव्य।

(११०)परदव्वं हरणमेदं आसवदारं खुवेंति पावस्स।

सोगरिय वाहपरदार एहिं चोरो हु पापदरी॥८६५॥ (भगवती आराधना)

(१११)ततो अवश्यं हि पापः स्यात् परस्वहरणे नृणाम्।

यादृशं मरणे दुःखं तादृशं द्रविणं क्षितौ॥ १६८।१॥ लाटिसंहिता।

(११२-११३) श्लोक न. ६१।६ अ. ६३।६ अमितगति श्रावकाचार।

(११४)पर लोए वि य चोरो चउगइ संसार-सायर-निमण्णो।

पाइव दुक्खमणंतं तेयं परिवज्जए तम्हा॥१११॥ (वसु. श्रा.)

(११५)दट्ठूण परकलत्तं णिब्बुद्धी जो करेइ अहिलासं।

ण य किं वि तत्थ पावइ पावं एमेव अज्जेइ ॥११२ (वसु. श्रा.)

(११७ से १२०) वसुनन्दी श्रावकाचार श्लोक नं. ११३, ११४, ११५, ११६।

(१२१)श्लोक नं. ११७-वसु. श्रावकाचार।

(१२२)अह भुंजइ परमहिलं अणिच्छमाणं बला धरेऊणं।

किं तत्थ हवइ सुक्खं पच्चेल्लिउ पावए दुक्खं॥११८॥ (वसु श्रा.)

(१२३)अह कावि पावबहुला असई णिण्णासिऊण णियसीलं।

सयमेव पच्छियाओ उवरोहवसेण अप्पाणं॥११९॥ (वसु. श्राव.)

(१२५)जह पुण केण वि दीसइ णिज्जइ तो बंधिऊण णिवगेहं।

चोरस्स णिग्गहं सो तत्थवि पाउणइ सविसेसं॥१२२॥

(१२६)पेच्छह मोहविणडिओ लोगो दट्ठूण एरिसं दोसं।

पच्चक्खं तह वि खलो परित्थि महिलसदि दुच्चित्तो॥१२३॥

(१२७)परलोयम्मि अणंतं दुक्खं पाउणइ इहभव समुद्दंमि।

परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिजा॥१२४॥ (वसु. श्रा.)

(१२८)मेहुण सण्णारूढो मारई णवल करण सुहुम जीवाई।

इय जिणवरेहिं भणियं वज्झंतर णिग्गथं सेवहिं॥ (भाव संग्रह)

(१२९)हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।

बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥ (पुरुषार्थ सि.)

(१३०)किंपाक फलसमानं वनितासंभोगसंभवं सौख्यम्।

आपाते रमणीयं प्रजायते विरसमवसाने ॥८॥ (ज्ञानार्णव।)

(१३१)अमितगति श्रा., श्लोक ८१/१२

(१३२)हिन्दू ग्रन्थ

(१३३)पुण्यानुष्ठान संभूतं महत्त्वं क्षीयते नृणाम्।

सद्यः कलङ्कयते वृत्तं साहचर्येण योषिताम्॥२५ (ज्ञाना. संसर्ग)

स्वकीयाः परकीया वा, मर्यादा लोपिनो नराः।

न माननीयाः किं तेषां, तपो वं श्रुतमेव च॥६९॥

जो जाति कुल व धर्म की मर्यादा को लोप करने वाले हैं, वे मनुष्य अपने स्व-जाति के हों अथवा परजाति के हों वे मान्य नहीं होते अर्थात् त्याज्य हैं, यदि वे मनुष्य तपस्वी हैं अथवा ज्ञानवान् हैं तो भी त्याज्य हैं।

'शिवकोटि आ. कृत रत्नमाला॥

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

जैन तीर्थ

❑ *श्रीमती बाला देवोत लोहारिया*

सम्मेदशिखर जी का माहात्म्य

भारत वसुन्धरा पर कई अतिशय क्षेत्र व सिद्धक्षेत्र हैं, लेकिन श्री सम्मेदशिखर जी जैसा सिद्धक्षेत्र संसार में नहीं है क्योंकि यह तीर्थराज अनादिकाल का है। इस सिद्ध क्षेत्र से चौबीस तीर्थकरों में से बीस तीर्थंकर मोक्ष पधारे हैं और उनके साथ असंख्यात मुनिराज मोक्ष पधारे हैं इसलिए इस क्षेत्र का कण-कण पूजनीय एवं वंदनीय है। इस क्षेत्र की भाव सहित वन्दना करने से मनुष्य के जन्म-जन्म के पाप क्षय हो जाते हैं।आचार्यों ने कहा भी है—

भाव सहित वंदे जो कोई, ताहि नरक पशु गति नहिं होई।

शलाकापुरुष महापुरुष के जन्म का स्थान और मुक्ति गमन का स्थान कोई महानगरी या महाक्षेत्र पर ही होता है। इसमें भी तीर्थंकर केवली की जन्मभूमि जम्बूद्वीप संबंधी भरतक्षेत्र के अन्तर्गत अनादि निधन, अयोध्या नगरी ही होती है और मुक्ति क्षेत्र सम्मेदशिखरजी। किन्तु हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से ये तीर्थंकर अलग-अलग स्थानों से मुक्ति गये। बाकी कालों में एक ही नगरी से जन्म लेना एवं एक क्षेत्र से मोक्ष जाना यह नियम ही है।

अयोध्या नगरी व सम्मेदशिखर क्षेत्र प्रलय के समय भी नष्ट नहीं होते हैं. यह शाश्वत क्षेत्र है। इन क्षेत्रो के प्रतीक के रूप में स्वस्तिक व सुपारी के आकार में चित्रा भूमि पर अंकित रहते हैं। प्रलय के बाद इन्द्र के द्वारा फिर से अयोध्या व सम्मेदशिखर जी की रचना होती है (संकेत देखकर) इसलिए इनको अनादि-निधन कहा है। अनादि के अनन्त तीर्थंकर सम्मेदशिखर जी से ही मोक्ष गये हैं।

इस सम्मेदशिखर जी क्षेत्र की अचिन्त्य महिमा है। इस क्षेत्र से अनादिकाल से अनन्तानन्त जीव शाश्वत क्षेत्र (मोक्ष) में जाकर विराजमान हुए हैं। ये क्षेत्र अनन्त जीवों की सिद्धभूमि है इसलिए इस क्षेत्र को 'अति उत्तम' कहा है।

इस श्रेष्ठतम क्षेत्र की यात्रा भव्य जीवों को ही होती है। भव्यों की गिनती में आने वाले जीव कैसे भी पाप करने वाले क्यों न हों किन्तु इस क्षेत्र की श्रद्धा भाव के साथ यात्रा करते ही उन्चास (४९) भवों में नियम से मोक्ष जायेंगे— ऐसा केवलज्ञानी एवं मुनियों ने कहा है। विशेष बात यह है कि इस क्षेत्र की १२ योजन (४६ कोस) सीमा में पैदा होने वाले एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव, ये सब भव्य की गिनती में ही आते हैं।इस क्षेत्र पर अभव्य का जन्म ही नही होता और न ही इस क्षेत्र में आ सकता है। जिसको तिर्यंच गति का बन्ध

हो गया है उसको इस क्षेत्र की वन्दना नहीं होती। यदि वन्दना करने के लिए आने का प्रयत्न भी करे तो इस क्षेत्र का अधिपति देव क्षेत्र की सीमा में नहीं आने देता। भगवान महावीर के समवसरण में जब राजा श्रेणिक ने सम्मेदशिखर जी का माहात्म्य सुना तो उसको भी इस क्षेत्र पर जाने की इच्छा हुई और अपने वैभव के साथ चला भी, परन्तु उसे नरक आयु का बन्ध पड़ जाने से क्षेत्र की सीमा में भी वह प्रवेश नहीं कर सका और उसे वापस लौटना पड़ा। अभी भी ऐसा ही होता है। बहुत से यात्रियों की वन्दना नहीं हो पाती हैं और उन्हें वापस लौटना पड़ता है।

इस क्षेत्र की यात्रा सर्व इच्छित फल देने वाली है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ के फल की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को सम्मेदशिखर जी की यात्रा अवश्य करनी चाहिये। इस गिरि की यात्रा करने वाले को शुभ्र वस्त्र धारण करना चाहिए। पुत्राभिलाषी मनुष्यों को पीले वस्त्र पहनकर इस क्षेत्र की यात्रा करनी चाहिए। जो रोग से पीड़ित हैं उन्हें काले वस्त्र धारण कर यात्रा करना चाहिए, जिससे कि उसका रोग नष्ट हो जाये। सम्मेदशिखर क्षेत्र की यात्रा करने वाला कभी भी शोक को प्राप्त नहीं होता। लक्ष्मी की कामना करने वाले को ताम्रवस्त्र धारण कर यात्रा करना चाहिये।

सम्पूर्ण सिद्धक्षेत्र पर्वतों में श्रेष्ठ इस सम्मेदगिरि पर बीस श्रेष्ठ शिखर हैं जहाँ से जिनेश्वर मोक्ष गये हैं। ये तीर्थंकर के सिद्धिस्थान (कूट) कहलाते हैं।उन जिनेश्वरों से संबंधित कूट (स्थान) का नाम एवं वन्दना करने का फल क्रमानुसार इस प्रकार है—

१. सिद्धवर कूट

त्रिलोकपति अजितनाथ चैत्र शुक्ल पंचमी के दिन (उत्तरपुराण के अनुसार चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को) मोह-शत्रु पर विजय प्राप्त कर, सर्वकर्म दहन कर, एक हजार मुनियों के साथ सिद्धवर कूट से मोक्ष गये। इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से ३० करोड़ उपवास का फल होता है।

२. दत्तधवल कूट

संभवनाथ जिनेश्वर के कूट का नाम दत्तधवल कूट है। एक हजार मुनियों के साथ संभवनाथ जिनेन्द्रदेव ने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन (उत्तरपुराण के अनुसार शुक्ला षष्ठी के दिन) परम दुर्लभ मुक्ति को प्राप्त किया। प्रभु के मुक्त होने के बाद इस कूट पर से ९ करोड़ ७२ लाख ७ हजार १४७ मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया। इस कूट की भक्तिभाव से यात्रा करने वाले को बयालीस लाख प्रोषधोपवास का फल प्राप्त होता है।

३. आनन्द कूट

अभिनन्दन जिनेश्वर के मोक्षस्थान का नाम आनन्दकूट है।इस कूट से अभिनन्दन जिनराज ने तप रूपी अग्नि से कर्म वन जलाकर एक हजार मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। इस आनन्द कूट पर ७२ कोड़ाकोड़ी ७0 करोड़ ३६ लाख ४२ हजार ७00 मुनियों ने मुक्ति पाई है।इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से एक लाख उपवास का फल होता है।

4. अविचल कूट

सुमति तीर्थंकर का अविचल कूट नित्य ही निश्चल मुक्ति-रमा का स्थान होने से अविचल है। इस कूट से एक हजार मुनियों के साथ, शुक्ल ध्यानरूपी अमृत का स्वाद लेकर पंचम तीर्थंकर सुमतिनाथ ने मोक्षपद प्राप्त किया है।इस अविचल कूट से १ अरब ८४ करोड़ १४ लाख ७८१ मुनियों ने उत्तमपद (मोक्ष) को प्राप्त किया है।

इस टोंक की भाव सहित वन्दना करने से ९ करोड़ ३२ लाख उपवास का फल प्राप्त होता है। अविचल कूट का ध्यान करने से मनुष्य को अविचल सिद्धि की प्राप्ति होती है।

5. मोहन कूट

भगवान् पद्मप्रभ जिस स्थान से मोक्ष गये उस का नाम मोहन कूट है। फाल्गुन कृष्ण चतुर्थी के दिन एक हजार मुनियों के साथ पद्मप्रभ ने योग धारणा कर मोक्ष प्राप्त किया। इस मोहन कूट पर से ७ कोटि ८४ लाख ४२ हजार ७२७ मुनिराज मोक्ष गये हैं।

इस कूट की वंदना का फल एक कोटि प्रोषधोपवास के फल के बराबर कहा गया है।

६. प्रभास कूट

फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से सर्व कर्म का क्षय करके एक हजार मुनियों के साथ श्री सुपार्श्वनाथ ने मोक्ष प्राप्त किया। इस कूट से ४९ कोटाकोटि ८४ कोटि ७२ लाख ७ हजार ७४२ मुनि मोक्ष गये हैं। इस टोंक के भाव सहित वंदना करने से ३२ करोड़ उपवास का फल प्राप्त होता है।

७. ललितघट कूट

ललितघट कूट से एक हजार मुनियों के साथ भाद्रपद शुक्ल अष्टमी (उत्तरपुराण के अनुसार फाल्गुन शुक्ल सप्तमी) के दिन श्री चन्द्रप्रभ ने निर्वाण प्राप्त किया। चन्द्रप्रभ जिनेश्वर के मोक्ष

जाने के पश्चात् ललितघट कूट से ९८४ अरब २ करोड़ ८० लाख ४ हजार ५९५ मुनि मोक्ष गये।

इस टोंक की भाव संहित वंदना करने से ९६ लाख उपवास का फल प्राप्त होता है।

८. सुप्रभास कूट

भाद्र शुक्ल त्रयोदशी (उ. पु. के अनुसार भाद्रपद शुक्ल अष्टमी) के दिन मुनियों के साथ श्री पुष्पदन्त जिनेन्द्र देव ने सुप्रभास कूट से मुक्ति प्राप्त की। अनन्त महिमा से उज्ज्वल इस कूट से १ कोड़ा कोड़ी ९९ लाख ७ हजार ७८० मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है। इस कूट की भाव सहिता वंदना करने से १ करोड़ प्रोषध उपवास का फल मिलता है।

९. विद्युतवर कूट

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा (उ. पु. के अनुसार आश्विन शुक्ल अष्टमी) के दिन त्रैलोक्यपति शीतलनाथ ने एक हजार मुनियों के साथ इस कूट से निर्वाण प्राप्त किया। अविचल नृप शीतल नाथ के इस कूट पर मुक्त होने के पश्चात यहाँ से १८ कोड़ाकोड़ि ४२ कोटि ३२ लाख ४२ हजार ९०५ मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया है। इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से एक करोड़ उपवास का फल मिलता है।

१०. संकुल कूट

श्रेयांसनाथ के नाम से संबंधित कूट को संकुल कूट कहते हैं। तीर्थंकर श्रेयांस प्रभु ने श्रावण शुक्ल पूर्णिमा के दिन साधक मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। प्रभु की मुक्ति के बाद इस कूट से ९६ कोड़ाकोड़ि ९६ कोटि ९६ लाख ९ हजार ५४२ मुनि सिद्ध हुये हैं। इस टोंक की भाव संहिता वंदना करने से एक करोड़ प्रोषध उपवास का फल प्राप्त होता है।

११. वीरसंकुल कूट

विमल प्रभु की कूट को वीरसंकुल कूट कहते हैं। त्रैलोक्यपति विमल प्रभु ने वीरसंकुल कूट से एक हजार मुनियों के साथ आषाढ़ शुक्ल अष्टमी (उ. पु. के अनुसार आषाढ़ कृष्ण अष्टमी) के दिन मुक्ति प्राप्त की। इस कूट से ७० करोड़, ६० लाख, ७४० मुनियों ने कर्मों को क्षयकर मोक्ष प्राप्त किया। इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से एक करोड़ उपवास का फल मिलता है।

१२. स्वयंप्रभ कूट

माघ कृष्ण द्वादशी के दिन तपोनिधि अनंतनाथ ने कायोत्सर्ग धारण कर छह हजार मुनि संघ के साथ मोक्ष प्रद प्राप्त किया। इस कूट से एक कोड़ाकोड़ि सात कोटि सत्तर लाख सात सौ मुनि कर्मक्षय करके मोक्ष गये हैं। इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से एक करोड़ उपवास का फल मिलता है।

13. सुदत्तवर कूट

ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी के दिन तीर्थंकर धर्मनाथ ने कर्म संबंध से रहित होकर एक हजार मुनियों के साथ सुदत्तवर कूट से मोक्ष प्राप्त किया।उसके बाद १९ कोड़ा कोड़ि, १९ कोटि, ९ लाख, ९ हजार, ७९५ मुनिराज इस टोंक से मुक्ति को प्राप्त हुए। इस प्रकार यह सुदत्तवर कूट अतिशय पूजनीय है। इस कूट का दूसरा नाम 'रत्नवर कूट' है।इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से एक करोड़ उपवास का फल मिलता है।

१४. कुन्दप्रभ कूट

आचार्यों ने भगवान् शांतिनाथ के इस कूट को 'प्रभास कूट' भी कहा है। वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन इस कूट पर एक हजार मुनियों के साथ शांतिनाथ ने मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया। इस कूट से १ कोड़ाकोड़ि, ९ करोड़, ९ लाख, ९ हजार, ९९९ मुनि मोक्ष गये। इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से एक करोड़ उपवास का फल मिलता है।

१५. ज्ञानधर कूट

भगवान् कुन्थुनाथ ने एक हजार मुनियों के साथ चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन इस कूट से ज्ञानावरणादिक कर्मों का नाश कर मोक्षलक्ष्मी का वरण किया। इस कूट से ९६ कोड़ा कोड़ि, ९६ कोटि, ३२ लाख, ९६ हजार, ७४२ मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया। इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से एक करोड़ उपवास का फल मिलता है।

१६. नाटक कूट

भगवान् अरहनाथ जिस स्थान से मोक्ष गये है उस कूट का नाम नाटक कूट है। चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन एक हजार मुनियों के साथ अनन्त सुखी अरहनाथ ने नाटक कूट से मोक्ष को प्राप्त किया। उसके बाद ९९ कोटि ९९ लाख ९९ हजार मुनि इस कूट से अविनाशी

मोक्ष को प्राप्त हुए। इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से ९६ करोड़ उपवास का फल होता है।

१७. संबल कूट

संबल कूट से फाल्गुन कृष्ण द्वादशी के दिन जगत्पति मल्लिनाथ ने मुक्ति प्राप्त की। यहाँ से ९६ करोड़ मुनि मोक्ष गये हैं। इस टोंक की वन्दना करने से एक करोड़ प्रोषध-उपवास का फल प्राप्त होता है।

१८. निर्जर कूट

जिनेन्द्रदेव श्री मुनिसुव्रत ने वैशाख कृष्ण दशमी को श्रवण नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ परमपद मोक्ष प्राप्त किया।इसके बाद इस कूट पर से ९ करोड़, ४ लाख, ३0 हजार मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया है।इस टोंक की भाव सहितवंदना करने से एक करोड़ प्रोषध-उपवास का फल प्राप्त होता है।

१९. मित्रधर कूट

इस कूट को सुप्रभासी कूट भी नाम दिया है। इस कूट से जगत्पति नमिनाथ प्रभु सहस्त्र दीक्षित मुनियों के साथ अष्टकर्मों का नाश करके मोक्ष गये हैं। इसके बाद १ अरब ९00 कोड़ा कोड़ि ४६ लाख ७ हजार ९४0 भव्यों ने इस कूट से मोक्ष प्राप्त किया है। इस टोंक की भाव सहित वंदना करने से एक करोड़ उपवास का फल मिलता है।

२0. सुभद्र कूट

इस कूट पर वर्तमान तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने मोहादिक शत्रुओं का नाश कर मुक्तावस्था को प्राप्त किया। ८२ करोड़, ८४ लाख, ४ हजार, ७४२ मुनि इस परम पुनीत कूट से मोक्ष पधारे हैं।

एक बार इस कूट के शुद्ध भाव से दर्शन करने से पशु गति से छुटकारा हो जाता है और १६ करोड़ उपवास का फल एक बार वंदना करने से फल प्राप्त होता है।

श्री सम्मेदशिखर पर्वत के ये २0 कूट नित्य ही ध्यान करने योग्य हैं। अपने-अपने स्वामी के नाम से युक्त ये कूट ध्यान करने वाले को सर्व इष्ट पदार्थों की प्राप्ति कराने वाले हैं।

पावन भूमि गिरनार

❑ धन्नालाल जैन,

जूनागढ़

राजा उग्रसेन की राजदुलारी राजुल की जन्मभूमि जूनागढ़ है। यह वह भूमि है जहाँ नेमिनाथ जी बारात लेकर भाई श्री कृष्ण एवं सारे यादव वंश सहित पधारे थे। राजुल देवी प्रभु प्रियतम नेमि के चिंतन में लीन सारी सुध-बुध खो बैठी थी। तोरण द्वार पर प्रियस्वामी की प्रतीक्षा कर रही थी। पर 'वैरागी को राग ने कभी अपना नहीं बनाया' उक्ति के अनुसार–

श्री कृष्ण जी ने जब छोटे भाई को शक्तिशाली अलौकिक बल का धनी जान लिया तो मन में विचार आया कहीं यह नश्वर राज्य में न फंस जाय। यह शाश्वत मुक्ति का राज्य करे। अतः इसके कैसे वैराग्य हो, ऐसा सोचकर उन्होंने बारातियों के भोजन के बहाने जूनागढ़ में पशुओं का बंधन करवा दिया।

इस पशु-बंधन के पीछे विवेकशील कृष्ण का उद्देश्य नेमि प्रभु को वैराग्य उत्पन्न करना भर था, न कि किसी तरह की पशु-हिंसा। हुआ भी यही। महा-अहिंसा के नायक नेमिनाथ इसे कैसे सहते! पशुओं की करुण चीत्कारें, करुण क्रन्दन से उनका मोहजाल टूट गया। सोचने लगे-अरे! इस शादी को धिक्कार है जहां मेरे कारण इतने निरीह पशुओं का वध होगा? क्या यह मानवता है? नहीं-नहीं ऐसा नहीं होगा। बस, फिर क्या था, मोह का ताला तोड़कर दूल्हा राजा बारह भावनाओं का चिन्तवन कर गिरनार की ओर प्रस्थान कर गये।

इस जूनागढ़ जगमाल चौक में एक विशाल दिगम्बर जैन नेमिनाथ मन्दिर है। समीप ही अच्छी दिगम्बर जैन धर्मशाला है। मन्दिरजी में नेमिनाथ स्वामी के दिव्य दर्शन अवश्य करना चाहिये।

गिरनार तलहटी

जूनागढ़ से ६ किलोमीटर पर गिरनार तलहटी में एक विशाल धर्मशाला में दिगम्बर जैन मंदिर है। मन्दिरजी में ४ विशाल वेदियां हैं। प्रथम वेदी में श्री नेमिनाथजी की पद्मासन विशाल प्रतिमाजी हैं एवं श्री मुनिसुव्रतजी की प्राचीन प्रतिमाजी विराजमान है। यह प्रतिमा अत्यंत मनोज्ञ है।

द्वितीय वेदी में २४ तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। तीसरी वेदीजी में नेमिनाथजी एवं अन्य तीर्थंकर भगवान् विराजमान हैं। चौथी वेदी में मूलनायक १००८ श्री नेमिनाथ जी

की प्रतिमा है एवं पाँचवी वेदी में पार्श्वनाथजी की प्रतिमा हैं। फिर विशाल मानस्तंभ में पद्मासन, खड्गासन रूप से जिन-प्रतिमाजी विराजमान हैं।

परिक्रमा-पथ

यहाँ से करीब २००० सीढियाँ चढ़ने के बाद श्री १००८ नेमिनाथ भगवान् की पद्मासन दिगम्बर जैन प्रतिमाजी नेमिनाथजी के चरण एवं यक्ष-यक्षणियाँ हैं।

फिर यहाँ से ११०० सीढ़ियाँ जाने के बाद 'राजुल की गुफा' (यहाँ राजमती ने संसार वैभव का त्यागकर ध्यान किया था) की ओर जाने का रास्ता आता है। राजुल गुफा में राजुलजी की राजकुमारी अवस्था की मूर्ति एवं नेमिनाथ भगवान् के चरण स्थापित हैं, जो प्रतीक हैं कि नेमिनाथ प्रभु के चरणों में राजुल ने अपना जीवन अर्पण कर दिया था।

राजुल-गुफा के ठीक नीचे पत्थर पर उकेरी हुई दो दिगम्बर जैन मूर्तियाँ है।

पहली टोंक

यहाँ से करीब १०० सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद पहली टोंक दिगम्बर जैन मंदिर जाने का रास्ता है। पहली टोंक पर पाँच मंदिर है। प्रथम मंदिर श्रीबाहुबलीजी भगवान् का है। द्वितीय मंदिर में पंच परमेष्ठियों की मूर्तियाँ हैं एवं वहीं श्री १०८ आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के चरणों का भी दर्शन होता है। तृतीय मंदिर श्री १००८ पार्श्वनाथजी का है। चतुर्थ मंदिर श्री नेमिनाथ जी का बड़ा मंदिर है। एवं पाँचवें मंदिर में भगवान् नेमिनाथजी के चरण विराजमान हैं। इस टोंक पर पूजादि का पूरा लाभ मिलता है।

यहां से गौमुखी गंगा नाम से प्रसिद्ध स्थान में श्री १००८ चतुर्विंशति तीर्थकरों के दर्शन करना चाहिये। दर्शन के लिए वैष्णव मंदिर के अंदर से होकर जाने का रास्ता है। यहाँ सिर्फ दर्शन कीजिए, (चावल आदि कुछ भी चरणों पर नहीं चढ़ायें)। यहाँ से करीब ५०० सीढ़ी चलकर अम्बादेवी नाम से प्रसिद्ध नेमिनाथ भगवान् की शासनदेवी अम्बिकादेवी का मन्दिर है। यह दिगम्बर जैन धर्म की रक्षा का पवित्र स्थान है।

इसके पीछे श्रमण संस्कृति का इतिहास सुरक्षित है—

संघ सहित श्री कुन्दकुन्द गुरु, वंदन हेत गये गिरनार।
वाद पर्‌यो तहँ संशयमतिसों, साक्षी पदी अंबिकाकार॥

सत्य पंथ निग्रंथ दिगम्बर कही, सूरी तहँ प्रकट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघन हरण मंगल करतार ॥

एक समय दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी पर्वतराज की वंदना को संघ सहित पधारे। इसी समय श्वेताम्बर आचार्य भी संघ सहित आये थे। दोनों आचार्यों मे चर्चा आरंभ हो गई। सत्य धर्म कौनसा है, आदि धर्म कौनसा है? दोनों में आपसी वार्तालाप हुआ, दोनों ने अपने मंत्र बलादि का भी प्रयोग किया। अन्ततोगत्वा निर्णय अम्बिका देवी पर छोड़ा गया। यह अंबिका देवी की मूर्ति जो कहेगी वही धर्म सच्चा 'आदि धर्म' होगा।

श्वेताम्बराचार्य ने कई प्रकार से उस मूर्ति को मनाया, और बोलो, बोलो, पर लाख प्रयत्न करने पर भी वहाँ से आवाज नहीं आई। परंतु आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामिन् ने एक आशीर्वाद दिया और कहा– कहो अम्बिके! आदि धर्म कौनसा, सत्य धर्म कौन सा? तुरंत अंबिका की मूर्ति बोल उठी 'आदि दिगम्बरा, आदि दिगम्बरा, आदि दिगम्बरा, सच्चा धर्म, आदि धर्म दिगम्बर जैन धर्म है। यद्यपि वह मूर्ति आज भी है। पर खेद है कि आज हमारा उस पर कोई अस्तित्व नहीं है। स्मरण रहे कि आज भी उस मंदिर में प्रवेश करते हुए अन्य मतावलंबी लोग आदि दिगम्बरा, आदि दिगम्बरा आदि दिगम्बरा, के नारे लगाते हुये जाते हैं।

दूसरी टोंक

अम्बादेवी के मंदिर के ठीक पीछे चबूतरे पर श्री १००८ अनिरुद्ध कुमार के चरण हैं। यहाँ से महाराज श्रीकृष्ण के पुत्र अनिरुद्धकुमार ने मुक्ति को प्राप्त किया था। यहाँ बाजू में दिगम्बर जैन चरण ऐसा लिखा हुआ है।

तीसरी टोंक

करीब २00 सीढियाँ जाने के बाद श्री १००८ शंबूकुमार भगवान् की छतरी है। यहाँ टाईल्स लगी हुई दो छतरियाँ हैं। पहली छत्री में शंबूकुमार के नये स्थापित चरण हैं।

चौथी टोंक

करीब ४00 सीढ़ियाँ जाने के बाद चौथी टोंक जाने का रास्ता है। ऊपर जाने के लिए सीढ़िया नहीं हैं। चिन्ह बने हैं। पाषाण पर चौथी टोंक ऐसा लिखा है। यह प्रद्युम्नकुमार की मोक्षस्थली है। यहाँ पर कामदेव पद्युम्नकुमार व श्री नेमिनाथजी की मूर्ति है। यहाँ एक दूसरे की सहायता से जाना पड़ता है।

पाँचवी टोंक

करीब ५00 सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद पाँचवी टोंक पर श्री १00८ नेमिनाथ भगवान् का मोक्षस्थान है। यहाँ नेमिनाथ भगवान् के चरण हैं एवं पीछे नेमिनाथजी की प्राचीन प्रतिमा है।

पाँचवी टोंक से पुनः गोमुखी होते हुए करीब १५00 सीढ़ी चढ़ जाने के बाद शेषा (सिरसा) वन आता है। यह स्थान भगवान् नेमिनाथ की तपकल्याणक एवं ज्ञानकल्याणक भूमि का है। यहाँ भगवान के चरण हैं।

प्रथम छत्री में तीन चरण हैं। उनमें बीच में जो चरण हैं वे नेमिनाथजी के चरण चिन्ह हैं। ये तपकल्याणक के प्रतीक हैं।

द्वितीय स्थान पर दो चरण युगल सफेद और श्याम वर्ण के हैं।इनमें सफेद वर्ण के चरण दिगम्बर चरण हैं। पूजनीय हैं। ये चरण केवलज्ञान के प्रतीक हैं। इस शेषा वन से पीछे होकर पुनः तलहटी में आने का रास्ता है। इस प्रकार यात्रा, वन्दना का क्रम, पूर्ण होता है।

भव्यात्माओं को निर्विघ्न वंदना करने के लिए पर्वतराज पर चढ़ते हुए निम्न जाप जपना चाहिये—

(1) ॐ ह्रीं श्रीं ऐं अर्हं श्री नेमिनाथ जिनेन्द्राय नमः।

(2) ॐ ह्रीं श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय नमः।

(3) ॐ ह्रीं श्रीअनंतानंत परमसिद्धेभ्यो नमः।

इस विशाल क्षेत्र में शंबू, पद्युम्नकुमार आदि ७२ करोड़ ५ सौ मुनि नेमिनाथ भगवान् सहित मुक्ति पधारे। यह क्षेत्र अपने आप में बहुत सुंदर एवं प्राकृतिक मनोरम छटा को लिये हुये हैं। सिद्ध क्षेत्रों में इसका तृतीय स्थान है। प्रथम सम्मेदशिखरजी जहाँ से अनंतानंत भव्यात्मा सिद्ध हुये हैं। द्वितीय तीर्थराज मांगीतुंगी है यहाँ से ९९ करोड़ मुनि मुक्त हुये हैं, तृतीय स्थान गिरनार क्षेत्र का है। जो जन भावपूर्वक राग-द्वेष तथा कषायों को दूर करता हुआ वंदना करता है वह निकट भव्य होकर शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

महान् सिद्धक्षेत्र चम्पापुरी

❑ *जयकुमार बिनायक्या, भागलपुर*

चम्पापुरी की गाथा पुराणों के पृष्ठों में अंकित है। अनेकानेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं पुराणपुरुषों का संबंध चम्पापुरी से जुड़ा हुआ है। महाभारत के महादानी कर्ण की कहानी चम्पापुरी के घर-घर में चर्चित है। इतिहासपुरुष बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु की राजधानी के रूप में चम्पापुरी ने अथक नाम कमाया है। अनेक इतिहासपुरुषों का कार्यक्षेत्र चम्पा की धरती रही है। श्रमणपरम्परा में तो चम्पा के कण-कण को पवित्र एवं पूजनीय माना गया है। जैन परम्परा के २४ तीर्थंकरों के समवसरण चम्पापुरी में आये और समय-समय पर सभी तीर्थंकरों की वाणी दिग्-दिगंत में गुंजायमान होती रही है। चम्पापुरी के इतिहास में अनेक जैन साधु और श्रावकों की घटनाएँ घटित हुई हैं। भगवान महावीर के दर्शन के प्यासी महासती चन्दनबाला ने भक्तिपूर्वक आहार इसी चम्पा की धरती पर दिया। श्रीपाल और मैनासुन्दरी की जीवनगाथा भी इसी क्षेत्र से गुंथी हुई है।

जब हम पुराणों के पन्नों को पलटते हैं तो पाते हैं कि अनादिकाल से जब-जब इस धरती पर धर्म की ध्वजा पर धूल के धब्बे छाने लगते हैं, महान आत्मा का अवतरण होता है जो सच्चे श्रद्धान और सच्चे ज्ञान को धारण कर सच्चे चारित्र की सीढ़ी से मोक्षमहल पर चढ़ते हैं। अपनी आत्मा का उद्धार करते हैं, अन्य जीवात्माओं को भी प्रेरणा देकर तारते हैं। ऐसी महान आत्मा को तीर्थंकर कहते हैं। जैन परम्परा के अनुसार वर्तमान काल में चौबीस तीर्थंकर हुए। प्रथम तीर्थंकर हुए भगवान वृषभनाथ और अंतिम हैं भगवान महावीर। इसी तीर्थंकर परम्परा में चम्पा के चप्पा-चप्पा को धन्य किया बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपूज्य ने। यह भूमि मंगल-क्षेत्र में परिणत हो गई और कल्याणप्रद, पुण्योत्पादक एवं ध्यान की सिद्धि कराने वाली वन्दनीय बन गई।

जैन दर्शन में तीर्थंकर के जीवन की पाँच विशेष घटनाएँ होती हैं जिन्हें परम कल्याणकारी कीर्ति-स्तम्भ के रूप में माना जाता है। ये घटनाएँ हैं—तीर्थंकर का माता के गर्भ में आना, इस धरा पर जन्म लेना, सांसारिक बन्धनों को छोड़कर तप में लीन होना, केवल ज्ञान प्राप्त करना और फिर निर्वाण प्राप्ति। २४ तीर्थंकरों में भगवान वासुपूज्य ही ऐसे तीर्थंकर हैं जिनके पाँचों कल्याणक एक ही क्षेत्र चम्पापुरी में हुए। इसलिए यह चम्पापुरी जैन इतिहास में विश्व में लोकोत्तम भूमि के रूप में विख्यात है।

भगवान वासुपूज्य के पिता का नाम था महाराज वसुपूज्य और माता का नाम महारानी

विजय। भगवान वासुपूज्य का जन्म फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को हुआ। कहते हैं भगवान के अपनी माता के गर्भ में आने के १४ माह पहले से ही उस क्षेत्र में सुख-समृद्धि छा जाती है। रत्नों की वृष्टि होने लगती है। भगवान् के जन्म की महिमा का तो वर्णन ही शब्दातीत है, फिर, भगवान् के नाम लेने की महिमा का तो कहना ही क्या? एकीभाव स्तोत्र में वादिराज मुनि ने ठीक ही कहा है कि हे भगवन्! आप के गर्भ के आगमन के छः माह पहले से ही रत्न-वृष्टि होने लगती है तो अपने ध्यान द्वारा आपको धारण करने से अभाव को स्थान कहाँ?

समय बीतता गया। भगवान् वासुपूज्य का बाल्यकाल व्यतीत हो रहा था। प्रभु के मन में तो बचपन से ही वैराग्य की बेल बढ़ रही थी। समय आने पर वे भोग-विलासों से इन्द्रधनुष की तरह क्षण-भंगुर विरक्त हो गये। बालब्रह्मचारी रहते हुए फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को सम्पूर्ण परिग्रह त्याग कर नग्न मुनि मुद्रा धारण की। सच भी है परिग्रह से मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति, मोह रखते हुए व्यक्ति पूर्ण वैराग्य को कैसे प्राप्त कर सकता है? एक वर्ष तपस्या में लीन रहकर भगवान् वासुपूज्य ने भाद्र कृष्ण द्वितीया के दिन केवल ज्ञान प्राप्त किया। जैन दर्शन में 'आत्मा' के संसार भ्रमण का कारण उसका अपने कर्मों से युक्त होना मानते हैं। कर्म आठ प्रकार के होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय। आत्मा से परमात्मा की प्रक्रिया में आत्मा को कर्मों से मुक्त करना है। केवल ज्ञान प्राप्ति का अर्थ है— चार कर्मों ज्ञानवरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय— से आत्मा को मुक्त करना।

भगवान वासुपूज्य ने आत्मसुख और परमशान्ति का मार्ग 'वैराग्य' बताया और अंग, बंग, कलिंग इत्यादि देशों में विहार किया। भाद्र शुक्ल १४ (अनन्त चतुर्दशी) को शेष चार कर्मों का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया।

क्षेत्र परिचय

श्री चम्पापुर दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र भागलपुर रेलवे स्टेशन से ३ किलोमीटर दूर है। विशाल भव्य प्रवेशद्वार आगत श्रद्धालुओं और भक्तों का स्वागत करता है। दशाब्दि, शताब्दि ही नहीं, सहस्राब्दि से भी पुराना इतिहास है इस मन्दिर का। मंदिर जी का प्रांगण चार लाख दिवसों में से भी अधिक सूर्य और चन्द्रमा के उदय और अवसान का प्रत्यक्षदर्शी है। मंदिरजी के दो प्राचीन स्तम्भ इसकी गौरवगाथा को मूर्तरूप दिये हुए अखण्ड रूप से विराजमान हैं। ऐसे दो स्तम्भ और भी थे जो कालक्रम से नष्ट हो गये हैं। कहते हैं, इन स्तम्भों के नीचे से सुरंग थी जिसका विस्तार मन्दारपर्वत तक था।

भगवान वासुपूज्य की मूलमूर्ति—

"रक्तमाणिक्य-वर्णाय, सर्वसौख्यप्रदायिने।

तत्क्षणं पापनाशाय, वासूपूज्य नमोस्तु ते॥

तत्काल पाप नाश कर सर्व सुख प्रदान करनेवाली भगवान् वासुपूज्य की लाल माणिकवर्ण की अतिमनोज्ञ पद्मासन प्रतिमा मूलवेदी में विराजमान है। भक्ति भाव से भगवान् की वन्दना से मानवजीवन धन्य-धन्य हो जाता है। मूलवेदी में एक अष्ट धातु की मूर्ति तथा भगवान् वासुपूज्य के प्राचीन चरणयुगल भी विराजमान हैं। इसलिए इस मंदिर को पादुका मंदिर भी कहते हैं।

मूलवेदी के चारों ओर चार वेदियाँ हैं जिनमें अनेक प्रतिमाओं के साथ मूल प्रतिमा के रूप में भगवान् वासुपूज्य की प्रतिमा विद्यमान है।

मूल मंदिर की परिक्रमा के बाहर एक और मंदिर है, जिसमें भगवान् आदिनाथ की कुशाणकालीन प्रतिमाएँ हैं जो दो हजार से चार हजार वर्ष पुरानी मानी जाती हैं। भगवान् पार्श्वनाथ की १०५ फणयुक्त एक दुर्लभ प्रतिमा भी विराजमान है। हजार वर्ष से पुरानी तो अनेक प्रतिमाएँ हैं। ये प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। ये प्राचीन प्रतिमाएँ हमारी अमूल्य धरोहर हैं जो श्रमण संस्कृति और स्थापत्यकला के प्रकाश स्तम्भ के रूप में देदीप्यमान हैं। पास में एक अन्य वेदी में वासुपूज्य भगवान् की प्रतिमा है।

२ फरवरी १९७१ श्री चम्पापुर दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र के इतिहास में एक अविस्मरणीय दिन है जब श्री रतनलाल जी जैन विनायक्या, क्षेत्रीय मंत्री की प्रेरणा एवं प्रयास से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न हुआ और मंदिर जी के प्रांगण में नये जिनालयों एवं मानस्तम्भ की प्रतिष्ठापना हुई। नये जिन मंदिरों में एक ओर विदेह क्षेत्र के जीवन्त भगवान् सीमन्धर स्वामी का समवसरण मंदिर है तो दूसरी ओर नवनिर्मित काँच का भव्य कलात्मक मंदिर भक्तों का अनायास ही मन मोह लेता है।

मंदिर जी के पूर्व में भगवान् वासुपूज्य की मूलवेदी के सम्मुख ६१ फुट गगनचुम्बी मानस्तम्भ है जो पूर्वी भारत के विशाल मानस्तम्भों में एक है।इसके ऊपर चारों ओर जिनप्रतिमा एवं मध्य भाग में नीचे चारों वेदियों में चार बिम्ब निर्मित हैं। भगवान् जब माता के गर्भ में आते हैं तो गर्भ में आने के पहले माता को १६ स्वप्न आते हैं। रात्रि के अंतिम प्रहर में माता का दृष्टिगत होने वाले १६ स्वप्नों का चित्रांकन संगमरमर पर परिलक्षित हैं।

मानस्तम्भ के तीनों ओर २४ तीर्थंकरों की २४ टोंक है। प्रथम टोंक के आरंभ में भगवान बाहुबली की प्रतिमा है और अन्त में भगवान् वासुपूज्य के प्रथम गणधर 'मन्दर' की चरणपादुका। इसी अहाते में भगवान् शान्तिनाथ (९ फीट खडगासन मूर्ति) और भगवान् महावीर (७ $^1/_2$ फीट खड्गासन मूर्ति) के जिन मंदिर हैं। एक अन्य वेदी में काँच के रमणीय मंदिर में विराजमान काले पाषाण की सातफणों के सर्पवाली ७ $^1/_2$ फीट की भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा का भव्य दर्शन भक्तजनों को संसार से मुक्ति की प्रेरणा प्रदान करता है। वेदी में भगवान पार्श्वनाथ के

पूर्वभवों का रंगीन चित्रण अपने आप में अनूठा है। पास ही के गलियारे में काँच में की गई चित्रकारी में हरिवंशपुराण का सजीव चित्रण किया गया है।

जल मन्दिर

भगवान वासुपूज्य की १५ १/४ फीट विशाल प्रतिमा संगमरमर के कमल पर विराजमान है। दस टन वाली यह प्रतिमा संगमरमर के छत्र से सुशोभित है। प्रतिमा का शीर्षभाग गुलाबी रंग के भामण्डल से वेष्टित है। मूर्ति पर अभिषेक करने हेतु सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। प्रतिमा के सामने संगमरमर का विशाल प्रांगण है जो भक्तजनों को पूजन अर्चना और ध्यान के लिए शान्तिस्थल के रूप में तो है ही, पर्यटकों के लिए सहज ही आकर्षण का केंद्र बन गया है। शुक्ल पक्ष की धवल चाँदनी में भगवान वासुपूज्य की मूर्ति के सन्मुख बैठे भक्त गण अपने चंचल चित्त में शान्ति की अनुभूति पाते हैं। चारों ओर कृत्रिम नहर बनी हुई है। जिसके कार्यरत रहने पर रंग बिरंगे प्रकाश और फव्वारे अद्वितीय छटा प्रदान करते हैं।

मन्दिर का सुसज्जित कार्यालय है। तीर्थयात्रियों के लिए सुविधा सम्पन्न धर्मशाला है। जनहित के लिए विद्यालय, चिकित्सालय, वाचनालय इत्यादि संस्थाएं कार्यरत हैं। क्षेत्र निरन्तर प्रगति के पथ पर है।
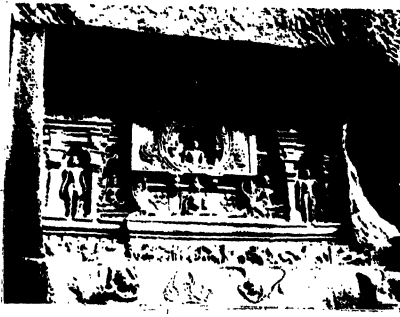
सिद्धक्षेत्र सिद्धवर-कूट, ऊन, बड़वानी

❑ ब्र. कमलाबाईजी पांड्या, सनावद

मध्य प्रदेश की माटी बन गई पवित्र, महान् क्षेत्र, सिद्धवरकूट, ऊन एवं बड़वानी में स्थित बावनगजा से। जो भी व्यक्ति इन क्षेत्रों की भूमि की वन्दना करता है वह प्रफुल्लित हो, आत्मविभोर हो जाता है।

सिद्धवर-कूट

सिद्धवर-कूट मध्य प्रदेश में निमाड़ जिले में पावन निर्वाण भूमि है जहाँ से दो चक्रवर्ती और दस कामकुमार मोक्ष पधारे। मघवा और सनत्कुमार तथा दस कामकुमार-सनत्कुमार, नलराज, बलिराज, वसुदेव, कनकप्रभ, वत्सराज, मेघप्रभ, विजयराज, श्री चन्द, मघवा चक्रवर्ती वासुपूज्य भगवान् के समय में हुए। सनत्कुमार चक्रवर्ती धर्मनाथ के समय में। जीवन्धर आदि साढ़े तीन करोड़ मुनिराज इनके साथ मोक्ष सिधारे। क्षेत्र बड़ा ही मनोज्ञ एवं रमणीय है जिसकी छटा सहसा मन को आकर्षित करती है।

> रेवानदी सिद्धवर कूट, पश्चिम दिशा देह जहँ छूट।
> द्वै चक्री दश कामकुमार, ऊठ, कोड़ि, वंदौ भवपार ॥२॥

यह क्षेत्र सनावद ग्राम के निकट, नर्मदा के किनारे, कावेरी के संगम के पास ओंकारेश्वर (हिन्दू तीर्थ) के निकट बसा है, विराजमान है। इन्दौर खण्डवा के रास्ते में ओंकारेश्वर रोड पर उतरकर मोटर से मान्धाता जाकर, पश्चात् नाव से क्षेत्र तक जाया जाता है या ओंकारेश्वर पहाड़ के किनारे जाकर कावेरी के किनारे से नाव में बैठकर भी पहुँचा जा सकता है। मार्ग बहुत कठिन है। बारिस के दिनों में अत्यधिक परेशानी होती है। सिद्धवरकूट से १८ किलोमीटर की दूरी पर बड़वाह गाँव है वहाँ से बस, स्कूटर के द्वारा क्षेत्र तक आने का सुगम मार्ग बन गया है।

क्षेत्र पर पहुँचते ही सर्वप्रथम नीचे विशाल धर्मशाला है जहाँ यात्रियों के आवास की सुविधा है। ऊपर जाकर यहाँ प्रथम मंदिर में नेमिनाथ, आदिनाथ, पद्मप्रभ विराजमान हैं। दूसरा मंदिर श्री शान्तिनाथ जी का है। तीसरे मन्दिर में दो चक्रवर्ती एवं दस कुमार की भी श्यामवर्ण की चरणपादुका हैं। चौथे मंदिर में बाहुबली भगवान की विशाल, मनोज्ञ श्वेत वर्ण की मूर्ति हैं। पाँचवें मंदिर में भगवान महावीर की प्रतिमा खड्गासन यक्ष-यक्षिणी सहित शोभायमान हो रही

है। फिर बड़े मंदिर में क्षेत्रपाल की पूर्ति है व मध्य वेदी में संभवनाथ भगवान विराजमान हैं। साथ में अन्य तीर्थंकर मूर्तियाँ भी विराजमान हैं। बाजू में पार्श्वनाथजी गन्धकुटी में विराजमान हैं। ऊपर मंदिर में काले पाषाण की आदिनाथजी की पद्मासन अत्युत्तम प्रतिमा भव्यों के मन को तृप्त करती है। पुनः नीचे आकर महावीर स्वामीजी की मनोज्ञ प्रतिमा के दर्शन होते हैं तथा वहीं दो चरणपादुका भी हैं। आगे अजितनाथ भगवान् का मंदिर है। इसके पश्चात् पार्श्वनाथ का मंदिर है। जिसमें काले पाषाण की भव्य प्रतिमा है व अतिशय युक्त क्षेत्रपाल हैं। इसी मंदिर के सामने विशाल मानस्तंभ है जिसमें महावीर स्वामी विराजमान हैं। इसीमें नीचे एक खड्गासन मूर्ति विराजमान हैं। अंतिम मंदिर में दो चक्री, दस कामकुमार की खड्गासन सप्त धातु की मूर्तियाँ हैं तथा शान्तिनाथ भगवान की प्राचीन पद्मासन मूर्ति के दर्शन करके भव्यात्मा शान्ति को प्राप्त होता है। पर्वत की चढ़ाई अत्यधिक सरल है।

विशेषता इस क्षेत्र की यह है कि यहाँ पर साधु भवन, त्यागी भवन एवं यात्रियों के आवास निवास की पूर्ण व्यवस्था उपलब्ध रहती है।

क्षेत्र की प्राप्ति—समाज का अहोभाग्य है कि कार्तिक कृष्णा १४ संवत् १९३५ में इन्दौर पीठ के भट्टारक को एक स्वप्न आया, शास्त्र में भी रचना देखने में आई। तत्पश्चात् जानकारी हेतु भट्टारकजी ने स्वयं रेवानदी के आसपास विचरण किया, घूमते हुए उन्हें क्षेत्र पर १५४५ की चन्द्रप्रभ की मूर्ति तथा दूसरी सोमसेन स्वामी द्वारा प्रतिष्ठित विक्रम सं. ११ की आदिनाथ भगवान् की प्रतिमा प्राप्त हुई तथा विशाल जैन मंदिर भी दिखायी दिया जिसके द्वार पर जैन मूर्तियाँ अंकित थीं और जिसके भीतर चैत्यालय भी बना हुआ था। इसके अतिरिक्त दो तीन दिगम्बर जैन मंदिर भग्नावशेष अवस्था में दृष्टिगोचर हुए इससे वे इस निर्णय पर पहुँचे कि इस स्थान पर सिद्धवरकूट होना चाहिये।

प्राचीन विशाल मंदिर का जीर्णोद्धार माघ सुदी तीज १९४० में प्रारम्भ हुआ। इस कार्य को कराने वाले महान् पुण्यात्मा भूरजी सूरजमलजी मोदी इन्दौरवाले थे। सं. १९४१ में हुकमचन्द जी सोलापुर निवासी ने भट्टारक महेन्द्रकीर्ति द्वारा जिनबिम्ब प्रतिष्ठा करवाई, तभी से यह क्षेत्र प्रकाश में आया। यहाँ पर प्रतिवर्ष फाल्गुन सुदी में विशाल मेला लगता है। यहाँ पर भट्टारकजी की गद्दी आज भी मन्दिरजी में है। यहाँ पर मुनिदीक्षा हुई हैं व समाधि भी हुई है।

उग्रतपस्वी आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज का यहाँ पर पदार्पण हुआ, २ माह के करीब रहे। चातुर्मास के भी भाव थे, क्योंकि यहाँ उनका ध्यान विशेष लगता था तथा मन को अत्यधिक शान्ति प्राप्त होती थी, हम स्वयं भी उनके साथ रहते थे। इनके अलावा आचार्य श्री विमलसागर जी, देशभूषणजी, सुबलसागर जी, पार्श्वसागरजी, निर्मलसागर जी, विद्यानन्दजी, आर्यिका सुपार्श्वमतिजी, ज्ञानमति जी, विजयमति जी आदि कई साधु-साध्वियाँ इस क्षेत्र पर आए और अपनी भक्ति अनुराग के प्रवाह में बहकर आत्मानूभूति करते रहे।

पावागिरि (ऊन)

पावागिरी-वर-सिहरे सुवण्ण भद्दाइ मुणिवरा चउरो।
चलणा-णई तडग्गे णिव्वाण-गया णमो तेसिं ॥१३॥ (नि. का.)

स्वर्णभद्रादि चार मुनिराज यहाँ से मोक्ष पधारे। ऐसा मनोहर रमणीय क्षेत्र सिद्धवरकूट से जुड़ा हुआ है। अर्थात् सिद्धवरकूट से सनावद पश्चात् ऊन जाने की सुविधा होती है। यह खरगोन से १५ किलोमीटर की दूरी पर है। तीर्थस्थल पर पहुँचते ही सर्वप्रथम दरवाजे से एक महान् मानस्तंभ के दर्शन होते हैं। तलहटी में महावीर स्वामी की भव्य प्राचीन पद्मासन मूर्ति विराजमान है। ऊपर शिखर पर शान्तिनाथ भगवान् की खड्गासन मूर्ति विराजमान है। एक छोटी वेदी में शान्तिनाथ की पद्मासन मूर्ति विराजित है। तलहटी में थोड़ी देर पर चलकर एक छोटे से पहाड़ के दर्शन होते हैं। शांतिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरहनाथ भगवान की खड्गासन विशाल काले पाषाण की, भव्यों के मन को हरने वाली अतिसुन्दर प्रतिमा के दर्शन होते हैं जिससे आगन्तुक अपने आपको कृतकृत्य मानता है। मंदिर के दोनों और प्राचीन सुन्दर प्रतिमा विराजमान है। इसी पहाड़ के दालान पर मानस्तंभ है पास ही वेदी में महावीर स्वामी, चन्द्रप्रभु स्वामी का मंदिर है। एक बड़े मंदिर में चरण पादुका व संभवनाथ भगवान की प्राचीन प्रतिमा है। मन्दिर व पहाड़ की परिक्रमा भी है तथा आगे यहाँ के दर्शन के पश्चात् पंचपहाड़ी पर श्री बाहुबली, महावीर स्वामी, वासपूज्य, शान्तिनाथ भगवान की मूर्तियाँ हैं। चरणपादुका भी दर्शनार्थ बने हैं।

क्षेत्र का उद्धार होने की एक महान् कथा प्रचलित है। बल्लाल नाम के राजा रोग से ग्रसित थे। वे इस क्षेत्र पर आए। उनका रोग धीरे-धीरे शान्त हो गया। उन्होंने अपने मंत्री को १०० मंदिर बनवाने का आदेश दिया। कहा—मुझे यहाँ आने से अत्यधिक शान्ति प्राप्त हुई अतः यह कार्य शीघ्र होना चाहिये। ९९ मन्दिर, ९९ बावड़ी, ९९ सरोवर बन गये। तभी से इस क्षेत्र का नाम ऊन पड़ गया। ये सभी उदयादित्य राजा के समय के बने हुये हैं। पुराने समय में एक विद्यालय भी था। पाषाण पर स्वर व्यंजन अंकित हैं। किन्तु क्षेत्र जीर्ण हो गया। ५० वर्ष पूर्व ही इस क्षेत्र की खोज हुई थी। व भव्य मंदिर निधियाँ प्राप्त हुई थी। आज भी पुराने अवशेष देखने को मिलते हैं। इन्दौर के हीरालाल जी घासीलाल जी सेठी ने प्रतिष्ठा कराकर क्षेत्र को मूर्त्त रूप दिया। क्षेत्र का विशेष अतिशय अभी मौजूद है।

बड़वानी (बावनगजा)

मध्य प्रदेश के निमाड़ जिले में प्राचीन भव्य, मनोहर क्षेत्र 'बावनगजा' नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर भगवान आदिनाथजी की विशालकाय प्रतिमा विराजमान है। यहाँ से भगवान मुनिसुव्रत के काल में दो मुनि इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण मोक्ष पधारे। इसे चूलगिरी तीर्थ-क्षेत्र के नाम से जाना

जाता है

बड़वानी वरणयरे दक्खिण-भायम्मि चूलगिरि-सिहरे।
इंदजिय-कुंभयण्णे णिव्वाण-गया णमो तेसिं ॥१२॥

बड़वानी से पाँच किलोमीटर आगे जाकर अन्दर की ओर यह क्षेत्र आता है। ऊन से बड़वानी की यात्रा को जाएँ। बावनगजा क्षेत्र में पहुंचते ही तलहटी में ८ मंदिर हैं। महामनोज्ञ पार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, वासुपूज्य भगवान् के मंदिर हैं। पांच मंदिर पार्श्वनाथजी के हैं। मानस्तम्भ में तीर्थंकर प्रभु के दर्शन होते हैं। दूसरी ओर आचार्यकल्प चन्द्रसागरजी महाराज की चरणपादुका विराजमान है। ऊपर पर्वत पर जाने के रास्ते में तलहटी में एक छोटा सा नेमिनाथ भगवान् का मंदिर है। फिर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ जी का मंदिर है। पश्चात् पार्श्वनाथजी का मन्दिर है। इस प्रकार *आदिनाथजी (बावनगजा बाबा)* के पूर्व इन मन्दिरों में स्थित तीर्थंकर मूर्तियों के दर्शन होते हैं।

पर्वत पर चूलगिरि की चढ़ाई में थोड़ी ही देर में भव्य अति मनोहारी, दुःखहारिनी प्रतिमा के दर्शन होते हैं। ८४ फीट ऊंची विशाल प्रतिमा के लम्बे समय तक दर्शन करने पर भी मन तृप्त नहीं होता, देखते ही रहने को जी करता है।

प्रतिमा का माप—

१. प्रतिमा की ऊंचाई	८४ फीट
२. एक भुजा से दूसरी भुजा का अन्तर	२९ फीट छह इंच
३. भुजा से अंगुली तक	४६ फीट २ इंच
४. कमर से एड़ी तक	३७ फीट
५. सिर का घेरा	२७ फीट
६. पैर की लम्बाई	१३ फीट ६ इंच
७. नाक की लम्बाई	३ फीट ११ इंच
८. आँख की लम्बाई	३ फीट ३ इंच
९. कान की लम्बाई	९ फीट ८ इंच
१0. एक कान से दूसरे कान की लम्बाई (दूरी)	१७ फीट ६ इंच
११. पाँव के पंजों की चौड़ाई	५ फीट

चरणों के पास चक्रेश्वरी गोमुख भी है।आगे ऊपर चंद्रप्रभ भगवान की मूर्ति व चरणपादुका है जहाँ से कलश करने की सुन्दर व्यवस्था थी। आदिनाथ प्रभु की प्रतिमा पर ४0 वर्ष पूर्व जीर्णोद्धार फतेहचन्दजी सेठी इन्दौर वालों ने करवाया था। अब पुनः जीर्णोद्धार का कार्य संपूर्ण होकर आचार्य श्री विद्यानन्दजी की प्रेरणा से दिनांक १४ से २१ जनवरी ९१ तक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं महामस्तकाभिषेक सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर यहाँ एक विशाल मेला एवं भव्य समारोह हुए। मध्य प्रदेश के इतिहास में इतने विशाल स्तर पर आयोजन शायद इससे पहले कभी नहीं हुआ।

यहाँ से आगे पहाड़ पर जाने पर पार्श्वनाथजी व चन्द्रप्रभजी का मन्दिर है। वहाँ के दर्शन के पश्चात् चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते चूलगिरि पहुँच जाते हैं। यहां बड़ा भव्य मंदिर है, आजू बाजू में भव्य मूर्तियाँ हैं तथा बीच की वेदी में चरण-पादुका है। मोक्षगामी इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण तथा मेघनाद की पादुका के दर्शन परिक्रमा के एक ओर हैं वहीं पर कुन्दकुन्द स्वामी के चरण व मूर्ति के दर्शन होते हैं। इस प्रकार चूलगिरि पर इनके दर्शन पाते ही सारी थकान दूर हो जाती है, दर्शनार्थी आत्म-विभोर हो जाता है।

यहाँ पर आचार्य महावीरकीर्तिजी एवं आ. विमलसागर जी महाराज के साथ-साथ चातुर्मास किया था। करीब २६ वर्ष पूर्व बावड़ी में पानी कम था, सभी को चिन्ता थी किन्तु एक ही बावड़ी के पानी से दोनों संघों के त्यागीवृन्द, यात्रीगण, सभी को पूर्णतया पानी मिलता रहा। किसी को भी किंचित् परेशानी नहीं हुई। यह सब आदिनाथ भगवान् का ही तो चमत्कार था।

इस प्रकार सिद्धवरकूट, ऊन, बावनगजा, इन तीनों क्षेत्रों पर त्यागीवृन्द दर्शनार्थ आते ही रहते हैं।

णाणं णारस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होई णिव्वाणं॥ दर्शन पाहुड़, ३१॥

— मनुष्य के लिए सर्वप्रथम ज्ञान ही सारतत्त्व है और ज्ञान से भी अधिक सार तत्त्व है सम्यग्दर्शन, क्योंकि सम्यग्दर्शन से ही सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक् चारित्र से निर्वाण की सम्प्राप्ति।

◇◇◇

सिद्ध क्षेत्र सोनागिर

❑ मिश्रीलाल पाटनी

भरत खंड का पहला सिद्धक्षेत्र कैलाशगिरि है जहाँ से श्री आदिनाथ भगवन् मोक्ष गये हैं। दूसरा सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी हैं। जहाँ से बीस तीर्थंकर तथा असंख्य मुनिगण मोक्ष सिधारे हैं। तीसरा सिद्ध क्षेत्र हैं चंपापुर, जहाँ से वासुपूज्य भगवान मोक्ष गये हैं। चौथा श्री गिरिनार सिद्ध क्षेत्र है जहाँ से तीर्थंकर नेमिनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया। पाँचवाँ पावापुर सिद्धक्षेत्र है। जहाँ से भगवान् महावीर मोक्ष गये। इसके पश्चात् छठा नम्बर इस सिद्ध क्षेत्र सोनागिर का आता है। सिद्धक्षेत्र उस भूमि या स्थान को कहा जाता है जहाँ से तीर्थंकर अथवा मुनियों ने निर्वाण पद प्राप्त किया। जहाँ से कोई तीर्थंकर या मुनि मोक्ष नहीं गये, किन्तु जहाँ कोई चमत्कार या अतिशय हुआ हो उसे अतिशय क्षेत्र कहा जाता है।

सोनागिर एक प्रकार से अतिप्राचीन सिद्धक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है।इस क्षेत्र पर अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभु भगवान का अनेक बार समवसरण आया है जिसमें अनेक राजा महाराजा एवं जनता ने उपस्थित होकर उनकी अनक्षरी हितमित वाणी का श्रवण कर वैराग्य भाव धारण किया।और उसी समवसरण में उसी समय संसार से विरक्त होकर निर्ग्रंथ मुनि-दीक्षा प्राप्त की। यह स्थान है जहाँ मन, वचन, काय स्थित कर नंग-अनंग आदि साढ़े पाँच करोड़ मुनियों ने तीर्थंकर चन्द्रप्रभु के तीर्थकाल में निर्वाण प्राप्त किया। यह वह तपश्चरण भूमि है जहाँ का कण-कण पूजनीय, वंदनीय बन गया।

इस क्षेत्र से संबंधित पुराण कथा इस प्रकार प्रचलित है। क्षेत्रीय वंश के महान् योद्धा वीर पुत्र थे नंगकुमार और अनंगकुमार जिन्होंने कुमार अवस्था में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर तपश्चरण किया। कहा जाता है जब वे तपश्चरण कर रहे थे कि देवों ने इनकी परीक्षा हेतु शिलाएँ और पत्थर बरसाये। लेकिन मुनिवर अपनी तपस्या में लीन रहे। देवगण उनका ध्यान विचलित नहीं कर सके। आज भी एक ऐसी शिला उस पर्वत पर देखी जा सकती है जिसे 'बाजनी शिला' कहा जाता है। आज भी इसे पत्थर के टुकड़े से बजाने से बहुत ही मधुर आवाज निकलती है। तीर्थयात्रियों के लिए यह कौतूहल का विषय बनी हुई है।

इसी पर्वत पर अनेक गुफानुमा कक्ष बने हुये हैं, जहाँ पर मुनिजन ध्यान चिन्तन मनन करते होंगे। एक स्थल पर ऊँचा चबूतरा बना है। उसे देखकर ऐसा लगता है कि चबूतरे के ऊपरी भाग पर आचार्य या उपाध्याय बैठे हों और नीचे चारों ओर उनके शिष्य बैठकर अपने गुरु के उपदेश का श्रवण कर रहे हों।

और भी अनेक प्राचीन स्थल इस क्षेत्र पर मौजूद हैं जिनकी देखरेख सिद्धक्षेत्र कमेटी द्वारा की जाती है।

मध्य प्रदेश का एक प्राचीन जनपद है—चेदि जनपद, सोनागिर क्षेत्र इसी जनपद में आता है। यह स्थान बुन्देलखण्ड में दतिया रियासत में आता है। वर्तमान में यही दिल्ली-झाँसी रेलवे लाइन पर झाँसी से पहले पड़ता है। एक समय यहाँ तक पहुँचने के लिए कोई सड़क नहीं थी। मात्र पगडंडी रास्ता था। अब यहाँ सोनागिर नाम से रेल्वे स्टेशन है। रेल्वे स्टेशन से यह क्षेत्र ४-५ किलोमीटर दूरी पर है। क्षेत्र पर जाने के लिए बस की व्यवस्था है।

सोनागिर क्षेत्र हजारों वर्ष प्राचीन है। विशेष प्रचार न होने से यह स्थान लुप्त सा रहा आया है यहाँ पर कोई जैन कमेटी नहीं थी। बहुत पहले यहाँ एक भट्टारकजी रहा करते थे। बाद में एक पांडे (ब्राह्मण) ने इसे अपने अधिकार में ले लिया था। वह यहाँ पर द्रव्य, स्वर्ण आदि चढ़ावे की सामग्री स्वयं ले लेते थे। कभी-कभी मंदिरों में सफाई करा देते थे।इस प्रकार व्यवस्था ठीक न रहने के कारण क्षेत्र के मंदिर धीरे-धीरे जीर्ण-शीर्ण होते चले जा रहे थे। फलस्वरूप आस-पास की जैन समाज तथा लश्कर ग्वालियर की जैन समाज को चिन्ता हुई वे दतिया के तत्कालीन महाराजा गोबिंदसिंह जी से मिले। उनसे क्षेत्र की व्यवस्था का दायित्व जैन समाज को सौंपने का अनुरोध किया। महाराजा की स्वीकृति प्राप्त होने पर यहाँ सन् १९१६ में सिद्धक्षेत्र कमेटी की स्थापना की गई। बाद में भी क्षेत्र के आधिपत्य एवं व्यवस्था को लेकर झगड़े होते रहे।अन्त में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बंबई, तथा सोनागिर क्षेत्र की कमेटी की देखरेख में इसकी व्यवस्था का कार्य निरन्तर प्रगति पर रह आया। आज यहाँ अनेक धर्मशालाएं हैं और यात्रियों के लिए अन्य सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

क्षेत्रदर्शन

इस क्षेत्र पर लगभग सौ मन्दिर हैं।इनमें से ७७ मन्दिर पहाड़ पर हैं। पहाड़ पर चन्द्रप्रभ का विशाल मंदिर है। जो अत्यंत भव्य और आकर्षक है। परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज की प्रेरणा से यहाँ अनेक नये-नये निर्माण कार्य हो रहे हैं। मंदिरों का जीर्णोद्धार कार्य भी निरन्तर चल रहा है। महाराज श्री की प्रेरणा से ही यहाँ श्री नंगानंग जैन विद्यालय की भी स्थापना हो चुकी है।

इस पावन क्षेत्र पर इस युग के महान् सन्तों ने समय-समय पर चातुर्मास किये। सन् १९७८-७९ में आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज ने यहाँ विशाल संघ सहित चातुर्मास किया। चातुर्मास के दौरान विविधि धार्मिक कार्यक्रमों से विशेष धार्मिक प्रभावना हुई। सन् १९८९ में ही श्री नंग-अनंग कुमार की विशाल ७-७ फुट ऊंची प्रतिमाओं का पञ्चकल्याणक धूमधाम से हुआ जो आज भी चन्द्रप्रभ् भगवान के मन्दिर के बाहर प्रांगण में विराजमान हैं तथा अपनी

वीतरागता से भव्य जीवों के हृदय को मोहित कर रहे हैं। इसी वर्ष आचार्य की ६४वीं जन्म-जयन्ती के पावन अवसर पर आचार्य श्री जी ने अपने योग्य शिष्य मुनि भरतसागर को उपाध्याय पद से संस्कारित कर अलंकृत किया जो आज भी संघ में पठन-पाठन में रत हैं।

क्षेत्र की पावन भूमि ने आचार्य श्री को पुनः आकर्षित किया। विहार करते हुए विशाल संघ पुनः सन् १९८८ में तीर्थराज पधारा। आचार्य श्री की कई दिनों से चली आ रही भावना यहाँ साकार हुई अर्थात् आचार्य श्री की विशाल श्रुतस्कंध के निर्माण की भावना ने यहाँ मूर्त रूप लिया। आचार्य श्री के उपदेश से चन्द्रप्रभ भगवान के बाहर विशाल प्रांगण में चतुर्विंशति तीर्थंकर की प्रतिमाएँ खड्गासन में अष्टप्रातिहार्य और यक्ष-यक्षी सहित विराजमान है। इस अवसर पर पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा करवाकर संघपति श्री श्रीपालजी सुपुत्र राजेंद्र जी व सब परिवार ने अपने जीवन का सदुपयोग कर अमूल्य पुण्यार्जन किया।

पधारिये! एक बार अवश्य!! तीर्थराज पर विराजित प्राचीन जिन प्रतिमाएँ जो भिन्न-भिन्न कला को लिये हुये हैं, अवश्य दर्शन कीजिये। श्रुत पञ्चमी के महत्व को दिखाने वाला विशाल श्रुतस्कंध कुन्दकुन्दाचार्य की द्विसहस्राब्दी वर्ष के उपलक्ष में निर्मित है, जो विशेष दर्शनीय है। श्रुतस्कंध में भगवान् महावीर की दिव्य ध्वनि गौतम गणधर झेल रहे हैं, दूसरी ओर सरस्वती देवी की मूर्ति है। श्रुतस्कंध में द्वादशांग के एक-एक अक्षर अंक लिपि व ब्राम्ही लिपि में उकेरे हुए हैं। यह हमारी संस्कृति की एक अमूल्य धरोहर है। एक ओर श्रुतस्कंध हैं, तीनों ओर श्रुत परम्परा के महान् आचार्यों के नाम और उनके द्वारा रचित महान् ग्रंथों के नाम भी अंकित है।

दानतीर्थ हस्तिनापुर

❑ *क्षुल्लक श्री मोतीसागरजी*

भगवान् आदिनाथ का प्रथम आहार

हस्तिनापुर तीर्थों का राजा है। यह धर्म प्रचार का आद्य केन्द्र रहा है। यहीं से धर्म की परंपरा का शुभारंभ हुआ। यह वह महातीर्थ है जहाँ से दान की प्रेरणा संसार ने प्राप्त की।

भगवान आदिनाथ ने जब दीक्षा धारण की उस समय उनके देखा-देखी चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा धारण की। भगवान ने केशलोंच किये, उन सबने भी केशलोंच किये। भगवान् ने वस्त्रों का त्याग किया उसी प्रकार से उन राजाओं ने भी नग्न दिगम्बर अवस्था धारण कर ली। भगवान हाथ लटकाकर ध्यान मुद्रा में खड़े हो गये थे, सभी राजागण भी उसी प्रकार से ध्यान करने लगे किन्तु तीन दिन के बाद उन सभी को भूख-प्यास की बाधा सताने लगी। वे बार-बार भगवान की तरफ देखते किन्तु भगवान तो मौन धारण करके नासाग्र दृष्टि किये अचल खड़े थे, एक दो दिन के लिए नही पूरे छह माह के लिए। अतः उन राजाओं ने बेचेन होकर जंगल के फल खाना एवं झरनों का पानी पीना प्रारंभ कर दिया।

उसी समय वनदेवता ने प्रकट होकर उन्हें रोका कि—'मुनि वेश में इस प्रकार से अनर्गल प्रवृत्ति मत करो। यदि भूख प्यास का कष्ट सहन नहीं हो पाता है तो इस जगत् पूज्य मुनि वेश को छोड़ दो।' तब सभी राजाओं ने मुनि पद को छोड़कर अन्य वेश धारण कर लिये। किसी ने जटा बढ़ा ली, किसी ने वल्कल धारण कर ली, किसी ने भस्म लपेट ली और कुटी बनाकर रहने लगे।

भगवान ऋषभदेव का छह माह के पश्चात् ध्यान विसर्जित हुआ। वैसे तो भगवान् का बिना आहार किये भी काम चल सकता था किन्तु भविष्य में भी मुनि बनते रहें, मोक्षमार्ग चलता रहे इसके लिए आहार को निकले। किन्तु उनको कहीं पर भी विधिपूर्वक एवं शुद्ध प्रासुक आहार नहीं मिल पा रहा था। सभी प्रदेशों में भ्रमण हो रहा था किन्तु कहीं पर भी दातार नही मिल पा रहा था। कारण यह था— उनसे पूर्व भोगभूमि की व्यवस्था थी। लोगों को जीवन यापन की सामग्री-भोजन, मकान, वस्त्र आभूषण आदि सब कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाते थे। जब भोग भूमि की व्यवस्था समाप्त हुई तब कर्मभूमि में कर्म करके जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त करने की कला भगवान के पिता नाभिराय ने एवं स्वयं भगवान ऋषभदेव ने सिखाई।

असि, मसि, कृषि सेवा, शिल्प एवं वाणिज्य द्वारा जीवन जीने का मार्ग बतलाया। सब

कुछ बतलाया किन्तु दिगम्बर मुनियों को किस विधि से आहार दिया जावे इसको नहीं बतलाया। जिस इन्द्र ने भगवान ऋषभदेव के गर्भ में आने से छह माह पहले से रत्नवृष्टि प्रारंभ कर दी थी, पाँचो कल्याणको में स्वयं इन्द्र प्रतिक्षण उपस्थित रहता था किन्तु जब भगवान प्रासुक आहार प्राप्त करने के लिए भ्रमण कर रहे थे, तब वह भी नहीं आ पाया।

संपूर्ण प्रदेशों में भ्रमण करने के पश्चात् हस्तिनापुर आगमन से पूर्व रात्रि के पिछले प्रहर से यहाँ के राजा श्रेयांस को सात स्वप्न दिखायी दिये, जिनमें प्रथम स्वप्न में सुदर्शन मेरु पर्वत दिखायी दिया। प्रातः-काल उन्होंने ज्योतिषी को बुलाकर उन स्वप्नों का फल पूछा। तब बताया गया कि जिनका मेरू पर्वत पर अभिषेक हुआ है, जो समेरू के समान महान है ऐसे तीर्थंकर भगवान के दर्शनों का लाभ प्राप्त होगा।

कुछ ही देर बाद भगवान ऋषभदेव का हस्तिनापुर नगरी में मंगल पदार्पण हुआ। भगवान का दर्शन करते ही राजा श्रेयांस को जातिस्मरण हो गया। उन्हें आठ भव पूर्व का स्मरण हो आया; जब भगवान ऋषभदेव राजा वज्रजंघ की अवस्था में व स्वयं राजा श्रेयांस राजा वज्रजंघ की पत्नी रानी श्रीमती की अवस्था में थे और उन्होंने चारण ऋद्धिधारी मुनियों को नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान दिया था। तभी राजा श्रेयांस समझ गये कि भगवान् आहार के लिए निकले हैं।

यह ज्ञात होते ही वे अपने राजमहल के दरवाजे पर खड़े होकर मंगल वस्तुओं को हाथ में लेकर भगवान् का पड़गाहन करने लगे। हे स्वामी! नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु! अत्र तिष्ठ तिष्ठ.........विधि मिलते ही भगवान् राजा श्रेयांस के आगे खड़े हो गये। राजा श्रेयांस ने पुनः निवेदन किया—मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि आहार-जल शुद्ध है। भोजनशाला में प्रवेश कीजिए। चौके मे ले जाकर पाद प्रक्षाल कर पूजन की एवं इक्षुरस का आहार दिया। आहार होते ही देवों ने पंचाश्चर्य की वृष्टि की। चार प्रकार के दानों में से केवल आहार-दान के अवसर पर ही पंचाश्चर्य वृष्टि होती है। भगवान् जैसे पात्र का लाभ मिलने पर, राजा श्रेयांस की भोजनशाला में उस दिन भोजन अक्षय हो गया। शहर के सारे नर-नारी भोजन कर गये तब भी भोजन जितना था उतना ही बना रहा।

एक वर्ष के उपवास के बाद हस्तिनापुर में, जब भगवान् का प्रथम आहार हुआ तो समस्त पृथ्वीमंडल पर हस्तिनापुर के नाम से धूम मच गई, सर्वत्र राजा श्रेयांस की प्रशंसा होने लगी। अयोध्या से भरत चक्रवर्ती ने आकर भव्य समारोह पूर्वक राजा श्रेयांस का सन्मान किया। तथा प्रथम आहार की स्मृति में यहां एक विशाल स्तूप का निर्माण कराया।

दान के कारण ही भगवान् आदिनाथ के साथ राजा श्रेयांस को भी याद किया जाता है। जिस दिन यहां प्रथम आहार-दान हुआ वह वैशाख सुदी तीज का दिन था। तबसे आज तक वह दिन प्रतिवर्ष पर्व के रूप में मनाया जाता है। अब उसे "आखा तीज" या 'अक्षय तृतीया' कहते हैं।

इस प्रकार दान की परंपरा हस्तिनापुर से प्रारंभ हुई। दान के कारण ही धर्म की परम्परा भी तब से अब तक बराबर चली आ रही है। क्योंकि मंदिरों का निर्माण, मूर्तियों का निर्माण, शास्त्रों का प्रकाशन, मुनि संघों का विहार दान से ही संभव है। और यह दान श्रावकों के द्वारा ही होता है। श्रवण बेलगोल में एक हजार साल से खड़ी भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा भी चामुण्डराय के दान का ही प्रतिफल है जो कि असंख्य भव्य जीवों को दिगम्बरत्व का, आत्मशांति का पावन संदेश बिना बोले ही दे रही है।

यहाँ बनी यह जम्बूद्वीप की रचना भी संपूर्ण भारतवर्ष के लाखों नर-नारियों के द्वारा उदार भावों से प्रदत्त दान के कारण ही मात्र दस वर्ष में बनकर तैयार हो गई जो कि संपूर्ण संसार के लिए आकर्षण का केंद्र बन गई है। जम्बूद्वीप की ऐसी रचना पूरे भारत में अभी केवल यहाँ हस्तिनापुर में ही देखने को मिल सकती है। नंदीश्वर द्वीप की रचना, समवसरण की रचना तो अनेक स्थलों पर बनी है और बन रही है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमारे जीवन काल में ऐसी भव्य रचना बनकर तैयार हो गई और उसके दर्शनों का लाभ सभी को प्राप्त हो रहा है।

भगवान् आदिनाथ के प्रथम आहार के उपलक्ष्य में वह तिथि पर्व के रूप में मनाई जाने लगी। वह दिन इतना महान् हो गया कि कोई भी शुभ कार्य उस दिन बिना किसी ज्योतिषी से पूछे कर लिया जाता है। जितने विवाह अक्षय तृतीया के दिन होते हैं उतने शायद ही अन्य किसी दिन होते हों।

और तो और, जब से भगवान् का प्रथम आहार इक्षुरस का हुआ तब से इस क्षेत्र में गन्ना भी अक्षय हो गया, जिधर देखो उधर गन्ना नजर आता है। सड़क पर गाड़ी में आतेजाते बिना खाये मुँह मीठा हो जाता है। कदम कदम पर गुड़ शक्कर बनता दिखायी देता है। हस्तिनापुर में आने वाले प्रत्येक यात्री को जम्बूद्वीप प्रवेश द्वार पर भगवान् के आहार के प्रसाद रूप में, यहाँ लगभग बारह महीने इक्षुरस पीने को मिलता है।

भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ के चार-चार कल्याणक

भगवान् आदिनाथ के पश्चात् अनेक महापुरुषों का इस पुण्य धरा पर आगमन होता रहा है। भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ एवं अरहनाथ के चार-चार कल्याणक यहाँ हुए हैं। तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती एवं कामदेव पद के धारी थे। तीनों तीर्थंकरों ने यहाँ से समस्त छह खंड पृथ्वी पर राज्य किया किन्तु उन्हे शांति की प्राप्ति नहीं हुई। छियानवे हजार रानियाँ भी उन्हें सुख प्रदान नहीं कर सकीं। अतएव उन्होंने संपूर्ण आरंभ-परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की और मुनि बन गये। वैराग्य-भावना में कहा है —

"कोटि अठारह घोड़े छोड़े चौरासी लख हाथी।

इत्यादिक संपत्ति बहुतेरी जीरण तृण सम त्यागी।"

छियानवे हजार रानियों का, अपार संपदा का क्षण भर में जीर्ण तृण के समान त्याग कर दिया।

भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ ने महान् तपश्चर्या करके दिव्य केवल ज्ञान की प्राप्ति की। उनकी ज्ञान ज्योति के प्रकाश से अनेकों भव्य जीवों का मोक्षमार्ग प्रशस्त हुआ। अंत में उन्होंने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया। आज हजारों लोग उन तीर्थंकरों की चरण रज से पवित्र इस पुण्य धरा की वंदना करने आते हैं और उस पुनीत माटी को मस्तक पर चढ़ाते हैं।

कौरव-पांडव की राजधानी

महाभारत की विश्वविख्यात घटना भगवान् नेमिनाथ के समय में यहाँ घटित हुई। यह वही हस्तिनापुर है जहाँ कौरव पांडवों ने राज्य किया। सौ कौरव भी पांच पांडवों को हरा नहीं सके। क्या कारण था? कौरव अनीतिवान्, अन्यायी, अत्याचारी, ईर्ष्यालु और द्वेषी थे। उनमें अभिमान बाल्यकाल से कूट-कूट कर भरा हुआ था जबकि पांडव प्रारंभ से धीर, वीर, गंभीर सत्य आचरण करने वाले थे। न्याय नीति से चलते थे। सहिष्णु थे। इसीलिए पांडवों ने विजय प्राप्त की। यहाँ तक कि सती सीता की तरह अग्नि-परीक्षा में भी सफल हुए। कौरवों के द्वारा बनाये गये जलते हुए लाक्षागृह से भी णमोकार महामंत्र का स्मरण करते हुए एक सुरंग के रास्ते से बच निकले।

वे एक बार पुनः अग्निपरीक्षा में सफल हुए जब शत्रुंजय में नग्न दिगंबर मुनि अवस्था में ध्यान में लीन थे। उस समय दुर्योधन के भानजे कुयुंधर ने लोहे के आभूषण बनवाकर गरम करके पहना दिये। जिसके फलस्वरूप बाहर से उनका शरीर जल रहा था और भीतर से कर्म जल रहे थे। उसी समय संपूर्ण कर्म जलकर भस्म हो गये और अंतकृत केवली बनकर तीन पांडवों ने निर्वाण प्राप्त किया और नकुल, सहदेव, उपशम श्रेणी का आरोहण करके ग्यारहवें गुणस्थान में मरण को प्राप्त करके स्वर्ग गये।

कौरव पांडव तो आज भी घर-घर में देखने को मिलते हैं। यदि विजय प्राप्त करना है तो पांडवों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। सदैव न्यायनीति चलना चाहिये। तभी पांडवों की तरह यश की प्राप्ति होगी। धर्म की सदा जय होती है।

रक्षाबंधन पर्व

एक समय हस्तिनापुर में अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का संघ आया हुआ था।

उस समय यहाँ महापद्म चक्रवर्ती के पुत्र राजा पद्म राज्य करते थे। कारणवश बलि मंत्री ने वरदान के रूप में सात दिन का राज्य माग लिया। राज लेकर बलि ने अपने पूर्व अपमान का बदला लेने के लिए, जहाँ सात सौ मुनि विराजमान थे वहाँ उनके चारों ओर यज्ञ के बहाने अग्नि प्रज्वलित कर दी। उपसर्ग समझकर सभी मुनिराज शांत परिणाम से ध्यान में लीन हो गये।

दूसरी तरफ उज्जयिनी में विराजमान विष्णुकुमार मुनिराज को मिथिला नगरी में चातुर्मास कर रहे मुनि श्री श्रुतसागरजी के द्वारा भेजे गये क्षुल्लक श्री पुष्पदंत से सूचना प्राप्त हुई कि हस्तिनापुर में मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है और उसे आप ही दूर कर सकते हैं।

यह समाचार सुनकर, परम करुणामूर्ति विष्णु कुमार मुनिराज के मन में साधर्मी मुनियों के प्रति तीव्र वात्सल्य की भावना जागृत हुई। तपस्या से उन्हें विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गयी थी। वे वात्सल्य भावना से ओतप्रोत होकर उज्जयिनी से चातुर्मास काल में हस्तिनापुर आये। अपनी पूर्व अवस्था में भाई वहाँ के राजा पद्म को डाँटा। राजा ने उनसे निवेदन किया—हे मुनिराज! आप ही इस उपसर्ग को दूर करने में समर्थ हैं। तब मुनि विष्णु कुमार ने वामन का वेष बनाकर बलि से अढ़ाई पैर जमीन दान में माँगी। बलि ने देने का संकल्प किया। मुनिराज ने विक्रिया ऋद्धि से विशाल शरीर बनाकर दो कदम में सारा अढ़ाई द्वीप नाप लिया, तीसरा कदम रखने की जगह नहीं मिली। तब रक्षा करो, क्षमा करो कि ध्वनि गूंजने लगी। बलि ने भी क्षमा मांगी। मुनिराज तो क्षमा के भंडार ही होते हैं। उन्होंने बलि को क्षमा प्रदान की। उपसर्ग दूर होने पर, विष्णु कुमार ने पुनः दीक्षा धारण की। सभी ने मिलकर विष्णु कुमार की पूजा की।

अगले दिन श्रावकों ने भक्ति से मुनियों को खीर-सिवई का आहार दिया और आपस में एक दूसरे को रक्षा सूत्र बाँधे।यह निश्चय किया कि विष्णुकुमार मुनिराज की तरह वात्सल्य भावनापूर्वक धर्म एवं धर्मायतनों की रक्षा करेंगे। तभी से वह दिन प्रतिवर्ष रक्षाबंधन के पर्व के रूप में श्रावण सुदी पूर्णिमा को मनाया जाने लगा। इसी दिन बहनें भाइयों के हाथ में राखी बाँधती है।

दर्शन प्रतिज्ञा में प्रसिद्ध मनोवती

गजमोती चढ़ाकर भगवान् के दर्शन कर भोजन करने का अटल नियम निभाने वाली इतिहास प्रसिद्ध महिला मनोवती भी इसी हस्तिनापुर की थी। यह नियम उसने विवाह के पूर्व लिया था। विवाह के पश्चात् जब ससुराल गई तो वहाँ संकोचवश कह नहीं पाई। तीन दिन तक उपवास हो गया। जब उसके पीहर में सूचना पहुंची तो भाई आया, उसे एकांत में मनोवती ने सब बात बता दी। उसके भाई ने मनोवती के स्वसुर को बताया। तो उसके स्वसुर ने कहा

कि हमारे यहाँ तो गजमोती का कोठार भरा है। तभी मनोवती ने गजमोती चढ़ाकर भगवान् के दर्शन करके भोजन किया।

इसके बाद मनोवती को तो उसका भाई अपने घर लिवा ले गया। इधर उन मोतियों के चढ़ने से इस परिवार पर राजकीय आपत्ति आ गई। जिसके कारण मनोवती के पति बुधसेन के छहों भाइयों ने मिलकर उन दोनों को घर से निकाल दिया। घर से निकलने के बाद मनोवती ने तब तक भोजन नहीं किया जब तक गजमोती चढ़ाकर भगवान् के दर्शनों का लाभ नहीं मिला। जब चलते-चलते थक गये तो रास्ते में सो गये। पिछली रात्रि में ही उन्हें स्वप्न होता है कि तुम्हारे निकट ही मंदिर है, शिला हटाकर दर्शन करो। उठकर, संकेत के अनुसार शिला हटाते ही, भगवान् के दर्शन हुए। वहीं पर चढ़ाने के लिए गजमोती मिल गये।

दर्शन करके भोजन किया। आगे चलकर पुण्ययोग से बुधसेन राजा के जमाई बन गये।

इधर वे छहों भाई अत्यंत दरिद्र अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। गाँव छोड़कर कार्य की तलाश में घूमते-घूमते छहों भाई, उनकी पत्नियाँ व माता पिता सभी वहाँ पहुँचते हैं जहाँ बुधसेन जिन मंदिर का निर्माण करा रहे थे। लोगों ने उन्हें बताया कि आप बुधसेन के यहाँ जाओ, आपको वे काम पर लगा लेंगे। वे सभी वहाँ पहुँचे, उनको काम पर लगाया। अन्त में बुधसेन मनोवती उन्हें पहिचान गये, सबका मिलन हुआ। सभी भाइयों भौजाइयों तथा माता-पिता ने क्षमा याचना की। धर्म की जय हुई।

सुलोचना जयकुमार

महाराज सोम के पुत्र जयकुमार भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति हुए। उनकी धर्मपरायण शीलशिरोमणि सुलोचना की भक्ति के कारण गंगा नदी के मध्य आया उपसर्ग दूर हुआ।

रोहिणी व्रत की कथा का घटना-स्थल भी यही हस्तिनापुर तीर्थ है।

जम्बूद्वीप की रचना

अनेक घटनाओं की श्रृंखला के क्रम में एक और मजबूत कड़ी के रूप में जुड़ गई जम्बूद्वीप की रचना। इस रचना ने विस्मृत हस्तिनापुर को पुनः संसार के स्मृति पटल पर अंकित कर दिया।

पूज्य आर्यिका गणिनी ज्ञानमती माताजी को सन् १९६४ में श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् बाहुबली के चरणों में, ध्यान करते हुए इस रचना के दिव्य दर्शन हुये थे। बीस वर्ष पश्चात् यहाँ हस्तिनापुर में आकर उसे साकार रूप प्राप्त हुआ।

जम्बूद्वीप रचना निर्माण के इतिहास में प. पू. आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज का

नाम भी अमर हो गया। आचार्य श्री का जम्बूद्वीप स्थल पर सन् १९८७ में १ मार्च को अपने विशाल संघ सहित पदार्पण हुआ। प्रथम हुआ भगवान पार्श्वनाथ का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव ६ मार्च से ११ मार्च तक। उसी महोत्सव के मध्य ८ मार्च को मध्यान्ह में विशाल जनमेदिनी के समक्ष आचार्य श्री ने अपने करकमलों से मुझे क्षुल्लक दीक्षा प्रदान कर अनुग्रहीत किया।

तीसरा कार्य हुआ सुमेरूपर्वत पर स्वर्ण कलशारोहण का। हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप के मध्य निर्मित ८४ फुट ऊंचे सुमेरू पर्वत पर, स्वर्ण कलश पूज्य आचार्यश्री की समुपस्थिति में आरोहित किया गया।

चौथा कार्य हुआ युग प्रतिक्रमण का। आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमतीजी की वर्षों से युगप्रतिक्रमण की भावना थी। ग्रंथों में जहाँ प्रतिक्रमण का वर्णन है वहाँ ७ प्रकार के प्रतिक्रमण माने हैं इनके अतिरिक्त युगप्रतिक्रमण करने का विधान भी उल्लिखित है। यह प्रति ५ वर्ष में किया जाता है। इसमें तत्कालीन समय के सभी संघ मिलकर प्रतिक्रमण करते हैं। वर्तमान में यह परंपरा नहीं चल पा रही है। माताजी के आग्रह विशेष से एवं शास्त्रसम्मत होने से आचार्यश्री ने इसे सम्पन्न किया। पाँच वर्ष पश्चात् पुनः इस युग प्रतिक्रमण को विशाल रूप में करने की घोषणा आचार्य श्री ने की।

एक और विशेष निर्णय यह हुआ कि निम्न ५ तिथियों की प्रतिवर्ष अधिकृत घोषणा आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज एवं आर्यिकारत्न ज्ञानमती के परामर्श से पूर्व में की जावेगी जिससे कि वह पर्व सम्पूर्ण देश भर में एक ही दिन मनाया जा सके। वे तिथियां है- (१) महावीर जयंती (२) वर्षायोग स्थापना (आषाढ़ शुक्ला) (३) अनंत चतुर्दशी, (४) क्षमावाणी और (5) दीपावली।

ऐसे दानतीर्थ हस्तिनापुर क्षेत्र का दर्शन महान् पुण्य फल देने वाला है।

उत्तर प्रदेश के जैनतीर्थ

❑ श्रीमती पुष्पा जैन

वाराणसी :— इस नगर में भदेनीघाट सातवें तीर्थंकर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म स्थान है। भेलुपूर में तेइसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि है। शहर में अन्य कई मंदिर दर्शनीय हैं।

सिंहपुरी :— बनारस से ७ मील। यहाँ श्रेयांसनाथ भगवान् के गर्भ जन्म, तप ये तीन कल्याणक हुए। यहाँ बौद्ध मंदिर आदि अन्य स्थान देखने योग्य हैं।

चन्द्रपुरी :— बनारस से १३ मील अथवा सारनाथ से ७ मील पर गंगा किनारे। यहाँ पर चन्द्रप्रभ भगवान् का जन्म हुआ था।

प्रयाग :— यहां त्रिवेणी संगम के पास एक पुराना किला है। उसमें एक बड़ का पेड़ है। कहते हैं कि श्री ऋषभदेव ने यहाँ तप किया था।

अयोध्या :— यह नगरी आदिनाथ, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, अनन्तनाथ भगवान् का जन्म-स्थान है।

रत्नपुरी :— फैजाबाद जिले में सोहावल स्टेशन से १-$^{1}/_{2}$ मील। यहाँ धर्मनाथ स्वामी के चार कल्याणक हुए हैं।

कौशाम्बी :— प्रयाग से ३२ मील पर फभौसा ग्राम के पास। यहाँ पर पद्मप्रभ स्वामी के चार कल्याणक हुए हैं।

कम्पिला :— कानपुर कासगंज लाइन पर। कायमगंज स्टेशन से ८ मील। यहाँ विमलनाथ स्वामी के चार कल्याणक हुए हैं।

अहिक्षेत्र :— बरेली-अलीगढ़ लाइन पर आमला स्टेशन से ८ मील राम नगर गांव से लगा हुआ यह क्षेत्र है। इस क्षेत्र पर तपस्या करते हुए श्री पार्श्वनाथ के ऊपर कमठ ने घोर उपसर्ग किया था। पार्श्वनाथ को यही पर केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

हस्तिनापुर :— मेरठ से २२ मील श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, और अरहनाथ तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, कल्याणक हुए हैं। कुछ ही वर्ष हुए जम्बूद्वीप की बहुत सुन्दर रचना हुई है।

चौरासी :— मथुरा शहर से १ मील। यहाँ से जम्बूस्वामी मोक्ष गए हैं।

शौरीपुर :— शिकोहाबाद से १० मील वट्टेश्वर ग्राम है। यहाँ पर नेमिनाथ स्वामी के गर्भ और जन्म ये दो कल्याणक हुए हैं।

देवगढ़ :— ललितपुर के निकट (जालौन स्टेशन से ८ मील दूर पर) है। भ. शान्तिनाथ की १२ फीट उत्तुंग विशाल प्रतिमा दर्शनीय है

अहार :— ललितपुर स्टेशन से ३६ मील टीकमगढ़ है। वहां से १२ मील पूर्व में यह क्षेत्र स्थित है। यहाँ पर १८ फुट उत्तुंग भगवान् शान्तिनाथ की सर्वोत्तम प्रतिमा तथा विशाल संग्रहालय हैं।

साथ ही कुंडलपुर, नैनागिर, सोनागिरि, बड़ागांव, सरधना, कौशाम्बी आदि क्षेत्र भी उत्तर भारत में बहुत प्रसिद्ध हैं।

मध्यप्रदेश के दि. जैन तीर्थों का संक्षिप्त परिचय

❑ सत्यंधरकुमार सेठी

भारतीयै संस्कृति को जीवित रखने के लिए तीर्थ वास्तव में प्रेरणास्रोत हैं। इसीलिए विश्व के समस्त धर्मों ने तीर्थों को स्वीकार किया है। तीर्थ वे स्थान हैं जहाँ पर बैठकर विश्व के माने हुए संतों ने आत्म-साधना की है और उस साधना के बल पर आत्मशांति प्राप्त करके जीवन को उन्नत बनाया है। तीर्थस्थल तपोभूमियाँ हैं। इन पर जाने से मानव को जीवन-निर्माण की प्रेरणायें मिलती हैं।इसीलिए प्रत्येक धर्म के अनुयायी प्रतिवर्ष इन तीर्थस्थलों की यात्रा के लिए जाते हैं और एकांत साधना करके अपने जीवन को सार्थक मानते हैं। जैनधर्म ने भी तीर्थों को वह आदर्श रूप दिया है जहाँ जाने पर पुण्य की प्राप्ति तो होती ही है, साथ ही संसार के भयावह दुःखों से छूटकर मानव को मुक्ति की भी प्राप्ति होती है।

स्वयं लेखक ने अपने जीवनकाल में परमपूज्य श्री सम्मेदशिखर जैसे पवित्रस्थल की अनेक बार वंदना की है और अनुभव किया है कि वहाँ जाने पर मानव को अवश्य जीवन जीने की प्रेरणायें मिलती हैं। यात्रायें व तीर्थों की वंदना रुढ़ि के रूप में न होकर आत्म साधना के रूप में होनी चाहिये। सम्मेदशिखर जैनों का सबसे बड़ा मुक्तिधाम माना जाता है और मेरी मान्यता है कि यह एक आदर्श चमत्कारी क्षेत्र है। सम्मेदशिखर ऐसे अनंतानंत साधकों की तपोभूमि है जिन्होंने संयम, तप और त्याग के बल पर अपने जीवन का निर्माण किया है और आत्यंतिक शांति प्राप्त की है। इसीलिए उन महान् संतों की चरणरज से पवित्र यह जड़भूमि भी वंदनीय और आराधनीय मानी गई है। ऋषियों ने भी ऐसा लिखा है कि यदि भावपूर्वक एक बार भी इन पवित्र भूमियों की वंदना की जाय तो मानव का जीवन सार्थक तो होता ही है लेकिन वह दुर्गति से भी बच जाता है। हमारे ये तीर्थ भारत के कोने कोने में फैले हुए हैं। मेरी तो मान्यता है कि प्रतिवर्ष इन पवित्र भूमियों पर जाना चाहिये। परम पूज्य १०८ श्री आचार्य विद्यानंदजी महाराज की प्रेरणा से लेखक को बद्री नारायण जैसे धाम की भी यात्रा करने का सौभाग्य मिला है। यह वास्तव में भगवान् ऋषभदेव की निर्वाणभूमि कैलाशपर्वत है। मैं स्वयं तीन दिन तक उस पवित्र धाम पर रहा और बद्रीनारायण मठ के प्रधान संचालक रावलजी की कृपा से उस महान् मूर्ति के सही रूप में दर्शन करने का सौभाग्य मिला, जो वास्तव में भगवान् ऋषभदेव की है। मूर्ति श्याम पाषाण में पद्मासन अतिमनोज्ञ और वीतराग छटायुक्त है। मैंने सपरिवार पाँच मिनिट तक दर्शन करके अपने जीवन को धन्य माना। हमने उन रावलजी के प्रति आभार प्रकट किया। यह वास्तव में भगवान् ऋषभदेव की तपोभूमि रही है और यही

उनका निर्वाण स्थल रहा है। यह स्थान शैव और जैनों के संघर्ष में शैवों के हाथ में चला गया। आज भी शंकराचार्य जी का वहाँ पीठ है और उसी की जबर्दस्त मान्यता है। हम हरिद्वार गये, हरिद्वार से ऋषिकेश और ऋषिकेश से बस द्वारा बद्रीनारायण पहुँचे। ऋषिकेश और बद्रीनारायण के बीच गढ़वाल श्रीनगर भी आता है। वहां पर जैन मंदिर भी है और १०-१२ घर जैन भाइयों के भी हैं। उसी मंदिर में अति प्राचीन भगवान् ऋषभदेव के चरण चिन्हों का दर्शन करने का सौभाग्य मिला। हमने निर्णय लिया कि वास्तव में यही भगवान् आदिनाथ का निर्वाण स्थल है। वहाँ के दर्शनों के बाद मैं परमपूज्य आचार्य विद्यानंदजी महाराज के चरणों में पहुँचा, मैंने समस्त वृतांत सुनाया। वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मेरी पीठ ठोकी और आशीर्वाद दिया कि तेरा कल्याण हो गया। मैंने अपनी इस यात्रा का वर्णन सब ही पत्रों में भेजा। मैंने लिखा कि यही भगवान् ऋषभदेव की तपोभूमि और निर्वाणस्थल है। जैनों का कर्तव्य है कि वहाँ जाएँ और इसे निर्वाण भूमि घोषित करें। इस पर इन्दौर के सुप्रसिद्ध समाजसेवक माननीय सेठ देवकुमार सिंहजी साहब कासलीवाल का ध्यान गया। उन्होंने इसके लिए अथक प्रयास किया और उन्हीं के प्रयास का यह फल है कि आज यह सिद्धक्षेत्र घोषित हो गया। माननीय कासलीवालजी ने लाखों रुपये खर्च करके श्री आदिनाथ फाउण्डेशन स्वाध्याय मंदिर की स्थापना करके भगवान् ऋषभदेव के चरण चिन्ह श्रीनगर से लाकर स्थापित कर दिये। आज हमारा वह स्वप्न विफल हो गया कि कैलाशपर्वत के दर्शन नहीं हो सकते। वास्तव में हमारे तीर्थ भारत की पावन भूमि के हर क्षेत्र में हैं। जैनों का कर्तव्य हैं कि वे इन पावन क्षेत्रों के संरक्षण में अपने जीवन का कुछ समय अर्पित करें।

मैं मध्य प्रदेश के तीर्थों का संक्षिप्त परिचय देने के पहले यह लिख देना चाहता हूँ कि इन तीर्थों के निर्माण में मध्य प्रदेश का सर्वोपरि स्थान है। यहाँ के तीर्थ हर तरह से समृद्ध हैं। मध्य प्रदेश में सिद्धक्षेत्र और निर्वाण-भूमियाँ तो हैं ही लेकिन कला और स्थापत्य के क्षेत्र में इसका सर्वोपरि स्थान है। मध्य प्रदेश के कण-कण पर पुरातत्व संपदायें इतनी बिखरी पड़ी है जिन्हें बटोरने का प्रयास आज तक जैन समाज ने नहीं किया। मैं करीब ४० वर्ष पहले उज्जैन आया था। आते ही यहाँ के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय श्री मान् पंडित अनंतराजजी वैद्य से संपर्क हुआ। उनकी एक घुमक्कड़ पार्टी थी। उस पार्टी का एक ही काम था— घूमने के लिए जाना और प्राचीन स्थलों को देखना। उन्होंने मुझे प्रेरणा दी कि आप पुरातत्व के प्रेमी हैं। यहाँ चारों तरफ जैनों की पुरातत्व सामग्री, मूर्तियों के खण्डित पादपीठ, सिर और सुंदर से सुंदर कलाकृतियाँ बिखरी पड़ी हैं। आप देखिये तो सही उनकी क्या दुर्दशा है! उनके इन शब्दों ने प्रेरित किया। देखने पर दुर्दशा नहीं देखी गई। आँखों से अश्रुधारा निकल पड़ी। मेरी अंतर-आत्मा ने जबाब दिया कि जैन समाज नये-नये मंदिर और मूर्तियों का निर्माण प्रतिवर्ष कराता है लेकिन अपनी प्राचीन वैभव सम्पदा संजोने के लिए तैय्यार नहीं। मैंने अपने आपको तैयार किया और उज्जैन में मालवा प्रांतीय दि. जैन पुरातत्व संग्रहालय की स्थापना कर दी।

इसमें श्री मान् सेठ लालचंदजी सेठी, स्वर्गीय पं. अनंतराजजी वैद्य का अविस्मरणीय सहयोग रहा। आज उस संग्रहालय में करीब ५५३ दर्शनीय कलाकृतियों एवं भग्नमूर्तियों के अवशेष संकलित हैं जिनको देखने के लिए न्यूयार्क तक के विदेशी विद्वान् आये हैं और वे लिखकर गये हैं कि यह अमूल्य धरोहर है। इसका संग्रह हर दृष्टि से बेजोड़ है। ऐसा संग्रह भारत में अलभ्य है।

मध्य प्रदेश ऐसा गौरवमय प्रदेश है, जिनकी कण-कण भूमि इस पुरातत्व संपदा से परिपूर्ण है। उज्जैन-भूपाल मार्ग में एक गंधर्वपुरी स्थान है जहाँ अगणित मूर्तियाँ गाँव जंगल में बिखरी पड़ी हैं। ग्राम के लोगों ने मकान और पाखाना तक के निर्माण में इन कलाकृतियों का उपयोग किया है। गंधर्वपुरी में ऐसे अनगिनत पत्थर हैं जिन पर जैन संस्कृति के प्रतीक कलापूर्ण मूर्तियाँ अंकित हैं। मध्य प्रदेश में ऐसे अनेक स्थान हैं जैसे वदनावर, सुंदरसी, सुसनेर, जामनेर, पचौर, भैंवरासा, गौंदल, मऊ का तालाब, नागदा, नरवर, कुक्षी, गंधर्वपुरी आदि, जहाँ अगणित पुरातत्व संपदा अवशेष कलाकृतियाँ बिखरी पड़ी है। मध्य प्रदेश में बावनगजाजी, सिद्धवरकूट, पावापुरी ऊन, द्रोणगिरि, सोनागिरि, नैनागिरि, कुण्डलपुर, उज्जैन आदि अनेक निर्वाण भूमियाँ है। तथा बजरंगगढ़, थोबनजी, चंदेरी, अहारजी, पपौराजी, गोलाकोट, पचरोई, देवगढ़, बदोरीबंद, सिंहोनिया, ग्वालियर का किला, पनागर, बन्धा कोनीजी, मक्सी पार्श्वनाथ आदि अनेक अतिशय क्षेत्र हैं।इनके अलावा खजुराहों, बदनावर आदि अवर्णनीय कलाक्षेत्र हैं जिनके बल पर आज का मध्यक्षेत्र उत्तुंग मस्तक की तरह गौरव के साथ खड़ा है।

इन तीर्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

बावनगजा/चूलगिरि

सबसे पहिले मैं लिख रहा हूँ उस परम पावन तपोभूमि बावनगजा जी पर जो चूलगिरि के नाम से प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र से इन्द्रजीत और कुंभकर्ण आदि दि. संतो ने निर्वाण प्राप्त किया है। इस क्षेत्र पर सबसे बड़ा आकर्षण है युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ स्वामी की वह विशाल प्रतिमा जो मानवता का संदेश देती हुई हजारों वर्षों से अडिग खड़ी है। यह विश्व में एक अलौकिक दिगम्बर जैन प्रतिमा है। यह मूर्ति ८४ फीट ऊंची है और बावनगजाजी के नाम से विख्यात है। अलौकिक इसके चमत्कार हैं। इतनी विशाल प्रतिमा का निर्माण करके कला को जीवित रखने में जैनों का प्रथम स्थान है। क्षेत्र पर अति मनोज्ञ २९ जिन मन्दिर हैं। आठ जिन मन्दिर पहाड़ पर हैं और २१ जिन मंदिर पहाड़ की तलहटी में। भगवान् आदिनाथ की विशाल मूर्ति के दर्शनार्थ भारत के अलावा विदेशी पर्यटक भी बहुत आते हैं। अति प्राचीन होने के कारण मूर्ति कहीं-कहीं विकृत की गई थी जिसका सुधार अभी भारत के माने हुए शिल्पकारों के देखरेख में हो चुका है। इस पावन क्षेत्र पर आवागमन के साथ ठहरने आदि

की पूर्णतः सुव्यवस्था है।

इसी क्षेत्र से कुछ दूरी पर 'पावागिरि' सिद्धक्षेत्र है। यह क्षेत्र ऊन के नाम से प्रसिद्ध है। पावागिरी के शिखर और चेलना नदी के तट से परमपूज्य तपोनिधि सुवर्णभद्र आदि चार मुनिराजों ने निर्वाण प्राप्त किया है। इनका विशेष परिचय अनुपलब्ध है। यहाँ पर कभी बल्लाल राजा ने ९९ मंदिरों का निर्माण कराया था। एक मंदिर का निर्माण न हो सका इसलिए इस क्षेत्र का नाम ऊन पड़ गया। अभी १२ मंदिर सुरक्षित हैं। अन्य मंदिरों के भग्नावशेष विपुल मात्रा में आज भी बिखरे पड़े हैं। यह क्षेत्र अति प्राचीन है। दशवीं बारहवीं शताब्दी के लेख प्रमाण रूप में आज भी उपलब्ध है। इस क्षेत्र के संबंध में अनेक चमत्कारिक घटनाओं को लेकर किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। हजारों यात्री वर्ष भर आते रहते हैं। क्षेत्र पर धर्मशालायें है। सर्व तरह की सुविधाएं हैं। अनेक संस्थायें भी चल रही है।

सिद्धवर कूट

यह इस प्रांत में ऐतिहासिक क्षेत्र हैं। इसके आसपास अनुसंधान करने से विपुल मात्रा में प्राचीन कलाकृतियों की प्राप्ति हुई है। यह भी सिद्ध क्षेत्र है। यह क्षेत्र रेवा नदी के तट पर स्थित है। यहाँ से रावण के पुत्र, दो चक्री, दस काम कुमार और पाँच करोड़ मुनिराजों ने तपस्या करके मुक्ति को प्राप्त किया है। यह क्षेत्र सबसे प्राचीन क्षेत्र है। इसी नदी के दूसरे तट पर मान्धाता के नाम से प्रसिद्ध ओंकारेश्वर मन्दिर है। और इसी मन्दिर के आसपास का स्थल ही हमारा निर्वाणक्षेत्र है जहाँ पर खुदाई होने पर मानस्तंभ व कलापूर्ण मूर्तियों की प्राप्ति हुई हैं। यह स्थान अति रम्य और मनोहर है। साधना स्थल है। आज भी यहाँ आने पर अमिट शान्ति का अनुभव होता है। क्षेत्र पर दर्शनार्थ आने वाले यात्रियों के लिए सुविधायें हैं। यहां पर दस दिगम्बर जैन मंदिर हैं जिनमें विशाल प्रतिमायें विराजमान हैं।

रेशिंदीगिरि

रेशिंदीगिरि भी सिद्धक्षेत्र है जो जैनगिर के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर भगवान् पार्श्वनाथ का समवसरण आया था। पाँच परमपूज्य दिगम्बर संतों ने निर्वाण भी प्राप्त किया है जिसके प्रमाणस्वरूप उन पांच महान् संतों की अति मनोज्ञ मूर्तियाँ विराजमान है। संतों के नाम हैं बरदत्त, इन्द्रदत्त, गुणदत्त और सागरदत्त। यह पहाड़ी साधारण ऊँची है। यहाँ पर समस्त ४१ जिन मंदिर हैं जिनमें ३६ जिन मंदिर ऊपर पहाड़ी पर हैं और १४ जिनमंदिर नीचे सरोवर पर निर्मापित हैं। इन में क्रमाङ्क ११वां मंदिर बड़ा विशाल है। यह मंदिर सौ वर्ष पहले जमीन से प्राप्त हुआ था। इसमें ११ वीं शताब्दी की महामनोज्ञ मूर्तियाँ विराजमान हैं। रेशिंदीगिरि क्षेत्र से अति विशाल द्रोणगिरि सिद्ध क्षेत्र है। यह पर्वत पर है। २३२ सीढ़ियाँ बनी हुई है।

पास में सेंधपा नाम का गांव है। इस क्षेत्र से गुरुदत्तादि मुनीश्वरों ने निर्वाण प्राप्त किया है। पर्वत पर २८ जिनालय हैं। अंतिम जिनालय के मुख्य द्वार के पास एक गुफा है। उसके बाहर गुरुदत्तादि मुनिराजों के चरणचिन्ह् हैं। क्षेत्र पर तीन धर्मशालायें हैं। यात्रियों के लिए सर्वसुलभ व्यवस्थायें हैं। क्षेत्र पर अनेक संस्थायें कार्य कर रही हैं। यहां पर एक उदासीन आश्रम भी है। यह क्षेत्र इस प्रांत में अति प्रसिद्ध और वंदनीय माना जाता है। इस क्षेत्र का इतना प्रभाव है कि यहाँ किसी भी प्राणी का शिकार वर्जनीय है।

सोनागिरि सिद्धक्षेत्र

सोनागिरि सिद्धक्षेत्र काफी ख्यातिप्राप्त निर्वाणभूमि है। यह अनन्त साधकों की तपोभूमि रही है इसलिए इसे श्रमणगिरि और स्वर्णगिरि नाम से भी कहा जाता है। इस पवित्र क्षेत्र से महामुनि नंग और अनंग कुमार आदि साढ़े पांच करोड़ मुनिराजों ने आत्मलाभ लिया है। भगवान् चन्द्रप्रभु का समवसरण भी यहाँ आया है। अनेक मुनिराजों ने केवल ज्ञान भी प्राप्त किया है। पर्वत पर ७७ जिन मंदिर हैं। १३ छत्रियाँ है। नीचे तलहटी में १७ मंदिर और ४ छत्रियाँ है। पहाड़ पर मुख्य मंदिर भगवान् चन्द्रप्रभु का है। इस मंदिर में भगवान् चन्द्रप्रभ की मूलनायक प्रतिमा विशाल और अतिमनोज्ञ है। इसी मंदिर के पास नंगअनंग आदि मुनिराजों के चरणचिन्ह् भी हैं। यहाँ पर दो स्थान दर्शनीय हैं—नारियल कुण्ड बाजिनी शिला। क्षेत्र पर १४ धर्मशालायें हैं। यह परमपूज्य आचार्य विमलसागरजी महाराज का दीक्षास्थल भी है।

कुण्डलपुर

यह सिद्धक्षेत्र भी माना जाता है और अतिशय क्षेत्र भी। यहाँ से अन्तिम अनुबुद्ध श्रीधर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। उनके चरणचिन्ह् भी यहाँ अंकित हैं। यहाँ पर ६१ जिनमंदिर है। एक मानस्तंभ हैं। नं. ११ बड़े बाबा का मंदिर कहलाता है। इस मंदिर में श्रीधर केवली की मूर्ति विराजमान है जो साढ़े बारह फीट ऊंची है। क्षेत्र पर धर्मशालायें हैं। सरोवर भी है। यह एक आकर्षक अतिमनोज्ञ अतिशय क्षेत्र है। असंख्य यात्री आते रहते हैं।

उज्जयिनी

भारत में उज्जैन या उज्जयिनी नगर का भी काफी महत्व है। यह भारत का प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। भगवान् ऋषभदेव ने जिन जनपदों की स्थापना की थी उनमें अवंती नाम का भी उल्लेख है। उज्जयिनी को अवन्ती भी कहा जाता है। जैन साहित्य में इससे संबंधित अनेक कथानक मिलते हैं। उज्जैन अतिशय क्षेत्र तो है ही, यह सिद्धक्षेत्र भी है। यहाँ से परमपूज्य

अभयघोष मुनिराज ने निर्वाण प्राप्त किया है। रक्षा बंधन पर्व का संबंध भी यहाँ ही से है। अवंती सुकुमाल, मैनासुंदरी-श्रीपाल, सिद्धसेन दिवाकर, मानतुंग स्वामी, धनंजय कवि आदि की भी साधनाभूमि रही है। भगवान् महावीर की उपसर्ग भूमि भी यही है। सुप्रसिद्ध महाकाल का मंदिर भी किसी समय जैनों का मंदिर था। इस मंदिर का निर्माण सुकुमाल स्वामी के पुत्र ने उनकी स्मृति में बनवाया था, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। जर्मन लेडी क्राउले ने इस पर काफी प्रकाश डाला है। इसके आसपास से काफी पुरातत्व सामग्री उपलब्ध हुई है। निकट ही जयसिंहपुरा अतिशय क्षेत्र है। जहाँ सुप्रसिद्ध मालवा प्रांतीय दिगम्बर जैन पुरातत्व संग्रहालय है। उसमें ५५५ कलाकृतियाँ दर्शनीय हैं। इसमें जो सामग्री एकत्रित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस तरह सिद्धक्षेत्रों का हमने संक्षिप्त परिचय दिया। अब अतिशय क्षेत्रों के पहले उन स्थलों का परिचय दे देना उचित होगा जो कलाकृतियों और इतिहास से संबंधित हैं।

खजुराहो

खजुराहो छतरपुर के पास है। यह विश्वभर में उत्कृष्ट शिल्प-कलाकृतियों के कारण सुप्रसिद्ध स्थान है। यहाँ के जैन मंदिर और हिन्दू मंदिर उत्कृष्ट कलाकृति के कारण दर्शनीय हैं। मंदिरों में पार्श्वनाथ का मंदिर और शांतिनाथ का मंदिर उच्च कोटि की कला के कारण दर्शनीय है। ये कलाकृतियाँ एक हजार वर्ष प्राचीन हैं। भगवान् शांतिनाथ की मूर्ति १६ फीट ऊंची अतिमनोज्ञ और दर्शनीय है। यहाँ पर प्राचीन मूर्तियों का संग्रहालय भी है।

पपौराजी

टीकमगढ़ के पास में ही यह अतिशय क्षेत्र है। यहाँ कुल १०७ मंदिर और ४ मानस्तंभ है। यह मंदिरों की नगरी कही जाती है। मंदिरों की रचनायें अद्भुत और आकर्षक हैं। चारों दिशाओं में पंक्तिबद्ध मन्दिर हैं। इसमें चारों तरफ गोलाकार २४ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ भी बनी हुई हैं। क्षेत्र पर धर्मशालायें हैं। कार्तिक में मेला भी भरता है।

अहारजी क्षेत्र

पपौराजी के पास ही अहारजी अतिशयक्षेत्र है। यहाँ पर पाड़ाशाह द्वारा बनाया गया भगवान् शांतिनाथ का मंदिर है। यह मूर्ति १७ फीट ऊंची है। मूर्ति अतिमनोज्ञ और आकर्षक है। यहाँ हॉल में १२ वेदियाँ हैं जिनमें २० वेदियाँ सीमंधर आदि विदेहक्षेत्र के विद्यमान बीस तीर्थंकरों की हैं। छह मंदिर अलग हैं। मानस्तंभ है। एक छोटी पहाड़ी है जहाँ ६ जिनमंदिर है। यहाँ पर एक संग्रहालय भी है। क्षेत्र पर अच्छी व्यवस्था है।

मुरैना और ग्वालियर के बीच में एक सिंहानिया अतिशय क्षेत्र है। यहाँ पर भगवान् शांतिनाथ की १६ फीट ऊंची अति मनोज्ञ प्रतिमाजी है। यह मूर्ति भी भूगर्भ से प्राप्त हुई है।

ग्वालियर और उनके आस-पास

यह नगर तीन भागों में विभक्त हैं। लश्कर, ग्वालियर, और मुरार। यहाँ पर अनेक विशाल जैन मंदिर हैं और अनेक धर्मशालायें हैं। ग्वालियर में ४ जिन मंदिर, ४ चैत्यालय, लश्कर में २0 मंदिर ३ चैत्यालय तथा मुरार में २ मंदिर २ चैत्यालय हैं। यहाँ विशेष दर्शनीय है ग्वालियर का प्राचीन किला। इस किले में करीब १५00 जिनमूर्तियाँ हैं। यह सब पहाड़ में उकेरी हुई हैं। इन सबमें दर्शनीय मूर्ति भगवान् आदिनाथ की ५७ फीट ऊंची खड़गासन है। इसी तरह एक पत्थर की बावड़ी पर ३५ फीट ऊंची पद्मासन प्रतिमा भगवान् सुपार्श्वनाथ की है। ये सब मूर्तियाँ १५ वीं शताब्दी में महाराज डूगरसिंह कीर्ति सिंह और मानसिंह के द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी, ऐसा उल्लेख है। इन मूर्तियों में अधिकांश मूर्तियाँ खण्डित हैं। ग्वालियर के पास ही पनिहार बरई एक स्थान है जहाँ पर अनगिनत जैन मूर्तियों के खंडित अवशेष बिखरे पड़े हैं। इसी के पास शिवपुरी है जहाँ कई प्राचीन अवशेष हैं, शिलालेख हैं। आसपास में अनेकानेक प्राचीन मूर्तियों के अवशेष बिखरे पड़े है। यहाँ पर सरकारी संग्रहालय है, जिसमें संग्रहीत जैन मूर्तियों का विशाल वैभव एकत्रित है। इसी तरह पास में ही गोलाकोट खनियाधाना है। गोला कोट भी एक दर्शनीय स्थल है। भयंकर जंगल है। यहां पर ११५ मूर्तियाँ है जिनके दर्शनमात्र से मानव के पापों का क्षय हो जाता है।

खनियाधाना के पास ही पचराई क्षेत्र है। यहाँ २८ जैन मंदिर हैं। किसी युग में यहाँ के एक विशेष मंदिर के निर्माण में प्रतिमाओं पर हीरे की पालिश की गई थी। मूर्तियाँ एक से एक मनोज्ञ थी। लेकिन दुष्टों ने इनको भी नहीं छोड़ा और बेरहमी के साथ खण्डित कर डाला।

बजरंगगढ़

यह अति मनोज्ञ चमत्कारिक क्षेत्र इन्दौर-ग्वालियर मार्ग पर अवस्थित है। यहाँ के मंदिर का निर्माण पाड़ाशाह ने संवत् १२३६ में कराया था। मंदिर के गर्भगृह में १४ फीट ऊंची भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमा विराजमान है। पास में ही गुना शहर है।

थोबनजी

अशोकनगर से थोबनजी जाने का मार्ग है। एक समय यह सुप्रसिद्ध तपोभूमि रही है।

इस क्षेत्र के चारों तरफ वीतरागता के दर्शन होते हैं। सही रूप में यह साधनाभूमि है। यहाँ २५ दि. जैन मन्दिर हैं। यहाँ पर सभी प्रतिमाएँ खड़गासन रूप में विराजमान हैं। मन्दिर नं. १५ की मूर्ति भगवान् ऋषभदेव की है जो २५ फीट ऊंची एवं अति आकर्षक है और लोगों की दृष्टि में चमत्कारिक मानी जाती है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ से हटने की इच्छा नहीं होती है। यहाँ रहने से मानव को बड़ी शांति मिलती है।

चंदेरी

थोबनजी से चंदेरी २२ किलोमीटर है। यहाँ पर दो जैन मंदिर हैं जिनमें एक बड़ा मंदिर है जहाँ महामनोज्ञ सुप्रसिद्ध २४ तीर्थंकरों की २४ प्रतिमायें अलग-अलग गर्भगृह में विराजमान है। चंदेरी की यह चौबीसी भारत भर में प्रसिद्ध हैं। चंदेरी के पास ही खन्दार नाम का एक पहाड़ है जिसमें अति प्राचीन मूर्तियाँ खुदी हुई है। ऐसे ही पजनारी, बीनाबारहा मंदिर है जो पहाड़ी पर है। बीनाबरहा में भगवान् शांतिनाथ की १५ फीट ऊंची प्रतिमा है। भगवान् महावीर की १३ फीट ऊंची पद्मासन प्रतिमा भी है। यह प्रतिमा दीवार से ईंट गारे से बनी हुई है। इसका जल से अभिषेक नहीं होता है। यहाँ पर एक जिनमंदिर है। यह स्थान भी अतिप्राचीन है। कई स्थानों पर मंदिरों के स्तंभ, तोरणद्वार गली-कूचों तक में बिखरे पड़े हैं।

पटनागंज

देवरीकलाँ, सागर से यहाँ पहुँचते हैं। बस-सेवा उपलब्ध है। यह सुवर्णभद्र नदी के तट पर अवस्थित है। यहाँ पर २५ जिनमंदिर हैं। यहाँ भगवान् महावीर की सातिशय प्रतिमा है। यह बड़े देव के नाम से पुकारे जाते हैं। यहाँ मंदिर नं. २३ में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा है जिसके सिर पर सहस्रफणयुक्त सर्प है। ऐसा फण अन्यत्र नहीं देखा जाता है। इसी पटनागंज के पास लखनादौन, जबलपुर मंढियाजी आदि पवित्र स्थल हैं। जबलपुर से कोनीजी जाया जाता है। वहाँ ९ जिनमंदिर हैं। एक सहस्रकूट चैत्यालय भी हैं। नदीश्वरद्वीप चैत्यालय भी अतिमनोज्ञ है।

जबलपुर से पनागर जाना चाहिये। इस नगर में १७ जिनमंदिर है। एक मंदिर में भगवान् ऋषभदेव की सातिशय मूर्ति है जिसके कारण से ही यह अतिशय क्षेत्र भी कहलाता है।

बहोरीबन्द

पनागर से सिहोरा, सिहोरा से बहोरीवन्द जाने का पक्का रास्ता है। यहाँ पर भगवान् शांतिनाथ की १४ फीट ऊंची पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। यहाँ से काफी प्राचीन मूर्तियाँ भूगर्भ से

प्राप्त हुई है।

ग्यारसपुर

बहोरीवंद से ग्यारसपुर जाना होता है। यहाँ पर कलापूर्ण दर्शनीय दो दिगम्बर जैनमंदिर हैं। ग्यारसपुर से विदिशा और विदिशा से उदयगिरि जाना आवश्यक है। यहाँ पर अनेक गुफायें है। नं. २० की गुफा में गुप्त सं. १०६ का अभिलेख है तथा गुप्तकालीन अति प्राचीन मूर्तियाँ है। उदयगिरी से पठारी जाना चाहिये। वहाँ ८वीं ९वीं शताब्दी के दो जैन मंदिर है और अनेक पुरावशेष बिखरे पड़े हैं।

मक्सी पार्श्वनाथ

यह अतिशय क्षेत्र भारतवर्ष में काफी प्रसिद्ध है। यहाँ भगवान् पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमाएँ विराजमान है। यहाँ दो मन्दिर हैं। बड़े मंदिर की परिक्रमा में ४२ देहरियाँ हैं।

गंधर्वपुरी

उज्जैन और भोपाल मार्ग पर एक तरफ गंधर्वपुरी स्थान है। यहाँ पर हजारों जैन मूर्तियाँ पड़ी है। यह जैनों का प्राचीन वैभव है। बार-बार प्रयत्न करने पर सरकार द्वारा एक छोटा-सा संग्रहालय बनाया गया है। यहाँ पर खेतों, रास्तों और जंगलों में अनगिनत मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं जो जैनों की अमूल्य धरोहर है। किसी समय इस नगर पर गर्दभिल्ल राजा का अधिकार था।

इन्दौर

गंधर्वपुरी से देवास होकर इन्दौर जाना चाहिये। यहाँ पर जैनों के विशाल मंदिर हैं। सर हुकमचंद मार्ग पर सर सेठ हुकुमचंद द्वारा निर्मापित कांच का मंदिर दर्शनीय है। वहाँ से ही गोम्मटगिरि तथा बनेड़ियाजी अतिशय क्षेत्रों के दर्शनार्थ जाना चाहिये। गोम्मट गिरि अभिनव क्षेत्र है। जहाँ पर भगवान् बाहुबली की उत्तुंग और मनोहर मूर्ति है। उसी के आसपास २४ तीर्थंकरों की दर्शनीय चौबीस प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न कक्षों में विराजमान हैं। यह क्षेत्र छोटी सी पहाड़ी पर है। इस क्षेत्र के निर्माण में परमपूज्य आचार्य विद्यानंदजी की विशेष प्रेरणा रही है। गोम्मटगिरि से बैनेड़ियाजी जाना चाहिये। यह भी अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यहाँ की मूलनायक प्रतिमा भगवान् अजितनाथ की है। इस मंदिर में ४ वेदियाँ है।

बदनावर

धार जिले के अंतर्गत यह एक अति प्राचीन कस्बा है। मध्यकालीन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि बदनावर में प्राप्त समस्त सामग्री परमार कालीन सं. (१२०२ से संवत् १३३६ तक की) है। इस कस्बे के भीतर और बाहर अनगिनत पुरावशेष बिखरे पड़े है जिनसे इस नगर के प्राचीन वैभव का अनुमान होता है। प्राप्त सामग्री से ज्ञात होता है कि इस नगर में अनेक जैन मंदिर थे। प्राप्त शिलालेखों के आधार पर इस नगर के अनेक नाम पढ़ने में आते हैं जैसे वर्धनपुर, वर्धनापुर और वर्धमानपुर। वर्धमानपुर का अपभ्रंश नाम ही बदनावर है। इस नगर में चारों तरफ खण्डित-अखण्डित मूर्तियाँ, तोरण, स्तम्भ आदि स्थापत्य सामग्री विपुल मात्रा में बिखरी हुई है। यहाँ से कितनी ही पुरातत्व सामग्री व अवशेष मूर्तियाँ, दि. जैन संग्रहालय उज्जैन में एकत्रित करके ले जाई गई हैं। हरिवंशपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेनाचार्य को भी इसी बदनावर ग्राम के पास जन्म लेने का सौभाग्य मिला था। बदनावर के पास दो नदियों के तट मिलते हैं अतः आज भी उस गाँव का नाम दोत्रिया है। प्रसिद्ध इतिहासकार पं. नाथूलालजी और डा. हीरालालजी जैन बड़े असमंजस में थे कि हरिवंशपुराण में उल्लेखित दोस्तटिका ग्राम कहाँ पर हैं। उन्होंने गुजरात के बढ़माण ग्राम को ही वदनावर समझा था। उज्जैन संग्रहालय में एक विशाल देवी प्रतिमा आई तो उसमें एक शिलालेख पर अंकित था कि दोस्तटिका ग्राम में शांतिनाथ चैत्यालय था और उसी में बैठकर जिनसेनाचार्य ने हरिवंशपुराण जैसे महान् ग्रन्थ की रचना की। यह लेख पढ़ने पर हमने निर्णय लिया कि वर्तमान दोत्रिया ही दोस्तटिका ग्राम है और मैंने डा. हीरालालजी को पत्र लिखा। वे यहाँ पधारे और उस लेख को पढ़कर अपनी पुरानी धारणा में परिवर्तन किया। अतः बदनावर जैन संस्कृति से व्याप्त प्राचीन ऐतिहासिक स्थल है। यहाँ पर अब भी जैनों के घर और मंदिर मौजूद हैं। बदनावर में अशोक के पुत्र सम्प्रीति द्वारा निर्मापित कई जैन मूर्तियाँ हैं और एक मन्दिर भी है।

इसी तरह बूढ़ी चंदेरी, अमनचार, मामौन, मियादांत-पीठली आदि कई ऐसे स्थल हैं जो निर्जन वनों में हैं। वहां पर चारों तरफ खण्डित प्रतिमाओं और मंदिर के अवशेष बिखरे पड़े हैं। इन सबकी सुरक्षा के लिए विपुल शक्ति और धन की आवश्यकता है।

अजयगढ़

पन्ना जिले में अजयगढ़ एक छोटा सा गाँव है। यहाँ एक किला है जो जमीन से ७००-८०० फीट ऊपर पहाड़ी पर है। इस किले का निर्माण अजयपाल नाम के राजा ने कराया था। इस दुर्ग में एक तालाब है। इस तालाब के किनारे अजयपाल का मन्दिर है। और दूसरी तरफ चौकोर दीवार पर भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमा है। यह प्रतिमा १५ फीट ऊंची है जो १० वीं से १२ वीं शताब्दी की मालूम होती है। इसी तालाब के आसपास जैन मन्दिर और मूर्तियों के

काफी अवशेष बिखरे पड़े हैं। किले में एक भव्य मानस्तंभ है। उसके ऊपर सैकड़ों प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं। गाँव में भी एक जैन मंदिर है और जैनों के भी कुछ घर हैं।

कारी तलाई

कारी तलाई जंगल में कैमूर पर्वत श्रेणियाँ में स्थित है। इसका प्राचीन नाम कर्णपुरा था। यहाँ पर कई गुफाएँ हैं। इन गुफाओं में दो हजार वर्ष पुरानी ब्राह्मी लिपि में अवशेष प्राप्त हुए हैं। कारी तलाई की अनेक मूर्तियाँ जबलपुर और रायपुर संग्रहालय में संग्रहीत है। यहाँ भी मूर्तियाँ काफी बिखरी पड़ी है। अधिकांश मूर्तियाँ तीर्थंकरों और शासन देवताओं की हैं। ये कलाकृति में गुप्तकाल से कलचुरी काल की कला के अद्भुत नमूने हैं। यहाँ पर नंदीश्वर द्वीप और सहस्रकूट चैत्यालय की रचनाएँ बड़ी महत्वपूर्ण थी। वे रायपुर संग्रहालय में ले जाई गई हैं। इस तरह वरहटा, त्रिपुरी आदि भी हमारे ऐतिहासिक स्थल है। वरहटा में प्राचीन अर्धभग्न जैन मंदिर हैं। मूर्तियों की अवगाहना ५-६ फीट है। पद्मासन हैं और श्यामवर्ण देशी पत्थर की है। यहाँ पर ऐसी पाँच तीर्थंकर की मूर्तियाँ है जिन्हें अजैन लोग पाँच पाण्डव भगवान् कहकर पूजते हैं। इसी मंदिर के द्वार पर ६ फीट ऊंची तीर्थंकर की प्रतिमा विराजमान है। यह जैनों का ऐसा प्राचीन स्थल है जहाँ पर मीलों तक खण्डित अवस्था में जैनों का प्राचीन वैभव बिखरा पड़ा है। यहाँ की कलाकृतियाँ विदेशों तक में ले जाई गई हैं। कुछेक मूर्तियाँ नरसिंहगढ़ के सरकारी बाग में भी रखी हुई है।

वास्तव में मध्य प्रदेश जैन वैभव से भरा पड़ा है और इतनी प्राचीन संपदायें उपलब्ध हो सकती है जिनके बटोरने की आज आवश्यकता है। फिलहाल इस प्राचीन संपदा को बटोरने का न तो जैनों ने कोई प्रयत्न किया और न सरकार ने कोई विशेष ध्यान दिया। हम जितनी शक्ति व्यर्थ के आँदोलनों में लगा देते है उतनी यदि हम अपनी प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री बटोरने में खर्च करें तो इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों में जैनों का नाम सर्वोपरि होगा। जैन समाज का काम है कि वह इस दिशा में विशेष प्रयास करे। वही समाज दीर्घकाल तक जीवित रहेगा जिसका साहित्य, स्थापत्य और कला जीवित रहेंगे।

बुन्देलखण्ड-जैन संस्कृति का जीवन्त गढ़

❑ विमलकुमार जैन, सोरया

बुन्देलखण्ड भारत का ऐसा भूभाग है जो मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के २२ जिलों की सीमा में आता है। भारतीय, साहित्य, कला, संगीत वास्तुकला आदि विविध क्षेत्रों में धर्म एवं संस्कृति की व्यापकता बुन्देलखण्ड में बहुत फलवती हुई है।

सामान्य रूप से इस क्षेत्र ने साहित्य-सेवियों में वाल्मीकि, वेदव्यास, गुणभद्र, भवभूति, मित्रमिश्र, जगनिक, तुलसी, केशव, भूषण, पद्माकर, बिहारी, चन्द्रसखी, ईसुरी, रायप्रवीण, सुभद्राकुमारी, सेठ गोविन्ददास, मैथिलीशरण गुप्त, वृन्दावन लाल वर्मा जैसे शत-शत साहित्य देवताओं को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया- तो शौर्यनक्षत्रों में रणबांकुरे आल्हा ऊदल, विराटा की पद्मिनी, छत्रसाल, हरदौल, अकलंक, निकलंक, दुर्गावती, रानी लक्ष्मीबाई, चन्द्रशेखर आजाद जैसे सहस्रों वीरों को उत्पन्न करने का गौरव लिये हुए प्राप्त किया।

सोनागिर, खजुराहो, देवगढ़, चन्देरी, अजयगढ़, ग्वालियर पपौरा, नैनागिर, कुण्डलपुर, पावागिर मदनपुर, द्रोणगिर, चित्रकूट, ओरछा, कालिंजर, सूर्यमंदिर सीरोन आदि स्थापत्य कला के अद्वितीय कलागढ़ और तीर्थों को अपने अंचल में संजोए बुन्देलखण्ड के शताधिक क्षेत्र आज भी इस भूभाग की गरिमा को युगों-युगों के थपेड़े खाकर जीवन्त रखे हुए हैं।

संगीतसम्राट् तानसेन, मृदङ्गदाचार्य कुदऊ, विश्वजयी गामा, चित्रकार कालीचरण जैसे अगणित रससिद्ध कलावंत उपजाकर तथा पन्ना, हीरा की खदान, भेड़ाघाट का संगमरमर एवं विन्ध्य श्रृंखलाओं में सुरक्षित सोना, चाँदी, मैगनीज, ताँबा, लोहा, अभ्रक आदि खनिज सम्पत्ति के भण्डारों से युक्त आज भी बुन्देलखण्ड भारत की प्रतिष्ठा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से आज तक की सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आचरणिक, व्यवहारिक आदि विविध आयामों की प्रामाणिक जानकारी के लिए बुन्देलखण्ड ने भारत में गौरव स्थान प्राप्त किया है। यह शिल्पकला संस्कृति, शिक्षा, साहस, शौर्य अध्यात्म का धनी, व प्रकृति और खनिज पदार्थों का जीता जागता गढ़ रहा है।

यहाँ के जनमानस में सदैव सदाचार की गंगा प्रवाहित होती रही है। कला और संस्कृति के अद्वितीय गढ़ यहाँ की गरिमा के प्रतीक बने हैं। यहाँ का कंकर-कंकर शंकर की पावन भावना से धन्य है। विश्व में भारत जहाँ अपनी आध्यात्मिक गरिमा और संस्कृति सभ्यता में सदैव अग्रणी रहा है, वहाँ बुन्देलखण्ड भारत के लिए अपनी आध्यात्मिक परम्परा और संस्कृति

में इतिहास की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने में अग्रसर रहा है। अध्यात्म की प्रधानता हमारे देश की परम्परागत निधि रही है तथा भारतीय संस्कृति में अध्यात्म की मंगल ज्योति सदैव प्रकाशवान रही है। भारत का दर्शन-साहित्य, मूर्तियाँ, भाषा, वास्तुकलाएँ, शासन व्यवस्थाएँ, सभी में अध्यात्म की मंगल ज्योति सदैव प्रकाशवान रही है। भारत का दर्शन-साहित्य, मूर्तियाँ, भाषा, वास्तुकलाएँ, शासन-व्यवस्थाएँ, सभी में अध्यात्म की आत्मा प्रवाहित है। धार्मिक भावनाओं को शाश्वत बनाये रखने के लिए ही विपुल परिमाण में मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण किया गया है। मंदिरों की रचना और उनमें चित्रित कलाएँ उस युग की सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं की ऐतिहासिक थाती हैं। हमें प्रामाणिक इतिहास की पुष्टि और संस्कृति का स्वरूप इन्हीं प्रतिमाओं से उपलब्ध हुआ है।

बुन्देलखण्ड में शिल्पियों, कलाकारों एवं कलाप्रेरकों ने अध्यात्म प्रधान कृतियाँ निर्मित की। उनका झुकाव प्रायः कला की अपेक्षा परिणामों की ओर विशेष रहा है, अतः कला इने गिने स्थानों में ही देखने को मिलती है। आदिमयुगीन एवं प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति का जीता-जागता स्वरूप यदि भारत में आज कहीं जीवन्त हैं तो उसका केंद्र बुन्देलखण्ड ही है। उस युग की चित्र व कलाएँ आज भी मंदिरों एवं गुफाओं में विद्यमान हैं। यहाँ के प्रायः जैन मंदिर और मूर्तियाँ, गढ़, गुफाएँ, बीजक, पट, शिलालेख आदि इस बात के साक्षी हैं कि भारतीय परम्पराओं में जनजीवन, सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक मान्यता कहाँ, कब और कितनी फलीभूत एवं पल्लवित हुई है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम आदिम युग से लेकर वर्तमान काल तक भारतीय संस्कृति के अंतर्गत श्रमण संस्कृति का पर्यवेक्षण इतिहास क्रम के आधार पर ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) प्रागैतिहासिक काल-जो ईस्वी पूर्व ६00 से भी पहले माना गया है– में मंदिरों के निर्माण होने के प्रमाण साहित्य में उल्लिखित है। (२) मौर्य और शुंगकाल-ईस्वी पूर्व से ५00 मन्दिरों का प्रचुर मात्रा में निर्माण कार्य हुआ। इस युग की मुद्राओं पर अंकित मंदिरों के चिन्ह इस सत्य के साक्षी हैं। विदिशा, बूढी चन्देरी (बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक स्थल) की खुदाई के समय प्राप्त विष्णु मंदिर, पार्श्वनाथ मंदिर, शांतिनाथ मंदिर के अवशेष ई. पूर्व २00 वर्ष के हैं। मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि का भी प्रयोग यहाँ के तीर्थों व शिलापट्टों में देखने को मिलता है। (३) शक सातवाहन काल–ईसापूर्व २00 वर्ष तक इस काल की परिगणना की गई है इस युग में जैन मंदिरों का विपुल मात्रा में निर्माण होना पाया जाता है। इस युग के मंदिरों के अवशेष अनेक प्राचीन स्थलों जैसे सीरोन, मदनपुर, मडखेरा आदि पर आज भी पाये जाते हैं। (४) कुषाणकाल– ईसा की पहली शती से तीसरी शती तक का काल है। इस युग में मंदिरों के साथ ही राजाओं की प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ है जिन्हें देवकुल की संज्ञा से अभिव्यक्त किया जाता था। इस काल के मंदिर भारत में मथुरा, अहिक्षेत्र, कम्पिलाजी, हस्तिनापुर में हैं तथा बुन्देलखण्ड में तो इस युग की प्रतिमाएँ अनेक जगह पायी जाती है। (५) गुप्तकाल–यह

ईसा की चौथी से छठी शताब्दी तक का समय है। इस काल में मंदिरों की कलाकृति सुन्दरता एवं भव्यता के रूप में प्रतिष्ठित हुई। बुन्देलखण्ड के तीर्थों में देवगढ़-चन्देरी-मदनपुर-सीरोन-मड़खेरा आदि स्थानों में इस युग के मंदिर पाये गये हैं। द्वार-स्तम्भों की सजावट, तोरण द्वार पर देव मूर्तियों, लघु शिखर एवं सामान्य गर्भगृहों से युक्त मंदिर इस युग की शैली के प्रतिमान रहे हैं। विशिष्ट प्रकार की मूर्तियों का निर्माण इस युग की विशेषता है जो प्रायः बुन्देलखण्ड के अधिकांश प्राचीन तीर्थस्थलों में मिलती है। (६) गुप्तोत्तरकाल— ईसा की ७ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक के समय का इस श्रेणी में समाहार करते हैं। वर्द्धनकाल, गुर्जर प्रतिहार काल, चन्देली शासनकाल, मुगल, मराठा काल एवं अंग्रेजी शासनकाल तक का समय गुप्तोत्तर काल में परिगणित किया गया है। इस युग में मंदिरों के शिखर की साजसज्जा को विशेष महत्व दिया गया है। इस काल में मुख्य रूप से चार प्रकार की शैली प्रचलित हुई—(अ) गुर्जर प्रतिहार शैली—इस शैली के अंतर्गत निर्मित मंदिरों के भीतर गर्भगृहों और सामने मण्डप बनाया जाता था। कला और स्थापत्य की पर्याप्त वृद्धि संवृद्धि इस समय हुई। प्रायः अधिकांश जैनतीर्थ इसके साक्षी हैं। (ब) कलचुरी शैली— इसमें मंदिरों के बाहरी भागों की साजसज्जा विशेषरूप से पायी जाती है। मंदिरों के शिखर की ऊंचाई भी बहुत होती है। इस शैली के मंदिरों की बाह्य भित्ति कला अपने आप में अद्वितीय है। खजुराहो तो इस कला का गढ़ ही है। (स) चन्देल शैली— इसमें मंदिरों की शिखरशैली उत्कृष्ट रूप में प्राप्त हुई है। रति चित्रों का विकास भी इस शैली के मंदिरों में हुआ है जो मंदिर के बाह्य-भित्तियों पर गढ़े गए हैं। इस शैली में मंदिर चन्देरी-खजुराहो-देवगढ़ में पर्याप्त मात्रा में स्थित हैं। (द) कच्छपघात शैली—इस शैली के मंदिर कला के अद्वितीय नमूने हैं। मंदिर के प्रत्येक भाग पर कला की छटा दिखायी पड़ती है।

काल-विभाजन के इस क्रम में भारतीय संस्कृति के साथ श्रमण संस्कृति और कला का निरन्तर विकास हुआ है। बुन्देलखण्ड के जैनतीर्थों पर वास्तुकला के अध्ययन की दृष्टि से कोई ठोस प्रयत्न नहीं हुआ। प्रागैतिहासिक काल से लेकर गुप्तोत्तर काल तक यहाँ की कला में जैन संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रही है। भारत में मूर्तिकला की गरिमा बुन्देलखण्ड में देखने को मिलती है। मूर्तिकला के सर्वोत्कृष्ट गढ़ और मूर्ति निर्माण के केंद्रस्थल बुन्देलखण्ड में विद्यमान हैं। यहाँ की मूर्तिकला एक सी नहीं है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तिकला के उत्कृष्ट रूप बने हैं। अनेक प्रकार के आसनों सहित स्वतंत्र तथा विशालकाय शिलापट्टों पर उत्कीर्ण की गई मूर्तियाँ बहुधा इस क्षेत्र में उपलब्ध हैं। कुछ मूर्तियाँ अध्यात्मिक और कुछ मूर्तियाँ लौकिक दृष्टि से निर्मित हुई हैं। लौकिक दृष्टि से निर्मित मूर्तियाँ कला के बेजोड़ नमूने हैं। उनसे सामाजिक रहन-सहन, आचार-विचार तथा प्रवृत्तियों एवं भावनाओं का तलस्पर्शी परिज्ञान होता है। भारत की मूर्तिकला में बुन्देलखण्ड का योगदान सर्वोत्कृष्ट है। विभिन्न देवी-देवताओं की तुलना में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। जैन मूर्तियों के चतुर्विंशतिपट्ट, मूर्ति-अंकित स्तम्भ एवं सहस्रकूट शिलापट्ट प्रायः इस क्षेत्र में अनेक

जगह हैं। देव देवियों, विद्याधरों, साधु, साध्वियों, श्रावक, श्राविकाओं, युग्म प्रतीकों, पशु पक्षियों के साथ प्रकृतिचित्रण, आसन और मुद्राएँ इस क्षेत्र में कला के अद्वितीय नमूने हैं। इन आयामों से हम कला के विभिन्न विकास क्रमों का अध्ययन कर सकते हैं। सामाजिक और धार्मिक चेतना के पुंज रूप इन गढ़ों ने जैन संस्कृति की समुन्नति में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। बुन्देलखण्ड के ऐसे शताधिक पुरातन क्षेत्र हैं जहाँ वास्तुकला के वर्णित आयामों का स्वरूप दर्शन हमें मिलता है। बुन्देलखण्ड के इन ऐतिहासिक पुरातन क्षेत्रों के मुख्य हैं देवगढ़, बूढ़ी चन्देरी, खजुराहो, विदिशा, बरुआसागर, मड़खेरा, कन्नौज, नौहटा, बिनैका (सागर) पाली, त्रिपुरी, अरमकंटक, सोहागपुर, बानपुर, पचराई, कुण्डलपुर, बालाबेहट, बजरंगढ़, पवा, डिठला, रखेतरा आमनचार, गुरीलकागिरि, चर्णागिरि, नारियलकुण्ड, थूवौन, अहार, पपौरा, चन्देरी, झांसी (संग्रहालय), पावागिर, धावल, मदनपुर, द्रोणागिरि, रेसिंदीगिर (नैनागिर,) सेसई, उर्दमऊ, कोनीजी, नवागढ़, पाटनगंज, करगुवाँ, सोनागिर, क्षेत्रपाल महरौनी, क्षेत्रपाल ललितपुर, भौंयरा बंधा, भौंयरा ललित पुर, ग्यारसपुर, दूधई, चाँदपुर, सीरोन (ललितपुर), सीरोन (मडावरा) गिरार, बड़ागाँव (धसान) सेरोन, कारीतलाई, बिलहरी, पठारी, भेड़ाघाट, त्रिपुरीस, ग्वालियर किला, शिवपुरी आदि। इनसे हमें जैन संस्कृति और कला का व्यापक रूप से अतुल भण्डार देखने को मिलता है।

आशा है, पुरातत्व के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय संस्कृति के अध्ययन की पर्याप्त प्रामाणिक निधि उपर्युक्त स्थलों पर प्राप्त करने के लिए पुरातत्व अन्वेषक अपने पुण्य प्रसार साकार करेंगे।
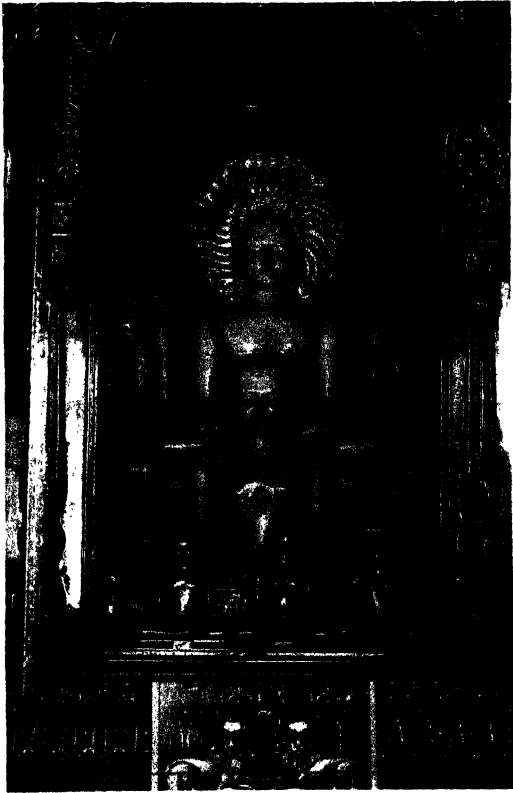
दिल्ली: मूलनायक, दिगम्बर जैन मंदिर, लाल मंदिर

दिल्ली अहिंसा स्थल, भ. महावीर की दर्शनीय मूर्ति

आसाम सूर्य पहाड

विजयनगर (आसाम) समवशरण

आस्पास सूर्य पहाड़ मे गुफाएँ
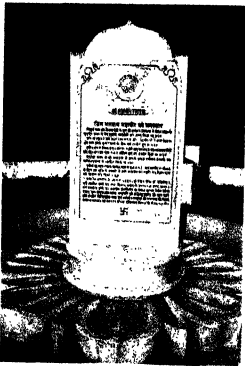
कुंडलपुर (बिहार) भ महावीर का जन्मस्थान

कोल्हवा पहाड़ (बिहार) भ पार्श्वनाथ की प्रतिमा

कोल्हवा पहाड़ (बिहार) पहाड़पर उकेरी हुई दि. जैन मूर्तियां
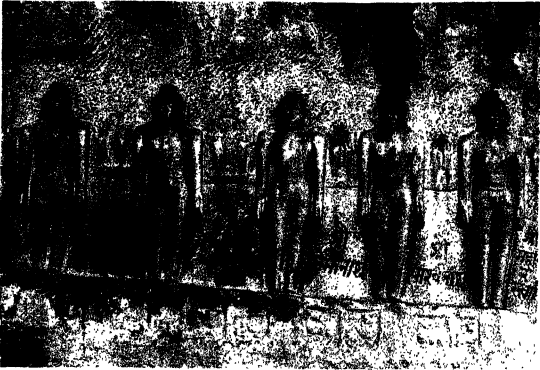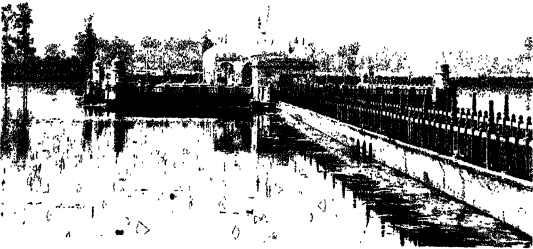
भ. महावीर की निर्वाण भूमी पावापुरी (बिहार) जलमंदिर

तीर्थ गिरिराज सम्मेदशिखरजी का रमणीय पर्वतमाला और धवल टोंक

श्रृंगारसहित अतिशययुक्त श्री पद्मावतीदेवी (होम्बुज)

राजगृही (बिहार)
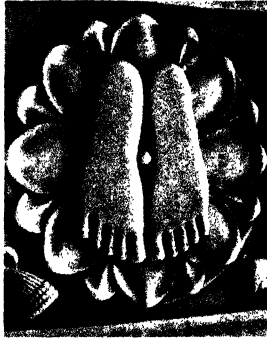
स्व. प. पू. आचार्य १०८ श्री महावीरकीर्तिजी महाराज की चरण पादुका (मेहेसाणा)
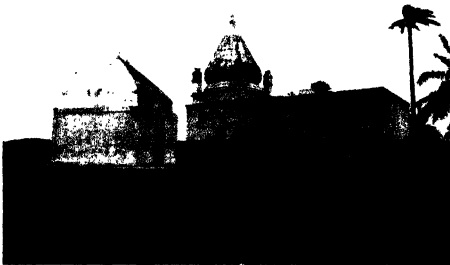
मंदारगिरी पहाड़ (बिहार)

सम्मेदशिखरजी (बिहार)
मूलनायक भगवान पार्श्वनाथ, बीसपंथी कोठी

फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) आचार्य श्री विमलसागरजी
महाराज की प्रेरणा से निर्मित कन्या पाठशाला

उदयगिरि-खण्डगिरि (उड़ीसा) प्राचीन जैन गुफा

जैन मूर्ति-कला का अद्‌भुत कोषागार खजुराहो

❑ नीरज जैन, सतना

खजुराहो के विश्व-विख्यात मंदिरों का निर्माण ईसा की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। भारतीय संस्कृति और कला में यह महान् योगदान प्रदान करने का गौरव जेजाकभुक्ति, अथवा वत्स प्रदेश के अधिपति चन्देल राजाओं को प्राप्त हुआ कहा जाता है कि कुल मिलाकर चौरासी मंदिरों का निर्माण खजुराहों में हुआ जिनमें से काल के थपेड़े सहते-सहते अब कुल बाईस मंदिर अपने गौरव गाथा कहने के लिए शेष बचे हैं।

मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में, छतरपुर से ५० किलोमीटर और सतना से १२५ किलोमीटर की दूरी पर बसा हुआ खजुराहो का छोटा सा गाँव अब सड़क और हवाई यातायात से सम्बद्ध होकर पर्यटकों और कला-पारखियों की अनवरत हलचलों का केंद्र हो गया है। खजुराहो के मंदिर मोटे रूप से तीन समूहों में विभक्त किये जा सकते हैं जैन मंदिर इस विभाजन के अनुसार पूर्वी मंदिर समूह में आते हैं। यहाँ तक नवनिर्मित विशाल परकोटे के भीतर पारसनाथ मंदिर और आदिनाथ मंदिर अपने मूलस्वरूप में अवस्थित हैं। खजुराहों में उपलब्ध मूर्तियों और शिल्पा व शेषों से यह सिद्ध होता है कि यहाँ जैन मंदिरों की संख्या अधिक रही है। जो मंदिर काल के गाल में समा गये उनकी बची-खुची सामग्री का उपयोग करके पिछली दो शताब्दियों में इसी परकोटे के भीतर तीस छोटे-बड़े जैन मंदिरों का निर्माण कर लिया गया है। इन मंदिरों में चन्देल कला के बहुत अच्छे शिल्पावशेष यत्र-तत्र लगे हुए मिलते हैं। परकोटे के बाहर, गाँव के पास एक और भग्न जिनालय का मण्डल खड़ा दिखायी देता है जिसे 'घण्टाई मंदिर' के नाम से जाना जाता है।

इन मंदिरों के अतिरिक्त सैकड़ों खण्डित-अखण्डित प्रतिमाओं तथा शिल्पावशेषों के रूप में जैन कला की प्रचुर सामग्री यहाँ आज भी बिखरी पड़ी है। शान्तिप्रसाद कला-संग्रहालय में तीन सौ से अधिक शिल्पावशेष एकत्रित हैं। इससे भी अधिक संख्या में जैन मंदिरों की अवशिष्ट सामग्री पुरातत्व विभाग के स्थानीय संग्रहालय "जार्डन म्यूजियम' में सुरक्षित है। खजुराहो से जो शिल्पावशेष राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली, भारतीय संग्रहालय कलकत्ता, और नगरसभा संग्रहालय प्रयाग आदि स्थानों को ले जाये गये हैं उनमें भी अच्छी मात्रा में जैन सामग्री सम्मिलित रही है।

चन्देल राजवंश का उदय नवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में हुआ था। दसवीं और ग्यारहवी शताब्दी में यह अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर रहा। परन्तु इसके शीघ्र बाद, बारहवी शताब्दी

में ही यह राजवंश श्रीविहीन हो गया। यही कारण है कि खजुराहो में जहाँ एक ओर मध्यकाल की उत्कृष्ट शिल्पकला के दर्शन होते हैं, वही दूसरी ओर भारतीय कला की पूर्वापर परम्परा का अभाव खटकता है। नौवीं शताब्दी के पूर्व भारतीय कला के क्या प्रतिमान थे और ग्यारहवीं शताब्दी के बाद किस क्रम से उनका ह्रास हुआ इन प्रश्नों का समाधान खजुराहो में हमें प्राप्त नहीं होता।

आदिनाथ प्रतिमाएँ

प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ खजुराहो के सर्वाधिक मान्य आराध्य देवता रहे हैं। इस क्षेत्र पर बड़ी प्रचुरता से आदिनाथ की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। मैंने सर्वेक्षण में कुल २८० तीर्थंकरों प्रतिमाओं का परिचय प्राप्त किया, उनमें १०५ प्रतिमाएँ आदिनाथ मे पायी गयी। शेष में अन्य तेईस तीर्थंकरों को स्थान मिला। इस गणना से स्पष्ट है कि युगादिदेव प्रथम तीर्थंकर ऋषभ ही खजुराहो के जैन समूह के अधिष्ठाता देव रहे हैं। संग्रहालय में और मंदिरों में भी इनकी अनेक उल्लेखनीय प्रतिमाएँ उपलब्ध है।

खजुराहो में आदिनाथ की प्रायः सभी उल्लेखनीय प्रतिमाएँ पद्मासन में ही मिली है। उनमें आकार में सबसे बड़ी मूर्ति पुरातत्व विभाग ने नवीन संग्रहालय में प्रवेश करते ही बायीं ओर क्रमांक १६६७ पर रखी है। यह प्रतिमा घण्टाई मंदिर से उठाकर लायी गयी थी। सिंहासन के एक कोने में "घण्टाई" शब्द अंकित है। सुन्दर और ऊंचे सिंहासन पर बीचों-बीच धर्मचक्र और दोनो सिंहों के पार्श्व मे गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी देवी अंकित है। पीठिका पर सूर्य से प्रारम्भ करके नवग्रह की रचना है। ग्रहों के बीचों बीच भगवान् का लांछन वृषभ बड़ी मनोहरता के साथ बैठा हुआ अंकित किया गया है। पीठिका का यह संयोजन बहुत आकर्षक बन पड़ा है। ऊपर भगवान् पद्मासन विराजमान हैं। दोनों और चामरधारी इन्द्र तथा अभिषेक करते हुए हाथी और व्याल-मकर आदि यथास्थान दिखाये गये हैं। भगवान् की केशराशि बड़ी सुंदरतापूर्वक गूंथी गयी है तथा उनकी जटायें कांधे तक लहराती दिखायी गयी हैं। शीर्ष के पीछे कमल के आकार का भामण्डल इस मूर्ति के सौंदर्य को बढ़ा देता है। छत्र और उसके ऊपर की रचना साधारण है। यद्यपि यह मूर्ति आकार में विशालतम है परन्तु थोड़ा बहुत नुकसान हो जाने के कारण इसकी भव्यता खण्डित सी प्रतीत होती है।

ऐसी ही विशाल एक और आदिनाथ प्रतिमा मंदिर क्रमांक २८ की वेदी पर विराजमान है। प्रतिमा की सारी संयोजना उपरोक्त प्रकार की है। हाँ, नवग्रह और जटा-जूट का इस प्रतिमा में अभाव है। सौम्यता और सुन्दरता के लिए हम इस प्रतिमा को खजुराहो की उल्लेखनीय तीर्थंकर प्रतिमाओं में गिन सकते हैं।

आदिनाथ की सबसे मनोहर मूर्ति मंदिर क्रमांक २७ की वेदी पर थी जिसे अब मुख्य मंदिर

की नव-निर्मित वेदी पर स्थापित कर दिया गया है। यद्यपि वेदी की योजना इस प्रतिमा के जरा भी अनुरूप नहीं है परन्तु मूर्ति के व्यक्तित्व के अनुरूप सिंहासन में शासनदेवता, पीठिका में नवग्रह और सँवारकर गूँथी गयी केशराशि तथा झूलती हुई जटाएँ, ये सब उपादान इस मूर्ति की सौन्दर्य-सज्जा में उपस्थित हैं। इन सबके अतिरिक्त एक ऐसी सहजता और शरीर का ऐसा अनुपात इस प्रतिमा में देखने को मिलता है, जिसे भूलाना सहज संभव नहीं है। सिंहासन के नीचे एक और मूर्ति और दूसरी ओर आदिनाथ के लांछन वृषभ का अंकन है। पीठिका में प्रारम्भ में एक युगल हाथ जोड़े बैठा है और तब नवग्रहों की सूर्य से केतु तक बड़ी सुंदर और सजीव संयोजना है। अन्त में पुनः एक व्यक्ति दास भाव से बैठा है। भगवान् की पद्मासन पीठिका अपने सौष्ठव और शरीर की मृदुता के कारण अत्यंत आकर्षक बन पड़ी है। गूँथी हुई जटाएँ और कौंधों तक लहराती अलकें तथा चेहरे की सौम्यता बरबस अपनी और दृष्टि आकर्षित कर लेती हैं। दोनों और चामरधारी इन्द्र खड़े हैं। सुंदर भामण्डल हाथियों से युक्त है और दण्ड पर आधारित विद्याधर गगनविहार करते हुए दिखाये गये हैं।

ऐसे ही परिकर से युक्त एक और प्रतिमा मंदिर क्रमांक १७ में हम देखते हैं। भामण्डल के साथ की सारी सज्जा यद्यपि इस प्रतिमा से टूटकर विलग हो गयी है परन्तु प्रतिमा अखण्डित है। जटाओं की सुघड़ता और शरीर की सुंदरता के लिए इस प्रतिमा का उल्लेख अपरिहार्य माना जा सकता है। नवग्रह से युक्त एक और आदिनाथ प्रतिमा हमें शान्तिनाथ मंदिर के गर्भगृह में बायीं दीवार पर जुड़ी हुई मिलती है। यहाँ भी आदिनाथ की अनुष्ठान-विग्रह प्रतिमाओं के सारे लक्षण और उपादान हम इस छोटी-सी प्रतिमा में पाते हैं।

पार्श्वनाथ मंदिर के पीछे की ओर के गर्भ-गृह में वेदी पर जो प्रतिमा विराजमान है उसकी गणना भी खजुराहो की विशिष्ट तीर्थंकरों की मूर्तियों मे करनी होगी। भले ही ऊपर वर्णित मूर्तियों से कोई नवीनता हम इस प्रतिमा में न पायें किन्तु इसके समूचे संयोजन में कलाकार ने अद्‌भुत आकर्षण का सृजन कर दिया है जिसके कारण इसे भूलना सम्भव नहीं है।

मंदिरों की इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त खजुराहों के संग्रहालयों में अनेक ऐसी महत्वपूर्ण आदिनाथ प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं जिनमें अनेक कलागत विशेषताएँ मिलती हैं। जैन संग्रहालय की मूर्ति क्रमांक १०३ ऐसी ही एक प्रतिमा है। पद्मासन आदिनाथ के सिंहासन के पार्श्व में गोमुख और चक्रेश्वरी अंकित है। देवी नर-गरुड़ पर ललितासन विराजमान है। उसके नीचे के हाथों में वरद शंख तथा ऊपर के हाथों मे गदा और शंख हैं। पीठिका पर ककुद्म-वृषभ बैठा है।उसके दोनों और प्रतिष्ठापक युगल अंकित है। इन्द्रों की त्रिभंग मुद्रा और सुन्दर मुखाकृति दर्शनीय है। उनके हाथों में चमर के स्थान पर कमलपुष्प दिखाये गये हैं। चमर संभवतः उनकी बाहरी हाथों में रहा होगा जो दोनों ही टूटे हुए हैं। भामण्डल के पार्श्व में गतिशील हाथी और उन पर कलश तथा माला लिये हुए इन्द्र और इन्द्राणी बने हैं। उनसे भी ऊपर मालाधारी गन्धर्व दो-दो देवांगनाओं के साथ बड़ी कुशलता से अंकित किये गये हैं। छत्र से ऊपर सूची

आमलक और कलश का संयोजन है और उद्घोषकों में दोनों और वीणाधारिणी गन्धर्व-कन्यायें दिखायी गयी हैं।

जैन संग्रहालय में एक मूर्ति खण्डित होते हुए भी महत्वपूर्ण प्रतिमा है। मूर्ति के शीर्षरहित भामण्डल को जब हम देखते हैं तो कलाकार की प्रतिभा के सामने हमारा मस्तक झुक जाता है। इसी प्रकार शासकीय संग्रहालय में मूर्ति क्रमांक १६१२, १७१२ तथा १६४२ आदि अनेक ऐसी आदिनाथ प्रतिमाएँ हैं जिनकी गणना मध्यकाल की सुन्दर प्रतिमाओं में की जा सकती है। क्रमांक १८३० भी आदिनाथ की विशिष्ट प्रतिमाओं में से एक है। इसमें सिंहासन अत्यंत गहरा खोदकर बनाया गया है। कीर्तिमुख से लटकती झालर में अश्वारोही अंकित हैं। पीठिका पर वृषभ है और भगवान् की जटाएँ कुछ अधिक लम्बी बनायी गयी हैं। श्री वत्स का झूलता हुआ सूत्र अंकित किया गया है। छत्र के नीचे पद्म है। छत्रों के तीन पृथक् पटल बनाये गये हैं। विद्याधर युगलों के पीछे घुमड़ते हुए बादलों की रचना की गयी है और भामण्डल सप्तवलय से सज्जित है। नीचे सिंहासन के पार्श्व में गोमुखासन ललितासन बैठा हुआ है। चक्रेश्वरी नर-गरुड़ पर आसीन है।

पार्श्वनाथ

खजुराहो में नागफण में युक्त पार्श्वनाथ की अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ मिलती हैं। पार्श्वनाथ की संभवतः सबसे सुन्दर प्रतिमा शान्तिनाथ मंदिर के गर्भालय में दाहिनी ओर विराजमान है। इसमें सिंहासन के ऊपर पीठिका के रूप में नाग की दस कुण्डली वाली आसन प्रस्तुत की गयी है, जिस पर भगवान् पार्श्वनाथ पद्मासन विराजमान दिखाये गये हैं। नाग की यह कुण्डली भगवान् की पीठ के पीछे आसंदी बनाती हुई, ऊपर फणावली के रूप में परिणत हो जाती है। नाग के सातों फण बड़ी सुंदरता के साथ भगवान् के मस्तक पर छाया कर रहे हैं। आसन के दाहिनी ओर फणावली से युक्त शासनसेविका देवी पद्मावती खड़ी हैं और बायीं ओर हाथ में छत्र का दण्ड धारण किये धरणेन्द्र को अंकित किया गया है। दोनों ओर चार-चार खड़गासन तीर्थंकर दो पटलों में अंकित हैं। फणावली के पीछे एक सुंदर आसन-पट्टिका बायें से दायें तक दिखायी गयी है जिस पर एक ओर भगवान् बाहुबली खड़े हैं। उनका शरीर लताओं से वेष्टित है और उस पर साँप तथा बिच्छू रेंगते दिखायी देते हैं। बायीं ओर इसी सिंहासन पर कायोत्सर्ग मुद्रा में चक्रवर्ती सम्राट भरत का अंकन है। नवनिधि और चौदह रत्नों वाली उनकी साम्राज्य सम्पदा का प्रतीक रूप से इस प्रतिमा में अंकन किया गया है। भगवान् का छत्र-कमल पुष्प से बनाया गया है जिससे धरणेन्द्र के साथ उनका संबंध स्वतः जुड़ जाता है।

यहाँ इस बात का विचार कर लेना उपयुक्त होगा कि पार्श्वनाथ की मूर्तियों में फणावली की रचना किस आधार पर होती है और उन्हें भगवान् की किस अवस्था की मूर्ति माना जाये।

आज कई पंथाग्रही या पक्षाग्रही लोग फण सहित, लताओं सहित और जटाओं सहित उकेरी गई प्रतिमाओं को अर्हन्त पार्श्वनाथ, बाहुबली या आदिनाथ को केवल ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व मुनि अवस्था की मूर्ति मानकर, उन्हें अपूज्य तक घोषित करने लगे हैं। इस भ्रम का मूल कारण यही है कि ऐसे लोग केवल अपनी तर्क-बुद्धि के बल पर ही सारे निर्णय कर लेना चाहते हैं। इतिहास, पुराण और परम्पराओं पर उनकी दृष्टि नहीं है। मूर्ति-शास्त्र की भाषा को समझने का उनके पास कोई उपाय नहीं है। इस संदर्भ में उपरोक्त तीनों प्रकार की मूर्तियों पर यहाँ विचार करना उपयुक्त होगा।

आदिदेव के जटा-जूट

छैनी के माध्यम से जब किसी के व्यक्तित्व का बिम्ब गढ़ा जाता है तब प्रतीक के बिना कलाकार का काम नहीं चलता। अक्षरों में अंकित प्रशस्ति तो "छैनी के या तूलिका के साम्राज्य में लेखनी का अतिक्रमण" है। कलाकार को अपने सृजन की पहिचान तो केवल प्रतीकों द्वारा ही करना पड़ती है। कृति की महत्ता कभी भाषा या लिपि की मोहताज नहीं रहती।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने दीक्षा लेते ही, एक आसन से, छह मास तक ध्यान किया। मुनि के लिए दो-तीन माह में केशलोंच करने का विधान आचार-संहिताओं में है, पर ध्यान भंग करके तो यह नहीं करना था, अतः भगवान् के केश बढ़ते गये। दीर्घ-ध्यान का यह लोकोत्तर उदाहरण था। फिर किन्हीं परवर्ती तीर्थंकर भगवंत ने लगातार एक आसन से इतने काल तक तपस्या नहीं की। इसी विशेषता के प्रतीक रूप में आदिनाथ प्रभु की दीर्घकेशी प्रतिमाएँ बनाने की पद्धति चली। देवगढ़ आदि कई स्थानों पर तो ये जटाएँ भगवान् के सारे शरीर पर लहराती दिखायी देती हैं। कहीं-कहीं उन केशों का गुम्फन करके भगवान् के सिर पर मनोहर केश-सज्जा ही अंकित कर दी गई है। खण्डगिरि-उदयगिरि, देवगढ़, खजुराहो, उज्जयिनी आदि स्थानों में इसके कई आकर्षक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

बाहुबली और उनकी माधवी लताएँ

आदि जिनेश ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली का चरित्र दोनों ही अनोखे रहे। छहखण्ड पृथ्वी के विजेता महाबली चक्रेश भरत को उन्होंने सहज पराजित कर दिया। फिर जीता हुआ साम्राज्य जीर्ण वस्त्र की तरह उन्हीं के लिए त्याग कर उन्होंने वन गमन किया। आदिनाथ का अधिकतम ध्यान काल छह मास का था, बाहुबली स्वामी पूरे एक वर्ष तक अडिग ध्यानमग्न खड़े रहे। उनके पादमूल में नागों का निवास बन गया, शरीर वनस्पति के बिस्तर से आच्छादित हो गया और पक्षियों ने उन लता गुल्मों में अपने घोंसले बना लिये। ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष की तपस्या से जिन कर्मों का नाश किया था, उन घातिया कर्मों को बाहुबली स्वामी ने एक वर्ष

के तप में ही निर्जीर्ण कर दिया। फिर आदि तीर्थंकर के निर्वाण को प्राप्त हो गये।

बाहुबली के जीवन की इन विशेषताओं ने हमारे पथ प्रदर्शक आचार्यों को इतना प्रभावित किया कि उनके उपदेश और प्रोत्साहन से तीर्थंकर भगवंतों की ही तरह बाहुबली की मूर्तियाँ बनी, मंदिर बने, और महावीर के समस्त अनुयायियों ने निर्विवाद रूप से उनकी पूजा अर्चना को अपना सौभाग्य मानकर स्वीकार किया।

बारह मास का निश्चल ध्यान बाहुबली के व्यक्तित्व का सबसे चमत्कारिक पहलू था। उसे उजागर करने के लिए उनकी मूर्ति पर शरीर से लिपटी लताओं का अंकन ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीक हो सकता था। अतः हमारे परम आस्तिक कलाकारों ने उनके लिए प्रतीक अंगीकार किया। ये लताएँ ही बाहुबली की पहचान बन गई। लताएँ भी सामान्य नहीं, माधवी लताएँ, जिन्हें पनपने में, फूलने-फलने में पूरा वर्ष लगता है। इन लताओं का अस्तित्व ही बता देता है कि ये योग चक्रवर्ती छहों ऋतुओं पर्यन्त ऐसे ही ध्यानस्थ खड़े रहे हैं।

लतावेष्टित बाहुबली जन-जन के लिए पूज्य हो गये और आज तक पूज्य बने हुए हैं। सिद्धांत-चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने ग्रन्थ के बार-बार इसी रूप में उनका गुणगान किया है। उनके दर्शन करते समय हमें कभी वे लताएँ बाधक नहीं लगी। हमने उन मूर्ति में सदा उस विराट पुरुष का ही दर्शन किया, उसी की वन्दना की। माधवी लताएँ उस समय अपने आप दृष्टि से तिरोहित, गौण और अप्रासंगिक बनकर रह गई। मात्र एक सशक्त प्रतीक।

पार्श्वनाथ प्रतिमा पर नागफण

तीर्थंकर भगवंतों की एक विशेषता यह भी है कि उनकी साधना प्रायः निर्विघ्न होती है। परकृत परिषह और उपसर्ग आदि उपद्रव उनकी साधना में नहीं होते। पर इस कलिकाल में वह नियम भी खण्डित होता था। अन्तिम दो तीर्थंकरों पार्श्वनाथ और महावीर पर साधना काल में उपद्रव और उपसर्ग भी हुए।

किसी पूर्वभव में कमठ के जीव से पार्श्वप्रभु के जीव की अनबन हो गई थी। कमठ के दुष्ट जीव ने भवान्तर तक उसका बदला लिया फिर भी उसकी कषाय शान्त नहीं हुई। दीक्षा लेकर पार्श्वनाथ जब तपश्चरण में लीन होकर बैठे उस समय उनका वह पूर्वभव का बैरी शम्बर नामक असुर की पर्याय में था। विभंग अवधि के द्वारा पूर्व-वृत्तांत जानकर उसने निरीह मुनिराज पर दानवी उपद्रव प्रारम्भ कर दिये।

सात दिनों तक ध्यानमग्न पार्श्वनाथ पर भयंकर उपद्रव होते रहे। कभी आंधी का प्रकोप हुआ, कभी अग्नि की वर्षा से पूरा तपोवन जलने लगा। कभी पानी की तीव्र बरसात हुई, कभी बिजलियाँ गिरीं, ओले गिरे। शम्बर देव की माया से अनेक दैत्यों ने भगवान् पर चारों ओर से तरह-तरह के उपसर्ग किये परन्तु प्रभु अपनी साधना में मेरू की तरह अडिग रहे। हार

कर कोपाविष्ट शम्बर ने पहाड़ जैसी एक बड़ी चट्टान भगवान् पर पटकने के लिए उठाई। तपस्वी पर होने वाले इस भीषण उत्पात से धरणेन्द्र का आसन डोल उठा।

भवनवासी देवों का अधिपति धरणेन्द्र, अवधिज्ञान से सारी घटना ज्ञात करके अपनी प्रिया पद्मावती के साथ भगवान् के समीप आया। दोनों ने प्रदक्षिणा देकर भगवान् को नमन किया। फिर उपसर्ग के निवारण के लिए धरणेन्द्र ने अपना फण उनके ऊपर वितान की तरह तान लिया।उसी समय देवी पद्मावती ने उस फण के ऊपर वज्रमय छत्र लगा लिया। इससे उपद्रव का निवारण हुआ और भयभीत होता हुआ शम्बर देव वहाँ से भाग गया। घोर उपसर्ग पर विजयी होने की इसी घटना के प्रतीक स्वरूप, प्रतिमा निर्माण के प्रारम्भ काल से ही, पार्श्वप्रभु की प्रतिमाओं पर नागफण बनाने की परिपाटी बन गई। समय के साथ इनमें वैविध्य भी आता रहा। इस परिपाटी के औचित्य पर विचार करने के पूर्व आइये हम मूल घटना पर ही कुछ सोचें।

उपसर्ग निवारण की वास्तविकता

कमठ के जीव ने पार्श्वनाथ भगवान् पर ध्यानकाल में उपसर्ग किया। धरणेन्द्र ने केवल अपना फण फैलाकर उस उपद्रव का निवारण किया, भगवान् को अपने फण पर उठाया नहीं। पद्मावती उस फणामण्डल के भी ऊपर छत्र तानकर खड़ी रही। बस, आचार्यों के अनुसार घटनाक्रम तो इतना और ऐसा ही है. परन्तु उत्तरपुराण के तिहत्तरवें पर्व में छंद १३९-१४० का हिन्दी अनुवाद करते समय अवश्य यह लिखा गया कि धरणेन्द्र ने भगवान् को सब ओर से घेर कर अपने फणों से ऊपर उठा लिया।

मुझे लगता है कि यहां कुछ भूल हो गई है। उपसर्ग निवारण के लिए ध्यानस्थ योगी को उठा लेना उचित नहीं लगता। वह तो दूसरा उपसर्ग ही माना जायेगा। एक उपसर्ग टालने के लिए दूसरा उपसर्ग भक्त कैसे करेगा? मैं समझता हूँ कि अनुवाद में "फणों के ऊपर उठा लिया" के स्थान पर "फणों को ऊपर उठा लिया" ऐसा होना चाहिये था। तब पूरा वाक्य बनेगा— "धरणेन्द्र ने भगवान् को सब ओर से घेर कर, अपने फणों को ऊपर उठा लिया। यही वास्तविकता का चित्रण होगा।

उत्तरपुराण के इसी पर्व में आगे छंद १६६ पर विचार करें तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जायेगी। उस छंद का अनुवाद इस प्रकार है—

—"हे नाथ, पर्वत का फटना, धरणेन्द्र का फणामण्डल का मण्डप तानना, पद्मावती के द्वारा छत्र लगाया जाना, घातिया कर्मों का क्षय होना, केवल ज्ञान की प्राप्ति होना, धातुरहित परमौदारिक शरीर की प्राप्ति होना, जन्म मरण संसार का विघात होना, शम्बर देव का भयभीत होना, आपके तीर्थंकर नामकर्म का उदय होना और समस्त विघ्नों का नष्ट होना, ये सब कार्य आपके एक

साथ प्रकट हुये थे।"

यहाँ आचार्य का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि पर्वत के फटने से लेकर विघ्न टलने तक सारे अतिशय एक ही साथ हुए। इसीलिए ऐसा कहना ठीक नहीं कि—"फणावली वाली जितनी भी प्राचीन मूर्तियाँ विद्यमान हैं वे सब मुनि अवस्था की हैं, प्राचीन प्रतिमाओं में फणावली के साथ ही साथ छत्र चमर-भामण्डल आदि प्रातिहार्यों की रचना इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन परम्परा से मूर्तियाँ तो अरहंत की ही बनती थी, मुनि की नहीं। उन परम्परा-पूजित प्रतिमाओं की पूज्यता में शंका उठाना अरहंत का अवर्णवाद ही होगा, भक्ति नहीं। आचार्य का यह आशय भी छंद १६६ से बहुत स्पष्ट हो जाता है कि धरणेन्द्र ने भगवान् पर फण की छाया कर दी और पद्मावती ने ऊपर से छत्र लगा दिया, इतने मात्र से ही उपसर्ग का निवारण हो गया। दोनों में से किसी ने भी भगवान् को उठाया नहीं, छुआ तक नहीं।

आगम के प्रमाण

भगवान् पार्श्वनाथ का ऐसा ही फणावली मण्डित रूप हमारे आचार्यों को इष्ट रहा है। इसका एक कारण यह भी था कि यह विघ्न-बाधाओं के ऊपर साधना की विजय को रेखांकित करने वाली घटना का उत्कृष्ट अंकन है। दूसरा कारण यह भी है कि जहाँ तीर्थंकर भगवंतों को भी कर्मोदयजन्य अनिष्टयोग भोगना पड़े हैं वहाँ सामान्य जन के लिए तो वह सामान्य बात होना चाहिये। उसमें धीरज नहीं छोड़ना चाहिए ऐसी अंतःप्रेरणा हमें मिलती है। हमारे आचार्यों और पुराणकारों ने इस घटना को इसी प्रकार अंकित किया है।

परमपूज्य गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण के उद्धरण हम ऊपर पढ़ ही चुके हैं। आचार्य दामनन्दी ने 'पुराणसार-संग्रह' के तीसरे सर्ग में लिखा है— "एक भयंकर पर्वत को भगवान् के सिर पर पटकने के अभिप्राय से जैसी ही वह असुर आकाश में गया, वैसे ही आसन कम्पित होने पर, उपसर्ग का संदर्भ जानकर, पाताल से निकल कर धरणेन्द्र, पद्मावती के साथ वहाँ आया। वह तत्काल अपने हजार फणों से भगवान् को ढँककर खड़ा हो गया। उसकी देवी पद्मावती एक ऐसे छत्र को भगवान् के ऊपर धारण करके खड़ी हो गई जिसका दण्ड वैडूर्य का था, किनारों पर शुक्ल मोतियों की लड़ियाँ लगी थी और जो वज्र के समान चमक रहा था।"

कविवर भूधरदास ने 'पार्श्वपुराण' में इस घटना को इस प्रकार अंकित किया है—

तब फनेस आसन कंपियौ, जिन उपकार सकल सुधि कियौ।
ततखिन पद्मावति ले साथ, आयो जहँ निवसैं जगनाथ ॥

करि प्रनाम परदछिना दई, हाथ जोरि पद्मावति नई।
फन-मण्डप कीनो प्रभु सीस, जल बाधा व्यापै नहीं ईस ॥

नागराज सुर देख्यो जाम, भाज्यौ दुष्ट ज्योतिषी ताम ॥

इस प्रकार धरणेन्द्र द्वारा भगवान् पर फण तानने और देवी पद्मावती द्वारा उसके ऊपर अपना छत्र लगा लेने की बात ही पुराणों में सर्वत्र मिलती है। भगवान् को मस्तक पर उठा लेने की बात किसी प्रकार आर्ष आगम-सम्मत नहीं ठहरती। जब आकाश में भयंकर जल-वृष्टि हो रही हो, वृक्ष और पाषाण आदि ऊपर से पटके जा रहे हों, तब उनका प्रतिकार करने के लिए कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यही उपाय करेगा। धरणेन्द्र-पद्मावती ने भी यही किया। बाद में उसी आधार पर मूर्तियाँ भी बनने लगीं, परन्तु वह पूर्वाचार्यों का लेखन से मेल नहीं खाता।

प्राचीन प्रतिमाओं में उपसर्ग का अंकन

पार्श्वप्रभु की प्राचीनतम प्रतिमाओं में फणावली का अंकन अनिवार्यतः सर्वत्र पाया जाता है। कई जगह इन मूर्तियों में उपसर्ग की घटना को भी विस्तृत और कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण किया गया है। सातवीं से नवमी शताब्दी के बीच गढ़ी गई ऐसी आदमकद मूर्तियाँ बदामी और ऐलोरा की गुफाओं में उत्कीर्ण है। हुमचा के पार्श्वनाथ मन्दिर में नौवीं-दसवीं शताब्दी के दो शिला-फलक रखे हैं। इनकी ऊंचाई साढ़े पाँच फुट है। इन दोनों फलकों में उपसर्ग का ऐसा सजीव चित्रण किया गया है जिसे देखकर लगता है कि या तो कलाकार ने महापुराण के छंदों को यहाँ सजीव कर दिया है, या फिर इन फलकों को देखकर ही गुणभद्रस्वामी ने उत्तरपुराण में घटना का अंकन किया है। सोचता हूँ धरणेन्द्र को अपने प्रभु की चिन्ता थी। अतः उसने फणामण्डल फैलाकर उन्हें ढँक लिया। देवी पद्मावती की चिन्ता दोहरी थी। उसे अपने पति की कुशलता भी अभिष्ट थी अतः उसने धरणेन्द्र के फण के ऊपर अपना वज्र-निर्मित छत्र लगा लिया। गहन राग से रंजित जीवन सहचरी के मन की कैसी सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है इस घटना में।

मध्यभारत से प्राप्त मध्यकाल की एक और मूर्ति है जिसमें इस घटना का वैसा ही मिलता-जुलता अंकन है। यह मूर्ति इंडियन म्यूजियम कलकत्ता में क्रमांक जे. ८४२ पर प्रदर्शित मैंने देखी थी। इन सभी मूर्तियों की विषय वस्तु लगभग समान है। दैत्य ने अनेक रूपों में भगवान् पर उपसर्ग किया है। भगवान् ध्यानस्थ खड़े हैं। धरणेन्द्र सामने नतमस्तक बैठा है और उसका फण वितान की तरह भगवान् पर छाया हुआ है। पद्मावती हाथ में दण्ड धारण किये खड़ी हैं जिसके ऊपरी सिरे पर छत्र है।

इस प्रकार पाँचवी से पंद्रहवीं शताब्दी तक की कई सौ पार्श्व-प्रतिमाएँ देखने का सौभाग्य मुझे मिला है परन्तु उनमें एक भी ऐसी मूर्ति मुझे नहीं मिली जिसमें धरणेन्द्र ने प्रभु को उठाकर मस्तक पर धारण किया हो। मूलसंघ की प्राचीन कलाकृतियों में पद्मावती द्वारा भगवान्

को स्पर्श करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उसकी तो कल्पना भी हमारे कलाकार नहीं कर सकते थे।

उपसर्ग की घटना को छोड़कर अकेली फणावली का अंकन तो पार्श्वप्रभु की प्रायः सभी प्राचीन प्रतिमाओं में मिलता है। समन्तभद्रस्वामी ने स्वयंभू-स्तोत्र में भगवान् के ऐसे ही रूप का स्तवन किया है। कई मूर्तियों में फण के साथ पूरा नाग ही उत्कीर्ण कर दिया जाता है। खजुराहो तथा सैरोन में कई प्रतिमाएँ मैने देखी है जिनमें भगवान् का आसन ही नाग कुण्डलियों पर बनाया गया है। उसी नाग का फण भगवान् के ऊपर दिख रहा है और पूँछ का अंतिम सिरा चिन्ह की तरह पीठिका पर लटक रहा है। फणावली भी पांच, सात, नौ, ग्यारह, सौ, और सहस्र की संख्या में विविधतापूर्वक अंकित की गई है। पाँच फण वाली कुछ सुपार्श्वनाथ की मूर्तियाँ भी मिली हैं। परन्तु सात या उससे अधिक फणों का मण्डल पार्श्वनाथ पर ही पाया जाता है। इनमें से जिन मूर्तियों पर शासन-देवता का अंकन होता है। उनमें प्रायः धरणेन्द्र-पद्मावती को नीचे सिंहासन के दोनों और बैठा हुआ ही दिखाया जाता है।

जैन-आगम में शासन-देवों और देवियों का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से मिलता है। इसका मूल अभिप्राय इतना ही है कि चारों निकाय के देव भगवान् अरहंत के चरणों में झुकते थे। इनमें से भवनवासी निकाय के कुछ प्रमुख नाम-रूप यथार्थ भी हो सकते हैं औक कल्पित भी हो सकते हैं। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि हिन्दू देव-परिवार के विकास का भी इन शासन-देवताओं की कल्पना पर पर्याप्त स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। अनेक हिन्दू देवों का स्वरूप, जो बहुत पहले हिन्दू मान्यताओं में स्थान पा चुका था, वह उत्तरकाल में ज्यों का त्यों इन शासन देवताओं मे समाहित कर लिया गया। प्रतिमा-विज्ञान के अध्ययन से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है।

शान्तिनाथ और महावीर

यद्यपि खजुराहो में वर्तमान में उपलब्ध सबसे विशाल प्रतिमा सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की है। कायोत्सर्ग आसन में खड़ी हुई १४ फुट ऊंची यह प्रतिमा एक नवीन मंदिर के गर्भालय में प्रतिष्ठित है। इस मंदिर का निर्माण खजुराहो के अनेक पुराने मंदिरों की सामग्री से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व किया गया है। मंदिर का मुख पश्चिम दिशा की ओर है। खजुराहो के प्रायः सभी मंदिर, पूर्वमुख बनाये गये हैं। जटकरा का चतुर्भुज मंदिर एक मात्र उदाहरण है जिसका मुख पश्चिम की ओर है।

जैन मंदिर समूह में भी पार्श्वनाथ मंदिर और आदिनाथ मंदिर जो आज भी अपनी प्राचीन स्थिति में खड़े हैं, दोनों पूर्वमुख ही है। कुछ जैन मंदिरों के अधिष्ठान या मण्डप दक्षिणमुख भी दिखायी देते है। मंदिर क्रमांक ११ इसका सबल उदाहरण है। किंतु हम यह नहीं कह

सकते कि शान्तिनाथ मंदिर, जो आज पश्चिममुख बना हुआ है, वह अपनी आरम्भिक स्थिति में किस दिशा की ओर बना रहा होगा। वर्तमान मंदिर का पूरा निर्माण नया तो है ही, किसी प्राचीन अधिष्ठान का आधार लेकर (मंदिर क्रमांक ३० की तरह) भी इसका निर्माण नहीं हुआ। भगवान् शान्तिनाथ की १४ फुट ऊंची विशाल प्रतिमा स्वतः पीछे की ओर झुकी खड़ी है। ऐसा लगता है कि ६-७ फुट मोटी दीवार की डाट बनाकर प्रतिमा को आधार दे दिया और उसके ऊपर छत डाल दी गई। छत के दो शहतीरों को साधने के लिए चार-चार और तीन-तीन पुराने खम्भे एक के ऊपर एक जिस बेतरतीबी से खड़े किये गये हैं उनसे लगता है कि इस मंदिर के निर्माण के लिए कोई प्राचीन आधार प्राप्त नहीं था। बहुत संभावना है कि प्रारम्भ में भगवान् शान्तिनाथ का मंदिर भी पार्श्वनाथ और आदिनाथ की तरह पूर्वाभिमुख रहा हो।

सर अलेक्जेण्डर कनिंघम ने अपनी प्रथम खजुराहो यात्रा के समय सन् १८५२ में इस प्रतिमा की पीठिका का शिलालेख देखा था। तेरह वर्ष बाद सन् १८६५ में जब वे पुनः खजुराहो गये तब तक मूर्ति के लिए मंदिर का निर्माण हो चुका था और उसकी पठिका चूने में इस प्रकार दबा दी गयी थी कि शिलालेख पढ़ना असम्भव हो गया था। कनिंघम ने लिखा है कि इस बार पुजारियों ने उन्हें मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी। उन्नीस वर्ष बाद सन् १८८४ में सर कनिंघम के अदम्य संकल्प ने पुनः इस प्रतिमा को अपना लक्ष्य बनाया और बहुत परिश्रम के बाद वे शिलालेख को पढ़ने में सफल हो गये। उन्होंने निम्न प्रकार शब्दावली प्रतिमा की पीठिका पर पढ़ी थी— "संवत् १०८५ श्री मत् आचार्यपुत्र श्री ठाकुर श्री देवधरसुत श्री श्री श्री चन्द्रयदेवः श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमा कारीत्।" सर्वे रिपोर्ट, खण्ड २१, पृ. ६१

वर्तमान में इस मंदिर के गर्भालय का फर्श संगमरमर से जुड़ा हुआ है। और मूर्तिलेख पर चूना सीमेंट के ऐसे छींटे पड़े हैं जिनसे उसकी स्पष्टता बाधित हो गयी है। मैंने प्रयत्न करके देखा तो मेरी समझ से लेख का प्रारम्भ "संवत् १०८१" शब्दों के साथ और उसका समापन "श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमा कारापिता" शब्दों के साथ हुआ लगता है।

यह प्रतिमा अत्यन्त भाव और विशाल है। चमकदार पालिश से युक्त होने के कारण उसका आकर्षण और अधिक बढ़ गया है। सिंहासन के बीच में धर्मचक्र और शान्तिनाथ का लांछन हिरण तथा दोनों ओर शासन देवता अंकित हैं। चरणों के पास प्रतिष्ठापक गृहस्थ दम्पत्ती दोनों ओर बैठे हैं तथा चामरधारी इन्द्रों की प्रतिमाएँ उनके समीप ही बनी हैं। मूर्ति के दोनों ओर फणावली युक्त पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग आसन प्रतिमाएँ बनाकर उनके ऊपर छोटे-छोटे कोष्ठकों में पाँच-पाँच पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। यह क्रम मूर्ति की पूरी ऊंचाई तक चला गया है। खजुराहो के संग्रहालयों में शान्तिनाथ की अन्य भी अनेक प्रतिमाएँ हैं, पर उनमें कोई उल्लेखनीय विशेषता दिखायी नही देती।

महावीर प्रतिमाओं के संबंध में खजुराहो के तीर्थंकर प्रतिमा-समूह को देखकर निराशा हाथ

लगती है। अनुमान है कि पूरे समूह में महावीर की बीस से अधिक प्रतिमाएँ नहीं हैं। ये प्रतिमाएं भी साधारण परिकर और सज्जा से युक्त हैं और उनमें किसी को भी विशेष उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता। शासकीय संग्रहालय में क्रमांक ४५७ महावीर की लेखयुक्त प्रतिमा पर "प्रणमति वीरनाथ देवं" अंकित हैं। यहीं रूपकार कुमार सिंह भी लिखा हुआ है जो निश्चित ही मूर्तिकार का नाम है। इसी संग्रहालय में क्रमांक १७३१, १६३७ और १९८९, तथा जैन संग्रहालय में कुछ बिना क्रमांक की भगवान् महावीर की दर्शनीय प्रतिमाएं हैं। ऐसी मान्यता है कि जिस प्रतिमा में कोई लांछन या चिन्ह नहीं हो उसे महावीर की मूर्ति माना जाता है। इस मान्यता से यदि सर्वेक्षण किया जाये तब निश्चय ही खजुराहो में महावीर की प्रतिमाओं की संख्या सैकड़ों तक पहुंच जावेगी। परन्तु सिंह लांछन से अलंकृत और शासन-देवता सिद्धायिका से युक्त महावीर-प्रतिमाएँ वहाँ अपेक्षाकृत बहुत कम मिली है।

आदिनाथ, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के अतिरिक्त शेष बीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण खजुराहो में कई जगह यथाक्रम और आवश्यकता के अनुरूप हुआ है। ऐसी प्रतिमाओं में कोई भी ऐसी मूर्ति-शास्त्रीय विशेषता नहीं है जिसका उल्लेख यहाँ किया जाये।

उपवेदिकाएँ

मंदिर के मण्डप में दायें-बायें दोनों ओर उपवेदिकाओं की श्रृंखला चलती थी जो भीतर प्रदक्षिणा तक चली जाती थी। इन उपवेदिकाओं में विशाल परिकर के साथ अनेकों तीर्थंकर प्रतिमाएँ स्थापित रहती थी। ये उपवेदिकाएँ मण्डप में स्थान की सुविधा के अनुसार दो, चार, छः और आठ तक होती थी। खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर में ऐसी आठ उपवेदिकाएँ रही हैं। उनमें से आज एक को छोड़कर सब सूनी पड़ी है। मण्डप के बायीं ओर जिस एक उपवेदिका में प्रतिमाएँ यथा-स्थिति विराजमान है उन्हें देखकर यह जाना जा सकता है कि कला का कितना विपुल ऐश्वर्य इन वेदिकाओं में भरा रहता था। इस उपवेदिका में पूरे परिकर की रचना पाँच शिलाफलकों को मिलाकर की गयी है। बीच में एक विशाल शिलाफलक पर मूलनायक तीर्थंकर महावीर की पद्मासन प्रतिमा है दोनों किनारे के पलकों पर खड़गासन विशालकाय तीर्थंकर बनाये गये हैं। इन तीन शिलाफलकों पर आधारित ऊपर का मकरतोरण है जिसके ऊपर एक और तोरण बनाया गया है।

मूलनायक प्रतिमा का सिंहासन दो सिंहों के बीच प्रवर्तित धर्मचक्र के साथ पीठिका से झूलती झालर से युक्त है। पार्श्व में लम्बी बरठी और कलम से युक्त मयूर पर बैठा हुआ यक्ष, और दूसरे पार्श्व में अश्वारोहिणी यक्षिणी है जिसके ऊपरी हाथों में कमल या पुष्प और नीचे वरद तथा कलश हैं। सिंहासन पर पद्मासन तीर्थंकर की सेवा में चामरधारी इन्द्र खड़े हैं। त्रिशाखा प्रभामण्डल दोनों ओर से कलशाभिषेक करते हुए गजों से युक्त है। शीर्ष पर तीन छत्र हैं और

मालाधारी विद्याधारी तथा वीणावादिनी गन्धर्व कन्यायें अंकित हैं। इस प्रकार नागलोक से लेकर देवलोक तक की प्रभुता भगवान् तीर्थंकर के साथ इस संयोजना में जोड़ी गयी है।

पार्श्व के फलक मुख्य तीर्थंकर प्रतिमा के साथ पाँच-पाँच अन्य तीर्थंकर प्रतिमाओं से युक्त हैं। उनकी बाहरी शाखा पर गज, व्याल और सिंह उपस्थित हैं जो उनकी शक्ति को प्रतिबिम्बित करते हैं।

ऊपर का तोरण मंदिर के ऊपरी द्वार-तोरण या ललाट-बिम्ब की तरह संयोजित किया गया है। इसके दोनों ओर भयंकर मकरमुख अंकित हैं। तीन कोष्ठकों में दो-दो खड्गासन तीर्थंकर स्थापित किये गये हैं। इस प्रकार इस मकरतोरण पर ग्यारह तीर्थंकर प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इनके साथ नीचे के दोनों पार्श्व फलकों की बारह प्रतिमाओं को जोड़ देने पर यह संख्या तेईस हो जाती है। इस तरह बीच के फलक पर विराजमान मूलनायक भगवान् तीर्थंकर सहित इस उपवेदिका में चौबीसी का अंकन सम्पन्न हो जाता है।

मकर-तोरण के ऊपर जो ऊपरी तोरण है उसे मंदिर के शिखर की तरह गोल सूचिका, चक्र, आमलक और कलश से सजाकर समूचे परिकर को एक सम्पूर्ण मंदिर का रूप दे दिया गया है।

राम से संबंधित प्रतिमाएँ

पुराण-पुरुषों में राम का स्थान अत्यंत ऊँचा है। वे प्रायः सभी हिन्दू मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों के निर्विवाद लोकनायक है। जैन कथा साहित्य के अनुसार राम का नाम तिरसठ शलाकापुरुषों में सम्मिलित है। राम के चरित्र का वर्णन करने वाले अनेक पुराण जैन-साहित्य में पाये जाते हैं, जिनमें उनके लौकिक चरित्र के अतिरिक्त यह बताया जाता है कि अन्त में वे दीक्षा लेकर अपनी साधना से अर्हन्त अवस्था प्राप्त करके मोक्ष गये हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि राम की कथा, साहित्य में जितनी अधिक प्रचलित है, पुरातत्व के क्षेत्र में उतनी ही अछूती दिखायी देती है। प्रारम्भिक काल से लेकर गुप्तकाल और मध्यकाल में भी, मंदिरों में राम का अंकन बहुत बिरल पाया गया है। खजुराहो में भी राम के अंकन की बिरलता अथवा अभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पार्श्वनाथ मंदिर में बाह्य-भित्ति पर दो जगह राम के जीवन से संबंधित मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। उत्तरी-भित्ति पर नीचे की पंक्ति में राम और सीता को आलिंगन बद्ध मुद्रा में खड़े हुए दिखाया गया है। धनुष उनके कांधे पर लटकता हुआ अंकित किया गया है। राम के दाहिनी और हनुमान खड़े हुये हैं।

दूसरी जगह दक्षिणी भित्ति के पश्चिमी कोने पर बहुत ऊपर कर्ण शिखर के पास, एक छोटा सा मूर्तिफलक दिखायी देता है जिसमें अशोक-वाटिका का दृष्य अंकित है। एक विशाल वृक्ष के तने का सहारा लेकर सीता शोकमग्न बैठी हुई है और उनके सामने हनुमान विनीत

मुद्रा में बैठे हुए कुछ निवेदन कर रहे हैं। पीछे की ओर दो दासियाँ हाथ में खांडा लिये देवी सीता पर पहरा देती हुई दिखायी गयी हैं।

पार्श्वनाथ मंदिर के इन दो फलकों को छोड़कर समूचे खजुराहो में राम की मूर्ति अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होती। शैव और वैष्णव मंदिरों में भी नहीं और संग्रहालयों में भी नहीं।

द्वार तोरण

जैन-मंदिरों के प्रवेशद्वार पर देवालय का स्वामित्व सूचित करने के लिए प्रायः ललाट-बिम्ब के रूप में शासनदेवता को ही विराजमान किया जाता है। परन्तु कहीं-कहीं उनके स्थान पर तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी देखी गयी हैं। हम देखते हैं कि गुप्तकाल में विष्णु मंदिरों के प्रवेश द्वार पर बैठने वाले गरुड़ का स्थान मध्यकाल में त्रिदेवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने ले लिया था। संभव है इसी के अनुकरण में जैन मंदिरों के द्वार तोरण पर शासन-देवताओं के स्थान पर तीर्थंकर प्रतिमाओं को विराजमान करने की परम्परा चल पड़ी हो। खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर के गर्भगृहों में प्रवेश द्वार पर ऊपरी तोरण दो पंक्तियों में बनाया गया है। ऊपरी की पंक्ति में पाँच कोष्ठकों में पद्मासन तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं। आदि, मध्य तथा अन्त के कोष्ठकों के बाहर दो-दो खड़गासन प्रतिमाएँ अंकित की गयी हैं। इनके मध्य में चार चामरधारिणी देवियों का अंकन है। तोरण की निचली पंक्ति पर आदि और अन्त में कायोत्सर्ग आसन और बीच में पद्मासन तीर्थंकर स्थापित हैं। आदि और बीच में पद्मासन तीर्थंकर स्थापित हैं। आदि और अन्त के कोष्ठकों में दोनों और दो-दो चामरधारिणी सेविकाएँ हैं तथा बीच के कोष्ठक में शार्दूल तथा मकरमुख अंकित हैं। कोष्ठकों के मध्य में नवग्रह बनाये गये हैं।इस प्रकार प्रवेश द्वार पर शासनदेवियों का अस्तित्त्व नहीं है। तीर्थंकर प्रतिमाएँ ही यहाँ विराजमान हैं। इसी पार्श्वनाथ मंदिर का बाहरी प्रवेश द्वार भी दोहरे तोरणों से बनाया है। यहाँ नीचे के तोरण पर तीन शासनदेवियाँ, बीच में नवग्रह को अंकित कर बनायी गयी हैं। किन्तु ऊपरी तोरण पर तीनों कोष्ठकों में पद्मासन तीर्थंकर विराजमान हैं और उनके बीच में आचार्य की पूजा करते हुए दिगम्बरों साधुओं की पंक्तियाँ दिखायी गयी हैं। ये साधु युवा, प्रौढ़ और वृद्ध सभी तरह के हैं। उनके हाथ में मयूरपिच्छिका का स्पष्ट अंकन है।

मंदिर क्रमांक २० का प्रवेशद्वार शासनदेवियों और तीर्थंकरों के अंकन का एक समन्वित रूप प्रस्तुत करता है। यहाँ आदि और अन्त में कोष्ठकों में चक्रेश्वरी और अम्बिका अंकित हैं किन्तु बीच में आठ मुनिराजों से वंदित भगवान् अरहन्त विराजमान किये गये हैं।

आदिनाथ मंदिर के प्रवेशद्वार पर शासनदेवियों के पाँच कोष्ठक बनाये गये हैं। आदि में अम्बिका, मध्य में चक्रेश्वरी और अन्तिम कोष्ठक में देवी पद्मावती स्थापित है। इनके मध्य में कोष्ठक चतुर्भुजी देवियों से भरे हैं। बीच-बीच में चामरधारिणी सेविकाएँ और शार्दूल बनाकर

इस तोरण को अत्यन्त भव्यता प्रदान की गयी है। इस प्रवेशद्वार की एक और विशेषता है। दोनों ओर के तोरण, जिनकी संयोजना, सप्तशाखा रूप में हुई है, इस प्रकार सजाये गये हैं कि उनके बीच की मिथुन शाखा की देवी को शाखा के रूप में अंकित किया गया है। इस शाखा पर चार-चार कोष्ठक बनाकर दोनों और कुल मिलाकर आठ देवियाँ विराजमान हैं। द्वार के निचले तोरण पर भी अलग-अलग कोष्टकों में देवता-युगल और कलशवाहक अंकित किये गये हैं। इस प्रवेशद्वार पर सबसे ऊपर एक और फलक लगाया गया है जिस पर तीर्थंकर की जननी के सोलह स्वप्नों का अंकन है।

शासन-देवियों से युक्त किन्तु अपेक्षाकृत छोटा प्रवेश द्वार मंदिर क्रमांक २२ में भी उपलब्ध है। यहाँ पार्श्व-तोरणों पर चार की जगह तीन-तीन देवियों को स्थान मिला है किन्तु शीर्ष तोरण की रचना आदिनाथ मंदिर के समान ही है।

शासकीय संग्रहालय में क्रमांक १७२४ में तीर्थंकरों से युक्त द्वार-तोरण का एक सुंदर नमूना प्रस्तुत हुआ है। इस तोरण पर तीन कोष्ठकों में पद्मासन तीर्थंकर विराजमान हैं। कोष्ठकों के मध्य में खड़े हुए दो तीर्थंकर तथा दूसरी ओर बाहुबली और भरत की प्रतिमाएँ अंकित हैं। सबसे ऊपर दो और तीर्थंकर पद्मासन में विराजमान हैं।

द्वार-तोरणों के अतिरिक्त तीर्थंकर प्रतिमाओं से युक्त अनेक ऐसे तोरण भी खजुराहो में प्राप्त हुए हैं जो संभवतः उपवेदिकाओं में या विशाल तीर्थंकर-प्रतिमाओं की ऊपरी पटल की सज्जा में प्रयुक्त किये होंगे। जैन संग्रहालय में ऐसे ही अनेक तोरण है। इनमें से कई तो अपने युग की कला का यथार्थ और प्रभावक प्रतिनिधित्व करते हैं।

अलंकरण-प्रतिमाएँ

आराध्य प्रतिमाओं के अतिरिक्त मध्य काल में मंदिरों में अलंकरण और सज्जा के अभिप्राय से नाना प्रकार की प्रतिमाएँ तथा ऐसे ही कुछ प्रतीक अंकित करने की प्रवृत्ति रही है। खजुराहो के मंदिरों में अलंकरण और साज सज्जा का यह अंकन बहुतायत से हुआ है।यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि—"खजुराहो के मंदिर अपनी आराध्य प्रतिमाओं के कारण नहीं, वरन् अलंकरण और सज्जा के बहाने बनायी गयी सुर-सुन्दरी और अप्सरा प्रतिमाओं के कारण अधिक प्रसिद्ध हैं।" अलंकरण की इन प्रतिमाओं को मुख्य रूप से तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है। प्रथम कोटि में सुर-सुन्दरियों किन्नर-बालाओं तथा नृत्य-मग्ना अप्सराओं की वे विश्वविख्यात प्रतिमाएँ हैं जिनकी रुपराशि समूचे खजुराहो पर छायी हुई है, उसके नाम की पर्याय बन गयी है। दूसरी कोटि में गन्धर्वों और विद्याधरों की उस प्रतिमा पंक्ति को रखा जा सकता है जो खजुराहो की बाह्यभित्ति पर सबसे ऊपरी पंक्ति पर मंदिर की ग्रीवा में, मोतियों की माला की तरह दिखायी देती हैं। अलंकरण की विद्या में गजरा, बघमुँहा, चूरा, बंगरी तथा

फलफली, बोंहटा, बखौरा आदि आभरणों का यथास्थान चित्रण है। इसी प्रकार माथे पर बिंदिया, दामिनी, शीशफूल, और सिर पर पुष्पमाला, पुष्पमुकुट, जटामुकुट, मुक्तादाम और स्वर्ण श्रृंखलाओं का बहुलता से अंकन किया गया है देवमूर्तियों पर भी कतिपय आभूषणों का तथा उनकी विभिन्न आयुध आदि सामग्री का सुन्दरतम अंकन करने में यहाँ का कलाकार सजग रहा है।

बाह्य भित्ति तथा प्रदक्षिणा-पथ के इन प्रतिमा-पट्टों पर अंकित मूर्तियों के निर्माण में खजुराहो के कलाकार की निर्माण-क्षमता और उनकी छेनी का संयम तथा सूक्ष्मता इतने जोरों से उजागर हो उठी है कि लगता है कलाकार की साधना ही जैसे मूर्तिमती होकर प्रतिष्ठित हो गयी है। कामिनी की कमनीय देह-वल्लरी की हर संभव लोच और लचक को पाषाण जैसे कठोरतम उपादान पर पूरी कोमलता के साथ प्रस्तुत कर सकने में यहाँ के कलाकार को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

आभरण, अलंकार, आयुध और परिकर के अतिरिक्त खजुराहो की विशेषता तो इन प्रतिमाओं के मुख पर विभिन्न मनोभावों का वह चित्रण है, जिसके बल पर यह कहने को मन होता है कि यहाँ के कलाकार ने स्थूल शरीर का ही निर्माण करके विराम नहीं लिया, वरन् उनमें प्राण-संचार का भी चमत्कार कर दिखाया है। लोकजीवन के समस्त विधाओं का परिचय इन चित्रणों में प्राप्त है। जन्म और मरण, क्षुधा और तृप्ति, साता और असाता, नृत्य और युद्ध, आखेट और आनन्द, सृन और संरक्षण, निर्माण और संहार तथा राग और विराग का ऐसा अनन्य चित्रण इस एक ही स्थान पर देखने को मिल जाता है ऐसा लगता है कि समय की गति अवरुद्ध हो जाये हम. चिरकाल तक उसका रस लेते रहें।

सज्जा के ये रुपवान उपकरण इतने ही नहीं हैं। मण्डप को पुष्पहार की तरह पहिनाये गये तोरणों का, कमल की तरह छत पर छायी पद्मशिलाओं का, हिमालय की बहुविध उभरी हुई चोटियों की तरह उरुशृंगों और कर्ण-शिखरों का तथा मंदिर में वांछित कोण से परावर्तित प्रकाश पहुँचाकर एक रहस्यमय वातावरण के निर्माण करने वाली झिंझरी-दार-झरखों का तथा चैत्य-गवाक्षों का इस सज्जा-योजना में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है।

कुछ महत्वपूर्ण शिलालेख

खजुराहो के जैन मन्दिर-समूह के अनेक छोटे-बड़े शिलालेख और मूर्तिलेख अंकित हैं। इन लेखों के द्वारा इस कला-भण्डार के निर्माण का इतिहास हमें ज्ञात होता है और उसके निर्माताओं के प्रति अपना सम्मान प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता है। यहाँ हम दो लेखों की चर्चा करेंगे।

पार्श्वनाथ के मंदिर के द्वार पर विक्रम संवत् १०११ का एक शिलालेख है। पुरातत्ववेत्ताओं की राय में यह शिलालेख मंदिर-निर्माण के कुछ काल पश्चात् उत्कीर्ण किया गया लगता है।

मंदिर-निर्माताओं की विनम्रता प्रकट करने में यह शिलालेख बेजोड़ है। लेख का पाठ इस प्रकार है:

ओं संवत् १०११ समये। निजकुल धवलोयम् दिव्यमूर्ति स्वसील, सहमदम गुण युक्त सर्व सत्वानुकम्पी। स्वजन जनित तोषो धांग राजेन मान्यः प्रणमति जिन नाथोयं भव्य पाहिल नामा। पाहिला वाटिका १. चन्द्र वाटिका २. लघु चन्द्र वाटिका ३. संकर वाटिका ४. पंचाई तल वाटिका ५. आम्र वाटिका ६. धगवाड़ी। पाहिल वंसे तु क्षये क्षीणे अपर वंसो कोपि तिष्ठति। तस्य दासस्य दासोयम् मम दत्तिस्तु पाल येत। महाराज गुरु श्री वासव चन्द्र। वैशाष सुदि सोम दिने।

इस लेख में पाहिल श्रेष्ठी द्वारा महाराज धंग के राज्यकाल में इस जिनालय का निर्माण कराये जाने का उल्लेख है। इस मंदिर की पूजा-व्यवस्था के लिए श्री पाहिल द्वारा सात वाटिकाओं (उपवनों) का दान भी इस मंदिर को दिये जाने का इसमें उल्लेख है। मंदिर-निर्माता ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह भी लिखा है कि इस निरंतर क्षीयमाण संसार में जो कोई मेरे इस दान की पालना (मंदिर की सुरक्षा) करेगा, मैं अपने आपको उसके दास का भी दास मानता हूँ।

इस प्रकार एक ओर जहाँ अपनी विराटता, सज्जा और सौन्दर्य में पार्श्वनाथ जिनालय अद्वितीय है, वहीं दूसरी ओर ऐसे भव्य निर्माण के श्रेष्ठ अधिकारी द्वारा इतनी नम्रता और अकिंचनता से भरा हुआ इस मंदिर का यह शिलालेख भी अपने ढंग का अद्वितीय ही है।

एक अन्य वेदी पर तीसरे तीर्थंकर भगवान् संभवनाथ की श्याम पाषाण की एक विशाल प्रतिमा खण्डित अवस्था में रखी है। यह प्रतिमा यद्यपि खजुराहो की कलाकृति नहीं है। निश्चय ही राजस्थान से मँगाकर इसे स्थापित किया गया होगा, परन्तु संवत् १२१५ का इस प्रतिमा का लेख कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। लेख इस प्रकार है—

"ओं, संवत् १२१५ माघसुदि ५, श्रीमान् मदनवर्म देव प्रवर्धमान विजय राज्ये। गृहपति वंसे श्रेष्ठि देदू तत् पुत्र पाहिल्लः। पाहिल्लांग रुह सादु साल्हे नेदं प्रतिमा कारतेति तत् पुत्राः महागण। मही चन्द्रासि चन्द्र जिन चन्द्र उदय चन्द्र प्रभृति। संभवनाथं प्रणमति नित्यम्। मंगलं महाश्री। रूपकार रामदेव।"

इस मूर्ति लेख से ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा उन्हीं पाहिल सेठ के वंशधरों द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई जिन्होंने उसके दो सौ वर्ष पूर्व खजुराहो में ही विशाल और कलात्मक पार्श्वनाथ मंदिर का निर्माण कराया था। इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि पाहिल के पिता का नाम देदू था, और जिन धर्म तथा जिनायतनों के प्रति जो निष्ठा और आस्था पाहिल में थी वह उनकी संतान-परम्परा में सैकड़ों वर्षों तक उसी प्रकार बनी रही। पाहिल के वंशज साल्हे ने इस प्रतिमा की स्थापना कराई. उनके पुत्रों महागण, महीचन्द्र, जिनचन्द्र, उदयचन्द्र, आदि का भी इसमें उल्लेख है। लेख के लेखक रामदेव का भी उसमें उल्लेख किया गया है।

पार्श्वनाथ मंदिर वाले लेख में पाहिल सेठ के गुरु श्री वासवचन्द्र का भी उल्लेख आया

है। स्व. श्री धन्य कुमार "सुधेश" ने उसके बारे में लिखा है कि "ये सुप्रसिद्ध, दीर्घजीवी, दिगम्बराचार्य थे। ये संवत् १०६६ तक जीवित रहे तथा उन्होंने कई ग्रंथों की रचना भी की थी।"

मंदिरों में यत्र-तत्र मूर्ति-निर्माता शिल्पियों के नाम अंकित पाये जाते हैं। इनमें माहुल, गोलल, देवशर्मा, तातू, जयसिंह, पीषन, रामदेव आदि अनेक नाम पढ़े गये हैं। ये सब नाम संदर्भहीन होते हुए भी संयोजना करने पर हमारी कला के इतिहास की बहुमूल्य कड़ियाँ सिद्ध हो सकते हैं।

शान्तिप्रसाद जैन कला संग्रहालय

खजुराहो की जैन कलाकृतियाँ की चर्चा तब तक अधूरी ही रहेगी जब तक उनमें जैन संग्रहालय में प्रदर्शित कलाकृतियों का समावेश न कर लिया जाय। लगभग पचास वर्षों से जो अनेक तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा महत्वपूर्ण कलाकृतियाँ यहाँ बाहरी परकोटे की दीवार में जड़ी थी या यत्र-तत्र मंदिरों की दीवारों में लगी थी, उन्हें एकत्रित करके किसी एक जगह प्रदर्शित करने की आवश्यकता बहुत समय से महसूस की जा रही थी। प्रसन्नता की बात है कि लगभग चार लाख रुपये की लागत से अब वहाँ एक सुन्दर संग्रहालय भवन निर्मित हो गया है और उसमें प्रदर्शित करके ये कलाकृतियाँ खजुराहो के यात्रियों को देखने के लिए उपलब्ध करा दी गई हैं। इन मूर्तियों में से कुछ तीर्थंकरों मूर्तियों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। द्वार-तोरण तथा धरणेन्द्र-पद्मावती-युगल और शासन-देवताओं की कुछ पृथक् मूर्तियों को हम इस संग्रहालय की विशेषता कह सकते हैं। तीर्थंकर मूर्तियों में युगल प्रतिमाएं, पाँच बाल-यति मूर्तियाँ, सर्वतोभद्रिका और चौबीस फलक भी इस संग्रहालय खजुराहो की जैन कला का एक परिपूर्ण कोषालय है जिसकी महत्ता का आकलन उसे देखे बिना नहीं किया जा सकता।

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

राजस्थान के जैन तीर्थ : एक झलक

❑ *पं. मोतीलालजी*

तीर्थ-यात्रा के संदर्भ में राजस्थान के तीर्थ क्षेत्र भी यात्रियों का मन मुग्ध किये बिना नहीं रहते। सिद्ध क्षेत्र तो राजस्थान में है नहीं, किन्तु अतिशय क्षेत्र यात्रियों को सहज में ही आकर्षित किये बिना नहीं रहते। जिसने राजस्थान के तीर्थक्षेत्रों की वंदना नहीं की, उसकी यात्रा अपूर्ण मानी जाती है। अतिशय (चमत्कार) को नमस्कार करने की सहज प्रवृत्ति लोक-व्यवहार में सदा से चली आ रही है, क्योंकि संसार की रीति-नीति सकाम भक्ति की ओर रहना स्वाभाविक है। सकाम भक्ति से मनोकामनाएँ सिद्ध करने की परिपाटी कोई नवीन नहीं, आदि युग से चली आ रही है। नमि-विनमि नाम के दो राजकुमारों ने राज्याभिलाषा से तपोवन में आदि तीर्थंकर भ. ऋषभदेव की सकाम भक्ति ही तो की थी और उस भक्ति के प्रभाव से उन्हें विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर-दक्षिण श्रेणी की राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई थी। वे दोनों कुमार विद्याधरों के वैभवशाली भूपति हुए। यद्यपि निष्काम भक्ति करने की ही जिनाज्ञा है क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए यही भक्त के लिए उपादेय है। तथापि सकाम भक्ति भी सर्वथा हेय नहीं है। जैन दर्शन में निष्काम भक्ति को ही प्रशस्त कहा है क्योंकि इस भक्ति से जो पुण्य संचय होता है उससे स्वयमेव मनोरथ परिपूर्ण होते हैं। भावना पर निर्भर करता है कि वह कौन-सी भक्ति करे।

वीरभूमि राजस्थान के जगमगाते तीर्थ ये हैं:— श्री महावीर जी, पद्मपुरा, तिजारा, चमत्कारजी, ऋषभदेव केशरियाजी, चाँदखेड़ी, रणकपुर, माउंट आबू, चित्तौड़, नागफणी, अन्देश्वर, अणींदा, नाकोड़ा, लुणवा आदि। जैन संस्कृति के आलोक में उपर्युक्त तीर्थ क्षेत्रों का अपना ऐतिहासिक महत्व है, इसलिए कि भारतीय इतिहास के पतन-काल में अनेक प्रतिमाएं जो भूगर्भ में विराजमान कर दी थीं, दैवी चमत्कारों से पुनः प्रकट होकर अतिशय सौरभ से सुरक्षित हुई। शूरवीर राजाओं के शासन काल में जिनेंद्र भक्तों ने उदार हृदय से विशाल जिन मन्दिरों का निर्माण कर, शिल्पदृष्टि से मनमोहक वास्तुकला के जगमगाते ऐसे तीर्थ बनाये जिनका महत्व सम्पूर्ण भारत में फैल गया। तीर्थंकरों की अतिशय वृद्धि का सौभाग्य राजस्थान को सर्वाधिक मिला। ये सभी तीर्थ हमारे सांस्कृतिक वैभव हैं जिन पर न केवल जैन समाज को अपितु देश को गर्व है। जिन शासन की महिमा के सूचक इन तीर्थ क्षेत्रों की झलक देखिये:—

श्री महावीर जी

यह अखिल भारतवर्षीय दिगंबर जैन समाज की श्रद्धा का केंद्र स्थल तो है ही, साथ ही सार्वजनिक रूप से इसका महत्व अन्यतम है। रेल्वे स्टेशन का नाम "श्री महावीर जी' है। सवाई माधोपुर जिले में चाँदपुर ग्राम महावीरजी से जाना जाता है। यातायात की पर्याप्त सुविधाएँ हैं। हजारों दर्शनार्थियों का आगमन होता रहता है। कई धर्मशालाएँ हैं। मूल मन्दिर दर्शनीय है। सुरम्य वातावरण है। तीर्थ का प्राचीन इतिहास और भौगोलिक स्थिति विस्तृत और व्यापक है। भ. महावीर के अतिशय से तीर्थक्षेत्र का ऐसा विकास हुआ कि उसके प्रांगण में शान्तिवीर नगर, कृष्णा बाई मुमुक्षु महिलाश्रम, कमलाबाई आदर्श महिला विद्यालय आदि अनेक संस्थाएँ, मनोहर जिनालय स्थापित हुए। गम्भीरा नदी के तट पर बसे इस क्षेत्र की महिमा पर जितना भी लिखा जाय, कम है। यह क्षेत्र देखते ही बनता है।

पद्मपुरा

वि. सं. २००१ में खुदाई करते समय भ. पद्मप्रभ की चमत्कारी मनोज्ञ प्रतिमा का भूगर्भ से प्रकट होना एक ऐतिहासिक महत्व प्रदान करता है। निरन्तर चमत्कार बढ़ता ही चला गया, अतः हजारों यात्री आते रहे। परिणामस्वरूप अपनी शैली का एक गोलाकार जिन मंदिर का निर्माण हुआ। विशाल धर्मशाला बनी। सभी सुविधाओं से परिपूर्ण यह क्षेत्र जयपुर के निकट पद्मपुरा नाम से विख्यात है।

तिजारा

अलवर जिले में भूगर्भ से मूर्ति प्राप्त होने के अल्प समय में तिजारा तीर्थक्षेत्र हो गया। विशाल मंदिर और धर्मशाला बनी। पंच कल्याणक प्रतिष्ठा हुई। हजारों यात्री आते हैं, चमत्कार को नमस्कार हो रहा है।

चमत्कारजी

सवाई माधवपुर में भ. आदिनाथ स्वामी की हीरे की प्रतिमा का चमत्कार ऐसा रहा कि क्षेत्र का नाम चमत्कारजी ही हो गया। भूतल से कई जिनबिम्ब प्रकट हुए।

ऋषभदेव-केशरियाजी-उदयपुर जिले में नेशनल हाईवे नं. ८ पर भ. ऋषभदेव के अतिशय से १२०० वर्ष पुराना तीर्थक्षेत्र ऋषभदेव केशरिया जी नाम से ही विख्यात है। भ. ऋषभदेव का बावन जिनालय, शिखर-कोट आदि से युक्त विशाल मन्दिर, वास्तुकला का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से यह क्षेत्र सब प्रकार से दिगम्बर होते हुए भी अतिशय चमत्कारों

से सार्वजनिक रूप में पूजा जाता है। यह इसकी अन्यतम विशेषता है। यहाँ दिगम्बर जैनों के ३00 घर हैं। भ. यशःकीर्ति दि. जैन गुरुकुल है। गुरुकुल में स्थित सुन्दर मन्दिर है जिसमें भ. ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा विराजमान है। बड़ी-बड़ी धर्मशालाएँ हैं, यातायात व्यवस्था उच्चकोटि की है।

चाँदखेड़ी

श्रवणबेलगोला के भ. बाहुबली के बाद यदि शिल्प-सौंदर्य से श्रेष्ठतम कोई मूर्ति है, तो वह है चाँदखेड़ी के बाबा भ. ऋषभदेव की, प्रस्तर की साढ़े छह फीट उत्तुंग पद्मासन, एकदम मनोज्ञ एवं अतिशय पूर्ण। वि. सं. १७४२ में भूगर्भ से प्रकट हुई प्रतिमा से खानपुर के चाँदखेड़ी क्षेत्र का अभ्युदय हुआ। इस क्षेत्र पर ६00 प्रतिमाएँ है। झालावाड़ जिले में यह तीर्थ है। कोटा की ओर से कमेटी देख-रेख करती है। झालावाड़ से बस सेवा उपलब्ध है। क्षेत्र पर समवसरण रचना दर्शनीय है।

रणकपुर

शिल्पकला की दृष्टि से रणकपुर के जैन मंदिरों की विशालता देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। जैन संस्कृति का वैभव बिखरा हुआ प्रतीत होता है। उदयपुर माऊंट आबू मार्ग पर रणकपुर के मन्दिर क्षेत्र की महिमा बढ़ा रहे हैं।

माउंट आबू

अरावली पर्वतमाला की उच्चतम चोटियों के अंचल में प्राकृतिक सुषमा से अलंकृत देलवाड़ा के जैन मन्दिर शिल्पकला के लिए विदेशियों को भी चकित करने में अग्रगण्य हैं। भारतीय वास्तुकला के ये ज्वलन्त उदाहरण हैं। शायद ही कोई ऐसा होगा जिसने आबू के अचलगढ़ और देलवाड़ा के मंदिरों को नहीं देखा हो। प्राकृतिक सौंदर्य आध्यात्मिक रंग से रंगा हुआ है। इस क्षेत्र का सार्वजनिक महत्व है।

अन्देश्वर

बाँसवाड़ा एवं कुशलगढ़ जिले का यह क्षेत्र भ. पार्श्वनाथ स्वामी के अतिशय से सुरम्य गोद में बसा हुआ है। क्षेत्र पर आचार्य श्री विमलसागर जी व उपाध्याय श्री भरतसागरजी का संघ सहित पदार्पण हुआ। इन्हीं की प्रेरणा से यहाँ चौबीसी व मानस्तंभ निर्माण व त्रिमूर्ति (आदिनाथ, भरत, बाहुबली) का निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ है। यहाँ का कांच मंदिर दर्शनीय है

तथा यह बागड़ प्रान्त का सम्मेद शिखर माना जाता है।

नागफणी पार्श्वनाथ

उदयपुर-अहमदाबाद रोड पर बिछीवाड़ा के निकट गहन जंगल के गर्त में एक प्राचीन तीर्थक्षेत्र है। वीरासन में धरणेन्द्र देव भ. पार्श्वनाथ स्वामी को अपने सिर पर धारण किये हुए फणावली सहित चमत्कार से परिपूर्ण विराजमान हैं। मूल प्रतिमा के नीचे से झरना बहता हुआ मन्दिर के अग्रभाग में यात्रियों को जल प्रदान करता है। सुन्दर मन्दिर बना हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य मन मुग्ध करने वाला है। तपोवन जैसा शान्तमय वातावरण है।

लुणवा

दि. जैन अतिशय क्षेत्र है। भूगर्भ से भ. चन्द्रप्रभ भ. शांतिनाथ की प्रतिमाएँ अति प्राचीन एवं बहुत चमत्कारी हैं। आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज के चातुर्मास कारण क्षेत्र की बहुत प्रसिद्धि हुई। फाल्गुन में बड़ा मेला लगता है। निःशुल्क भोजनादि की उत्तम व्यवस्था है।

चित्तौड़

जैन कीर्तिस्तम्भ दर्शनीय है। मेवाड़ की पुरानी राजधानी एवं जैन प्रतिमाओं से अलंकृत ऐतिहासिक स्थल है। यात्रा के संदर्भ में देख सकते हैं।

और भी कई क्षेत्र हैं। लेख विस्तार भय से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों की संक्षेप में झलक दी है। तीर्थ क्षेत्र हमारी संस्कृति के मूल प्राण हैं। निश्चय ही, भारतमाता के अंचल में राजस्थानी तीर्थ जैन धर्म के जयघोष से गूँज रहे हैं।
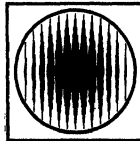
पोदनपुर : बाहुबली की राजधानी

❑ डा. गुलाबचन्द्र जैन

आदिनाथ ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली की राजधानी पोदनपुर थी या तक्षशिला? यदि पोदनपुर थी तो वह प्राचीन भारत के उत्तरी भाग के किसी अंचल में थी या फिर दक्षिणापथ के किसी विशेष भू-भाग में? भौगोलिक इतिहास का यह पृष्ठ एक निश्चित एवं तथ्यपूर्ण दृष्टि के अभाव में आज भी अधखुला पड़ा है।

दिगम्बर परम्परा में, पोदनपुर को बाहुबली की राजधानी मानने में मतैक्य है किन्तु यह नगरी उनकी निर्वाणभूमि भी थी, इसमें स्पष्टतः मतवैभिन्य पाया जाता है।

आचार्य जिनसेन कृत हरिवंशपुराण (सर्ग ११, श्लोक ९८, १०२) के अनुसार बाहुबली ने कैलास पर प्रतिमायोग धारण कर एक वर्ष तक घोर तपश्चर्या की और कैवल्योपलब्धि के पश्चात् पृथ्वी पर विहार करते हुए अन्त में वे तीर्थंकर ऋषभदेव के सभासद हो गये और कैलास पर मुक्ति को प्राप्त हुए। इधर आचार्य पूज्यपाद ने निर्वाणभक्ति में पोदनपुर को निर्वाण क्षेत्र स्वीकार किया है।

> ऋष्याद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च,
> विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च।

मुनि उदयकीर्ति कृत अपभ्रंश 'निर्वाणभक्ति' में भी पोदनपुर का उल्लेख भगवान् बाहुबली की निर्वाणभूमि के रूप में हुआ है। 'शासनचतुर्विंशति' के कर्ता मदनकीर्ति (१३वीं शती विक्रमाब्द) ने पोदनपुर में भरत द्वारा स्थापित तदाकार मूर्ति की स्तुति करते हुए लिखा है :

> अद्यापि प्रतिभाति पोदनपुरे यो वन्द्यवन्द्यः स वै,
> देवो बाहुबली करोतु बलवद्दिग्वाससां शासनम्॥

चामुण्डराय की माता काललादेवी ने जब जैनाचार्य मुख से भरत निर्मित पोदनपुर की तदाकार बाहुबली-मूर्ति की कथा सुनी तो वे उस मूर्ति के दर्शन के लिए संकल्प कर बैठी और अन्त में उसकी परिणति श्रवणबेलगोल में विन्ध्यगिरि पर महामात्य एवं प्रधान सेनापति चामुण्डराय द्वारा स्थापित विशालकाय विश्ववन्द्य बाहुबली की मूर्ति के रूप में हुई। अस्तु, इन सबसे इस तथ्य की संपुष्टि होती है कि पोदनपुर बाहुबली की राजधानी तो थी ही, वह निर्वाणभूमि भी थी। यह भी माना जा सकता है कि निर्वाण स्थल कैलास हो और स्मृति प्रतीक अतिशय क्षेत्र पोदनपुर रहा हो।

आदिदेव ऋषभ के पुत्रों में भरत के बाद बाहुबली का नाम आता है। अतः राज्य का बंटवारा करते समय बाहुबली को जिस प्रदेश का शासक बनाया गया वह निश्चित ही भरत की राजधानी अयोध्या से कम वैभवशाली नहीं रहा होगा। ऋषभ के बाद अन्य तीर्थंकरों के तीर्थों में होने वाले राजा महाराजाओं का संबंध भी इस प्रसिद्ध नगर से रह आया। जैन पुराणों तथा कथा साहित्य में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है जो पोदनपुर में या फिर उसके निकट घटित हुई है लेकिन उन सबसे इस नगर की भौगोलिक स्थिति पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

१९३७ ई. में बाबू कामता प्रसाद ने पोदनपुर तक्षशिला को लेकर 'Jaina Antiquities' में एक विस्तृत लेख दिया था जिसमें उन्होंने अनेक उद्धरणों द्वारा पोदनपुर की स्थिति भारत के दक्षिण में प्रमाणित करने का प्रयास किया है। बाद के अन्य विद्वानों का रुख भी बिना कुछ विशेष प्रयत्न किये बाबू कामता प्रसादजी की ओर झुका हुआ लगा।

पोदनपुर भारत के दक्षिणापथ में था इस बात की संपुष्टि में प्रायः जिन प्रसंगों को लिया जाता है उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण (सर्ग ७३/६) में लिखा है :

जम्बूविशेषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान्।
सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदनं पुरम्॥

इसका अर्थ किया गया-जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में महान्, सुरम्य देश है और उसमें पोदनपुर नामक एक विशाल नगर है। 'आदिपुराण' (अ. ३५, श्लोक २८-२९) में उल्लेख है कि भरत का दूत जब पोदनपुर पहुँचा तो नगर के बाहर पकी हुई धान तथा गन्ने के भरे हुए खेतों की छटा देखकर आकर्षित हुए बिना नहीं रहा। दूत को वहाँ पहुँचने में अधिक दिन भी नहीं लगे :

क्रमेण देशान् सिन्धूश्च देशसधीश्च सोऽतियन्।
प्रापत् संख्यातरात्रैस्तत्पुरं पोदनसाह्वयम् ॥

यहां 'असंख्यात' न कहकर कवि द्वारा संख्यात का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ कुछ ही दिनों में किया जाता है। बाबू कामता प्रसाद जी के अनुसार, यह इस बात का द्योतक है कि पोदनपुर अयोध्या से इतनी दूर उत्तर में न होकर मध्यप्रदेश के दक्षिण में ही कहीं होना चाहिये जहाँ आज भी गन्ने तथा चावल की खेती प्रचुर मात्रा में होती है। आदिपुराण में वर्णित पोदनपुर की नारियों की वेशभूषा भी, उनके अनुसार, दक्षिण की पारम्परिक वेशभूषा से मेल खाती है।

वादिराज सूरि ने 'पार्श्वनाथचरित' (सर्ग १, २) में पोदनपुर की सुरम्य देश में स्थिति तथा सुरम्य देश को शालिधान से भरपूर बतलाया है। 'पुण्याश्रव कथाकोष' (कथा २) में भी 'सुरम्यदेशस्य पोदनेश' वाक्य मिलता है। यही सुरम्य देश 'यशस्तिलकचम्पू' में रम्यक हो गया है— 'रम्यकदेशनिवेशोपेतपोदनपुरनिवेशिनो...' अर्थात् रम्यक देश में स्थित पोदनपुर के निवासी।

यह सुरम्य या रम्यक देश दक्षिणापथ का ही भाग था। इसकी संपुष्टि में यूनानी लेखक टोलनी के रमने' शब्द की ओर भी समीक्षकों की दृष्टि गई है। टोलमी ने 'रमने' की अवस्थिति मध्यप्रदेश में बतलायी है। वर्तमान में यह मध्य देश मध्य प्रदेश का दक्षिणी भाग, महाराष्ट्र का बरार तथा हैदराबाद का मिला जुला हिस्सा है। समीक्षकों की दृष्टि में सम्भवतः यही "रमने" जैन आचार्यों द्वारा वार्णित रम्यक् या सुरम्य देश रहा होगा।

जैनेतर साहित्य में पोदनपुर के स्थान पर पोटलि, पोतलि, पौदन्य, पोतन आदि अनेक नाम मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथ चुल्लकलिंग अस्सक' जातक में पोटलि को अस्सक प्रदेश की राजधानी बतलाया है। 'सुत्तनिपात' के अनुसार यह अस्सक देश गोदावरी के निकट सक्य पर्वत तथा दण्डकारण्य के मध्य स्थित विस्तृत भू-भाग माना जाता है। वाल्मीकि रामायण के 'किष्किन्धाकाण्ड' में अश्मक देश की स्थिति भारत के दक्षिण पश्चिमोत्तर में निरुपति हुई है। महाभारत के द्रोण एवं पर्व में अश्मकपुत्र का वर्णन है और उसकी राजधानी पोत्तनास पातलि या पोदन्य बतलायी गयी है।

यही नहीं, वराहमिहिर' और शकटायन ने भी अश्मक का आंध्र के बाद उल्लेख किया है। कौटिल्य ने अश्मक देश को हीरों के लिए प्रसिद्ध बतलाया है। वर्तमान में हैदराबाद के निकट गोलकुण्डा हीरों के लिए प्रसिद्ध है। हरिवंशपुराण के कर्ता के भी अश्मक की गणना भारत के प्रदेशों में की है और उसे भरत के अन्य भाईयों को दिये गये राज्यों में से एक माना है।

उपर्युक्त आधारों पर कुछ एक विद्वानों ने अस्सक या अश्मक को ही सुरम्य या रम्य मानकर उक्त पोदन्य, पौतन या पातलि को आलोच्य पोदनपुर ठहराया है।

हेमचन्द्र राय चौधरी ने महाभारत के पोदन्य या बौद्ध ग्रंथ के पोटलि की पहचान आधुनिक बोधन से की है जो वर्तमान आंध्र प्रदेश के मजिरा गोदावरी संगम से दक्षिण में अवस्थित है। इसके समर्थन के लिए 'वसुदेवहिण्डी' (पद्मावती लम्ब) के निम्नलिखित उद्धरण को दिया गया है। जिसमें गोदावरी को पार कर पोदनपुर पहुँचने का उल्लेख है।

उत्तिण्णमो गोयावरि नदिं। तथ्य वहामा कयण्हिगा सीहवाहिहि तुरएहिं पत्तामो पोयणपुरं।'

जैन आचार्यों ने दक्षिण में जाकर चामुण्डराय की माता के समक्ष पोदनपुर के बाहुबली की तदाकार भव्यमूर्ति का वर्णन किया, उससे भी यह प्रतीत होता है कि दक्षिणापथ की यात्रा में उन आचार्य ने मार्ग में स्थिति पोदनपुर में इस मूर्ति के दर्शन किये थे और उनके अन्तस् को उस मूर्ति की भव्यता एवं विशालता उस समय भी प्रेरित कर रही थी। लगता है, पोदनपुर के बाहुबली के दर्शन का प्रसंग जैनाचार्य के लिए बहुत पुराना नही था। दूसरी ओर, चामुण्डराय द्वारा अपनी माता को साथ ले उत्तर की ओर चल पड़ना और श्रवणबेलगोल में रुक जाना-यह जानकर कि पोदनपुर का वह स्थान कुक्कुट सर्पो से व्याप्त है इसलिए वहाँ पर स्थित बाहुबली

के दर्शन सम्भव नहीं होंगे। ये दोनों घटनाएँ इस बात का संकेत करते हैं कि पोदनपुर दक्षिणापथ में रहा होगा और वह भी निश्चित रूप से श्रवणबेलगोल से उत्तर की ओर।

पोदनपुर : प्राचीन भारत के पश्चिमोत्तर में

इन सब तर्कों के बावजूद दक्षिण में पोदनपुर की मान्यता को ठोस आधार नहीं मिलता। सुरम्य या रम्यक को अश्मक के साथ जोड़कर अश्मक देश में स्थित पोत्तलि या पोदन्य को बाहुबली की राजधानी बतलाने का कोई औचित्य नहीं है। सुरम्य या रम्यक उत्तर भारत का विशेषकर भारत के पश्चिमोत्तर में सीमावर्ती देश रहा होगा। जैन पुराण कथा साहित्य में वर्णित घटनाओं का थोड़ी सूक्ष्मता के अध्ययन करने पर यह सहज ही आभास होने लगता है कि पोदनपुर की अवस्थिति प्राचीन विशाल भारत के उत्तर पश्चिमी भाग में होनी चाहिये। इस मान्यता की संपुष्टि हेतु निम्नलिखित प्रमाण आपको युक्ति-युक्त लगेंगे।

'हरिषेण कथाकोष' (कथा २३) में पोदनपुर की अवस्थिति का स्पष्ट उल्लेख है—

अथोत्तरपथे देशे पुरे पोदननामनि।
राजा सिंहरथो नाम सिंहसेनास्य सुन्दर ॥

इसी कथाकोष की पच्चीसवीं कथा में भी पोदनपुर का संकेत मिलता है—

तथोत्तरापथे देशे पोदनाख्ये पुरेऽभवत्।'

पण्डित प्रभाचन्द्र (११ वीं शती) ने 'आराधना कथा प्रबंध' (कथा १०-११) में सुरम्य देश को उत्तरापथ में बतलाया है। इससे उन सभी मान्यताओं का स्वतः खण्डन हो जाता है जो अश्मक को सुरम्य या रम्यक के साथ जोड़कर, बाहुबली की राजधानी पोदनपुर की दक्षिणापथ में अवस्थित सिद्ध करती है। कथाप्रबंध की वे पंक्तियाँ हैः

उत्तरापथे सुरम्यदेशे पोदनपुरे राजा सिंहरथो राज्ञी सिंहरथा च।'

उत्तरापथ में सुरम्यदेश का युद्ध दक्षिण के किसी स्थान में न होकर विवस्ता अर्थात् झेलम के पश्चिम दिग्भाग में हुआ था। हरिवंशपुराण (पर्व ११) की ये पंक्तियाँ देखिए—

'पोदनान्निर्ययौ योद्धुमक्षौहण्या युतो द्रुतम् ॥

चक्रवर्त्यपि संप्राप्तः सैन्यसागररुद्धदिक्।
विवस्ता-परदिग्भागे चम्वोः स्पर्शस्तयोरभूत् ॥'

(बाहुबली अपनी अक्षौहिणी सेना सहित युद्ध के लिए पोदनपुर से निकल पड़े। इधर चक्रवर्ती भरत भी दिशाओं को रौंधती भारी सेना सहित आ पहुंचा। विवस्ता के पश्चिमी भाग में दोनों की मुठभेड़ हुई।)

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की झेलम, चिनाव, रावी, सतलज आदि सभी नदियाँ उत्तर से दक्षिणी की ओर बहकर सिन्धु नदी में मिलती हैं। तात्पर्य यह है कि सिन्धु की सभी सहायक नदियों को पार कर विवस्ता (झेलम) के उस पार भरत की बाहुबली से मुठभेड़ हुई। यहाँ 'पार' का अर्थ निश्चित रूप से 'पश्चिम' है। उत्तर दक्षिण में किसी नदी के इस पार या उस पार की कल्पना की जाये तो उसके साथ 'उपरि भागे' या 'दक्षिण दिग्भागे' जोड़ना पड़ता, क्योंकि दक्षिणापथ की गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हुई समुद्र में गिरती है।

फिर आदि पुराण का निम्नलिखित कथन, जिसमें भरत का दूत क्रम से अनेक देशों तथा उनके सीमाभागों को लाँघता हुआ कुछ ही दिनों में पोदनपुर पहुँच जाता है, हरिवंश पुराण के उक्त कथन से मेल भी खा जाता है:

क्रमेण देशान् सिंधूश्च देशसंधीश्च सोऽतियन्।
प्रपात संख्यातरात्रैस्तत्पुरं पोदनं पुरम् ॥

निश्चित ही ये देश, नदियाँ, और सीमाएँ उत्तरापथ की रही होंगी। इसकी संपुष्टि होती है उत्तर-पुराण (अध्याय १३) के उस उद्धरण से जिसमें उत्तरापथ की दिग्विजय के प्रसंग में भरत का सिंधु तट को पार करते हुए विजयार्ध के उपान्त में पहुँचने का उल्लेख है। 'आदिपुराण' में गोदावरी को पार करते हुए भरत की सेना का वर्णन तो मिलता है किन्तु वहाँ कहीं भी सुरम्य देश का उल्लेख नहीं है। वहाँ स्पष्ट रूप से आंध्र देश का नाम आया है।इसी ग्रंथ के सोलहवें अध्याय में अनेक देशों के नाम गिनाये गये हैं। उनमें रम्यक् का उल्लेख कुरु के साथ हुआ है। निष्कर्ष यह कि सुरम्य या रम्यक उत्तर में था, न कि दक्षिण में। इससे सुरम्य को अश्मक या अश्मक के निकट कहने की धारणा भी निरर्थक ठहरती है।

दरअसल 'उत्तरपुराण' के ऊपर उद्धृत श्लोक -'जम्बूविशेषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान्........' का जो अर्थ किया गया है वह नितान्त भ्रांतिपूर्ण है और उसी भ्रांति के कारण पोदनपुर को दक्षिणापथ में कहने का गलत आधार गढ़ लिया गया। उसका अर्थ 'जम्बूद्वीप में, दक्षिण भरत क्षेत्र में' ऐसा होना चाहिये था। जैन भूगोल के आधार पर भरत-क्षेत्र जम्बूद्वीप के एकदम दक्षिण में है।

उत्तरपुराण में एक रोचक कथा इस प्रकार आती है-पोदनपुर नरेश श्री विजय नरेश श्री विजय अपनी रानी सुतारा को साथ लेकर ज्योतिर्वन में विहार करने गये। अचानक आसुर विद्या सम्पन्न अशनिघोष उस मार्ग से नगर को लौट रहा था। उसकी नजर सुतारा पर पड़ी। उसने सुतारा का हरण करना चाहा। एक कृत्रिम हरिण के छल से उसने राजा को सुतारा से अलग कर दिया और स्वयं श्रीविजय का रूप धारण कर सुतारा के पास आया तथा कपट से उसे विमान में बिठा वहाँ से चल दिया। मार्ग में सुतारा को जब सच्चाई का पता चला तो वह

बहुत विह्वल हुई। इधर अशनिघोष द्वारा प्रेरित विद्या सुतारा का रूप रखकर बैठ गई। जब श्रीविजय उस स्थान पर वापस आया तो वह बोली, 'मुझे कुक्कुट सर्प ने डस लिया है' (कुक्कुटसर्पेणदष्टाहम्), और मूर्छित होने का अभिनय करने लगी। यह देख व्याकुल श्रीविजय भी उसके साथ मरने को तत्पर हो गया। इसी बीच एक तेजस्वी विद्याधर वहाँ से निकला। उसने उस वैताली से श्रीविजय का निवारण किया। अपना परिचय देते हुए वह बोला, 'मैं विजयार्ध के दक्षिण में स्थित रथनुपुरनरेश का सेवक 'साभिन्न' हूँ। अभी-अभी मार्ग में अशनिघोष द्वारा अपहृत आपकी पत्नी ने विह्वल होकर मुझे आप तक सन्देश भेजने को कहा है। आप जाकर उसकी रक्षा करें।' श्रीविजय ने उसे आभार प्रकट किया। साथ ही, यह आग्रह किया कि वह पोदनपुर जाकर उसकी (श्रीविजय की) माता एवं छोटे भाई को यह समाचार दे दें।

इस कथा से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक, रथनुपुर के पास ही विजयार्ध की उपत्यका में पोदनपुर है। दूसरा, कुक्कुट सर्पों का विचरण भी इसी क्षेत्र में था। अब जहाँ तक विजयार्ध की स्थिति का प्रश्न है पुराण साहित्य में इसका उल्लेख अनेकानेक स्थलों पर हुआ है। 'उत्तरापुराण' के अनुसार उत्तर की दिग्विजय के समय स्वयं भरत चक्रेश अपनी विशाल वाहिनी के साथ सिन्धु को पार करते हुए विजयार्ध की उपत्यका में पहुँचे थे।

'अनुसिंधुतटं सैन्येरुदीच्यतमसाद साधयन्नृपान्।
विजयार्धाचलोपान्तमससाद शनै र्मनुः॥'

यह विजयार्ध ही है जिसकी दक्षिण की उपत्यका में रथनुपुर है (उ. पु. ६२-२५) और उत्तर की श्रेणी में कुवेर की प्रसिद्ध नगरी 'अलका' है (उ. पु. ६२-५०)

पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मापित बाहुबली की तदाकार विशालमूर्ति के कुक्कुट सर्पों से आच्छादित हो जाने तथा उसके फलस्वरूप श्रवणबेलगोल की विन्ध्यगिरि पर गोम्मटेश्वर की स्थापना की रोचक कथा प्रसिद्ध ही है।

उपर्युक्त दोनों प्रसंग पोदनपुर की स्थिति तत्कालीन भारत में सिंधु के उस पार पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में ठहराते हैं 'अनुसिन्धुतटं........' में सिन्धु का अर्थ सामान्य नदी या समुद्र न होकर वर्तमान पाकिस्तान की प्रसिद्ध सिन्धु. नदी ही है। 'भविष्यदत्तकथा' के कर्ता धनपाल ने जहाँ हस्तिनापुर के राजा और पोदनपुर के शासक के बीच युद्ध होने का वर्णन किया है वहाँ पोदनपुर को सिन्धुदेश का नगर लिखा है। यह उत्तर का सिन्धु प्रदेश ही है, खींचतान कर अवन्ती की सिन्धु नदी को वहाँ सिन्धु प्रदेश बतलाना उचित नहीं।

वर्तमान संदर्भों में विजयार्ध को अफगानिस्तान के पूर्वोत्तर में विस्तृत हिन्दूकुश की पर्वत श्रेणी को माना जा सकता है और तब विजयार्ध में स्थिति अलका, रथनुपुर तथा पोदनपुर निश्चित रूप से वर्तमान पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बीच, सीमावर्ती नगर रहे होंगे।

ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनके अनुसार भरत और बाहुबली एकाधिक बार अपनी-अपनी

राजधानी से कैलाश पर तपस्यारत अपने पिता तीर्थंकर ऋषभदेव के पास गये। 'हरिवंशपुराण' के अनुसार तो बाहुबली ने एक वर्ष की घोर तपस्या कैलाश पर ही की थी। प्रायः साधु दीक्षा-धारियों को ऐसे एकान्त स्थान ध्यान-साधना के लिए बड़े अनुकूल रहे हैं। यह कैलाश उक्त पोदनपुर के निकट पूर्वोत्तर में पड़ता है। बाहुबली को वहाँ तक पहुँचने में विशेष असुविधा नहीं हुई होगी।

'आदिपुराण' तथा 'पार्श्वनाथचरित' में वर्णित पके धान और गन्ने के खेतों का पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में ऋषभकाल में अभाव हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उत्तरापथ में चावल और गन्ने की खेती आज भी पर्याप्त मात्रा में होती है। फिर अब जब 'कथाप्रबंध' में उत्तरापथे सुरम्यदेशे पोदनपुरे........' का प्रमाण हमारे समक्ष है, उत्तर भारत में चावल-गन्ने की खेती को नकारना उचित नहीं होगा।

ऐसी अनेक पौराणिक घटनाएँ है जिससे पता चलता है कि प्राचीन भारत के कुरु, पंचाल, सिन्ध के नरेशों का शत्रु या मित्र के रूप में पोदनपुर से सम्बन्ध रहा है। अयोध्या, पाटलिपुत्र, द्वारका से प्रायः प्रत्येक काल में इसका संपर्क बना रहा है। पुराणों में उल्लेख है कि बाहुबली के पुत्र सोमयश को हस्तिनापुर का राज्य दिया गया था। परवर्तीकाल में हस्तिनापुर में राजा महापद्म और पोदनपुर के राजा सिंहनाद में बहुत समय तक शत्रुता चलती रही। एक कथा के अनुसार, पोदनपुर-निवासी पंचालोपध्याय अपने शिष्यों के साथ पोदनपुर से पाटलिपुत्र जाता है और वहाँ नरेश की पुत्री को गन्धर्व विद्या में पराजित कर उसे वरण कर लाता है। एक अन्य कथा है जिसमें वासुदेव कृष्ण का पुत्र राजकुमार सेना लेकर पोदनपुर के तत्कालीन राजा अपराजित को पराजित कर जब द्वारिका वापस आता है तो कृष्ण उसे बहुत सम्मान देते हैं। इसी प्रकार अयोध्या नरेश त्रिदंशजय के पुत्र जितशत्रु का विवाह भी पोदनपुरनरेश की पुत्री विजया के साथ हुआ था।

राजधानी तक्षशिला

श्वेताम्बर परम्परा में बाहुबली की राजधानी पोदनपुर न होकर सर्वत्र तक्षशिला मान्य रही है। इस परम्परा के ग्रंथों में जहाँ कहीं भी बाहुबली का चित्रण हुआ है वहाँ सभी जगह बहली या ब्राह्लीक देश और तक्षशिला का उल्लेख है। आचार्य विमलसूरि ने 'पउमचरियं' में लिखा है कि बाहुबली महान् तक्षशिला में रहते थे : 'तक्खसलाए महप्पा बाहुबली' (४-३८) भरत जब युद्ध करने तक्षशिला पहुँचे तो बाहुबली भी भरत का आगमन सुनकर अपने सुभटसैन्य के साथ तक्षशिला से बाहर निकल पड़े।

'बाहुबलि पि महप्पा
भरहनरिन्दं समागय सोऊ।

भडचडयरेण महया
तक्खसिलाओ विणिज्जाओ ॥"

'अभिधानराजेंद्र कोष' में स्पष्ट उल्लेख है कि तक्षशिला, बहली देश में बाहुबली की नगरी थी- 'तक्षशिला बहली देशे बाहुबलेर्नगर्यां।' विविध तीर्थकल्प के अनुसार को तक्षशिला का राज्य दिया गया था- 'बाहुबलिणो तक्खशिला दिणण्णा।' "विविध तीर्थकल्प" में ही एक अनय स्थल पर उल्लेख है कि बाहुबली ने तक्षशिला में धर्मचक्र की स्थापना की थी- 'तक्षशिलायां बाहुबली निर्मितं धर्मचक्रम्।'

कल्पसूत्रम्, परिशिष्ट पर्व तथा कुमारपाल-प्रतिबोध आदि अन्य सभी श्वेताम्बर ग्रंथों के अनुशीलन से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि बाहुबली को तक्षशिला का राज्य मिला था और यह तक्षशिला बहली देश में स्थित थी। दूसरे शब्दों में बहली देश की राजधानी तक्षशिला थी।

वर्तमान में यह नगरी पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में पड़ती है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता कनिंघम के अनुसार, यह स्थान कटक और रावलपिंडी के बीच शाहधेरी के निकट था। आजकल यहाँ इस प्राचीन नगरी के खण्डहर पड़े हुए हैं।

कहा जाता है कि भगवान् रामचन्द्र के भाई भरत के पुत्र तक्ष के नाम पर इस नगरी की स्थापना की गई थी। एक समय यह गांधार देश की राजधानी भी रह आयी।

महाभारत काल में तक्षशिला गांधार देश के नागों के अधिकार में रही। बाद में नागों का राजा तक्षक परीक्षित के पुत्र जनमेजय द्वारा मारा गया था। परवर्तीकाल में भारत पर जब सिकन्दर ने आक्रमण किया, उस समय तक्षशिला का राजा आम्भि था। अशोक और उसके पुत्र कुणाल का भी तक्षशिला से संबंध बना रहा। कुणाल को तो वहाँ का गवर्नर (उपरिक) ही नियुक्त किया गया था। ईसा की पहली शती तक यह उत्तरापथ का विश्वविख्यात विश्वविद्यालय रहा है।

इतिहासविदों की दृष्टि में सिकन्दर के आक्रमण तक यह जैनधर्म का केंद्र था और अनेक दिगम्बर जैन मुनि यहाँ विहार करते रहे।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सर्वेक्षण के आधार पर पोदनपुर और तक्षशिला दोनों की अवस्थिति सिंधदेश के उत्तर में निश्चित होती है। लगता है, तक्षशिला के निकट ही पश्चिमोत्तर में गांधार की ओर पोदनपुर की अपनी स्वतंत्र स्थिति रही और तब तक तक्षशिला का प्रादुर्भाव ही नहीं रहा होगा। बाद में दिगम्बर मान्यता में सम्भवतः उसी पोदनपुर नगर को श्वेताम्बर परम्परा द्वारा तक्षशिला नाम दे दिया गया होगा। ◇◇◇

१. वाराहमिहिर संहिता, परि. १६।

२. शाकटायन व्याकरण, २, ४, १०।

३. अर्थशास्त्र, अधिकार २, प्रकरण २९।

।वात्सल्यरत्नाकर।

जैन पर्व और व्रत
विधान

❑ उपाध्याय श्री भरतसागरजी
सुशिष्य आ. श्री विमलसागरजी

भगवान् महावीर की प्रथम दिव्य-देशना

वैशाली के होनहार राजकुमार महावीर ने क्षणभंगुर राज्यवैभव को तृणवत् जान तिलाञ्जली दे दी। शाश्वत सुख के प्राप्त्यर्थ वे दिगम्बर मुनि-दीक्षा को प्राप्त कर अविचल ध्यान में आरूढ़ हुए।

कोटि सूर्यों की कान्ति को भी फीका कर देने वाले वनवासी को देखकर सहसा एक ज्योतिषी की आँखें चक्कर खाने लगीं। एकाग्रचित्त हो वह उन्हें निहारता रहा। यह व्यक्ति एक महान् सम्राट् होना चाहिये। इसकी यह दयनीय, दीन अवस्था कैसे? रहस्य नहीं जान पाया। उसका ज्योतिष ज्ञान आज फेल हो रहा है। किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया।

जिनधर्मानुरागी श्रावकमूर्ति ने पण्डित को रहस्य की बात समझाई। आपका गणित बिल्कुल ठीक है। अभी तक अपने देश के राजा थे। अब तीन लोक के राजा बनने की तैयारी में लगे हैं, कर्मशत्रु का नाशकर त्रिलोकाधिपति बनेंगे।

प्रभु महावीर मुनि अवस्था में बारह वर्षों तक कठोर ध्यान-साधना में रत हुए। फलस्वरूप शुभ योग नक्षत्र में ज्ञान के चरम सत्य विज्ञान केवलज्ञान रूपी सूर्य को—वैशाख शुक्ल दशमी को आत्मा में प्रकाशमान किया।

"शुकल दसै वैशाख दिवस अरि घाति चतुक क्षय करना।
केवल लहि भवि भवसर तारे"....................॥महावीर स्वामी पूजा॥

वैशाख शुक्ल दशमी को केवल ज्ञानसूर्य को आत्मा में प्रकाशमान किया। केवलज्ञान सूर्य अपनी बिखेरती किरणों से चारों ओर प्रकाश फैला रहा था। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने विशाल सुन्दर समवसरण की रचना की। परन्तु ६६ दिन बीत गए, भगवान की दिव्यध्वनि (दिव्य-देशना) नहीं हुई।

सौधर्म इन्द्र को चिन्ता हुई। अवधिज्ञान से उसने सारा रहस्य जान लिया। योग्य पात्र की खोज के लिए चल दिये। एक वृद्ध का रूप बनाकर हाथ में लकड़ी लिये वे गौतम ऋषि के पास पहुँचे।

गौतम ५०० शिष्यों का गुरु, देव-विद्या में पारंगत था। वह शिष्यों को शिक्षा दे रहा था। बड़ा अभिमानी था वह। अपने ज्ञान का बहुत मद करता था। सभा के बीच में उठकर इस

वृद्ध वेषधारी इन्द्र ने एक प्रश्न गौतम के सामने रखा, "गुरूदेव! आप ज्ञानी महात्मा हैं, मेरे गुरु ने एक श्लोक मुझे सिखाया था। मैं उसका अर्थ भूल गया हूँ। कृपा करके बताइये। वह श्लोक है—

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्याः।
पंचान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञानचारित्रभेदाः॥

गौतम समझ नहीं पाया। बहुत सोचा। पर क्या करता? "मैंने चारों वेद, सब पुराण पढ़े पर यह द्रव्य, पदार्थ, लेश्या क्या हैं, तीन काल कौन से हैं—कभी नहीं पढ़ा। अब इसको क्या उत्तर दूँ। ये सब शिष्य क्या सोचेंगे!" प्रतिष्ठा की बात थी, अपमान नहीं हो सके यह विचार कर गौतम ने उस वृद्ध (इन्द्र) से कहा—"अरे! मूढ़ तू इसका रहस्य क्या जानेगा। चल तेरा गुरु कौन है? मैं उसी से चर्चा करूँगा।"

इन्द्र की इच्छा पूरी हुई। हर्षोल्लास से आनन्दाश्रुयुक्त वह गौतम को समवसरण की ओर लेकर चल दिया। विशाल समवसरण की शोभा, सर्वप्रथम मानस्तम्भ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया। वीतराग प्रशान्त केवलज्ञान ज्योतिपुञ्ज तीर्थंकर महावीर का दर्शन पाते ही मिथ्यात्व का अभाव कर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। तत्क्षण संसार शरीर भोगों से विरक्त हो, वीरप्रभु के पादमूल में महाव्रत अंगीकार कर, प्रथम शिष्यत्व ग्रहण किया। तभी तप के प्रभाव से अवधिमनःपर्ययज्ञान को प्राप्त कर वे अनेक ऋद्धियों के स्वामी हो गये।

"भवि भागन वश जोगे वशाय तुम, धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नशाय"

भव्यों के पुण्य से दिव्यध्वनि प्रकट होती है। गौतम जैसे योग्य शिष्य को पाते ही भव्य के भाग्य भगवान महावीर की दिव्य- देशना प्रस्फुटित हो बह चली।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं—श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रातःकाल अभिजित् नक्षत्र के समय भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि प्रकट हुई। यथा—

स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः।
दुन्दुभिध्वनिर्धीरेण योजनान्तरयायिना॥

श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभु।
प्रतिपद्यान्हिने पूर्वाण्हे शासनार्थमुदाहरत्॥ (हरिवंश पराण. सर्ग २, श्लो. ९०-९२)

इस अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अन्तिम भाग में तीनस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के प्रथम मास श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र के समय धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई (तिलोयपण्णत्ति)।

भगवान महावीर के समवसरण में प्रथम गणधर गौतम हुए। गौतम गणधर के मन में अनेक जिज्ञासाएँ थी। उन्होंने अपनी तत्त्वजिज्ञासा की पूर्ति के लिए भगवान् से पूछा—"प्रभो! आत्मा

क्या है? आत्मा नित्य है या अनित्य है? कुछ कहते हैं नाशवान् है, कुछ कहते हैं कि इसका पुनर्जन्म होता है, कुछ कहते हैं नहीं होता है। मैं सत्य जानना चाहता हूँ। प्रभो! सत्य क्या है?" इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में ६० हजार प्रश्न गौतम गणधर ने पूछे (जिनका वर्णन व्याख्या-प्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ में है, यह ग्रन्थ २ लाख २८ हजार श्लोकप्रमाण है)।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने स्वभाव का विस्तृत वर्णन गोम्मटसार ग्रन्थ में किया—

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थितं सयं सिद्धं॥२॥

प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची है। जिस प्रकार (१) अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है। दीपक की लौ को आप कैसे ही जलाएं ऊपर की ओर ही जायेगी। (२) जल का स्वभाव अधोगामी है। यह सदा नीचे की ओर जाता है और (३) वायु का स्वभाव तिर्यक्गामी है। यह सदा टेढ़ा ही गमन करती है। ये अपने स्वभाव से विमुख नहीं होते हैं।

इसी प्रकार जीव आत्मा का स्वभाव जानना और देखना है—"जानो, देखो, बिगड़ो मत" परन्तु जीव का अनादिकाल से कर्म के साथ सोने व किट्टकालिमा की तरह संयोग बना हुआ है। फलतः संसार-अवस्था में यह जीव अपने स्वभाव से विमुख रहता है।

जीव क्या है? कई बार यह प्रश्न उठाया है क्योंकि वह दिखाई नही देता है। आज के युग में मानव कहता है—आत्मा हमें दिखाई नहीं देता है इसे हम कैसे स्वीकार करें।

इस सन्दर्भ में वीरप्रभु ने संदेश दिया—भैय्या! तुम्हारे पिताजी थे? वे किनसे पैदा हुए? उनके पिताजी से। पिताजी के पिताजी के पिताजी किससे पैदा हुए?—अपने पिताजी से। आपने उन्हें देखा है? नहीं। फिर भी स्वीकार करते हैं? जी हाँ। कैसे? अनुमान से। उसी प्रकार जीव को भी अनुभव से स्वीकार करना होगा।

दूसरा उदाहरण दिया- आपके शरीर को हवा स्पर्श कर रही है, क्या आप उसे देख पा रहे हैं? हवा आपको दिखती है? नहीं। नहीं दिखने पर भी आप उसे मानते हैं? जी हाँ। कैसे? अनुभव से। यह ठण्डी हवा है, यह गरम हवा है—तभी तो विश्वास करते हैं। वीर प्रभु ने बताया है कि—हवा का स्पर्श मतिज्ञान है, उससे होने वाली सुख-दुख की अनुभूति श्रुतज्ञान है। सुख-दुख का वेदक ज्ञान किसमें है आत्मा में है, जीव में है। अतः जीव को मानने में क्या बाधा है? इसे भी स्वीकार करना चाहिये।

जिस तरह भांग अथवा शराब का स्वभाव बावला कर देने का है और इसको पीने वाले का स्वभाव बावला हो जाने का है, उसी तरह जीव का स्वभाव रागद्वेषादि कषाय रूप हो जाने का तथा कर्म स्वभाव रागादि कषाय रूप का परिणमन कराने का है। सो जब तक जीव और कर्म का यह सम्बन्ध रहता है तभी तक विकार रूप परिणाम होते हैं। तात्पर्य इतना ही है कि जीव और कर्म का अनादि काल से ही संबंध है। जैसे कि खान से निकला हुआ

सोना अनादिकाल से ही कीट्ट-कालिमा रूप मैल से मिला हुआ रहता है वैसे ही जीव और कर्मों का अनादिकाल से स्वतः संबंध हो रहा है, किसी ने इनका संबंध किया नहीं है। जीव का अस्तित्व तो 'अहम्' (मैं) ऐसी प्रतीति होने से सिद्ध होता है तथा कर्म का अस्तित्व, जगत् में कोई दरिद्र (भिखारी) है तो कोई धनवान् इत्यादि विचित्रपना प्रत्यक्ष देखने से सिद्ध होता है इस कारण जीव और कर्म दोनों ही पदार्थ अनुभवसिद्ध हैं।

जिस प्रकार स्वर्ण खान से निकलता है तब किट्ट कालिमा युक्त होता है। उस कालिमा को बिना निमित्त के नहीं हटाया जा सकता। सोने को कालिमा पृथक् करने के लिए उपादान शक्ति मौजूद है। हमें भी ज्ञान है स्वर्ण क्या है परन्तु बिना निमित्त के वह शुद्ध नहीं हो सकता। ठीक उसी प्रकार बिना निमित्त के आत्मा भी शुद्ध नहीं हो सकेगा।

राजवार्तिक ग्रन्थ में अकलंकदेव कहते हैं— "कारणानुरूपं हि लोके दृश्यते कार्यम्" अर्थात् लोक में कारणानुसार ही कार्य देखा जाता है। बिना निमित्त के कार्य की सिद्धि नहीं होती। यह अकाट्य सत्य है कि जो कुछ होगा उपादान में होगा पर यह भी सत्य है—निमित्त कुछ करता नहीं और निमित्त के बिना भी कार्य होता नहीं।

आत्मा के साथ कर्मों के पुद्गल-पिण्ड जुड़े हुए हैं। उनको आत्मा से पृथक् करने के लिए शास्त्रोक्त विधि से क्रमानुसार उपयोग करना ही होगा। महावीर ने एक महत्त्वपूर्ण बात सामने रखी "मैं कौन हूँ" इसे पहचानो "कोऽहं" मैं कौन हूँ, मेरा स्वभाव क्या है? आत्मा के साथ जो विभाव परिणति लगी हुई है उसे हटाने के लिए आचार्यों ने अनुभवसिद्ध विधि बताई।

बीज को मिट्टी में डालने से वृक्ष की उत्पत्ति होगी और उस वृक्ष से फिर से बीज की उत्पत्ति। किन्तु यदि बीज को अग्नि में भून दें तो बीज की उत्पादक शक्ति समाप्त हो जायेगी। ठीक इसी प्रकार जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिए क्रिया-साधना करनी होगी, राग-द्वेष को भूनना होगा। यदि कोई व्यक्ति भोजन तैयार करने की विधि बताने वाले पाक-शास्त्र को लेकर बैठ जाए और बोलता जाए—अमुक खाद्य पदार्थ में इतना नमक, घी-तेल आदि लगेगा। बस, मैं जान गया और मात्र इतने पर ही बैठ जाये, आनन्द मनाये तो क्या वह भोजन तैयार हो सकता है? नहीं। क्योंकि बिना क्रिया के कोरा ज्ञान सार्थक नहीं है। मनुष्यभव श्रेष्ठ है। यदि ज्ञान लकड़ी की तलवार की भांति है जो डरा तो सकती है पर कुछ कर नहीं सकती, इसी प्रकार सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है उसके साथ क्रिया भी आवश्यक है। जिस प्रकार पंगु व अन्धा दोनों अपने आपको जंगल की आग से बचाने में असमर्थ हैं, परन्तु दोनों के आपसी सहयोग से वे बच सकते हैं, उसी प्रकार ज्ञान व चारित्र से ही मुक्तिपुरी में पहुँचा जा सकता है। एकान्तवादी को लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जीवद्रव्य चेतना लक्षणयुक्त है—"उपयोगो लक्षणम्"। जिसमें चेतना, दर्शन, ज्ञान है वह जीव है। वह जीव अमूर्तिक, कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेहपरिमाण, संसारी, उर्ध्वगमनस्वभावी और सिद्धस्वरूप

है। चेतना से रहित अजीव द्रव्य के पाँच भेद है—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें पुद्गल मूर्तिक है, शेष अमूर्तिक। जीव और पुद्गल दोनों क्रियावान् द्रव्य हैं, शेष निष्क्रिय हैं।

मानवपर्याय एक दुर्लभ पर्याय है, इसे पाकर हमें अपनी आत्मा के बारे में बार-बार सोचना समझना चाहिये। कोई वस्तु स्वच्छ निर्मल है तो उसके सामने रखी हुई वस्तुएँ स्पष्ट झलकती हैं जैसे दर्पण में झलकती हैं। इसी प्रकार जिसने अपनी आत्मा को समझा पहिचाना, उस वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के निर्मल ज्ञान लोक की समस्त वस्तुएँ झलकती हैं। दर्पण में लगे लाल रंग को घिस देने से उसके आर-पार दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार हमारी आत्मा में राग-द्वेष के लाल रंग लगे हुए हैं उन्हें तपस्या आदि से हटा देने पर आर-पार दिखाई देने लगेगा, यही सर्वज्ञता है।

जब तक शरीर में आत्मा है तब तक ही इसकी कीमत है। आत्मा के निकलते ही इसकी कोई भी कीमत नहीं रहती। हड्डी के ढाँचे की कीमत आत्मा से है। पर आज उस आत्मा को तो भूल गये हैं, शरीर का श्रृंगार निरन्तर सुबह से शाम तक करते हैं। पूरा जीवन इसी की सेवा में बीत जाता है। जिसके कारण शरीर की कीमत है उसके गीत तो नहीं गाते, उस शरीर के जो नव मल द्वारों की पिटारी है उसी के गीत गाते हैं। यह विपरीत बुद्धि, विभाव परिणति अनन्त संसार का कारण है। चैतन्य आत्मा द्रव्यापेक्षा से सिद्धसम शुद्ध है, चैतन्य है, शाश्वत है, नित्य है, निरञ्जन है, दर्शन-ज्ञानमयी है, अनुभवगम्य है, प्रशान्तमयी है। उसे जानो उसे पहचानो उसी के गीत गाओगे तो धर्म की प्राप्ति अवश्य होगी। मनुष्यभव मिला है तो इसके उपयोग के लिए आत्मा की कीमत जानना बहुत आवश्यक है, और वह धर्म के द्वारा ही सम्भव है।

पर को अपना मान बैठा, निज को पहचाना नहीं।
भूल है यह आपकी जो, आपको जाना नहीं॥
आपको जाने बिना, परमात्मपद पाना नहीं।
परमात्मापद पाकर के फिर संसार में आना नहीं॥

भगवान् महावीर की केवलज्ञान ज्योति का दिव्य प्रकाश विश्व के कोने-कोने में फैला। उन्होंने अपनी दिव्य देशना में प्राणी मात्र के कल्याणार्थ सत्यमार्ग का सदुपदेश दिया। भगवान् महावीर के पाँच सिद्धान्त हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह।

अहिंसा—(१) मन से, वचन से, काय से किसी की हिंसा नहीं करना। अथवा अहं हिंसेतीति अहिंसा—जो अहंकार का नाश करे वह अहिंसा है।

तीन प्रकार की हिंसा होती है—मानसिक, वाचनिक और कायिक। इनका नहीं करना अहिंसा धर्म है।

मानसिक हिंसा—मन में खोटे विचार करना, दूसरों से ईर्ष्या, मात्सर्य करना, दूसरे के पतन की भावना करना, पर की प्रशंसा नहीं सुहाना आदि मानसिक विकार हिंसा है। किसी का अच्छा या बुरा होना स्वयं के आधीन है, परन्तु अज्ञानी मानव बिना प्रयोजन दूसरे के हानि-लाभ की चिन्ता में पाप कमाता है। जैसे—व्यापारी सोचता है—मेरी दुकान में माल नहीं बिक रहा है, सामने या पड़ौसी के यहाँ व्यापार क्यों अच्छा चल रहा है? हे भगवान् उसका धन्धा कम हो जाये, मेरा खूब चले। दूसरे के घर डाका डल जाय, व्यापार ठप्प हो जाय, किसी का परिवार नाश हो जाय आदि आदि जितने बुरे विचार हैं, सब मानसिक हिंसा है। इन परिणामों से दूसरों का बुरा हो या न भी हो, स्वयं का बुरा तो कर ही लेता है। अतः सज्जनों को चाहिये कि कभी भी दूसरों का बुरा नही विचारे। "दूसरों का भला विचारोगे तो आपका भी भला होगा"।

वाचनिक हिंसा—संसार में जितना द्वन्द्व है वह वचनों का है। एक वचन अमृत है तो दूसरा वचन शस्त्र है। अपनी वाणी रूपी गाय को कुवचन रूपी खेत में चरने से बचाओ। किसी अन्धे व्यक्ति के पास जाकर कहो—"ओ अन्धे! दिखता नहीं तुझे, कबसे आँखें फूट गईं?" तुरन्त उसके दिल को तीर सा लगेगा। और यदि सहृदय बन बिना किसी व्यंग्य के धीरे से पूछ लिया—"भैय्या! आपकी आँखें कैसे जाती रहीं? क्या कोई इलाज नहीं हो पाया?" बात वही है तरीका अलग। एक में प्रेम है एक शस्त्र रूप है।

अन्धे को अन्धा, मूर्ख को मूर्ख, दरिद्री को दरिद्री कहना वाचनिक हिंसा है। एक भिखारी के पास सेठजी ने एक रुपया फेंककर कुवचन कहा—आ जाते हैं माँगने, शर्म नहीं आती। रुपया तो मिला पर वचनों का घाव उभर आया। दूसरे ने प्रेम से कहा—भैय्या! परिश्रम करना सीखो, मेहनत से पैसा कमाओ। प्यार के शब्द से वही वचन अमृत का काम कर गये।

भगवान् महावीर का महान् सिद्धान्त था—जो वचन तुम्हें अच्छे नहीं लगते हैं वे दूसरों को भी नहीं कहो।

दूसरों की निन्दा भी वाचनिक हिंसा है अतः परायी निन्दा सुनना ही नहीं, वचनों से करना भी नहीं चाहिए। निन्दा करने से सुनने वाला ज्यादा पाप का भागी होता है।

कायिक हिंसा—एकेन्द्रिय—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति; दो-इन्द्रिय लट आदि; तीन इ.—चींटी, खटमल, जूं आदि प्रारूप है। इससे बचने के लिए भगवान् महावीर का सन्देश है—"जीओ और जीने दो"।

मद्य, मांस, मधु, अनेक जीवों का पिण्ड हैं इन्हें खाने वाला हिंसक है, वह आचार से भी भ्रष्ट है। 'अण्डा' भी मांसाहारी है, अंडा खाने वाला भी महाहिंसक है। अंडा को शाकाहारी कहना अपने आपको ठगना है। जो मानव रात्रि में भोजन करते हैं, बाजार की अभक्ष्य वस्तुओं का सेवन करते हैं वे हिंसा से कभी बच नहीं सकते हैं। आज के युग में 'केक' का प्रयोग

घर-घर में किया जा रहा है, अच्छा कहलाने वाला केक अण्डे के बिना नहीं बनता, गर्मी के दिनों में कुल्फी प्राणों को प्यारी लगती है। कुल्फी में जिलेटिन डाला जाता है, वह जिलेटिन हड्डी के चूरे से बनता है। जितने भी केप्सूल बनाये जाते हैं उनका बाहरी भाग भी जिलेटिन का होता है। विचार कीजिए क्या आप अहिंसक हैं?

घर में पत्नी ने बढ़िया दूध, इलायची, केसर, पिस्ता आदि डालकर बनाया। पतिदेव को प्रेम से हाथ में दिया, पीजिये। अचानक पतिदेव की दृष्टि बदली, दूध में मक्खी गिर गई और मर गई। क्रोधावेश में पत्नि को दो चार गालियाँ दे डाली—फैंक दो ऐसे दूध को नाली में, मुझे नहीं पीना। आश्चर्य है वही पतिदेव—बाजार की मिठाइयों में व पाक, रबड़ी कलाकन्द सैकड़ों जीवों का कलेवर जिसमें है चाट, भुजिया खाते हुए अपने आपको महान् समझते हैं, सोचो, क्या यह न्याय है?

खटमल मच्छर मारने की दवाइयाँ घरों में छिड़कना, गाय, बैलों को समय पर अन्न पानी नहीं देना आदि कायिक हिंसा है। घरों में असावधानी से क्रिया करना—चींटी आदि को पीड़ा देना, जाले, घोंसले आदि तोड़ना सब कायिक हिंसा है। इससे बचने के लिए "अपने समान समस्त जीवों को समझो"। "दूसरों की रक्षा करोगे तो आपकी भी रक्षा होगी"।

"जैसे गायों में कामधेनु, रत्नों में हीरा और वृक्षों में चन्दन महान् है, उसी प्रकार व्रतों में महान् व्रत अहिंसा व्रत है।"

दहेज माँगने वालों ने मानसिक, वाचनिक, कायिक तीनों हिंसाओं का पाप-बोझ अपने जीवन में उठाया है। दहेज माँगने की विचार धारा आते ही लड़की वाले का दिल दुःखी हो जाता है, दहेज-वचन उसे तीर की तरह चुभता है तथा माता-पिता का शरीर सूख कर कृश हो जाता है। विचार कीजिये जहाँ मृतक का माँस को छूना खरीदना भी पाप समझा गया उसी महावीर के अनुयायी जिन्दे मांस की नीलामी लगाकर मासूम कोमल कन्याओं की दयनीय स्थिति कर रहे हैं! दहेज की दयनीय स्थिति ने कई कोमल, सुशील कन्याओं को आत्महत्या का शिकार बनाया है। भगवान् महावीर की अहिंसा स्वपरोपकारी है, प्राणी मात्र की रक्षिका है। जीवन की सर्वोच्च माता अहिंसा का आदर करो, विनय करो, अपने हृदय में स्थान दो।

(२) सत्य—झूँठ वचनों का त्याग 'सत्य' है। मिथ्या उपदेश देना, किसी की गुप्त बात करना, चुगली करना, झूठी बातें लिखना, दूसरों का धन अपहरण करना आदि सब असत्य के रूप हैं। तथा वर्तमान की स्थिति देखिये, मिलावट शुद्ध वस्तु में अशुद्ध यानी असली में नकली मिलाना, अधिक कीमत की वस्तु में कम कीमत की वस्तु मिलाना, कम तोलना, अधिक लेना आदि सब असत्य के ही विविध रूप हैं। इन सबका त्याग करना चाहिए।

एक राम पिता, पुत्र या पति थे सत्य बताइये?—राम पिता भी थे, पुत्र भी थे, पति भी थे यह सत्य है। एक वस्तु में अनेक धर्म हैं। 'अनेकान्त' और 'स्याद्वाद' यह ही उसका वास्तविक

सत्य है। एक राम में अनेक धर्म थे। वे पिता, पुत्र, पति अनेक रूप थे, यह एक सत्य है 'अनेकान्त'। उसका कथन करने वाला सत्य है 'स्याद्वाद'। राम लवकुश की अपेक्षा पिता थे। राम दशरथ की अपेक्षा पुत्र थे। राम सीता की अपेक्षा पति थे। यह अपेक्षाकृत ही स्याद्वाद है। जहाँ अपेक्षा नहीं है वहीं असत्य है। जहाँ अपेक्षा नहीं है वहीं द्वन्द्व है। महावीर के सिद्धान्त दर्शन में स्याद्वाद-अनेकान्त प्राण हैं।

घर में, मंदिर में, स्कूल में, कोर्ट में, कहीं भी जाओ एक दूसरे के विचारों को समझो। अपेक्षा दृष्टि में वस्तु की सत्यता को खोजो।

एक असत्य अनेक पापों का घर है अतः सत्य की रक्षा करें।

(३) अस्तेय—किसी की गिरी हुई, पड़ी हुई वस्तु को हड़प लेना चोरी है। चोरी का त्याग अस्तेय है।

आप विचार कीजिए मेरे पेट में जितना अन्न गया है क्या वह न्याय का है या अन्याय का है? अन्याय से धन इकट्ठा करना चोरी है। इसलिए सबसे बड़ी शर्त रखी—"न्यायोपात्तधन" न्याय से प्राप्त धन का सञ्चय करो। गरीबों का खून चूस-चूसकर इकट्ठा करना बहुत बड़ा पाप है। दो नम्बर की कमाई बहुत बड़ी चोरी है। अतः "न्याय से धन कमाओ, कमाई का एक हिस्सा सदैव दान करो।"

(४) ब्रह्मचर्य—भारतदेश की भूमि की शान ब्रह्मचर्य व्रत से है। जीवन में स्वस्त्री के अलावा अन्य नारियों को माँ, बेटी, बहन की तरह देखो यही ब्रह्मचर्य व्रत है। दृष्टि को सही बनाओ। महासती सीता के शील के प्रभाव से अग्निकुण्ड भी शीतल हो गया था।

(५) अपरिग्रह—'पेट भरो पेटी मत भरो"—प्रत्येक गृहस्थ का जीवन का यही उद्देश्य होना चाहिए।

साईं इतना दीजिये, जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥

एक होने पर दस की इच्छा होती है, दस होने पर सौ, हजार, लाखों की इच्छा होती है। दुनियां के सारे गड्ढे भर सकते हैं पर परिग्रह रूपी पिशाच का आशा रूपी गड्ढा कभी नहीं भर सकता है। इसलिए अपरिग्रहवाद को अपनाओ। महावीर का अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त यदि प्रत्येक भारतवासी अपनाये तो देश में कहीं दरिद्रता, पिछड़ापन, दीनता क्षण भर भी दिखाई नहीं देंगे।

महावीर प्रभु ने तीस वर्ष तक देश के कोने-कोने में घूमकर पाँच सिद्धान्तों का प्रसार प्रचार किया। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का विरोध कर अहिंसा धर्म की रक्षा की। आपने कहा—धर्म अमृत का प्याला है यदि अंधविश्वासी बन, उसे विकृत कर, गलत तरीकों से पीओगे

तो वही हलाहल (विष) बन जायेगा। महावीर ने अज्ञानान्धकार का नाश कर सत्य की ज्योति जगाई।

विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह यही भगवान महावीर का सर्वोदय तीर्थ व अमर सन्देश है।

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते।
राजमुद्राधरोऽत्यन्त हीन वच्छास्त्रनिर्णयः।।

जो संयम की दृढ़मुद्रा से सहित है, जिसमें इन्द्रियों का मुद्रण-संकोच है, जिसमें कषायों का दृढ़ मुद्रण-नियन्त्रण है और जो सम्यग्ज्ञान से सहित है, ऐसी मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है। जिनशासन में यही जिनमुद्रा कही गई है।

दीपावली : महावीर निर्वाणोत्सव

❑ आर्यिका स्याद्वादमतीजी

आज हमारे सामने चिन्तन के दो बिन्दु हैं—एक धर्म और दूसरा रूढ़ियाँ। क्या रूढ़ियाँ धर्म हैं?

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार में धर्म की परिभाषा बताते हुए कहा है—धर्म आत्मा का स्वभाव है। रूढि समाज की क्षेत्रीय उपलब्धियाँ हैं। रूढ़ियाँ धर्मपरायण तो हो सकती हैं किन्तु नितान्त धर्म रूप नहीं हो सकती हैं। उनमें धर्म और लोक-जीवन का मिश्रण होता है। यथा पर्वकाल में विशेष अनुष्ठानादि करना। चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहकर धर्मप्राप्ति का प्रयास व पुरुषार्थ करता है, इसीलिए रथोत्सव, पञ्चकल्याणक आदि महोत्सवों में सम्मिलित होकर, आत्मस्वरूप धर्म की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है। यही प्रयास परम्परागत होने से रूढ़ि नाम पा लेता है।

यह सोचना सर्वथा उचित नहीं होगा कि रूढ़िवाद धर्म को आवृत कर लेता है बल्कि यह भी कहा जाना चाहिए कि रूढ़ियों की सहायता से धर्म जीवित रहता है। उदाहरण के लिए, उत्तर भारत में पुत्र का प्रथम मुण्डन संस्कार किसी सिद्धक्षेत्र या अतिशयक्षेत्र में कराने की रूढ़ि है। इस रूढ़ि से जिनदर्शन, तीर्थवंदना, भगवद्भक्ति और त्यागवृत्ति को बल मिलता है। ये क्रियाएँ धर्म की पोषक हैं। अथवा विवाह शादी आदि माङ्गलिक सांसारिक क्रियाओं का सम्पादन तीर्थक्षेत्रों पर करना अथवा शादी आदि क्रियाओं के उपरान्त जिनदर्शन को जाना, गुरु के निकट जाना आदि भी प्रथाएँ धर्म की साधक हैं बाधक नहीं।

इसी प्रकार और भी उदाहरण हैं—मालवा प्रान्त में या मारवाड़ी समाज में मोक्षसप्तमी के दिन छोटी-छोटी बालिकाओं से उपवास कराये जाते हैं। उपवास के चार-पाँच दिनों से पूर्व बालिकाओं को नाना प्रकार के मिष्ठान्न खिलाये जाते हैं, नये-नये कपड़े पहनाये जाते हैं। मेंहदी आदि लगाकर सुन्दर-सुन्दर आभूषणों से उन्हें सजाया जाता है और एक दिन पहले बढ़िया दाल बाटी लड्डू का भोजन उन्हें खिलाया जाता है। उपवास करोगे तो तुम्हें हाथी पर, रथ या कार आदि में घुमायेंगे आदि प्रलोभन दिलाये जाते हैं। लोभ के वश ४-५ वर्ष की बालिकाएँ भी उपवास कर लेती हैं। यह रूढ़ि है पर धर्म की साधक है बाधक नहीं। इससे बालपन से ही बच्चों में तप-त्याग के संस्कार जुड़ जाते हैं। जिस प्रकार माँ को बच्चे से कांच का ग्लास लेना है (यदि फेंक दे तो टूट जायेगा) तो एक हाथ में लड्डू देती है, दूसरे से ग्लास छीनती है। उसी प्रकार यहाँ अधर्म से नाता तुड़ाकर धर्म से जुड़ाया जाता है। प्राचीन काल

में लड़की की शादी में लड़की को खुले बालों से सफेद वस्त्रों में श्रृंगार रहित अवस्था में फेरे के समय बैठाया जाता था वहाँ रूढ़ि में रहस्य था कि आज तक हमारी बालिका ब्रह्मचर्यव्रत से रही है। आज उसको रूढ़ि समझकर सुधारवादी लोग सारी प्रथाएँ तोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यह ठीक है कि सभी रुढ़ियाँ वर्तमान काल की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। बल्कि उनसे समाज के पतन की संभावना बढ़ जाती है जैसे पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि। इसके बावजूद कतिपय अच्छी रूढ़ियों के पीछे धर्म, त्याग की चिनगारी छिपी होती है, ये नितान्त हेय नहीं होती हैं।

लोक-जीवन और धर्म मित्रवत् एक साथ सामने आते हैं परन्तु इनके भेद का परिज्ञान नितान्त आवश्यक है अन्यथा प्रकाशपुञ्ज रूढ़ियाँ अन्धविश्वास का रूप धारण कर धर्मच्युत करने में समर्थ हो जायेंगी। जब तक लोक में विशुद्ध शिक्षास्पद पद्धति व्यापक प्रसार पाती रहती है तब तक धर्म रूढ़ियों से ऊपर रहकर प्रभावशाली रहता है। किन्तु जब उसकी शिक्षा का स्तर गिर जाता है तब रूढ़ियों और रीतियों का उपलालन बढ़ जाता है अर्थात् उनसे नीतियाँ निकालकर कोरा ढोंग रह जाता है। ये रूढ़ियाँ ही कभी-कभी धर्म का परिग्रह मात्र होकर उसे मूल स्वरूप से च्युत कर बैठती हैं क्योंकि रूढ़ियाँ बहुत बलवान् होती हैं।

इस सन्दर्भ में आइये, पावन पर्व दीपावली पर विचार करें—

वर्तमान शासनाधिपति देवाधिदेव भगवान महावीर से गौतम गणधर ने प्रश्न किया, भगवन्! मुझे केवलज्ञान कब होगा? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—जब तक मोह का नाश नहीं होगा, तुम्हें कैवल्यज्योति प्रकट नहीं होगी। भगवन्! मुझे किसका मोह? जब तक तुम्हारा मुझसे राग है कैवल्य का बाधक है। प्रभो! यह राग कब दूर होगा? जब मुझे मोक्ष प्राप्त होगा तब। तदनुसार कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि अमावस्या की प्रभातबेला में, महावीर भगवान ने पावापुर सिद्धक्षेत्र से निर्वाण को प्राप्त किया। तथा अमावस्या की सायंकाल भगवान् गौतम स्वामी को केवलज्ञान ज्योति प्रकट हुई फलतः वह दिन दीपावली नाम से प्रसिद्ध हुआ।

दीप क्यों जलाए जाते हैं?

दीपमालिकाएँ केवलज्ञान की प्रतीक हैं। सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो, अन्धकार का नाश हो इस भावना से दीपमालाएँ जलानी चाहिए। दीपावली का पूर्व दिन धन-तेरस क्यों? क्या धन-सोना-चाँदी इकट्ठा करना ही इसकी महत्ता है?

लक्ष्य या रहस्य के अभाव में रूढ़ियाँ भी धर्म से दूर हटाने की निमित्त बन जाती हैं। इस पर्व का प्रथम दिवस धन-तेरस नहीं अपितु 'धन्य तेरस' है। भगवान् महावीर ने कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन बाह्य समवसरण लक्ष्मी का त्याग करके मन, वचन और काय का निरोध किया। वीर प्रभु के योगों के निरोध से यह त्रयोदशी धन्य हो उठी, इसलिए 'धन्य तेरस' पर्व

त्याग करने की कला सिखानेवाला पर्व कहलाया। पर अज्ञानतावश हम इस दिन सोना खरीदना, बर्तन खरीदना आदि परिग्रह संचय करके इसकी रस्म पूरी करते हैं। सत्य तो यही होगा कि इस दिन मन-वचन-काय से कुचेष्टाओं का त्याग करें। बाह्य लक्ष्य से हटकर अन्तर के शाश्वतिक स्वर्ण रत्नत्रय की खोज करें।

धन्य तेरस के बाद दिन आता है 'रूप चौदस'। इस दिन भगवान महावीर ने १८000 शीलों की पूर्णता को प्राप्त किया। वे रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त हुए, अयोगी अवस्था से स्वरूप में मग्न हुए। अतः 'रूप चौदस' अपनी आत्मा को शील सत्य सदाचार से सजाने की कला सिखाता है। इस दिन ब्रह्मचर्य से रहकर, व्रतादि धारण कर स्वभाव में आने का प्रयत्न करना सच्ची 'रूप चौदस' है।

दीवाली—कर्मों का नाश करने के लिए व्रत, समिति, गुप्ति मार्ग अपनाओ और ज्ञानज्योति जगाकर दीवाली मनाओ।

महावीर प्रभु ने इस पावन दिन निर्वाण-लक्ष्मी की प्राप्ति की थी इसलिए आत्मसुख प्राप्त्यर्थ हमें भ. महावीर की पूजा करनी चाहिए। पर आज हम सब निर्वाण को भूल, लक्ष्मी की पूजा करने लगे। अरे! चंचल लक्ष्मी पुण्य की चेरी है, पुण्य करो। भगवान् की पूजा, दान करोगे तो लक्ष्मी आपके चरणों में स्वयं ही आ पड़ेगी। नहीं तो, आप लक्ष्मी को कितना ही अर्घ्य उतारण करो, पुण्य के अभाव में छोड़कर चली जायेगी। इसलिए भगवान् महावीर और केवलज्ञान-प्राप्त गौतम स्वामी की पूजा इस दिन अवश्य करें। धर्म को छोड़कर लक्ष्मी के पीछे मत दौड़ो।

भगवान् की दिव्यध्वनि स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य आदि सात रूपों से खिरी थी इसलिए यह 'गोवर्द्धन' दिन माना गया। गो यानी जिनवाणी, वर्द्धन—प्रकटित वर्द्धित। इस दिन तीर्थंकर की देशना के अभाव के पश्चात् पुनः जिनवाणी का प्रकाश हुआ, वृद्धि हुई इसलिए जिनवाणी की पूजा करनी चाहिए। परन्तु अज्ञानतावश रूढ़ियों में फँसकर सत्यता का गला घुट रहा है। प्रायः घर-घर में गोबर से एक चित्र बनाया जाता है। एक माँ उसके सात बच्चे आदि रूपों से उसकी चित्रावली बनाकर आज भी घर-घर में पूजा करते हैं। उस चित्र को "सप्तपूत माँ" का नाम दिया जाता है। महानुभावो! सत्यता को पहचानो, जिनेन्द्रदेव अरहन्त के मुखकमल से प्रस्फुटित मां जिनवाणी है। सप्त भंग उसके पुत्र हैं। सप्त पूत माँ का अर्थ जिनवाणी होता है। उसकी आराधना करो। स्वाध्याय करो।

इस पावन पर्व पर बन्धुवर्ग घर का कचरा निकालकर सड़क पर डालते हैं। दीवारों व मकानों की सफाई तो करते हैं पर अन्दर आत्मा में लगा कषाय रूपी कचरा कभी नहीं निकालते। अन्याय का त्याग, अभक्ष्य का त्याग करो और सत्यता से प्यार करो। व्यवहार के पटाखे नहीं अन्दर की कषायों के पटाखे फोड़ो तभी सच्ची दीवाली होगी।

निर्वाण दिवस पर लड्डू क्यों चढ़ाते हैं?

सभी नैवेद्य में प्रिय क्या है? लड्डू। और सभी को दुखों से छूटकर प्रिय क्या है—मुक्ति। प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रिय वस्तु का त्याग करना होता है।

लड्डू को मोदक कहते हैं। मुद् धातु से मोदक बना है। मुद् का अर्थ आनन्द है। मोद, आनन्द देनेवाला मोदक है। अविनाशी आनन्द के प्राप्त्यर्थ मोदक चढ़ाया जाता है।

जैसे मोदक को आगे पीछे मध्य कहीं से भी खाइये, मीठा ही मीठा है उसी प्रकार मोक्ष में कभी भी किसी भी क्षेत्र से जाइये सुख ही सुख है। मोदक मोक्ष के अनादिकालीन सुख का द्योतक है।

ध्यान रहे निर्वाण दिवस पर लड्डू चढाने की प्रथा मात्र काल्पनिक या रूढ़िमात्र नहीं। इसके पीछे बहुत रहस्य हैं। जिस प्रकार मनुष्य लड्डू का नाम सुनता है, सुनते ही उसके मुख में पानी आ जाता है उसी प्रकार मुमुक्षु मोक्ष का नाम सुनते ही उसकी वार्ता या चिन्तवन मात्र से ही आनन्दानुभूति प्राप्त करता है।

आदर्श जीवन की सफलता इसी में है कि रूढ़ियों को ढकोसला मात्र मानकर छोड़ना हितकर नहीं। जिन रूढ़ियों या परम्पराओं से धर्म का प्रादुर्भाव, प्रभावना या जनजागृति होती है वे उपादेय समझ अपनाते रहें तथा जिन अन्धविश्वासों या रूढ़ियों से धर्म या सत्यता का लोप हो रहा है, जो मात्र कोरी कल्पनाएँ बनकर पतन की ओर ले जाने वाली हैं उन्हें त्याग दें। सत्य-असत्य का निर्णय करना ही मानवबुद्धि की सफल कसौटी है।

> रुढ़ियों की ओट में जो छिप रही सत् संस्कृति।
> छोड़ दो उसको नजर से करो न मन स्मृति।
> पर दिया जीवन में जिसने सत्य का दिग्दान है।
> उन रूढ़ियों का पालना तो सत्य का वरदान है॥

अक्षय-तृतीया

(भगवान् ऋषभदेव के प्रथम आहार का दिन)

आर्यिका मुक्तिमतीजी

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथः निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः॥

जिस आदिनाथ प्रभु के गर्भ में आने के छः माह पूर्व से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोड़े सेवा में खड़ा रहा, जो स्वयं सृष्टि के रचने वाले थे, जिन्होंने कर्मभूमि के आरम्भ में आजीविका के साधनों से अपरिचित प्रजा के लिये आजीविका विषयक शिक्षा दी थी तथा जिनका पुण्य पुत्र भरत निधियों का स्वामी चक्रवर्ती था वे इन्द्रादिकों से सेवित आदिनाथ तीर्थंकर जैसे महापुरूष भी बुभुक्षित होकर छह माह तक पृथ्वी पर घूमे, यह आश्चर्य की बात है। ठीक ही है संसार में कोई भी प्राणी दुष्ट दैव को उलांघने में समर्थ नहीं है।

भगवान् ऋषभदेव ने संसार की नश्वर असार दशा को देख संपूर्ण शरीर-भोगों से विरक्त हो जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के बाद प्रभु ने छह महीने का उपवास ग्रहण कर प्रतिमायोग धारण किया। आत्मध्यान में मग्न भगवान मूर्तिवत् निश्चल थे। न खाने की चिन्ता न पीने की। मात्र आत्मशुद्धि मे परिणमन कर वीतरागता की प्रशान्त किरणों को चारों ओर बिखेर रहे थे। ध्यानस्थ अवस्था की लम्बी अवधि मानों कुछ क्षणों की तरह ही शीघ्र व्यतीत हो गई।

जिनका माहात्म्य अचिन्त्य है, जिनकी स्थिति मेरू के समान निश्चल है ऐसे योग धारण करने वाले जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव के छह महीने पूरे हो गये। प्रभु उत्तम संहनन और अनन्त शक्ति के धारक थे। यद्यपि उनके शक्तिशाली शरीर के लिये भोजनादि की भी आवश्यकता नहीं थी। परन्तु दूरदर्शी अवधि, मनःपर्यय ज्ञान के धारी प्रभु ने विचार किया—अहो! आगे जीवों का संहनन हीन होगा, शरीर कृश होगा, शरीर अन्न का कीड़ा होगा। अतः मोक्षमार्ग की रक्षार्थ उपाय करना चाहिए। अब मोक्ष का मार्ग प्रकट करने के लिए, सुखपूर्वक मोक्ष प्राप्त करने के लिए और शरीर रखने के लिए आहार ग्रहण करने का मार्ग दिखलाना चाहिए, इस प्रकार निश्चय कर धीर वीर भगवान वृषभदेव मुनियों की आहारचर्या धारण कर ग्राम और नगर में विहार करने लगे।

आदिनाथ प्रभु के समय जनता भोली थी। मुनियों की आहारचर्या, आहारदान की विधि से अनभिज्ञ थी। गोचरी के लिए वृषभदेव अनेक देश, ग्राम व नगरों में भ्रमण कर चुके; पर कोई चर्या को समझ नहीं सका। वे जिस देश में प्रयाण करते थे वहीं के लोग बड़े आनन्द से प्रसन्न होकर नतमस्तक हो प्रणाम करते थे। कई लोग पूछते थे कि हे देव! प्रसन्न होइये और कहिये कि आप किस काम के लिए यहाँ आये हैं। वे चुप रहते तो कई लोग उनके पीछे-पीछे चले जाते। कितने ही सज्जन पुरुष बहुमूल्य रत्न लाकर प्रभु को भेंट करते तथा प्रसन्न होते। कितने लोग करोड़ों पदार्थ हाथी तथा घोड़ा सवारियाँ आदि भेंट करते, परन्तु वीतरागी सन्तों की निर्मोहता में इनसे क्या प्रयोजन! वे मौन धारण कर चुपचाप आगे विहार कर जाते। कितने ही लोग सुन्दर माला, वस्त्र आभूषण आदि पदार्थ आदरपूर्वक भगवान को भेंट करने लगते थे और कहते थे कि इन्हें धारण कीजिये। अहो! अज्ञानता। अहो! भोलापन। कितने ही लोग रूप और यौवन से सुशोभित ऐसी सुन्दरी कन्याओं को लाकर विवाह के लिए तैयार हुए थे तथा कितने ही लोग लड्डू आदि खाद्य सामग्री, पेय पदार्थ, स्वाद्य इलायची आदि दिखाकर भोजन करने की प्रार्थना करते। कई सज्जन पुरुष तो जो कि भगवान की आहार चर्या, गुप्त विधि के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण 'किंकर्तव्यविमूढ़' हो चित्रवत् खड़े रहते। इस प्रकार जगत् को आश्चर्य उत्पन्न करने वाली गुप्त चर्या से उत्कृष्ट चर्या को धारण करने वाले भगवान वृषभदेव के छह महीने और भी व्यतीत हो गये।

"चित्रं जैनी दीक्षा स्वैराचार-विरोधिनी" योग धारण करने के छह महिने और आहार करने के लिए विहार के छह महीने, इस प्रकार एक वर्ष पूरा हो गया। दिगम्बर साधु अयाचक होता है। दीन होकर किसी के समक्ष हाथ नहीं पसारता है। आहार में आने वाले अन्तराय को सानन्द सहकर, धीरवीर आनन्दानुभूति का पान करता है। लाभ से भी अलाभ में विशेष आनन्द महसूस करता है।

वे वृषभदेव विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर की ओर पहुँचे। उस समय कुरुवंश शिरोमणि सोमप्रभ नाम का राजा नगर का राज्य करता था। राजा का छोटा भाई था श्रेयान् (श्रेयान्स)। वह यद्यपि कुमार था फिर भी गुणों में वृद्ध, धर्मात्मा महापुरुष था। जब भगवान नगर के समीप पहुँच रहे थे तभी श्रेयान्स ने रात्रि के पिछले पहर में शुभसूचक शुभ स्वप्न देखे—(१) सुमेरुपर्वत, (२) शाखाओं के अग्रभाग पर लटकते हुए आभूषणों से सुशोभित कल्पवृक्ष, (३) गर्दन पर के बालों से जिसके कंधे ऊँचे हो रहे हैं ऐसा सिंह, (४) जिसके सींग की नोक पर मिट्टी लगी हुई है ऐसा किनारे को उखाड़ता हुआ बैल, (५) सुन्दर कान्तिमान सूर्य और चन्द्रमा, (६) लहरों से लहराता हुआ समुद्र और (७) अष्ट मंगल द्रव्यों को धारण कर सामने खड़ी हुई व्यन्तर देवों की मूर्ति। तदन्तर प्रातःकाल प्रसन्नचित्त हो कुमार श्रेयांस विनयपूर्वक राजा के पास पहुँचे तथा अपने स्वप्नों का निवेदन करने लगे।

राजा के अनुभवी पुरोहित ने स्वप्नों का फल इस प्रकार कहा—हे देव! सुमेरु पर्वत देखने

का फल है कि—सुमेरु पर्वत के समान जो उन्नत है और मेरुपर्वत पर जिसका अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव आज आपके घर अवश्य आयेगा। तथा अन्य भी स्वप्न भगवान के गुणों की उन्नति को सूचित करते हैं। आज आपको उन भगवान की विनय के द्वारा अतिशय पुण्योदय प्राप्त होगा, आज से आपका यश दुनिया में चमकेगा तथा जगत् में प्रसिद्ध गिने जायेंगे। दोनों भाई प्रसन्न हुए तथा प्रभु की वार्ता करते हुए आनन्द में विभोर हो गये।

इसी समय भगवान वृषभदेव ने नगर में प्रवेश किया। उनके दर्शनार्थ इधर उधर से जनता दौड़ रही थी। सभी सुध-बुध भूल चुके थे। सब मनमानी चर्चा कर रहे थे। कोई पूजा करता, कोई वन्दना, कोई फूल बरसाता तो कोई नाना प्रकार की भेंट चढ़ा रहा था। सनातन वृषभदेव चर्या के लिए यथा-योग्य घरों से विहार करते हुए राजमन्दिर के लिए आगे बढ़े। इधर दोनों भाई सोमप्रभ व श्रेयांस राजमहल के आँगन में नंगे पैर शीघ्र दौड़े। नम्रीभूत होकर, दोनों ने प्रभु के पावन चरणारविन्दों में नमस्कार किया। सुमेरु पर्वत सम उन्नत देदीप्यमान भगवान का रूप देखते ही श्रेयांस कुमार को जातिस्मरण हो गया की पूर्व भव के सारे संस्कार और आहार दान के लिए बुद्धि स्फुरायमान हो गई (पूर्व भव में श्रीमती और वज्रजंघ की पर्याय में दो चारण मुनियों को दान दिया था वह सारा वृत्तान्त श्रेयान्स को स्मरण हो आया था। श्रीमती का जीव श्रेयांस और वज्रसंघ का जीव भगवान वृषभदेव हुए) यह मुनियों के दान देने योग्य ऐसा भोजन का उत्तम समय है ऐसा निश्चय कर पुण्यवान राजा श्रेयान्स ने तत्काल भगवान की तीन परिक्रमा दी एवं नवधाभक्तिपूर्वक पड़गाहन आदि कर दाता के सात गुणों सहित वृषभदेव के लिए निर्दोष प्रासुक इक्षुरस का आहार दिया।

आहार-दान के प्रभाव से महादान के फल दर्शाने वाली पंचाश्चर्य वृष्टि हुई। आकाश से रत्नों की वर्षा होने लगी, गम्भीर नगाड़े बजने लगे, मन्द सुगन्ध वायु चलने लगी, पुष्पों की वृष्टि होने लगी तथा "धन्य धन्य यह पात्र और धन्य धन्य यह दाता" की जयध्वनि गूँजने लगी।

जिस दिन वृषभदेव का एक वर्ष के महाउपवासों का पारणा हुआ वह दिन वैशाख सुदी तीज का था। वह दिन 'अक्षय तृतीया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उत्तम दाता और उत्तम पात्र का अनुपम संयोग। दोनों ने अक्षयपद मुक्ति की प्राप्ति की। पात्र वृषभदेव से भी पहले दाता श्रेयान्स संयम की आराधना कर मुक्त हुए।

दाता और पात्र दोनों ही धर्म के रक्षक थे। दोनो ने मोक्षमार्ग की दो धाराओं को अजस्र बहाने का मार्ग खोल दिया। मुनिधर्म का रक्षक श्रावकधर्म और श्रावकधर्म का रक्षक मुनिधर्म है। वृषभदेव ने धर्मतीर्थ की प्रतिस्थापना की तो राजा श्रेयान्स ने दान का प्रवर्तन किया।

साधु और समाज दोनों एक गाड़ी के पहिये हैं। "न धर्मो धार्मिकैः बिना" धर्मात्माओं के बिना धर्म की रक्षा नहीं हो सकती है। मुनिराज का हाथ हमेशा ऊपर होता है। सिर्फ चौबीस

घंटे में एक समय जब दाता के घर आहार ग्रहण करते हैं, मुनियों का हाथ नीचे दाता का हाथ ऊपर होता है। यह उसका महान् सौभाग्य है। हे श्रावकों! दो रोटी के टुकड़ों के दान के लिए पात्र की परीक्षा मत करो, वह साधु हो या असाधु गृहस्थ तो दान से शुद्ध हो जाता है।

अक्षय तृतीया का अपना विशेष महत्त्व है। इस दिन दिया गया दान अक्षय निधि का कारण बनता है। इस दिन किया गया कार्य कभी खंडित नहीं होता। इसदिन लिया गया व्रत कभी टूटता नहीं है तथा इसदिन विचार किया गया प्रत्येक शुभ कार्य पूर्ण होता है यह एक सर्वसिद्ध योग है।

।वात्सल्यरत्नाकर।

क्षमावणी पर्व

❑ ब्र. कु. प्रभा पाटनी

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
न हु ये वीससियव्वं, थोवं पि हु तं वहु होई॥

ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषाय को अल्पमान समझकर, निश्चित होकर नहीं बैठ जाना चाहिये, क्योंकि ये थोड़े भी बढ़कर बहुत हो जाते हैं।

भव्य प्राणी कल्याण व आनन्द की लहर प्राप्त करने के लिए कई अवसरों को प्राप्त करता है। ३६५ दिनों मे कई सामाजिक एवं धार्मिक पर्व आते हैं जिनके द्वारा यह अपनी आत्मा में सुखानुभव करता है, अध्यात्मिक बीजांकुर रोपता है। ऐसा ही एक पर्व आता है "क्षमावणी पर्व", जिसके द्वारा यह प्राणी मानसिक मल को दूर कर संसार में निर्भयता से जीने का व अक्षय सुख का मार्ग प्रशस्त करता है।

क्षमा का शाब्दिक अर्थ—क्षमा एक छोटा किन्तु गंभीर अर्थ के साथ जुड़ा है। क्ष+मा=क्षमा। क्ष=क्+ष। क्=कषाय, ष=षट्कायजीव, मा=नहीं (मत)। अर्थात् कषाय (क्रोधादि) के आवेश में होकर षट्काय जीवों की हिंसा नहीं करना, उन्हें मन, वचन, काय, कृत-कारित-अनुमोदना आदि क्रियाओं से भी कष्ट नहीं पहुँचाना, उनके प्रति प्रीति रखना 'क्षमा' है।

यह क्षमावणी पर्व आश्विन कृष्णा प्रतिपदा के दिन मनाया जाता है। भादों सुदी पंचमी से पर्वराज पर्यूषण शुरु होते हैं। प्रथम दिन यह प्राणी क्रोध का अभाव करने का प्रयास करता है और उसके स्थान पर समता रूपी जल अर्थात् क्षमा को ग्रहण करता है। धीरे-धीरे मार्दव, आर्जव आदि धर्मों के द्वारा अपने जीवन में रस बिन्दु घोलता है। पश्चात् इन्द्रियों पर संयम धारण करता हुआ तथा विषय वासनाओं से दूर रहने का अभ्यास करता हुआ, कामाग्नि को मन्द से मन्दतम करता जाता है। परिग्रह का क्रमशः विरोध करते हुए, निष्परीग्रही बन आत्मा अत्यन्त सुख व शान्ति का अनुभव करती है। हेय-उपादेय का विवेक जागृत हो जाने पर, उत्तम रूप से कषायों की मन्दता हो जाने पर मन, वचन और काय पर रोक लगाता है। शत्रु व मित्र दोनों के प्रति क्षमाभाव धारण करता है और जब वात्सल्यरूपी अंकुर प्रस्फुटित हो जाते हैं वही क्षमावाणी पर्व मुख्य रूप से कहा जाता है।

नरस्याभरणं रूपं, रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं, ज्ञानस्याभरणं क्षमा॥

मनुष्य-जन्म को पाकर मनुष्य अपने रूप को ही अपना भूषण मान ले या गुणों को अपना आभूषण मान ले ऐसा नहीं, मनुष्य यदि ज्ञानवान्, गुणवान् है, विनयवान् है तो उसमें क्षमागुण होना ही चाहिए। भव्य प्राणी चरित्रवान् है, विनयी है, ज्ञानी है, किन्तु उसमें यदि क्षमा गुण नहीं है तो उसके ये सारे गुण व्यर्थ हैं।

मुख्यरूप से क्षमा वह है जहाँ क्रोध का अभाव है। क्रोध से मानव के शरीर में परिस्पंदन (Vibration) बढ़ जाता है, खून की लालिमा अर्थात् लाल रक्तकणों की संख्या बढ़ जाती है। इससे शरीर काँपने लगता है, चेहरा लाल हो जाता है, विकृत रूप हो जाता है जिसके फलस्वरूप High blood pressure, Heart attack आदि जैसी बीमारियाँ हो जाती हैं। वाणी की शिथिलता के अभाव में, क्षमा के अभाव में मानव भयभीत होता है। ऐसा भय उत्पन्न होता है कि स्वयं मरने व दूसरों को मारने के लिए तत्पर हो जाता है। इसीलिए—

"एक मिनट के क्रोध से ६० सैकेण्ड का आनन्द समाप्त हो जाता है, जिसके कारण आयु भी क्षीण हो जाती है एवं नाना प्रकार की अपत्तियाँ आकर खड़ी हो जाती हैं। क्षमा करें तो कैसे? हृदय से या मन की मलिनता एवं अहंभाव को छोड़कर। इसके लिए अपने जीवन में कोई एक सूत्र निर्धारित करें। प्रारम्भिक अवस्था से ही धर्म में मिलने जुलने वालों से ॐ, जय-जिनेन्द्र, जयवीर, ॐ नमः सिद्धेभ्यः में से कोई एक सूत्र का उपयोग करें। राग अर्थात् प्रशस्त अनुराग जागृत होगा और द्वेष व ईर्ष्या की भावना समाप्त होगी। यदि किसी से झगड़ा हो जाय या मनमुटाव हो जाय फिर भी हम रोज अपनी आदत के अनुसार उससे ॐ, या जय-जिनेन्द्र करेंगे ही। जिसके कारण माध्यस्थ भाव उस विपरीत व्यक्ति के प्रति बनाये रखने में ये सूत्र सहायक होंगे।

हमें सदैव कोमल, मधुर एवं सभ्यतापूर्ण वचनों का प्रयोग करना चाहिए। यदि हमारी शब्द-वर्गणा कठोर है, तेज है तो बातचीत करते समय उस मानव-मन में असह्य वेदना उत्पन्न होगी जिसके कारण हम हिंसा के दोषी कहलायेंगे।

वास्तविक क्षमावणी तो स्व-पर को क्षमा कर विकृत परिणामों का अभाव करना है, अन्तःकरण की पूँजी क्षमा को प्राप्त करना विचारों की नहीं, आचरण की वस्तु है। अन्यथा अक्षमावान् बेचैन, घबराया हुआ, जैल में बैठा कैदी के समान रहेगा।

जब पानी उबलता है उस समय यदि हम अपना चेहरा पानी में देखना चाहें तो दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार क्रोध में यह प्राणी अपने सत्य स्वरूप को देख नहीं पाता है। अर्थात् क्रोध क्रान्ति कराता है, जबकि क्षमा शान्तिदायिनी है। क्रोध से हिंसा होती है जिसके कारण भावावेश में यह प्राणी आत्महत्या, परहत्या करने लगता है या अन्य प्रकार से नुकसान करता है। क्षमा हो तो गाँधी जैसी जिनके कारण व्यक्ति उनके कार्यों से, उनकी क्षमा से प्रभावित हो अपने जीवन में परिवर्तन कर सकें।

क्षमावणी हृदय से हृदय मिलाती है अर्थात् वात्सल्यभाव सिखाती है, मैत्री करना सिखाती है किन्तु मैत्री ऐसी करें जिसमें स्वार्थपना न हो। यदि आपस में मैत्री है, स्नेह है, प्रीति है, तो वह व्यक्ति एकता का पाठ सीख जाता है। अर्थात् "क्षमा एकता से संगठन में रहना सिखाती है, जबकि क्षमा के अभाव से राष्ट्र, देश, नगर, गाँव, समाज, घर एवं परिवार में, भाई-भाई में विघटन हो जाता है।" "क्षमा संगठन सिखाती है, क्रोध विघटन।" विघटन के कारण देश-राष्ट्र आदि की खुशियाँ समाप्त हो जाती हैं।

चार मिले चौसठ खिले बीस रहे कर जोड़।
क्षमा जो ऐसी चाहिये हरषे साठ करोड़॥

क्षमावणी पर्व जब आता है तो लोग आपस में प्रेम से मिलते हैं, यहाँ तक कि एक दूसरे को गोद में उठा लेते हैं एवं प्रेम प्रदर्शित करते हैं। वचन से इन वाक्यों का प्रयोग करीब-करीब सभी सज्जन मानव करते हैं "भैय्या! जाने-अनजाने में मन, वचन, काय के द्वारा कुछ कह दिया हो जिससे तुम्हारे कोमलांगी हृदय को आघात पहुँचा हो तो क्षमा करना।" सभी मिलने वाले रिश्तेदारों में पत्र भी डालते हैं जिसमें लिखा होता है क्षमावणी कार्ड (मन की विशुद्धि के लिये) किन्तु यह सब कार्य अपनत्व जहाँ है वहाँ ही करते हैं। यदि अन्तःकरण से मित्र व शत्रु के प्रति करें, तो यह पर्व आत्मा को विशुद्ध करने हेतु अपने स्वभाव में ठहरने का जो सबक सिखाता है उसमें सभी सरलता को प्राप्त हो जाते हैं। यह क्षमावणी पर्व वर्ष में एक बार ही नहीं आता अपितु जिसके हृदय में क्षमा विराजमान हो चुकी है उसके लिए तो प्रतिक्षण यह पर्व साथ बिताना है। इसे अपना मित्र बना लेने पर व्यक्ति का जीवन उन्नति की ओर बढ़ता चला जाता है और धीरे-धीरे विभाव (मल) को दूर कर अपने स्वभाव में रमण करने लगता है।

क्षमा स्वभाव है, क्रोध विभाव है—शत्रु है। क्षमा अर्थात् समताभाव (equanimity)। सभी जीवों पर क्षमा धारण करना। चाहे वह वायुकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक जीव हों या त्रस जीव हों, इनको बिना प्रयोजन छेड़ना या प्रमाद के वशीभूत होकर काय की चेष्टा द्वारा घात कर देना कदापि उचित नहीं है। किसी भी कार्य के प्रति गलती हो जाना या नुकसान हो जाने पर माफ करना (Sorry) कह देना यह कोई क्षमा का रूप नहीं है। सुबह व शाम, सामायिक के समय सभी के प्रति क्षमा माँगना किन्तु फिर से वही कार्य करना, गलतियाँ करना यह कोई क्षमा नहीं है।

खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्व भूयेसु वैरं मज्झं ण केणवि॥

इस प्रकार बोल दिया वचनों से, किन्तु यदि काय व मन की क्रिया में अन्तर नहीं आया, जीवों के प्रति करुणा भाव— जो प्रमाद के अभाव के कारण होना चाहिए—नहीं होता है तो

इससे क्षमा धारण नहीं की जा सकती।

क्षमा तो एक अखण्ड, अक्षय, अविरल साथ में रहने वाली निधि है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता है, किन्तु प्रत्येक प्राणी इसका अर्जन कर सकता है। कुएँ के पानी की तरह जिसके पास क्षमा का अक्षय स्रोत है वह निर्वाणसुख की प्राप्ति करता है। सभी तीर्थंकरों ने इसकी सेवा की है। अविरल इसके साथ रहे हैं। भगवान् पार्श्वनाथ ने बैरी कमठ के साथ १० भव तक प्रतिकार के भाव नहीं किये जिसके कारण मोक्ष की प्राप्ति हुई। उस कमठ ने भी इसे स्वीकारा, मित्र बनाया। साधु कुएँ के पानी के समान है जिसके कारण आनन्द का काल बिताता हुआ अनन्त सुख को भी प्राप्त कर लेता है। "क्षमा मित्र है, क्रोध शत्रु है"।

"उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्ती" अर्थात् मैं उस इस समता को अपनाऊँ जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो। समता भाव के बिना क्षमा आ नहीं सकती। सुख-दुख, अग्नि की ज्वाला के फूटने पर, महामारि जैसे भयंकर रोग के आने पर, उपसर्गों के आने पर, निन्दा करने पर, स्तुति-पूजा करने पर, किसी के प्रहार करने पर, समता भाव को धारण करने वाले तो साक्षात् दिगम्बर साधु ही होते हैं, अन्य कोई भी नहीं। 'छहढाला' में कहा है—

अरि मित्र महल मसान कंचन, कांच निंदक थुति करन।
अर्घावतारन असि-प्रहारन में सदा समता धरन॥६॥

दिगम्बर मुनिराजों की प्रत्येक समय ऐसी साम्य स्थिति होती है। हमारे लिए ऐसा सुअवसर, ऐसी सुघड़ी, ऐसा दिन कब आयेगा जब हम भी क्षमा को धारण कर उसके सहोदर बन जायें। "क्षमा समता है जो णिव्वाण सुख को प्राप्त कराती है जबकि क्रोध तामसता उत्पन्न कर नरक, तिर्यञ्च गति को ले जाता है।"

यह समता या क्षमाधारण जब ही हो सकती है जब गलती को स्वीकारा जाय, स्वार्थ की पुष्टि न की जाय, मायाचारी, छल-कपट से दूर रहा जाय। ऋजुता को अपनाने पर, गलती स्वीकार कर लेने पर, प्रमाद को दूर करने पर तथा प्रायश्चित् का सही उपयोग करने पर इन्सान एक दिन भगवान बन जाता है।

क्षमा देवीय गुण है। अतः सुनहरे जीवन का सभी धर्मों में चाहे जैन हो, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई या अन्य धर्म का हो, क्षमा का (दया का) विशेष स्थान है। यदि यह दया धर्म मनुष्य के हृदय में न हो तो मनुष्य व प्राणी मात्र का इस भूतल पर रहना कठिन हो जायगा। क्षमा धर्म को विभिन्न रूपों में विभिन्न मतावलम्बी मानते हैं, जानते हैं।

"क्षमा से क्रोध को जीतो, भलाई से बुराई को, दरिद्रता को दान से जीतो।"

"जो क्षमा करता है और बीती बातों को भूल जाता है उसे परमेश्वर की ओर से पुरस्कार मिलता है।"

—कुरान शरीफ

"शरीर में दण्ड देने का बल होते हुए भी, दुख देने वालों को क्षमा करने वाला व्यक्ति परमेश्वर की दृष्टि में अत्यन्त माननीय है।"

—हजरत मोहम्मद

"अल्पतम प्रमाद के वश में भी यदि मैंने आपके प्रति अच्छा व्यवहार नहीं किया हो तो मैं निशल्य और कषाय रहित होकर आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।"

—वृहत् कल्पभाष्य

It is Good to forgive but it is best to forget. क्षमा करना अच्छा है, अपराध को भूल जाना सबसे अच्छा है।

—आर. ब्राउनिंग

ईसामसीह प्रभु से प्रार्थना करते हैं—हे जगत्पिता! इन्हें माफ कर। क्योंकि ये नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं अर्थात् इन्हें सही मार्ग-बोध हो।

इस प्रकार क्षमावणी को सभी चाहते हैं। उसके परम उत्कृष्ट भावों के कारण ही सुख-शान्ति का वैभव प्राप्त होता है।

यः क्षाम्यति, क्षमोप्याशु, प्रतिकर्तु कृतागसः।
कृतागसं तमिच्छन्ति, क्षान्तिपीयूषसंजुषः॥ —(अनगार धर्मामृत)

अपने प्रति अपराध करने वालों का शीघ्र ही प्रतिकार करने में असमर्थ रहते हुए भी जो पुरुष अपने उन अपराधियों के प्रति क्षमा धारण करता है, क्षमारूपी अमृत का सेवन करने वाले उस व्यक्ति को साधुजन पापों को नष्ट कर देने वाला समझते हैं।

आयरिए उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कूलानेय।
जे मे केई कसाय, सव्वे तिविहेन खामेमि॥

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और साधर्मी बन्धुओं तथा कुल और गणों आदि सभी के प्रति जो क्रोधादि कषाय युक्त व्यवहार किया हो उसके लिए मन, वचन और काय से क्षमा माँगता हूँ।

खमियव्वं खमानियव्वं, जो उवसमई अत्थि तस्स आराधना। अर्थात् क्षमा माँगनी चाहिये, देनी चाहिये, जो क्षमा याचना करके कषायों का उपशमन कर लेता है वही आराधक है।

इसलिए सभी को नित्य अपना ऐसा जीवन ढालना चाहिए जिससे क्षमा का सही भाव धारण किया जा सके व क्षमावणी को आत्मसात् कर निर्वाणसुख—शाश्वत सुख को प्राप्त किया जा सके।

मैत्री भाव जगत् में मेरा सब जीवों से नित्य रहे।
दीनदुखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे॥

शास्त्रपूजा का सबसे बड़ा दिन : श्रुतपंचमी

❑ डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

श्रुतपंचमी शास्त्रपूजा का सबसे बड़ा दिन है। श्रुतपंचमी को ज्ञानपंचमी भी कहते हैं। श्रुतपंचमी का जैन समाज में बहुत बड़ा महत्त्व है इसलिए इस दिन शास्त्रों की रथ-यात्रा निकाली जाती है। उनको नये-नये वस्त्रों में बाँधा जाता है। शास्त्र-भण्डारों की सफाई की जाती है और जीर्णशीर्ण पाण्डुलिपियों को बचाने का प्रयास किया जाता है। वास्तव में, हमारी श्रुतभक्ति के कारण देश के विभिन्न ग्रंथागारों में आज भी हजारों लाखों पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित बच सकी हैं जो समाज के लिए अमूल्य धरोहर हैं।

श्रुतपंचमी ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को आती है। इस दिन को श्रुतपंचमी के नाम से मनाने के पीछे एक बहुत बड़ा इतिहास है, रोचक घटना है जिसका हम आगे वर्णन करेंगे। इसके पूर्व उसका क्या स्वरूप था पहिले हम उसका इतिवृत्त देना चाहेंगे।

भगवान महावीर का निर्वाण ईस्वी के ५२७ वर्ष पूर्व हुआ था। वे स्वयं अनन्तज्ञान के धारी थे। उन्हें कैवल्य हो चुका था। इसलिए वे सर्वज्ञ महाप्रभु कहलाते थे। उनका निर्वाण होते ही गौतम गणधर को कैवल्य हो गया इसलिए वे भी भगवान महावीर की तरह ही द्रव्य एवं तत्त्वों को प्रत्यक्ष रूप से जानने लगे। ज्ञान की अविछिन्न धारा बहती रही। गौतम स्वामी के पश्चात् सुधर्मा स्वामी को कैवल्य हो गया। वे भी गौतम स्वामी के समान बारह वर्ष तक अनेक स्थानों पर विहार करते हुए भारतीयों को अपने दिव्य ज्ञान से संबोधित करते रहे। सुधर्मा स्वामी के पश्चात् जम्बूस्वामी केवली बने। वे भी सर्वज्ञ थे तथा दिव्य ज्ञान के स्वामी थे। जम्बूस्वामी कैवल्य होने के बाद ३८ वर्ष तक जीवित रहे। ईस्वी सन् ४६५ वर्ष पूर्व जब उनका निर्वाण हुआ तब तक महावीर के समान ही दिव्य ज्ञान की अविरल धारा बहती रही और चतुर्विध संघ उनसे ज्ञानामृत का पान करता रहा। जिस दिव्यज्ञान को महावीर ने अपनी दिव्य ध्वनिद्वारा प्रतिपादित किया था उनके तीनों गणधरों ने उसे द्वादशांग एवं चौदह पूर्व के रूप में सूत्रबद्ध कर दिया। लेकिन जम्बूस्वामी तक वह ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में था।

इसके पश्चात् किसी को कैवल्य नहीं हुआ तो वे श्रुतकेवली कहलाने लगे। वे पूर्ण श्रुतज्ञान के धारी थे। श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञान द्रव्य और तत्त्वों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है और श्रुतज्ञान उसे परोक्ष रूप से जानता है। वैसे समस्त द्रव्य और पर्यायों को जानने की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समान हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शनपाहुड़ में जिन वचनों—श्रुतज्ञान को अमृत के समान हितकारी एवं विषयवेदना से संतप्त

प्राणी के लिए परमौषधि कहा है। श्रुत या आगम के दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और दूसरा भावश्रुत। आप्त के उपदेश रूप द्वादशांग को द्रव्यश्रुत और उसमें होने वाले ज्ञान को भावश्रुत कहा जाता है।

सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित तथा गणधरों द्वारा सूत्रों में निबद्ध १२ अंगों एवं १४ पूर्वों के नाम इस प्रकार हैं।

	बारह अंग	चौदह अंग बाह्य
१-	आचारांग	सामायिक
२-	सूत्रकृतांग	चतुर्विंशतिस्तव
३-	स्थानांग	वन्दना
४-	समवायांग	प्रतिक्रमण
५-	व्याख्याप्रज्ञप्ति	वैनयिक
६-	ज्ञातृधर्मकथा	कृतिकर्म
७-	उपासकाध्ययनांग	दशवैकालिक
८-	अन्तकृद्दशांग	उत्तराध्ययन
		कल्पव्यवहार
९-	अनुत्तरोपपादिक दशा	कल्प्याकल्प्य
१०-	प्रश्नव्याकरणांग	महाकल्प्य
११-	विपाकसूत्रांग	पुण्डरीक
१२-	दृष्टिवादांग	महापुण्डरीक
		निषिद्धिका

जम्बूस्वामी के पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए और उन्होंने १०० वर्ष तक संपूर्ण श्रुतज्ञान की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की। उन पाँच श्रुतकेवलियों के नाम निम्न प्रकार हैं—

विष्णु	१४ वर्ष
नन्दिमित्र	१६ वर्ष
अपराजित	२२ वर्ष
गोवर्धन	१९ वर्ष

भद्रबाहुस्वामी	२९ वर्ष
	१०० वर्ष

इस प्रकार भगवान महावीर के निर्वाण के १६२ वर्ष के बाद तक अर्थात् ईसा पूर्व ३६५ वर्ष तक केवली एवं श्रुतकेवलियों ने पूर्ण ज्ञान की धारा को प्रवाहित रखा और चतुर्विध संघ को अपने समग्र ज्ञान से आप्लावित रखा। भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गारोहण के पश्चात् श्रुतज्ञान में कुछ कमी आने लगी और एक भी आचार्य पूर्ण श्रुतकेवली नहीं हो सके। द्वादशांग एवं १४ पूर्वों में से दस पूर्वों के ज्ञान से ही संतोष करना पड़ा। आगे १८३ वर्ष तक ११ आचार्य हुए जिनके नाम और समय निम्न प्रकार हैं—

१- विशाखाचार्य	१० वर्ष	७- धृतिसेनाचार्य	१८ वर्ष
२- प्रोष्ठिलाचार्य	१९ वर्ष	८- विजयाचार्य	१३ वर्ष
३- क्षत्रियाचार्य	१७ वर्ष	९- बुद्धिलिंगाचार्य	२० वर्ष
४- जयसेनाचार्य	२१ वर्ष	१०- देवाचार्य	१४ वर्ष
५- नागसेनाचार्य	१८ वर्ष	११- धर्मसेनाचार्य	१६ वर्ष
६- सिद्धार्थाचार्य	१७ वर्ष		कुल-१८३ वर्ष

भगवान महावीर के निर्वाण के ३४५ वर्ष तक बारह अंग एवं दस पूर्वों के ज्ञाता होते रहे। आचार्यों की स्मरणशक्ति क्षीण होने लगी। तीर्थंकरों की वाणी को धारण करने की क्षमता कम होने लगी। पूर्वों का ज्ञान एकदम लुप्त हो गया और १२ अंगों में से भी ११ अंग के ही पाठी आचार्य होते रहे। इन आचार्यों के नाम हैं—

नक्षत्राचार्य	१८ वर्ष
जयपालाचार्य	२० वर्ष
पाण्डवाचार्य	३९ वर्ष
ध्रुवसेनाचार्य	१४ वर्ष
कंसाचार्य	३२ वर्ष
कुल	१२३ वर्ष

श्री कंसाचार्य के पश्चात् दशांग, नवांग एवं अष्टांगधारी आचार्य होते रहे। और ९७ वर्षों तक इन आचार्यों का आचार्यत्व सुव्यवस्थित रहा।

सुभद्राचार्य	६ वर्ष

यशोभद्राचार्य	१८ वर्ष
आचार्य भद्रबाहु	२३ वर्ष
लोहाचार्य	५० वर्ष
कुल	९७ वर्ष

लोहाचार्य के स्वर्गारोहण पश्चात् १२ अंगों एवं १४ पूर्वों का ज्ञान एकदम विलुप्त हो गया और केवल बारहवें अंग के ही पाठी आचार्य बचे। इस कड़ी में आचार्य अर्हद्बलि, आचार्य माघनन्दि और आचार्य धरसेन हुए। आचार्य धरसेन तीव्र तपस्वी बारहवें अंगदृष्टिवाद के पाठी थे। जब उनको मालूम हुआ कि उनके जीवन का अंतिम समय है, जो कुछ अंगज्ञान उनकी स्मृति में हैं, उसकी रक्षा होनी चाहिए। यदि उन्होंने किसी योग्य शिष्य को तैयार नहीं किया तो अवशिष्ट अंग का ज्ञान भी सदा के लिए विलुप्त हो जावेगा।

राजा नहपाल उज्जैन एवं सुराष्ट्र का अधिपति था। सातकर्णी से पराजित होकर नहपाल मुनि हो गये और भूतबलि नाम से प्रसिद्ध हुए। सन् ६६ के लगभग संघनायक अर्हद्बलि ने वेण्या नदी के तट पर स्थित महिमानगरी (वर्तमान कोल्हापुर प्रान्त के महिमागढ़) में एक विशाल मुनिसंघ का सम्मेलन किया और सुविधा के लिए मूलसंघ को नंदि, देव, सेनसिंह, भद्र आदि उपसंघों में विभाजित किया। इस सम्मेलन में आचार्य धरसेन के आग्रह पर आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को उनके पास गिरिनार भेजा गया। जैसे ही मुनिद्वय आचार्य धरसेन के चरणों में पहुँचे, उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर वंदना की और अपने आने का कारण बताया। आचार्य धरसेन को मुनिद्वय के व्यक्तित्व ने प्रथम दर्शन में ही प्रभावित कर दिया लेकिन उन्होंने दोनों की स्मरणशक्ति, बुद्धिकौशल एवं निर्भयता की परीक्षा लेने के लिए दोनों मुनियों को एक-एक मंत्र साधना के लिए दिया जिसमें एक मन्त्र में कुछ अक्षर कम एवं दूसरे में कुछ अधिक अक्षर थे। गुरु ने दो दिन के उपवास के पश्चात् उन मन्त्रों को सिद्ध करने का आदेश दिया। दोनों ही मुनि मंत्रसाधना करने लगे। जब मंत्र के प्रभाव से उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ उपस्थित हुईं तो एक देवी के दाँत बाहर निकले हुए थे और दूसरी कानी थी। 'देवता विकृतांग नहीं होते' इस प्रकार निश्चय कर उन दोनों ने मंत्र संबंधी व्याकरण-शास्त्र के आधार पर उन मंत्रों का शोधन किया और मंत्रों को शुद्ध कर पुनः साधना में संलग्न हुए। ये देवियाँ पुनः सुन्दर और सौम्यरूप में प्रस्तुत हुईं।

मंत्रसिद्धि के पश्चात् दोनों शिष्य आचार्य धरसेन के समक्ष उपस्थित हुए और उनको विनयपूर्वक विद्यासिद्धि संबंधी समस्त वृत्तान्त निवेदित किया। धरसेनाचार्य दोनों योग्य शिष्यों को पाकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने शुभ नक्षत्र में उनको आगम- ग्रंथों का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया। यह अध्ययन कितने समय तक रहा इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता लेकिन आचार्य धरसेन ने उनको आषाढ़ शुक्ला १५ तक सभी सिद्धान्त ग्रंथों को पढ़ा दिया था और वे भी

धीरे-धीरे आगम-ग्रंथों के पारंगत ज्ञाता बन गये। उन्होंने अंकलेश्वर में चातुर्मास व्यतीत किया इसके पश्चात् दोनों आचार्यों ने मिलकर षट्खण्डागम की रचना करके अवशिष्ट आगमज्ञान लिपिबद्ध कर दिया और उनको नष्ट होने से बचा लिया। इन्द्रनंदि के श्रुतावतार के अनुसार, उस दिन जेठ शुक्ला पंचमी का शुभ दिन था। आचार्य धरसेन ने उनमें ज्ञान की अपूर्व ज्योति जगाई इसलिए वे विशिष्ट आगम-सूत्रों को लिपिबद्ध करने में लग गये। प्राकृत पदावली में पुष्पदंत को भूतबली से ज्येष्ठ माना है और धरसेन के पश्चात् पुष्पदंत का आचार्यकाल ३० वर्ष बतलाया है। देवों ने पुष्पदंत की अस्त-व्यस्त दन्तपंक्ति को दूर कर सुन्दर बना दिया था, इसलिए धरसेनाचार्य ने उनका पुष्पदन्त नामकरण किया था। आचार्य वीरसेन ने मंगलाचरण प्रसंग में भूतबलि से पूर्व पुष्पदन्त का स्मरण किया है–

पणमामि पुप्फयंतं दुण्णयंधयाररविं।
भग्गसिवमग्ग-कंटयमिसि-समिइवई सया दंतं॥

(षटखण्डागम धवला टीका पुस्तक पृष्ठ ७ गाथा-५)

दोनो आचार्यों ने मिलकर षट्खण्डागम जैसे महान् ग्रंथ की रचना करने का श्रेय प्राप्त किया। इस महान् ग्रंथ की सत्प्ररूपणा भाग को पुष्पदंत ने लिखा और उसे अपने शिष्य जिनपालित द्वारा बाहुबली के पास भेज दिया। सत्प्ररूपणा में चौदह जीवसमासों एवं अनुयोगद्वारों का वर्णन किया गया है। जब षट्खण्डागम रचना का भाग भूतबलि के पास पहुँचा तो उन्होंने पुष्पदंत विरचित सूत्रों को मिलाकर पाँच खण्डों के छह हजार सूत्र रचे और उसके पश्चात् महाबन्ध नामक छठे खण्ड की तीस हजार सूत्रग्रंथ की रचना की। इस प्रकार षट्खण्डागम की रचना करके उसे ग्रंथ रूप में निबद्ध किया तथा ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को उसकी पूजा की और उसे सभी के पढ़ने के लिए उसका विमोचन किया। इन्द्रनंदिकृत श्रुतवतार में इसका निम्न प्रकार वर्णन किया गया है:–

ज्येष्ठ-सितपक्ष पंचम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणै र्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम्॥
श्रुतपंचमिति तेन प्रख्यातिं तिथिरयं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजा कुर्वते जैनाः॥

इस प्रकार विगत १८00 वर्षों से ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को श्रुतपंचमी के रूप में मनाया जा रहा है। षटखण्डागम की तो इस दिन पूजा करनी ही चाहिए लेकिन सम्पूर्ण जैन ग्रन्थों की पूजा एवं उनकी सुरक्षा के उपाय भी सोचे जाने चाहिए। षट्खण्डागम रचना के पश्चात् जैनाचार्यों ने जिस तीव्रगति से विविध विषयों पर ग्रंथों का निर्माण किया वह अपने आप में अनूठा उदाहरण है। षट्खण्डागम के विमोचन के पश्चात् प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को श्रुतपंचमी के रूप में मनाया जाने लगा। विभिन्न आचार्यों ने श्रुतपूजा एवं श्रुतपंचमी के महत्त्व पर एवं

उसकी कथा को काव्य रूप में निबद्ध किया। राजस्थान के शास्त्रभण्डारों में ऐसी अनेक रचनाएँ मिलती हैं जिनमें श्रुतपंचमी एवं श्रुतसाहित्य पर प्रकाश डाला गया है।

अपभ्रंश भाषा में महाकवि स्वयम्भू एवं धनपाल कवि ने श्रुतपंचमी कथा को काव्यरूप में निबद्ध करके उसके महत्त्व पर विस्तृत प्रकाश डाला। धनपाल कवि द्वारा भविष्यदत्तचरित में श्रुतपंचमी के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। इन्द्रनंदि के श्रुतावतार एवं पं. श्रीधर कवि के श्रुतावतार में भी श्रुतपंचमी के उद्भव एवं श्रुतज्ञान का वर्णन किया गया है।

भट्टारक ज्ञानभूषण, त्रिभुवनकीर्ति, श्रीभूषण एवं वर्धमानदेव ने श्रुतपूजायें लिखकर श्रुतपंचमी के दिन शास्त्रों की पूजा करने, लिखने एवं उनकी सुरक्षा के लिए समाज में वातावरण बनाया और इसी भावना के फलस्वरूप आज जैन समाज के पास लाखों की संख्या में पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

श्रुतपंचमी एक प्रकार से हमारे लिए सत्साहित्य की दीपावली है। जिस प्रकार हम दीपावली को बाजार से एक नई चीज खरीद कर घर में रखते हैं उसी प्रकार श्रुतपंचमी के दिन भी हमें एक ग्रंथ अवश्य खरीदना चाहिये और उसका स्वाध्याय किया जाना चाहिए। तभी जाकर श्रुतपंचमी का मनाना हमारे लिए सार्थक होगा और साहित्य का प्रचार-प्रसार हो सकेगा।

अष्टान्हिका पर्व

❑ *प्रतिष्ठाचार्य पं. प्रदीपकुमार जैन, बम्बई*

आचार्यों ने पूजन के पाँच भेद कहे हैं—(१) नित्यमह पूजा, (२) अष्टान्हिका पूजा (चर्तुमुख पूजा), (३) सर्वतोभद्र पूजा, (४) कल्पवृक्ष (कल्पद्रुम) और (५) इन्द्रध्वज पूजा।

अष्टान्हिका पर्व में देव नंदीश्वर द्वीप में जाकर पूजा करते हैं। वही पूजा हम मानव भी नंदीश्वर द्वीप की कल्पना करके करते है। यही अष्टान्हिका पूजा है। इसे महामह पूजा अथवा चतुर्मुख पूजा भी कहा जाता है। इस समय जो व्रत किया जाता है, वह अष्टान्हिका व्रत है अथवा इसे नंदीश्वर व्रत भी कहते हैं।

सुर्दशनमेरु से आठवा द्वीप जो नंदीश्वर द्वीप है वहाँ पर मनुष्य क्षेत्र नही होने से मनुष्य विद्याधर भी नहीं जाते, क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत को उल्लंघन करने पर फिर नंदीश्वर द्वीप को जाया जा सकता है लेकिन ढाई द्वीप की सीमा मानुषोत्तर पर्वत के बाद मनुष्यलोक नहीं है और मानुषोत्तर पर्वत के बाद आधा पुष्करद्वीप, फिर समुद्र है। उसके बाद वारुणीवर द्वीप समुद्र, क्षीरवर द्वीप-समुद्र, घृतवर द्वीप-समुद्र, इक्षुवर द्वीप-समुद्र। बाद में नंदीश्वर द्वीप है। नंदीश्वर महासागर से घिरा हुआ है। नंदीश्वरभक्ति में आचार्य लिखते हैं—

> नंदीश्वर सद्द्वीपे नन्दीश्वरजलधिपरिवृत्ते धृतशोभे।
> चन्द्रकरनिकरसंन्निभरून्द्रयशोविततदिङ्महीमंडलके॥११॥
>
> तत्रात्यांजनदधिमुख-रतिकर-पुरुनगवराख्यपर्वतमुख्याः।
> प्रतिदिशमेषामुपरि त्रयोदशेन्द्रार्चितानि जिनभवनानि ॥१२॥

अर्थात्—चंद्रमा की किरणों के समूह के समान फैले हुए यश के द्वारा जिसने समस्त दिशाओं का समूह और समस्त पृथ्वीमंडल व्याप्त कर दिया है अर्थात् जिसकी कीर्ति समस्त पृथ्वी पर फैल रही है तथा नन्दीश्वर नाम के महासागर से चारों ओर घिरा हुआ है और जो बड़ी अच्छी शोभा को धारण कर रहा है, ऐसे सर्वोत्तम नंदीश्वर द्वीप की प्रत्येक दिशा में (पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर में) वहाँ एक-एक अंजनगिरि है। उस अंजनगिरि के चारों ओर चार दिशा में चार-चार दधिमुख हैं, उन दधिमुख बावड़ियों के किनारे-कोनों पर रतिकर पर्वत हैं। प्रत्येक अंजनगिरी, दधिमुख, रतिकर पर्यत एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीप की एक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर सब तेरह होते हैं। इस प्रकार चारों दिशाओं के मिलकर ५२ होते हैं। इन चैत्यालयों में इन्द्रादि देवगण आकर पूजा करते हैं। नन्दीश्वरभक्ति

में, आचार्य चैत्यालयों की विभूति एवं प्रतिमा का वर्णन करते हैं कि वे अकृत्रिम तोरणो से चारों ओर वेदियों से, चारों ओर फैले वनों से, याग वृक्षों से, मानस्तम्भों से, दस-दस प्रकार की ध्वजाओं की पंक्तियों से, चार-चार गोपुरों से, तीन-तीन कोटों से, तीन-तीन शालाओं से, उत्तम मंडपों से सुशोभित हैं। जिन मण्डपों में बैठकर अभिषेक देखते हैं ऐसे मंडप, क्रीड़ाभूमि, नाट्यशालाओं से सुशोभित हैं। यह रचना उनको बनाने वाले कारीगरों द्वारा कल्पना की हुई रचना के भेदों के विचार से सर्वथा रहित है अर्थात् किसी चतुर कारीगर ने भी उनके बनाने की कल्पना नहीं की है। वे सब अकृत्रिम हैं। गोल, चौकोर तथा बहुत सुन्दर निर्मल जल से भरी हुई गहरी वापिकाओं से सुशोभित हैं, खिले हुए पुष्पों से सुशोभित हैं। ध्वजाओं के बारे में आचार्य यतिवृषभ तिलोयपण्णत्ती में कहते हैं:

हरि-करि-वसह-खगाहिव-सिहि-ससि-रवि-हंस-पउम-चक्क-धया।
एक्केक्कमट्ठ-जुद-सयमेक्केक्कं अट्ठ-सय खुल्ला॥४५॥

ध्वजभूमि में सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र इन चिन्हों से अंकित प्रत्येक चिन्ह वाली एकसौ आठ महाध्वजाएँ और एक-एक महाध्वजा के आश्रित एक सौ आठ लघुध्वजाएँ होती हैं अर्थात् १० × १०८ = १०८० महाध्वजाएँ हुईं। १०८० × १०८ = ११६६४० लघु (छोटी) ध्वजाएँ हैं।

झारी, कलश, दर्पण, ध्वजा, चामर, छत्र, व्यंजन और सुप्रतिष्ठ इन आठ मंगल द्रव्यों से सुशोभित प्रत्येक एक सौ आठ होते हैं। देदीप्यमान रत्नदीपकों से युक्त ये जिन-भवन पाँच वर्ण के रत्नों से निर्मित और गोशीर्ष, मलयचन्दन, कालागुरु और धूप की गंध से व्याप्त तथा भम्भा, मृदंग, मर्दल, जयघंटा, कांस्यताल, तिवली, दुन्दुभि एवं पटहादिक वाद्यों से नित्य ही शब्दायमान रहते हैं। त्रिलोकसार में प्रतिमाओं के विषय में निम्न वर्णन आता है—

चमर करणाग जक्खग बत्तीसं मिहुण गेहि पुह जुत्ता।
सरिसीए पंतीए गब्भगिहे सुट्ठु सोहंति॥९८७॥

गर्भगृह में वे जिनप्रतिमाएँ चमरधारी नागकुमारों के ३२ युगलों और यक्षों के ३२ युगलों सहित पृथक्-पृथक्, सदृश पंक्ति में शोभित होती हैं।

सिरिसुद-देवीण तहा, सव्वाण्ह-सणक्कुमार-जक्खाणं।
रूवाणिं पत्तेक्कं, पडिमा-वर-रयण-रइदाणिं॥१९०५॥

प्रत्येक प्रतिमा उत्तम रत्नादिकों से रचित है और श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाह्ण व सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियों से युक्त है। नन्दीश्वरभक्ति में बताया है—

येषु जिनानां प्रतिमाः, पञ्चशत-शरासनोच्छ्रिताः सत्प्रतिमाः।
मणिकनक-रजतविकृता, दिनकरकोटि-प्रभाधिक-प्रभदेहा॥२६॥

जिन-चैत्यालयों में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाएँ पाँच सौ धनुष ऊँची अत्यन्त मनोहर और सुन्दर आकारवाली हैं। मणि-सुवर्ण, चाँदी की बनी हुई हैं, करोड़ों सूर्यों की कांति से भी अधिक उनके शरीर की कान्ति देदीप्यमान है। इस प्रकार प्रत्येक चैत्यालय में १०८-१०८ जिनबिम्ब पूर्ण वैभव से विराजमान हैं।

इस अष्टान्हिक पर्व में नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयों का पूजन इन्द्र देवगण किस प्रकार करते हैं—

> आषाढ-कार्तिकाख्ये, फाल्गुनमासे च शुक्लपक्षेऽष्टम्याः।
> आरभ्याष्ट-दिनेषु च, सौधर्म-प्रमुख-विबुधपतयो भक्त्या॥१३॥
>
> तेषु महामह-मुचितं, प्रचुराक्षत-गन्ध-पुष्प-धूपै-र्दिव्यैः।
> सर्वज्ञ-प्रतिमाना-मप्रतिमानां प्रकुर्वते सर्व-हितम्॥१४॥

आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास में शुक्लपक्ष की अष्टमी से प्रारंभ करके आठ दिन तक सौधर्म इन्द्र आदि को लेकर, समस्त इन्द्र बड़ी भक्ति से वहाँ पर जाते हैं। जिनकी बराबरी संसार भर में कहीं नहीं है ऐसी वहाँ पर विराजमान भगवान सर्वज्ञदेव की प्रतिमाओं की बहुत सारे दिव्य अक्षतों, दिव्यगन्ध से, दिव्य पुष्प से और दिव्य धूप आदि से समस्त प्राणियों का हित करने वाली अपने योग्य अर्थात् इन्द्रों के द्वारा ही करने योग्य ऐसी महामह (आष्टान्हिनक) पूजा की जाती है।

नन्दीश्वर द्वीप के उन चैत्यालयों का विशेष माहात्म्य अवर्णनीय है, जहाँ सौधर्म इन्द्र स्वयं उन प्रतिमाओं के अभिषेक करने का काम करता है। पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान जिनका निर्मल यश फैला हुआ है ऐसे बाकी के सभी इन्द्र सौधर्म इन्द्र के परिचारक सहायक बन जाते हैं, अर्थात् उस महाभिषेक में सहायता देते हैं व अन्य कार्य करते हैं। निर्मल गुणों को धारण करने वाली उन सौधर्म आदि इन्द्रों की महादेवियाँ आठ मंगल द्रव्य धारण करती हैं। अप्सराएँ नृत्य करने वाली होती हैं और वहाँ बाकी के सब देव तथा देवियाँ उस अभिषेक को देखने में एकाग्रचित्त रहते हैं। अभिषेक के बाद पूजन का वर्णन नंदीश्वरभक्ति में किया है तदनुसार, सौधर्मादिक इन्द्रों के द्वारा किया गया पूजन वैभव जो उन्हीं के द्वारा प्रवर्त्तमान है उसकी शोभा और भक्ति का वर्णन वृहस्पति भी नहीं कर सकता। फिर भी यतिवृषभाचार्य देवों की उस पूजा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

> कुव्वंते अभिसेयं, महाविभूदीहि ताण देविंदा।
> कंचण-कलस-गदेहिं, विठल-जलेहिं सुगंधेहिं॥१०४॥

महान् विभूति के साथ देवेन्द्र इन प्रतिमाओं का सुवर्ण-कलशों में भरे हुए सुगन्धित निर्मल जल से अभिषेक करते हैं।

कुंकुम कप्पूरेहिं चन्दण-कालागरूहि अण्णेहिं।
ताणं विलेवणाइं, ते कुव्वंते सुगंध-गंधेहिं॥१०५॥

वे इन्द्र कुंकुम, कर्पूर, चन्दन, कालारु और अन्य सुगन्धित द्रव्यों से उन प्रतिमाओं का विलेपन करते हैं।

कुन्देन्दु-सुन्दरेहिं, कोमल-विमलेहिं सुरहि-गंधेहिं।
वर-कमल-तंडुलेहिं, पूजंति जिणिंद-पडिमाओ॥१०६॥

वे कुन्दपुष्प व चन्द्रमा के समान सुन्दर, कोमल, निर्मल और सुगन्धित उत्तम कमलधान्य के तन्दुलों से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

सयवंतराय चंपय-माला पुण्णाग-णाग-पहुदीहिं।
अच्चंति ताओ देवा, सुरहीहिं कुसुम-मालाहिं॥१०७॥

वे देव सेवंती, चम्पकमाला, पुन्नाग और नाग प्रभृति, सुगन्धित पुष्पमालाओं से उन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

बहुविह-रसवंतेहिं, वर-भक्खेहिं विचित्त-रूवेहिं।
अमय-सरच्छेहिं सुरा, जिणिंद-पडिमाओ महयंति॥१०८॥

वे सारे देवगण बहुत प्रकार के रसों से युक्त, विचित्र रूप वाले और अमृत के सदृश उत्तम भोज्य पदार्थों से (नैवेद्य से) जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

विप्फुरदि-किरण-मंडल-मंडिद-भवणेहिं रयण-दीवेहिं।
णिक्कज्जल-कलुसेहिं, पूजंति जिणिंद-पडिमाओ॥१०९॥

वे इन्द्र देदीप्यमान किरणसमूह से जिनभवनों को विभूषित करने वाले और कज्जल एवं कलुषता से रहित ऐसे रत्नदीपकों से इन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

वासिद-दियंतरेहिं, कालागरू-पमुह-विविध-धूवेहिं।
परिमलिद-मंदिरेहिं महयंतिजिणिंद-बिंबाणिं॥११०॥

वे देवगण मंदिर एवं दिग्मंडल को सुगन्धित करने वाले कालागरु, प्रभृति अनेक प्रकार के धूपों से जिनेन्द्र-बिम्बों की पूजा करते हैं।

दक्खा-दाडिम-कदली-णारंगय-माहुलिंग-चूदेहिं।
अण्णेहिं पक्केहिं, फलेहिं पूजंति जिणणाहं॥१११॥

वे देव दाख, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके हुए फलों से जिननाथ की पूजा करते हैं।

णिस्सेण कम्मक्खणेक्क हेदुं मण्णंतया तत्थ जिणिंद-पूजं।

सम्मत्त विरया कुव्वंति णिच्चं देवा महाणंत विसोहि पुव्वं॥२२८॥

इस प्रकार वहाँ पर अविरत सम्यग्दृष्टि देव जिनपूजा को समस्त कर्मों के क्षय करने में एक अद्वितीय कारण समझकर नित्य ही महान् अनन्त गुणी विशुद्धिपूर्वक करते हैं। उसके बाद देवगण पंचमेरु की पूजा के लिए जाते हैं—

निष्ठापितजिनपूजाश्चूर्ण-स्नपनेन दृष्टविकृतविशेषाः।
सुरपतयो नन्दीश्वर-जिनभवनानि प्रदक्षिणीकृत्य पुनः॥१८॥

पञ्चसु मंदरगिरिषु, श्रीभद्रशालनन्दन-सौमनसम्।
पाण्डुकवनमिति तेषु, प्रत्येकं जिनगृहाणि चत्वार्येव॥१९॥

तान्यथ परीत्य तानि च, नमसित्वा कृतसुपूजनास्तत्रापि।
स्वास्पदमीयुः सर्वे, स्वास्पदमूल्यं स्वचेष्टया संगृह्य॥२०॥

सुगन्धित चूर्ण से जिन्होंने महाभिषेकपूर्वक जिनपूजा पूर्ण कर ली है, इसीलिए उनको महानन्द आ रहा है। उस आनन्द से जिनकी आकृति कुछ विकृत हो रही है ऐसे इन्द्र फिर नन्दीश्वर द्वीप के उन चैत्यालयों की प्रदक्षिणा देते हैं। पश्चात् वे इन्द्र पाँचों मेरुपर्वत संबंधी भद्रशालवन, नन्दनवन सौमनसवन, पांडुकवन इस प्रकार चार वनों में प्रत्येक में चार-चार जिनमन्दिरों की पहले प्रदक्षिणा देकर और उनकी स्तुति करके बहुत उत्तम रीति से पूजा करते हैं। वहाँ जो अभिषेक पूजनादिक किया, उसके बदले अपने देवपद के योग्य महापुण्य संचय करके सभी इंद्रादि अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं।

इस प्रकार तीनों लोकों में रहने वाले भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष और कल्पवासी चारों प्रकार के देव सह परिवार नंदीश्वर द्वीप में जाते हैं और आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन महिने की शुक्ला अष्टमी से लेकर आठ दिन तक दिव्य गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, चूर्ण और दिव्य-वस्त्र-पूर्वक आभूषण सहित सदा ही सतत अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं। इस प्रकार नन्दीश्वर पर्व का महोत्सव करते हैं। मनुष्य-जीवन में भी इस पर्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हमें इस अष्टान्हिक पर्व को क्यों मनाना चाहिए? अनेक आचार्यों (आ. पद्मनन्दी व अन्य) ने गृहस्थों के छह आवश्यक कर्त्तव्य बताये हैं—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने॥६॥

देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय (भाव-द्रव्य-रूपश्रुताभ्यास), संयम (प्राणीसंयम, मनःसंयम, इन्द्रियसंयम), तप (यथायोग्य इच्छा निरोध रूप अन्तरंग-बहिरंग तप), और दान—ये हमारे दिन-प्रतिदिन के आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

देवपूजा दया दानं, तीर्थयात्रा जपस्तपः।
शास्त्रं परोपकारत्वं मर्त्य-जन्म फलाष्टकम्॥

देवपूजा, दया, दान, तीर्थयात्रा, जप, तप, शास्त्र-अध्ययन और परोपकार मनुष्यजन्म के ८ उत्तम फल कहे हैं। जयधवला में भी आचार्य वीरसेन स्वामी स्पष्ट लिखते हैं—

दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो।

अर्थात् दान, पूजा, शील, उपवास ये श्रावक के चार धर्म हैं। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य 'रयणसार' में लिखते हैं—

दाणं पूया मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जदि धम्मे तं विणा तहा सोवि॥११॥

श्रावकों के अनेक कर्त्तव्यों में षट्‌आवश्यक मुख्य है। उनमें भी दान एवं पूजा अत्यन्त मुख्य हैं। यदि श्रावक दान-पूजा नहीं करता है तो वह श्रावक ही नहीं है। उसी प्रकार मुनिधर्म में ध्यान व अध्ययन मुख्य है। यदि मुनि ध्यान व अध्ययन नहीं करता है तो वह मुनि नहीं है।

दाणु ण दिण्णउ मुणिवर हूँ णवि पूज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदय परम गुरु किमु होसइ शिवलाहु॥

हे भव्य! तुमने मुनियों को भक्तिपूर्वक दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा नहीं की, पंच परम गुरुओं की सेवा-वन्दना-भक्ति आदि नहीं की तो किस प्रकार तुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी! इसी को 'रयणसार' में आ. कुन्दकुन्ददेव बताते हैं—

दाण ण धम्म ण चाग ण, भोग ण, बहिरप्प जो पयंगो सो।
लोहकसायग्गिमुहे, पडिदो मरिदो ण संहेदो॥१२॥

जो श्रावक दान नहीं देता, धर्म का पालन नहीं करता, त्याग नहीं करता, न्यायपूर्वक भोग नहीं करता वह बहिरात्मा है इसमें सन्देह नहीं है। वह ऐसा पतंगा है, जो लोभकषायरूपी अग्नि के मुख में पड़ा हुआ मर जाता है।

पुण्णस्स कारणं फुड्ड पढमं ता हवइ देव पूयाय।
कायव्वा भत्तीए सावए वग्गेण परमाए॥४२५॥

पुण्य-प्राप्ति के लिए देवपूजा निश्चय से प्रथम कारण है, इसलिए श्रावक वर्ग को अतिशय भक्ति से प्रतिदिन देवपूजा करना चाहिए।

इसलिए इस महान् अष्टान्हिका पर्व के दिनों में, श्रावकों को यहाँ पर नन्दीश्वरद्वीप की कल्पना करके अष्टान्हिक पूजा भी करना चाहिए, क्योंकि देवपूजा से अशुभ कर्मों का संवर एवं निर्जरा होती है, अतिशय आत्मविशुद्धि होती है, जिससे सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है और

उससे सातिशय पुण्यबंध होता है, जो कि स्वर्ग और मोक्ष का कारण है। इसलिए योग्य श्रावकों को मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक द्रव्य-भावात्मक नित्य एवं नैमित्तिक पूजा भी करना चाहिए।

आचार्य देवसेन 'भावसंग्रह' में जिनभक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं–

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गई णिवारेण।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिः परंपरा सुहाणं॥७४९॥

अर्थात् जिनभक्ति मात्र ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है। मोक्षप्राप्ति होने तक इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है। इससे इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, अहमिंद्र पद और तीर्थंकर पद के सुख भी प्राप्त होते हैं। लेकिन यदि हम भगवान की भक्ति नहीं करना चाहते और स्वतत्त्व समयसार को जानना चाहते हैं तो ऐसे व्यक्तियों के प्रति आचार्य कहते हैं–

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो बासमब्भएण विणा।
आराधणमिच्छन्तो आराधण भत्तिम करंतो॥७५०॥ (भगवती आराधना)

जो भगवान की भक्ति-आराधना नहीं करना चाहता है तथा रत्नत्रय सिद्धिरूप फल की इच्छा रखता है वह पुरुष बीज के बिना धान्य-प्राप्ति की इच्छा रखता है, अथवा मेघ के बिना जलवृष्टि की इच्छा करता है।

दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।
शतधा भेदमायादि गिरिवज्रहतो यथा॥

जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप मिथ्यात्व, कर्म-कलाप का क्षय देखा जाता है जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है। जिनेन्द्रों के दर्शन से पापसंघात रूपी कुंजर के १०० टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

उपर्युक्त प्रकार के कर्म अकृत्रिम, कृत्रिम चैत्य अथवा साक्षात् भगवान के दर्शन से नष्ट हो जाते हैं तो सामान्यकर्म की बात क्या है। इसलिए भव्य जीवों को भक्तिपूर्वक भगवान के दर्शन-पूजा-अभिषेकादि करना चाहिए। यह कोई रूढ़ि अथवा मिथ्यात्व नहीं है। और यह पुण्य-बन्ध का मात्र कारण नहीं है, अपितु साक्षात् आत्मविशुद्धि एवं सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए भी कारण है।

प्रातिहार्याष्टकोपेतं, सम्पूर्णावयवं शुभम्।
भावरूपानुविद्धागं, कारयेद् बिम्बमर्हता॥६९॥

प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं, सिद्धं बिम्बमपीदृशः।
सूरीणां पाठकानां च साधूनां च यथागमम्॥७०॥

अष्टप्रातिहार्य से युक्त, सम्पूर्ण अवयवों से सुन्दर तथा जिनका सन्निवेश (आकार) भाव के अनुरूप है ऐसे अरहन्त बिम्ब का निर्माण करें। सिद्ध प्रतिमा शुद्ध एवं प्रातिहार्य से रहित होती है। आगमानुसार आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की प्रतिमा का निर्माण करें; क्योंकि—

> कुन्थुभरिदलभेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
> सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयर पुण्णं॥
>
> जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरण समग्गं।
> णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वीण्णउं सयलं॥

जो मनुष्य कंथुंभ्री (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापन करता है वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को ही प्राप्त करता है। तब जो कोई अति उन्नत और परिधि तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्रभवन बनवाता है उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है?

इस प्रकार कृत्रिम जिनबिम्ब चैत्यालय का निर्माण करके द्रव्य सहित भावपूजा, वन्दना, अभिषेकादि करना चाहिए क्योंकि लोभ कषाय के उदय के कारण, श्रावक सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग नहीं कर पाता है। क्योंकि वह परिग्रहधारी है और परिग्रह में आसक्ति बंध का कारण है।

"रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग सम्पण्णो" इस सिद्धान्तानुसार बाह्य वस्तु में आसक्ति बंध का कारण है और वैराग्यभाव, निर्मोहभाव विमुक्ति का कारण है। वैराग्यभाव को प्रकट करने के लिए लोभ कषाय परित्यागपूर्वक, द्रव्यपूजा सहित-भावपूजा करें। कषायवान् इच्छावान् कामी भोगी होने के कारण श्रावक का मन निरालम्बन ध्यान और पूजा में स्थिर नहीं हो पाता है। यदि स्थिर होता तो वह काम भोगों के लिए बाह्य परिग्रहों (द्रव्यों) का आलम्बन क्यों लेता? परिग्रह संचय क्यों करता? बाहय परिग्रहों की हानि-वृद्धि में सुख-दुख का अनुभव करता है इसलिए आचार्य द्रव्यसहित भावपूजा करने के लिए कहते हैं—

> द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं, भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः।
> आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन् भूतार्थ-यज्ञ-पुरुषस्य करोमि यज्ञम्॥११॥

अर्थात् द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि पूर्वक मैं यथायोग्य विभिन्न अवलम्बन को लेकर. परमपूज्य परमाराध्य, वीतराग, सर्वज्ञ भगवान् का भूतार्थयज्ञ (सम्यक्पूजा) करता हूँ। अमितगति श्रावकाचार में भी आया है—

> द्वेधापि कुर्वतः पूजां जिनानां जितजन्मनाम्।
> न विद्यते द्वये लोके दुर्लभं वस्तुपूजितम्॥१५॥

संसार को जीतने वाले जिनेन्द्रदेव की द्रव्य और भाव से पूजा करनेवाले पुरुष को इस लोक

और परलोक में कोई भी श्रेष्ठ वस्तु पाना दुर्लभ नहीं है। इस चंचल अशुभ मन के परिवर्तन के लिए प्रशस्त द्रव्यों का अवलम्बन चाहिए। जिस प्रकार छोटे बच्चे व बन्दर मनमोहक वस्तु को प्राप्त कर उसमें रम जाते हैं उसी प्रकार मन भी उत्तम देव, शास्त्र, गुरु एवं उसकी मूर्ति प्रशस्त पूजा द्रव्यों के माध्यम से रम जाता है। जब श्रावक दृढ़ होकर मुनि-धर्म अपना लेता है तब उसे भावपूजा करने को कहा है। जब तक श्रावक है तब तक द्रव्यपूर्वक भावपूजन करना अनिवार्य है ऐसी जिनाज्ञा है। आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहते हैं–

देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्व-दुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥११८॥

श्रावक आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और काम वेदना को भस्म करने वाले, इन्द्रादिक द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान् के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली भगवान् की पूजा करें। मूलाचार में भी इस अरहंतभक्ति पूजा के बारे में आ. कुन्दकुन्ददेव ने गाथा कही है–

अरहन्त णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदि।
सो सव्वदुःक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥

जो उत्कृष्ट मति वाला अरहंत भगवान को भावपूर्वक नमस्कार करता है वह समस्त दुःख से अचिरकाल में अर्थात् अतिशीघ्र मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

अष्टान्हिक पर्व में मुख्यतः अरहंत भगवान की ही भक्ति-पूजा वंदना, स्तुति आदि का महत्त्व है क्योंकि इंद्रादि देवों ने, जो नंदीश्वर द्वीप में यह पर्व मनाया था जिसके कारण हम भी इस महान् पर्व को मनाते हैं, वहाँ पर आठ दिन लगातार केवल अरहंत भगवान का ही अभिषेक पूजन वन्दनादि किया है और अन्त में भक्ति नृत्यगान करते हुए पंचमेरु के आश्रित अरहंत बिम्बों के पास आये और पूजन-अभिषेक किया है। ऐसे महान् फल को देने वाली अरहंत भगवान की पूजा-भक्ति से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

अरिहंतभत्तीएखविदघादिकम्मा केवलणाणेण।
दिट्ठसव्वदा अरहंतणाम अथवा णिट्ठ वि दट्ठकम्माणं॥

अरहन्त भक्ति तीन लोक को क्षुभित करने वाली सातिशय पुण्यस्वरूप और परम्परा मोक्ष के लिए निश्चित कारण है। जिन्होंने घातिया कर्म को नष्ट कर केवलज्ञान के द्वारा संपूर्ण पदार्थों को देख लिया है वह अरहंत अथवा ८ कर्मों को नष्ट करने वाला सिद्ध या घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले अरहन्त सकल परमात्मा है क्योंकि कर्म शत्रु के नाश के प्रति दोनों में कोई भेद नहीं है। उन अरहंतों में जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है वही अरहंत-भक्ति कहलाती है। अरहंत-भक्ति से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। अरहन्त के द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उस अनुष्ठान के स्पर्शों को अरहन्तभक्ति कहते हैं। यह दर्शनविशुद्धि

आदि के बिना संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है। अतएव अरहंत भक्ति तीर्थंकर प्रकृतिबन्ध का ११वाँ कारण है।

उपर्युक्त सिद्धान्त से स्पष्ट है कि जहाँ अरहंतभक्ति है, वहाँ दर्शनविशुद्धि, विनय सम्पन्नता आदि संपूर्ण भावना का सद्भाव है; क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ अरहन्त-भक्ति हो ही नहीं सकती है। उपर्युक्त समस्त सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि देव दर्शन, अरिहन्त भक्ति सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति व पाप कर्मों की निर्जरा, निधत्ति, निकाचित वज्रकर्म नष्ट होने के लिए, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती तीर्थंकर प्रकृति के लिए अनुपम कारण है तथा मोक्षपद की प्राप्ति के लिए भी कारण हैं। इसलिए आचार्यों ने बताया है "वन्दे तद्गुणलब्धये"—भक्त ही भक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण कर्म को नष्ट करके भगवान बन जाता है। कितना सटीक कहा है कि—

दासोऽहं रटता प्रभो! आया जब तुम पास।
'द" दर्शन ही हट गयो "सोऽहं" रह्यो प्रकास॥

"सोऽहं सोऽहं" ध्यावतो रह नहीं सको सकार।
"दीप" "अर्हं" मम हो गयो अविनाशी अविकार॥

ऐसी महान् पूजा, जो साक्षात् मोक्ष का कारण है, अष्टान्हिक पर्व में अरहंत, सिद्ध पूजा करना चाहिए। इसके व्रतों का भी विधान शास्त्रों में आया है।

अष्टान्हिक व्रत एवं नंदीश्वर व्रत

जब इन्द्रादि चतुर्णिकाय देव नंदीश्वर द्वीप में अष्टान्हिक पर्व मनाते हैं, उसी समय यह व्रत किया जाता है। वर्ष में तीन बार कार्तिक, फाल्गुन, व आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में अष्टमी से पूर्णिमा तक (आठ दिन) पूजनाभिषेक सहित व्रत करना चाहिए। अर्थात् शुक्ला सप्तमी को स्नानादि शुद्धि करके, अष्टद्रव्ययुक्त जिनेन्द्र-शास्त्र-गुरु पूजा अभिषेकपूर्वक नित्यपाठ समाप्त होने पर गुरु के पास अथवा गुरु न मिले तो जिनबिम्ब के सन्मुख व्रत का नियम करें। और उस दिन एकाशन करें। उसी दिन से ब्रह्मचर्य व्रत, भूमिशयन, सचित्त पदार्थों का त्याग व्रतसमाप्ति पर्यन्त धारण करें।

अष्टमी को प्रथम दिन उपवास करके, नन्दीश्वर द्वीप का मण्डल मन्दिर में बनवाकर पंचमेरु की स्थापना करें। प्रतिमा भी स्थापन करें, अभिषेक पूजा करें। देव-शास्त्र-गुरु पूजा, चौबीसी पूजा, पंचमेरु पूजा एवं नंदीश्वर-द्वीप बावन अर्घ्यसहित पूजा, व्रत कथा श्रवण करें या पढ़ें और "ॐ ह्रीं नंदीश्वरसंज्ञाय नमः" मंत्र का जाप्य करें व १०८ पुष्प चढ़ावें और रात्रि में जागरण करें। इस दिन के व्रत से दश लाख उपवास का फल प्राप्त होता है।

दूसरे दिन नित्याभिषेक पूजा और पंचमेरु पूजा, नंदीश्वर द्वीप बावन जिनालय पूजा करें।

ये पूजा प्रतिदिन पर्व में करनी चाहिए। 'ॐ ह्रीं अष्टमहाविभूतिसंज्ञाय नमः' इस मन्त्र का जाप्य करें। एकासन करें। इस दिन के व्रत से दस हजार उपवास का फल मिलता है।

तृतीय दिन नित्य क्रिया करें। 'ॐ ह्रीं त्रिलोकसारसंज्ञाय नमः' मंत्र का जाप्य करें। पानी के साथ चावल (कंजिका) का आहार लें। इस दिन का ६० लाख उपवास का फल प्राप्त होता है।

चतुर्थ दिवस नित्य क्रिया करें। 'ॐ ह्रीं चतुर्मुखसंज्ञाय नमः:' मंत्र का जाप्य करें व पुष्प चढ़ावें। अल्प भोजन (अवमोदर्य) करें। सिद्धचक्र की त्रिकाल पूजा करें। इस दिन के व्रत करने से ५६ लाख उपवास का फल होता है।

पंचम दिवस 'ॐ ह्रीं पंचमहालक्षणसंज्ञाय नमः' मंत्र का १०८ बार पुष्प सहित जाप्य करें व एकासन करें। इस दिन ८४ लाख उपवास का फल प्राप्त होता है।

षष्ठ दिवस नित्य विधि करें। 'ॐ ह्रीं स्वर्गसोपानसंज्ञाय नमः' मन्त्र का पुष्पसहित १०८ बार जाप्य करें। खट्टे पानी में भात (चावल) का आहार लें। सिद्धचक्र पूजा करें। इस दिन ४५ लाख उपवास का फल प्राप्त होता है। सप्तम दिन नित्य क्रिया करें। 'ॐ ह्रीं सर्व संपत्ति संज्ञाय नमः' जाप्य करें। सूखा साग एवं शुद्ध चावल का आहार या फिर भात पानी लें। इस दिन एक लक्ष उपवास का फल प्राप्त होता है।

अष्टम दिवस नित्य क्रिया करें। 'ॐ ह्रीं इन्द्रध्वजसंज्ञाय नमः' जाप्य विधिपूर्वक करें। पूर्ण उपवास करें। तीन करोड़ पाँच लाख उपवास का फल प्राप्त होता है।

अंतिम नवमें दिन नित्य पूजा करें व मंडलपूजन समाप्ति विसर्जन करें। क्षमायाचना करें। चारों प्रकार का दानादि देवें। चार प्रकार के संघ को तृप्त करें, भोजन करावें पश्चात् पारणा करें। इस प्रकार ७ या ८ वर्ष उत्तम, ५ वर्ष मध्यम, ३ वर्ष जघन्य रूप से किया जाता है।

जो इस व्रत को तीन वर्ष तक करता है उसे स्वर्ग सुख प्राप्त होता है। कुछ भवों में मोक्ष को प्राप्त करता है। पाँच वर्ष इस व्रत को करने वाला भव्य जीव उत्तमोत्तम सुख को प्राप्त करता है व सातवें भव में मोक्ष को प्राप्त करता है।जो सात या आठ वर्ष तक इस व्रत को करता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की योग्यतापूर्वक उसी भव से मोक्षगामी हो जाता है।

व्रत पूर्ण होने पर समाप्ति के समय उद्यापन करना चाहिए क्योंकि जिनमंदिर बनाने के बाद कलश चढ़ाने के समान व्रत का उद्यापन माना गया है।

इस महाव्रत को अनन्तवीर्य और अपराजित ने किया था, जिससे वे दोनों चक्रवर्ती हुए और विजयकुमार इस व्रत के प्रभाव से चक्रवर्ती का सेनापति हुआ। जयकुमार, सुलोचना ने पूर्व जन्म में यह व्रत किया था। गृहस्थाश्रम में अवधिज्ञानी होकर भगवान ऋषभदेव के ७२

वे गणधर हुए और उसी भव से मोक्ष गए। सुलोचना स्त्रीलिंग छेद कर महर्द्धिक देव हुई। श्रीपाल मोक्ष गए। जिसने इस व्रत का निःकांक्ष होकर, योगों की चपलता से रहित हो पालन किया, उसे उच्च पद की प्राप्ति हुई।

वर्तमान में, यह धारणा है कि सिद्धचक्र विधान इस अष्टान्हिक पर्व में ही किया जाता है। लेकिन हमारी यह धारणा गलत है क्योंकि सिद्धचक्र विधान में सिद्ध भगवान के गुणों की पूजा है। सिद्ध भगवान की स्तुति-वन्दना एवं आराधना उस पर्व में की गई है इसलिए वह पूजन-विधान अष्टान्हिक पर्व में ही करना चाहिए ऐसा एकान्त नियम नहीं है। यह विधान हम शुभमुहूर्त, शुभ तिथि, मास, नक्षत्र आदि सुविधानुसार अष्टान्हिक पर्व के अलावा अन्य समय में भी कर सकते हैं।

अष्टान्हिक व्रत विधि में पूजन नंदीश्वर द्वीप चैत्यालयों की एवं पंचमेरु की यहाँ पर स्थापना विधि (निक्षेप) से भाव-पूर्वक द्रव्यपूर्वक करने को कहा है और साथ-साथ सिद्धचक्र पूजा भी करने का विधान है। क्योंकि पंचमेरु संबंधी एवं नन्दीश्वर द्वीप संबंधी समस्त अकृत्रिम जिनालयों में जो अकृत्रिम जिनबिम्ब हैं वह सिद्ध भगवान के हैं लेकिन अरहंत अवस्था में हैं, उनकी पूजा इन्द्रादिक देवगण करते हैं तो वे किसी नाम विशेष तीर्थंकर की नहीं, बल्कि जितने भी सिद्ध हुए उन सिद्धों के गुणों की स्तुति वन्दना करते हैं। उसी प्रकार हमको यदि आज तक जितने सिद्ध हुए उनकी पूजा करना है तो सिद्धचक्र विधान में है। वैसे अन्य विधान में भी है लेकिन सिद्धचक्र विधान में केवल सिद्ध भगवान् के ही गुणों की पूजा रहने से प्रधानता दी गई है।

शास्त्रों में जो कथानक मिलते हैं उससे सिद्ध होता है कि हमारे आचार्यों ने अष्टान्हिक पर्व में सिद्धचक्र विधान पूजन करने का उपदेश दिया है। जैसे मैनासुन्दरी ने भी सिद्धचक्र पूजा इस पर्व में की थी लेकिन ऐसा कहीं पर भी नहीं है कि यह सिद्धचक्र पूजा अन्य समय में नहीं करना चाहिए अर्थात् अन्य समय में भी अवश्य कर सकते हैं। उसमें कोई दोष नहीं है। लेकिन इस पर्व में ही इस विधान की विशेषता, महत्ता प्रकट होने से इस पर्व में ही करने की परिपाटी चल पड़ी है और अच्छा भी है। हमने इस विधान को अष्टान्हिक पर्व तक ही सीमित रखा है और अष्टान्हिक पर्व को भी सिद्धचक्र विधान तक ही सीमित रखा है और हमारी धारणा भी वहीं तक सीमित है, सो योग्य नहीं है। क्योंकि सिद्धचक्रपूजन अष्टान्हिक पर्व के अलावा अन्य समय भी कर सकते हैं और अष्टान्हिक पर्व में सिद्धचक्र विधान के अलावा अन्य और भी बड़े-बड़े महायज्ञ प्रतिष्ठा महोत्सव या अन्य विधान हैं जैसे—इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम, तेरहद्वीप, समवसरण आदि आदि। इसमें आगम से किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है।

इस प्रकार अष्टान्हिक पर्व एक महान् पर्व है और यह पर्व केवल किसी एक प्रान्त, किसी एक देश, किसी एक क्षेत्र, किसी एक प्रकार के देव के लिए नहीं है। यह पर्व चारों प्रकार

के देव-देवियों, मनुष्य-स्त्री सभी जिनभक्त के द्वारा सभी जगह मनाया जाता है। इसलिए यह सभी पर्वों में सर्वोत्कृष्ट पर्व माना गया है। इस पर्व को मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका, चतुर्विधसंघ के लोग मनाते हैं। पद्मपुराण में वर्णन आता है कि रावण की लंका में रावण अपने शांतिनाथ मंदिर में अष्टान्हिक पर्व की पूजा कर रहा था इसलिए रावण ने आठ दिन तक इस पर्व के लिए युद्ध बन्द रखा। इतना ही नहीं, रावण ने आठ दिन तक शत्रुओं के प्रति ध्यान तक नहीं दिया, केवल अपनी भक्ति में तन, मन से लीन रहा। पद्मपुराण में रावण की इस अष्टान्हिकपर्व मनाने की घटना का बहुत सुन्दर रीति से वर्णन रविषेणाचार्य ने किया है।

प्रथमानुयोग के बहुत से ग्रन्थों में इस पर्व का महत्त्व एवं फल का वर्णन आया है। इस प्रकार यह पर्व सर्वोत्कृष्ट, महान् आध्यात्मिक एवं अपूर्व पुण्य प्रदान करने वाला है।

बोली बोल अमोल है, बोल सके तो बोल।
हिये तराजु तोल के पीछे बाहर खोल।।

ऐसी बानी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आप हु शीतल होय।।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्म सनातनः।।

सिद्धचक्र विधान : प्रयोजन एवं फल

❑ पं. कपूरचन्द बरैया

जैन-धर्म में कर्मों का विशद वर्णन है। सामान्य से कर्मों का तीन तरह से विभाजन किया गया है।

(१) द्रव्य कर्म, (२) भाव कर्म और (३) नोकर्म। द्रव्यकर्म पौद्‌गलिक है, भावकर्म चेतनाश्रित राग द्वेष मोहादि है तथा नोकर्म शलीलादि है। द्रव्यकर्म भी आठ प्रकार हैं—चार घातिया और चार अघातियाँ हैं। जो जीव के अनुजीवी गुणों को घाते वे घातियाँ कर्म हैं, प्रतिजीवी गुणों को घात करने वाले अघातियाँ हैं। जो गृहस्थापना त्यागकर मुनिधर्म अंगीकार करके निजस्वभाव साधन द्वारा चार घातियाँ कर्मों का क्षय कर देते हैं वे अर्हंत कहलाते हैं और कुछ काल पीछे जब चार अघातियाँ कर्मों का भी विध्वंस हो जाता है तब इस शरीर को भी छोड़कर अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाते हैं, यह सिद्ध अवस्था है। दोनों ही परमात्मा हैं। अन्तर केवल शरीर का है। शरीर सहित होने के कारण अर्हंत को सकल परमात्मा संज्ञा है और यही जीवन मुक्त अवस्था है, शरीर रहित होने पर, वे सदा निराकुल आनन्दमय शुद्ध स्वभाव को प्राप्त निकल परमात्मा हैं जिनके ध्यान द्वारा अन्य भव्य जीवों को भी उनके समान बनने की प्रेरणा मिलती है—ऐसे अर्हंत सिद्ध ही हमारे उपास्य देव हैं।

चक्र कहते है समूह को। जैन-धर्म के अनुसार सिद्ध एक नही अनन्त हैं। जो उक्त विधि से अपने समस्त कर्मों का नाश कर देते हैं वही सिद्ध है और ऐसे सर्व सिद्धों के समूह का नाम सिद्ध चक्र है। उसका यह मण्डल विधान है।

इसमें जितने भी सिद्ध हुए हैं उन सबका गुणानुवाद है। वैसे तो इस मण्डल-विधान को चाहे जब रचाया जा सकता है, कोई काल का बंधन नहीं है किन्तु अष्टान्हिक महापर्व में ही अधिकतर इसकी विशेष प्रसिद्धि देखी जाती है। यह महा-पर्व आठ दिन का होता है जिसे लोग संक्षेप में अठाई भी कहते हैं। यह वर्ष में तीन बार आता है ।

कार्तिक फागुन साढ़ के, अंत आठ दिन माहिं।
नंदीश्वर सुर जात है, हम पूजें इह ठाहिं॥

कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अंतिम आठ दिनों में नंदीश्वर द्वीप की पूजा की जाती है। लोक की रचना से विदित होता है कि इस मध्यलोक के आठवें द्वीप का नाम नंदीश्वर

है, जिसकी चारों दिशाओं में ५२ अकृत्रिम जिनालय हैं जो अत्यंत भव्य, मनमोहक और बहुत विस्तार वाले हैं। एक-एक दिशा में १३-१३ जिनालय हैं। १३ जिनालयों की संख्या इस प्रकार है—एक अंजनगिरी, चार दधिमुख और आठ रतिकर पर्वत हैं जिन पर जिनालय बने हैं—ऐसे चारों दिशाओं में कुल संख्या ५२ (१३ × ४) हो जाती है। इन जिनालयों में जो जिन-बिम्ब प्रतिष्ठित हैं वे रत्नमयी हैं, पद्मासन में ५००-५०० धनुषाकार हैं (एक धनुष चार हाथ प्रमाण) कान्ति चंद्र-सूर्य के तेज को भी लजानेवाली हैं और जो भव्य जीवों के वैराग्योत्पत्ति में निमित्तभूत हैं। उनके रूचिपूर्वक दर्शन करने से सम्यग्दर्शन तक प्राप्त हो जाए ऐसी विचित्र महिमा को धारण किये हुए हैं। चूंकि २¹/₂ द्वीप तक ही मनुष्य जा सकते हैं, आगे नहीं—इस कारण यह सौभाग्य उन्हें नहीं मिल पाता। वहाँ तक पहुँचने की शक्ति तो इन्द्र और देवों में ही है, अतः उनके दर्शन कर वे ही अपना जन्म सफल करते हैं। मनुष्य तो केवल परोक्षरूप में भावना भाकर पुण्य कर्मों का सम्पादन करते हैं।

अष्टान्हिक पर्व आठ दिन का होता है और यह सिद्ध चक्र विधान भी आठ दिन का है, इसलिये प्रत्येक दिन एक पूजा करके इस विधान की समाप्ति की जाती है। पहले दिन आठ अर्घ्य से प्रारम्भ करते हैं, आगे के दिनों में दूने-दूने करते हुए अंतिम आठवें दिन १०२४ अर्घ्य चढ़ाते हैं। इस विधान की महिमा है कि इसमें सभी मुख्य विधान गर्भित हैं; जैसे कर्मदहन विधान, चौसठ ऋद्धि विधान, पंच-परमेष्ठी विधान, सहस्रनाम आदि। एक यह विधान ही ऐसा है जिसको भाव से कर लेने पर प्रायः उन सभी का फल मिल जाता है जिनका इसमें वर्णन है। इसी कारण मन्दिरों में लोग बड़ी श्रद्धा से इसमें रूचि लेते हैं और अपने को कृतकृत्य अनुभव करते हैं।

यों तो इस विधान को विशुद्ध भावों से करने का ही प्रावधान है, किन्तु बहुत से प्राणी लौकिक कामनाओं के वशीभूत होकर इसका पाठ करते हुए देखे जाते हैं। उनकी यह धारणा रहती है कि इससे हमें सर्व प्रकार की लौकिक सिद्धि मिल जाती है, जैसे 'श्रीपाल चरित्र' में मैनासुन्दरी ने इन्हीं दिनों यह विधान रचकर उसके गंधोदक से अपने पति श्रीपाल का कुष्ट रोग दूर किया था। यह उदाहरण देते हुए वे भूल जाते हैं कि मैनासुन्दरी तो सती थी, जैनधर्म में अटूट विश्वास रखनेवाली विदुषी महिला थी। उसने इस अभिप्राय से मण्डल-विधान की पूजा थोड़े ही की थी, बल्कि अत्यन्त विशुद्ध भावों से पति के साथ सिद्धों का गुणानुवाद गाया था। यह तो श्रीपाल के पुण्योदय का फल था कि इधर तो उस सती के द्वारा गंधोदक का देना और उधर उसके पति श्रीपाल का कुष्ट रोग का मिटना एक साथ बन गया। इससे लोगों में यह बात घर कर गई कि मैना ने गंधोदक के प्रभाव से पति का कुष्ट निवारण किया।

वास्तव में कामनाओं की पूर्ति तो व्यक्ति के सातावेदनीय कर्म के उदय से होती है, इसमें सिद्धों का स्तवन पूजन निमित्त मात्र है। यदि उसकी पहले से ही लौकिक अनुकूलताओं के लक्ष्य से भक्तिभाव में प्रवृत्ति है तो धर्मभाग कहाँ रहा? यह तो एक प्रकार से कषायों का पोषण

मात्र हुआ। यदि तीव्र कषाय हो गई तो उससे पापबन्ध ही होगा। पंडित टोडरमलजी "मोक्षमार्ग प्रकाशक" में लिखते हैं कि "अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है। अरहन्तादिक की भक्ति करने से ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव सिद्ध होते हैं।"

साधक का भाव बड़ा पवित्र होता है। उसका लक्ष्य तो वीतरागता की प्राप्ति है। चूँकि सिद्ध भगवान वीतराग विज्ञानमय है, इसलिये वह किसी लौकिक लाभ की अपेक्षा नहीं रखता। पुण्य और पुण्यफल में भी उसकी रूचि नहीं है। इसलिए इस विधान के माध्यम से तो एक मात्र वीतराग भाव की वृद्धि करने का ही प्रयत्न होना चाहिए।

दूसरे, यह शरीर का रोग तो क्या, परमात्मा की भक्ति में तो वह बल है जो आत्मा में लगे मोह, राग, द्वेष रूप रोगों को भी समाप्त कर दे। लोग शरीर के रोगों को मिटाना चाहते हैं, आत्मा के रोग मिटाने की उन्हें चिन्ता नहीं है। शरीर तो पौद्‌गलिक है, जड़ परमाणुओं का पुञ्ज हैं, इसका उपचार तो औषधादि द्वारा किया जा सकता है। बड़ी बात तो आत्मा में लगा यह कर्ममल का रोग, जिसके कारण यह जीव बार-बार जन्म-मरण के दुःख उठाता है, उसका एक बार नाश हो जाय तो यह शरीर ही कभी न धारण करना पड़े, इसमें लगे रोगों को नष्ट करने की बात तो बहुत दूर की है। 'मूलो नास्ति कुतो शाखा' जिसका बीज जल जाए उस वृक्ष के ज्यादा टिकने की चिन्ता नहीं करना चाहिए। सिद्धचक्र मण्डल की महानता इसी में है कि वह हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करता है।

पुराणों में सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा आती है। गृहस्थावस्था में उनकी काया इतनी भव्य और आकर्षक थी कि उसकी चर्चा स्वयं इन्द्र ने की थी, लेकिन मुनि अवस्था धारण करते ही वे भयंकर कुष्ट रोग से ग्रसित हो गए। वे महाज्ञानी धीर-वीर संयमी महापुरूष थे, उन्हें यह ध्यान ही नहीं कि उनके शरीर में यह वेदना व्याप्त है। वे तो आत्मा के ध्यान में मस्त थे। एक दिन देवलोक में इन्द्र ने सनत्कुमार मुनि की प्रशंसा की, उनके समान धीरवीर संयमी मुनि इस भूलोक में दूसरा नहीं। इस पर एक देव ने उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। उसने एक वैद्य का रूप धारण किया और मुनि के पास आकर यह आवाज देता हुआ चक्कर काटने लगा कि मैं सभी रोगों की दवा जानता हूँ, जिसको इलाज कराना हो वह करा ले।

जब मुनि ध्यान से निवृत्त हुए तो अपने सामने एक वैद्य को खड़ा पाया। वैद्य ने तत्काल नमन करते हुए कहा, मुनिश्रेष्ठ! 'इस रोग को दूर करने में क्या रखा है? मैं इस रोग को दूर कर सकता हूँ।' मुनि बोले—'यह शरीर तो व्याधि का मन्दिर है, मुझे इसकी चिन्ता नहीं। यदि आपके पास कोई ऐसी जड़ी-बूटी हो जो आत्मा के रोग को दूर कर दे तो मैं इलाज कराने को तैयार हूँ। मेरा रोग जन्म-मरण का है। क्या इसकी दवा तुम्हारे पास है?'

वैद्य तो हक्का-बक्का रह गया। अपना वास्तविक रूप प्रकट करते हुए क्षमा याचना करने लगा-देव! वह औषधि तो केवल आपके पास ही है। हम तो देवलोकवासी हैं, इन्द्र ने जैसी

आपकी प्रशंसा की उससे कहीं अधिक आपको पाया। धृष्टता हुई, जो मैंने आपकी इस प्रकार परीक्षा लेने का भाव किया। नमस्कार करता हुआ अपने स्थान चला गया।

मोह राग द्वेषादि विकारी भाव ही असली रोग है, जिन्हें मिटाने के लिए प्रभु के मन्दिर में आया जाता है, अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। वास्तव में आत्मावलोकन द्वारा हमें अपने भावों की स्थिति का अध्ययन करना चाहिए। इसीलिए कुंदकुंद स्वामी सर्व सिद्धों को भावपूर्वक नमन करके प्रथम उन्हें अपने हृदय में स्थान देते हैं और सर्व प्राणियों को यही सलाह देते हैं कि तुम भी उन्हें हृदय-मंदिर में विराजमान करो। सिद्धों की स्तुति-वन्दना सिद्ध होने में कारण है। व्यवहार से वे सिद्ध हैं जो सिद्धालय में विराजमान है, निश्चय से स्वयं आत्मा ही परमात्मा है क्योंकि सिद्ध होने की शक्ति उसी में है, उसी के आश्रय से सिद्धत्व व्यक्त होता है। सिद्ध-परमेष्ठी का स्तवन-वन्दन शुभभाव है पर शुद्धोपयोग की दशा तो एक मात्र अपनी शुद्धात्मा के अतिरिक्त और कहीं उपलब्ध नहीं, यह ध्रुव सत्य है।

वे कार्य परमात्मा है तो यह आत्मा कारण परमात्मा है। सिद्ध हमारे लिए आदर्श तो हो सकते हैं पर उपादेय नहीं। उपादेय तो केवल अपनी आत्मा है। पं. टोडरमल जी ने लिखा है 'जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वद्रव्य परद्रव्य का और औपाधिक भाव-स्वभाव भावों का विज्ञान होता है, जिसके द्वारा उन सिद्धों के समान हुआ जाता है। इसलिए साधने योग्य जो अपना शुद्ध स्वरूप है उसे दर्शाने को प्रतिबिम्ब माना है।'

बिम्ब का ही प्रतिबिम्ब होता है। सिद्धों ने वह सिद्ध दशा प्रकट की तो निजात्मा का आश्रय लेकर, इसलिए उनकी छवि यही दर्शाने में निमित्त है कि हमें भी एक मात्र निजाराधना द्वारा अपने में वह परम पवित्र दशा प्रकट कर लेना चाहिए।

यह शरीर पवित्रात्मा का मन्दिर है। वैसे शरीर कभी पवित्र नहीं होता, चाहे उसे कितना ही गंगास्नान कराओ। जिसकी उत्पत्ति ही अपवित्र वस्तुओं से हुई हो, वह पवित्र कैसे हो सकता है? चूँकि वस्तुरूप में यह आत्मा पवित्र है, निरंजन निर्विकार है, और उसका वास इस शरीर में है इसलिए इस काया को भी मन्दिर कहा जाता है। जिस हृदय में सिद्धों का हमने अवतरण किया वह हृदय कितना पवित्र होना चाहिए? वास्तव में परमात्मा का निवास पवित्र हृदय में ही होता है। यदि हम अन्याय करते हैं, अभक्ष्य भक्षण करते हैं, पर पदार्थों में मूर्च्छा भाव रखते हैं तो उसमें पवित्रात्मा का वास कैसे हो सकता है? जैसे एक म्यान में दो तलवारें नहीं आ सकती, वैसे ही काम और राम का एक स्थान पर वास नहीं हो सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि समस्त पापाचार को छोड़कर हमें हृदय को इतना पवित्र बना लेना चाहिए जिसमें परमात्मा ठहर सके तभी हमारा सिद्धस्मरण स्तुत्य कहा जाने योग्य है। अपने कर्तव्य निभाते हुये हमें यह देखना चाहिए कि समता का दर्शन हमारे जीवन में हो रहा है या नहीं। समता धर्म का निकष है, अतः मोह-क्षोभ से विहीन इस परम समरसी आत्मा में डुबकी लगाकर

उस आनन्दामृत को प्राप्त कर अपने को धन्य बना लेना चाहिए जो इस विधान का चरम लक्ष्य है।

।वात्सल्यरत्नाकर।

जैन संस्कृति और साहित्य

❑ डॉ. सुपार्श्वकुमार जैन

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की ऐतिहासिकता

विश्व परिवर्तनशील है। सृष्टि में उत्पादन-अनुत्पादन, उत्थान-पतन, समता-विषमता आदि प्राकृतिक तथा बाह्य कारणों के माध्यम से सदाकाल लक्षित होते हैं। जिस प्रकार अणु परमाणुओं के विभिन्न अवयवों के स्वाभाविक रूप से मिलने और बिछुड़ने से विभिन्न आकार देखे जाते हैं, उसी प्रकार से इस दृश्यमान जगत् का चक्र चलता ही रहता है।

जीव-जगत् की आत्माओं और परमात्माओं की विभिन्न स्थितियों को समझने के लिए समय-समय पर संसार के प्रत्येक कोने में चिन्तन, मनन, शोध और खोज होती रही है और संसार के वैज्ञानिक आज भी इसी अन्वेषण में संलग्न हैं। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान का न केवल जन्म हुआ, अपितु इसका संशोधन व संवर्धन भी हुआ। सभ्यता के आदिम युग में, मनुष्य के व्यवहार के लिए उपयोगी वस्तुओं की उपयोगिता का विचार किया गया था। जैन आगम तथा पुराणों के अनुसार मुख्य रूप से दो प्रकार की सृष्टि मानी गई है— भोगसृष्टि और कर्मसृष्टि। तीनों लोकों के प्राणियों को अपने भावों, परिणामों और कर्मों का सृजन स्वयं ही करना पड़ता है। इसी का नाम सृष्टि है। यदि ऐसा सृजन न हो तो, सृष्टि की क्या आवश्यकता है? मनुष्य या जगत् के प्राणी जैसा भाव या कर्म करता है, उसी के अनुसार वह स्वयं फल प्राप्त करता है। सृष्टि की यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसमें किसी का भी कोई हस्तक्षेप नहीं है। जैनागम तो क्या, अजैनागम भी इस तथ्य को स्वीकार करता है। तेजोबिन्दूपनिषद् में स्पष्ट कहा है—"ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है।" उपर्युक्त कथन के बावजूद भी उसे प्राकृतिक परिवर्तन न मानना आश्चर्य का विषय है। प्राणी अपने भावों का वेदन अपने ही मन-बुद्धि-बल के अनुसार करता है। इस भौतिक जगत् में प्राकृतिक साधनों के उपयोग और विकास में विभिन्न प्राणी किस सीमा तक और किस रूप में सहायक हैं, मुख्यरूप से इसका ही अध्ययन प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है।

मनुष्य के जीवन में भोग अनिवार्य है। यद्यपि मनुष्य विवेकशील प्राणी है, वह समझ सकता है कि भोग-उपभोग अपने चरम सत्य की प्राप्ति में बाधक हैं, किन्तु संसारी जीव के सुख की भांति दुःख, ज्ञान की भांति अज्ञान और समता की भांति विषमता उसके जीवन के अनिवार्य अंग बन गये हैं। अर्थ अर्थात् धन उन सभी साधनों की प्राप्ति का माध्यम है जिनसे वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। यद्यपि अर्थ का तात्पर्य आत्मा भी होता

है किन्तु सामान्य लोक केवल धन के रूप में ही जानता है। जैन-जगत् में भी शरीर और आत्मा की पृथकता का सन्देश-निर्देश-आदेश होते हुए भी वह उस ओर से न केवल विमुख है बल्कि एकत्व की भावना के साथ अर्थोपार्जन-परिवर्धन-संरक्षण में सतत संलग्न है। अर्थ साध्य बन गया है, उसके साधन की कल्पना ही पाश्चात्य-जगत् की भांति दुरूह है। यही कारण है कि वह भोग-उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त कर, सुख और सन्तोष का अनुभव करता है।

जिस युग में मुद्रा का प्रचलन नहीं था, उस युग में विनिमय के जितने साधन थे या हो सकते थे, वे सभी अदल-बदल की पद्धति में समाहित थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुद्रा के प्रचलन के साथ ही लेन-देन करने में बहुत सरलता हो गई और तब से दिनों-दिन आर्थिक विकास के साधन बढ़ते ही गये, किन्तु भोगसृष्टि के समय मनुष्य जितना सुखी था उसकी आज हम कल्पना नहीं कर सकते। सभ्यता के आदिम युग में भोगों की प्रधानता थी किन्तु उनका उत्पादन-विनिमय-वितरण आदि नहीं था। किन्तु कर्मयुग का प्रारम्भ होते ही विभिन्न सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक-धार्मिक आदि व्यवस्थायें पनपती गईं। समय के साथ-साथ उस युग में समस्यायें भी उद्भूत हुईं और उनके समाधान तत्कालीन महापुरुषों ने प्रदान किये। जैनागमों में उन्हें तीर्थंकर, मनु और कुलकरों के नाम से जाना जाता है।

जैनधर्म में तीर्थंकरों की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। अनादि-निधन दृश्यमान इस जगत् का स्वाभाविक रूपेण गतिशील कालचक्र पतन से अभ्युदय की ओर उत्सर्पिणी युग और अभ्युदय से पतन की ओर अवसर्पिणी युग घूमता रहता है। कर्मयुग के प्रत्येक भाग में २४-२४ तीर्थंकर होते हैं। इस प्रकार अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और आगे भी होंगे।

जिस मार्ग द्वारा संसार-सागर पार किया जाता है, वह तीर्थ है। अत: जो मार्ग रूप तीर्थ का निर्दोष प्रवर्तन करे वह तीर्थंकर कहलाता है।"[२] ये ईर्ष्या-पक्षपात से रहित, सर्वज्ञ, हितोपदेशी और मोक्षमार्ग के नेता होते हैं। जगत् में फैली भ्रान्तियों, रुढ़ियों और विकृतियों को दूर कर शाश्वत सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रतिपादित करते हैं। वर्तमान युग पतनशील-युग अर्थात् अवसर्पिणी युग है और वह भी हुण्डावसर्पिणी जिसमें अनेक असामान्य बातें भी घटित होती हैं; जैसे तीर्थंकर के पुत्री-जन्म, चक्रवर्ती का मानभंग आदि। इस हुण्डावसर्पिणी की वर्तमान कालीन चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा में आदि अर्थात् प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर हुए। तीर्थंकर ऋषभदेव ने काल परिवर्तन से उत्पन्न अनेकों समस्याओं का समाधान किया, षट्कर्म की शिक्षा देकर आर्थिक क्रियाओं को बढ़ावा दिया और अन्त में आत्मविद्या का नेतृत्व भी किया। इस प्रकार जैन धर्म की स्थापना अनादिकालीन होते हुए भी इस कर्मयुग में महावीर से न होकर ऋषभदेव से हुई-ऐसा जानना चाहिए। डॉ. एस. राधाकृष्णन ने लिखा है—"जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है जो अनेक शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख

है। भागवत-पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे[३]।" डॉ. यदुनाथ सिन्हा का कथन है—"जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे[४]।" श्री देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के अनुसार भी, महावीर जैनधर्म के प्रवर्तक न थे, बल्कि एक के बाद दूसरे आने वाले चौबीस उपदेष्टाओं में जिन्हें तीर्थंकर नाम दिया गया, अन्तिम थे[५]।" इस प्रकार नई खोजों ने प्रमाणित कर दिया कि जैनधर्म एक स्वतंत्र एवं अत्यन्त प्राचीन धर्म है।

वैदिक वाङ्मय में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद की एक ऋचा "ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्"[६] में ऋषभदेव का उल्लेख है और उसमें केशी एवं वातरशना मुनियों की स्तुति से सम्बन्धित ऋचायें भी हैं[७]। भागवतपुराण[८] में ऋषभदेव की वृत्ति से भी सिद्ध होता है कि वे केशी अर्थात् अवधूत के रूप में विचरण करते थे। पद्मपुराण[९] एवं हरिवंशपुराण[१०] में भी ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख है, अतः उनका केशी नाम सार्थक है। डॉ. हीरालाल जैन ने लिखा है—"इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों का निर्ग्रन्थ साधु तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीन परम्परा पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है[११]।" यजुर्वेद[१२] की "स्तोकानामिन्दुं प्रतिशुर इन्द्रो वृषायमाष्टो वृषभस्तुरावाट्" तथा "महत्वन्तं वृषभं...," "एवं मरुत्वा इन्द्र वृषभो रणाय..." ऋचाओं में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। उनका चिन्ह वृषभ होने से कहीं-कहीं पर उन्हें वृषभदेव शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। अथर्ववेद[१३] में आया है कि सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा आदित्य स्वरूप ऋषभदेव हैं। श्रीमद्भागवत में विष्णु के चौबीस अवतारों में एक ऋषभावतार भी बतलाया गया है। मार्कण्डेयपुराण[१४] में लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र से ऋषभ और उनसे भरत का जन्म हुआ जो अपने सौ भाइयों में अग्रज थे। कूर्मपुराण में महात्मा नाभि एवं मरुदेवी के पुत्र को क्रान्तिकारी बतलाया गया है। वायुपुराण[१६] एवं वाराहपुराण[१७] में ऋषभदेव का वर्णन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। विष्णुपुराण[१८] में नाभिपुत्र ऋषभ के प्रताप का वर्णन है। लिंगपुराण[१९] में नाभिपुत्र ऋषभ को नग्न, जटारहित, निराकार तथा मलिन बताया गया है। शिवपुराण[२०] में भी नाभिपुत्र ऋषभ तथा इनके पुत्र भरत के नाम पर इस देश का "भारत" नामकरण करने का उल्लेख है। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय से भी ऋषभदेव की ऐतिहासिकता सिद्ध है जिन्होंने अपने राज्यकाल में अनेक आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था।

सिन्धुघाटी में प्राप्त मोहरों पर अंकित देवमूर्तियों के साथ बैल तथा कायोत्सर्ग मुद्रा जैनधर्म के साथ ऋषभदेव की ऐतिहासिकता को प्रगट करती हैं। क्योंकि कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा विशिष्टतया जैनों की देन है। प्रो. एस. श्रीकण्ठशास्त्री का कहना है—"दिगम्बर धर्म, योगमार्ग, वृषभ आदि लांछनों की पूजा आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु-सभ्यता जैनधर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है[२१]।" डॉ. एन. एन. वसु का मत है कि लेखनकला का प्रथम आविष्कार कदाचित् ऋषभदेव

ने किया था। प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्या के प्रचार के लिए उन्होंने ब्राह्मीलिपि का आविष्कार किया था[२२]।"

इस प्रकार पुरातत्त्व की दृष्टि से भी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की प्राचीनता व ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। उन्हें हुए करोड़ों वर्ष हो गये हैं। उस युग के प्रमाण तो अब अनुपलब्ध हैं क्योंकि इतिहास अभी पांच हजार साल पीछे तक ही पहुँच पाया है किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों से तीर्थंकर परम्परा सिद्ध होती है। जैनागमों के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम ऋषभदेव इस अवसर्पिणी युग के तृतीय भाग के अन्त में हुए तथा उन्होंने ही षट्कर्मों की व्यावहारिक शिक्षा देकर आधुनिक मानव सभ्यता का निर्माण किया था।

◇◇◇

१. तेजोबिन्दूपनिषद् ५/५१

२. लघीयस्त्रय, मंगलपद्य १-अलंकदेव तथा स्वयम्भूस्तोत्र १५/१—स्वामी समन्त भद्र

३. इन्डियन फिलासफी, खण्ड-प्रथम, पृ. २८७

४. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ. १७८

५. भारतीय दर्शन सरल परिचय, पृ. १९८

६. ऋग्वेद १०.१६६.१

७. वही १०.१३६.१-२

८. वही, ५/५२०-३१

९. वही, भाग १, ३/२८८

१०. वही, ९/२०४

११. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. १७

१२. वही, २०/४६, ७/३६, ७/३८

१३. वही, १४.४२.४

१४. वही, प्रथम खण्ड, ४५/३८-४१

१५. वही, ४१/३७-३८

१६. वही, पूर्वार्ध, ३०/५०-५५

१७. वही, ७४/८-१०

१८. वही, अंश २/अ० २/श्लोक २७-२८

१९. वही, ४७/१९-२३

२०. वही, प्रथम खण्ड शतरुद्रसंहिता, ३/३५-३८

२१. भारतीय इतिहास एक दृष्टि - डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, पृ. २६-२७

२२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. १५

वैदिक एवं श्रमण संस्कृति : एक पर्यवेक्षण

❑ डॉ. दामोदर शास्त्री

आर्य सभ्यता के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो एक तथ्य प्रकट होता है कि वैचारिक प्रतिद्वंदिता की स्थिति प्राचीन काल से है। भारतभूमि दो प्रमुख प्रतिद्वंदी विचार-धाराओं या संस्कृतियों की संगम-स्थली रही है। ये संस्कृतियाँ हैं—श्रमण (जैन) संस्कृति और वैदिक संस्कृति।

हड़प्पा व मोहनजोदड़ो की सभ्यता के अवशेषों से यह सिद्ध हो गया है कि इस सभ्यता के निर्माता लोग जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पूजक, वीतराग धर्म के अनुयायी तथा यौगिक ध्यानादि क्रियाओं द्वारा आत्म-साधना के उपासक थे। इस संस्कृति के समानान्तर दूसरी संस्कृति थी—वैदिक संस्कृति। वेद में स्थान-स्थान पर वैदिक देवताओं के प्रति की गई प्रार्थनाओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इस संस्कृति के लोग भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए देव-शक्तियों पर आश्रित रहने वाले थे। इनके द्वारा यज्ञ में पशुबलि दी जाती थी, इनका जीवन संघर्षमय व असुरक्षा की भावना से ग्रस्त था और अपने दैनिक जीवन में और शत्रुओं के प्रति व्यवहार में, ये पूर्णतः अहिंसक नहीं कहे जा सकते थे। कहीं-कहीं तो इनकी क्रूरता के उदाहरण भी दृष्टिगोचर होते हैं।[१]

ठीक इसके विपरीत, देश में पर्यटनशील 'व्रात्य' लोगों की परम्परा विद्यमान थी, जो व्रतनिष्ट एवं अहिंसा धर्म के आराधक थे, जिनका विश्वास आत्म-कल्याण व आत्म-शुद्धि में था। यह परम्परा भी, बहुत सम्भवतः सिन्धु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं की तरह, श्रमण संस्कृति की अनुयायी थी।

देवों और असुरों के मध्य हुआ संघर्ष भी एक प्रकार से दो संस्कृतियों या जातियों के मध्य था। विद्वानों का अनुमान है कि असुर राजा प्रायः अहिंसक जैन संस्कृति से सम्बद्ध थे। यह बात और है कि विद्वेष के कारण 'असुर' शब्द को 'हिंसक' का पर्यायवाची बना दिया गया। विष्णुपुराण के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के अनुयायी थे।[२] उनका अहिंसा में पूर्ण विश्वास था[३], यज्ञ व पशुबलि में उनकी अनास्था थी।[४] श्राद्ध व कर्मकाण्ड के वे विरोधी थे।[५] महाभारत में असुर राजा बलि अपने मुख से आत्म-साधना का जो वर्णन करता है वह जैन धर्म के सर्वथा अनुकूल है।[६]

जैन संस्कृति के तीर्थंकरों की परम्परा ने भारतीय समाज को समय-समय पर जो सद्ज्ञान दिया, उसका प्रभाव यह हुआ है कि वैदिक संस्कृति में भी अहिंसा धर्म को बहुमान मिलता

गया। वीतराग धर्म के प्रति वैदिक संस्कृति के अनुयायी भी आकृष्ट हुए। सम्भवतः प्रारम्भ में उन अनुयायियों के प्रति वैदिक संस्कृति के लोगों के मन में अनादर का भाव रहा है, किन्तु कालान्तर में समन्वय का रास्ता अपना कर उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया गया। दोनों ही संस्कृतियों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान बढ़ता रहा। फलस्वरूप व्यावहारिक जीवन के आचार-विचारों की दृष्टि से दोनों संस्कृतियों में मौलिक फर्क कर पाना प्रायः मुश्किल हो जाता है। अहिंसा परम धर्म है, राग-द्वेषादि सांसारिक दुःख के हेतु हैं, मनोविकारों पर विजय तथा शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, इत्यादि बातें दोनों संस्कृतियों में लगभग समान आदर व दृढ़ता के साथ स्वीकारी गई, और यही कारण है कि उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि वैदिक संस्कृति के परवर्ती आदरणीय ग्रन्थों में जैन संस्कृति के स्वर स्थल-स्थल पर ढूँढे जा सकते हैं।

अपने उच्च आदर्शों के कारण जैन (श्रमण) संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गई। यही कारण है कि वैदिक धर्म की अपेक्षा पुरुषार्थ-कर्तव्यता के रूप में जैन धर्म को अधिक आदरणीय स्थान मिला, जिसका प्रमाण निम्नलिखित पद्य है :–

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः, कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यः, ध्यातव्यः परमः शिवः ॥१॥[७]

यहाँ तक कि भगवान् राम को भी एक वैदिक संस्कृति के ग्रन्थ में शांति-प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र की आत्म-साधना का अनुकरण करने की भावना प्रकट करते हुए वर्णित किया गया है–

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः।
शांतिमासितुमिच्छामि, स्वात्मनीव जिनो यथा।[८]

वैदिक संस्कृति का प्रारम्भ में लक्ष्य[९] जिस स्वर्ग की प्राप्ति थी[९], उस स्वर्ग का वातावरण भौतिक समृद्धि, कामसुख, भोग-लिप्सा का प्रतीक होते हुए भी, वासना-अतृप्ति, अशांति, तथा विनश्वरता से मुक्त नहीं समझा गया और परवर्ती काल में वैदिक संस्कृति का लक्ष्य स्वर्ग के स्थान पर पुण्य-पाप से परे की मुक्त स्थिति हो गया।[१०] इसी तरह यज्ञ का स्वरूप क्रमशः अहिंसक होता गया और 'द्रव्य यज्ञ' की अपेक्षा 'ज्ञान यज्ञ' को प्रमुखता मिल गई।[११] यह सब जैन संस्कृति का वैदिक संस्कृति पर प्रभाव ही था।

किन्तु दोनों संस्कृतियों में मूलभूत अन्तर समाप्त हो गया हो ऐसी बात नहीं, संक्षेप में वह अन्तर मूलतः दो बातों में है। जहाँ वैदिक संस्कृति ईश्वर या किसी अलौकिक शक्तिधारी व्यक्ति को इस जगत् का कर्ता, हर्ता व नियन्ता मानती है, वहाँ जैन संस्कृति ईश्वर का अस्तित्व मानती हुई भी, ईश्वर के सृष्टिकर्तापन का निषेध करती है और जगत् के मूलभूत दो तत्त्वों जीव व अजीव में अन्तर्निहित स्वभाव-भूत शक्ति से ही जगत् का नियमन स्वीकारती है। दूसरी बात यह है कि वैदिक संस्कृति में जिन देवताओं को पूज्य माना जाता रहा है, उनकी पूज्यता

उनकी चमत्कारिक शक्ति, विविध सुख-साधन, ऐश्वर्य तथा व्यावहारिक सामाजिक गुणों आदि पर आधारित है, किन्तु जैन संस्कृति में पूज्यता की कसौटी व्यक्ति की 'वीतरागता' है। वेदों में जिस देव-शक्ति को अलंघ्य, दुर्ज्ञेय, जगत्-विधाता[१२], तथा पृथ्वी-रक्षक[१३] बता कर स्थल-स्थल पर प्रार्थना आदि की गई है, जिस देव-समाज का अनुकरण करने की[१४] तथा उससे सख्य भाव 'मैत्री' स्थापित करने की[१५] कामना की गई है, उस देव-समाज का परवर्ती रूप जो व्याख्यात हुआ है वह रागद्वेषयुक्त समाज से भिन्न नहीं। किन्तु जैन संस्कृति में जिन पंच-परमेष्ठियों को, पूजनीय देवरूप में आदर प्राप्त है, वे वीतरागता की मूर्ति हैं।

भगवान महावीर के समय की परिस्थितियाँ

भगवान महावीर के समय में वैदिक संस्कृति में जो बुराइयाँ व्याप्त थीं, उनमें जातिप्रथा, अस्पृश्यता, उच्च-नीच की भावना, आडम्बरपूर्ण धार्मिक क्रिया-काण्ड, अन्ध-श्रद्धा आदि प्रमुख थीं। इसके अतिरिक्त बुद्धिजीवी समाज की स्थिति भी संतोषप्रद नहीं थी। यद्यपि वैचारिक उर्वरता अधिक मात्रा में थी, पर विभिन्न दार्शनिक मतवाद परस्पर विरोध से स्वयं अप्रतिष्ठित हो रहे थे।[१६] भगवान महावीर ने जगत् को अनेकान्तदृष्टि दी और अहिंसा को व्यावहारिक जगत् के साथ-साथ वैचारिक जगत् में भी प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार, एक ओर साम्यवाद व परस्पर मैत्री पर आधारित समाज की रचना तो प्रस्तुत हुई ही, साथ ही दूसरी ओर विविध वैचारिक दृष्टिकोणों को परस्पर अविरोधपूर्वक फलने-फूलने का वातावरण तैयार हुआ। फलस्वरूप, भारतवर्ष बौद्धिक व वैचारिक उत्कर्ष लिए बंजर-भूमि न बन कर सर्वदा उर्वर-भूमि बना चला आ रहा है।

जैनधर्म व्यवहार्य

जैन धर्म ऐसा नहीं है कि जिसका व्यवहार या आचरण सम्भव न हो, बल्कि वह तो आत्मा का स्वाभाविक रूप है। वह 'धर्म' धार्मिक बाह्य क्रियाकाण्डों की अपेक्षा आत्मा की स्वाभाविक स्थिति में निहित है। और वह स्वाभाविक स्थिति उसकी वीतरागता, समता भाव है। वीतराग स्थिति में पहुँच कर आत्मा स्वयं धर्म का रूप बन जाता है।[१७] संक्षेप में धर्म 'करने' की वस्तु नहीं, बल्कि 'जीने' की वस्तु है। धर्म किया नहीं जाता है, वह साधक की स्वाभाविक क्रिया बन जाए, इसी के लिए साधक प्रयत्नशील रहता है। दूसरे शब्दों में, धर्म ऊपर से या बाहर से थोपे जाने वाली चीज नहीं, वह तो स्वयं से उद्भूत होने वाली स्थिति है। चारित्र को आत्मा से जोड़ने से तात्पर्य यह भी है कि धर्म बाहर-भीतर एक है; चिन्तन, वचन और आचार में एकरूपता आवश्यक है।[१८]

जैन धर्म या साधना का आचरण स्वाभाविक रूप से ही किया जाना चाहिए। अर्थात् क्षेत्र

और काल को तथा साधक की शक्ति को ध्यान में रखकर धर्म-अधर्म के व्यवहार-पक्ष का मान-दण्ड नियत किया जाना उचित है। अन्यथा 'धर्म' किसी व्यक्ति के लिए अस्वाभाविक भी हो सकता है। बालक, वृद्ध, स्वस्थ, रोगी—इन विविध अवस्थाओं में धर्म का एक स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता।[१९] किन्तु सभी प्रकार के साधकों को अंत में पहुँचना एक ही स्थिति में है, ऐसी स्थिति जहाँ धर्म और साधक दोनों एकरूपता प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने से पूर्व की सारी स्थितियाँ साधन मात्र हैं, साध्य नहीं।

अहिंसा-धर्म का स्वरूप

हिंसा का हेतु हिंसा करने वाले व्यक्ति के मन में बैठा द्वेष और अज्ञान (मोह) है।[२०] हिंसा की क्रिया द्विविध रूप से होती है। स्व-हिंसा और परहिंसा। हिंसा का विचार उठते ही हिंसक व्यक्ति की आत्मा स्वरूपच्युत हो जाती है और वह स्वयं का वध कर लेता है, इसके अनन्तर 'पर-जीव' के प्राणों का घात होता है। कभी कभी हिंसा का विचार मन में उठकर रह जाता है या पर-जीव की हिंसा का प्रयास सफल नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में भले ही व्यावहारिक रूप में हिंसा न दिखाई पड़े, वैचारिक दृष्टि से हिंसक व्यक्ति के आत्मा की हिंसा तो हो ही गई और हिंसा का फल उस व्यक्ति को मिलेगा ही।[२१]

इस प्रकार हिंसा के दो भेद हैं—अन्तरंग हिंसा, और बहिरंग हिंसा। अशुद्धोपयोग अन्तरंग हिंसा और पर-जीव का प्राणोच्छेद बहिरंग हिंसा है। किन्तु बहिरंग हिंसा के कर्म का बन्धकारक होना या न होना अन्तरंग हिंसा पर निर्भर है।[२२] अन्तरंग हिंसा के अभाव में बहिरंग हिंसा का कुफल व्यक्ति को नहीं भोगना पड़ेगा। इसीलिए कहा गया कि यत्नपूर्वक (समिति) आचरण करने वाले साधक को व्यावहारिक हिंसा के होने पर भी बन्ध नहीं होता, जबकि यत्नपूर्वक आचरण न करने वाले को बाह्य हिंसा न होने पर भी, स्वात्म-घात का दोष लगेगा ही। अंतरंग हिंसा के अभाव में बहिरंग हिंसा स्वतः अप्रतिष्ठित हो जाएगी।

व्यवहार-धर्म और वीतरागता की साधना

यद्यपि वीतरागता की स्थिति ही साधक का लक्ष्य है, किन्तु वहाँ तक पहुँचने में कई सीढ़ियाँ पार करना पड़ती हैं। मोह, राग और द्वेष के स्तर को भेद कर आगे बढ़ना क्रमशः ही सम्भव है। हिंसा, द्वेष, अपकार आदि कार्य अशुभोपयोग हैं, जिन्हें किसी भी प्रकार उपादेय नहीं समझना चाहिए। इस स्थिति से तो ऊपर उठना ही जैन साधना की प्रारम्भिक अवस्था है। वीतरागता की स्थिति शुद्धोपयोग है जो मोक्ष का साक्षात् कारण है और साधना की सीमा है। साधना में विषयराग को छोड़कर स्वधर्म तथा धर्मोपयोगी साधनों के प्रति अपने को अनुरक्त करना पड़ता है। इस स्थिति में साधक में स्वभावतः पंच-परमेष्ठी आदि में भक्ति का भाव रहता है।

जीवों पर दया, अनुकम्पा, करुणा आदि के भाव भी यथासामर्थ्य साधक में उत्पन्न होते हैं। यह सारी स्थिति शुभोपयोग रूप कही जाती है। यह शुभोपयोगी स्थिति अशुभोपयोगी की स्थिति की अपेक्षा उपादेय या प्रशस्त कही जा सकती है, किन्तु साधक का कर्तव्य है कि वह इस स्थिति को संसार-बन्ध का कारण समझते हुए शुद्धोपयोग की स्थिति पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहे।[23] शुभोपयोग से भले ही पुण्य मिलता हो, किन्तु पुण्य-प्राप्ति रूप स्वर्गादि का सुख भी एक दृष्टि से बन्धन ही है।[24] यदि शुभोपयोग की स्थिति भी सम्यक्त्व से आलोकित हो तो परम्परा से मोक्ष प्राप्त होना कहा गया है।[25] शुभोपयोग की स्थिति में यदि मोहग्रस्तता हो तो शुद्धात्म प्राप्ति असम्भव है।[26] इसके विपरीत, शुद्धोपयोग को लक्ष्य कर आगे बढ़ने वाला साधक, शुभोपयोग की प्रवृत्ति करता हुआ भी दोषग्रस्त नहीं होता।

मुनि-अवस्था में साधक शुभोपयोग करता हुआ भी अपने संयम का घात न हो—इसका विशेष ख्याल रखता है।[27] साथ ही वह शुभोपयोग को कभी मुख्यता प्रदान नहीं करता, शुद्धोपयोग की तुलना में गौण ही रखता है।[28] प्रशस्त राग की पात्रता-अपात्रता भी फल की अनुकूलता-प्रतिकूलता की "अल्पता-अधिकता" करती है।[29] गृहस्थ (सागार) साधक की दृष्टि में शुभोपयोग की स्थिति "अशुभोपयोग की तुलना में" मुख्य रूप से ग्राह्य है। शुभोपयोग में स्थिरता के अनन्तर ही वह शुद्धोपयोग के प्रति अग्रसर हो सकता है, इसीलिए कुछ विचारक 'सराग चारित्र' को वीतराग चारित्र में साधन मानते हैं।[30] किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता हुआ भी, वीतराग चारित्र में रहता हुआ भी, उसका फल दिव्य वैभव भोगता हुआ भी, पुण्याचरण को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं मानता, उस प्राप्त वैभव को स्वपद नहीं स्वीकारता।

व्यवहार-धर्म करते हुए भी व्यवहार से ऊपर उठना कैसे सम्भव

करुणा, अनुकम्पा, दया आदि कार्य प्रशस्त होते हुए भी शुद्धोपयोग वीतरागता की तुलना में कुछ नीची स्थिति के द्योतक हैं।[31] इसका कारण यह है कि इन कार्यों में "राग" भाव है जो बन्ध का कारण कहा गया है।[32] जब कोई व्यक्ति किसी पर दया, करुणा आदि प्रदर्शित करता है तो उसके मन में किसी किसी को दयनीय समझने की, तथा पर-उपकार करने के स्वसामर्थ्य को प्रदर्शित करने की भावना होती है। यही भावना अज्ञानमूलक होती है। इसलिए, सम्भवतः करुणा को मोह का चिन्ह बताया गया है।[33] जब कि सभी जीवों में आत्मा एक जैसी है तो उनमें छोटे-बड़े, ऊँच-नीच की भावना लाना—'अज्ञान' ही कहा जायगा।[34] परमार्थतः तो सांसारिक पदार्थ, यहाँ तक कि अपना शरीर भी स्थायी नहीं, अतः उनके आधार पर स्वयं को उच्च तथा दूसरे को नीच समझना असंगत ही है।[35] इसके अतिरिक्त, दानादि कार्यों में कर्तृत्व-भावना ही त्याज्य है, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से कोई द्रव्य किसी 'पर द्रव्य' का कर्ता

ही नहीं होता।[३६] कोई भी देव या मनुष्य हो, किसी का न तो उपकार कर सकता है और न अपकार ही।[३७] अपने शुभाशुभ कर्म ही अपना शुभ या अशुभ करते हैं। मैं किसी को मारता हूँ या जिलाता हूँ—यह भावनाएँ 'मूढ़ता' है।[३८]

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुकम्पा, दया, करुणा आदि कार्य किए तो जाँए[३९], किन्तु ममत्व, कर्तृत्व तथा अहम्भावनाओं को निकाल कर।[४०] इसीलिए व्यवहार-कर्म के आचरण के विषय में आचार्यों का निर्देश है कि ये पुण्य-प्राप्ति हेतु न किये जाएँ[४१] इस निर्देश को ध्यान में रख कर साधक व्यावहारिक धरातल से ऊपर उठता हुआ क्रमशः शुद्धात्म-प्राप्ति के लक्ष्य तक पहुँच जाएगा। निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी श्रद्धा के साथ शुद्धात्मप्राप्ति के अनुकूल चारित्र-पालन करने वाले साधक को मुक्ति मिलती है, अन्यथा प्रशस्त बाह्याचरण तो पुण्यबन्ध का कारण है। जो शुद्धात्मा को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखते, और सर्वविध पुण्यकार्य करते हैं, वे मोक्ष को तो पाते ही नहीं, बल्कि संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं।[४२]

स्वरूप में पूर्ण स्थिरता न आने से शुभ राग की स्थिति हो भी, तो साधक को चाहिए कि वह निजात्मस्वरूप में विशेष लीनता बनाए रखे। यदि इसमें कमजोरी रही तो उपशम श्रेणी से आरोहण करना होगा, क्षपक श्रेणी से नहीं। ऐसी स्थिति में राग का सम्पूर्ण अभाव सम्भव नहीं होगा। अतः पुण्याचरण को भी साधक "स्व" भाव न समझे, विभाव रूप ही माने।

साधना करने वाले की अवस्था पर शुभोपयोग की मुख्यता व गौणता समझनी चाहिए। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के लिए अशुभोपयोग के त्याग की दृष्टि से शुभोपयोग की मुख्यता है, किन्तु वही शुभोपयोग उच्च स्तर के साधक के लिए, शुद्धात्मपरिणति के लक्ष्य की दृष्टि से गौण कहा जाएगा।[४३] पहले साधक विषयों के अनुराग छोड़ दे, फिर गुणस्थान क्रम से बढ़ते बढ़ते रागादि से रहित शुद्धात्मा में स्थित होता हुआ, अर्हद् आदि में भक्ति विषयक राग भी छोड़ दे।[४४]

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं

यह लोक जीव तथा अजीव का क्रीड़ा-स्थल है।[४५] दोनों ही तत्त्व अनादि व अनन्त हैं।[४६] संसार की प्रक्रिया स्वभावतः होती रहती है। भौतिक जगत् के छोटे-बड़े पिण्डों का निर्माण व भंग उनमें निहित रूक्ष व स्निग्ध शक्ति पर निर्भर है।[४७] आत्मा के कर्म "बन्ध" का निर्माण भी पौद्गलिक शक्ति के कारण स्वतः सम्भव होता है।[४८] संसार में जीवों के सुख-दुःख का तारतम्य भी कर्मकृत है।[४९] इस प्रकार विश्व की व्यवस्था तत्त्वों में समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है, किसी ईश्वरीय शक्ति को नियामक आदि के रूप में मानने की कोई जरूरत नहीं।

जैन दृष्टि से स्वयंभू तथा ईश्वर की स्थिति प्रत्येक आत्मा को वीतरागता से प्राप्त हो सकती है।[५०] किन्तु इस स्थिति में आत्मा 'पर-पदार्थों को न ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न उनके रूप में परिणमन करता है, अपितु स्व-स्वरूपस्थित रहता है।[५१] "यद्यपि जैसे दर्पण में

घटपटादि पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं, वैसे ही "व्यावहारिक दृष्टि से" केवली के ज्ञान में ज्ञेय पदार्थों की सत्ता है।"[५२]

इस प्रकार जैन दृष्टि से ईश्वर संसार का नियामक नहीं। प्रत्येक जीव वीतरागता प्राप्त कर ईश्वरीय महनीय पद प्राप्त कर सकता है।[५३] संसार के कार्यों में वीतराग की आसक्ति नहीं रहती। उक्त ईश्वरत्व की शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है।[५४]

◇◇◇

१. द्र. अथर्ववेद-2/५/३

२. द्र. विष्णुपुराण-३/१६-१८ अध्याय; देवी भागवत-४/१३/५४-५७; मत्स्य पुराण-२४/४३-४९, पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड)-१३/१७0-४१३

३. विष्णुपुराण-३/१८/२६

४. विष्णुपुराण-३/१८/२६-२८

५. विष्णुपुराण-३/१८/२९-३0

६. महाभारत (शान्ति पर्व)-२२८ अ. (गीता प्रेस)

७. षड्दर्शन समुच्चय पर मणिभद्र कृत टीका (पद्य-८ पर)।

८. योगवाशिष्ठ (वैराग्य प्रकाण) १५/८

९. ऋग्वेद-१0/१४, ४/५३/२, १0/१२/१

१0. मुण्डकोपनिषद्-३/१/३, १/२/७३

११. महाभारत (शान्ति पर्व)-१२/२७२, भागवत पुराण-११/५/११-१३, गीता-४/३३

१२. ऋग्वेद-१0/३३/९, १0/८२/८, १0/८२/३

१३. ऋग्वेद १२/१/१-७ (पृथ्वीसूक्त)

१४. ऋग्वेद-१0/१९१/२; अथर्ववेद-५/१९/८ (पैप्पलाद शाखा)

१५. ऋग्वेद-१/८९/३

१६. अन्ययोगव्यवच्छेदिका (हेमचन्द्र)-२६

१७. प्रवचनसार-१/९२

१८. प्रवचनसार-३/३७, तु. उत्तरअध्ययन-२९-५१

१९. प्रवचनसार-३/३०-३१
२०. प्रवचनसार-२/५७, ८३, ८८, ९६
२१. प्रवचनसार-२/५७ पर जयसेनाचार्यकृत टीका, कार्तिकेयानुप्रेक्षा-२/३१
२२. प्रवचनसार-३/१७ पर आ. अमृतचन्द्र कृत टीका
२३. प्रवचनसार (१/५, ६,११ ३/५४) पर आ. अमृतचन्द्रकृत टीका।
२४. समयसार ३/१४६, प्रवचनसार,१/७७
२५. समयसार १०, प्रवचनसार (३/५५) पर जयसेनकृत टीका
२६. प्रवचनसार १/७९
२७. प्रवचनसार ३/५0
२८. प्रवचनसार (३/५४) पर अमृतचन्द्रकृत टीका
२९. प्रवचनसार (३/५४) पर जयसेनकृत टीका
३0. प्रवचनसार (३/७५) पर जयसेनकृत टीका
३१. प्रवचनसार (३/४५) पर आ. अमृतचन्द्रकृत टीका
३२. प्रवचनसार २/८७, ३/४३
३३. प्रवचनसार १/८५
३४. प्रवचनसार २/२२
३५. प्रवचनसार २/१0१
३६. समयसार ३/३१ (९९); प्रवचनसार २/६८
३७. कातिकियानुप्रेक्षा ३१९ (१२/३१९)
३८. समयसार ७/२५0, २५९ ; प्रवचनसार १/७९
३९. उत्तराध्यमन सूत्र ६/२ ; पुरुषार्थसिद्धयुपाय ३0 ; सूत्रकृतांग १/११-१२
४0. पंचास्तिकाय १६९ ; दशवैकालिक ९/६
४१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा १२/४0९ ; भावसंग्रह ४0४
४२. भावपाहुड ८४ ; समयसार ३/१५३
४३. प्रवचनसार (३/५४) पर जयसेनकृत टीका
४४. प्रवचनसार १६७ पर तात्पर्यवृत्ति टीका
४५. प्रवचनसार २/३७ आ. अमृतचन्द्र टीका (२/४४) पर, उत्तराध्ययन सू. २६/२

४६ प्रवचनसार २/३, ११, आ. अमृतचन्द्रकृत टीका २/६ पर

४७. प्रवचनसार २/७४-७५

४८. प्रवचनसार २/७७-७८, पंचास्तिकाय ६५

४९. प्रवचनसार २/९५ पर अमृतचन्द्रटीका

५०. प्रवचनसार १/१६, १/१५; पंचास्तिकाय २९-१७२

५१. प्रवचनसार १/३२

५२. प्रवचनसार १/३१ पर आ. जयसेनकृत टीका

५३. प्रवचनसार १/८१

५४. समाधिशतक ९८; प्रवचनसार १/१५
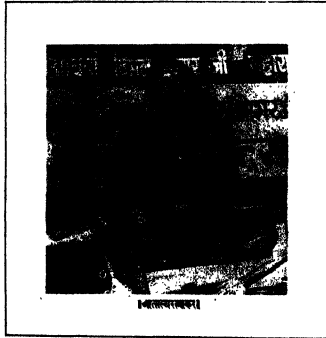
जैनधर्म की प्राचीन ऐतिहासिकता

❑ डॉ. प्रकाशचंद शास्त्री, इन्दौर छावनी

प्रत्येक देश और जाति का अपना एक सांस्कृतिक इतिहास होता है। इतिहास तथ्यों का संकलन मात्र नहीं है, अपितु परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उत्थान और पतन, विकास और अवनति, जय और पराजय की पृष्ठभूमि और तथ्य संकलन इतिहास कहलाता है। देश और जाति के समान व्यक्ति और धर्म का भी इतिहास होता है। वस्तुतः धर्म का इतिहास भी व्यक्तियों का ही इतिहास होता है क्योंकि धर्म धार्मिकों के उच्च नैतिक आचार और आदर्शों में ही परिलक्षित होता है। धार्मिक परंपरा और उसके इतिहास का एकमात्र प्रयोजन वर्तमान और भावी पीढ़ी को प्रेरणा देना होता है, जिससे वह भी उन आचारों और आदर्शों को जीवन व्यवहार का अभिन्न अंग बनाकर अपने जीवन को उस उच्च भूमिका तक पहुँचा सके। इससे मनुष्य के निजी जीवन में तो शान्ति और सन्तोष का अनुभव होता ही है, उसके व्यवहार में जिन व्यक्तियों का सम्पर्क होता है, उन्हें भी शान्ति और सन्तोष की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती।

इतिहास लेखन की परम्परा अति प्राचीन काल से उपलब्ध होती है। किन्तु प्राचीन काल के महापुरुषों का चरित्र जिन ग्रन्थों में गुम्फित किया गया है, उनका नाम इतिहास न होकर पुराण रखा गया है और इतिहास की सीमाङ्कित अवधि और उसके पश्चातकाल के महापुरुषों का चरित्रचित्रण जिन ग्रन्थों में किया गया है अथवा किया जाता है, उसका नाम इतिहास, इतिवृत या ऐतिह्य कहलाता है। यद्यपि पुराण भी इतिहास ही होता है, किन्तु पुराण और इतिहास में कुछ मौलिक अन्तर भी होता है। इतिहास केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है, परन्तु पुराण महापुरुषों के जीवन में घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्रनिर्माण की अपेक्षा बीच बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिहास में केवल सम-सामयिक घटनाओं का उल्लेख रहता है परन्तु पुराण में नायक के अतीत-अनागत भावों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिए कि जन साधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिए क्या क्या त्याग और तपस्यायें करनी पड़ती हैं। मनुष्य के जीवन-निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जन-साधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्ण अक्षुण्ण है।

किसी धर्म का इतिहास, उसके उत्थान-पतन, प्रचार और ह्रास का इतिहास होता है। किन्तु उसका कोई स्वोक्त इतिहास नहीं होता। धर्म कोई मूर्तिमान स्थूल पदार्थ नहीं है, वह तो जीवन

के उच्च नैतिक व्यवहार में परिलक्षित होता है। धर्मसंस्थापना के दो उपाय हैं—हृदय-परिवर्तन और दण्ड-भय। धर्मनायक प्रथम उपाय करते हैं, जबकि लोकनायक दूसरा उपाय काम में लाते हैं। जिन्होंने जीवन में धर्म का पूर्ण व्यवहार करके अपने जीवन को धर्ममय बना लिया है और दूसरों को उस धर्म का उपदेश देते हैं, वे धर्म-नायक होते हैं। मुख्य धर्मनायक तीर्थंकर होते हैं। वे जन्म-जन्मान्तरों की धर्म-साधना द्वारा तीर्थंकर-जीवन में धर्म के मूर्तिमान स्वरूप बन जाते हैं। क्योंकि उनके जीवन में किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलता, मानसिक, आत्मिक और दैहिक दुर्बलता नहीं रहती, अतः वे कल्याण का उपदेश देकर असंख्य प्राणियों के जीवन को धर्ममय बनाने में सफल होते हैं। दूसरा उपाय है कि दण्ड द्वारा जीवन को अधर्म से विमुख करना—ऐसे व्यक्ति लोकनायक कहलाते हैं। इन लोकनायकों में प्रमुख चक्रवर्ती, नारायण और बलभद्र होते हैं। पहला उपाय सृजनात्मक है और दूसरा निषेधात्मक। पहला उपाय है अधार्मिकों के जीवन में से अधर्म दूर करके, उन्हें धार्मिक बनाना अर्थात् हृदय-परिवर्तन द्वारा धर्म की स्थापना, जबकि दूसरा उपाय है—अधर्मियों और दुष्टों को दण्ड-भय द्वारा अधर्माचरण और दुष्टता से रोकना, न मानने पर उन्हें दण्डित करना। हृदय-परिवर्तन का प्रभाव स्थाई होता है। प्राणी का कल्याण हृदय-परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है, जबकि दण्ड केवल भय उत्पन्न करके अस्थाई रूप से दुष्टता का निवारण कर सकता है। इसलिए धर्मनायक तीर्थंकरों की मान्यता और प्रभाव सर्वोपरि है।

जैनधर्म में वैदिक धर्म की तरह पुराण और उपपुराणों का विभाग नहीं मिलता। जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा में, पुराण साहित्य विपुल परिमाण में मिलता है। दिगम्बर परम्परा में संस्कृत, अपभ्रंश और कन्नड़ भाषा में ज्ञात पुराणों की संख्या सौ से ऊपर है जिनमें जिनसेनाचार्य का आदिपुराण, आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण, आचार्य जिनसेन का हरिवंशपुराण,आचार्य रविषेण का पद्मपुराण सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कवि पंप का आदिपुराण (कन्नड़ में) महाकवि पुष्पदन्त का महापुराण (अपभ्रंश में), कविवर रइधू का पद्मपुराण (अपभ्रंश में) और कवि स्वयम्भू का पउमचरिय (अपभ्रंश में) भी साहित्य-जगत् में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।

जैन वाङ्मय को चार भागों में विभाजित किया गया है जिन्हें चार अनुयोग कहा जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग। इनमें प्रथमानुयोग में पुराण, आख्यायिका, कथा और चरित्रग्रन्थ सम्मिलित हैं। जैन साहित्य में प्रथमानुपयोग सम्बन्धी ग्रन्थों की संख्या विपुल परिमाण में है। इन ग्रन्थों में, विशेषतः पुराण-ग्रन्थों में प्राचीन राजवंशों और महापुरुषों का इतिहास सुरक्षित है। इसलिए यह कहा जाता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के लिए जैनपुराणों और कथाग्रन्थों से बड़ी सहायता प्राप्त होती है। जैनपुराणों की अपनी विशिष्ट वर्णन शैली अवश्य है, किन्तु उसमें इतिहास का जो यथार्थ सुरक्षित है वह जैनेतर पुराणों में देखने को नहीं मिलता। जैनपुराणों और कथा-ग्रन्थों की एक विशेषता और है कि उनकी मूलकथावस्तु में विभिन्न लेखकों में कोई उल्लेखनीय मतभेद

दृष्टि-गोचर नहीं होता, जबकि जैनेतर पुराणों में कथावस्तु में भारी अन्तर और मतभेद दिखाई पड़ते हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि भगवान महावीर के पश्चात् आज तक आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा रही है। उन्होंने गुरु-मुख से जो सुना और अध्ययन किया, उसको उन्होंने अपनी रचना में ज्यों का त्यों गुम्फित कर दिया। इसलिए दिगम्बर पुराणों और आगमों के कथानकों में भी प्रायः एकरूपता मिलती है। इसलिए उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। यहाँ उनकी विश्वसनीयता के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। जैनेतर पुराणों में हनुमान, नल, नील, जामवन्त, रावण आदि प्रसिद्ध पुरुषों को बानर, रीछ, राक्षस आदि लिखा है, जबकि जैनपुराणों ने उन्हें विद्याधर लिखा है और उनकी जाति का नाम बानर, रीछ, राक्षस आदि दिया है। जैनपुराणों में वर्णित इन विद्याधर जातियों की सत्ता प्राचीन काल में थी, इस बात को नृवंश-विज्ञान और पुराविदों ने सिद्ध कर दिया है। अतः कहा जा सकता है कि जैन पुराण कल्पना और किंवदन्तियों पर आधारित न होकर, पूर्वाचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त तथ्यों पर आधारित है।

अत्यंत प्राचीन युग में, इस आर्यभूमि पर महाराजा नाभि राज्य करते थे। वे १४ कुलकरों में अन्तिम कुलकर थे। अन्तिम होते हुए भी दीर्घायु, समुन्नत शरीर, अप्रतिम रूप-सौन्दर्य, अपार बल-विक्रम और विपुल गुणों के कारण सब से अग्रिम थे। श्रीमद्‌भागवत में उन्हें आदिमनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के आग्नीध्र तथा आग्नीध्र के नौ पुत्रों में ज्येष्ठ माना है। महाराजा नाभि अपने विशिष्ट ज्ञान, उदार गुण और परमैश्वर्य के कारण कुलकर अथवा मनु कहलाते थे। सर्वप्रथम उन्होंने ही सद्यःउत्पन्न शिशुओं के नाभि-नाल को शस्त्र क्रिया से पृथक् करने का परिज्ञान दिया। उनके नाम नाभि के पीछे भी यही रहस्य है। उन्हें हुए कितना युग बीता, कहा नहीं जा सकता।

उनका युग एक संक्रान्तिकाल था। जब सिंहासन पर बैठे, भोगभूमि थी। कल्पवृक्ष फलते थे। अपराध-वृत्ति का अभाव था। सभी में पारस्परिक सद्‌भाव था। प्रत्येक का मनोवांछित फल कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाता था, तो असद्‌वृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था। किन्तु, उनके जीवनकाल में ही, भोगभूमि समाप्त हो गयी। कल्पवृक्ष निःशेषप्राय हो गये। कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। नये प्रश्न थे, नये हल चाहिए थे। नाभिराय ने धैर्य-पूर्वक उनका समाधान दिया। वे स्वयं त्राणसह बने। उन्हें क्षत्रिय कहा गया। आगे चलकर 'क्षत्रिय' शब्द नाभि अर्थ में रूढ़ हो गया। अमर कोषकार ने 'क्षत्रिये नाभिः' लिखकर संतोष किया। आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'अभिधान चिन्तामणि' में 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा है। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से सद्‌युग को जन्म दिया। प्रजा सुखी बनी और भोगभूमि के समान ही उसे सर्वविध सुविधाएँ प्राप्त हुईं। महाराज नाभिराय स्वयं कल्पवृक्ष हो गये।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है, "चन्द्र के समान वे अनेक कलाओं की आधारभूमि थे, सूर्य के समान तेजवान् थे, इन्द्र के समान वैभवसम्पन्न थे और कल्पवृक्ष के समान मनोवांछित फलों के प्रदाता थे। उन्होंने युगप्रवर्तन किया। काल की मोटी परतें भी उनके नाम

को नामशेष नहीं कर सकी। वे उसके कालज्ञ वक्ष पर तप्तशलाका से स्पष्ट लिखते रहे—रजः कणों में अभ्रक पत्र से, दिशाओं में सूर्य से और आकाश में ध्रुव नक्षत्र से दमकते रहे। कोई मिटा न सका। वे जीवित हैं, केवल वैदिकों में नहीं, अपितु मुसलमानों में भी। अरबी का एक शब्द है 'नबी', जिसका अर्थ होता है—'ईश्वर का दूत', पैगम्बर और 'रसूल'। वह शब्द संस्कृत के 'नाभि' और प्राकृत के 'णाभि' का ही रूपान्तर मात्र है। इसका अर्थ है कि उनका नाम बना ही नहीं रहा, अपितु 'ईश्वर के दूत' के रूप में और भी चमकीला बना।

उनके नाम पर ही इस आर्यखण्ड को नाभिखंण्ड या अजनाभवर्ष कहा गया। नाभि को अजनाभ भी कहते थे। स्कन्दपुराण में, "हिमाद्रिजलधेरन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम्" आया है। इस पंक्ति का विश्लेषण करते हुए डॉ. अवधबिहारी लाल अवस्थी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप' में लिखा, "सात द्वीपोंवाली पृथ्वी का जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध भूखण्ड था। आद्य प्रजापति मनु, स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारों के पिता थे। उनमें तीन तो संन्यासी हो गये थे और सात पुत्रों ने सात महाद्वीपों में आधिपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नौ पुत्र जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नौ में से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नीध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही नाभिखण्ड को अजनाभवर्ष भी कहा गया। 'मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन' के एक पाद टिप्पण में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभ के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अन्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाया। श्रीमद्‌भागवत में भी "अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमितियद् आरभ्य व्यपदिशन्ति" लिखा है। इसका अर्थ है कि अजनाभवर्ष ही आगे चलकर 'भारतवर्ष' इस संज्ञा से अभिहित हुआ। भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण में, "कालसन्धि के समय, इसी जम्बूद्वीप में विजयार्धपर्वत से दक्षिण की ओर आर्यखण्ड में नाभिराज हुआ और उनके नाम पर इस खण्ड को नाभिखण्ड कहा गया" ऐसा उल्लेख किया है।

भरत सम्बन्धी उल्लेख मार्कण्डेयपुराण में भी उपलब्ध होता है। मार्कण्डेय ऋषि इसके रचयिता थे। शंकराचार्य ने अपने 'वेदान्तसूत्रभाष्य' में इसके दो श्लोकों का उद्धरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ ८वीं सदी से पूर्व का है। पश्चिमी विद्वान् भी इसे बहुत प्राचीन मानते हैं। पार्जिटर महोदय ने अंग्रेजी में इसका अनुवाद किया था। इसके प्रारम्भिक अध्याय जर्मन भाषा में भी अनूदित मिलते हैं। यह पुराण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसका एक अंश 'दुर्गासप्तशती' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें १३८ अध्याय और ९००० श्लोक हैं। इसमें लिखा है—

> आग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् द्विजः।
> ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः॥

सोऽभिषिच्यार्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम—संश्रयः॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतवर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥

(मार्कण्डेयपुराण)

आग्नीध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए। उनसे भरत का जन्म हुआ, जो अपने सौ भाइयों में अग्रज था। ऋषभ ने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की और पुलह आश्रम में उस महाभाग्यशाली ने तप किया। ऋषभ ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण प्रदेश शासन के लिए दिया था, अतः उस महात्मा भरत के नाम से इस प्रदेश का नाम भारतवर्ष हुआ।

ब्रह्माण्डपुराण 'भूगोल' विषय की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसमें जम्बूद्वीप आदि द्वीपों, नदियों, पर्वतों और नक्षत्रों आदि का रोचक वर्णन है। वायु ने व्यासजी को इस पुराण का उपदेश दिया था, इसलिए इसे 'वायवीय ब्रह्माण्ड पुराण' भी कहते हैं। ईसवी सन् ५वीं शती में इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे, जहाँ उसका जावा की प्राचीन भाषा में अनुवाद प्राप्त होता है। इससे उसकी प्राचीनता सिद्ध ही है। इस ग्रन्थ के तीसरे पाद में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रियवंशों का वर्णन आया है। एक स्थान पर भरत और भारत के सम्बन्ध में कथन है—

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
रिषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥
रिषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः॥"
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥

(ब्रह्माण्डपुराण)

नाभि ने मरुदेवी में महाद्युतिवान् ऋषभ नामक पुत्र को जन्म दिया। ऋषभदेव पार्थिवश्रेष्ठ और सर्वक्षत्रियों के पूर्वज थे। उनके सौ पुत्रों में वीर भरत अग्रज थे। ऋषभ ने उनका राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की। उन्होंने भरत को हिमवत् नाम का दक्षिणी भाग राज्य करने के लिए दिया था और वह प्रदेश आगे चलकर भरत के नाम पर ही भारतवर्ष कहलाया। वायुपुराण के पूर्वार्ध (३०/ ५०-५३) में भी हूबहू ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

नारदपुराण में भी उन भरत को ऋषभदेव का ही पुत्र बतलाया है, जिनके नाम पर इस

देश को भारतवर्ष कहते हैं। नारदपुराण से तात्पर्य 'बृहद्नारदीय' पुराण से है। यद्यपि डॉ. विलसन इसे १६वीं शती का मानते हैं, किन्तु वल्लालसेन (१२वीं शताब्दी) ने अपने दानसागर नाम के ग्रन्थ में इस पुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं। अलबेरुनी (११वीं शताब्दी) ने भी अपने 'यात्रा विवरण' में इसका उल्लेख किया है। अतः इन दोनों से प्राचीन तो है ही। यह पुराण विष्णुभक्ति का मुख्य ग्रन्थ है। इसमें एक उद्धरण है—

आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भरतखण्डमुच्यते॥५॥

स राजा प्राप्तराज्यस्तु पितृपितामहः क्रमात्।
पालयामास धर्मेण पितृवदजनयन् प्रजाः॥६॥

(नारदपुराण, पूर्वखण्ड)

सूरदास के 'सूरसागर' की ये पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं—

बहुरो रिषभ बड़े जब भये। नाभि राज दे बन को गये॥
रिषभ राज परजा सुख पायो। जस ताको सब जग में छायो॥
रिषभ देव जब बन को गये। नवसुत नवौ खण्ड नृप भये॥
भरत सो भरत खण्ड को राव। करे सदा ही धर्म अरु न्याव॥

(सूरसागर, पंचम स्कन्ध)

शिवपुराण में शंकर से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मान्यताएँ स्थापित की गई हैं। जैसे, वह आर्य थे या अनार्य आदि दसवीं संहिता में मुनि-पत्नियों के कथानक से इस पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस पुराण में २४000 श्लोक हैं। शैवदर्शन के तत्त्वों को भली भांति समझाया गया है। बीच बीच में शिव और पार्वती से सम्बन्धित नाना कथाओं की अवतारणा है। इस ग्रन्थ में भरत से सम्बन्धित एक स्थल है—

नाभेः पुत्रश्च वृषभो वृषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते॥ (शिवपुराण)

अर्थात् नाभि के पुत्र वृषभ और वृषभ के पुत्र भरत हुए। उनके नाम से इस वर्ष (देश) को भारतवर्ष कहते हैं।

'महापुराण' में भी वृषभ और भरत से सम्बद्ध अनेक उद्धरण मौजूद हैं। महापुराण भगवज्जिनसेनाचार्य का ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ है। इसकी रचना ईस्वी सन् ९वीं शती में की गई थी। अब तो यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला से, हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। इसमें एक स्थान पर लिखा है—

ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमम्।
भगवान् भारतं वर्षं तत्सनाथं व्यधादिदम्॥ (महापुराण)

अर्थात्—इसके पश्चात् भगवान् वृषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का साम्राज्याभिषेक किया तथा भरत से शासित प्रदेश भारतवर्ष हो, ऐसी घोषणा की।

"सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियाँ न केवल योगमुद्रा में अवस्थित हैं बल्कि उस प्राचीन युग में सिन्धु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती है, उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की मुद्रा भी प्रगट करते हैं और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से सम्बन्धित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदिपुराण सर्ग १८ में ऋषभ अथवा वृषभ की तपश्चर्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्त्व संग्रहालय में एक शिलाफलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमायें मिली हैं जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या १२ में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिस्री स्थापत्य कला में प्रतिमायें ऐसी भी मिलती हैं, जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिस्री मूर्तियाँ प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं, जो सिन्धु घाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ है वृषभ (बैल) और वृषभ जिन ऋषभ का चिह्न है।"

(माडर्न रिव्यू, अगस्त १९३२, पृ. १५५-१६०)

प्रो. चन्दा के इन विचारों का समर्थन डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने भी किया है। वे भी सिन्धु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं। इन विद्वानों ने सील नं. ४४९ पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है। हमारी विनम्र मान्यता है कि सभी ध्यानस्थ प्रतिमायें जो सिन्धु घाटी में मिली हैं, जैन तीर्थंकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष और नाग ये सभी जैन कला की अपनी विशेषतायें हैं। विशेषतः कायोत्सर्गासन जैन श्रमणों द्वारा ध्यान के लिए प्रयुक्त होता है।

सिन्धु-सभ्यता अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत सभ्यता थी। पुरातत्ववेत्ताओं ने सिन्धु-सभ्यता का जो मूल्यांकन किया है, उसके बड़े रोचक निष्कर्ष निकले हैं। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं—मुहर संख्या......फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल भी बना है। संभव है, यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्र युगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामधारी सिंह दिनकर इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—मोहन-जोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभ देव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे—कालान्तर में वह शिव के साथ सम्बन्धित थी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों

का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व के हैं।

इसी सन्दर्भ में डॉ. एम. एल. शर्मा लिखते हैं मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चित्र अंकित है वह भगवान ऋषभदेव का है। यह चित्र इस बात का द्योतक है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व योग-साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव थे। सिन्धु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की भी पूजा करते थे। इन सब बातों से यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि जैन धर्म की संस्कृति सबसे प्राचीनतम है। जैनधर्म के सिद्धान्त सर्वभौमिक हैं और जैन धर्म अनादि-निधन है।

जैन दृष्टि में राम

❑ *मुनि श्री अमितसागरजी*

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि-समाधि-निधानं बोधति बोधः समीचीनः॥

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हेतु चार अनुयोगों का कथन किया है जिसमें सबसे पहले प्रथमानुयोग का कथन है। उन्होंने प्रथमानुयोग को परिभाषित करते हुए उपर्युक्त श्लोक कहा है जिसका अर्थ है कि "यह प्रथमानुयोग पुण्य के प्रसाधनरूप तथा बोधित, समाधि का निधान कहिए खजाना/भण्डार स्वरूप महापुरुषों का चरित अर्थाख्यान अर्थात् जो कथानक प्रकल्पित (झूठे) नहीं होते हुए परमार्थ से सत् विषय को ही प्रतिपादन करते है वे शास्त्र प्रथमानुयोग कहे जाते हैं।

प्रथमानुयोग में त्रेसठ शलाकापुरुषों (२४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र) के भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल के जन्मों का वर्णन करते हुए पुण्य और पाप कर्म के स्वरूप को प्रेक्टिकल रूप से वर्णित किया है, जिसके पढ़ने- सुनने मात्र से मनुष्य सहज ही पापप्रवृत्ति को छोड़कर पुण्य को वृद्धिंगत करते हुए बोधि एवं समता रूप परिणामों को प्राप्त करते हैं। ऐसे महापुरुषों का जीवन चरित्र हमारे इस जीवन को महान् बनाने की प्रेरणा देते हैं। परन्तु कुछ महापुरुषों का जीवनचरित विशेष रूप से मन को आकर्षक रुचिकर लगते हैं क्योंकि "जिन्होंने अपने जीवन में देश, धर्म, जाति एवं कुल की मर्यादाओं का उल्लंघन न करते हुए अति कठिनाइयों से गुजरने के बाद सफलताओं के लक्ष्य प्राप्त किए हैं उन महापुरुषों का जीवन अजर-अमर होते हुए भी दूसरों के लिए प्रेरणास्पद बन जाता है।"

श्री राम को आज कौन नहीं जानता जिनकी प्रसिद्धि इस भारत में ही क्या विश्व के कोने-कोने में पुष्प-सुगन्धि की तरह महक रही है। ऐसे महापुरुषों के जीवनचरित्र की यथार्थ जानकारी अपेक्षित है, क्योंकि कई विद्वानों, पंडितों, दार्शनिकों की एक उल्टी मान्यता एवं भ्रान्ति है कि 'श्रीराम' के आदर्श जीवनचरित का कथन करने वाला एक वैदिक धर्म ही है। इस वैदिक धर्म की देखा-देखी या नकल करके ही जैन या बौद्ध धर्मावलम्बियों ने श्रीराम के जीवनचरित का वर्णन किया है परन्तु जब हम यथार्थ दृष्टि से खोज करेंगे तो हमे मालूम होगा कि श्रीरामचन्द्रजी आठवें बलभद्र नाम के महापुरुष थे। इन त्रेसठ शलाकापुरुषों के नाम की घोषणा उनके जन्म के असंख्यात वर्ष पहले, जो भगवान् आदिनाथ से पहले उत्सर्पणीकाल के अन्तिम "शांता" नामक तीर्थंकर ने की थी, इसी के अनुसार, श्रीरामचन्द्रजी का नाम सबसे पहले जैनदर्शन में वर्णित

हुआ। वर्तमान में भी भगवान् महावीर का शासन चल रहा है और उन्होंने भविष्य में होने वाले त्रेसठ शलाकापुरुषों के नाम निरूपित कर दिये कि अमुक-अमुक नाम वाले पुरुष भरत क्षेत्र में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि होंगे।

इससे स्वतः सिद्ध है कि प्राचीनकाल से ही श्रीराम के आदर्श जीवन का कथन करने वाला जैनधर्म ही है। श्रीरामचन्द्रजी जैनधर्म की ही उपासना करते थे इसकी सिद्धि योगवशिष्ठ १५/८ में निम्न श्लोक द्वारा दर्शायी गयी है—

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु न च मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

"मैं यह भौतिक शरीरधारी राम नहीं हूँ, सांसारिक भावों में, पर पदार्थों में मेरी वांछा/इच्छा नहीं है। मैं तो केवल ऐसी शान्ति में स्थित होना चाहता हूँ जैसी शान्ति जिन भगवान में स्थित है। इसी धर्म का अनुकरण करने वाला उनका पूरा वंश/परिवार था। तब लक्ष्मण एवं सीताजी को भी जैनत्व पर असीम श्रद्धा थी। आपके मन में सहज ही प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म द्वारा विपरीत तत्व ही क्यों प्रामाणिक हैं अन्य धर्म के क्यों नहीं? इसका सीधा साधा उत्तर न्यायशास्त्रानुसार यह है कि "वक्ता की प्रमाणता से उसके वाक्य में प्रमाणता आती है।" जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ, वीतराग एवं हितोपदेशी होते हैं, अन्यथावादी नहीं होते और उनके पथानुयायी साधुजन भी उसी मार्ग का अनुसरण करते हुए आगम का व्याख्यान करते हैं, अतः उनके वाक्य अन्यथा नहीं होते हैं।

श्रीरामचन्द्र जी शुद्ध शाकाहारी एवं अहिंसक थे (संकल्पी हिंसा के त्यागी)। इस बात की पुष्टि निम्न प्रसंगानुसार होती है कि जब सीताहरण हो गया और हनुमान जी सीता की खोज करते हुए श्रीलंका पहुँचे, वहाँ उन्होंने सीताजी के सामने पहुँचकर अपने को श्रीरामचन्द्र का अनुचर बतलाया परन्तु सीताजी ने विचार किया कि कहीं रावण ही तो अपना भेष बदलकर नहीं आ गया। हनुमानजी के बार-बार कहने पर सीताजी ने हनुमानजी से पूछा—अच्छा आप श्रीराम के अनुचर दूत हैं तो उनकी आदतें गुण या कुछ विशेषतायें बतलाइये। तब हनुमानजी श्रीरामचन्द्रजी की विशेषता बतलाते हुए कहने लगे—

न मांसं राघवो भुंक्ते न चैव मधु सेवते।
वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति केवलम्॥

श्रीरामचन्द्रजी न तो मांस-भक्षण करते हैं, न मधु का सेवन करते हैं, वे तो केवल भलीभांति निष्पन्न किये हुए वन्य फलों का ही सेवन करते हैं। श्रीरामचन्द्र जी पूर्ण शाकाहारी हैं। परन्तु कुछ स्वार्थी जिह्वालम्पटों ने श्रीरामचन्द्र जी को हिंसक सिद्ध करके अपने स्वार्थ की पूर्ति की है कि श्रीरामचन्द्र भी तो अश्वमेध यज्ञादि करते थे, जानवरों का शिकार खेलते थे तब हम ऐसा क्यों नहीं कर सकते? श्रीरामचन्द्रजी मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाने वाले निरापराध पशुओं

को कैसे मार सकते हैं? यह बात विचारणीय है।

जैन संस्कृति की एक यही महान् विशेषता है कि वह किसी ईश्वर के अवतारवाद को स्वीकार नहीं करता परन्तु प्रत्येक आत्मा को ईश्वर-परमात्मा, पूज्य, महान् बनने की शिक्षा देता है। जैन दर्शन तो प्रत्येक आत्मा को शक्ति रूप से परमात्मा स्वीकार करता है। प्रत्येक आत्मा में मोक्ष-प्राप्ति की शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति को व्यक्त करने के लिए सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-अनुचरण की साधना अति आवश्यक है। आप कह सकते हैं कि वैदिक संस्कृति में भी तो मोक्ष तत्त्व की परिभाषा है जिसके अनुरूप चलकर भक्तगण मोक्ष प्राप्त करते हैं। परन्तु इस मोक्ष की मर्यादा है कि वह जीव एक कल्प काल तक मोक्ष में रहकर पुनः वापिस संसार में आकर परिभ्रमण करेगा। अतः जैन तत्त्व के मोक्ष एवं अन्य मतावलम्बियों के मोक्ष में यही अन्तर है कि उनका मोक्ष कल्पकालादि की मर्यादा में सीमित है परन्तु जैन दृष्टि अनुसार, जीव को मोक्ष एक बार प्राप्त होने पर वह कभी इस संसार के जन्म-मरण के दुख उठाने परिभ्रमण करने नहीं आता, क्योंकि उस जीव ने संसार के कारणभूत राग, द्वेष, मोह कषायों को सर्वथा नष्ट कर दिया है। इस मोक्ष की साधना एक दो भव नहीं कई भवों द्वारा पूर्ण होती है। श्रीरामचन्द्रजी जैसे महापुरुषों ने जन्म-जन्मान्तरों से अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने की साधना की और इस साधना का यह फल कि बलभद्र जैसे महापुरुषों की श्रेणी में आकर जन्म लिया और उस बलभद्र पद के योग्य नियोग प्राप्त विभूति (जैसे आठ हजार रानियां,) राज्य वैभव आदि का उदासीनतापूर्वक भोगोपभोग किया। परन्तु पापकर्म तो तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को भी नहीं छोड़ता फिर अन्य की तो बात ही क्या? पूर्व पाप के कर्मोदय से उन्हें वनवास आदि के दुख उठाने पड़े। इन दुखों के बीच भी उन्होंने अपने देश, धर्म, जाति एवं कुल आदि की मर्यादाओं का यथारीति परिपालन किया।

श्री लक्ष्मणजी को भी त्रेसठ शलाकापुरुषों में से आठवें नारायण के रूप में जैन संस्कृति मानती है अतः उनके पद के अनुसार उन्हें अर्द्धचक्रवर्ती भी कहते थे। उनकी १६ हजार रानियाँ थी तथा अन्य दिव्य शक्तियाँ उन्हें सहज ही प्राप्त थीं। उन्हीं के हाथों से रावण मृत्यु को प्राप्त हुआ। कारण कि रावण प्रतिनारायण पद का धारी था और लक्ष्मण नारायण थे। अतः नारायण द्वारा ही प्रतिनारायण की मृत्यु होती है ऐसा नियम है। श्रीराम के साथ ही लक्ष्मण जी का जीवनचरित हृदयग्राही है क्योंकि दोनों के पिता एक थे परन्तु दोनों की मातायें भिन्न-भिन्न होते हुए भी सहोदर भाई से भी अधिक दोनों में स्नेह भाव था। वनवास में भी श्रीरामचन्द्रजी के साथ रहे। लक्ष्मण जी श्री रामचन्द्र जी को पिता के समान एवं सीता को माता के समान आदर देते थे। इन दोनों का वात्सल्य इतना प्रगाढ़ था, तभी तो लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम कितने दुखी थे, उनकी मृत्यु से भी उन्हें असीम दुख हुआ परन्तु बाद में राम ने संसार के स्वरूप को समझकर अपने आप को धैर्य बँधाया।

सीता रानी का शीलव्रत रावण किसी भी कीमत पर खण्डित नही कर सका क्योंकि सीता

के हृदय में अपने आप्त के वचनों पर विश्वास था कि यदि मेरा शीलव्रत भंग हो गया तो आगे फिर भवों-भवों तक मुझे दुःख उठाने पड़ेंगे। मैं किसी भी कीमत पर अपने शील को रावण की वासना रूपी भूख का भोजन नहीं बनने दूँगी, चाहे मेरे प्राण क्यों न चले जायें। सती नारियों का पति एक ही होता है ऐसी उसके मन में दृढ़ आस्था थी।

वनवास से लौटने के बाद श्रीराम जब अयोध्या आये तब वहाँ की प्रजा में एक चर्चा का विषय बन गया कि सीता रावण के घर रहकर आई है और श्रीराम ने उसके शील आदि की परीक्षा किये बिना ही उसे अपने घर में रख लिया, यदि ऐसा ही रहा तो प्रजा की व्यवस्था भी भंग हो जायेगी, कोई भी व्यक्ति सहजता से दूसरों की स्त्रियों के हरण करेंगे दुराचार करेंगे। जब यह खबर श्रीराम के पास पहुँची तब उन्होंने सीता को तीर्थ-यात्रा के बहाने कृतान्तवक्र के द्वारा जंगल में छुड़वा दिया। जब सीता को जंगल में छुड़वाने का कारण मालूम हुआ तब सीता ने कृतान्तवक्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"इसमें किसी का क्या दोष है। यह सब मेरे पापोदय का ही फल है, फिर भी तुम श्रीरामचन्द्रजी को जाकर मेरा यह संदेश सुना देना कि जिस लोकापवाद के कारण तुमने मुझे जंगल में छुड़वा दिया उसी प्रकार किसी अभव्य जीव द्वारा जिन धर्म की बुराई करने पर कि यह धर्म ऐसा है वैसा है तब तुम उस सम्यक्त्व रूप धर्म को मत त्याग कर देना।" यह थी सीता जी की दृढ़ आस्था। पुनः योग निमित्त पाकर सीता वज्रजंघ राजा के घर चली गईं। वहाँ उसने लवण-अंकुश नाम के दो युगल पुत्रों को जन्म दिया। पुनः सीता जी को अयोध्या लाये परन्तु श्रीरामचन्द्रजी ने सीता से कहा—"हे देवी! यद्यपि तुम्हारा शील निर्दोष है, तुम पतिव्रता हो, सती हो, पर क्या करूँ? तुम लोकापवाद को प्राप्त हुई इसीलिए मैंने तुम्हें जंगल में छुड़वा दिया। अभी भी यदि तुम राजमहल में चलना चाहती हो तो अपने शील की परीक्षा दो जिससे यह लोकापवाद दूर हो जावे।" सीता कहती है—"स्वामी! मैं परीक्षा देने के लिए तैयार हूँ। अग्नि, विष, सर्प, जल आदि जिनके द्वारा आप परीक्षा करना चाहते हैं, आप मुझे आज्ञा दें।" श्रीराम ने सीताजी को अग्नि में प्रवेश करने को कहा। सीताजी ने इस परीक्षा को सहर्ष स्वीकार कर लिया। राम की आज्ञानुसार अग्निकुण्ड तैयार करके अग्नि प्रज्वलित की गई। हजारों नरनारी वहाँ पर शील की परीक्षा देखने एकत्र हुए। सीताजी परमेष्ठी का ध्यान करते हुए बोली—"हे अग्नि! यदि मैंने मन-वचन-काय से जागृत या स्वप्न अवस्था में भी श्रीरामचन्द्र को छोड़कर अन्य पुरुष का खोटे भावों से चिन्तवन भी किया हो तो तू मुझे क्षण भर में ही भस्म कर दे। हे परमेष्ठी! मेरे भले बुरे के तुम ही साक्षी हो।" इतना कहकर सीता उस अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। तभी शील धर्म के महत्त्व का सत्य रूप दर्शाने के लिए स्वर्गों के देवों ने आकर सीता के अग्निकुण्ड को सरोवर बनाकर सीता को कमल के बीच में बिठा दिया। सभी नर-नारी देखकर शीलधर्म की जय बोलते हैं। यह है शील धर्म का महत्त्व। सत्य कभी नीचे की ओर नहीं जाता, सत्य हमेशा ऊपर उभरता है। अतः अग्नि-परीक्षा के बाद श्रीराम, लक्ष्मण, हनुमान आदि ने सीता को बहुत कहा कि अब

तुम बिलकुल निर्दोष हो, चलो अब इस राजप्रासाद में चलकर आनन्द से जीवन व्यतीत करो परन्तु सीता ने सबको एक ही उत्तर दिया कि अब तो हम आर्यिका दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करेंगे। इतना कहकर सीता ने पृथ्वीमती आर्यिका के पास जाकर आर्यिका दीक्षा ग्रहण की और कठोर तपश्चर्या करते हुए सोलहवें स्वर्ग में जाकर देव पर्याय प्राप्त की और आगे सीता का जीव वहाँ से च्युत होकर दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त करेगा। सीताजी की दीक्षा के बाद श्रीरामचन्द्रजी ने कुछ समय तक तो राज्य किया, बाद में वे दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करके घोर तपश्चरण द्वारा कर्मों को नष्ट करते हुए शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त हुए।

सच्चे धर्म, सच्ची तपस्या का माहात्म्य यह है कि श्रीरामचन्द्र जी ८वें बलभद्र होकर मोक्ष गये। श्री लक्ष्मण जी आठवें नारायण के रूप जन्में। सीता का जीव पूर्व पुण्योदय से बलभद्र की पत्नि के रूप में जन्मा, परन्तु पूर्व पापोदय के कुछ विशेष कारण से सीता का रावण द्वारा हरण, शील में झूठा दोषारोपण, रामचन्द्रजी द्वारा सीता का परित्याग, पुनः सीता की अग्नि-परीक्षा जैसे प्रसंग सुनने-पढ़ने वाले मनुष्यों के हृदय सहज ही आर्द्र हो जाते हैं एवं इनके जीवनचरित्र से शिक्षा लेते हैं कि हमें भी किसी की निन्दा, बुराई या झूठा दोषारोपण आदि नहीं करना चाहिए। श्रीरामचन्द्रजी की पितृभक्ति, श्रीलक्ष्मणजी का भातृस्नेह, सीताजी का पतिव्रतत्व जन-जन के मानस को सहज ही पुण्य रूप प्रकाश से प्रकाशमान कर देता है।

हनुमान : एक लोकोत्तर व्यक्तित्व

❑ उपाध्याय श्री भरतसागरजी
प्रशिष्य आ. श्री विमलसागरजी

भारत देश महापुरुषों की जन्मभूमि रहा है। जिस प्रकार पेड़-पोधे छाया देते हैं, फल-फूल देते हैं, उनके पत्तों से, छाल से अनेक औषधियों का निर्माण होता है। नदी से पानी मिलता है। कुएं, तालाब, बावड़ी आदि का स्वभाव ही उपकारमय है। इसी प्रकार महापुरुषों का जीवन भी परोपकार के लिए होता है उनके उपकार की सीमा नहीं है। "न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति" साधुजन किये हुए उपकार को कभी भी भूलते नहीं है। परन्तु आज मानव कृतज्ञता से दूर हो कृतघ्नता का आश्रय ले रहा है। महापुरुषों के महान स्वरूप को भी नाना प्रकार के विकृत रूप में मानने में उन्हें जरा भी लज्जा नहीं आती है। एक ही पेड़ के नीचे कभी हिंसक सिंह आकर विश्राम लेता है तो कभी दयामयी गाय आकर ठंडी छाया लेती है, तो कभी कौवा, तो कभी तोता, कभी सेठ, कभी दरिद्री, पेड़ सबको समान रूप से छाया देता है, किसी से किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करता। इसी प्रकार महापुरुषों के जीवन, उनके विचार भी निष्पक्ष, भेद-भाव रहित सत्यता लिये हुए प्राणी मात्र के कल्याण के लिए होते हैं।

जैन पुराणग्रन्थों में १६९ महापुरुषों का सच्चरित्र चित्रण रोचक एवं जीवन के उत्थान पतन का जीवन्त वर्णन वर्णित है। इन १६९ महापुरुषों की गणना इस प्रकार है—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र, ९ प्रतिनारायण, २४ कामदेव, सभी तीर्थंकरों के माता-पिता, ९ नारद, ११ रुद्र, १४ कुलकर।

ये सभी महापुरुष तद्‌भव मोक्षगामी या निकट भव्य हैं। पुण्य-पाप का संयोग, उत्थान-पतन, विभिन्न प्रकार के संकटों के बीच भी रक्षा, सहनशीलता आदि उत्तम गुणों को प्रकाशित करने का साहस, धैर्य देने वाला महापुरुषों का सत्य जीवन मननीय, अनुकरणीय एवं चिन्तनीय है।

चर्चित प्रकरणानुसार आइये ऐसे महापुरुष की चर्चा करें जिनको कई मन चले व्यक्ति पवन (हवा) पुत्र मानते हैं तथा पृथ्वी के अद्वितीय सौन्दर्य अप्रतिम प्रतिभावान् पुरुष को वानर मान कर झूठा दोष लगाते हैं, दुनिया को भुलावे में डालते हैं। इसमें सावधानी की आवश्यकता है।

विजयार्ध पर्वत दक्षिण श्रेणी में आदित्यपुर नामक मनोहर नगर था। वहाँ राजा प्रह्लाद के धर्मप्रिया केतुमति नामक रानी थी। महाराजा प्रह्लाद के कुलदीपक पुत्ररत्न राजकुमार पवनञ्जय धर्मप्रिय महापुरुष थे। महेन्द्रपुर नगर के राजा महेन्द्र की अंजनासुन्दरी सुशील कन्या थी। पुण्योदय

से पवनञ्जय और अंजनासुन्दरी का विवाह-संस्कार विधिवत् हुआ किन्तु पापोदय से दोनों का मिलन २२ वर्ष तक नहीं हो पाया। असह्य वियोग था। पवनञ्जय की कठोरता और अंजना की सहनशीलता को देखकर सारा परिवार आश्चर्य में था, पर किसी को साहस नहीं था।

बिलखती अंजना को छोड़कर पवनञ्जय युद्धक्षेत्र में पहुँचे। रात्रि का समय था। जंगल में डेरा था। चकवा-चकवी का वियोग दृश्य उन्होंने देखा। पवन का दिमाग चिन्ता में डूब गया। अहा! चकवी चकवे के वियोग में कितनी व्याकुल है, सिर्फ रात्रि भर का वियोग उसे असह्य हो रहा है, फिर अंजनासती जो कि निर्दोष है उसकी क्या स्थिति होगी! बस, पवनञ्जय अंजना की याद में विह्वल हो उठे। उसी रात मित्र को लेकर अंजना के पास पहुँचे। अंजनासती का भाग्य जाग उठा।

"युद्ध भूमि से पीठ दिखाकर भाग आया" ऐसे अपवाद के भय से पवनञ्जय माता-पिता से भी मिल नहीं पाये। समय पाकर अंजना के गर्भ प्रकटित हुआ। सास ने गर्भ देखते ही नाना प्रकार से अपशब्द कहकर उसे कलंकित किया। निर्दोष अंजना का कोई सहारा नहीं रहा। सास केतुमति ने महल से निकालकर वन में छुड़वा दिया।

वन में पहुँचते ही पुण्य प्रताप से एक गुफा में विराजमान दिगम्बर वीतरागी सन्त के दर्शन करते ही अंजना का दुःख मानो उड़ेल कर सामने आया। गुरु के चरणों में अश्रुधारा बहाते हुए अंजना ने अपनी सारी दुःखभरी कहानी कह सुनाई। गुरुदेव ने कहा—"धैर्य धारण करो, तुम जैसी महासती के गर्भ में तद्भव मोक्षगामी हनुमान् कामदेव हैं, चिन्ता नहीं करो। पुत्रभाग्य से सब अच्छा ही होगा।" पुत्ररत्न की बात सुनते ही अंजना के दुःखों का भार हल्का हो गया।

प्रभु का नाम स्मरण करते हुए अंजना का समय बीत रहा था। शुभ घड़ी में पूर्व दिशा जैसे सूर्य को प्रकट करती है वैसे ही अंजना सती ने हनुमान् पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्म लेते ही गुफा का अन्धकार दूर हो गया, प्रकाश की किरणों से सारा वातावरण झूम उठा। जंगल में मंगल हो गया। अंजना ने प्यारे पुत्र को गद्‌गद् हो उर से लगाया। अंजना के कानों में मुनिराज के अमृत वचन बार-बार गूँज रहे थे—बेटी! तुम्हारी गोद में तद्भव मोक्षगामी पुत्र शीघ्र आयेगा। उसके पुण्य प्रभाव से तुम्हारे सारे कष्ट दूर होंगे।

पुत्र के पुण्य-प्रताप से अंजना के मामा प्रतिसूर्य विमान लेकर उस वन की ओर आये। गुफा में पहुँचकर अंजना सती से घर चलने के लिए विनय की। मामा ने कहा—"बेटी! हनूरुहद्वीप को चलो, वहाँ इस बालक का जन्मोत्सव उत्साह से मनायेंगे। अंजना ने भगवान् की वंदना की और पुत्र को गोदी में लेकर गुफा के अधिपति गंधर्वदेव से बार-बार क्षमा माँगकर प्रतिसूर्य मामा के परिवार और बसंतमाला सहित विमान में बैठ गई। बालक चञ्चल व वीर था। विमान आकाश मार्ग से चलने लगा। कौतुककर, हँसता खेलता बालक माता की गोद से उछलकर विशाल पर्वत पर जा गिरा। अंजना का करुण विलाप सुन सभी द्रवित हो रहे थे। मामा बालक को

ढूँढने निकले। नीचे जाकर देखते हैं कि जिस शिला पर बालक गिरा वह चूर-चूर हो चुकी थी और बालक एक शिलाखंड पर सुख से अपना अँगूठा चूसता हुआ खेल रहा था।

बालक की स्थिति देख प्रतिसूर्य आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने अंजना से कहा—"पुत्री! यह चरमशरीरी, कामदेव, समचतुरस्रसंस्थान वज्रवृषभनाराच संहनन का धारी है, इसके गिरने से शिला खण्ड-खण्ड हो गयी है।" प्रतिसूर्य ने तद्भवमोक्षगामी सिद्धपद का कारण जानकर उस बालक की परिवार सहित तीन परिक्रमा दी और अंजना सहित सभी हनूरुहद्वीप पहुँचे। राजा ने स्वर्गलोक के समान बालक के जन्म का उत्सव किया। शिला को चूर्ण करने से बालक का नाम श्रीशैल और हनुरुहद्वीप में जन्मोत्सव मनाने से हनुमान नाम लोक में प्रसिद्ध हुआ।

अन्य कोई दर्शनकार हनुमान को पवन याने हवा का पुत्र मानते हैं। कल्पना या थोथी उड़ान की भी तो कोई सीमा होनी चाहिए। क्या आज तक किसी ने हवा से मानव को उत्पन्न होते देखा है? लकीर के फकीर बनना ठीक नहीं। पवनपुत्र हनुमान का अर्थ क्या है? पवन, हनुमान के पिता थे। वे मानव जैसे मानव ही थे। वे बन्दर नहीं मानव थे। उनका वानरवंश था। हनुमान बन्दर नहीं थे, पूँछ वाले मानव भी नहीं थे, सुन्दर सुशील जिनेन्द्रभक्त, वीतराग जिनेन्द्र के मार्ग पर चलने वाले सौम्य आकृति वाले थे।

हनुमान को नाना विकृत रूपों में मानना भूल है। कई दर्शनकार उन्हें बालब्रह्मचारी मानते हैं। अनेकों रानियों के स्वामी हनुमान को बालब्रह्मचारी कहकर अवर्णवाद करना न्यायसंगत नहीं है।

सत्यवादी हनुमान ने सत्य की ओर कदम बढ़ाया था। वीतरागप्रभु राम के वे अनन्य सहयोगी एवं गुप्तचर का कार्य करने वाले स्नेही थे। सीता के वियोग में विह्वल राम का उन्होंनें बहुत उपकार किया। सीता की खोज में उन्होंने अथक परिश्रम किया है।

जैन धर्म में २४ तीर्थंकर बताये हैं। उनमें बीसवें तीर्थंकर के समय की यह सब घटनाएँ हैं। हनुमान् मुनिसुव्रतनाथ प्रभु के आराधक थे। वे पूर्ण अहिंसक थे।

हनुमान सुखपूर्वक राज्य करते थे। प्रतिदिन जिनमन्दिर में जाकर वीतराग प्रभु की वंदना स्तुति, पूजा करते थे। वे अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना, सुमेरु की वंदना आदि शुभ कार्यों में अपना समय व्यतीत करते थे। एक दिन वे जिनेन्द्र भगवान की वीणा वादित्र आदि अनेक प्रकार के वाद्यों के साथ स्तुति करके मन्दिर से बाहर आये और अपनी रानियों सहित सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी। भरतक्षेत्र के मार्ग में सूर्य अस्त हो गया। कृष्णपक्ष की रात्रि थी। चन्द्रमा के बिना धरती शोभाहीन हो रही थी। हनुमान ने सुरदुन्दुभी पर्वत पर रात्रि व्यतीत की। रात्रि को आकाश में एक तारा टूट गया सो देखते ही संसार की असारता का चित्र सामने खिंच आया।

संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो हनुमान वन की ओर चल दिये। उन्होनें वन में

दिगम्बर, चारणऋद्धि धारक, धर्मरूप रत्न संयम से मंडित मुनिराज के पास जाकर दैगम्बरी दीक्षा धारण की। हनुमान के साथ साढ़े सात सौ विद्याधर राजाओं ने संयम रत्न से अपने को सुसज्जित किया था। वीर तपोधन, बुद्धिमान, महापुरुष हनुमान पंच महाव्रत, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का निर्दोष पालन कर ध्यानाग्नि की पावन प्रचण्ड तपन में कर्मों को भस्मीभूत कर महाराष्ट्र प्रान्त के 'तुंगीगिरि' से मुक्ति पधारे।
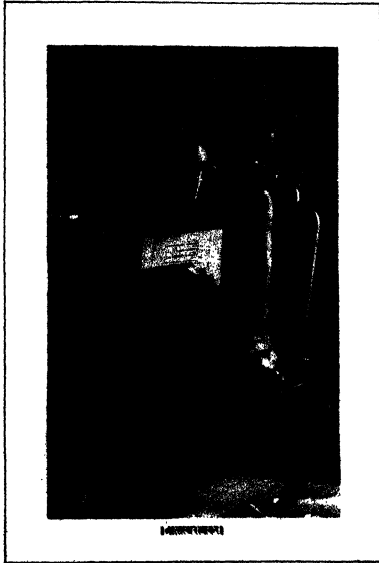
जैन साहित्य में लङ्केश्वर

❑ आर्यिका स्याद्वादमतीजी

जैन दर्शन के अपूर्व आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी की परंपरा में श्री उमास्वामी आचार्य ने संस्कृत भाषा में एक सूत्रग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में तत्त्व का अभूतपूर्व निचोड़ करते हुए आचार्य श्री ने गागर में सागर की सूक्ति को चरितार्थ किया है। प्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में पदार्थों के जानने की अनेक पद्धतियों का सूत्ररूप में सुन्दर चित्रण है। सर्वप्रथम आचार्यश्री ने प्रमाण और नयपद्धति का विवेचन किया जिससे पदार्थ का यथार्थ ज्ञान हो सके।

"प्रमाणनयैरधिगमः" प्रमाण और नय के द्वारा तत्त्व का या पदार्थों का ज्ञान होता है। आगे कहा—"नामस्थापना द्रव्यभावतस्तन्न्यासः" नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के द्वारा भी पदार्थों का ज्ञान होता है। यह निक्षेप विधि है।

जैनाचार्यों द्वारा निरूपित वस्तु-व्यवस्था अपने आप में सुव्यवस्थित है। वहाँ अन्धविश्वास जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। तीन लोक के कण-कण को खोजा जावे तो ज्ञात होगा जैनदर्शन की निक्षेप विधि से कोई पदार्थ अछूता नहीं है। "किसी वस्तु में यह वह है इस प्रकार आरोपण करना निक्षेप विधि है।"

संसार के किसी भी कोने में कोई ऐसा पदार्थ है क्या, जिसका कोई नाम नहीं है? छोटे से छोटा बड़े से बड़ा हर पदार्थ नाम निक्षेप से सुसज्जित है। चेतन-अचेतन प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई नाम अवश्य है यही नाम निक्षेप विधि है। इस विधि में गुणों की अपेक्षा नहीं है। मात्र लोक-व्यवहार चलाने के लिए पदार्थों में निक्षेप कर दिया जाता है। जैसे—धनपाल, हाथीसिंह, इक्ष्वाकु वंश आदि। नाम तो धनपाल है पर दरिद्री है, नाम तो हाथीसिंह है पर शरीर से दुबला-पतला है। इसी प्रकार लोक-व्यवहार मात्र चलाने के लिए अनादिकालीन जाति वंश की परम्परा में नाम बदलते रहे। कोई हरिवंश, कोई राक्षसवंश, कोई वानरवंश आदि आदि। राक्षसवंशी गुणवान मानव-विद्याधरों को राक्षस कहना, वानरवंशी को वानर-बन्दर कहना न्यायसंगत नहीं है। उनके वंश का नाम वानर या राक्षस था, नरयोनि मानव ही थी। नाम निक्षेप गुणों की अपेक्षा नहीं रखता है।

जैन शास्त्रों के अनुसार सृष्टि में कोई वस्तु सर्वथा हेय या उपादेय नहीं है। वस्तु का हेय-उपादेय भाव उसके उपयोग पर आधारित है। जैसे अग्नि है—वह अच्छी है या बुरी है, दीपक अच्छा है या बुरा है? दीपक जब पढ़ने में सहायक हो तब उपादेय है और यदि उससे

आग लग जाये तो वह हेय है, हानिकारक है। इसी प्रकार शब्द स्वयं में न अच्छा है और न बुरा है। जिनेन्द्र की स्तुति या गुणानुवाद या किसी का सम्मान करते हैं तो वह शब्द उपादेय है और किसी को गाली देते हैं तो वह हेय है इसलिए जैनाचार्यों ने बताया कि वस्तु स्वयं में न बुरी है न भली है। उन्होंने कहा—"वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है।

आपको ऐसे महापुरुष की जीवन-प्रभा से परिचित करायें जिसका उत्तरभारत में कोई नाम भी नहीं लेना चाहता, जो अपनी प्रतिभा से, अपने गुणों से शलाका-महापुरुष के रूप में आज भी जैन पुराणग्रन्थों में अपने नाम को पाता है। भावी तीर्थंकर, निकट भव्य राक्षसवंशी 'रावण' जिनभक्ति का अनुरागी, त्रिखण्डाधिपति, दृढ़-प्रतिज्ञ, राजनीतिज्ञ आदि गुणों से शोभायमान महामानी पुरुष था। दुनिया सारी झुक सकती है पर वह नहीं झुका, प्राण निकल गये पर मान नहीं निकला, एक गलती ने अनेक गुणों को विलीन कर दिया।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में दानवीर, उदार, शूरवीर परोपकारादि गुणालंकृत राजा रत्नश्रवा की राजनगरी लंका थी। राजा की प्राणप्रिया, गुणालंकृता, धर्मनिष्ठा, विदुषी केकसी नाम की रानी थी। एक दिन रात्रि में रानी रत्नमहल में सुन्दर सेज पर सो रही थी। निद्रा खुली। अपने पति के उत्तमोत्तम गुणों का चिन्तवन करती हुई और पुत्र की उत्पत्ति की वांछा करती हुई लेट रही थी कि रात्रि के पिछले पहर में महान् आश्चर्य के करने वाले तीन शुभ स्वप्न देखे। प्रातः रानी-राजा सिंहासन पर विराजमान हुए, तब रानी ने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की—"हे नाथ! आज रात्रि के चतुर्थ पहर में मैंने तीन शुभ स्वप्न देखे हैं। प्रथम-एक महाबली सिंह गरजता हुआ, अनेक गजेन्द्रों के कुंभस्थलों को विदारता हुआ, परमतेजस्वी, आकाश से पृथ्वी पर आया और मेरे मुख में होकर कुक्षि में आया; द्वितीय—सूर्य अपनी किरणों से तिमिर का निवारण करता हुआ मेरी गोद में आया तथा तृतीय स्वप्न—अखंड मण्डल चन्द्रमा कुमुदनियों को प्रफुल्लित कर अन्धकार को हरता हुआ मैंने देखा है। प्रियवर! ये अद्भुत स्वप्न मैंने देखे सो इनका फल क्या है?" राजा अष्टांग निमित्त को जानने वाले जिनमार्ग में प्रवीण थे। उन्होंने कहा—"हे प्रिये! तेरे तीन पुत्र होंगे जिनकी कीर्ति तीनों जगत् में फैलेगी। वे बड़े पराक्रमी, कुल के दीपक तथा पूर्वोपार्जित पुण्य से महासम्पदा के भोगने वाले और अपनी कांति तथा तेज से चन्द्रमा व सूर्य को जीतने वाले होंगे। उनमें प्रथम पुत्र आठवाँ प्रतिवासुदेव होगा।" प्रसन्नवदन रानी कहने लगी—"हे नाथ! हम दोनों जिनमार्ग रूप अमृत के स्वादी, कोमलचित्त हैं। अपने पुत्र क्रूरकर्मा कैसे? अपने पुत्र तो जिन वचन में तत्पर कोमल परिणामी होना चाहिये। अमृत की बेल पर विष कैसे लगेगा।"

प्रथम रानी केकसी के गर्भ में स्वर्ग से अवतरित हो अष्टमप्रतिवासुदेव (रावण) आया। नवमास पूर्ण होते ही रावण का जन्म हुआ। जिस समय पुत्र का जन्म हुआ, बैरियों के आसन कम्पायमान हुए। सूर्य सम तेजस्वी बालक को देखकर परिवार के लोगों के नेत्र आश्चर्य से चकित हुए थे।

देव दुंदुभि बजाने लगे, बैरियों के घरों में अनेक उत्पात होने लगे। माता-पिता ने वीर पुत्र के जन्म का अति हर्ष मनाया, प्रजा के सब भय मिट गये, पृथ्वी का पालक उत्पन्न हुआ। इस अवसर पर राजा रत्नश्रवा ने बहुत दान दिया।

मेघवाहन को रावणवंशियों के इन्द्रभीम ने एक हार दिया। वह हार बालक के समीप ही रखा था। हजार नागकुमार देव उसकी रक्षा करते थे। ऐसे हार को प्रथम ही दिन बालक ने खींच लिया, बालक की मुट्ठी में हार जाता देख माता आश्चर्य को प्राप्त हुई तथा महास्नेह से बालक को चूमने लगी तथा पिता ने बालक को हार सहित देख विचार किया कि यह अवश्य ही कोई महापुरुष है। हार के योग से पिता को बालक के दस मुख नजर आये तब उसका नाम 'दशानन' रखा। पश्चात् कुछ काल बीतने पर सूर्यसम तेजस्वी मोक्षगामी कुम्भकर्ण हुए, पश्चात् चन्द्रनखा बहिन और कुछ काल बीतने पर महासौम्य धर्मात्मा एवं पापकर्म से रहित विभीषण ने माँ केकसी की कोख को धन्य किया।

युवावस्था को प्राप्त दशानन अनेक राज-कन्याओं का स्वामी हुआ। राजा मय की पुत्री मंदोदरी उसकी प्रमुख रानी थी, जिसके गर्भ से मुक्तिगामी इन्द्रजीत और मेघनाद जैसे वीर बालकों ने जन्म लिया। रावण के एक लाख पुत्र और सवा लाख नाती थे। वैभव की कमी नहीं थी। परन्तु क्षणभंगुर संसार में शुद्ध चिदानन्द चैतन्यमयी आत्मा के सिवाय कोई वस्तु शाश्वत नहीं है यही जैन दर्शन की तत्त्व व्यवस्था है।

रावण वीतराग जिन-धर्मावलम्बी था। वीतराग भगवान् की भक्ति में उसकी अकाट्य श्रद्धा थी। सच्चे देवशास्त्रगुरु का उपासक था। एक बार कैलाश पर्वत स्थित जिन-मन्दिर में दर्शन को पहुँचा। चन्द्रहास खड्ग को जमीन पर रख कर रानी मन्दोदरी के साथ जिनेन्द्रदेव की भक्तिपूर्वक अर्चना करने में लीन हो गया। भक्ति करते हुए वीणा का तार अचानक टूट गया। भुजा में से नस रूपी तार निकालकर वीणा समान बजाते हुए भक्ति में तल्लीन हो गया। रावण द्वारा जिनेन्द्रदेव की महास्तुति करने से धरणेन्द्र का आसन कम्पायान हुआ। तब अवधिज्ञान से रावण की भक्ति का वृतान्त जानकर हर्ष से रोमांचित हुए। नागों के राजा धरणेन्द्र पाताललोक से कैलाश पर्वत पर आये। विधिवत् मनोज्ञ द्रव्यों से भगवान् की पूजा करने के बाद वे रावण से बोले—"हे भव्य! तुमने भगवान की स्तुति बहुत की और जिनभक्ति के सुन्दर गीत गाये। हमको तुम्हारी भक्ति से अति आनन्द हुआ है। हे राक्षसेश्वर! लंकेश्वर! तुम धन्य हो जो जिनराज की स्तुति करते हो। तुम्हारे निर्मल परिणाम व जिनभक्ति से संतुष्ट हो हम यहाँ आये हैं सो तुम मनोवांछित वर माँगो जो वस्तु मनुष्यों को भी दुर्लभ है वही मैं तुम्हें दूँगा।" निस्पृही, क्षत्रिय रावण ने कहा—"हे नागराज! जिनवंदनातुल्य दुनियाँ में कोई वस्तु शुभ नहीं, जिसे माँगू।" धरणेन्द्र ने बहुत कहा किन्तु रावण ने यही कहा—"जिन वन्दना के समान कोई महारत्न दुनिया में नहीं है, मुझे जिनभक्ति से बढ़कर कुछ नहीं चाहिये।"

धन्य है रावण की अनुपम भक्ति। रावण अति उदारचित्त था। धरणेन्द्र को रावण ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और अमोघविजयनामा शक्तिविद्या देकर अपने स्थान को चले गए।

एक समय दशानन अनन्तवीर्य केवली के समवसरण में जिनदेव के दर्शनार्थ पहुँचा। दर्शन के तुरन्त बाद वहीं समवसरण में धर्मरथ मुनि के दर्शन किये। धर्मरथ मुनिराज करुणामूर्ति महादयालु थे। मुनिश्री ने रावण से कहा—"हे भद्र ! यह धर्मरत्न का द्वीप है और भगवान केवली महामहेश्वर हैं इसलिए रत्नद्वीप से कुछ नियमरूप रत्न ग्रहण करो।" रावण भोगासक्त था उसके चित्त में चिन्ता हुई—"मैं कौन सा व्रत ग्रहण करूँ।" रावण शाकाहारी मानव था। वह विचारने लगा—मेरा खान-पान सहज ही पवित्र है, मांस आदि मलिन वस्तुओं से रहित मेरा पौष्टिक शुद्ध आहार है। मैं अणुव्रत धरने में असमर्थ, महाव्रत कैसे धार सकता हूँ? अहो ! धन्य हैं वे नरोत्तम! जो मुनिव्रत धारते हैं। जो निर्ग्रन्थ व्रत लेते हैं वे मानो अग्नि की ज्वाला पीते हैं, पवन को वस्त्र में बाँधे हुए पहाड़ को उठाते हैं। मैं एक नियमरत्न को ग्रहण करता हूँ—परस्त्री को, अत्यन्त रूपवती भी क्यों न हो, बलपूर्वक अपनी वासना का कभी शिकार नहीं बनाऊँगा।

केवली भगवान् को प्रणाम कर देव, मनुष्य और असुरों की साक्षी में रावण ने कहा—"हे भगवन्! जो परनारी इच्छारहित है मैं उसका कभी सेवन नहीं करूँगा" यह मेरा नियम है।

कर्मों की गति विचित्र है। रावण की बहन चन्द्रनखा का पुत्र शंबूक था। वह सूर्यहास खड्ग की सिद्धि हेतु किसी एकान्त वन में बांस के बीड़े में बैठकर विधिवत् साधना कर रहा था। बारह वर्ष बीत चुके थे। उस खड्ग का नियम था कि १२ वर्ष के बाद सिद्धि होने पर ७ दिन में यदि इसे नहीं लेगा तो उसका स्वामी दूसरा व्यक्ति बन जायेगा। १२ वर्ष ४ दिन बीत गये सूर्यहास खड्ग की गंध से दिशाएँ सौरभमयी हो रही थीं। अचानक लक्ष्मण को उसकी सौरभ ने मोहित किया। वे वहाँ पहुँचे। खड्ग की धार को जानने की कल्पना से उन्होंने वह खड्ग उसी बीड़े पर चलाया, तुरन्त सूर्यहास खड्ग के देव इनके चरणों में नतमस्तक हो उनका सत्कार करने लगे। बीड़े के भीतर साधनाशील शंबूक की गर्दन कट चुकी थी। अनजान अवस्था में बहुत बड़ा अनर्थ हो गया। परन्तु इसी रहस्य ने राम-रावण युद्ध की घटना को प्रोत्साहित कर दिया।

चन्द्रनखा के पति खरदूषण के राज्य में क्रांति छा गई। क्रोध की लपेट में सारा राज्य, प्रान्त उबल पड़ा। खरदूषण तथा लक्ष्मण में युद्ध चालू हो गया। तभी शम्बूक के मामा रावण भी क्रोधाग्नि में जलते हुए युद्धक्षेत्र में जा रहे थे कि रूप यौवन से सम्पन्न रूपवती सीता को दण्डक वन में अकेली बैठी देख, रावण कामवेदना से विह्वल हो उठा और धर्म कर्म को भूल अचानक समय पाते ही सीता को पुष्पक में बैठाकर हरण कर ले गया। अहो! कामदेव की विचित्रता।

रावण का अष्टान्हिका पर्व में प्रजाजन के लिए व्रत-नियम धारण करने का आदेश—

महाशान्ति के कारण श्री शांतिनाथजी का जिनालय कैलाश पर्वत पर था। वहीं से अष्टान्हिका पर्व धूमधाम से मनाने का निर्णय रावण ने किया। शांतिनाथ जिनालय जाने के पूर्व उसने मन्दोदरी को आज्ञा दी—"तुम मंत्रीजन व कोटपाल को बुलाकर यह घोषणा नगर में करवाओ कि—अष्टान्हिका पर्व में सभी प्रजाजन समस्त व्यापार आदि छोड़कर व्रत-नियम ग्रहण करें व जिनेन्द्रदेव की पूजा करें और धन-इच्छुकों को इच्छित धन दें, अहंकार का त्याग करें। मेरे राज्य में कोई किसी प्रकार की हिंसा न करे। इन दिनों में जो कोई क्रोधकर विकार करेगा वह अवश्य ही सजा पाएगा।" यह आज्ञा मंदोदरी को देकर रावण आठ दिनों के लिए कैलाश पर्वत पर शांतिनाथ जिनालय में जा पहुँचा।

राजाज्ञा का पालन करती हुई सारी प्रजा जिनभक्ति, पूजा में अनुरागी हो निर्मल भाव कर संयम नियम का पालन कर अष्टान्हिका पर्व मनाने लगी। जिस देश की राजा-प्रजा दोनों का मन धर्म में लीन है उस देश या राज्य की उन्नति को कौन रोक सकता है?

रावण एक महान् साधक था। ध्यान में उसकी एकाग्रता देख ऐसा लगता था मानो कोई मुनि ध्यानस्थ हो कर्म जंजीर काटने में अग्रसर तथा आत्मलीन हो। रावण ने बहुरूपिणी विद्या अष्टान्हिका पर्व में साधने का निर्णय किया। देवों के मद को भी हरण करने वाली यह विद्या चौबीस दिन में सिद्ध होती है। रावण विद्यासिद्धि के लिए शान्तिनाथजी के मन्दिर पहुँचा। साधना-तत्पर हो, क्रोधादि कषायों का त्याग कर निर्मद हो वह निश्चल बैठ गया। रावण की निश्चलता देख दुर्जन पुरुषों ने रावण को अनेक प्रकार से कोप आदि उत्पन्न करने का उपाय किया, नाना प्रकार उपसर्ग किये किन्तु रावण जरा भी चलायमान नहीं हुआ। मन्दोदरी के मुख से रावण की एकाग्रता का वर्णन पद्मपुराण में दृष्टव्य है—"हे लंकेश्वर! ध्यानविषै चित्त लगाया न काहू की सुनो, न देखो, अर्धपर्यंकासन धर बैठे, अहंकार तज दिया, जैसा सुमेरु का शिखर अचल होय तैसे अचल होय तिष्ठे। सर्व इन्द्रियनि की क्रिया तजी, विद्या की आराधनाविषै तत्पर निश्चल शरीर महाधीर ऐसे तिष्ठे हो मानों काष्ठ के हो, अथवा चित्राय के हो, जैसे राम सीता को चिंतवे तैसे तुम विद्या को चिंतवो हो, स्थिरता कर सुमेरु के तुल्य भए हो।" धन्य है ऐसे साधक की साधना। एक कवि ने कहा—बहुरूपिणी विद्या की साधना के समय साधक रावण की निश्चलता जैसी थी यदि वही साधना आत्मकल्याण मुक्ति के लिए होती तो शायद रावण उसी भव से मुक्ति को प्राप्त हो जाते।

वास्तव में उत्तर प्रान्त में रावण का नाम भी कोई लेना नहीं चाहता है जबकि दक्षिण प्रान्त मद्रास आदि नगरों में रावण की प्रशंसा के गीत आज भी गाये जाते हैं। अनेकों उपसर्गों के आने पर भी रावण ने विद्या को सहजता से सिद्ध किया। परिणामों में निर्मलता थी। मन्दिर से घर/राजमहल को पहुँचा। सीता का मोह विह्वल कर रहा था। राम के वियोग में सीता

व्याकुलचित्त उदास बैठी थी। तभी दृढ़प्रतिज्ञ रावण ने सीता को आकर्षित करने के अनेकों उपाय किये, पर असफल रहा।

फिर भी त्रिखण्डाधिपति रावण का तत्वचिंतन, पश्चाताप के शब्द प्रशंसनीय एवं मननीय हैं। रावण सीता से कहता है—"हे देवी! मैं पापी हूँ। कपट से मैंने तुम्हारा हरण किया—यह बात क्षत्रिय कुल में उत्पन्न धीर-वीर पुरुषों के सर्वथा उचित नहीं है, परन्तु कर्म की गति ऐसी विचित्र है, मोहकर्म बड़ा बलवान् है, और मैंने पूर्व में अनन्तवीर्य स्वामी के समीप व्रत लिया कि जो परनारी मुझे नहीं चाहती हो, मैं उसे बलात् सेवन न करूँ, चाहे वह रंभा, उर्वशी अथवा और कोई भी मनोहर हो, मुझे कोई प्रयोजन नहीं। संयम या लिये हुए व्रतों के प्रति अगाढ़ श्रद्धा मननीय है।" पुनः रावण ने कहा—"हे देवी, उत्तम सुन्दरी! मैं तेरी अभिलाषा करता हूँ परन्तु बलपूर्वक रमने वाला नहीं हूँ।"

पतिव्रता सीता की अवस्था, उसकी दृढ़ता देख रावण का हृदय कोमल हो गया, वह दुखी हुआ। चिन्ता करने लगा—अहो! कर्म के योग से राम-सीता के स्नेह का क्षय नहीं है, और मैंने ऐसे स्नेहवान् युगल का वियोग किया, पापाचारी, महानीच जन समान मैं अपयश रूप मल से लिप्त हुआ। पर मान कषाय ने उसे खा डाला। वह नाना प्रकार पश्चाताप करते हुए भी मान से जकड़ गया। कहने लगा—महामानी, युद्धाभिलाषी कुल के स्वाभिमान का सवाल है, मैं वीर हूँ कायर नहीं, युद्ध क्षेत्र में सामना करूँगा। कषाय बड़े-बड़े तत्वज्ञों को भी डुबा ले जाती है। देखिये—नीतिशास्त्र में प्रवीण, लोक-व्यवहार में निपुण, व्याकरण का पाठी, महागुणों से मंडित रावण भी कर्मों के तीव्र उदय में अनीति मार्ग को प्राप्त हुआ। मान कषाय की एक चिनगारी ने प्राणों का हरण कर लिया। मरना मंजूर है, पर झुकना मंजूर नहीं। पर किसी भी एक गलती को देखकर सैकड़ों गुणों पर पानी फेर देना मानवता नहीं है। कर्मोदय की तीव्रता में किसी का वश नहीं चलता है। आ. गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन ग्रन्थ में लिखते हैं :—

> दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात्क्वचि-
> ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमशतं दृष्टमन्धौऽप्ययम्॥
>
> दृष्टाप्नोति न तावदास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जगद्।
> विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोऽप्यगात्तत्पदम्॥२५०॥

समस्त गुणों के आधारभूत महात्मा के यदि दुर्भाग्यवश कहीं चन्द्र के लाञ्छन के समान चारित्रमोह आदि के कारण कोई दोष उत्पन्न हो जाता है उसको देखने के लिए अन्धा (मन्दबुद्धि) भी समर्थ हो जाता है, तो वह दोषदर्शी इतने मात्र से उस महात्मा या महापुरुष के स्थान को प्राप्त नहीं कर लेता है। जैसे अपनी ही प्रभा से प्रकट किये गये चन्द्र के कलंक को समस्त संसार तो देखता है किन्तु उसकी पदवी को कोई प्राप्त नहीं होता है।

दशानन रावण जैसे महापुरुष की एक गलती का आश्रय लेकर उसे कलंकित करना, उसका

पुतला बनाकर जलाना महान् संकल्पी हिंसा है। भारत देश महापुरुषों का देश है। इस देश में महापुरुषों के गुणों की ओर दृष्टिपात करना नागरिकों का सच्चा धर्म है। यदि हम दूसरे की ओर एक अंगुली दिखाते हैं तो अपनी ओर तीन अंगुलियाँ रहती हैं।

कितनी विचित्रता है कि कोई व्यक्ति एक रावण बनाकर जलाता है और करोड़ों व्यक्ति तालियाँ बजाकर हर्ष से अनुमोदना करते हैं, सबके सब महापाप का उपार्जन करते हैं। बाहर के रावण को जलाने से कल्याण नहीं होगा, अपने अन्दर बैठे क्रोध, मान, माया, लोभ, अन्याय, छल, कपट, मिथ्या, निदान, आदि अनेकों रावणों को जलाने से कल्याण होगा। महापुरुषों के एक अवगुण का भंडाफोड़ करना और अपने सैकड़ों अवगुणों का ज्ञान नहीं करना अज्ञानियों का कार्य है।

दुष्टजनों को पर का छोटा राई बराबर अवगुण भी पर्वत दिखता है जबकि अपना पर्वत बराबर दुर्गुण भी राई बराबर नहीं भासता। सज्जन बनो, दुर्जनता दानवता की पोषक है। रावण ने सिर्फ मान किया, पर सीता का शीलहरण अन्त तक नहीं किया। गुरुसाक्षी से लिए व्रत को उसने अन्त तक निभाया। व्रतों की दृढ़ता निकट भव्यता की साक्षी है। यही कारण है कि महापुरुष रावण भविष्यकाल में तीर्थंकर पद प्राप्त कर, मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करेगा।

हिन्दुओं के आराध्य भगवान् महावीर

❑ परिपूर्णानन्द वर्मा

मैं हिन्दू हूँ। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता हूँ—कम से कम मेरी परम्परा ने मुझे यही विश्वास दिया है। पर मैं हृदय से जैन धर्म का भक्त भी हूँ। मुझ से प्रायः मेरे साहित्यिक तथा राजनैतिक मित्र पूछते हैं कि मैं जैन मत पर इतना आसक्त क्यों हूँ, और जब उसे इतना मानता हूँ तो जैनी क्यों नहीं हो जाता?

प्रश्न अच्छा है और मेरा उत्तर भी बुरा नहीं है। मेरा विश्वास है कि बिना हिन्दू बने जैनी श्रेष्ठ जैनी बन सकता है पर बिना जैन आचार-संहिता के अपनाए मैं अच्छा हिन्दू नहीं बन सकता। हमने जैन धर्म से उसका अध्यात्मवाद लेकर अपने विशाल धर्म को विशालतम बना लिया है। जैनियों ने हमसे कर्मकाण्ड लेकर अपने को बहुत कुछ आगे बढ़ाया, ऐसा मैं नहीं मानता। अच्छे हाथों में पड़कर कर्मकाण्ड हमें कल्याण की ओर ले जाता है, पर जरा-सी त्रुटि से तथा नादानी से उसमें उलझकर मनुष्य ऊपर उठने के बजाय नीचे दुबका रहता है। ठीक वैसे ही जैसे वास्तविक तंत्रशास्त्र की गरिमा को पशु-तांत्रिकों ने पतन का साधन बना दिया—चाहे हिन्दू तांत्रिक हो, बौद्ध या जैनी तांत्रिक हो।

जैन परम्परा के विशाल विज्ञान की बात अलग रख दीजिए। केवल भगवान् महावीर की तीन बातें अगर हम पकड़ लें तो आज का अनर्थमय संसार कितना बदल सकता है। भगवान् महावीर ने कहा है कि कर्म में पूर्ण अनासक्ति हो। चित्त में राग-द्वेष लेशमात्र भी न हो और वह परम शान्त हो। परिग्रह की भावना पूर्णतः समाप्त हो जाए। आज संसार का एकमात्र रोग है परिग्रह जो जितना नोच सके, लूट सके, प्राप्त कर सके, उतना भी उसे कम प्रतीत होता है। आज की परिग्रह की भावना से ही सब राग, द्वेष, कुकर्म, अशांति पैदा हो रही है, बढ़ रही है। पर हम रातदिन घड़ी-घण्टा बजाकर देवता को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं और जिन बातों से देवता, हमारे मन के भीतर बैठा देवता प्रसन्न हो सकता है, उसके प्रति नितान्त उदासीन हैं तब फिर हिन्दू होते हुए भी हमें क्या मिला? क्या हम आवागमन, पुनर्जन्म, संसार के रोग-व्याधि से लेशमात्र भी ऊपर उठ सके हैं?

कूर्मपुराण में कहा है कि दैत्य की सेना को जीतने वाली श्रेष्ठ सौ देवियाँ ईश का दर्शन करने की इच्छा से जब शंकर भगवान के सामने आयीं तो उनका अद्भुत रूप देखकर उन्होंने उनसे पूछा कि आप कौन हैं? शंकर ने उत्तर दिया—अहं निष्क्रियः शान्तः केवलो निष्परिग्रहः।" अर्थात् मैं निष्क्रिय, शांत, अद्वितीय तथा परिग्रह शून्य हूँ। वीतराग भगवान महावीर के अद्वितीय

शान्त, निष्क्रिय रूप में तथा उपर्युक्त वर्णन में क्या अन्तर है? वीतराग ने तपश्चर्या द्वारा पापक्षय तथा कर्मक्षय की बात सिखलाई थी। वीतहोत्र नामक पौराणिक राजा की कथा तो प्रसिद्ध है कि उसने अपने पाप को क्षय करने के लिए बारह वर्ष तक कन्दमूल का सेवन किया तथा बारह वर्षों तक केवल वायु का भक्षण किया तब उसके पापों का क्षय हुआ। यदि हम अपने पाप का क्षय करने के लिए केवल देवता के आशीर्वाद के भरोसे बैठे रहें तो क्या कभी उसका क्षय हो सकता है?

बड़े से बड़े महापुरुष तथा उच्च से उच्च आत्माएँ कर्म का, व संस्कार का क्षय कष्ट भोग कर करते हैं। रामकृष्ण परमहंस को बार बार उनके इष्ट का साक्षात्कार होता था। पर उन्होंने स्वयं अपने शिष्यों से कहा था कि अपने संस्कार का क्षय करने के लिए ही वे गले के कैंसर के अत्यधिक पीड़ामय रोग को भोग रहे हैं। महर्षि रमण को कैंसर रोग ने वर्षों तक कष्ट देकर प्राण लिया। तपस्वी अरविन्द जब रोग-शय्या पर पड़े थे तो उनके शिष्यों ने उनसे पूछा कि आप अपने को स्वस्थ क्यों नहीं कर लेते? उन्होंने भी उत्तर दिया था कि संस्कार के क्षय के लिए कष्ट सहन की तपस्या अनिवार्य है।

अहिंसा और अस्तेय इन दो बातों पर जैन धर्म बहुत बल देता है। विष्णुपुराण (३१९/२४-३३), गरुड़ पुराण (१/१०२/१-६), अग्निपुराण (१६१/१-३१), पद्मपुराण (१/१५/३४८-३९२) तथा भागवत (७/१३/१-४६) में यति का जो धर्म बतलाया गया है तथा कूर्मपुराण ने यति के जो धर्म गिनाए हैं वे भगवान महावीर के ही अहिंसा तथा अस्तेय का प्रतिपादन करते हैं। कूर्मपुराण में यहाँ तक लिखा है—

> स्तेयादभ्यधिकः कश्चिन्नास्त्यधर्म इति स्मृतः।
> हिंसा चैषापरा दिष्टा या चात्मज्ञाननाशिका॥ (२/२९/३०)

चोरी से बढ़कर और कोई अधर्म नहीं है। चोरी आत्मज्ञान को नष्ट करने वाली दूसरी हिंसा कही गई है। अमरकोष के अनुसार हिंसा का अर्थ है 'चौर्यादिक कुकर्म'।

> हिंसा चैव न कर्तव्या वेधहिंसा तु राजसी।
> ब्राह्मणैः सा न कर्तव्या यतस्ते सात्विका मताः॥

हलायुध कोष के अनुसार 'धर्म' का अर्थ है 'सुकृत, न्याय, आचार, सत्संग तथा अहिंसा।' हम हिन्दू कैसे अपने को धर्मात्मा कह सकते हैं यदि हम हिंसक हैं,यदि हम सत्कर्म नहीं करते, यदि हमारा आचार ठीक नहीं है। यदि हम न तो सत्संग करते हैं और न ही न्यायपूर्ण जीवन बिताते हैं, तब भी हम अपने को हिन्दू कह सकते हैं पर हम धार्मिक व्यक्ति हैं, यह कहना झूठ होगा।

मैं इन्हीं मोटी बातों को पकड़ कर कहता हूँ कि बिना अच्छा जैनी हुए मैं अच्छा हिन्दू नहीं बन सकता। जैन धर्म के आचार्यों ने किसी भी धर्म का खण्डन-मण्डन करके अपने को

ऊँचा साबित करने का प्रयास भी नही किया। मैं यहाँ स्याद्वाद या अनेकांतवाद पर न जाकर केवल जैन आचार्यों की निष्पक्ष विचारधारा की ओर संकेत करना चाहता हूँ। आचार्य क्षेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि 'हमने जो कुछ लिखा है वह पक्षपातवश या द्वेष-भाव से नहीं। केवल श्रद्धा के कारण। न आपके प्रति, हे वीर, हमारा कोई पक्षपात है और न द्वेष के कारण अन्य देवताओं में अविश्वास है। किन्तु, यथार्थ रूप में परीक्षा करके ही हमने आपका आश्रय लिया है।'

कोई झगड़े की बात तो जैन धर्म कहता भी नहीं है। जैन परम्परा केवल एक धुरी पर घूमती रही है। वह धुरी केवल एक लक्ष्य है—अनन्त ज्ञान। जिसे वह प्राप्त हो गया, उसे सब कुछ मिल गया। आचारांग-सूत्र ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—

जे एगं जाणई से सव्वं जाणई।

जे सव्वं जाणई से एगं जाणई।

उसी ने कहा है—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

ऐसा कौन हिन्दू है जो आत्मतत्त्व के ज्ञान को गौण समझे?

आचार्य हरिभद्र ने अपने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में जिस सुन्दरता के साथ योग के महत्त्व का प्रतिपादन किया है वह हरेक हिन्दू के लिए अनमोल है। योग का अर्थ प्रायः 'ध्यान' है। जैन दर्शन के अनुसार बिना ध्यान के ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। हेमचन्द्र ने 'योग शास्त्र' में, योगविजय सूरि ने 'द्वात्रिंशिका' में पंतजलि, योग वासिष्ठ तथा तैत्तिरीय उपनिषद् की यौगिक क्रियाएं भी दी हैं। हिन्दू ग्रंथ 'योगसार' ने जो लिखा है वह जैनी भी स्वीकार करेंगे। धर्म का लक्षण ही प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा तथा स्मरण (जैनी सामायिक) है।

जब इतना मेल है जैन तथा हिन्दू विचारधारा में तो हिन्दू जैनी से भेदभाव क्यों करे? वह मूर्खता का युग तो चला गया जब हम जैनी मन्दिर में जाना भी पाप समझते थे। वह मूर्खता तो समाप्त हुई। पर दूसरी मूर्खता समाप्त होनी चाहिए कि हम एक दूसरे को भिन्न समझें। जैन धर्म नास्तिक नहीं है। जीव की सत्ता में विश्वास करने वाला नास्तिक हो ही नहीं सकता। झगड़ा इतना ही है कि एक ही आत्मा सब में व्याप्त है या सब आत्मा अलग अलग हैं। जब हम निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि ईश्वर है तो कैसे निश्चित रूप से कह दें कि आत्मा एक है।

संत कबीर ने कहा है—

भारी कहूं तो बहु डरूं, हल्का कहूं तो झूठ।
मैं का जानु राम को नैना कबहु न दीठ॥

जैन धर्म कहता है कि आशा-निराशा के चक्कर में न पड़ो। पुरुषार्थी (आत्मदर्शी) होकर आगे बढ़ो। यही बात तो अष्टावक्र अपनी गीता में कह गए हैं कि जो आशा के दास होते हैं वे दुनिया भर के दास हो जाते हैं। जो आशा को दासी बना लेते हैं वे संसार के स्वामी बन जाते हैं—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

अस्तु, मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि हमने जैन धर्म को समझने की चेष्टा नहीं की। मैं तो यही कहूंगा कि भगवान् महावीर की अमरवाणी यदि भूल से भी किसी के कान में पड़ जाए तो उसका कल्याण होगा। पर यह कार्य अ-जैनी के द्वारा होना चाहिए। जैन समाज तो बहुत कुछ कर रहा है। पर हम क्या कर रहे हैं?

✧✧✧

भगवान महावीर और उनका अवदान

❑ नेमिचन्द्र जैन

महावीर के जन्म से पहले भारत की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थिति ऐसी थी जो परिवर्तन चाहती थी। उस समय देश में धर्म के नाम पर हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था। देश में ऐसे अनेक मठ थे जहाँ रहकर साधु लोग विभिन्न प्रकार की तामसिक तपस्याएँ किया करते थे। कितनी ही ऐसी संस्थाएँ थी जहाँ विद्या की अपेक्षा कर्मकाण्ड की विशेषकर यज्ञ की प्रधानता थी। उन यज्ञों में पशुओं का बलिदान धर्म समझा जाता था। समाज में एक ऐसा बड़ा दल था, जो अपने पूर्वजों के परिश्रमपूर्वक उपार्जित गुरुपद को अपने जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्थापित करता था। स्त्रियों, शूद्रों और विशेषकर अतिशूद्रों को किसी भी बात से आगे बढ़ने का पूरा अवसर नहीं मिलता था। उस समय मुख्यरूप से दो विचारधाराएँ प्रवाहित थी।

पुरोहित वर्ग कर्मकाण्ड का समर्थक था। उसकी प्रबल मान्यता थी कि विश्व-कल्याण, जिसमें देवता भी सम्मिलित हैं, और उसका अस्तित्व इस बात पर निर्भर है कि वे अपनी बलिप्रथाओं (याज्ञिक क्रियाकाण्डों) का निर्वाह कहाँ तक कर पाते हैं। पुरोहित वर्ग ने बहुदेववाद को लोकप्रिय बनाया। ये देवी-देवता प्रायः प्राकृतिक शक्तियाँ होते थे। मनुष्यों को एकमात्र उन देवताओं की कृपा पर आश्रित बताया गया था और केवल पुरोहितों में ही यह क्षमता थी कि वह बलि-क्रियाओं के द्वारा जनसाधारण को देवताओं की कृपा प्राप्त करायें। यह वैदिक धर्म और उनके अनुयायियों की मूल विचारधारा थी जो कि भारत में बाहर से, मुख्यतः उत्तर पश्चिम से आयी और व्यापक रूप में फैले कर्मकांडीय विधानों की रहस्यमयी सम्मोहन क्षमता के कारण धीरे-धीरे दक्षिण और पूर्व में फैलती गयी, यद्यपि उसके प्रभाव में आने वाले अनुयायियों की संख्या सीमित ही रही।

इसके साथ ही साथ किन्तु इससे सर्वथा भिन्न, भारत के पूर्वांचल में गंगा-यमुना के तटवर्ती हरे-भरे उर्वर जनपदों में से सन्यासी उपदेशक ऋषियों की विचारधारा भी प्रवहमान थी जिनके पास धार्मिक चिन्तन और मनन के लिए पर्याप्त समय था। मनुष्य स्वयं अपना निर्माता है, उसके विचार, उसके शब्द और उसके क्रिया-कलापों ने ही उसे मानव रूप प्रदान किया है। यह उसके अपने हाथों में ही था कि वह अपने वर्तमान या भविष्य को बनाये या बिगाड़े। अतीत के महान उपदेशक मनुष्य को धर्मपथ पर ले जाने के लिए आदर्श प्रेरणा स्रोत हैं। पूर्वांचल की इस धार्मिक विचारधारा में न तो किसी ऐसे देवता का स्थान है जो विश्व का निर्माता है और उसके पदार्थों मे हस्तक्षेप रखता हो। और न ऐसे किसी पुरोहित का, जिसमें किसी विशिष्ट

देवता को सन्तुष्ट करने के लिए कोई जादुई क्षमता विद्यमान हो। इस विचारधारा का नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर जैसे तीर्थकरों ने, तथा महात्मा बुद्ध जैसे बौद्धधर्म प्रवर्तकों ने भलीभाँति प्रतिनिधित्व किया।

भगवान महावीर इस युग के अंतिम (२४वें) तीर्थंकर थे। भगवान महावीर ने जनसाधारण के कल्याण के लिए जो उपदेश दिया उसे गणधरों ने आगम ग्रन्थों में गूंथा है। उनकी व्याख्या के लिए निर्युक्तियाँ, चूर्णियाँ, भाष्य और टीकाएँ उपलब्ध हैं। जैन साहित्य के निष्पक्षता और तुलनात्मक अध्ययन से जीवन के प्रति जैन दृष्टिकोण को अच्छी तरह समझा जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से धर्मपथ पर प्रत्येक आत्मा की, उसके विकास की विभिन्न श्रेणियों के अनुरूप एक निश्चित स्थिति है। यह स्थिति उसके कर्मों की सीमा से बंधी है। जैनधर्म के अनुसार ईश्वर न तो विश्व का कर्ता है और न किसी को हानि-लाभ पहुँचाता है। प्रत्येक प्राणी को अपने सभी भले-बुरे का कर्म-फल भोगना ही होगा।

सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की उन्नति के लिए जैनधर्म में कुछ नैतिक मानदण्ड स्थापित किये गए हैं। व्यक्ति जब तक समाज का सदस्य है, अपने विकास के साथ-साथ समाज के प्रति भी उसका पूर्ण दायित्व है। यदि वह गार्हस्थ्य जीवन त्यागकर सन्यास धारण कर ले तो समाज के प्रति उसका दायित्व कुछ घट जाता है। जैनधर्म के अनुसार गृहस्थ जीव (यदि व्यक्ति उन मर्यादाओं का पालन करता है जो गृहस्थों के लिए निर्धारित है) साधु जीवन का लघु रूप ही है क्योंकि कोई भी गृहस्थ अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए स्वयंको मुनि-पद के योग्य बना सकता है।

अहिंसा जैन जीवनदर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसी अहिंसा की दिव्य ज्योति विचार के क्षेत्र में अनेकान्त के रूप में प्रकट होती है तो वचन-व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद के रूप में जगमगाती है और समाज की शान्ति के लिए अपरिग्रह के रूप में स्थिर आधार बनती है। यानी आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ये चार महान् स्तम्भ हैं जिन पर जैनधर्म का महान् प्रासाद खड़ा हुआ है। युग-युग में तीर्थंकरों ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार किया है।

वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध हो रहा है वह भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट हैं। उन्होंने जो कुछ अपनी दिव्यध्वनि से कहा उसको इनके शिष्य—गणधरों ने ग्रन्थरूप में गूँथा। अर्थागम तीर्थंकरों का होता है और शब्द रचना गणधर करते हैं।

भगवान महावीर ने जिन सिद्धांतों का उपदेश रूप में प्रतिपादन किया है वे हैं अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, स्याद्वाद और अनेकान्त।

अहिंसा

जिस समय भगवान महावीर का जन्म हुआ था उस समय देश में सर्वत्र नरबलि और पशुबलि का बोलबाला था। उन्होंने इसका विरोध कर अहिंसा का रास्ता अपनाने पर जोर दिया। अहिंसा जैन जीवन दर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धांत है जिसका तात्पर्य है समस्त जीव जगत् के प्रति यथासंभव उदारता का पालन करना। जैनधर्म के अनुसार जीव मात्र के प्रति हिंसा का भाव लाना भी पापबंध का कारण है। जैनधर्म में जीव सृष्टि की निर्धारित श्रेणियां है जिन्हें कष्ट या हानि न पहुँचाने का प्रयत्न करना प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का परम कर्तव्य है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी महत्ता एवं गरिमा है इसलिए प्रत्येक को दूसरों की गरिमा का भी उतना ही आदर करना चाहिए जितना कि वह अपने लिए दूसरों से आशा करता है। अहिंसा का पालन दृष्टि एवं समष्टि, व्यक्ति और समाज दोनों स्तर पर आवश्यक है। इस प्रकार उदार आचरण के लिए क्रोध, अहंकार, पाखंड, ईर्ष्या और द्वेष आदि से मुक्त होना चाहिए। भगवान महावीर ने छोटे-से-छोटे जीव से लेकर बड़े-से-बड़े प्राणी के प्रति अहिंसा का व्यवहार करने का उपदेश दिया।

सत्य

जैन आचार शास्त्र का एक दूसरा गुण है सत्य। सत्य बोलने से व्यक्ति समाज का विश्वासपात्र बनता है। पारस्परिक विश्वास एवं सुरक्षा की भावना का शुभारंभ अपने निकटतम पड़ोसी से होना चाहिए, फिर इसका विकास व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया जाना चाहिए।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् जो बात अपने को बुरी लगती है उसका व्यवहार दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए। ऐसा संकल्प सिद्धान्त में ही नहीं, बल्कि व्यवहार में भी होना आवश्यक है। इसको जीवन में उतारने से व्यक्ति साधारण से महान् और महान् से महानतम बन सकता है। सत्य का उपदेश करते हुए भगवान ने कहा है कि हे मानव तू सत्य को पहचान। सत्य ही लोक में सार तत्व है। अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले असत्य वचनों का प्रयोग मत कर। सत्य बोलने से इस भव में और उस भव में भी सुख मिलता है।

अचौर्य

किसी भी वस्तु को उसके मालिक की बिना आज्ञा के न लेने की व दूसरों की सम्पत्ति को हड़पने की इच्छा न रखे अचौर्य अणुव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति चोरी करने की क्रियाओं से स्वयं तो विरत रहता ही है, वह दूसरों को चोरी करने की प्रेरणा भी नहीं देता। मुनाफाखोरी नहीं करता, नापने-तोलने के मापों को सही रखता है। अच्छी वस्तु में घटिया वस्तु मिलाकर

नहीं बेचता।

ब्रह्मचर्य

'ब्रह्म आत्मान चरतीति ब्रह्मचर्यः अर्थात् आत्मा में रमण करना और अपनी इन्द्रियों को वश में रखना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला व्यक्ति देव और मानवों द्वारा पूज्य बनता है।

अपरिग्रह

अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करना अपरिग्रह है। अपरिग्रह अणुव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति जीवन के उपायों की सामग्री का परिमाण निश्चित करता है, अधिक सामग्री का संचय नहीं करता है। भगवान महावीर ने भी यह उपदेश दिया कि जीवन में अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह नहीं करें। यदि तुम्हारे पास आवश्यकता से अधिक कोई वस्तु है तो तुम उसे दूसरे लोगों में बाँट दो जिसकी उन्हें आवश्यकता है। आज के समाजवाद की नींव जैनधर्म के इसी सिद्धांत पर आधारित है।

सामाजिक जीवन में अणुव्रतों का पालन करने वाला व्यक्ति जब अपने व्यक्तित्व का विकास करता है तो वह अपने व्रतों की मर्यादाओं की ओर बढ़ता जाता है। पाँच अणुव्रत के साथ वह अन्य व्रत भी स्वीकार करता है जिन्हें गुणव्रत और शिक्षाव्रत कहा गया है—वे इस प्रकार हैं:

गुणव्रत—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत
शिक्षाव्रत—सामायिक, प्रौषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग।

महाव्रती बनने के लिए वह एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ता है अर्थात् क्रम से अपना विकास करता चलता है। आत्मविश्वास की इन सीढ़ियों को प्रतिमाएं कहा गया है। ये प्रतिमाएं ११ प्रकार की होती हैं। (१) दर्शन प्रतिमा, (२) व्रत प्रतिमा, (३) सामायिक प्रतिमा, (४) प्रौषधोपवास प्रतिमा, (५) सचित्तविरत प्रतिमा, (६) दिवामैथुन विरत प्रतिमा, (७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा, (८) आरंभविरत प्रतिमा, (९) परिग्रहविरत प्रतिमा और (११) उद्दिष्टविरत प्रतिमा।

कर्म

जैनदर्शन में कर्मों का विशेष महत्त्व है। साधना और आत्मचिंतन में जैसे-जैसे साधक अग्रसर होता है, उसके आस्रव और बंध रुकते चले जाते हैं। पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होने लगती है। वह आत्मा परमात्मा बनने की ओर बढ़ता चलता है। ये कर्म ८ प्रकार के होते हैं। संक्षेप

में इनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

१—ज्ञानावरणीय कर्म—जीव के ज्ञानगुण का आवरण करता है।

२—दर्शनावरणीय कर्म—जीव के दर्शनगुण का आवरण करता है।

३—वेदनीय कर्म—जीव को इन्द्रियों के द्वारा सुख और दुःख का अनुभव कराता है।

४—मोहनीय कर्म—क्रोध विकारमय भाव इसी कर्म के उदय से होते हैं।

५—आयु कर्म—कर्म श्रृंखला की तरह शरीर में आत्मा को रोक रखता है।

६—नाम कर्म—नाम कर्म के उदय से आत्मा की नाना योनियों में और नरकादि पर्यायों में नामांकित करता है।

७—गोत्र कर्म—गोत्र कर्म के उदय से उच्च अथवा नीच कुल में उत्पन्न होता है।

८—अन्तराय कर्म—यह कर्म भंडारी की तरह दाता और पात्र आदि के बीच में आकर दान आदि में विघटन पैदा करता है।

तत्त्व

भगवान महावीर ने जिन सात तत्त्वों का उपदेश दिया है—वे इस प्रकार हैं: (१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष।

१- जीव—जिन पदार्थों में चेतना शक्ति पाई जाती है उसे जीव कहते हैं।

२- अजीव—जिन पदार्थों में चेतना शक्ति नहीं होती अर्थात् जड़ पदार्थों को अजीव कहते हैं।

३- आस्रव—अच्छे या बुरे कर्मों के द्वार को आस्रव कहते हैं। आत्मा की ओर कर्मों का आना ही आस्रव है। जिस प्रकार नाले का गंदा पानी तालाब में या नदी में गिरकर तालाब या नदी को गंदा कर देता है उसी प्रकार संसार के विषय इन्द्रियों के नाले से आत्मा में प्रवेश करते हैं और उसको मलिन कर देते हैं।

४- बंध—आत्मा का कर्मों में और कर्मों का आत्मा में मिल जाना ही कर्मबन्ध है।

५- संवर—आत्मा में कर्मों का प्रवेश न होने देना ही संवर कहलाता है। संवर का अर्थ है रोकना। भले-बुरे कर्मों के आस्रव को आत्मा में जाने से जो रोक देता है वही संवर है।

६- निर्जरा—कर्मों के प्रभाव को तप आदि साधनों द्वारा निर्जरण कर डालना अर्थात् ऐसे उपाय करना जिनसे कर्म क्षय हो जायें, निर्जरा है। जिस प्रकार पुरानी लकड़ी को अग्नि जल्दी ही जला देती है उसी प्रकार राग से रहित होकर और क्रोध का परित्याग करके जीव अपने कर्मों को जल्दी नष्ट कर देता है।

७- मोक्ष—समस्त कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त कर लेना मोक्ष है।

द्रव्य

भगवान महावीर ने संसार की रचना के सम्बन्ध में छः मूलभूत द्रव्यों का प्रतिपादन किया है। वे छः द्रव्य इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। यह चराचर जगत् इन्हीं द्रव्यों से व्याप्त है।

अनेकान्त

अनेकान्त भगवान् महावीर या जैन विचार दर्शन की आधार शिला है। हम अनेकान्त दर्शन को न्यायाधीश के पद पर अनायास ही बैठा सकते हैं। इसी से जैनदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस अतुल सत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता है। जैनदर्शन ने इस अनेकान्त दृष्टि के आधार से बनी हुई महत्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूंजी जमा की है।

जैन दर्शन के क्षेत्र में अनेकान्तवाद का सिद्धांत भगवान् महावीर की नयी देन है। महावीर ने तत्कालीन विचारकों द्वारा उठाये गये प्रश्नों का यथोचित समाधान भी किया है। उस युग के दार्शनिकों की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि जीव और परमाणु का अवस्थाभेद की दृष्टि में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। संक्षेप में यही अनेकान्तवाद के सिद्धांत का मूल कारण है और उसका पहले-पहले सर्वसम्मत समाधान महावीर ने किया।

भगवान महावीर के समकालीन महात्मा बुद्ध के समक्ष तत्कालीन विचारकों ने तीन प्रश्न रखे— (१) संसार नित्य है या अनित्य, वह सान्त है या अनन्त? (२) आत्मा तथा शरीर में सम्बन्ध क्या है? और (३) मृत्यु के बाद जीव की क्या स्थिति है?

बुद्ध के समक्ष ये तीन प्रश्न थे जिनका उत्तर उन्होंने नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने जो मार्ग चुना था उसकी दृष्टि से इन प्रश्नों का कोई सम्बन्ध न था। इन प्रश्नों का उत्तर देने में उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं का खण्डन होता था। अतः उन्होंने अव्याकृत कहकर टाल दिया।

महावीर के समक्ष भी वे प्रश्न रखे गये। भगवान तथागत की भांति वे इन प्रश्नों का उत्तर टाल नहीं सकते थे। उन ग्रन्थों पर विभिन्न विचारक जो अलग अलग राय दे चुके थे, उनकी परीक्षा करके महावीर ने उन्हें स्वीकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पक्षों का समन्वय किया। यह समन्वय क्या था? अनेकान्तवाद। भगवान् महावीर ने इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया—

(१) जगत् सान्त भी है और अनन्त भी। अपेक्षाभेद से लोक सान्त है क्योंकि संख्या में एक है, किन्तु पर्यायों की दृष्टि से वह अनन्त भी है। क्योंकि लोक द्रव्य के पर्याय अनन्त हैं।

लोक अनन्त है, इसलिए वह शाश्वत (नित्य) है। क्योंकि तीनों कालों में उसका अस्तित्व है। लोक शान्त होने से अनित्य है क्योंकि उसकी भी एक परिधि है और वह आकाश में नहीं है।

(२) इसी प्रकार महावीर के मत से, आत्मा शरीर से अभिन्न भी है और भिन्न भी है। जिस अवस्था में शरीर आत्मा से भिन्न है उस अवस्था में शरीर रूपी और अचेतन है। किन्तु जिस अवस्था में शरीर आत्मा से अभिन्न है उस अवस्था में शरीर अरूपी और अचेतन है।

(३) जीव की मरणोत्तर अवस्था के सम्बन्ध में महावीर स्वामी ने कहा है कि जीव की दो अवस्थायें है—एक, शुद्धावस्था और दूसरी अशुद्धावस्था। शुद्धावस्था को प्राप्त जीव अशुद्धावस्था को नहीं लौटता। इसलिए जीव का मरणोत्तर अवस्था में भी अस्तित्व बना रहता है। क्योंकि जीव द्रव्य नष्ट नहीं होता। अतः जीव शुद्धावस्था या सिद्धावस्था में तो अमर (सत्य) है और संसारावस्था या कर्मावस्था में मरणशील। इसी प्रकार द्रव्य तथा क्षेत्र की अपेक्षा से जीव सान्त हैं, किन्तु काल तथा भाव की अपेक्षा से अनन्त हैं।

भगवान् महावीर ने अपेक्षाभेद से द्रव्य के एकत्व और अनेकत्व के सम्बन्ध में जो समन्वयवादी विचार व्यक्त किये हैं जैनागमों में उनका उल्लेख इसी प्रकार किया गया है। महावीर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द उमास्वामी आदि ने भी अनेकान्तवाद पर बड़ी गंभीरता से विचार किया है।

स्याद्वाद

स्याद्वाद का सिद्धांत जैन तत्त्वज्ञान की आधारशिला है। स्याद् और वाद इन दो शब्दों के योग से स्याद्वाद शब्द की निष्पत्ति हुई है। स्यात् का अर्थ कदाचित्, किसी प्रकार से या किसी अपेक्षा से। वाद कहते हैं सिद्धांत या मन्तव्य को। अतः उसकी परिभाषा हुई वस्तु के तत्त्व-निर्णय में जो वाद या अपेक्षा की प्रधानता पर निर्भर है वह स्याद्वाद है।

स्याद्वाद के अनुसार वस्तु अनेक धर्मात्मक है। अनेकान्त के विचार के लिए स्याद्वाद की भाषा का प्रयोग करते समय वस्तु-स्वरूप का कथन करने के लिए जो वचन व्यवहार होता है उसे सप्तभंगी कहते हैं। सात भंग या प्रकार होने के कारण इसे सप्तभंगी सिद्धांत कहा गया है—ये सात भंग इस प्रकार हैं—

१. स्यादस्ति—कथंचित् है।

२. स्यान्नास्ति—कथंचित् नहीं है।

३. स्यादस्तिनास्ति—कथंचित् है भी और नहीं भी है।

४. स्यादवक्तव्य—कथंचित् अवर्णनीय है।

५. स्यादस्ति अवक्तव्य—कथंचित् है किन्तु अवर्णनीय है।

६. स्यान्नास्ति अवक्तव्य—कथंचित् नहीं है किन्तु अवर्णनीय है।

७. स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य—कथंचित् है भी और नहीं भी है किन्तु अवर्णनीय है।

लोक में देखा जाता है कि एक व्यक्ति पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भानजा आदि सब कुछ है। ये अनेक धर्म लोकदृष्टि से एक ही व्यक्ति में सिद्ध हैं। जैसे ये अनेक धर्म एक ही व्यक्ति में रह सकते हैं उसी प्रकार एक ही पदार्थ में नित्य और अनित्य, दोनों प्रकार के धर्म भिन्न अपेक्षा से रहते हैं। यह सापेक्ष सिद्धांत हमें बताता है कि जो व्यक्ति अपने पुत्र का पिता है, वह अपने पुत्र का पुत्र नहीं हो सकता, किन्तु एक अपेक्षा से वह भी अपने पिता का पुत्र है। उसी दृष्टि से पदार्थ, द्रव्य की अपेक्षा नित्य हैं, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से अनित्य हैं। पूर्ण सत्य भी सापेक्ष सत्य है। वास्तव में स्याद्वाद सिद्धांत को समझने के लिए वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को समझ लेने के बाद कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

जैन दर्शन को समझने के लिए जैन सिद्धांत ग्रन्थों का अध्ययन करने पर ही व्यक्ति उसकी गहराइयों तक पहुँच सकता है। ऊपर जिन सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है वे बहुत संक्षेप में हैं। इधर कुछ वर्षों से विद्वानों का रुझान इस ओर बढ़ा है। परिणामस्वरूप इन विषयों पर शोधकार्य भी हुए हैं और हो रहे हैं।

✧✧✧
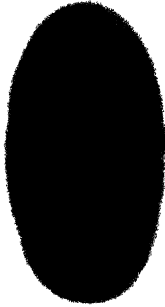
दक्षिण (तमिल प्रान्त) मे जैनधर्म

❑ पं मल्लिनाथ शास्त्री, मद्रास

जैनधर्म के प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का जन्म उत्तर भारत में हुआ था। उन महात्माओं के पंचकल्याणक-स्थल भी उत्तर भारत में ही हैं। सारे तीर्थंकर परमदेवों ने संसार-शरीर-भोगों की असारता को जानकर अपने सारे भोग-वैभवों का परित्याग किया और तप धारण कर, तपश्चर्या के द्वारा संपूर्ण कर्मों का विनाश कर मोक्षलक्ष्मी के नायक बने। इन महापुरुषों की चर्या अन्य लोगों के लिए मार्गदर्शक है।

जब भगवान महावीर घातिया कर्मों को नष्ट कर, केवलज्ञानलक्ष्मी के अधिनायक बने, तब सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा समवसरण की रचना हुई। देवाधिदेव सर्वज्ञ महावीर ने समवसरण के माध्यम से सारे भारतवासियों को अहिंसाप्रधान जैनधर्म का उपदेश दिया। उनके प्रचारक्षेत्र में द्राविड़ देश (तमिलनाडु) भी एक है। क्योंकि उनकी वाणी का प्रचार तामिलनाडु में भी हुआ है। इसमें कोई शक नहीं है कि भगवान महावीर के समय से ही यहाँ जैन धर्म का अस्तित्व रहा। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु जब अपने संघ के साथ दक्षिण पधारे, तभी से तमिलनाडु में जैनधर्म का प्रचार हुआ, उसके पहले यहाँ जैन धर्म और जैनधर्मानुयायी नहीं थे। यह बात बिल्कुल गलत है। इसमें समझने की बात यह है कि दिगम्बर मुनियों का कड़ा नियम रहता है। वह यह है कि उन्हें श्रावक श्रद्धा-भक्ति के साथ जो निर्दोष आहार देगा, उसी को ग्रहण करेंगे, नहीं तो उपवास स्वीकार करेंगे। पेट भरने के लिए जहाँ जिसके हाथ जो मिले, उसे ग्रहण कर खाने वाली बात नहीं है। इस प्रकार दिगम्बर मुनि श्रावकों से प्राप्त शुद्ध आहार ही ग्रहण करते हैं।

श्रुतकेवली भद्रबाहु के संघ में उत्तर से दक्षिण आये हुए, बारह हजार मुनिराज सर्वप्रथम श्रवणबेलगोला में ठहरे। आचार्य महाराज का आदेश हुआ कि चार हजार मुनिगण यहाँ कर्नाटक में रहें। आठ हजार मुनिगण तमिलनाडु जावें और धर्म का प्रचार करें। ऐसी अवस्था में, आये हुए आठ हजार मुनिराजों की आहार-व्यवस्था के लिए कितने श्रावकों की जरूरत पड़ेगी यह अनुमान करने की बात है। अर्थात् लाखों की संख्या में श्रावकों की जरूरत रही होगी। श्रुतकेवली भद्रबाहु महाराज मुनियों की चर्या याने आहार शुद्धि से अनभिज्ञ नहीं थे। यदि तमिलनाडु में, जैन श्रावकों की संख्या नहीं होती तो आठ हजार मुनियों के संघ को तमिलनाडु नहीं भेजते। इससे निर्विवाद सिद्ध है कि भद्रबाहु महाराज के संघ तमिलनाडु आने के पहले से ही, जैन धर्म यहाँ मौजूद था और लाखों की संख्या में जैन लोग निवास करते थे, इसी कारण ही इतने

बड़े मुनिसंघ का यहाँ पर आगमन हुआ और उन त्यागीवृन्दों की सेवावृत्ति बराबर चलती रही।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये भी प्रवचन-सार की अपनी भूमिका में लिखकर इस बात की पुष्टि करते हैं। दूसरी बात यह है कि मौर्य वंश के राजाधिराज महाराज चन्द्रगुप्त के जमाने में उत्तर भारत में बारह वर्ष का अकाल पड़ा। उसी कारण से, महान् आचार्य भद्रबाहु अपने बारह हजार शिष्यवृन्दों के साथ दक्षिण की ओर रवाना हुए। उत्तर में जो मुनिगण रह गये थे वे धीरे-धीरे शिथिलाचारी होकर श्वेताम्बर बन गये। उनके प्रमुख गुरु सूरिभद्र रहे। इसीलिए श्वेताम्बरों द्वारा अपने मंगलाचरण में उन्हें स्मरण किया जाता है "मंगलं सूरिभद्राद्यः"—इससे उक्त बात की पुष्टि अच्छी तरह हो जाती है। बाद में उस मत की पुष्टि के लिए ग्रन्थ रचना भी हुई। आजतक वह संप्रदाय भी चलता आ रहा है। मगर यहाँ समझने की बात यह है कि श्वेताम्बरों ने जैसे अपना गुरु सूरिभद्र को माना। तदनुसार अपने मंगलाचरण में उनको स्मरण किया। वैसे ही दिगम्बरों को भी आचार्य भद्रबाहु को अपना गुरु मानकर मंगलाचरण में "मंगलं भद्रबाहुवाद्यः" इस तरह का स्मरण करना चाहिये था। न जाने क्यों भद्रबाहु को छोड़कर मंगलाचरण में कुन्दकुन्द का स्मरण करते हैं। अर्थात् "मंगलं कुन्दकुन्दाद्यः" यह बात समझ में नहीं आती। यह विचार करने की बात है। जब आचार्य भद्रबाहु अपने शिष्यों के साथ दक्षिण की ओर रवाना होने लगे तब राजाधिराज चन्द्रगुप्त भी संसार की असारता को समझकर अपने अनुपम सार्वभौम राज्य-वैभव को तिलांजलि देकर, अपने गुरु भद्रबाहु महाराज के साथ चल पड़े। गुरु-भक्ति का यह आदर्श नमूना है। समझने की बात यह है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरूणां गुरु जो भद्रबाहु महाराज थे, उनके अनन्य शिष्य रहे। उनकी नजर में गुरुभक्ति के सामने अपनी संपत्ति की कोई कीमत नहीं रही। इसलिये महामना सम्राट् अपनी सारी संपदा को लात मारकर, गुरु के चरणानुगामी बने। इससे हमें शिक्षा पाने की जरूरत है कि सम्राट चन्द्रगुप्त की संपत्ति के सामने अपनी संपत्ति कुछ भी नहीं है। फिर भी हम त्याग का नाम लेते ही कोसों दूर भागते हैं, यह कितनी बड़ी विडम्बना है। इन सभी बातों की पुष्टि करने वाले कई शिलालेख श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर मौजूद हैं। डाक्टर लूईस राथिस, डा. बी.ए. स्मिथ, डा. ब्लीड और नरसिंहाचारी आदि विज्ञानवेत्ता भी इसे स्वीकार करते हैं।

तमिलनाडु के पास में जो लंका द्वीप है ई. पू. पाँचवीं शताब्दी में वहाँ भी जैनधर्म मौजूद था। इस बात को बौद्ध ग्रन्थ महावंश सिद्ध करता है। उसमें यह बताया गया है कि वहाँ के राजा ने श्रमण साधुओं के निवास के लिये 'गिरि' नाम का साधना-गृह बनवाया था और उन साधु-महात्माओं के निमित्त जिनालय का निर्माण भी कराया था। विशेष बात यह है कि पुराने जमाने में तमिलनाडु से लंकाद्वीप जाने का पैदल रास्ता भी मौजूद था। उस समय जैन मुनिगण उस रास्ते के जरिये तमिलनाडु से लंकाद्वीप गये होंगे। वे साधुवृन्द तमिलनाडु के ही होने चाहिये। क्योंकि जैन साधु समूह न तो जहाज से जा सकते हैं और न किसी अन्य वाहन से। मुनि का नियम रहता है ईर्यासमिति से चलना। इससे उपरोक्त कथन की पुष्टि हो जाती

है।

इन सभी कारणों से, अर्थात् ई. पूर्व पाँचवीं शताब्दी में लंकाद्वीप में भी जैनधर्म का मौजूद रहना, वहाँ के मुनियों का तामिलनाडु का होना आदि कारणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भद्रबाहु महाराज के मुनिसंघ के तमिलनाडु आने के पहले ही, यहाँ जैन धर्म मौजूद था और जैनीलोग लाखों की संख्या में निवास करते थे।

जैन साधुओं की सेवा—तमिलप्रान्त में जैन धर्म का प्रचार, प्रसार कार्य जैन साधुओं के हाथ में था। जैसे आजकल ईसाई धर्म के गुरु (Fathers) उन के धर्म का प्रचार करते हैं वैसे ही ये मुनिगण धार्मिक प्रचार-कार्य में दत्त-चित्त रहते थे। ये साधु महात्मा संघ के द्वारा सब जगह पहुँचकर धर्म का प्रचार किया करते थे। ये त्याग धर्म के आराधक निर्ग्रन्थ वीतरागी एवम् तपोनिष्ठ होते थे। उन्हें आहार प्राप्त करने के सिवाय और किसी तरह की बाह्य अपेक्षा समाज से नहीं थी। अतः उन लोगों को तप आराधना के अनुकूल एकान्त स्थान की आवश्यकता होने से पहाड़ की कंदरायें ही उपयुक्त थीं। उनको न तो मकान या महल की जरूरत थी और न ही भोग सामग्री की। वे सारे संत तो राजवैभव को भी तृणवत् समझकर तिलांजलि दे चुके थे और मोहमायामयी भोगलालसा से भी सुदूर रहने वाले महान् निस्पृही थे। उन महात्माओं को किसी तरह की तुच्छ चीज की भी जरूरत नहीं रहती थी। वे एकदम वासना से विमुक्त थे। वे साधुगण आहारग्रहण करने के बाद सिर्फ तीन तरह का कार्य किया करते थे। वे ये हैं—आत्मध्यान, धर्म प्रचार, ग्रन्थ निर्माण। इसके सिवाय, उन महात्माओं को दूसरा और कोई काम नहीं रहता था। इसलिए उनके जमाने में धर्म का प्रचार खूब हुआ और अमूल्य ग्रन्थराजों की सृष्टि भी। वे संत ज्ञान के भंडार तो थे ही उनको समय की कमी भी नहीं थी। फिर ग्रन्थ-रत्नों की सृष्टि में कमी कैसे हो सकती थी? कदापि नहीं।

उनके जमाने में जिन-जिन अमूल्य ग्रन्थों की सृष्टि हुई, उनमें से मत-विद्वेष के कारण अनेकों नदी में बहा दिये गये और लाखों को अग्नि में स्वाहा कर दिया गया। ऐसी भयंकर अवस्थाओं से बचकर आजकल जो कुछ उपलब्ध हैं वे सब के सब अमूल्य रत्न हैं। यदि नष्ट किये गये सारे के सारे ग्रन्थ आज उपलब्ध होते, तो उनकी महिमा अवर्णनीय रहती। मतविद्वेष किस-किस तरह का अनर्थ कर डालता है इसका यह ज्वलन्त प्रमाण है।

श्रावक लोग ऐसे महान् साधुओं के पास जाकर, धर्म का श्रवण कर अपने जीवन को सार्थक बनाते थे। अब भी उन महर्षियों की तपस्थली या निवासभूमि—पहाड़ की गुफायें और बसतियाँ मौजूद हैं। उनके ऊपर उन त्यागी महात्माओं के नाम अंकित हैं। जिनमें नाम नहीं हैं उनकी संख्या अनगिनत है। इस तरह सारे तमिल प्रान्त में निस्वार्थ त्यागी साधुगण जैनधर्म का डंका बजाते थे। उन पहाड़ों की गुफाओं को देखने से ऐसा भान होता है कि ये मौन हो, अपनी कहानी सुना रही हों।

पुराने जमाने में मद्रास शहर इतना विशाल नहीं था जितना आजकल है। कांजीपुर, तंजौर, मदुरै आदि नगर उस समय बहुत व्यापक थे अतः श्रमण सन्तों ने उधर के समणमले, कलुगुमले, तिरुच्चारणत्तुमले आदि स्थलों को प्रधान बनाकर कई जगहों पर विद्यानिकेतनों को जन्म दिया और उन कलानिकेतनों के द्वारा जैन सिद्धांत एवम् धर्म का प्रचार किया। इन सभी बातों को कलुगुमले का शिलालेख स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है। इन सारे साधुगणों ने तन-मन जीवन सब कुछ धर्म के वास्ते समर्पण कर दिया था। रात-दिन धर्म का प्रचार करना यही उन महात्माओं का मुख्य ध्येय था। पुराने जमाने में जैन धर्म तमिलनाडु के अन्दर बहुत विशाल पैमाने पर फैला हुआ था। उसका श्रेय त्यागी महात्माओं को ही जाता है। वे साधुगण प्रजाओं को धर्म का और नैतिक आचरण का उपदेश देने के साथ-साथ अत्यद्भूत ग्रन्थरत्नों की रचनायें भी किया करते थे।

आर्यिकाएँ—प्राचीन काल में तमिलनाडु के अन्दर आर्यिकायें भी जैन धर्म प्रचार में पीछे नहीं थीं, बल्कि आगे थीं। आर्यिका मातायें, स्त्रियों को धर्मोपदेश दिया करती थी। नारियाँ साधुओं के पास जाकर धर्मश्रवण करने की अपेक्षा आर्यिकाओं के संपर्क से ज्यादा लाभ उठाती थीं। साधुगण नग्न थे, उनके पास जाने में कुछ नारियों को संकोच होता था। परन्तु आर्यिका माताओं के पास जाने में किसी तरह की हिचकिचाहट नहीं हुआ करती थी। अतः युवतियाँ आर्यिकाओं से अत्यधिक लाभ प्राप्त किया करती थीं। इस तरह साधुओं के समान साध्वियों का प्रचार भी प्रशंसात्मक रहा करता था।

ऐसी त्यागी, तपस्विनियाँ कई जगह पाठशालाओं को स्थापित कर धर्म और विद्या का खूब प्रचार करती थी। उस जमाने का शिलालेख इस बात का प्रमाण है। उदाहरणार्थ नार्थ आर्काट जिला देसूर के पास विडाल नाम का जो गाँव है वहाँ 'कनकवती' नाम की साध्वी माता पाँच सौ माताओं के लिए विद्यानिकेतन का निर्माण कर खूब शास्त्राध्ययन कराती थीं। यह कितनी महत्व की बात है। वहाँ गुफा और शिलालेख आदि मौजूद हैं। परन्तु उस गाँव में आजकल एक भी जैन परिवार नहीं है।

इस तरह तमिलनाडु में उस समय साधुओं और साध्वियों की धार्मिक सेवा अनिर्वचनीय थी। जैन धर्म का प्रचार त्यागियों के कारण है अतः उन त्यागी समूह को नष्ट कर देना चाहिये, शायद इसी उद्देश्य से कुछ विद्वेषी लोगों ने दक्षिण मथुरा के अन्दर आठ हजार मुनिराजों को शूली पर चढ़ा दिया था। आज भी उन महात्माओं का अकथनीय त्याग महामेरु के समान अनुपम एवम् अवाच्य बनकर घूम रहा है। उन महापुरुषों का धार्मिक प्रेम उपमातीत है। आज ऐसे त्यागी महात्माओं के अभाव के कारण ही, जैन धर्म का प्रचार और प्रसार तमिल प्रान्त में नहीं के बराबर है।

राजसत्ता की सहायता—कोई भी धर्म हो राजसत्ता की सहायता के बिना नहीं पनप सकता।

यह अनुभव सिद्ध बात है कि राजसत्ता के पीछे-पीछे जन समुदाय भी दौड़ता है। "यथा राजा तथा प्रजा" यह नीति समझने लायक है। पहले के जमाने में सब जगह राजाओं का आधिपत्य था न कि जनता का। उस जमाने में जनता की बात का कोई मूल्य नहीं था। राजा जिस धर्म की ओर झुकता था वही धर्म जगमगाता था। दूसरे धर्म की हालत दयनीय हो जाती थी।

एक समय तमिलनाडु के अन्दर जिन राजवंशों की सत्ता थी उनमें प्रमुख थे पल्लव, चेर, चोल और पांड्य। इन राजाओं में कुछ तो जैन धर्मानुयायी थे और कुछ जैन धर्म एवं जैनसाधुओं के प्रति आदर भाव रखते थे।

उनमें पल्लवनरेश महेन्द्रवर्मन पक्का जैन था और संस्कृत भाषा का बड़ा भारी विद्वान् भी था। उसका रचा गया "मत्तविलास प्रहसन" नाम का ग्रन्थ अत्युत्तम है। उस ग्रन्थ में, विद्वान् नरेश ने अन्य मतों का खण्डन और जैन मत का मण्डन करके सराहनीय ढंग से जैनधर्म का प्रचार किया। वह ग्रन्थ उपलब्ध है। उसे महामना प्रो. चक्रवर्ती ने प्रकाशित किया है। पल्लव वंश की एक राजमाता जैनधर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थी। यह बात तिरुमले के एक शिलालेख से स्पष्ट होती है। इसी तरह चोल राज की बड़ी बहिन कुंदवै देवी ने तिरुमले आदि कई स्थानों में जिनमन्दिर का निर्माण कराकर जैन धर्म का खूब प्रचार किया था। चोल वंश के "करिकालन्" नामक राजा अपने अन्त्य काल में जैन धर्म परम्परा अनुसार समाधि सल्लेखना धारण कर शुभ परिणाम के साथ स्वर्ग सिधारे। पाण्ड्य राजाओं में कूनपांड्यन् पहले जैन धर्मानुयायी था। बाद में शैव बन गया। उसके समय में दक्षिण मथुरा के अन्दर आठ हजार जैन मुनिगण शूली पर चढ़ा दिये गए थे। इस भयंकर अत्याचार के प्रधान कर्त्ता अमात्य कुलच्चिरै एवं राजा की स्त्री नंगयर्करसी थे। ये दोनों पक्के शैव मत के पक्षपाती थे। समझ में नहीं आता कि चाहे जितना भी मतद्वेष हो, परन्तु निरपराध एवं निर्दोषी हजारों त्यागियों की हत्या में वे लोग कैसे कटिबद्ध हुए? इस भयंकर हत्या को शैव लोग अपने पेरियपुराण में लिखकर बड़े खुश हैं। हाय मतद्वेष!

चेर राज्य के राजा लोग कई पीढ़ी तक जैन धर्मानुयायी रहे। चेर राजवंश के युवराजा इलंगो ने "चिलप्पधिकारं" नामक अद्भुत तमिलकाव्य की रचना कर जैन धर्म को प्रज्वलित किया है। इसके अलावा तिरुमले के शिलालेख जैन धर्म की महिमा को साफ-साफ बतलाते हैं। इस तरह राजा लोग और उनके वंशज जैनधर्म के अनुयायी एवं पक्षपाती रहते हुए, जैनधर्म का प्रचार करने के साथ-साथ 'पल्लि चन्दम' नाम का दान भी देते रहे। जैन मन्दिर-मठ धर्मस्थान आदि को जो दान दिया जाता है उसे 'पल्लिचन्दम' कहते हैं। इसे पी.बी. देसाई ने अपनी लेखनी द्वारा विशेष रूप से वर्णित किया है। इस तरह राजसत्ता की उदार सहायता से कई शताब्दी तक तमिलनाडु में जैनधर्म अपने आधिपत्य के साथ जगमगाता रहा। परन्तु समय ने ऐसे अत्युत्तम धर्म को पहाड़ के पीछे धकेल दिया।

जैन त्यागियों के द्वारा तमिलभाषा की सेवा

जैनधर्म के त्यागीगण अध्ययन एवं ग्रन्थरचना में अनुपम एवं अद्वितीय रहा करते थे। उनका कार्यक्रम यही रहा करता था। उन्हें इसके सिवा दूसरा कोई काम भी नहीं था। तमिल भाषा के लिए उन महात्माओं ने जो अमूल्य सेवायें दी हैं उनकी गिनती किसी भी हालत में नहीं की जा सकती। उन धर्मधुरन्धर त्यागी महासन्तों की रचनाओं में, वचन एवं अर्थ सौंदर्य की महिमा अपरंपार थी। आज तक उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के सामने अन्य रचनाकारों की न तो कोई रचना टिक सकी है और न अपना प्रभुत्व कायम कर सकी। जैन रचनायें अमर होकर आज तक अन्य जनों को आनन्द प्रदान करती आ रही हैं। ये आचार्यगण व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, पुराण, साहित्य, गणित आदि सभी विषयों में निष्णात थे, विद्वत्ता के सागर थे। उन विद्वच्छिरोमणियों से रचे गये तोलकाप्यं, याप्पेरूङ्लं, नन्नूल आदि व्याकरण ग्रन्थ अमूल्य हैं। तिरुकुरल, नालडियार, पलमोलि, अरनेरिच्चारं आदि नीति ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ हैं। सिलप्पधिकारं, जीवकचिन्तामणि, चूलामणि आदि साहित्य ग्रन्थ उत्तमोत्तम हैं। कोसगणि, ज्योतिष प्रबन्ध आदि कई अत्युत्तम ग्रन्थ हैं। ये सब अपने आचार्यों के प्रकाशमान यश को गा रहे हैं। यदि तमिल भाषा में जैन साधुसन्तों की रचनाओं को अलग कर दिया जाए तो तमिल भाषा एकदम फीकी पड़ जायगी। विशेष बात यह है कि सारी रचनायें सदाचार प्रधान एवं नीति मार्गावलम्बित हैं। अतः जैन अजैन सभी पाठक रचनाओं को आदर की दृष्टि से देखते-पढ़ते हैं।

तमिल प्रान्त के लोगों के आचरण में जैनियों की देन

अहिंसा और माँस त्याग ये जैनियों की देन है। जैनत्व का प्रधान उद्बोधन है कि धर्म के नाम से हिंसा करना सर्वथा निंदनीय एवं त्याज्य है। इसी विषय को आधारशिला बनाकर तिरुकुरल जैसे नीति ग्रन्थ का जन्म हुआ है। उक्त ग्रन्थ में कहा गया है कि—

> कोल्लान-पुलालै, मरूत्तानैक्-कैकूप्पि।
> एल्ला उयिरं तोलुम्-कुरल कव्य॥२६०॥

अर्थात् हिंसा न करने वाले और मांस को न खाने वाले महापुरुष की मनुष्य तो क्या, सारा जीवसमूह नमन करने के साथ-साथ उनको देवता समझकर प्रशंसा करेगा। इस तरह अहिंसा प्रधान जैन ग्रन्थ और अहिंसामूर्ति जैन साधुगण के जोर शोर के प्रचार से यहाँ एकदम हिंसा बन्द हो गयी और अहिंसा कायम हुई। इसके साथ मांसाहार का त्याग भी हुआ।

कुरल काव्य में लिखा है कि—मांस खाने के लिए जीव हिंसा नहीं की जाती तो मांस कहाँ से मिलता। मांस खरीदने वाला नहीं होता तो कोई बेचने वाला व्यक्ति जीव हिंसा कर के मांस नहीं लाता। खरीदने वाला होने से ही बेचने वाला होता है। जहाँ माँग है वही पूर्ति होती है।

एक समय महावीर जयन्ती पर भूतपूर्व गवर्नर जनरल राजाजी भाषण देने आये थे। उस समय उनका कहना था कि यदि तमिल प्रान्त में जैन लोग न होते तो हम सब (सारे अजैन) मांसाहारी ही रहते। अहिंसा और मांस-त्याग ये दोनों जैनियों की देन हैं इसमें कोई शक नहीं है। राजाजी का कहना बिल्कुल सत्य है। अतः अहिंसा और मांस-त्याग ये दोनों तमिल प्रान्त में, जैनियों कृपा से मिला हुआ वरदान कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

जहाँ कहीं भी जैन साधुसन्त निवास करते थे वह सारी जगह विद्या-निकेतन के रूप में जगमगाती थी। वह स्थान पाठशाला के नाम से पुकारा जाता था। विज्ञ लोगों का कहना है कि 'पाठशाला' नाम जैन साधुओं के कारण उत्पन्न हुआ। वे महात्मा गण जातीयता के भेदभाव से बिना सभी लोगों को सदाचार एवं सन्मार्ग का उद्बोधन करने के साथ-साथ, निस्पृहता से ज्ञानदान दिया करते थे। उस जमाने में राजा लोग राज्य करते थे। आजकल विद्याध्ययन की जैसी व्यवस्था देखने में आ रही हैं, उस जमाने में वैसी व्यवस्था नहीं थी। राजा-महाराजाओं के बच्चे, साधारण जनता के बच्चे—सभी को विद्याध्ययन हेतु जैन साधुओं को पास ही जाना पड़ता था। वे ज्ञान के पारावार थे तथा पक्षपात के बिना विद्याध्ययन कराते थे। वे साधुसन्त विद्याध्ययन शुरू कराते समय मंगलरूप में "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" कहकर प्रारम्भ करते थे। वह परंपरा चली आ रही थी। तमिल भाषा में 'केट्टिएण्चुवडि' नामक हिसाब सिखाने वाली किताब छपती थी। आम लोगों के बच्चों को वही किताब खरीदकर हिसाब सीखना पड़ता था। उसमें बहुत समय तक प्रारम्भ में 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' ही छपता रहा। बाद में उसे हटाकर 'हरि नमोऽस्तु सिद्धं' के रूप में बदल दिया गया है।

इससे अनुमान कर सकते हैं कि जैन साधुओं का ध्यान सदाचार एवम् सन्मार्ग की वृद्धि पर ही लगा रहता था। जनता भी उनके प्रति आदरभाव दिखाती थी और उन महात्माओं से सन्मार्ग प्रवर्तन का लाभ उठाती थी। दूसरी समझने की बात यह है कि उन साधु-महात्माओं द्वारा प्रचलित पल्लिकूडम (पाठशाला) जो नाम था, वही आज तक चला आ रहा है। कुछ पाठशालायें मुसलमानों के हाथ में चली गयी। उन्हें वे लोग आज तक पल्लिवासल (मस्जिद) के नाम से पुकारते आ रहे हैं। पल्लिकूडम और पल्लिवासल—इन दोनों शब्दों का उत्पत्ति स्थान जैन साधुओं की पाठशाला ही है। इस तरह साधुगण धर्मप्रचार के साथ-साथ विद्यादान भी दिया करते थे, जिससे साधारण अजैन जनता भी जैन साधु-सन्तों के सम्पर्क के कारण सदाचार के पथ पर चलने लगती थी। उस जमाने को स्वर्णिम युग कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

पुराने जमाने के तमिलप्रान्त के शैव-वैष्णव धर्म वालों ने परिस्थिति को अपने अनुकूल समझकर भक्तिमार्ग का प्रचार करना शुरू कर दिया। उन लोगों के भक्ति मार्ग का स्वरूप यह था कि मनुष्य चाहे जितना भी पतित हो अथवा दुराचारी हो, परवाह नहीं, परन्तु वह भगवान के प्रतिभक्ति करेगा तो निश्चय से भगवान बन जायेगा अथवा भगवान के साथ उसका ऐक्य हो जायेगा। भगवान बनने के लिए भक्तिमात्र काफी है। कोई विशेष आचरण को पालने की जरूरत

नहीं है। इसका मतलब यह है कि कोई व्यक्ति चाहे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि दुराचार जितना भी कर ले परवाह नहीं, परन्तु भगवान के प्रति एकमात्र भक्ति या आस्था रखेगा तो वह पार हो जायेगा अथवा सब पापों से छूट मिल जायेगी। कोई दिक्कत नहीं है। भक्ति करो। इस तरह का प्रचार शुरू कर दिया गया। साधारण व्यक्ति आसान मार्ग अपनाने को सहज ही तैयार हो जाता है। यही हालत हुई। उसके तमिल भाषा में पद्य रचे गये। आलसी लोगों के लिये यह वर प्रसाद-सा दिखने लगा। कुछ लोग इस आसान भक्तिमार्ग की ओर झुकने लगे। परन्तु समझदार एवम् विवेकी लोगों ने इस मार्ग पर ध्यान नहीं दिया, अपने आचरण पर डटे रहे। अन्य मतवादियों ने देखा कि इस पर भी उनकी जीत नहीं हो रही, अतः श्रमणों को मार-भगाकर धर्म परिवर्तन करना ही उचित है। इस तरह विचार कर उन लोगों ने जैनियों पर अत्याचार करना शुरू कर दिया। इसका इतिहास साक्षी है। इस भयंकर बगावत में शैव और वैष्णव दोनों ने भाग लिया। इस बात का आधार छपे हुए शैवों के पेरियपुराण और वैष्णवों के आलवार पाउल (पद्य) आदि हैं। श्री मयिले सीन वैंकट स्वामी द्वारा लिखे गये "समणमुम" तमिलुम तथा श्री टि.एस. श्रीपाल कृत "तमिलगत्तिल समणं" हैं। ये सभी छपी हुई हैं। इनमें ऊपर की सभी बातें विस्तार से देखी जा सकती हैं।

कुछ लोगों का कहना यह है कि मत या धर्म के नाम से जो संघर्ष हुआ था उस का काल ईस्वी ८वीं, ९वीं शताब्दी का है। लेकिन समणमले कलुगुमले, तिरुच्चारणत्तुमले आदि स्थानों में जो शिलालेख और साहित्य (तमिल) उपलब्ध है उनके साथ यह बात घटित नहीं होती, क्योंकि इस तरह भयंकर कलह के कारण श्रमण गण यदि खत्म कर दिये गये होते तो १0वीं शताब्दी में और बाद में ऊपर कहे गयी गुफाओं के अन्दर श्रमण सन्तों का निवास एवं उनसे रचे गये उस जमाने के ग्रन्थ आदि उपलब्ध नहीं हो सकते थे। वास्तव में, इस तरह भयंकर कलह बारहवीं शताब्दी में हुआ होगा। कलह तो अवश्य हुआ है, इसमें कोई शक नहीं है। इस कलह के कारण ज्योतिर्मय श्रमणसन्तों का निर्दयता के साथ दमन किया गया है। यह बात स्वीकार करने की है। वर्तमान में उन निस्वार्थ निरभिमान साधुओं के निवासस्थान, वहाँ पर स्थित प्रतिमायें तथा मन्दिर-मूर्तियों के खण्डहर—इन सबको देखने से ऐसा भान होता है मानो वे इन सारी दुखभरी कथाओं को कह रहे हों।

तमिलनाडु में ऊपर कहे गये मतद्वेष एवं कलह के कारण जैनत्व का काफी ह्रास हुआ और एकदम अल्पसंख्यक हो गये। परन्तु बौद्धों के समान सर्वथा अभाव नहीं हुआ। जुगुनू के समान मद्रास, चैंगलपट्टू, नार्थआर्काट, साऊथ आर्काट, तंजोर आदि जिलों में आज भी निवास करते हैं। अपने जीवन में अहिंसा, अनेकान्त, अनामिष आदि जैन तत्व के सदाचरण का आचरण करते आ रहे हैं, लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, पाखण्ड आदि अविवेकपूर्ण आचरण उनके पास तक नहीं आता। रात्रिभोजन के त्यागी होते हैं। जैनियों के जितने भी गाँव हैं, प्रत्येक गाँव में जिनमन्दिर हैं।

जैनी लोग अपनी शक्ति के अनुसार धर्म प्रभावना, धार्मिक ग्रन्थ प्रकाशन आदि सत्कार्य करते हैं। उन लोगों के दिल में धर्म के प्रति अच्छी श्रद्धा है। अरहन्त भगवान को रथ में विराजमान कर उत्सव मनाते हैं। शिखर जी आदि पवित्र तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं। श्रावकोचित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिमित परिग्रह का यथाशक्ति पालन करते हैं। मधु, मद्य-मांस का त्याग करते हैं। शक्ति के अनुसार अन्न, अभय, औषध-शास्त्र आदि दान भी करते हैं। इस तरह श्रावकधर्म का आचरण बराबर चलता है। कुछ लोग संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर तप धारण करते हुए अपने आत्ममार्ग पर आरूढ़ रहते हैं। फिलहाल अखिल भारत वर्षीय दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की तरफ से जिन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार कार्य चल रहा है। इससे जिनमन्दिरों की सुरक्षा होने लगी है। इस तरह तमिल प्रान्त के अन्दर दि. जैन धर्म की मूल परंपरा बराबर चलती आ रही है।
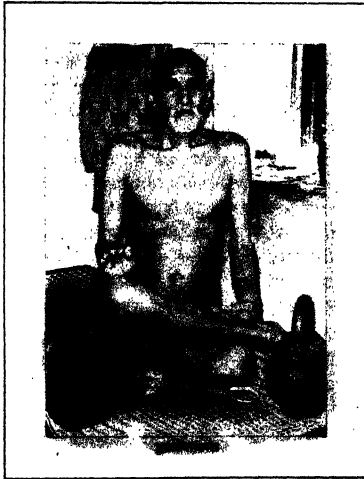
अपभ्रंश-काव्यों में वर्णित सामाजिक जीवन

❑ डॉ. राजाराम जैन

मध्यकालीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के सर्वांगीण प्रामाणिक अध्ययन के लिए अपभ्रंश-साहित्य अपना विशेष महत्त्व रखता है। उसमें उपलब्ध विस्तृत प्रशस्तियाँ, ऐतिहासिक सन्दर्भ, लोकजीवन के विविध चित्र, समसामयिक सामाजिक परिस्थितियाँ, राजनीति, अर्थनीति एवं धर्मनीति के विविध सूत्र, हास-परिहास एवं विलास-वैभव के रससिक्त चित्रांकन इस साहित्य के प्राण हैं। अपभ्रंश के प्रायः समस्त कवि, आचार्यों, दार्शनिक तथ्यों तथा लोकजीवन की अभिव्यंजना विभिन्न चरितों एवं कथाओं के माध्यम से करते रहे हैं। इस प्रकार चरितों और कथानकों द्वारा अपभ्रंश-साहित्य में मानव जीवन की विविध मूक भावनाएँ एवं अनुभूतियाँ मुखरित हुई हैं। कहना न होगा कि अपभ्रंश साहित्य एक ओर पुराण पुरुषों के महामहिम आदर्श चरितों से समृद्ध है, तो दूसरी ओर सामन्तों वणिक्पुत्रों अथवा सामान्य वर्ग के व्यक्तियों के सुख-दुख अथवा रोमांचपूर्ण कथाओं से परिव्याप्त वन विहार, उद्यान एवं जल क्रीड़ाएँ, संगीत-गोष्ठियाँ, आखेट-द्यूत एवं रास लीलाएँ, सरोवर-स्नान के समय प्रेमी-प्रेमिकाओं द्वारा आपस में एक दूसरे को छकाने के लिए वस्त्रों का अपहरण आदि चित्र-विचित्र चित्रणों से अपभ्रंश-साहित्य एक विशाल चित्रशाला की भांति अलंकृत है। चउमुह, ईशान एवं द्रोण जैसे महाकवियों ने इस विशाल चित्रशाला की नींव रखी, तो जोइन्दु, पुष्पदन्त, हरिभद्र, धनपाल, वीर, कनकामर, पद्मकीर्ति, हेमचन्द्र, अब्दुल रहमान प्रभृति काव्यकुशल सरस्वती-पुत्रों ने उसे भव्य प्रासाद का रूप दिया और यशकीर्ति एवं रइधू जैसे प्रतिभाशाली महाकवियों ने उसे सर्वतोभावेन समृद्ध बनाये रखने का अथक प्रयास किया है। इस प्रकार, अपभ्रंश-काव्यों में विक्रम की छठी शती से सोलहवीं शती तक के भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के प्रामाणिक चित्र सुसज्जित हैं। प्रस्तुत निबन्ध में अपभ्रंश-साहित्य में चित्रित लोक-जीवन के सरस एवं रोचक तथ्यों पर प्रकाश डालने का प्रयास है।

सामाजिक परिस्थितियाँ : अपभ्रंश-काव्यों में परम्परानुमोदित पौराणिक सामाजिक मान्यताओं की स्वीकृति के बावजूद स्थितियों के भी पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। उनमें कुछ ऐसी मान्यताएँ निर्दिष्ट की गई हैं, जो मध्यकालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डालती है। वैदिक वर्णाश्रम-धर्म के सिद्धान्तानुसार, ब्राह्मण का कार्य पठन-पाठन और यज्ञ-यागादि कराना था। पर, पन्द्रहवीं शती में विदेशी आक्रमण होने एवं मुसलमानों के उत्तराधिकार-सम्बन्धी पारस्परिक कलह तथा राजनीति की अस्थिरता के कारण देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी थी। फलस्वरूप, ब्राह्मण आजीविका के हेतु खेती भी करने लग गये थे। महाकवि रइधू ने अपनी एक रचना

"धण्णकुमारचरिउ" (३.३.२) में "बम्भणकिसाणु" लिखकर उसका स्पष्ट निर्देश किया है और इस प्रकार उसकी परिवर्तित स्थिति पर समीचीन प्रकाश डाला है।

जातियाँ : "धण्णकुमारचरिउ" के उपर्युक्त "बम्भणकिसाणु" पद में "किसाणु" का विशेषण "बम्भण" है और यह इस बात का द्योतक है कि ब्राह्मण जाति के किसान भी होते थे। यदि यह तथ्य न होता, तो कवि "किसाणु" शब्द से ही अपना काम चला लेता। "बम्भण-किसाणु" का उसने किसी विशेष अभिप्राय से ही प्रयोग किया है। बिहार में जहाँ ब्राह्मणों के लिए खेती करना वर्जित है और अधिकतर ब्राह्मण कृषिकर्म स्वयं नहीं करते, वहाँ राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि में ब्राह्मणों को स्वयं कृषिकर्म करते हुए देखा जाता है।

ब्राह्मण के अतिरिक्त, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों की जातियों के भी उल्लेख हुए हैं। क्षत्रियों में इक्ष्वाकुवंशी, सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, अन्धकवृष्णि एवं भोजकवृष्णियों के परम्परा-प्राप्त उल्लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, तोमर, गुर्जर, प्रतिहार एवं सोरट्ठ नामक क्षत्रिय जातियों के भी उल्लेख हुए हैं। "सिरिवालचरिउ" (५.२२) में बताया गया है कि खस एवं बब्बर जाति के डाकुओं से मराठे, सोरठे एवं गुजरों ने महायुद्ध में लोहा लिया था।

वैश्यों में अग्रवाल, पद्मावती-पुरवाल, जैसवाल, गोलाराड, पौरपाट आदि जातियों के उल्लेख मिलते हैं। अग्रवालों में गर्ग ऐण्डिल, गोयल, मित्तल, बंसल आदि गोत्रों के भी नाम प्रशस्तियों एवं ग्रन्थ-पुष्पिकाओं में प्राप्य है। साहित्य एवं कला के विविध क्षेत्रों में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है।

"धण्णकुमारचरिउ" में एक पटवारी जाति का भी निर्देश पाया जाता है। हमारा अनुमान है कि यह भी कोई वैश्य जाति है, जो पटवारीगिरी अर्थात् भूमि की पैमाइश आदि का कार्य करती थी। मध्यभारत में आज भी उन्हें पटवारी कहा जाता है, जो खेतों की मालगुजारी का लेखा-जोखा एवं बन्दोबस्ती के कार्य करते हैं, भले ही उनकी जाति कुछ भी हो।

अन्य जातियों में भील, खस, बब्बर, पुलिन्द, केवट, कलाल, सुनार, लुहार, यादव आदि के नाम मिलते हैं। खस, बब्बर एवं पुलिन्द के विषय में रइधू ने लिखा है कि ये तीनों जातियाँ जहाँ भी रहें, वहाँ किसी को स्वप्न में भी रहने का विचार नहीं करना चाहिए। कवि ने इसीलिए इनका उल्लेख आक्रमणकारी जातियों के रूप में किया है।

अस्पृश्य जातियों में डोम, मातंग, चाण्डाल, धिनिवाल एवं सुभिस जातियों के नाम मिलते हैं। "धिनिवालु" जाति नवीन प्रतीत होती है। सम्भव है कि यह वही हो, जिसे हम आजकल "कसाई" कहते हैं। इसीलिए कवि ने इसकी डोम आदि जातियों के साथ गणना की है। "सुभिस" सम्भवतः आजकल की भिश्ती जाति है। इस जाति के लोग मशक के द्वारा घर-घर पानी पहुँचाया करते थे। एक अन्य म्लेच्छ जाति का भी उल्लेख आया है, जो सम्भवतः यवन जाति के लिए प्रयुक्त है।

"सिरिवालचरिउ" में एक भांड जाति का भी उल्लेख आता है। इस जाति के कार्य आजकल के समान ही मध्यकाल में भी थे। किसी भी अच्छे व्यक्ति की नकल बनाकर उसे निम्नतर घोषित करना एवं व्यंग्योक्तियों द्वारा खरी-खोटी एवं दो टूक बातों को जनता के समक्ष रख देना इस जाति का परम्परा प्राप्त व्यापार था। श्रीपाल जिस समय धवलसेठ के द्वारा समुद्र में गिरा दिया जाता है और वह अपने पुरुषार्थ से समुद्र तैरकर उसी द्वीप में पहुँचता है, जहाँ बाद में धवल स्वयं पहुँचता है तथा श्रीपाल को वहाँ के राजदरबार में एक सम्मानित व्यक्ति के रूप में देखता है, तब धवल भांडों की सहायता से उसे अपमानित करता है तथा राजा की दृष्टि में पतित सिद्ध कर देता है। यद्यपि धवल की यह कुटिलता बाद में स्पष्ट हो जाती है।

परिवार : समाज का घटक परिवार है। प्रत्येक कवि या साहित्यकार अपनी रचना में पारिवारिक सम्बन्धों पर अवश्य ही प्रकाश डालता है। अपभ्रंश-काव्यों में भी पारिवारिक सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन मिलता है: क्योंकि कथानायक का जन्म किसी परिवार में होता है। उस परिवार में माता-पिता आदि गुरुजनों के साथ भाई, भावज, बहिन, पुत्र-मित्र, दास-दासियाँ आदि विद्यमान रहते हैं। अतः कवियों ने इसके पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा कर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी उपस्थित किया है।

यह परिवार-व्यवस्था सम्मिलित परिवार-व्यवस्था के रूप में चित्रित है अतः सास-बहू का कलह, ननद-भौजाई के झगड़े, सौतियाडाह तथा परिवार में परस्पर चलनेवाले शीतयुद्ध आदि के प्रसंग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। महाकवि स्वयम्भू ने सास-बहू के झगड़े को अनादिकालीन कहा है। सौतियाडाह के प्रसंग आनुषंगिक एवं स्वतन्त्र दोनों ही रूपों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। एतद्विषयक स्वतन्त्र कृति के रूप में "सुयंधदहमीकहा" सुप्रसिद्ध रचना है। इसी प्रकार, पुष्पदन्त-कृत महापुराण (९१.३) में एक प्रसंग आया है, जिसके अनुसार महाराज कृष्ण की सत्यभामा एवं रूक्मिणी नाम की दोनों पत्नियों में पर्याप्त ईर्ष्या चलती है। उन्होंने परस्पर यह शर्त रखी थी कि जिसके बेटे का पहले विवाह होगा, वह दूसरी का सिर मुंडवा देगी। "धण्णकुमारचरिउ" (१/९-१०) में कहा गया है कि अपने माता-पिता के अत्यन्त प्रिय धन्यकुमार को अपने ईर्ष्यालु बड़े भाईयों एवं भौजाइयों के तीखे व्यंग्य-बाणों एवं कटु आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा और अन्त में उसे परदेश भाग जाना पड़ा।

नारी की स्थिति : परिवार में नारी की स्थिति परतन्त्र थी। उसके लिए जो आचार-संहिता मिलती है, वह बड़ी दूरूह है। विवाहिता नारी को अपने पति के लिए मन, वचन एवं काय से पूर्णतया समर्पित रहने का आदेश दिया गया है तथा कहा गया है कि वह दुश्चरित्र एवं निर्लज्ज नारियों की संगति कर अपने कुल एवं शीलव्रत को कलंकित न करें। उन्हें अपना जीवन इस प्रकार का बनाना चाहिए कि कोई अंगुली भी न उठाये और कुल में किसी भी प्रकार का कलंक न लगे। परित्यक्ता नारियों को अपभ्रंश-काव्यों में दुर्भाग्य का भण्डार कहा गया है।

उन्हें दुर्जनों एवं आवारागर्दी करनेवालों से अपने को छिपाकर रखना चाहिए। सिर उघाड़कर रास्तों एवं बाजारों में नहीं घूमना चाहिए। दिन में शयन नहीं करना चाहिए तथा दूसरों के भाग्य पर ईर्ष्या भी नहीं करना चाहिए। उनके लिए शीलव्रत धारण कर सदैव सात्विक जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है (अप्पसंजोह २/१८)।

प्रौढ़ा विधवाओं के विषय में कहा गया है कि पति की मृत्यु पर विधवा को चिता में जल मरने का प्रयास नहीं करना चाहिए। सिर पटक कर हाय-हाय करना भी उचित नहीं। मार्ग में अत्यन्त वेगपूर्वक अथवा अत्यन्त मन्दगति से चलना भी उनके लिए सर्वथा वर्जित है। इसी प्रकार, उनके लिए बिना प्रयोजन दूसरों के घर आना-जाना या रात्रि में अकेली घूमना त्याज्य बताया गया है। प्रौढ़ा विधवाओं के लिए सहिष्णु बनकर आत्मोद्धार का प्रयास बताया गया है और जोर देकर कहा गया है कि जो नारी उत्तम शीलव्रत धारण नहीं कर सकती, उसकी वही दशा होती है जो "सड़ी कुतिया" अथवा "जूठी पत्तल" की होती है।

बाल विधवा के लिए कहा गया है कि उसे सादा भोजन और उच्च विचार रखना चाहिए। सदैव शुभ्र वस्त्र धारण करना चाहिए। किसी भी प्रकार का शारीरिक श्रृंगार नहीं करना चाहिए। काम-वासना को उभारनेवाले रंगीन एवं रक्ताभ वस्त्र भूलकर भी धारण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार, ताम्बूल-सेवन, इत्र-लेपन, द्यूतक्रीड़ा लोगों से हंसी-मजाक, विरह कथाओं का सुनना सुनाना, घी एवं दूध से मिश्रित गरिष्ठ भोजन करना, बार बार माथा धोना, शून्यगृह में रहना, घर की दीवारों या छतों पर चढ़कर दिशाओं का निरीक्षण, गाना-बजाना, मार्ग में भटकना, जोरों से किसी को कोसना, परिवार के लोगों से रूठना आदि कार्य भी वर्जित बताये गये हैं। इनके त्याग के बिना बाल-विधवा की दुर्गति की कोई सीमा नहीं रह जाती है।

विवाह संस्था : व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में विवाह संस्था का महत्वपूर्ण योग है। विवाहित होने से यौन-सम्बन्ध एवं विषय सीमा का संकोचन दोनों ही बातें एक साथ हो जाती हैं। परिवार स्नेह, प्रेम, सहयोग एवं सहानुभूति की पाठशाला होती है। गुरुजनों के प्रति आदर और भक्तिभाव का प्रदर्शन एवं सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता एवं सेवा प्रभृति सद्गुणों का विकास परिवार के बीच विवाहित जीवन में ही सम्भव है। अतः परिवार का आधार विवाह माना गया है।

अपभ्रंश-चरितकाव्यों में आर्ष विवाह एवं गन्धर्व विवाह की चर्चाएँ आती हैं, किन्तु आर्ष विवाह को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। विवाह के पूर्व वर-वधू के परस्पर सम्पृक्त होने या अन्य किसी कारण से प्रेम के जागरित होने अथवा प्रेमी-प्रेमिकाओं को एक करके प्रेम के विकसित होने का अवसर नहीं दिया गया है, क्योंकि अपभ्रंश कवियों की दृष्टि में विवाह एक ऐसी संस्था है, जिसका उत्तरदायित्व पूर्णतया माता-पिता पर है। "सिरिवालचरिउ" में उल्लिखित एक कथन के आधार पर उज्जयिनी-नरेश राजा पृथ्वीपाल अपनी बड़ी पुत्री सुरसुन्दरी से प्रसन्न होकर

उसका विवाह कौशाम्बी नरेश के राजकुमार हरिवाहन के साथ कर देता है, किन्तु छोटी पुत्री मैनासुन्दरी की स्पष्टवादिता और धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा एवं मितव्ययिता के प्रति उसका अखण्ड विश्वास देखकर वह क्रोधाभिभूत हो जाता है। पिता को पुत्री का यह व्यवहार अपमानजनक लगता है। अतः वह उसका विवाह एक कोढ़ी के साथ कर देता है। इस सन्दर्भ से विवाह प्रथा के सम्बन्ध में निम्नांकित संकेत मिलते हैं—

१. विवाह के पूर्व पिता अपनी कन्या की सम्मति लेता था और विभिन्न प्रकार के वरों का परिचय, वैभव इत्यादि का वर्णन कर कन्या की भावना को जान लेता था।

२. वर-निर्वाचन में पिता स्वातन्त्र्य था। यद्यपि वह परिवार के अन्य व्यक्तियों से सम्मति लेता था, पर पिता का निर्णय ही सर्वोपरि होता था। उज्जयिनीनरेश राजा पृथ्वीपाल को उसके निर्णय से विचलित करने के लिए रानी एवं अमात्यों का प्रयास व्यर्थ हो जाता है।

३. अनुचित और अनमेल विवाहों को समाज उचित नहीं समझता था। मैनासुन्दरी का कोढ़ी के साथ विवाह-सम्बन्ध होते देखकर प्रजा के मुख से त्राहि-त्राहि की ध्वनि निकलने लगती है तथा समस्त प्रजावर्ग राजा के इस कुकृत्य पर उसे कोसने लगता है।

विवाह पद्धति : विवाह रचाने के लिए अनेक प्रकार के रीति-रिवाजों की चर्चाएँ आई हैं। कवि धाहिल ने अपने "पउमचरिउ" में पद्मश्री के विवाह का वर्णन करते हुए लिखा है; ज्योतिषियों द्वारा शुभतिथि के निश्चित किये जाने पर विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी गई। विवाह-सामग्री का संचय किया जाने लगा। नाते-रिश्तेदारों के न्यौते भेजे जाने लगे। सभामण्डप सजा दिया गया, बच्चों के आनन्द की सीमा न रही। भावी वधू का मन कुलाचे मार रहा था। वाद्यों की ध्वनि में ब्राह्मण श्रुतिपाठ कर रहे थे। सुहागिन स्त्रियाँ कौतुकपूर्ण गीत गा रही थी। कुछ समय बाद कन्या का अभिषेक किया गया। नवीन कीमती वस्त्राभूषणों से सजाकर उसकी आँखों में अंजन लगा दिया गया, फिर कुलदेवी के दर्शनार्थ ले जाया गया। इधर वर भी सज-धज कर हाथी पर सवार होकर बारात के साथ चला। सखियाँ उसे मातृमन्दिर ले गईं। पद्मश्री की हमजोली सखियाँ वर से हंसी-मजाक करने लगीं। वर से उन्होंने दोहे पढ़वाये और फिर दोनों का विवाह हो गया।

इसी प्रकार, "भविसयत्तकहा" (१/८-१०) में धनपति एवं कमलश्री के विवाह के अवसर पर भवन की सजावट, तोरण-बन्धन, रंगोली, चौक, विविध मिष्ठान्न, आभूषण आदि की सुव्यवस्था के साथ प्रीतिभोज का वर्णन किया गया है। "जंबूसामिचरिउ" में भी वैवाहिक भोज का सुन्दर वर्णन मिलता है। उसमें तृणमय आसनों पर आगन्तुकों को भोज कराये जाने तथा ग्रीष्म में सुगन्धित सरस पदार्थों से स्निग्ध तालपत्रों से सभी पर हवा करने के उल्लेख मिलते हैं। भोजन में "कूर" नामक धान के चावल से निर्मित मीठे भात, खट्टे अचार, चटनी एवं तक्र, मूंग के बने हुए व्यंजन आदि की कटोरियों में सजाकर परोसे जाने तथा भोजन के बाद सुगन्धित द्रव्य

एवं ताम्बूल आदि खिलाये जाने का उल्लेख मिलता है। प्रीतिभोज के बाद मंगल-मन्त्रों एवं घी की आहुति के साथ वरमाला डालकर विवाह की अन्तिम प्रक्रिया सम्पन्न की जाती थी। "सिरिवालचरिउ" में सुलोचना के विवाह प्रसंग में इष्टदेवपूजा के साथ सप्तपदी-कथन एवं उसके बाद हथलेवा को विवाह की अन्तिम प्रक्रिया कहा गया है।

बहु विवाह : अपभ्रंश-काव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय बहु-विवाह प्रथा का पर्याप्त प्रचलन था। क्या पौराणिक पात्र और क्या युगीन पात्र, सभी में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। हाँ, अन्तर इतना ही है कि पौराणिक पात्र सहस्रों विवाह रचाते थे और युगीन पात्र दो-दो या चार-चार। चक्रवर्ती सम्राट् भरत की छयानवे सहस्र रानियों, चम्पानरेश श्रीपाल की आठ सहस्र रानियों तथा वसुदेव की एक सहस्र रानियों की चर्चा आती है।

बहु-विवाह प्रथा के प्रति अपभ्रंश के कवि स्वयं भी बड़े आग्रही प्रतीत होते हैं "पउमचरिउ" के लेखक कविराजचक्रवर्ती नाम की उपाधि से विभूषित महाकवि स्वयंभू के भी अमृताम्बा एवं आदित्याम्बा नाम की दो पत्नियाँ थी, जिनकी प्रेरणा एवं उत्साह से कवि ने "पउमचरिउ" जैसे गम्भीर महाकाव्य की रचना की।

"जंबूसामिचरिउ" के लेखक महाकवि वीर के भी चार साहित्यरसिक पत्नियाँ थी, जो उनके काव्य, लेखन की अजस्र प्रेरणास्रोत थीं। उनके नाम हैं : जिनमती, पद्मावती, लीलावती एवं जयामती। महाकवि रइधू के आश्रयदाता श्रीमुल्लण साहू के भी दो पत्नियों का उल्लेख मिलता है। इनसे स्पष्ट है कि मध्यकाल में प्रचलित बहुविवाह प्रथा को सामाजिक मान्यता प्राप्त थी।

स्वयंवर प्रथा : अपभ्रंश-साहित्य में स्वयंवर प्रथा का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इस प्रथा का सम्बन्ध पौराणिक पात्रों से ही है। "मेहेसरचरिउ" में राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना का स्वयंवर रचाया जाता है, जिसमें देश-देशान्तर के राजकुमार आशाओं के ताने बाने बुनते हुए स्वयंवर मंडप में आते हैं। जब राजकुमारी मण्डप में आती है, तब उसके अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर सभी राजा आशा-निराशा के समुद्र में डूबते उतराने लगते हैं। प्रस्तोता द्वारा परिचय प्राप्त करती हुई सुलोचना अन्त में सेनापति मेघेश्वर के गले में वरमला डाल देती है।

समस्यापूर्ति-परम्परा : अपभ्रंश-साहित्य में समस्या पूर्ति के रूप में कुछ गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। इनके प्रयोग राजदरबारों या सामान्य कक्षों में होते थे। इनका रूप प्रायः वही था, जो आजकल के "इण्टरव्यू" का है। व्यक्ति के बाह्य परीक्षण के तो अनेक माध्यम थे, किन्तु चतुराई, प्रतिभा, आशुकवित्व, प्रत्युत्पन्नमतित्व आदि के परीक्षणार्थ समस्यापूर्ति की पद्धति प्रचलित थी। समस्यापूर्ति के पद्यों से व्यक्ति के स्वभाव, विचारधारा उसकी कुलीनता एवं वातावरण का भी सहज अनुमान हो जाता था।

"सिरिवालचरिउ" में एक प्रसंग के अनुसार कोंकणपट्टनरेश यशोराशि की सोलह हजार राजकुमारियों में से आठ हठीली एवं गर्वीली राजकुमारियों ने प्रतिज्ञा की थी कि वे ऐसे व्यक्ति

के साथ अपना विवाह करेगी, जो उनकी समस्याओं की पूर्ति गाथा-छन्द में करेगा। उनकी यह भी शर्त थी कि जो भी प्रतियोगी उनके उत्तर नहीं दे सकेगा, उसे शूली पर चढ़ा दिया जायेगा। फलस्वरूप, हीनबुद्धि व्यक्तियों ने तो उसमें भाग लेने का साहस ही नहीं किया और जो भी प्रतियोगी अपनी हेठी बांधकर भाग लेने आये, उन्हें हारकर शूली पर झूलना पड़ा। श्रीपाल जब यह सुनता है, तब वह भी अपना भाग्य आजमाने चल पड़ता है राजदरबार में सर्वप्रथम राजकुमारी सुपर्णदेवी उससे जिन समस्याओं की पूर्ति के लिए कहती है, उनमें दो यहाँ प्रस्तुत है—

१. समस्या : गउ पेक्खंतहु सव्वु।

पूर्ति :

जोव्वंण विज्जा संवयहं किज्जइ किंपि ण गव्वु।
जम रुट्ठइ णट्ठि एहु जगु गउ पेक्खंतहु सव्वु॥

अर्थात् यौवन, विद्या एवं सम्पत्ति पर कभी गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस संसार में जब यमराज रूठ जाता है, तब सब कुछ देखते ही देखते चला जाता है।

२. समस्या : पुण्णे लब्भइ एहु। पूर्ति :

विज्जा-जोव्वण-रूव-धणु-परियणु कय णेहु।
बल्लहजण मेलावउ पुण्णें लब्भइ एहु॥

अर्थात् संसार में विद्या, यौवन, सौन्दर्य, धन, परिजनों का स्नेह एवं प्रियजनों का संयोग "पुण्य" से ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार की समस्यापूर्ति में पौराणिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं लौकिक सभी प्रकार के प्रसंग रहते थे श्रीपाल अपने शिक्षाकाल में गुरुचरणों में बैठकर सभी विद्याओं में पारंगत हो चुका था, अतः राजदरबार की अन्तर्वीक्षा में वह उत्तीर्ण हो गया और उन हठीली एवं गर्वीली, राजकुमारियों को जीत लिया।

जामाताओं का ससुराल में निवास : जामाताओं के लिए ससुराल का सुख सर्वाधिक सन्तुष्टि का कारण होता है, क्योंकि वहाँ साले-सालियों के साथ प्रेमालाप, मधुर मिष्ठान्न भोजन एवं सभी प्रकार के सम्मान सहज ही उपलब्ध रहते हैं। अतः अपभ्रंश-काव्यों में अनेक जामाता विवाह के बाद कुछ समय के लिए ससुराल में रहते हुए देखे जाते हैं। श्रीपाल भी अपनी ससुराल में जब कुछ दिन रह लेता है। तब एक दिन अर्धरात्रि के समय उसकी नींद खुल जाती है और विचार करने लगता है कि मैं ससुराल में पड़ा हुआ हूँ यहाँ लोग मुझे राज-जवाँई कहते

हैं। न तो कोई मेरा नाम एवं शौर्य पराक्रम ही जानता है और न मेरे पराक्रमी पिता तथा उनके साम्राज्य के विषय में ही किसी को कोई जानकारी है। यह तो मेरा बड़ा भारी अपमान है। अतः अब तत्काल यहां से चल देना चाहिए। (सिरिवालचरिउ, ५.१)

बेटी की विदाई : विवाह के बाद बेटी की बिदाई माता-पिता के जीवन की सर्वाधिक मार्मिक घटना है। भारतीय समाज में बेटी प्रारम्भ से ही अपने माता पिता के लिए एक अमूल्य धरोहर के रूप में मानी जाती रही है। एक ओर तो उन्हें पुत्री के सुयोग्य विवाह-सम्बन्ध हो जाने तथा उसके स्वर्णिम भविष्य की कल्पना से आहलाद उत्पन्न होता था, तो दूसरी ओर पुत्री के विवाह के बाद विदाई करते समय उसके विछोह का असह्य दुःख भी होता था। किन्तु यह एक ऐसा सामाजिक नियम है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अपभ्रंश-कवियों ने इस प्रसंग को बड़ा ही पीड़ाजनक बनाया है "मेहेसरचरिउ" के एक प्रसंग (८/८-९) में अपनी बेटी की विदाई के समय राजा अकम्पन का सारा परिवार एवं नगर शोकाकुल हो जाता है। पिता उसे अवरुद्ध कंठ से शिक्षाएँ देता हुआ कहता है : "हे पुत्री-अपना शील उज्ज्वल रखना, पति के प्रतिकूल कोई भी कार्य मत करना। कडुएं कठोर वचन मत बोलना, सास-ससुर को ही अपना माता-पिता मानकर विनय करना, गुरुजनों को प्रतिकूल उत्तर मत देना, सभी से हंसी-मजाक मत करना। घर में सबके सो जाने के बाद सोना एवं सबसे पहले जगना। बिना परीक्षण किये कोई भी कार्य मत करना। ऐसा भी कोई कार्य मत करना जिससे मुझे अपयश का भागी होना पड़े।" और फिर अपने जमाता से कहता है : "हमारे ऊपर स्नेहकृपा बनाये रखना तथा समय-समय पर आते-जाते रहना। अपनी बेटी सुलोचना तुम्हारे हाथों में सौंप दी है, अतः अब उसका निर्वाह करना।" राजा इसके आगे भी कुछ कहना चाहता था, किन्तु उसका गला रूंध गया, वाणी मूक हो गयी और आंसुओं के पनारे बहने लगे, फलस्वरूप वह बेचारा और कुछ भी न कह सका। यह प्रसंग कवि कालिदास की प्रसिद्ध नाट्यकृति "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के शकुन्तला की विदाई के मर्मवेधी प्रसंग से प्रभावित हैं।

परिवार में पुत्र का महत्व : भारतीय सामाजिक परिवार में पुत्र का स्थान अतिशय उत्तरदायित्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि वह नवीन पीढ़ी का कर्णधार होता है। आचार-संहिता के अनुसार, पिता को सन्यास लेने का अधिकार तब तक नहीं रहता जब तक उसे पुत्र-प्राप्ति न हो जाये। "सुकोसलचरिउ" (३/१८) में बताया गया है कि अयोध्या का राजा कीर्तिधवल जिस समय संसार से उदास होकर सन्यास लेने का विचार करता है, उसी समय उसका मन्त्री सुबुद्ध उसे संविधान का स्मरण दिलाता है और कहता है कि राजन्, यह आपके कुल की परम्परा रही है कि जब तक उत्तराधिकारी पुत्र का जन्म नहीं हुआ, तब तक किसी ने सन्यास नहीं लिया।

अपभ्रंश काव्यों में पुत्र-महिमा का गान कई स्थलों पर किया गया है। "मेहेसरचरिउ" (२/८/१-३) में एक स्थान पर कहा गया है कि पुत्र अपने कुलरूपी मन्दिर का दीपक है, वह अपने

परिवार का जीवन है, कुल की प्रगति का द्योतक है, परिजनों की आशा-अभिलाषाओं की साकार प्रतिमा है, कुल के भरण पोषण के लिए वह कल्पवृक्ष के समान है और वृद्धावस्था में माता-पिता को हर प्रकार के संकटों से बचाने वाला है।

"सुकोसलचरिउ" में एक अद्‌भुत उदाहरण (४/७) मिलता है। जब राजा सुकोशल संसार से उदास होकर सन्यास लेने का विचार करता है, तब पुत्रजन्म के अभाव में उसके सम्मुख भी राज्य छोड़ने सम्बन्धी बाधा उपस्थित होती है। संयोग से उसकी तीन रानियों में से चित्रमाला नाम की एक रानी गर्भवती थी, अतः वह उसके गर्भस्थ बच्चे को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर तथा उसे भावात्मक रूप से नृपपट्ट बांधकर स्वयं वनवास ले लेता है।

समाज में कवियों को आश्रयदान : अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण का अधिकांश श्रेय श्रेष्ठियों, राजाओं अथवा सामन्तों को है। मध्यकालीन श्रेष्ठिवर्ग एवं सामन्त राज्य के आर्थिक एवं राजनीतिक विकास का मूलकारण होने से राज्य में सम्मानित एवं प्रभावशाली स्थान बनाये हुए थे। समय-समय पर उन्होंने साहित्यकारों को प्रेरणाएँ एवं आश्रय देकर साहित्य की बड़ी सेवाएँ की हैं। इन आश्रयदाताओं की अभिरूचि बड़ी सात्विक एवं परिष्कृत पाई जाती है। भौतिक समृद्धियों एवं भोग-विलास के ऐश्वर्य पूर्ण वातावरण में रहकर भी वे धर्म, समाज, राष्ट्र, साहित्य एवं साहित्यकारों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को विस्मृत नहीं करते थे। महामात्य भरत, उनके पुत्र नन्न एवं कमलसिंह संघवी प्रभृति आश्रयदाता इसी कोटि में आते हैं।

"णायकुमारचरिउ" एवं "जसहरचरिउ" तथा तिसट्‌ठिपुरिसगुणालंकारु" जैसे शीर्षस्थ काव्यों के प्रणेता महाकवि पुष्पदन्त "अभिमानमेरु" "अभिमानचिन्ह" "काव्यपिशाच" जैसे गर्वीले और अद्‌भुत विशेषणों से विभूषित थे। उनकी ज्ञान-गरिमा की अतिशयता को देखते हुए सचमुच ही वे विशेषण सार्थक प्रतीत होते हैं। उनका साहित्यिक अभिमान एवं स्वाभिमान विश्व-वाङ्मय के इतिहास में अनुपम है। किसी के द्वारा अपमान किये जाने पर उस वाग्वभूति ने तत्काल ही अपना राजसी निवास त्याग दिया और जंगल में डेरा डाल लिया। वहाँ अम्मइय और इन्द्र नामक पुरुषों द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा था—गिरिकन्दराओं में घास खाकर रह जाना अच्छा, किन्तु दुर्जनों की टेढ़ी मेढ़ी भौंहें सहना अच्छा नहीं। माता की कोख से जनमते ही मर जाना अच्छा, किन्तु किसी राजा के भ्रूकुंचित नेत्र देखना और उसके कुवचन सुनना अच्छा नहीं, क्योंकि राजलक्ष्मी डुलते हुए चंवरों की हवा से सारे गुणों को उड़ा देती है, अभिषेक के जल से सारे गुणों को धो डालती है, विवेकहीन बना देती है और स्वयं दर्प से फूली रहती है। इसीलिए, मैंने इस वन में शरण ली है (महापुराण ३.४-१५)।

राष्ट्रकूट-राजा कृष्णराज (तृतीय) का महामन्त्री भरत कवि पुष्पदन्त के आग्नेय स्वभाव को जानता था, वह उन्हें विनती करके अपने घर ले आया और सभी प्रकार का सम्मान एवं आश्वासन देकर साहित्य-रचना की ओर उन्हें प्रेरित किया। "तिसट्‌ठिपुरिसगुणालंकारु" के प्रथम भाग की

समाप्ति के बाद कवि पुनः सहसा खिन्न हो उठा। तब भरत ने पुनः कवि से निवेदन दिया, "हे महाकवि, आप खिन्न क्यों हैं? क्या काव्य-रचना में मन नहीं लगता? अथवा मुझसे कोई अपराध बन पड़ा है? या क्या कारण है? आपकी जिह्वा पर तो सरस्वती का निवास है, फिर आप सिद्ध वाणी-रूपी धेनु का नवरस क्षीर क्यों नहीं वितरित करते?" भरत के इस मृदुशील भाषण एवं विनयशील स्वभाव से फक्कड़ एवं अक्खड़ महाकवि बड़ा प्रभावित हुआ और उसनें बड़ी ही आत्मीयता के साथ भरत से कहा : "मैं धन को तिनके के समान गिनता हूँ, मैं उसे नहीं लेता। मैं तो केवल अकारण प्रेम का भूखा हूँ और इसी से तुम्हारे राजमहल में रूका हूँ।" इतना ही नहीं, कवि ने पुनः उनके विषय में लिखा है: "भरत स्वयं सन्तजनों की तरह सात्विक जीवन व्यतीत करता है, वह विद्याव्यसनी है, उसका निवास-स्थान संगीत, काव्य एवं गोष्ठियों का केन्द्र बन गया है। उसके यहाँ अनेक लिपिक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ किया करते हैं। उसके घर में लक्ष्मी एवं सरस्वती का अपूर्व समन्वय है।" कमलसिंह संघवी गोपाचल के तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह का माहामात्य था। उसकी इच्छा थी कि वह प्रतिदिन किसी नवीन काव्य ग्रन्थ का स्वाध्याय किया करें। अतः वह राज्य के महाकवि रइधू से निवेदन किया करता है : "हे सरस्वतीनिलयं! शयनासन, हाथी, घोड़े, ध्वजा, छत्र, चंवर, सुन्दर रानियाँ, रथ, सेना, सोना, चाँदी, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सन्तान, पुत्र भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध हैं। सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्री की मुझे कमी नहीं है, किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक वस्तु का अभाव सदा खटकता रहता है और वह यह कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दरमणि नहीं है उसके बिना मेरा सारा अतुल वैभव फीका-फीका लगता है। हे काव्यरत्नाकर आप तो मेरे स्नेही बालमित्र हैं, अतः अपने हृदय की गाँठ खोलकर आपसे सच-सच कहता हूँ, आप कृपाकर मेरे निमित्त एक काव्यरचना कर मुझे अनुगृहीत कीजिए" (सम्मत्तगुण., १/१४)।

कवियों का सार्वजनिक सम्मान :- अपभ्रंश-काव्य प्रशस्तियों में विद्वान् कवियों के सार्वजनिक सम्मानों की भी कुछ बातें उपलब्ध होती हैं। इनमें सामाजिक अभिरूचियों का पता चलता है। "सम्मत्तगुणणिहाणकव्व" (६.३४) से विदित होता है कि महाकवि रइधू ने जब अपने उक्त काव्य की रचना समाप्त की और अपने आश्रयदाता कमलसिंह संघवी को समर्पित किया, तब वे इतने आत्मविभोर हो उठे कि उसे लेकर नाचने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने उक्त कृति एवं कृतिकार दोनों को ही राज्य के सर्वश्रेष्ठ शुभ्रवर्णवाले हाथी पर विराजमान कर गाजे-बाजे के साथ सवारी निकाली और उनका सार्वजनिक सम्मान किया।

इसी प्रकार, एक अन्य वार्ता-प्रसंग से विदित होता है कि "पुण्णासवका" नामक एक अपभ्रंश कृति की परिसमाप्ति पर साधारण साहू को जब वीरदास नामक द्वितीय पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, तब बड़ी प्रसन्नता के साथ साहू ने महाकवि रइधू एवं उनकी कृति "पुण्णासिवकहा" को चौहानवंशी नरेश प्रतापरूद्र के राज्यकाल में चन्द्रवाडपट्टन में हाथी की सवारी देकर सम्मानित किया था

(पुण्णासन. १३/११/१३-१४)।

व्यक्तियों के नाम रखने की मनोरंजक सूचना :- अपभ्रंश-काव्यप्रशस्तियों में नाम रखने-सम्बन्धी कुछ मनोरंजक उदाहरण मिलते हैं। "मेहेसरचरिउ" नामक एक अप्रकाशित चरितकाव्य के प्रेरक एवं आश्रयदाता साहू णेमदास के परिचय-प्रसंग में कहा गया है कि उसके पुत्र ऋषिराम को उस समय पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई थी, जिस समय वह पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा के क्रम में जिन-प्रतिमा पर तिलक अर्पित कर रहा था। इसी उपलक्ष्य में उस नवजात शिशु का नाम "तिलकू" अथवा "तिलकचन्द्र" रख दिया गया।

राजनीतिक तथ्य : अपभ्रंश काव्यों में राजनीतिक अवस्था के जो भी चित्रण हुए हैं, वे सभी राजतन्त्रीय हैं। कवियों ने सप्तांग-राज्य एवं पंचांग के मन्त्रियों के उल्लेख किये हैं। कौटिल्य के अनुसार दुर्ग, राष्ट्र, खनि, वन, ब्रज एवं व्यापार "सप्तांग राज्य" कहलाता है एवं मन्त्री को कार्यारम्भ का उपाय, पुरुषत्व तथा द्रव्य-सम्पत्ति, देश-काल का विभाग, विघ्न-प्रतिकार एवं कार्यसंसिद्धि-रूप पंचांग से सम्पन्न बताया गया है।

दूत : अपभ्रंश-साहित्य में दूतों के उल्लेख अधिक आये हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उस युग में युद्धों की भरमार थी और युद्ध के पूर्व दूतों के माध्यम से समस्या सुलझाने का प्रयास किया जाता था। दूतों की असफलता युद्धों के आह्वान की भूमिका बनती थी। अध्ययन से विदित होता है कि इन कवियों ने प्रायः "शासनहार" नामक दूत के ही अधिक उल्लेख किये हैं। वह घोड़े आदि वाहनों पर सवार होकर शत्रु राज्य की ओर प्रस्थान करता था। उसमें प्रत्युत्पन्नमतित्व होना अत्यावश्यक था। वह शत्रु-देश के वनरक्षक, सीमारक्षक, नगर एवं जनपद-निवासियों से नैकट्य बनाये रखता था। शत्रु-राजा के दुर्ग, राज्यसीमा, आयु और राष्ट्ररक्षा के उपायों से वह सम्यक्तया परिचित रहता था।

राज्य का उत्तराधिकारी :

राज्य के उत्तराधिकारी के निर्वाचन के सम्बन्ध में स्पष्ट सिद्धान्त नहीं मिलते। राजतन्त्रीय व्यवस्था में राजा का बड़ा पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी समझा जाता था। पट्टमहिषी का पुत्र ही सर्वदा राज्याधिकारी होता था। वयस्क पुत्र के अभाव में शिशु अथवा गर्भस्थ बालक को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाता था और उसके योग्य होने तक उसकी माता प्रतिनिधित्व के रूप में राज्य करती थी (हरिवंश पु. १२/४)

शासन :

राजंत्रीय व्यवस्था होने पर भी अमरकंकापुरी के राजा पद्मनाथ के भ्रष्टाचारी सिद्ध होने

पर प्रजा द्वारा उसके राज्यच्युत किये जाने का भी उल्लेख मिलता है। शासन का कार्य यद्यपि राजा ही करता था, तथापि कभी कभी उसे जनता की भावना का ध्यान रखना पड़ता था। "भाविसयत्तकहा" के प्रसंगानुसार, राजा भूपाल जब बन्धुदत्त एवं उसके पिता धनपति को कारागार में डाल देता है, तब दूत उसे आकर समाचार देता है: घर-घर में कार्य बन्द हो गया है, नर-नारी रूदन कर रहे हैं। बाजार में लेन-देन ठप्प है तथा आपकी मुद्रा का प्रचलन भी बन्द है।" अन्त में, राजा उन्हें रिहा कर देता है।

व्रत त्यौहार :

व्रत त्यौहार मानव-जीवन की भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि के प्रतीक हैं। जीवन को एकरसता से उत्पन्न विराग एवं निराशा से दूर रखने के लिए इनकी महती आवश्यकता है। अपभ्रंश-साहित्य में इनके पर्याप्त ऊल्लेख मिलते हैं। ऐसे व्रत त्यौहारों में कड़वा चौथ, बहुला चौथ, नागपंचमी, गौरीतीज, शीतलाष्टमी, श्रीपंचमी, अक्षयतृतीया, सूर्यषष्ठी, नन्दीश्वरव्रत, पर्यूषणव्रत, सोलहकारणव्रत, सुगन्धदशमी, मुक्तावली, निर्दुःखसप्तमी, दुग्ध-एकादशी आदि व्रतों के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार विशेष गौरीपूजा, गंगा पूजा, गोपूजा, दूर्वादल-पूजा, वटवृक्ष, चन्द्रग्रहण, छठपूजा, द्वादशीपूजा, नन्दीश्वर-पूजा, श्रीपंचमी-पूजा आदि के भी यत्र तत्र उल्लेख मिलते हैं।

लोकाचार एवं अन्धविश्वास :

भारतीय लोक-जीवन में लोकरूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का अपना विशेष महत्त्व रहा है। अपने इष्टजनों के स्वागत अथवा विदाई के समय उनके प्रति लोक-विश्वासों के आधार श्रद्धा-समन्वित भावना से कुछ कर्तव्य कार्य किये जाते हैं। इनमें दही, सरसों (सिद्धार्थ), दूर्वादल एवं मंगलकलश जैसी सदाचार-सामग्री का प्रयोग किया जाता था।

महाकवि पुष्पदन्त ने लिखा है कि चक्रवर्ती भरत के दिग्विजय-यात्रा से लौटने पर जनसमूह आनन्द विभोर हो उठा, राजमार्ग केशर से सींच दिया गया, कर्पूर की रंगोली पूरी जाने लगी और दूर्वादल, दही एवं सरसों से स्वागत की तैयारियाँ की जाने लगीं। सर्वत्र बन्दनवार सजाये जाने लगे। "मेहेसरचरिउ" में मंगलाचार, गीत-नृत्य-वाद्य आदि की भी चर्चा हुई है।

शकुन-अपशकुन :

शकुन-अपशकुन जन-जीवन की आस्था एवं विश्वास के प्रमुख तत्व हैं। अपभ्रंश-काव्यों में उनके प्रसंग प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। स्त्रियों का दायां एवं पुरुषों का बायां नेत्र फड़कना,

बाल खोले हुए स्त्री का रोना, कौए का विरस शब्द करना, सियार का रोना या लंगड़ा कर चलना, गधे का रोना, नक्षत्रों का टूटना और मृग का दायीं ओर भागना अपशकुन की कोटि में रखा गया है। स्वप्न में धरती कम्पन, मूर्ति का हिलना, आकाश में कबन्ध का नृत्य, राजछत्र का टूटना, दिशाओं का जलता दिखाई देना आदि को अपशकुन कहा गया है।

"मेहेसरचरिउ" में, एक प्रसंग में कहा गया है कि सुलोचना जब अपने प्रियतम मेघेश्वर के साथ ससुराल के लिए प्रस्थान करती है, तब मार्ग में गंगातट पर विश्राम करती है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में वह स्वप्न देखती है कि एक कल्पवृक्ष गिर रहा है, और उसे कोई संभालने का प्रयत्न कर रहा है। इसी प्रकार, एक दूसरे स्वप्न में वह नाना मणिरत्नों से लदे जहाज को समुद्र में डूबते हुए देखती है। प्रातःकाल जब वह अपने प्रियतम से इन स्वप्नों का फल पूछती है, तब मेघेश्वर उसे दुःस्वप्नों के सन्दर्भ में भयंकर भविष्य की भूमिका बतलाता है।

"सिरिवालचरिउ" (३.२) में एक स्थान पर शुभ स्वप्न की चर्चा आई है। चम्पानरेश अरिदमन की महारानी कुन्दप्रभा रात्रि के अन्तिम प्रहर में दो स्वप्न देखती है। प्रथम में वह सुवर्णाचल का दर्शन करती है और दूसरे में फलों से लदे कल्पवृक्ष का। वह प्रातःकाल ही अपने पति से स्वप्न फल पूछती है, तो पति उसे शीघ्र ही सुन्दर पुत्ररत्न की प्राप्ति की सूचना देता है।

आमोद-प्रमोद :

अपभ्रंश काव्यों में आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजन की दो प्रकार की प्रथाएं देखने को मिलती हैं, एक तो वे, जिनका सम्बन्ध राजघराने से था और दूसरी वे, जिनका सम्बन्ध जनसाधारण से था। राजघरानों में नृत्यगान, गोष्ठियाँ, आखेट, जलक्रीड़ा तथा उपवन-केलि प्रधान है। नृत्य-गान दोनों ही प्रकार के होते थे, शास्त्रीय भी लौकिक भी। पुष्पदन्त ने संगीत के भेद प्रभेदों की चर्चा की है, जो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र (अध्याय ४/५, ११) से पूर्णतया प्रभावित हैं।

स्वयम्भू-कृत पउमचरिउ में भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

जनसाधारण में दोलाक्रीड़ा, रासलीला, चर्चरी, द्यूतक्रीड़ा, साले-सालियों से हंसी-मजाक आदि के उल्लेख मिलते हैं। नट-प्रदर्शन के प्रसंग भी प्राप्त होते हैं। पुष्पदन्त ने लिखा है कि नागकुमार द्यूतक्रीड़ा में बड़ा दक्ष था। उसने उसके द्वारा अर्जित सम्पत्ति से मां के गहने बनवाये थे। "हरिवंशचरित" में वस्त्रापहरण का उल्लेख भी मिलता है।

आर्थिक परिस्थितियाँ :

अपभ्रंश-काव्यों में प्रायः समृद्ध समाज का ही वर्णन मिलता है। अतः दीन-हीन जन इसमें क्वचित्-कदाचित ही दिखाई पड़ते हैं। क्रय-विक्रय सम्बन्धी कई मनोरंजक उदाहरण मिलते

हैं। महाकवि रइधू ने "हरिवंसचरिउ" के द्वारकादहन-प्रकरण में बताया है कि जब द्वारका अग्नि की भयंकर लपटों से घिरी थी, तब कृष्ण एवं बलदेव नगर के बाहर चले जाते हैं। चलते-चलते वे एक वन में पहुंचते हैं। वहाँ कृष्ण को भूख सताने लगती है। बलदेव उनकी व्याकुलता देखकर तड़प उठते हैं और उन्हें एक छायार्द्र वृक्ष के नीचे बैठाकर समीपवर्ती किसी नगर से अपने सोने के कड़े के बदले में पुआ खरीदकर ले आते हैं। (१२/१-४)

"धण्णकुमारचरिउ" में प्राप्त प्रसंगानुसार, धन्यकुमार एक ईंधन-सहित बैलगाड़ी के बदले में भेड़ें खरीदता है तथा उन्हीं भेड़ों के बदले में पुनः पलंग के चार पाय खरीद लेता है। "धण्णकुमारचारिउ" में एक अन्य प्रसंग के अनुसार, धन्यकुमार अपने पिता से पाँच सौ दीनारें लेकर व्यापार प्रारम्भ करता है तथा सर्वप्रथम उनसे ईन्धन-भरी बैलगाड़ी खरीदता है। मजदूरी के बदले में वस्तु के देने का भी उल्लेख मिलता है। "अकृतपुण्य" नामक एक मजदूर अपनी मजदूरी के बदले में चने की पोटली प्राप्त करता है।

उक्त प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय वस्तुओं के बदले में वस्तुओं का क्रय, मजदूरी के बदले में अनाज या अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रदान तथा सिक्कों के बदले में वस्तुओं का क्रय होता था।

बाजार में बेची जाने वाली वस्तुओं में मिलावट : बाजारों में बेची जानेवाली अच्छी वस्तुओं में पुरानी एवं कम कीमतवाली वस्तुओ की मिलावट की इक्की-दुक्की चर्चा अपभ्रंश-काव्यों में आती है। "पउमचरिउ" के अनुसार, जब हनुमानजी किष्किन्धापुर के बाजार में निकलते हैं, तब उन्होंने एक दुकान पर तेल मिश्रित घी देखा था।

द्रव्य-सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के साधन :- उस समय सोना, चाँदी आदि द्रव्य-सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के आधुनिक साधन बैंक आदि न थे। लोग उसे जमीन या दीवारों में गाड़कर या पलंग के पायों आदि में बन्द कर रखते थे। "धण्णकुमारचरिउ" के एक प्रसंग में बताया गया है कि उसने बाजार से जो पलंग के पाय खरीदे थे, उन्हें घर पर उसकी माँ जब साफ करने लगी, तब उनमें से उसे अनेक कीमती मणिरत्नों की प्राप्ति हुई, साथ ही एक पत्र भी मिला, जिसके अनुसार पत्रवाहक को उस नगर के राज्य की उपलब्धि हुई।

ग्रन्थों का प्रतिलिपि कार्य : अपभ्रंश-काव्यों में ग्रन्थ-प्रणयन का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व ग्रन्थों की प्रतिलिपियों का भी है, क्योंकि मुद्रणालयों एवं लेखन-सम्बन्धी सुलभ के अभाव में प्रतिलिपि-कार्य बड़ा ही श्रम, समय, व्यय एवं धैर्यसाध्य होता था। अतः प्रतिलिपि के कार्य को अतिशय महत्वपूर्ण माना गया था। "धण्णकुमारचरिउ" (२/७) में इसीलिए त्यागधर्म के अन्तर्गत आर्थिक सहायता देने के साधनों में "ग्रन्थ-प्रतिलिपि" को भी स्थान दिया गया है। पुष्पदन्त ने महामात्य भरत के राजमहल में ग्रन्थ-प्रनिलिपिकों की चर्चा की है। "सोलहकारणपूजा" एवं "जयमाला" में कवि रइधू ने ग्रन्थ प्रणेता एवं ग्रन्थ प्रणेता एवं ग्रन्थ के प्रतिलिपिक को समकक्ष

स्थान दिया है। प्रतिलिपिक भी यह कार्य बड़ी श्रद्धा एवं अभिरूचि के साथ करते थे, क्योंकि उनके लिए यह साहित्य सेवा भी थी तथा आजीविका का साधन भी।

मध्यकालीन समुद्रयात्रा :- अपभ्रंश-काव्यों से विदित होता है कि मध्यकाल में विदेशों के साथ भारत के अच्छे सम्बन्ध थे। यातायात के साधनों में जलमार्ग प्रमुख था। सार्थवाह बड़े-बड़े जहाजों अथवा नौकाओं में व्यापारिक सामग्री भरकर कुंकुमद्वीप सुवर्ण-द्वीप, हंसद्वीप, रत्नद्वीप, सिंहलद्वीप आदि में जाकर लेन-देन का व्यापार करते थे। समुद्री यात्राओं का विशेष वर्णन करने वाले दो काव्य प्रमुख हैं : "भविसयत्तकहा" एवं "सरिवालचरिउ"। इन रचनाओं के कथानक इतने सरस एवं मनोरंजनक हैं कि इनकी लोकप्रियता का पता इसी से लग जाता है कि विभिन्न कालों एवं विभिन्न भाषाओं में इन पर दर्जनों रचनाएँ लिखी गयीं।

महाकवि रइधू ने श्रीपाल की विदेश-यात्रा के बजाय यात्री के लिए अत्यावश्यक सामग्री, विदेशों में ध्यान देने योग्य बातों एवं समुद्री यात्रा की कठिनाइयों आदि का वर्णन किया है। धवलसेठ जब समुद्री यात्रा आरम्भ करता है, तब उसके पूर्व वह अपने साथ चलने के लिए दस सहस्र सुभटों को निमन्त्रित करता है तथा ध्वज, छत्र, लम्बे-लम्बे बांस, बड़े-बडे बरतन, ईन्धन, पानी, बारह वर्ष तक के लिए सभी साथियों के निमित्त अनाज, विविध वाद्य, तिल-तेल, चन्दन आदि सामग्री साथ ले चलने की तैयारी करता है (सिरिवाल. ५/१३/१-३)।

जहाज में बैठते समय यात्री अपने सिर पर लोहे की टोपी धारण करते थे तथा सुन्दर एवं मनोहर बाँस के डण्डे आदि हाथ में धारण करते थे। यह सम्भवतः समुद्री जन्तुओं एवं अन्य भयंकर पक्षियों से सुरक्षित रहने के लिए किया जाता होगा। इसके लिए यात्रियों को रात्रि-जागरण भी करना होता था।

समुद्री यात्रा के समय अन्य की कठिनाईयों की भी चर्चा आई है। इसमें सर्वाधिक कठिनाई समुद्री डाकुओं के आक्रमण से होती थी। समुद्री डाकू सामूहिक रूप में बड़ी भयंकरता से अस्त्र-शस्त्रों के साथ मालवाहक जहाजों पर आक्रमण करते थे। धवलसेठ अपने साथियों के साथ गाता-नाचता एवं विविध मनोरंजन करता हुआ जब चला जा रहा था, जहाज भी वेग के साथ आगे बढ़ा जा रहा था, तभी पीछे से भयंकर आवाज सुनाई दी। लोग निर्णय नहीं कर सके कि समुद्री जन्तुओं ने आक्रमण किया था या डाकुओं ने।

आखेट क्रीड़ा :- आखेट क्रीड़ा की आयोजनाएँ प्रायः राजपरिवारों में देखने को मिलती हैं। राजा लोग सदल-बल जंगलों में जाते थे तथा वहाँ सिंह, बाघ, जंगली भैंसे एवं हिरण का शिकार करते थे। "जसहरचरिउ" के अनुसार, राजा यशोमति मृगया हेतु पन्द्रह सौ कुत्तों के साथ जाता था।

भोजन : अपभ्रंश-काव्यों में भोजनों की चर्चा आहारदान, विवाह अथवा अन्य उत्सवों के अवसर पर आई है। कवि स्वयम्भू ने खाद्य पदार्थों में निम्नलिखित समग्री का उल्लेख किया

है : भात, खीर, सेवईं, घेवर, मण्डा, ईख, गुड़, नमक, मूंग की दाल विविध प्रकार के कूर, सालज, माइणी, माइन्द, आल्लय, पिप्पली, गिरियामलय, असलक, मालूर, चिर्भटिका, कचोर, वासुत, पेड़अ, पापड़, केला, नारियल, दही, करमर, करवन्द, सोले (शरबत) वक, वाइडण, कारेल्ल, मही, बघारी हुई कढ़ी आदि।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश-कवियो ने लोक-जीवन के प्रत्येक पहलू पर विभिन्न दृष्टिकोणों से गहन विचार किया है। वस्तुतः अपभ्रंश-साहित्य मध्यकालीन भारत का एक जीवित प्रामाणिक चित्र है, जो कालदोष से आच्छन्न हो गया है। इस पर गम्भीर एवं तुलनात्मक शोधकार्य अपेक्षित है। उसके अभाव में मध्यकालीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के पारम्परिक अध्ययन में प्रामाणिकता एवं पूर्णता नहीं आ सकती।

उदधी व रदणभरिदो तवविणयसीलदाणरयणाणं।
सोहे तोय सलीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो॥ शील पाहुड़ २८॥

जिस प्रकार समुद्र रत्नों से भरा होता है तो भी वह केवल तोय अर्थात् जल से ही शोभा देता है। उसी प्रकार यह जीव भी तप, विनय-शील एवं दान आदि रत्नों से युक्त है, तो भी वह शीलयुक्त होकर ही सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होता है।

प्रद्युम्नचरित में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संदर्भ

❑ डॉ. विद्यावती जैन, आरा

प्रद्युम्नचरित (पज्जुण्णचरिउ) तेरहवीं सदी के अन्तिम चरण का एक महत्त्वपूर्ण पौराणिक महाकाव्य है जो अद्यावधि अप्रकाशित है। उसमें महाभारत के एक यशस्वी, तेजस्वी वीरपुरुष प्रद्युम्न के चरित का मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है। उसके मूल लेखक महाकवि सिद्ध हैं। कुछ दैविक विपदाओं के कारण इस रचना के कुछ अंश नष्ट भ्रष्ट हो जाने से सिद्ध कवि के सम्भवतः सतीर्थ्य-महाकवि सिंह ने अपने गुरु के आदेश से उसका पुनरुद्धार, कहीं-कहीं पुनर्लेखन एवं संशोधन-कार्य किया था। इस कारण यह ग्रन्थ परवर्तीकाल सिंह द्वारा विरचित मान लिया गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ पुरातन हिन्दी अथवा अपभ्रंश की एक अनूठी कृति है। अथवा यह पुरातन हिन्दी अथवा अपभ्रंश की महाकाव्य-शैली में लिखित प्रद्युम्नचरित सम्बन्धी लिखित सर्वप्रथम, स्वतन्त्र रचना मानी जाती है। भाषा, शैली एवं परवर्ती-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों के मूल-स्रोत तो प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध हैं ही, समकालीन विभिन्न राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की दृष्टि से भी यह रचना अपना विशेष महत्त्व रखती है। इसमें कुल १५ सन्धियाँ एवं ३०९ कडवक हैं। यहाँ उक्त रचना के सभी पक्षों पर स्थानाभाव के कारण प्रकाश डालना तो सम्भव नहीं, किन्तु जो प्रासंगिक राजनीतिक सन्दर्भ उसमें उपलब्ध है। उन पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

जैसा कि महाभारत के कथानक से भी स्पष्ट है कि युगपुरुष प्रद्युम्न, जो कि प्रद्युम्नचरित का भी प्रधान नायक है, दुर्भाग्य से अपने जन्म-काल से ही अपहृत होकर युवा-जीवन के दीर्घकाल तक संघर्षों से जूझता हुआ इधर-उधर भटकता रहा। कवि सिद्ध-सिंह ने इसका बहुत ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। इस कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रद्युम्न के संघर्षों एवं युद्धों की विस्तृत चर्चा हुई है। प्रसंग-प्राप्त अवसरों पर जिन राजनीतिक तथ्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

१. शासक-भेद,

२. राज्य के प्रमुख अंग, एवं

३. युद्ध

१. शासक-भेद

(१) राजा—प्रभुसत्ता में हीनाधिकता के कारण राजा की परिभाषा में आचार्यों ने अनेक भेद-प्रभेद किए हैं। इस दृष्टि से प्रद्युम्नचरित में शासकों के लिए विभिन्न प्रसंगों में चक्रवर्ती[१], अर्धचक्रवर्ती[२], माण्डलिक[३], नराधिप[४], नरनाथ[५], नरपति[६] एवं नरेन्द्र[७] जैसे विशेषणों के प्रयोग किए गए हैं।

आदिपुराण[८] के अनुसार चक्रवर्ती उस शासक को कहते हैं, जो पृथ्वी के छह खण्डों का अधिपति होता था और जिसके अधीनस्थ बत्तीस हजार राजा होते थे। कवि सिद्ध ने भी चक्रवर्ती की यही परिभाषा दी है[९] तथा पोदनपुर-नरेश को चक्रवर्ती[१०] एवं महाराज श्रीकृष्ण को अर्धचक्रवर्ती[११] के नाम से अभिहीत किया है। अर्धचक्रवर्ती को उन्होंने तीन-खण्डों का अधिपति बतलाया है[१२]। कवि द्वारा प्रयुक्त नराधिप, नरपति, नरनाथ, नरेन्द्र एवं राजा शब्द पर्यायवाची हैं। कवि द्वारा वर्णित शासकों के निम्नकार्यों पर प्रकाश पड़ता है—

क. शत्रु-राजाओं को पराजित करके भी वे उन्हें क्षमा प्रदान कर देते थे।

ख. विशेष परिस्थितियों में वे परनारियों का अपहरण भी कर लेते थे।

ग. विजेता राजा अपने अधीनस्थ राजाओं को विजयोत्सव पर आदेश भेजकर बुलाता था।

घ. प्रजा-कल्याण एवं राज्य की समृद्धि तथा यश के लिए उपयोगी कार्य करते थे।

(२) माण्डलिक—महाकवि जिनसेन ने उस शासक को माण्डलिक कहा है, जिसके अधीन चार सौ राजा रहते थे किन्तु आगे चलकर सम्भवतः यह परम्परा बदल गई और माण्डलिक उस शासक को कहा जाने लगा, जो किसी सम्राट या अधिपति के अधीन रहकर किसी मण्डल-विशेष अथवा छोटे प्रांत के शासक के रूप में काम करता था।

कवि सिद्ध ने माण्डलिक को भृत्य कहा[१३] है। इसका तात्पर्य यही है, कि वह किसी बड़े शासक द्वारा नियुक्त किया जाता था, जो शासक राज्य के प्रदेश-विशेष अथवा एक सामान्य शासक के रूप में यथा निर्देशानुसार कार्य किया करता था तथा सुनिश्चित शर्तों के अनुसार जिसे उसका भुगतान मिलता था। महाकवि सिद्ध ने अपनी आद्य-प्रशस्ति में 'भल्लण' को ब्रह्माणवाडपट्टन का भृत्य कहा है, जो बल्लाल-नरेश का एक माण्डलिक था। प्रद्युम्नचारित में वटपुर के राजा कनकरथ को भी माण्डलिक[१४] कहा गया है।

(३) सामन्त—कवि ने प्रद्युम्नचरित में सामन्त[१५] शब्द का उल्लेख किया है, जो शासकों की संभवतः एक बहुत छोटी इकाई थी। कवि सिद्ध ने सामंतों का जिस ढंग से वर्णन किया है, उससे निम्न तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—

अ. सामन्तगण अपने अधिपति राजा के आज्ञापालक होते थे।

आ. वे अपने राजाओं के इतने पराधीन रहते थे कि माँगे जाने पर अपनी रानियों को

भी उन्हें समर्पित करने को बाध्य हो जाते थे।[१६] तथा,

ई. मनोनुकूल कार्य करने पर अधिपति राजा विशेष अवसरों पर उन्हें वस्त्राभूषण प्रदान कर सम्मानित भी करते थे।[१७]

२. राज्य के प्रमुख अंग

(१) मन्त्री— मानसोल्लास में राज्य के सात अंगों में से अमात्य अथवा मंत्री को प्रमुख स्थान दिया गया है। महाकवि विबुध श्रीधर (१२वीं सदी) ने अमात्य को स्पष्टवक्ता[१८], राजनीति का ज्ञाता[१९], वाग्मी[२०], महामति, सद्गुणों की खान, धर्मात्मा सभी कार्यों में दक्ष, सक्षम एवं वीर कहा है।

कवि सिद्ध ने भी अमात्य के इन्हीं गुणों को प्रकाशित किया है[२१]। प्रद्युम्नचरित में उल्लिखित ऐसे अमात्यों अथवा मंत्रियों में सुमति नामक एक मंत्री का नाम उल्लेखनीय है[२२]।

(२) सेनापति— युद्ध प्रसंगों में कवि सिद्ध ने सेनापति का विशेष रूप से उल्लेख किया है। क्योंकि युद्ध में उसका विशेष महत्व होता है। राज्य की विजय उसी की कुशलता, चतुराई, दूरदर्शिता एवं मनोवैज्ञानिकता पर निर्भर करती है। इस कारण राजा किसी अनुभवी एवं परम विश्वस्त योद्धा को ही सेनापति नियुक्त करता था और सम्भवतः उसे अमात्य की श्रेणी का सम्मान दिया जाता था। युद्ध के पूर्व राजा मंत्रियों के साथ-साथ सेनापति से सलाह लेकर ही युद्ध की घोषणा करता था। कवि ने सेनापतियों के नामों के उल्लेख नहीं किये, किन्तु युद्ध-प्रसंगों में उसने सेनापतियों को पर्याप्त महत्व दिया है[२३]।

(३) तलवर—राज्य में शान्ति एवं शासन-व्यवस्था बनाये रखने के लिए तलवर के पद को महत्वपूर्ण बतलाया गया है। वह राजा का विश्वासपात्र होता था। प्रद्युम्नचरित के उल्लेखों से ध्वनित होता है कि उसकी सलाह के अनुसार ही राजा किसी को दण्डित करने अथवा पुरस्कृत करने का अपना अन्तिम निर्णय करता था[२४]।

प्रद्युम्नचरित के एक प्रसंग के अनुसार परदारा-गमन करने वाले एक व्यक्ति को पकड़कर जब तलवर उसे राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता है, तब राजा उसे उसी क्षण शूली पर लटका देने का सीधा आदेश दे देता है। आजकल के आरक्षी महानिदेशक से उक्त तलवर की तुलना की जा सकती है।

(४) दूत—राज्य के हित में शासक विदेशों से सांस्कृतिक अथवा सौजन्यपूर्ण संबंध रखने के लिए विविध प्रकार के दूतों की नियुक्ति करता था। प्राचीन-साहित्य में वर्णित दूतों में निम्नप्रकार के गुणों का होना अनिवार्य था[२५]।

व्यक्तिगत गुण—मनोहरता, सुन्दरता, आतिथ्य भावना, निर्भीकता, वाक्पटुता, शालीनता,

तीव्र स्मरण शक्ति एवं प्रभावशाली वक्तृत्व शक्ति।

सन्धिवार्ता से सम्बद्धगुण—कुशल सूझ-बूझ, शान्ति, धैर्यवृत्ति, एवं प्रत्युत्पन्नमतित्व।

सुविज्ञता—विविध भाषाओं का ज्ञान, परिग्राहक, राष्ट्र की प्रथाओं एवं परम्पराओं से परिचय आदि।

अपने शासक के प्रति सद् मनोवृत्तियाँ जैसे—निष्ठा, देशभक्ति, एवं आज्ञाकारिता आदि।

कौटिल्यशास्त्र अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के दूत बतलाए गए हैं- निसृष्टार्थ, परमितार्थ एवं शासनहर[२६]। कवि सिद्ध ने इनमे से शासनहर नामक दूत का उल्लेख किया है। इस कोटि के दूत आवश्यकता पड़ने पर शत्रु देश के प्रमुख राजपुरुषों से येनकेन प्रकारेण संबंध जोड़कर उनकी अन्तरंग बातों की जानकारी प्राप्त करने के प्रयत्न किया करते थे, साथ ही राजा के गुप्त सन्देशों को भी यत्र-तत्र प्रेषित किया करते थे।

प्रद्युम्नचरित में उल्लिखित दूत राजा मधु का सन्देश लेकर उसके शत्रु शाकम्भरीनरेश भीम के पास इस उद्देश्य से पहुँचता है कि निरपराध सैनिकों की हत्या के पूर्व ही यदि दोनों पक्षों में शान्ति समझौता हो सके, तो उत्तम है। कवि ने उसका वर्णन निम्न प्रकार किया है:—

"वह दूत राजा भीम के पास इस प्रकार पहुँचा मानो रौद्र समुद्र में से मकर ही उछल पड़ा हो[२७]।"

विवाह का निमंत्रण भी दूत के द्वारा भेजा जाता था। उसे कवि ने "हक्कारा" (वर्तमान हल्कारा) कहा है[२८]। इसी प्रकार दुर्योधन ने भी कृष्ण के पास जिस व्यक्ति के द्वारा अपना लेख-पत्र भेजा, उसे कवि ने लेख-धारी के नाम से अभिहित किया है[२९]। विशेष कुछ भी हो, वस्तुतः वे सभी 'शासनहर दूत' की कोटि के ही दूत हैं।

३. कवि का सैन्य प्रकार एवं युद्ध-विद्या संबंधी ज्ञान

(१) कवि सिद्ध ने प्रद्युम्नचरित में युद्ध वर्णन के प्रसंगों में विविध प्रकार की शब्दावलियों के प्रयोग किये है, जिनसे प्रतीत होता है कि वह युद्ध-विद्या का अच्छा ज्ञाता था। उसकी शब्दावलियों में से अच्छोह, कटक, सण्णाह, कपित्थ, सडंग, स्कन्धावार, चतुरंगिणी सेना एवं चमु के प्रयोग प्रमुख हैं। कृष्ण एवं शिशुपाल युद्ध, राजा, मधु एवं भीम-युद्ध, प्रद्युम्न एवं कालसंवर-युद्ध, तथा प्रद्युम्न एवं कृष्ण के युद्ध के वर्णनों से ही हमारा उपर्युक्त अनुमान का समर्थन होता है।

(२) शस्त्रास्त्र—अनादिकाल से मानव अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए विविध प्रकार के संघर्षों को करता आया है। सम्भवतः इसीलिए नृतत्व-शास्त्र की एक परिभाषा के अनुसार हथियारों के विधिवत् प्रयोग करने वाले को 'मानव' कहा गया है। सिन्धु घाटी में जब खुदाई की गई, तो उसमें विविध प्रकार के आभूषण, आलेख, मुहरें एवं भवन संबंधी सामग्री के साथ-साथ विविध

प्रकार के हथियारों की भी उपलब्धि हुई है, इससे हथियारों की प्रचीनता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

वैदिक-काल में धनुर्विद्या को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, इसलिए उसे धनुर्वेद की संज्ञा प्रदान की गई। उसी समय से लोहे के प्रयोग के उदाहरण भी मिलने लगते हैं। वहाँ धनुष को कोदण्ड, सारंग, इषु एवं कार्मुक जैसे नामों से संबोधित किया गया है। इतना ही नहीं, उसके इषुकृत जैसे शब्द-प्रयोगों से भी पता चलता है कि उस समय धनुष-बाणों के निर्माण करने संबंधी उद्योग-धन्धे भी पर्याप्त मात्रा में प्रचलित हो गए थे।

यूनान के प्रसिद्ध इतिहासकार 'हेरोडोडस' ने लिखा है कि ई. पू. पाँचवी सदी में फारस की सेना में भारतीयों का भी एक दल सम्मिलित था, जो धनुष बाण चलाने में अत्यन्त कुशल माना जाता था[१०]। कौटिल्य ने बाणों के साथ अन्य अनेक हथियारों के भी उल्लेख किये हैं। महाभारत, जो कि युद्ध-विद्या का एक महान् ऐतिहासिक ग्रंथ रत्न है, उसमें भिन्दिपाल, शक्ति, तोमर, नालिका जैसे अनेक हथियारों के उल्लेख मिलते हैं। शस्त्रों की यह परम्परा परवर्त्तीकाल में उत्तरोत्तर विकसित होती रही।

कवि सिद्ध ने सम्भवतः पूर्व-साहित्यावलोकन तो किया ही, साथ ही उन्हें समकालीन प्रचलित युद्ध-सामग्री की भी जानकारी थी, क्योंकि प्रद्युम्नचरित में कवि ने प्राच्यकालीन युद्ध-सामग्री के साथ-साथ अनेक शस्त्रों के उल्लेख किये हैं। विविध बाणों, सिद्धियों एवं विद्याओं के प्रकार भी उसमें उल्लिखित हैं। इनकी वर्गीकृत सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है—

१. चुभने वाले हथियार—खुरुप्प, कुन्त, बल्लभ, भाला।

२. काटने वाले हथियार—खड्ग, रथांगचक्र, चक्र।

३. चूर-चूर कर डालने वाले हथियार-शेल, सब्बल, शूल, मुद्‌गर, घन।

४. दूर से फेंके जाने वाले अस्त्र—मोहनास्त्र, दिव्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, गिरिदुअस्त्र. तमप्रसार, नागपाश, हलप्रहरणास्त्र, प्रहरणास्त्र।

५. विविध प्रकार के बाण—पंचाणणुबाण, धोरणिबाण, कणयबाण, शुक्लबाण, दिव्य-धनुष इक्षुकोदंड, भुसुढि।

दैवी-सिद्धियाँ

क. विद्याएँ- प्रज्ञप्तिविद्या, गृहकारिणी-विद्या, सैन्यकारिणी-विद्या, जयसारी-विद्या, इन्द्रजालविद्या, आलोचनी-विद्या।

ख. शक्तियाँ-तीन बुद्धियाँ एवं तीन शक्तियाँ। कवि ने इनके नामों के उल्लेख नहीं किये हैं।

इस प्रकार यहाँ प्रद्युम्नचरित के कुछ राजनीतिक संदर्भों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया। कवि नें समकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उनका अपनी कृति में प्रयोग किया है। उनके आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।

❖❖❖

१. पज्जुण्णचरिउ, ४/१०/११४
२. वही १०/१६/५
३. वही, ६/११/१
४. वही, १४/५/५
५. वही, १४/५/११
६. वही, १३/५/१४
७. वही, १३/५/१४
८. आदिपुराण, ६/१९६
९. प. च. ४/१०/१४
१०. वही, ४/१०/१४
११. वही, १०/१६/५
१२. वही, १/१२/१०
१३. वही, पज्जुण्णचरिउ १/४/१०
१४. वही, ६/११/१
१५. वही, ६/१०/४, ६/१०५/५, ६/१८/१.
१६. वही ६/१८/८-१०
१७. वही, ६/१८/३-४
१८. वड्ढमाणचारिउ, ३/७/१४
१९. वही, ३/८/४
२०. वही ३/९/१२
२१. प. च. ६/१/१३
२२. वही, ६/१६/७
२३. वही, ६/९/७
२४. पज्जुण्णचरिउ, ७/३/२
२५. दे. राजनय के सिद्धांत; डा. गाँधी राय (पटना, १९७८ पृ.0 १८0-१८
२६. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, ११/१५/१–५९
२७. प्रद्युम्नचरित, ६/१३/११-१२
२८. प्रद्युमनचरित, १४ /३/१७
२९. प्रद्युम्नचरित, ३/९/११
३०. भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्र और युद्धकला, (राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, पृ. ५

अंग्रेजी में अनूदित कुछ जैन आर्षग्रन्थ

❑ श्री कुन्दनलाल जैन

इस सदी के प्रथम दशक से चौथे दशक तक लगभग ३०-३५ वर्षों में जैन आर्ष ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवादीकरण जैन इतिहास की इस सदी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके पीछे मूल कारण कुछ भी रहा है, पर दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं– पहली तो यह कि इस समय भारत पर अंग्रेजों का शासन था अतः अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व होना स्वाभाविक था। हर कोई अपना मंतव्य अंग्रेजी में प्रस्तुत करने में गौरव अनुभव करता था। दूसरी, इन दिनों जैन साहित्य का अनुसंधान बहुत ही सामित स्थिति में था, विदेशी एवं जैनेतर विद्वानों में यह धारणा प्रचलित थी कि "जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा है" इस भ्रान्ति को निर्मूल सिद्ध करने के लिए तथा जैन धर्म और साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु इस समय के प्रमुख विद्वान् बेरिस्टर चंपतराय जी, बैरिस्टर जुगमंदर लाल जी जैनी, श्री अजित प्रसाद जी लखनऊ, ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी प्रभृति लोगों ने अनथक प्रयत्न किया था। अंग्रेजी के साथ-साथ ये जैन दर्शन के भी विशेषज्ञ थे। इन्होंने प्राकृत और संस्कृत का भी अच्छा अध्ययन किया था, जिससे ये लोग कुन्दकुन्द, उमास्वामी आदि धुरंधर जैनाचार्यों के ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद कर सके।

श्री कुमार देवेन्द्र प्रसाद—इन विद्वानों में एक और होनहार क्रान्तिद्रष्टा युवक थे आरा के श्री कुमार देवेन्द्र प्रसाद जी। ये समय की नजाकत को समझते थे। इनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक, व्यापक एवं व्यावहारिक था। ये जैन धर्म को रूढ़िवादिता से निकाल कर आधुनिक विकासशील परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना चाहते थे। ये प्रकाशन क्षेत्र के विशेषज्ञ थे, प्रेस संबंधी तकनीक में इन्होंने अच्छा अधिकार हासिल कर लिया था। इन्हें जैन आर्ष ग्रंथों को अंग्रेजी में प्रस्तुत कराने की बड़ी तमन्ना थी। इन्हें उपर्युक्त विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ और इन्होंने आरा में The Central Jain Publishing House की स्थापना की और इस संस्था के अन्तर्गत The Sacred Books of Jainas नामक सीरिज में क्रमशः सभी जैन आर्ष ग्रंथों के अंग्रेजी अनुवाद का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया। अभी द्रव्यसंग्रह आदि कुल तीन ग्रंथों का प्रकाशन हो पाया था कि क्रूर काल ने असमय में ही उन्हें कवलित कर लिया। मार्च १९२१ में कुमार सा. का देहावसान हो गया और यह पुनीत कार्य रुक गया।

श्री अजितप्रसाद जी—कुछ दिनों बाद यह पुण्य कार्य ब्र. शीतल प्रसाद जी की प्रेरणा से श्री अजितप्रसाद जी एडवोकेट लखनऊ ने संभाला। The Central Jain Publishing House आरा से उठकर अजिताश्रम लखनऊ में आ गया और बड़े जोर-शोर से प्रकाशन होने लगा।

श्री अजितप्रसाद जी अपने समय के विख्यात वकील थे, पर उनकी जैन तत्व-ज्ञान की गरिमा के कारण लोग उन्हें पंडित जी कहने लगे थे। वे हाईकोर्ट के वकील थे, बीकानेर हाईकोर्ट के जज थे, इन्दौर लेजेस्लेटिव काउंसिल के प्रेसीडेन्ट थे, अंग्रेजी जैन गजट के वर्षों संपादक रहे। सन् १९२३ से १९२९ तक शिखरजी, पावापुरी तथा राजगिरि जैसे तीर्थक्षेत्रों के तीर्थयात्रा सम्बन्धी मुकदमें पटना, कलकत्ता, बम्बई, हजारीबाग, रांची आदि के हाईकोर्टों में बड़ी सफलतापूर्वक लड़े थे और जैनियों को न्याय दिलवाया था। इन्होंने अनेकों ग्रंथ मूल अंग्रेजी में लिखे तथा अनेकों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। सितम्बर १९३० में आपने हाईकोर्ट से स्तीफा दे दिया था। इसके बाद अपने अभिन्न-मित्र डॉ. मोतीसागर की लाहौर में अचानक मृत्यु हो जाने से उनके पुत्र सेठ प्रेमसागर को कानूनी उलझनों से बचाने के लिए आपको लाहौर में बड़ा जबर्दस्त पेचीदा मुकद्दमा लड़ना पड़ा था।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी—ब्रह्मचारी जी अपने समय के बड़े क्रान्तिकारी विचारक थे, श्रेष्ठ समाजसुधारक और जैन दर्शन तथा तत्त्वज्ञान के उच्चकोटि के ज्ञाता एवं व्याख्याता थे। वे वर्षों 'जैन मित्र' के संपादक रहे और इसके माध्यम से रुढ़िवादी जैन समाज को झटके दे देकर प्रकाश-पथ पर लाये थे। उनके प्रगतिशील विचारों से रूढ़िवादी जैन समाज इतना अधिक चिढ़ गया था, कि उन्हें जगह-जगह अपमानित होना पड़ा था, पर वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए थे। यह उन्हीं की प्रेरणा थी कि जैन आर्ष-ग्रंथों की विशेषता से विदेशी एवं जैनेतर विद्वान् परिचित हो सके और जैनधर्म एक स्वतंत्र धर्म के रूप में निखर कर लोगों के समक्ष प्रस्तुत हो सका और आज जैन संस्कृति, साहित्य, दर्शन, तत्त्वज्ञान, समाज का जो विकसित रूप संसार में विख्यात है, यह सब उन्हीं की सत्कृपा और प्रेरणा का फल है।

श्री शरदचन्द्र घोषाल—घोषाल मोशाय जैन नहीं थे पर जैन ग्रंथों का अध्ययन उनका उच्चकोटि का था। द्रव्यसंग्रह और परीक्षामुख जैसे ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने किया था। वे अपने समय के लब्धप्रतिष्ठित, ख्यातिप्राप्त विद्वान् थे। उन्होंने अनेकों ग्रंथों की रचना, अनुवाद एवं संपादन किया था। वे कूच विहार के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट थे तथा दिल्ली के हिन्दू कालेज में अंग्रेजी और दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे। वे अनेकों उपाधियों से विभूषित थे।

बैरिस्टर चम्पतराय जी, जे. एल. जैनी सा. प्रभृति विद्वानों के विषय में स्व. श्री अयोध्या प्रसाद जी गोयलीय ने अपने 'जैन जागरण के अग्रदूत' नामक ग्रंथ में विस्तार से लिखा है। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति लेख का कलेवरवर्द्धन मात्र ही होगा। अंग्रेजी में अनूदित जैन आर्ष ग्रन्थों का विवरण तालिका के रूप में संलग्न है। अंत के दो ग्रंथों को छोड़कर सभी की साइज ९.५ × ६ इंच के रूप में एक समान है, सभी सजिल्द हैं, सभी का कागज, छपाई, गेटअप वगैरह सब उच्चकोटि के हैं। जिनके पास ये ग्रंथ हैं वे बड़े भाग्यशाली हैं। प्रो० ए. चक्रवर्ती, डा. उपाध्ये, डा. हीरालाल जी, डा.पी. एल. वैद्य,डा. वेलंकर प्रभृति विद्वानों ने भी जैन ग्रंथों पर अंग्रेजी में काम किया है, पर प्रक्रिया एवं पद्धति इनसे भिन्न रही।

अंग्रेजी में अनूदित जैन आर्ष ग्रंथों की तालिका

ग्रन्थ-नाम भाषा,गाथा संख्या (श्लोक) संख्या	मूलग्रन्थ कर्ता व समय सनाम	अंग्रेजी-अनुवादक	प्रकाशक	प्रेस का नाम व मालिक	प्रकाशन वर्ष ई.	मूल्य रु.आ.	ग्रंथ की पृ.ष्ठ संख्या	विशेष-विवरण
द्रव्यसंग्रह प्राकृत ५८ गाथाएँ	नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ब्रह्मदेव टीका सहित १०वीं. ई.	शरतचंद्र घोषाल	कुमार देवेन्द्र प्रसाद, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा (सें.जै.प.हा.)	अपूर्व कृष्ण बोस, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद	1917 ई.	५.८	१०३	The Sacred Books of Jains सीरीज का यह सर्वप्रथम ग्रंथ है। मूल प्राकृत गाथा के साथ अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी टीका है, गाथा की संस्कृत छाया फुटनोट में है। अंत में ब्रह्मदेव की ग्रंथ संग्रह वृत्ति भी दी है, अंत में ३५ पृष्ठ का परिशिष्ट है, २६ मई १९१७ को श्री घोषाल द्वारा लिखित आमुख तथा ४८ पृ. की विस्तृत शोधपूर्ण भूमिका है। गोम्मटस्वामी, चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय द्वारा निर्मित नेमिनाथ का मंदिर, गोम्मटस्वामी के चरणों का शिलालेख, विन्ध्यगिरि पर बाहुबली का मंदिर, शिलालेख आदि के चित्रों की प्लेटें हैं। इसके प्रकाशन के लिए दिल्ली के रा. सा. प्यारेलाल जी तथा देहरादून के खजांची श्री अजितप्रसाद की पत्नी चमेली देवी 'जिनवाणी भक्त' व "विद्या प्रेमी" ने १/६, १/६ भाग दान में दिया था।
पंचास्तिकाय समयसार प्राकृत १८० गाथाएँ	कुन्दकुन्दाचार्य पहली सदी ई.	प्रो. ए. चक्रवर्ती नयनार एम.ए.एल.टी.	"	श्री विश्वेश्वरनाथ भार्गव, स्टेन्डर्ड प्रेस, इलाहाबाद	१९२० ई.	४-८	१७४	मूलगाथा, अंग्रेजी अनुवाद, अंग्रेजी टीका है, संस्कृत छाया फुटनोट में दी है। चक्रवर्ती का आदमकद चित्र चुस्त पायजामा, लंबा कोट तथा सिर पर पगड़ी सहित है। वे प्रेसीडेन्सी कालेज में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे। ९६ पृ. की ऐतिहासिक एवं दार्शनिक भूमिका है। इसके प्रकाशनार्थ १/६ खर्च शिवचरण जी इलाहाबाद ने दिया था।
गोम्मटसार (जीवकाण्ड) प्राकृत ७३४ गाथा	नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती १०वीं सदी ई.	रा.ब. जगमन्दरलाल जैन बैरिस्टर बार.एट.ला.	अजितप्रसाद एडवोकेट, से. जैन प.हा.अजिताश्रम लखनऊ	के.डी. सेठ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ	१९२७ ई.	५.८	३५०	मूल प्राकृत गाथा, उनकी संस्कृत छाया, अंग्रेजी अनुवाद और फिर विस्तृत अंग्रेजी टीका (व्याख्या) दी है। अंत में बैरिस्टर चम्पतराय जी तथा बैरिस्टर जगमंदरलाल जैनी की लिखित पुस्तकों की विस्तृत सूची कीमत सहित दी है।

1	2	3	4	5	6	7	8	9
गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)1 प्राकृत ९९७ गाथाएं	,,	,,	,,	,,	१९३७ ई.	४.८	२५५ पृ.	मूलगाथा, संस्कृत छाया, अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी टीका (व्याख्या)।
आत्मानुशासन संस्कृत २७० श्लोक	गुणभद्राचार्य ७वीं सदी ई.	,,	,,	,,	१९२९ ई.	२.८	76 पृ.	इसमें मूल श्लोक का अंग्रेजी अनुवाद मात्र है। ६ मार्च २८ (फागुनी पूर्णिमा वी. नि. सं.२४५३) का अजित प्रसाद जी का संक्षिप्त प्रकाशकीय नोट भी है।
समयसार प्राकृत ४३७ गाथाएं	कुन्दकुन्दाचार्य दूसरी सदी ई.	,,	,,	,,	१९३० ई.	३.००	२१४ पृ.	मूलगाथा, संस्कृत छाया, अंग्रेजी टीका (व्याख्या) और अंग्रेजी अनुवाद है, २० अप्रैल २७ की इंदौर में लिखी आठ पृ. की भूमिका है, जैनी सा. का चित्र भी है। ब्र. शीतलप्रसाद जी के सहयोग का उल्लेख है। यह जगमंदर लाल जैनी स्मारक माला का तीसरा पुष्प है।
नियमसार प्राकृत १८६ गाथाएँ	कुन्दकुन्दाचार्य दूसरी सदी ई.	उग्रसेनजी ए.एम.एल.बी. एडवोकेट,रोहतक	अजितप्रसाद से.जै.प.हा. अजिताश्रम,लखनऊ	के.डी.सेठ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ	१९३१ ई.	२.८	७८ पृ.	मूल प्राकृत गाथा, संस्कृत छाया, अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी टीका (व्याख्या) दी हुई है। ५ नवम्बर २८ को उग्रसेन जी द्वारा लिखित ९ पृ. की प्रस्तावना है, तथा ३१ मई १९३१ का अजितप्रसाद जी का प्रकाशकीय नोट है।
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय संस्कृत २२६ श्लोक	अमृतचन्द्र सूरि १२वीं ई.	अजितप्रसादजी	अभिनन्दन प्रसाद जी से.जै.प.हा. अजिताश्रम लखनऊ	,,	१९३३ ई.	४.८	९० पृ.	मूल संस्कृत श्लोक, अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी व्याख्या दी है। श्री अजितप्रसाद जी का सन् १९०९ की चित्र भी है, तथा शिशु सहित माताजी का चित्र भी है, जिन्हें यह टीका भेंट की गई है। यह टीका सन् १९१३ से १९१७ तक अंग्रेजी जैन गजट में छपी थी। ५० पृ. की लम्बी प्रस्तावना है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की मूल प्रेस कापी कुमार देवेन्द्र प्रसाद ने की थी तथा नौ फर्में इण्डियन प्रेस इलाहाबाद में छप भी गये थे पर अचानक कुमार सा. की मृत्यु हो जाने के कारण तथा सारी सामग्री नष्टभ्रष्ट हो जाने के कारण श्री अभिनंदन प्रसाद जिन्होंने इसे अजिताश्रम से प्रकाशित कराया,इसमें ७ मई १९३३ का जिन्दल सा. का प्रकाशकीय नोट है, अकारादि क्रम से श्लोकों की सूची है। अंत में अंग्रेजी ग्रंथो की सूची मूल्य सहित छपी है।

1	2	3	4	5	6	7	8	9
गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)२ प्राकृत ९७२ गाथाएं	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती १०वीं सदी ई.	ब्र.शीतलप्रसाद	वीरसेवक मिशन से. जै.प. हा. अजिताश्रम लखनऊ	आर.पी.भार्गव अवध प्रिन्टिंग प्रेस चारबाग, लखनऊ	१९३७ ई.	४.८	४७६ पृ.	मूलगाथा, संस्कृत छाया, अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी व्याख्या है। यह सब कार्य श्री जे. एल. जैनी ने किया था पर अचानक जुलाई २७ में जैनी सा. का निधन हो गया तो शेषकार्य ब्रह्मचारी जी ने अजितप्रसाद जी प्रभृति अन्य विद्वानों के सहयोग से पूर्ण किया था। १३ जून ३७ की अजितप्रसाद जी की लिखी ८ पृ. की प्रस्तावना है।
परीक्षामुख प्रमेयरत्नमाला संस्कृत सहित २०७ सूत्र व टीका	माणिक्यनंदी टीका अनन्तवीर्य आचार्य ९ वीं ई. पू.	शरच्चन्द्र घोषाल	"	किरणकुमारराय मेट्रोपोलिटन प्रिन्टिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस ९० लोअर सरकुलर रोड, कलकत्ता	१९४० ई	४.८	प्रस्तावना ५२ पृ. ग्रंथ २०६ परिशिष्ट ७४ पृ.	मूलपाठ, अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी विशद व्याख्या दी है। शोधपूर्ण प्रस्तावना है तथा परिशिष्टो द्वारा ग्रंथ को समझने में सुगमता प्रदान की है। घोषाल महाशय अपने समय के विख्यात जैनेतर विद्वान् थे, जिनकी जैन साहित्य में गहरी रुचि थी और सफल व्याख्याकार थे।
तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पांचवां अध्याय संस्कृत ४२ सूत्र प्रथम संस्करण (Cosmology: old and new)	श्री उमास्वामी (गृद्धपिच्छाचार्य) दूसरी सदी ई.	प्रो. घासीरामजी जैन, विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर	ट्रस्टीज आफ जे.एल.जैनी स्टेट, इंदौर	जे.एल.रोड आलजाह प्रेस लश्कर	१९४२ ई	४.८	२२५ पृ.	श्री जैन ने ८ नवम्बर १९४२ महावीर निर्वाण दिवस पर ग्वालियर में इसका आमुख लिखा था, यह ग्रंथ सन् १९३८ में लिखा जा चुका था पर १९४२ में प्रकाशित हो पाया। १४ पृ में Prologue लिखा है. मूल संस्कृत के साथ रोमन में सूत्र लिखा है फिर विस्तृत टीका टिप्पणी और व्याख्या की है।
Key of knowledge II Edition	Sh.C.R.Jain Bar at Law	-	कुमार देवेन्द्रप्रसाद से.जै.प.हा.आरा	अपूर्वकृष्ण बोस इंडियनप्रेस इलाहाबाद	प्रथमसंस्करण जुलाई १९१५	१०.00	१०९६ पृ. परिशिष्ट १०२ पृ.	सम्पूर्ण ग्रंथ अंग्रेजी में है, श्री चम्पतराय जी के हस्ताक्षरों वाला चादर लपेटे चित्र है। २५ पृ. की Readers own page index लगी है जो अन्यग्रंथों में कदापि नहीं देखी, १५ जून १९१९ को हरदोई में लिखा चार पृष्ठ का आमुख है।

नोट—श्री जैनी सा. ने "तत्वार्थाधिगम सूत्र" नामक पूरे के पूरे ग्रंथ का भी अनुवाद किया था पर ग्रंथ न मिल सकने के कारण तत्संबंधी सामग्री प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं। खेद है कि उनके ग्रंथ उनके सामने प्रकाशित न हो सके।

❖❖❖

जैन साहित्यकार और राजनीति

❑ *श्री जगरूपसहाय जैन*

दुर्भाग्य की बात तो यह है कि जैन साहित्यकारों पर एक ऐसा आक्षेप लगाया जाता है जिसका न तो कोई आधार है और न जिसमें कोई सत्यता ही है। कहा जाता है कि जैन साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में धर्म तथा मोक्ष का तो विशुद्ध विवेचन किया है किन्तु सामने खड़े संसार की उपेक्षा की है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। वैसे इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि सम्पूर्ण जैन साहित्य पर धार्मिकता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। कवि कल्पना के सुकुमार विलास काव्य भी इस धार्मिकता से अछूते नहीं बच पाये हैं। इसका कारण यह है कि सभी जैन साहित्यकार जीव-कल्याण की भावना से अभिप्रेरित रहे हैं। चतुर्गति में भ्रमणकर, महान् कष्टों के दावानल में जलने वाला जीव अपनी आत्यन्तिक स्वतंत्रता को प्राप्त कर ले और एक ऐसे आनन्द में डूब जाय जिसका कभी अन्त न हो, जैन साहित्यकारों की रचनाओं में इस भावना को प्रथम वरीयता का स्थान मिला है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना कि जैन साहित्य में धार्मिकता के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, नितान्त अन्यायपूर्ण है। जैन साहित्य ने यदि जीव को ऊपर (स्वर्ग, मोक्ष) अथवा नीचे (नरक) देखने की शिक्षा दी है, तो उसने लौकिक जीवन को भी अछूता नहीं छोड़ा है। यही कारण है कि जैन कवियों तथा लेखकों की कृतियों में न्याय, ज्योतिष, गणित, भौतिक आदि विविध विज्ञान, प्राणीशास्त्र, भूगोल सम्पत्ति आदि सभी विषयों का सरस, सुबोध और विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। राजनीति का भी कोई ऐसा अंग नहीं है जिसे गहराई से स्पर्श न किया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे राजनीति के प्रासाद का एक-एक कोना जैन रचनाकार झाँककर आये हों। हाँ, इतना अवश्य है कि इस विस्तृत विवरण के लिए हमें विविध जैन लेखकों तथा कवियों की रचनाओं के द्वार पर दस्तक देनी होगी।

राजा की नीति को राजनीति कहा जाता है। अतः राजा कैसा हो, इसी प्रश्न पर सर्वप्रथम विचार करें। इसका बहुत सुन्दर समाधान हमें आचार्य समन्तभद्र के 'स्वयंभू स्तोत्र' में मिलता है। भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति करते हुए आचार्य लिखते हैं कि 'हे शान्ति-जिन, आपने शत्रुओं से अपने प्रजा-जनों की रक्षा की है, अतः आप अप्रतिमप्रताप विभूषित राजा हुए हैं।'[1] उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य पद को वही राजा सुशोभित करने का अधिकारी है जो अपनी प्रजा की रक्षा करता है। अपने ऊपर सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन-निर्वाह का भार लेकर उससे पराङ्मुख हो जाये, वह राजा थोड़े ही है, वह तो आत्म-प्रवंचक है। राजा का पद भोगविलास

का पद नहीं है, वह तो उत्कृष्ट त्याग का पद है और जो राजा अपनी प्रजा के हित में अपने स्वार्थों की तिलाञ्जलि दे दे, वही उत्कृष्ट प्रशंसा और सम्मान का पात्र है। राजा और राज्य के त्यागमय होने के कारण ही आचार्य सोमदेव ने राज्य को नमस्कार किया है[२]—"धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः"। आचार्य सोमदेव के मत में वही व्यक्ति राज्यपद का अधिकारी हो सकता है जो 'धर्मात्मा, कुल अभिजन और आचार से शुद्ध, नैतिक, न्यायी, निग्रह-अनुग्रह में तटस्थ, आत्म-सम्मान, आत्म-गौरव से व्याप्त और कोशबल से सम्पन्न है।'[३]

अपने महाकाव्य 'चन्द्रप्रभ-चरित' में वीरनन्दी स्वामी ने भी राजा के विषय में इसी प्रकार का विवरण प्रस्तुत किया है। "तुम कलिकाल के दोषों से मुक्त रहकर, अर्थ और काम पुरुषार्थ की ऐसी वृद्धि करना जो धर्म की विरोधी न हो क्योंकि समानरूप से त्रिवर्ग सेवन करने वाला राजा ही दोनों लोकों को सिद्ध करता है। जो राजकर्मचारी प्रजा को कष्ट पहुँचाते हैं उनका तुम निग्रह करना और जो प्रजा की सेवा करते हैं उनको वृद्धि देना, क्योंकि ऐसा करने से वन्दीजन तेरी कीर्ति गायेंगे (अर्थात् तुम यशस्वी बनोगे) और वह क्रमशः दिग्दिगन्त तक फैल जायगी।"[४]

राजा सम्बन्धी प्रश्न के उपरान्त अब हम उनकी नीति के सिद्धान्तों पर आते हैं। राजनीति के ये सिद्धान्त उतने ही प्राचीन हैं जितनी की कर्मभूमि। भरत कर्मभूमि के प्रथम सम्राट् थे और उन्होंने ही इन सिद्धान्तों को निश्चित किया था तथा स्वयं इनका परिपालन भी किया। किन्तु ये सिद्धान्त आज भी उतने ही अनिवार्य हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि समय और परिस्थिति के अनुसार इनके साधन और प्रयोग में अन्तर आ सकता है और आया भी है। ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। ये राजाओं के छः गुण हैं। उत्साह, मन्त्र और प्रभाव ये तीनों शक्तियाँ हैं। साम, दाम, भेद और दण्ड ये चार उपाय हैं। सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, कालविभाग और विपत्ति प्रतीकार, ये पाँच अंग हैं।

राजनीति के इन सिद्धान्तों का सफल प्रयोग वही राजा कर पाता है जो समस्त राजविद्याओं में निष्णात हो। किन्तु राजविद्याओं की संख्या के विषय में सभी राजनीतिक विद्वान् एक मत नहीं हैं। प्राचीनकाल से ही इस पर मतभेद चला आ रहा है। शुक्राचार्य के शिष्य मात्र दण्डनीति को ही राजविद्या मानते हैं, क्योंकि दण्ड एक ऐसा अस्त्र है जिसके भय से सभी लोग अपने-अपने कार्य में अवस्थित रहते हैं। वृहस्पति के अनुयायी वार्ता और दण्डनीति, इन दो को राजविद्या कहते हैं। मनुस्मृति के भक्तों के मत में त्रयी-वार्ता और दण्डनीति ये राजविद्यायें हैं। कौटिल्य आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, इन चार को राजविद्यायें मानते हैं। आचार्य सोमदेव ने भी इन्हीं चार को राजविद्या माना है। अध्यात्म विषय का निरूपण करने वाली आन्वीक्षिकी, पठन-पाठन, पूजन एवं विधान का वर्णन करने वाली त्रयी, कृषि तथा पशुपालन आदि व्यवसायों का वर्णन करने वाली वार्ता और साधु-संरक्षण तथा दुष्टों का निग्रह जिसमें वर्णित है, वह दण्डनीति कहलाती है।[५]

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में आचार्य सोमदेव का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। यदि शुक्राचार्य, बृहस्पति, मनुस्मृति के प्रणेता मनु तथा कौटिल्य को याद किया जायगा, तो आ. सोमदेव को भी विस्मरण करना संभव नहीं है। उनका 'नीतिवाक्यामृत' एक ऐसा अनमोल ग्रन्थरत्न है जिसमें राजनीति के सम्पूर्ण अंगों का सरस तथा सुबोध विवेचन किया गया है। तात्कालिक तथा बाद के सभी राजनीतिक विद्वान् इस ग्रन्थ से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं तथा इसे वे एक आदर्श मानते हैं। किन्तु उनका दूसरा ग्रन्थ 'यशस्तिलक चम्पू' भी कम मूल्यवान् नहीं है। इसका तृतीय आश्वास आचार्यश्री के गहन राजनीतिक चिन्तन को अपने उदर में समेटे हुए है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का प्रणयन कर आ. महाराज ने संस्कृत साहित्य का एक महान् उपकार किया है। यह ग्रन्थ चैत्र शु. १३, शक् संवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) को सामन्त वद्दिग, जो चालुक्यवंशीय अरिकेसरी के प्रथम पुत्र थे—की राजधानी गंगाधारा में पूर्ण हुआ। आइये, हम इन बहुश्रुत विद्वान् की राजनीतिक विचारधारा से थोड़ा परिचय करें।

आचार्य कहते हैं कि विजयशाली राजाओं में वही राजा विजयश्री प्राप्त करता है जो नय (राजनीतिक ज्ञान व सदाचार सम्पत्ति) के साथ रहने वाली पराक्रम शक्ति (सैन्य व खजाने की शक्ति) से विभूषित है। जिस प्रकार जड़-सहित वृक्ष शाखा पुष्प व फलादि से वृद्धिंगत होता है उसी प्रकार राज्यरूपी वृक्ष भी राजनीतिक ज्ञान, सदाचार तथा पराक्रम शक्ति से समृद्धिशाली होता है।[५] सैन्यबल के विषय में राजाओं को यह नीति अपनानी चाहिए कि बिना विचारे सैनिकों की संख्या न बढ़ायी जाय, क्योंकि प्रायः ऐसी सेना उपयुक्त अवसर पर अनुपयुक्त सिद्ध होती है। आचार्य का कहना है कि "पुष्ट, शूरवीर, अस्त्रकला के जानकार और स्वामीभक्त श्रेष्ठ क्षत्रियों की थोड़ी-सी सेना भी कल्याणकारिणी होती है, व्यर्थ झुण्ड को एकत्रित करने से क्या लाभ है? इसी प्रकार कोषवृद्धि के लिए विजय के इच्छुक राजाओं को सभी वैध उपायों से अपनी आय बढ़ाना चाहिए और यह भी देखना चाहिए कि उनका व्यय आय से कम है। राजा के आय और व्यय की व्यवस्था में मुनियों के कमण्डलु[७] का दृष्टान्त समझना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार कमण्डलु में जल-ग्रहण का द्वार तो बड़ा होता है और निष्कासन का द्वार छोटा, उसी प्रकार राजा की आय तो अधिक होनी चाहिए और व्यय कम। इसी प्रसंग में यहाँ तक कहा गया है कि जो आय का विचार न करके व्यय करता है वह कुबेर के समान प्रचुर धन का स्वामी होकर भी नंगा हो जाता है, राजा का दरिद्र हो जाना तो स्वाभाविक है।[८]

जब कोई राजा विजिगीषा की भावना से अपने राष्ट्र की रक्षा की चिन्ता न कर अन्य देश पर आक्रमण करता है, तो वह एक खतरनाक स्थिति है। ऐसे राजा को आचार्य बड़ी सुन्दरता से सावधान करते हैं—"जो राजा अपने राष्ट्र की रक्षा न करके दूसरे के देश को ग्रहण करने की इच्छा करता है, वह उसी प्रकार हँसी व निन्दा का पात्र होता है जिस प्रकार अन्तरीय वस्त्र (धोती) उतारकर उसके द्वारा अपना मस्तक वेष्टित करने वाला (साफा बाँधने वाला) मानव हँसी व निन्दा का पात्र होता है।"[९] विजिगीषु राजा को साम-दाम आदि विजय के सभी उपायों

का ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा उसकी भुजाओं की शक्ति निरर्थक है। वह अपने शत्रु पर उसी प्रकार विजयश्री प्राप्त नहीं कर सकता जिस प्रकार कि धनुष पर न चढ़ा हुआ बाण अपने लक्ष्य को भेदने में अशक्य है।[10] किन्तु दण्डनीति का प्रयोग तो उसी समय किया जाना चाहिए जब साम आदि उपाय असफल हो जाएँ। दण्डनीति का प्रयोग किस समय किया जाय, इसका भी प्रावधान आचार्य ने किया है। राजाओं के सन्धि व विग्रह के सूचक तीन काल होते हैं—उदय, समता तथा हानि। विजिगीषु को उक्त तीनों कालों में से पहिले उदयकाल में शत्रुराजा से युद्ध करना चाहिए। यतः प्रचुर सैन्यशक्तिशाली शत्रुभूत राजा के साथ युद्ध करने से हीन शक्ति वाले विजिगीषु राजा की उस प्रकार हानि होती है जिस प्रकार हाथी के साथ युद्ध करने से पैदल सैनिक की हानि होती है। अतः वन के हाथी की तरह भेद उपाय द्वारा शत्रु को दल से तोड़कर वश में करना चाहिए। विजयश्री चाहने वाले राजा को काँटे से कांटा निकालने की तरह शत्रु को शत्रुद्वारा नष्ट करने में प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी प्रकार हीनशक्ति के धारक राजा के साथ भी स्वयं नहीं लड़ना चाहिए बल्कि उसे अन्य बलवानों के साथ लड़ाकर क्षीण कर देना चाहिए अथवा किसी नीति द्वारा उसे अपना दास बना लेना चाहिए।[11] इस प्रकार युद्ध की व्यवस्था कर देने पर भी ग्रन्थकार युद्ध का पक्षपाती नहीं है। वह कहने लगता है कि "शरीर एक है और हाथ दो ही हैं, शत्रु पद-पद पर भरे पड़े हैं। काँटे जैसा क्षुद्र शत्रु भी दुःख पहुँचाता है। फिर तलवार द्वारा कितने शत्रुओं को जीता जा सकता है? जो कार्य साम, दाम और भेद के द्वारा सिद्ध न हो सके, उसी के लिए दण्ड का प्रयोग करना चाहिए। साम के द्वारा सिद्ध होने योग्य कार्य में शस्त्र का कौन प्रयोग करेगा? जहाँ गुड़ खिलाने से मृत्यु हो सकती है वहाँ विष कौन देगा? नय रूपी जाल डालकर शत्रुरूपी मत्स्यों को फँसाना चाहिए। जो भुजाओं द्वारा युद्धरूपी क्षुभित समुद्र को तरना चाहेगा, उसके घर कुशलता कैसे हो सकती है? फूलों के द्वारा भी युद्ध नहीं करना चाहिए, फिर तीक्ष्ण बाणों द्वारा युद्ध करने की तो बात ही क्या है! हम नहीं जानते युद्ध दशा को प्राप्त हुए पुरुषों की क्या दशा होती होगी।"

आ. सोमदेव ने जहाँ दण्डनीति पर इतना विस्तृत प्रकाश डाला है, वहाँ साम, दाम और भेदनीति को भी नहीं भुलाया है। आचार्य ने गुणसंकीर्तन, सम्बन्धोपाख्यान, अन्योपकारदर्शन, आयतिप्रदर्शन और आत्मोपसंधान, इन पाँच भागों में सामनीति को विभाजित किया है।[12] दाननीति वह है जहाँ पर विजय का इच्छुक राजा शत्रु से अपनी प्रचुर सम्पत्ति के संरक्षण के लिए उसे थोड़ा साधन देकर प्रसन्न कर लेता है।[13] भेदनीति वह है जहाँ विजिगीषु अपने सेनानायक, तीक्ष्ण व अन्य गुप्तचरों तथा दोनों तरफ से वेतन पाने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु सेना में परस्पर एक दूसरे के प्रति सन्देह व तिरस्कार उत्पन्न कराकर भेद (फूट) डालता है।[14] "जो राजा शत्रु-समूह में भेद (फोड़ना) न करके युद्ध करने के लिए उत्साहित रहता है, वह ऊँचे वृक्ष के स्कन्ध प्रदेशों पर लगे हुए बांस वृक्ष के खींचने वाले सरीखा आचरण करता है।"[15] राजा को उदार भी होना

चाहिए। उसे अपनी सम्पत्ति से कुछ भाग अपने कुटुम्बीजनों आदि में भी वितरण कर देना चाहिए। इस तरह न तो अंतरंग सेवकवर्ग ही भ्रष्ट होगा और न प्रजा में ही असन्तोष की ज्वाला फैलेगी। जो राजा ऐसा नहीं करता है उसका धन उसके जीवन के साथ इस प्रकार क्षय को प्राप्त होता है जिस प्रकार शहद का छत्ता शहद की मक्खियों के क्षय के साथ नष्ट हो जाता है।[१६] राज्य में स्थिर शान्ति का यह एक अमोघ उपाय है।

आचार्य सोमदेव राजा के शारीरिक व बौद्धिक बल, दोनों को ही महत्त्वशाली मानते हैं। उनका कथन है, "शक्ति-हीन राजा का बौद्धिक-बल किस काम का? और बुद्धिहीन राजा की शक्ति किस काम की? क्योंकि दावानल के ज्ञाता पंगुपुरुष के समान ही सबल अन्धा पुरुष भी दावानल का ज्ञान न होने से अपनी रक्षा नहीं कर पाता।"[१७] अपने शत्रुओं को वश में करने के लिए राजा को यह आवश्यक नहीं है कि वह उनके देशों पर आक्रमण करे। उसे तो एक कृषक, कुम्भकार तथा माली की तरह होना चाहिए। कृषक खेत के बीच मञ्च पर बैठकर गोला गोफण द्वारा पक्षियों को पाषाण आदि फेंककर भगाता है। ऐसे ही अपने आसन पर आरूढ़ होकर राजा को समस्त पृथ्वी का पालन करना चाहिए। कुम्भकार घर में बैठकर चक्र चलाता हुआ विभिन्न प्रकार के पात्रों को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार राजा को भी अपने ही स्थान पर बैठकर चक्र (नीति तथा सैन्य) चलाकर चारों दिशाओं में स्थित राजाओं के नगररूपी पात्रों को प्राप्त करना चाहिए। माली कटीले वृक्षों को काटकर उद्यान के चारों ओर बाड़ के रूप में लगाता है, उसी प्रकार तीक्ष्ण प्रकृति वाले राजाओं को राज्य की सीमा पर बाड़ लगाकर राजा को राज्य की रक्षा करना चाहिए। माली परस्पर में मिले हुए आम, अनार आदि वृक्षों को पुनः आरोपित करता है, फूले हुए वृक्षों से पुष्पराशि चुनता है, छोटे वृक्षों व पौधों को बढ़ाता है, ऊँचे वृक्षों को भली प्रकार नीचे झुकाता है, विशालवृक्षों को कृश (कलम) करता है तथा ऊँचे वृक्षों को गिराता है, उसी प्रकार राजा को परस्पर मिले हुए शत्रुभूत राजाओं को भेदनीति द्वारा पृथक् कर देना चाहिए, धनाढ्य प्रजाजनों से कर के रूप में छठा अंश ग्रहण करके पृथ्वी का पालन करना चाहिए, घमण्डी शत्रुभूत राजाओं को वश में करना चाहिए, बड़ों को हल्का कर देना चाहिए, उनकी सेना को कम कर देना चाहिए और प्रचुर फौजवाले शत्रुभूत राजाओं को युद्धभूमि में धराशायी कर समस्त पृथ्वी का पालन करना चाहिए।[१८] उसे हीन-शक्ति वाले शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार पीपल वृक्ष के छोटे से बीज से भी उत्तर काल में एक बड़ा वृक्ष तैयार होकर अन्य वृक्षों को समूल नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हीन-शक्ति वाले शत्रु की संतान भी भविष्य में उसे भय उत्पन्न कर सकती है।[१९]

राज्य के सन्धि-विग्रहादि कार्य राजदूत के द्वारा ही सम्पादित किए जाते हैं।अतः राजदूत भी राजा के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि देश के अन्दर मंत्री होता है। आचार्य सोमदेव के अनुसार राजदूत वही हो सकता है जो "स्वामीभक्त, व्यसनों में अनासक्त, चतुर, पवित्र, विद्वान, उदार, बुद्धिमान्, सहिष्णु, शत्रुरहस्य का ज्ञाता और कुलीन हो। इसी प्रकार

गुप्तचर-संस्था भी राज्य का प्राण है। जिस राज्य में गुप्तचर नहीं होते, वह राज्य टिक नहीं पाता। राजा अपनी राजधानी में बैठकर गुप्तचरों के माध्यम से ही स्व-परराष्ट्र की हलचलों से परिचित हो पाता है। इसीलिए नीतिकारों ने गुप्तचरों को राजाओं का लोचन बताया है।[20] राजाओं को सावधान भी किया गया है कि वे गुप्त चरों की उपेक्षा न करें, अन्यथा उनका पद-पद पर ऐसा ही पतन होगा, जैसा चक्षुओं के अभाव में अंधे का होता है। आ. सोमदेव के मत से गुप्तचर वही हो सकता है 'जो चतुर हो, शूरवीर हो, निर्लोभ हो, प्राज्ञ हो, गम्भीर हो, प्रतिभाशाली हो, विद्वान हो, प्रशस्तवचन बोलने वाला हो, सहिष्णु हो, द्विज हो, प्रिय हो और निर्दोष आचार वाला हो।[21] नीतिवाक्यामृत में भी यही बात कही गयी है। गुप्तचर ३४ प्रकार के हैं और राजदूत तीन प्रकार के।[22]

जिस प्रकार सन्धि, विग्रह आदि दूरदेशवर्ती राजकीय कार्यों में राजदूत की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है, उसी प्रकार देश के अन्तवर्ती कार्यों में मंत्री की भूमिका एक अनिवार्य आवश्यकता है। "अतः राजा को अनेक मंत्री रखना चाहिए और सावधानी से उनका भरण-पोषण करना चाहिए। राजा को मन्त्र (राजनीतिक परामर्श) प्रदान करने वाला मन्त्री ही होता है। किन्तु मन्त्र क्या और मन्त्री कौन? इनका बहुत सुन्दर उत्तर आचार्य ने दिया है। जिसमें देश, काल, व्यय का उपाय, सहायक और फल का निश्चय किया जाता है, वही मन्त्र है। शेष सब मुँह की खाज मिटाना है। जिसका मन्त्र कार्यान्वित हो और फल स्वामी के अनुकूल हो, वही मन्त्री है। अन्य सब गाल बजाने वाले हैं।" मन्त्र को अविलम्ब कार्यान्वित करने पर भी आचार्य ने जोर दिया है अन्यथा वह कृपणों के दान देने के विचार की भाँति निरर्थक हो जाता है। मन्त्री कहाँ का हो, इस प्रश्न पर भी आचार्य के विचार अत्यन्त उदार हैं। 'मन्त्री स्वदेश का भी निवासी हो सकता है और परदेश का निवासी भी। राजाओं का प्रयोजन तो प्रारम्भ किए गए कार्यों का सफलतापूर्वक निर्वाह होना है। शरीर में उत्पन्न व्याधि दुःख देती है और वन में उगी औषधि सुख पहुँचाती है। पुरुषों के गुण ही कार्यकारी हैं, निज और पर की चर्चा केवल भोजन में ही शोभा देती है। राजाओं को मन्त्र द्वारा ही सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। 'मन्त्र-युद्ध से जिसे विजयश्री प्राप्त हो जाय, उसे शस्त्र-युद्ध से क्या प्रयोजन। मन्दार वृक्ष पर जिसे मधु प्राप्त हो जाय, वह बुद्धिमान् पुरुष पर्वत पर क्यों आरोहण करेगा?

जहाँ एक ओर मन्त्रियों की उपयोगिता का इतना सुन्दर प्रतिपादन आचार्यश्री ने किया है, वहीं दूसरी ओर उनके प्रति राजाओं को जागरूक रहने के लिए भी कहा गया है। जो राजा राज्य के सभी कार्य मन्त्रियों को समर्पित कर स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं, उनकी तुलना आचार्य ने उस मूर्ख व्यक्ति से की है जो बिल्लियों पर दूध की रक्षा का भार सौंप कर आनन्द से सोता है। 'मछलियों का जल में और पक्षियों का आकाश में कदाचित् गमन का मार्ग जाना जा सकता है, किन्तु हाथ से आँवले को लुप्त करने वाले इन मन्त्रियों की प्रवृत्ति को जानना असम्भव है। जिस प्रकार वैद्य धनाढ्यों के रोग को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहते हैं, उसी प्रकार

मन्त्री लोग भी राजाओं को व्यसनों में फंसाने के लिए सचेष्ट रहते हैं।'

आचार्य सोमदेव ने मंत्र की गोपनीयता[२३] पर विशेष बल दिया है। यह एक ऐसा साधन है जिसके गर्भ में, देश की उन्नति भी छिपी है और कुशलक्षेम भी। विष और शस्त्र द्वारा तो एक ही प्राणी मारा जाता है। परन्तु मन्त्र का एक विस्फोट ही सबन्धु राष्ट्र और राजा सभी को नष्ट कर देता है। अतः नीतिज्ञ राजा तो वही है जो अपने मन्त्र को प्रगट नहीं होने देता तथा अपने गुप्तचरों द्वारा अन्य राजाओं का मन्त्र जानता रहता है। मन्त्र-गोपन के लिए आचार्य का परामर्श है कि मन्त्रशाला का पूर्ण शोधन होना चाहिए। उसमें किसी भी अनुपयुक्त पुरुष का प्रवेश इसी प्रकार वर्जित होना चाहिए जिस प्रकार कि रतिक्रीड़ा के समय किसी अन्य पुरुष का सद्भाव अवाञ्छनीय है।[२४] कितने ही राजा दैव को न मानकर पुरुषार्थवादी बन जाते हैं, उनके लिए आचार्य का कहना है कि 'राजा को चाहिए कि वह क्रमशः दैव, ग्रहों की अनुकूलता, वैभव आदि और धार्मिक मर्यादा का विचार करके ही युद्ध आदि में प्रवृत्त हो। जो मानव पुण्य-प्रसाद से लक्ष्मी प्राप्त करके भी पुनः पुण्यकर्म के संचय करने में शिथिल होता है, उससे अधिक दूसरा कौन पुरुष कृतघ्न है? धर्म नष्ट करके, प्राप्त किया हुआ राजा का धन कुटुम्बी आदि द्वारा भोगा जाता है और राजा उस प्रकार पाप का भाजन होता है जिस प्रकार हाथी का शिकार करने से सिंह स्वयं पाप का भाजन होता है, क्योंकि उसका मांस गीदड़ आदि जंगली जानवर खाते हैं।' इसी प्रकार जो राजा दैव के भक्त बनकर पुरुषार्थहीन हो जाते हैं, उन्हें भी आचार्य सावधान करते हैं कि 'जो पौरुष को छोड़कर भाग्य के आश्रित रहते हैं उनके मस्तक पर उस प्रकार कौए बैठते हैं जिस प्रकार महल के कृत्रिम सिंह पर कौए बैठते हैं। उष्णता-शून्य राख पर कौन पुरुष निर्भयतापूर्वक पैर नहीं रखता?'[२५]

आचार्य जिनसेन ने अपने ग्रन्थ महापुराण के ४२ वें सर्ग में राजा के धर्म की विस्तृत देशना प्रस्तुत की है। सम्राट् भरत एकत्रित राजाओं को क्षात्रधर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'क्षत्रियों का धर्म कुल का पालन करना, बुद्धि का पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजा की रक्षा करना और समंजसपना इस प्रकार पाँच प्रकार का है। जिसने आत्मा की रक्षा की है ऐसे राजा को प्रजा के पालन करने में प्रयत्नशील होना चाहिए, क्योंकि यह राजाओं का मौलिक गुण है। उसे अपनी प्रजा का पालन एक ग्वाले की तरह करना चाहिए। ग्वाला अप्रमत्त रहकर अपने गोधन की रक्षा करता है। अपराध करने वाली गाय को उसके अनुरूप दण्ड से नियन्त्रित कर उसकी रक्षा करता है। उस गाय समूह में मुख्य पशुओं के समूह की रक्षा करता हुआ सम्पत्तिशाली बनता है। उन पशुओं पर आने वाली सभी आपत्तियों का प्रतीकार शीघ्रातिशीघ्र करता है। यदि किसी गाय की हड्डी उसके उपयुक्त स्थान से च्युत हो जाय तो वह ग्वाला उसे ठीक स्थान पर बिठाता है। कदाचित् गायों के समूह को कोई कीड़ा काट लेता है, तो वह औषधि द्वारा उसका प्रतीकार करता है। अपने पशुओं के झुण्ड में किसी बड़े बैल को अधिक भार धारण करने में समर्थ जान उसकी सेवा करता है, और बियावान वन में उन्हें चराता

हुआ उनका बड़े प्रयत्न से पोषण करता है। रात्रि के प्रहर मात्र शेष रहने पर उठकर जहाँ बहुत-सा घास और पानी होता है, ऐसे किसी योग्य स्थान में गायों को बड़े प्रयत्न से चराता है तथा बड़े सवेरे ही वापिस लाकर बछड़े के पीने से शेष बचे दूध को मक्खन आदि प्राप्ती की इच्छा से दुह लेता है। व्याघ्र, चोर आदि उपद्रव उपस्थित होने पर, निरालस होकर वह ग्वाला अपने गोधन की रक्षा करता है। यदि उसके गोधन को देखने की इच्छा से राजा आ जाय, तो वह ग्वाला भेंट लेकर उसके पास जाता है और धन-सम्पदा द्वारा उसे सन्तुष्ट करता है। इसी प्रकार राजा को भी आलस्य रहित होकर प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। अपराधी व्यक्तियों को अधिक कठोर दण्ड देकर उन्हें उद्विग्न नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उनके अनुकूल दण्ड देकर उन्हें नियन्त्रित करना चाहिए। प्रजा में मुख्य वर्ग की प्रधान रूप से रक्षा कर उसे अपने तथा दूसरे के राज्य में पुष्टि प्राप्त करना चाहिए अर्थात् ऐसा राजा समुद्रान्त पृथ्वी को बिना किसी यत्न के ही जीत लेता है। युद्ध में घायल योद्धाओं को उत्तम औषधि दिलवाकर उनकी विपत्तियों का प्रतीकार करना चाहिए तथा उनके ठीक होने पर उन्हें उत्तम आजीविका में नियुक्त कर देना चाहिए। यदि युद्ध में कोई सैनिक मरण को प्राप्त हो जाय, तो उसके पुत्र अथवा भाई आदि को उसके स्थान पर नियुक्त कर देना चाहिए। अपने सेवक को खेदखिन्न जान, उसके चित्त को संतुष्ट कर देना चाहिए और उसे उचित सम्मान देना चाहिए। सेना में जो उत्तम योद्धा हों, उन्हें उत्तम आजीविका देकर सम्मानित कर देना चाहिए। राजा को अपनी प्रजा की रक्षा करने के लिए चोर डाकू तथा इसी प्रकार के अवाञ्छित तत्वों को भी नष्ट कर देना चाहिए। निरालस होकर, अपने अधीन ग्रामों में बीज आदि देकर किसानों से अच्छी खेती कराना चाहिए तथा उनसे उचित अंश कर के रूप में ले लेना चाहिए जिससे कि उसका कोष धनधान्य से सम्पन्न हो जाय। प्रजा के अन्य अधार्मिक वर्गों को उचित साधनों द्वारा अपने वश में करना चाहिए। यदि कोई बलवान् राजा अपने सम्मुख आ जाय, तो वृद्ध लोगों के साथ परामर्श कर उस राजा को कुछ देकर उससे सन्धि कर लेना चाहिए और इस प्रकार संहारक युद्ध को टालना चाहिए। इस प्रकार जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा करता है, वह कभी भी अपनी प्रजा की ओर से दुःखी नहीं होता। उसकी प्रजा तथा सेवक, सभी उससे अनुराग करते हैं तथा उसके प्रति निष्ठावान् तथा स्वामीभक्त बने रहते हैं।[२६]

शिष्ट पुरुषों का रक्षण तथा दुष्टों का निग्रह, यह राजा का समंजसत्व गुण है। यह गुण भी प्रत्येक राजा में होना अनिवार्य है। जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनों का निग्रह करता है, जिसे किसी का पक्षपात नहीं है, जो दुष्ट और मित्र, सभी को निरपराध बनाने की इच्छा करता है, और इस प्रकार मध्यस्थ रहकर जो सब पर समान दृष्टि रखता हो, वह समंजस कहलाता है।[२७]

ये हैं कुछ मार्मिक उपदेश। राजा को दिशाबोध देने के लिए ये जैनाचार्यों के उपदेश हैं। यदि प्रत्येक शासक इन उपदेशों के अनुरूप आचरण करे, और उपरोक्त सुझावों को कार्यान्वित

करे, तो वह निःसन्देह अपनी प्रजा का महान् कल्याण कर सकता है और अपने राज्य को उन्नति के शिखर पर आरूढ़ करता हुआ इस जगत् को अलकापुरी में परिवर्तित कर सकता है। वैसे राजा भी हमारी आपकी तरह एक साधारण व्यक्ति होता है, उसके भी दो हाथ, दो पैर, दो आँखें और दो कान होते हैं, वह भी हमारे और आपके समान सोना, जागना, खाना, पीना आदि नित्यकर्म करता है। किन्तु यदि उसका हृदय जन-कल्याण की भावना से ओतप्रोत है तो वह अपनी अलौकिक प्रतिभा के प्रयोग द्वारा विद्वान पुरुषों के बताये गये मार्ग पर चलकर, ऐसी विलक्षण सफलता को प्राप्त कर सकेगा जिसे चिरकाल तक इस पृथ्वी के लोग भूला न पायेंगे।

अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अन्याय से अर्जित धन दस वर्ष तक ठहरता है और ग्यारहवें वर्ष के लगते ही मूल से नाश को प्राप्त हो जाता है।

१. "विधाय रक्षां परतः प्रजानां, राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः।"

२. नीतिवाक्यामृत-सूत्र १

३. 'धार्मिकः कुलाभिजनाचारविशुद्धः प्रतापराग्नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी', 'कोप-प्रसादयोः स्वतन्त्रः' 'आत्मातिशयं धनं वा यस्यास्ति स स्वामी।' नीतिवाक्यामृत, स्वामीसमुद्देश्य सूत्र-१-३

४. 'चन्द्रप्रभचरित' सर्ग ५, पिता का पुत्र को सम्बोधन—राजसिंहासन पर आरूढ़ होने पर।

५. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्या॥५६॥ आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः साधुपालन-दुष्टनिग्रहः॥६॥—नीतिवाक्यामृत-विद्यावृद्ध समुद्देश

६. सोमदेवसूरि-राज्यस्य मूलाक्रमो विक्रमश्च।
शुक्र :—क्रम-विक्रममूलस्य राज्यस्य यथा तरोः। समूलस्य भवेद् वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः॥

७. "आय-व्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुनिदर्शनम्"। नीतिवाक्य।

८. 'आयमनालोचय व्ययमानो वैश्रवणोऽपि श्रमणायते'—नीतिवा. अमात्यसमुद्देश सूत्र १0 अमात्यसमुद्देश, सूत्र ७

९-१०. यशस्तिलकचम्पू-श्लोक ७५, ७६, आ. ३

११. यशस्तिलकचम्पू-श्लोक ७२-९०, आ. ३

१२. 'तत्र पंचविधं साम गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपसन्धा—नमिति'—सोमदेवसूरि

१३. 'बहूवर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानम्'।—सोमदेवसूरि

१४. "योगतीक्ष्ण गूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशंकाजननं निर्भत्सनं वा भेदः॥" -सोमदेवसूरि

१५. यशस्तिलकचम्पू, श्लोक ९५ आ. ३

१६. यशस्तिलकचम्पू, श्लोक ९४ आ. ३

१७. यशस्तिलकचम्पू, श्लोक १६ आ. ३

१८. यशस्तिलकचम्पू, श्लोक ९७, ९८, १०८ आ. ३

१९. यशस्तिलकचम्पू, श्लोक १०९ आ. ३

२०. "स्वपरमंडलकार्याकार्यावलोकने चाराः खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्॥१॥ —नीतिवाक्यामृत, चार-समुद्देश

२१. यशस्तिलकचम्पू, आ. ३ श्लोक १११

२२. नीतिवाक्यामृत, सूत्र ८ चार-समुद्देश, सूत्र ३ दूतसमुद्देश।

२३. 'जो पुरुष अपनी योजना छिपाकर रखता है और दूसरे के मन्त्र का भेद पा जाता है, उसका शत्रु कुछ नहीं पा सकता है।' आ. वीरनन्दी, चन्द्रप्रभचरित्र, सर्ग ५

२४. यशस्तिलकचम्पू, आ. ३ श्लोक २८, २९

२५. यशस्तिलकचम्पू, आ. ३ श्लोक ३६-५२

२६. महापुराण, सर्ग ४२ श्लोक ५, १३७-१९७

२७. महापुराण, सर्ग ४२ श्लोक ५, १९९-२०१

नन्दीश्वर द्वीप

❑ *मुनि श्री विष्णुसागरजी*

"लोक्यन्ते इति लोकः" जहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं। यह लोक पुरुषाकार है। मनुष्य अपने दोनों पैरों को फैलाकर, दोनों हाथों को कटि भाग पर रखकर यदि खड़ा हो जावे तो जो आकार बनता है वही लोक का आकार है। यह लोक चौदह राजू ऊंचा है। इसके तीन भाग हैं—उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। लोक अनादि-अनिधन है। इसका कोई कर्त्ताहर्त्ता नहीं है। नीचे लोक का आकार बेंत के समान है, मध्यलोक झालर के सदृश है और उर्ध्व लोक मृदंगाकार है।

सम्पूर्ण लोक उत्तर दक्षिण सात राजू तथा पूर्व पश्चिम भी सात राजू है। तथा तल भाग में भी सात राजू है। नीचे के भाग से लेकर मध्य तक सात राजू ऊंचा है और सात राजू पर एक चौड़ाई रह जाती है। मध्यलोक से साढ़े तीन राजू पर चौड़ाई पांच राजू है तथा लोक के अन्त भाग में एक राजू चौड़ाई है। इसका घनफल निकालने पर तीनसौ तैतालीस राजू होता है।

अधोलोक चित्रापृथ्वी तक सात राजू में और मध्यलोक तथा उर्ध्वलोक ऊपर सात राजू में हैं। चित्रा पृथ्वी से सुदर्शन मेरू की चोटी तक मध्य लोक है और सौधर्म स्वर्ग से सिद्ध शिलातक उर्ध्व लोक है। यह लोक तीन वातवलय-घनवात-वलय, तनुवातवलय और घनोदधि वातवलय से घिरा हुआ है तथा लोक के मध्य में एक राजू चौड़ी व लम्बी त्रस नाड़ी है जो चौदह राजू ऊंची है जिसमें त्रसकाय जीव रहते हैं।

मध्यलोक में चित्रापृथ्वी के ऊपर असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं। यह लोक चूड़ी अथवा थाली के आकार है। इसे द्वीप व समुद्र घेरे हुए हैं। तथा ये द्वीप समुद्र, एक दुसरे से दूने-दूने आकार वोले हैं। इन सब द्वीप और समुद्रों के बीच एक लाख योजन का जम्बूद्वीप है। इस द्वीप के मध्यभाग में यानि विदेहक्षेत्र में एक जामुन (जम्बू) का वृक्ष है इसी कारण इस द्वीप को जम्बूद्वीप कहते हैं जो कि पृथ्वी कायिक है इस द्वीप के बीचों बीच सुदर्शन मेरू है।

जम्बूद्वीप से घिरा हुआ कालोदधि समुद्र, फिर धातकीखंड द्वीप फिर लवणोदधिसमुद्र फिर पुष्कर द्वीप है। आधे पुष्कर तक मनुष्यों का गमन पाया जाता है, इसलिये जम्बूद्वीप धातकीखंड व अर्द्ध पुष्कर ये ढ़ाई द्वीप कहलाते हैं। इन ढाई द्वीपों के बाहर "प्राड़मानुषोत्तरान्मनुष्या" मनुष्य नहीं जा सकते हैं।

ढाई द्वीप के आगे द्वीप और समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले हैं जिनमें मात्र तिर्यञ्चों का वास है पर चैत्यालय आदि नहीं हैं। आठवां द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है जहाँ के अकृत्रिम चैत्यालयों का सुन्दर वर्णन आगम में इस प्रकार पाया जाता है।

सर्व प्रथम नन्दीश्वर द्वीप के व्यास का वर्णनः—

> आदीदो खलु अट्ठमणंदीसर दीववलयविक्खंभो।
> सयममहियतेवट्ठीकोडी चुलसीदिलक्खा ये।। (त्रिलोक सार ९६६)

जम्बूद्वीप से प्रारम्भकर आठवें नन्दीश्वर द्वीप पर्यन्त का वलय व्यास एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन प्रमाण है।

वर्ण तथा प्रमाण का प्रतिपादनः—

> अंजणदहिकणयणिहा चुलसीदिदहेक्कजोयणसहस्सा।
> वट्टा वासुदएणय सरिसा बावण्णसेलाओ ।।९६८।।

अंजनगिरि, दधिमुख और रतिकर पर्वत क्रमशः अंजन, दधि और स्वर्ण सदृश वर्ण वाले हैं तथा क्रमशः चौरासी हजार, दस हजार और एक हजार योजन प्रमाण हैं। उनकी ऊँचाई और व्यास बराबर है। आकार गोल है। इस प्रकार चारों दिशाओं में ५२ मन्दिर हैं।

वापियों का स्वरूपः—

> सव्वे समचउरस्सा टंकुक्किण्णा सहस्समोगाढा।
> वेदियचउवण्णजुदा जलयरउम्मुक्कजलपुण्णा ।।९७१।।

ये सब वापिकाएँ एक लाख योजन लम्बी और एक लाख योजन चौड़ी अर्थात् समचतुरस्र वाली हैं। टङ्कोत्कीर्ण अर्थात् ऊपर नीचे एक समान हैं। उनकी गहराई एक हजार योजन प्रमाण है ये वापिकाएँ चारों दिशाओं में एक-एक वन अर्थात् चार-चार वनों से युक्त हैं। तथा ये जलचर जीवों से रहित और जल से परिपूर्ण हैं।

वापियों के वनों का स्वरूपः—

> वावीण पुव्वादिसु असोयसत्तच्छदं च चंप वणं।
> चूदवणं च कमेण य सगवावीदीहदलवासा ।।९७२।।

उन वापिकाओं की पूर्वादि दिशाओं में क्रम से अपनी वापी के सदृश लम्बे (१00000 योजन) लम्बाई आधे भाग चौड़े (५0000 योजन) अशोक सप्तच्छद चम्पक तथा आम के वन हैं।

अब अंजनादि प्रत्येक पर्वत पर एक-एक चैत्यालय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य उन चैत्यालयों में चतुर्निकाय देवों द्वारा काल विशेष में की हुई पूजा विशेष का कथन करते हैं—

> तब्बावण्णगेसुवि बावण्णजिणालया हवंति तहिं।

सोहम्मादी बारसकप्पिंदा ससुरभवणतिया ॥९७३॥

गयहयकेसरिवसहे सारसपिकहंसकोकगरुडेय।
मयरसिहिकमलपुप्फयविमाणपहुदिं समारुढा ॥९७४॥

दिव्वफलपुप्फहत्था सत्थाभरणा सचामराणीया।
बहुधयतूरारागा गत्ता कुव्वंति कल्लाणं ॥९७५॥

पडिवरिसं उसाढे तह कत्तियफग्गुणे य अट्ठमिदो।
पुण्णदिणोत्ति यभिक्खं दो द्दो पहरे तु ससुरेहिं ॥९७६॥

सोहम्मो ईसाणो चमरो हइरोचणो पदक्खिदो।
पुव्वर दक्खिणुत्तर दिसासु कुव्वंति कल्लाणं। ९७७॥

सौधर्मेन्द्र, ईशानेन्द्र, चमर और वेरोचन ये प्रदक्षिणा रूप से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में पूजन करते हैं। नन्दीश्वर द्वीप के (८ + १६ + ३२) = ५२ पर्वतों पर ५२ ही जिनमन्दिर हैं। उनमें अन्य देवों के साथ सौधर्मादि कल्पों के बारह इन्द्र, हाथी, घोड़ा, सिंह, बैल, सारस, कोयल, हंस, चकवा, गरुड़, मगर, मोर, कमल, और पुष्पक विमान आदि पर चढ़कर हाथों में दिव्य फल व पुष्प धारणकर प्रशस्त आभरणों, चामरों, सेनाओं, ध्वजाओं एवम् वादित्रों के शब्दों से सहित होते हुए आषाढ़, कार्तिक व फाल्गुन मास की अष्टमी से प्रारम्भ कर पूर्णिमा पर्यन्त निरंतर दो-दो पहर तक पूजा करते हैं। प्रथम युगल के सौधर्मेशान एवम् असुर कुमारों के चमर और वेरोचन ये चारों इन्द्र प्रदक्षिणा रूप पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में पूजा करते हैं। अर्थात् पूर्व दिशा में पूजन करने वाले देव जब दक्षिण में आते हैं तब दक्षिण वाले पश्चिम में और पश्चिम वाले उत्तर में तथा उत्तर दिशा वाले पूर्व में आकर ऐन्द्रध्वज आदि महापूजा करते हैं।

जिनालयों की लम्बाई चौड़ाई तथा ऊँचाई का प्रमाणः—

आचामदलं वासं अभयदलं जिणधराणमुच्चतं।
दारुदयदलं वासं आणिद्दाराणि तस्सद्ध ॥९७८॥

उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य जिनालयों का आयाम क्रम से १00 योजन ५0 यो. और २५ योजन प्रमाण है। इन्हीं जिनालयों की चौड़ाई लम्बाई के अर्ध भाग प्रमाण अर्थात् ५0 योजन, २५ योजन और १२$^{१}/_{२}$ योजन प्रमाण है तथा इनकी ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई के अर्धभाग प्रमाण अर्थात १00+५0=१५0−२=७५ यो.प्र. ७५:−२ह३७$^{१}/_{२}$ योजन और २५+१२$^{१}/_{२}$=$^{७५}/_{२\times२}$= १८$^{३}/_{४}$ योजन प्रमाण है। उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य जिनालयों के द्वारों की ऊँचाई क्रम से १६ योजन, ८ योजन, ४ योजन प्रमाण है। तथा इन्हीं द्वारों की चौड़ाई ऊँचाई के अर्धभाग प्रमाण अर्थात् ८ योजन, ४ योजन, २ योजन प्रमाण है। छोटे द्वारों का उदय एवम् व्यास बड़े द्वारों के उदय और व्यास से अर्ध-अर्ध प्रमाण है अर्थात् उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य जिनालयों

में जो छोटे-छोटे दरवाजे हैं उनकी ऊँचाई क्रम से ८ योजन, ४ योजन और २ योजन है तथा उनका व्यास (चौड़ाई) ४ योजन, २ योजन और २ योजन है तथा उनका व्यास (चौड़ाई) ४ योजन, २ योजन (ऊँचाई) ४ योजन, २ योजन, १ योजन प्रमाण है। इस कहे अर्थ को ही विशेष दो गाथाओं द्वारा कहते हैं—

वरमज्झिमवराणां दलमज्झिमवराणं, दलक्कभद्दसालणंदणगा।
णंदीसरगविमाणगजिणालया होंति जेट्ठा हु ॥९७९॥

सोमणसरूजगकुंडलवक्खारिसुघारमाणुसुत्तरगा।
कुलगिरिगा वि य मज्झिम जिणालया पांडुगा अवरा ॥१८०॥

उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य जिनालयों का व्यासादिक क्रम से आधा आधा है। भद्रशाल वन, नन्दनवन, नन्दीश्वर द्वीप और वैमानिक देवों के विमानों में से चैत्यालय के वे उत्कृष्ट व्यासादि प्रमाण वाले हैं तथा सोमनस वन, रूचक गिरि, वक्षार, इष्वाकार, मानुषोत्तर पर्वत और कुलाचलों पर जो जिनालय हैं, उनका व्यासादि मध्यम और पाण्डुकवन जिनालय जघन्य प्रमाण वाले हैं।

इसके बाद उत्कृष्ट जिनालयों का आयाम व गाध (नींव) और द्वारों की ऊँचाई कहते हैं—

जोयणसय आयामं दलगाढं सोलसं तु दारुदयं।
जेट्ठाणं गिहयासे आणिद्दाराणि दो द्दो दु ॥१८१॥

उत्कृष्ट जिनालयों की ऊँचाई १00 योजन है। इन जिनालयों के उत्कृष्ट द्वारों की ऊँचाई १६ योजन प्रमाण है उत्कृष्ट द्वारों के दोनों पार्श्व भागों में दो-दो छोटे-दरवाजे हैं।

उत्कृष्ट विशेषण से रहित जिनालयों के आयाम का प्रमाणः—

वेयड्ढजंबुसामलिजिणभवणाणं तु कोस आयामं।
सेसाणं सगजोग्गं आयामं होदि जिणदिट्ठं ॥९८२॥

विजयार्ध पर्वत तथा जम्बू और शाल्मली वृक्षों पर स्थित जिनालयों का आयाम एक कोस प्रमाण है तथा अवशेप (भवनवासियों के भवनों एवं व्यन्तरदेवों के आवासों में स्थित) का अपने-अपने योग्य आयामादिक का प्रमाण कहीं देखने में नहीं आ सकता।

ऊपर कहे हुए जिनालयों के परिवार का प्रमाणः—

चउगोउरमणिसालति वीहिं पडि माणथंम णवथूहा।
वणधयचेदियभूमी जिणभवणाणं च सव्वेसिं ॥९८३॥

समस्त जिनभवनों के चार गोपुर द्वारों से संयुक्त मणिमय तीन कोट हैं। प्रत्येक वीथी में एक-एक मानस्तम्भ और नव-नव स्तूप हैं उन कोटों के अन्तरालों में क्रमसे वन, ध्वजा और चैत्यभूमि हैं।
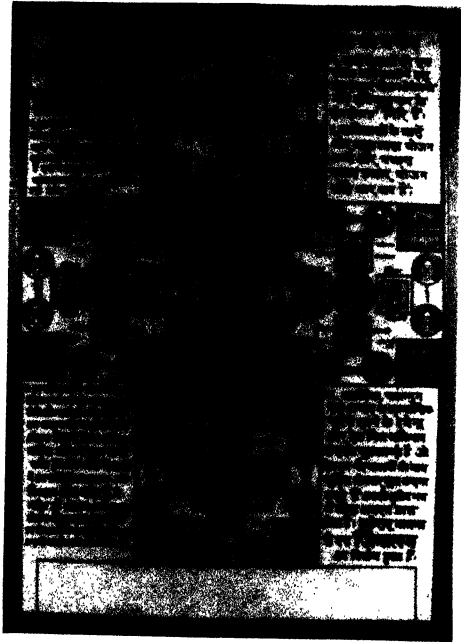
नंदीश्वर द्वीप की रचना।
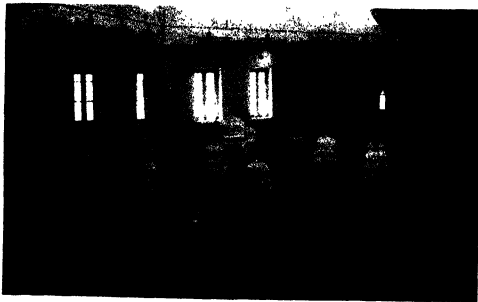
पंचमेरु.

नंदीश्वर द्वीप

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

वात्सल्य रत्नाकर आहार मुद्रा में

।वात्सल्य रत्नाकर।

जिणभवणे अट्ठसया गब्भगिहा रयणथंभवं तत्थ।
देवच्छंदो हेमो दुगअडचउवासदीहुदओ ॥९८४॥

उन सब भवनों में एक सौ आठ प्रत्येक में गर्भगृह हैं तथा जिन भवनों के मध्य में रत्नों के स्तम्भों से युक्त स्वर्णमय एक-एक मण्डप है जिसकी लम्बाई ८ योजन, चौड़ाई दो योजन और ऊँचाई चार योजन प्रमाण है।

सिंहासणादिसहिया विणीतकुंतल सुज्जमयदंता।
विद्दुमअहरा किसलयसीहायरहत्थपायतला ॥९८५॥

दसतालमाणलक्खणभरिया पेक्खंत इव वदंता वा।
पुरुजिणतुंगा पडिमा रयणमया अट्ठअहियसया ॥९८३॥

उन गर्भगृहों के मध्य में सिंहासनादि से सहित नीले केश, सुन्दर वज्रमय दाँत, मूँगा के सदृश ओंठ तथा नवीन कोपल की शोभा को धारण करने वाले हैं हाथ और पैर के तलभाग जिनके दश ताल प्रमाण लक्षणों से भरी हुई देख रही हों, मानों बोल ही रहीं हों, और पांच सौ (५00) धनुष ऊँचाई जिनकी ऐसी रत्नमयी एक सौ आठ प्रतिमाएं हैं।

वे प्रतिमाएँ कैसी हैं?

चमरकरणागजक्खगबत्तीसंमिहुणगेहि पुह जुत्ता।
सरिसीए पंतीए गब्भगिहे सुट्ठु सोहंति॥९८७॥

सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण्हखणक्कुमारजक्खाणं।
रुवाणि य जिणपासे मंगलमट्ठविहमवि होदि॥९८८॥

भिंगारकलसदप्पणवीयणधयचामरादक्त महा।
सुवइट्ठ मंगलाणि य अट्ठहियसयाणि पत्तेयं॥९८९॥

वे प्रतिमाएँ, चमरधारी नागकुमारों के बत्तीस युगलों और यक्षों के बत्तीस युगलों सहित पृथक्-पृथक् एक-एक गर्भगृह में सदृश पंक्ति से भली प्रकार शोभायमान होती हैं। उन जिन प्रतिमाओं के पार्श्व भाग में श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाण्ह यक्ष और सानत्कुमार यक्ष के रूप अर्थात् प्रतिमाएँ हैं तथा अष्टमंगल द्रव्य भी होते हैं। झारी, कलश, दर्पण, ध्वजा, चामर, छत्र,पंखा और ठोना ये आठ मंगल द्रव्य हैं। ये प्रत्येक मंगल द्रव्य १०८, १०८ प्रमाण होते हैं।

अब गर्भगृह से बाहर का विवेचन करते हैं :—

मणिकणयपुप्फसोहियदेवच्छंदस्स पुव्वदो मज्झे।
वसइएरुप्पकंचणघडासहस्साणि बत्तीसं॥९९0॥

महदारस्स दुपासे चउवीससहस्समत्थि धूवघडा।
दारबहिं पासदुगे अट्ठसहस्साणि मणिमाला॥९९१॥

तम्मज्झ हेममाला चउवीसं ववणमंडवे हेमा।
कलसामाला सोलस सोलसहस्साणि धूवघड़ा॥९९२॥

महुरझणझणणिणादाद मोत्तियमणिणिम्मिया सकिंकिणिया।
बहुविहघंटाजलारइदा सोहंति तम्मज्झे॥९९३॥

मणि और स्वर्णपुष्पों से सुशोभित देवच्छन्द के पूर्व में आगे जिनमन्दिर है। उसके मध्य में चांदी और सुवर्ण के बत्तीस हजार घड़े है। मन्दिर के महाद्वार के दोनों पार्श्व भागों में चौबीस हजार (२४000) धूपघट हैं। तथा उस महाद्वार के दोनों बाह्य पार्श्व-भागों में आठ हजार (८000) मणिमय माला है उन मणिमय मालाओं के मध्य में चौबीस हजार स्वर्णमय मालाएं हैं। तथा मुख-मण्डप में स्वर्णमय सोलह हजार कलश, सोलह हजार मालाएँ और सोलह हजार धूपघट हैं तथा उसी मुख-मण्डप का मध्य भाग मोती और मणियों से बनी हुई मधुर झण-झण शब्द करने वाली छोटी-छोटी किंकिणियों से युक्त नाना प्रकार के घन्टाजालों की रचना से शोभायमान है। अब छोटे द्वारों का वर्णन करते हैं-

वसईमज्झागदक्खिणउत्तरतणुदारगे तदद्धं तु।
तप्पुट्ठे मणिकंचणमालउचउवीसग सहस्सं॥९९४॥

जिन मन्दिर के दक्षिणोत्तर पार्श्व भागों में छोटे-छोटे द्वार हैं। उनकी माला आदि का प्रमाण महाद्वार के प्रमाण से अर्द्ध-भाग प्रमाण हैं। उन मन्दिरों के पृष्ठ भाग में आठ हजार मणिमय मालाएँ और स्वर्णमय चौबीस हजार मालाएँ हैं।

ऊपर कथित मुखमण्डप आदिकों का व्यास आदि तथा उसके आगे स्थित रचना का स्वरूप कहते हैं-

जिनमन्दिर के आगे जिनमन्दिर सदृश ही व्यास एवं आयामवाला और सोलह योजन ऊँचा मुखमण्डप है। उस मुखमण्डप के आगे चौकोर प्रेक्षण मण्डप है। जिसका व्यास सौ योजन चौड़ा, सौ योजन लम्बा और साधिक सोलह योजन ऊँचा है। उस प्रेक्षण मण्डप के आगे दो योजन ऊँचा अस्सी योजन चौड़ा चौकोर और स्वर्णमयी पीठ है। उस पीठ के मध्य में चौसठ योजन चौड़ा और सोलह योजन ऊँचा चौकोर मणिमय आस्थान मण्डप है। उसके आगे चालीस योजन ऊँचे स्तूप का मणिमय पीठ है। जो चारद्वारो और बारह पद्मवेदियों से संयुक्त है। उस पीठ के मध्य में तीन मेखलाओं अर्थात् कटनी से सहित चार के घन के प्रमाण ...... चौसठ योजन लम्बा चौसठ योजन चौड़ा और चौसठ योजन ऊँचा बहुरत्नों से रचित और जिन बिम्ब से उपचित स्तूप हैं। नव स्तूपों का स्वरूप इसी क्रम से है। उस स्तूप के आगे एक हजार योजन लम्बा एक हजार योजन चौड़ा बारह पद्म-वेदियों से युक्त स्वर्णमय पीठ हैं। उस पीठ के ऊपर मणिमय तीन कोटों से युक्त सिद्धर्थ और चैत्य नाम के दो वृक्ष हैं। उन वृक्षों के स्कंध चार योजन लम्बे और एक योजन चौड़े हैं। बारह योजन लम्बी महाशाखाएँ और अनेक छोटी शाखायें हैं। उन

वृक्षों का उपरिम भाग बारह योजन चौड़ा है। वे वृक्ष नाना प्रकार के फूल व फलों से युक्त हैं। उनके परिवार वृक्षों की संख्या पन्द्रह के कमल के परिवार कमलों के प्रमाण से पाँच अधिक अर्थात् एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस है। (९९५ से १००१ त्रिलोक सार)।

मूलगपीठणिसण्णा चउद्दिसं चारि सिद्धजिणपडिमा।
तप्पुरदो महकेदु पीठे चिट्ठंति विविहवण्णणगा॥१००२॥

चारों दिशाओं में उन वृक्षों के मूल में जो पीठ अवस्थित है उन पर चार सिद्ध-प्रतिमाएँ और चार अरहन्त प्रतिमाएँ विराजमान हैं। उन प्रतिमाओं में आगे पीठ हैं। जिनमें नाना प्रकार के वर्णन से युक्त महाध्वजाएँ स्थित हैं।

शंका :— सिद्ध प्रतिमा और अरहन्त प्रतिमा में क्या अन्तर है? इस शंका का समाधान वसुनन्दि प्रतिष्ठा के तृतीय परिच्छेद में इस प्रकार है।

प्रातिहार्यष्टकोपेतं सम्पूर्णावयवं शुभम्।
भावरुपानुविद्धाङ्ग, कारयेद् बिम्बमर्हता॥६९॥

प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं, सिद्धं बिम्बमपीदृशः।
सूरीणां पाठकानां च, साधूनाम् च यथागमम्॥७०॥

अष्टप्रातिहार्यों से युक्त, सम्पूर्ण अवयवों से सुन्दर तथा जिनका सन्निवेष (आकृति) भाव के अनुरूप है ऐसे अरहंन्त बिम्ब का निर्माण करें। सिद्ध प्रतिमा शुद्ध एवं प्रातिहार्य से रहित होती हैं। आगमानुसार आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की प्रतिमाओं का भी निर्माण करें। इसी प्रकार जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में पं. आशाधर जी ने भी वर्णन किया हैं।

उन ध्वजाओं के स्वर्णमय स्तम्भ सोलह योजन ऊँचे और एक कोश चौड़े हैं। उन स्वर्ण स्तम्भों के अग्रभाग रत्नमय एवं मनुष्यों के नेत्र और मन को सुन्दर लगने वाले बहुत से नाना प्रकार के ध्वज रूप वस्त्रों एवं तीन छत्रों से शोभायमान हैं। उस ध्वजापीठ के आगे जिन-मन्दिर है, जिनकी चारों दिशाओं में नाना प्रकार के फूलों से एवं मणिमय और स्वर्णमय वेदियों से संयुक्त, सौ योजन लम्बे, ५० योजन चौड़े और दश योजन गहरे चार द्रक हैं। इन द्रकों के आगे जो वीथी (मार्ग) है उनके दोनों पार्श्व भागों में देवों के क्रीड़ा करने के मणिमय दो प्रासाद हैं, जिनकी ऊँचाई ५० योजन और चौड़ाई २५ योजन हैं। इन प्रासादों के आगे तोरण हैं। वे तोरण मणिमय स्तम्भों के अग्र-भाग में स्थित मोतीमाल्य और घण्टाओं के समूह से युक्त तथा जिनबिम्बों के समूह रमणीक हैं। उनकी ऊँचाई ५० योजन और चौड़ाई २५ योजन प्रमाण है। उन तोरणों के आगे स्फटिकमय प्रथम कोट है। उस कोटद्वार के दोनों पार्श्व भागों में कोट के भीतर १०० योजन ऊँचे और ५० योजन चौड़े रत्न निर्मित दो मन्दिर हैं। पूर्वद्वार में मण्डादिक का जो प्रमाण कहा था उसका अर्ध प्रमाण दक्षिण और उत्तर द्वारों में ग्रहण करना चाहिए। वे दोनों मन्दिर वन्दना मण्डप, अभिषेक मण्डप, नर्तन मण्डप, संगीत मण्डप और अवलोकन

मण्डपों से तथा क्रीड़ा गृह, गुणन गृह (शास्त्राभ्यास आदि का स्थान और विशाल एवं उत्कृष्ट पट्टशाला चित्र दिखाने का स्थान) से संयुक्त है। (१००३-१००९ त्रिलोकसार)

अब प्रथम कोट और द्वितीय कोट के अन्तराल को बताते हैं—

सिहगयवसहगरुडसिहिंदिणहंसारविंद चक्कधया।

पुह अट्ठसया चउदिसमेक्केक्के उट्ठसय खुल्ला॥१०१०॥

प्रत्येक मन्दिर के चारों दिशाओं में सिंह, हाथी, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, कमल और चक्र के आकार की १०८-१०८ ध्वजाएँ है तथा १०८-१०८ मुख्य ध्वजाओं में प्रत्येक की १०८-१०८ छोटी ध्वजाएँ हैं।

विशेषार्थ— प्रथम और द्वितीय कोट के बीच के अन्तराल में ध्वजाएँ हैं। प्रत्येक जिन मन्दिर की एक दिशा में सिंह चिह्नांकित ध्वजाएँ १०८ हाथी चिह्नांकित १०८ इसी प्रकार वृषभादि चिह्नांकित भी १०८, १०८ मुख्य ध्वजाएँ हैं। अर्थात् मन्दिर की एक दिशा में सिंह आदि दस प्रकार के चिह्नों को धारण करने वाली (१०८ × १०)= १०८० मुख्य ध्वजाएँ हैं. एक दिशा में १०८० हैं। अतः चार दिशाओं में (१०८० × ४)४३२० मुख्य ध्वजाएँ हुईं। एक मुख्य ध्वजा की छोटी परिवार ध्वजाएँ १०८ हैं अतः ४३२० मुख्य ध्वजाओं की (४३२० × १०८)= ४६६५६० परिवार ध्वजाओं का प्रमाण है और एक मन्दिर सम्बन्धी सम्पूर्ण ध्वजाओं का प्रमाण (४६६५६० + ४३२०)= ४७०८८० है। ये ध्वजाएँ प्रथम और द्वितीय कोट के अन्तराल में हैं।

द्वितीय और तृतीय कोट के अन्तराल में अशोक सप्तच्छद, चम्पक और आम्र के चार वन हैं उन वनों में भोजनाङ्गादि दस प्रकार के कल्पवृक्ष हैं, जो स्वर्णमय फूलों से सुशोभित मरकत मणिमय नाना प्रकार के पत्रों से सहित वेडूर्य रत्नमय फलों से युक्त और विद्रुम मूँगामय डालियों से संयुक्त हैं। उन चारों वनों के मध्य में तीन कोट और तीन पीठ से संयुक्त तथा मणिमय डाली, पत्र, पुष्प और फलों से युक्त चैत्यवृक्ष शोभायमान होते हैं। उन चैत्य वृक्षों के मूल की चारों दिशाओं में प्रातिहार्यों से युक्त जिनभवन विराजमान है। (१०११ से १०१३ त्रिलोकसार)

नन्दादि वापियों और मानस्तम्भों का विशेष स्वरूप निम्न प्रकार वर्णित है :—

णंदादीय तिमेहल तिवीढया भति धम्मविहवावि।
पडितमाधिट्ठियमुङ्ग वणमूचउवीहिमज्झम्हि॥१०१४॥

नन्दादि सोलह वापिकाएँ तीन कोटों से संयुक्त है तथा वन की भूमि के निकट चतुर्थ वीथी के मध्य में तीन पीठों युक्त जिन प्रतिमा से अधिष्ठित हैं, ऊर्ध्व (अग्र) भाग जिनका तथा जो धर्मरूपी वैभव से युक्त है ऐसे मानस्तम्भ शोभायमान होते हैं।

पंचमेरू—साधना के आश्रय

❑ पं. हसमुख जैन

तीन सौ तियालीस घनराजू प्रमाण लोकाकाश के मध्य भाग में असंख्यात भाग में असंख्यात द्वीप एवं समुद्रों से घिरा मध्य लोक है। इस मध्य लोक के मध्य ४५ लाख योजन (ढाई द्वीप पर्यन्त) क्षेत्र में ही आर्य-म्लेच्छ नर समुदाय मिलता है। इस ढाई द्वीप में क्षेत्रों, श्रेणियों, देश-प्रदेशों एवं वनोपवनों का विभाग करने वाले अनेक लघु व दीर्घकाय भूधर हैं जिनमें पञ्चमेरु मुख्य हैं। सृष्टि पर अनेक छोटे-बड़े शैल भी हैं, जो कालवर्तना के साथ नष्ट होते हैं। लेकिन ये पञ्च महापर्वत अकृत्रिम एवं अचल हैं। जिस प्रकार घोर उपसर्ग साधु के साधुत्व में रंचमात्र भी परिवर्तन करने में सक्षम नहीं हो पाते हैं, उसी तरह मेघ-वायु-अग्नि एवं वज्र चोट का प्रबल प्रलय भी मेरूओं के अचल-अडोल एवं स्थिरता से पराजित ही रहता है। इसी कारण आचार्यों ने साधुओं के चारित्र एवं ध्यान की तुलना मेरूओं से की है।

ये महामेरू एकान्त-निर्जन होने के कारण सदैव ऋषि मुनियों के साधना स्थल तथा अकृत्रिम जिन भवनों से परिवेष्टित होने के कारण विद्याधरों, इन्द्रादि सुरगणों के पूजास्थल रहे हैं। तीर्थंकरों के महाभिषेक जल से पवित्र होने के कारण भव्यों द्वारा सदैव वन्दनीय रहे हैं। सूर्य-चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र-तारकादि ज्योतिष विमान, इन्हीं मेरूओं की परिधि के आश्रयमान भ्रमणशील रहते हुए रात्रि-दिवस एवं ऋतु परिवर्तन की प्रक्रिया करते रहते हैं।

मध्यलोक के मध्य ढाईद्वीप पर्यन्त भाग में सुदर्शन, विजय, अचल, मन्दर एवं विद्युन्माली ये पांच मेरू हैं। शेष द्वीपों में इनका अभाव है। मध्यलोक में प्रथम १ लाख योजन चूड़ी की आकृति स्वरूप विस्तार वाला जम्बूद्वीप है। जिसके मध्य में सुदर्शन पर्वत है। जम्बूद्वीप को घेरे हुए २ लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। इसके बाहर ४ लाख योजन विस्तार युक्त दूसरा धातकी खण्ड द्वीप है। इस द्वीप के पूर्व भाग में विजयमेरू एवं पश्चिम भाग में अचल मेरू है। धातकी खण्ड द्वीप के घेरे ८ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। इसके बाहर १६ लाख योजन विस्तार युक्त तीसरा पुष्करवर द्वीप है। इस द्वीप के मानुषोत्तर पर्वत ने ८.८ लाख योजन विस्तार दो भागों में विभाजित किया है। उत्तर के ८ लाख योजन विस्तार वाले पूर्व एवं पश्चिम भाग में क्रमशः मन्दर एवं विद्युन्माली मेरू है। सुदर्शन मेरू की अपेक्षा विजयादि शेष चारों मेरू लम्बाई-चौड़ाई, परिधि एवं व्यास में कुछ न्यून हैं। लेकिन वर्णाकृति सभी मेरूओं की समान है।

जोयण-सहस्स-गाढ़ो, णव-णवदि-सहस्स-मेत्त-उच्छेहो।
बहुविह्-वण-संड-जुदो णाणावर-रयण-रमणिज्जो॥१८०४॥ तिलोयपण्णत्ती

यह महापर्वत एक हजार (१000) योजन गहरा (नींव), चित्रापृथ्वी से निन्यावें हजार (९९000) योजन ऊँचा, नाना पर्वत खण्डों से युक्त, अनेक उत्तम रत्नों से रमणीय है। इसका मूलभाग (जड़) वज्रमयी है। यह सुमेरु भूभाग (चित्रा पृथ्वी) से ६१ हजार योजन ऊँचाई तक रत्नमयी आगे ३८ हजार योजन तक स्वर्णमयी है। पृथ्वीतल पर मेरू की चौड़ाई १0,000 योजन हैं, आगे चोटी पर्यन्त चौड़ाई हीन होती गई है। सुमेरू के शीर्ष पर चालीस योजन ऊँची, मूल, मध्य एवं ऊपर की चौड़ाई क्रमशः बारह, आठ एवं चार योजन की विस्तृत वैडूर्यरत्न की एक चूलिका है। इस चूलिका के आगे एक रोम (बाल) पर्यन्त भाग छोड़ प्रथम स्वर्ग का पटल आरम्भ होता है। इस विशालकाय सुमेरू के चारों ही दिशाओं में १६ अकृत्रिम जिनभवन हैं। इसी कारण यह गिरिराज सदैव वन्दनीय रहा है।

मेरू सुदर्शन की भविक, पूजा करो पुनीत।
मेरू सदृश उत्तुंगफल, लहो शीघ्र ही मीत॥

विजयमेरू-अचलमेरु

जोयण-सहस्स-गाढ़ा, चुलसीदि-सहस्स-जोयणुच्छेहा।
ते सेला पत्तेक्कं, वर-रयण-वियप्प-परिणामा॥२६१७॥ तिलोयपण्णत्ती॥

धातकी खण्ड के पूर्व एवं पश्चिम भाग (सुमेरू की पूर्व-पश्चिम दिशा) में भरतादि सप्तक्षेत्रों, हिमवनादि पर्वतों, एवं विदेहों से घिरे, १0,000 योजन गहरे (नींव वाले) ८४,000 योजन ऊँचे क्रमशः विजय एवं अचल ये दो मेरू हैं। सुदर्शन की भाँति यह पर्वत भी चारों वनखण्डों से सज्जित हैं। ये मेरू धरातल से बहुमध्यभाग ऊँचाई तक रत्न निर्मित एवं ऊपर का शेष भाग स्वर्णिम है। सुमेरू की तरह विजयादि चारों मेरू के शीर्ष पर चूलिका हैं, जिनकी विशालता एवं वर्णाकृति समान हैं।

मन्दरमेरू-विद्युन्माली मेरू

सुदर्शन सुमेरू की पूर्व एवं पश्चिम दिशा में, विजय एवं अचलमेरू के आगे पुष्करार्ध द्वीप में क्षेत्रों, पर्वतो और विदेहों से घिरा हुआ मन्दर एवं विद्युन्माली ये दो मेरु हैं। पूर्व वर्णित मेरूओं की भांति ये दोनों भी अकृत्रिम एवं अचल हैं। इनकी अवगाहना नींव व्यासादि प्रमाण, वर्ण एवं बनखण्ड धातकीखण्डस्थ द्वय मेरूओं के समान हैं।

वन वृक्षादि से वेष्टित पञ्चमेरू

सुदर्शनादि पञ्चमेरू की रचना रत्नमयी एवं स्वर्णिम है फिर भी यह मेरु सदा वृक्षों, लताओं एवं फलों के भार से लदे रहते हैं। सुमेरू की धरातल पर गजदन्तों से विभाजित भद्रसाल, मानुषोत्तर, देवरमण एवं भूतरमणादि नाना वन-उपवनों से युक्त भद्रसाल वन हैं। यहाँ से ५०० योजन ऊँचाई पर दूसरा नन्दन वन है। नन्दन वन से ६२,५०० योजन ऊँचाई पर तीसरा सौमनस वन है। इस वन से ३६,000 योजन ऊँचाई पर चौथा पाण्डुक वन है। ये चारों वन साल, चम्पक, आम्र, अशोकादि नानाप्रकार के वृक्षों-लताओं से ओत-प्रोत हैं। विजयादि शेष चार मेरूओं में भी इन्ही नाम के वन-उपवनादि है लेकिन उनका आकार-प्रकार सुदर्शन की अपेक्षा कुछ न्यून हैं। इन चारों मेरूओं की धरातल पर भद्रसाल वन हैं। इससे ५०० योजन ऊँचाई पर दूसरा नन्दन वन हैं। नन्दनवन से ५५,५०० योजन ऊँचाई पर सौमनस वन हैं तथा इस वन से २८,000 योजन ऊँचाई पर पाण्डुक वन हैं। ये वन-ऊँचाई का प्रमाण चारों मेरूओं में समान हैं।

तीर्थंकरों के जन्माभिषेक से पवित्र पञ्चमेरू

ढाई द्वीप में धर्मतीर्थ प्रवर्तक भ. तीर्थंकर का जन्माभिषेक सौधर्मादि इन्द्र-सुरगणों द्वारा सुदर्शनादि मेरूओं के पाण्डुकवन के शीर्ष भाग में ईशानदि चारों कोनों में बनी अर्धचन्द्राकार पाण्डुक शिलाओं की पीठ पर किया जाता है। जम्बूद्वीपस्थ सुमेरू के ईशान, आग्नेय, नैऋत, वायव्य कोण में क्रमशः पाण्डुक, पाण्डुकम्बला, रक्ता, रक्तकम्बला ये शिलाएँ हैं। इनकी पीठों पर क्रमशः जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र, पश्चिमविदेह, ऐरावत क्षेत्र एवं पूर्वविदेह में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों का जन्माभिषेक किया जाता है। इसी प्रकार धातकीखण्ड एवं पुष्करार्ध द्वीप के होने वाले तीर्थंकरों का जन्माभिषेक अपने-अपने क्षेत्रस्थ मेरूओं की पाण्डुक आदि शिलाओं पर किया जाता है। अनन्तकाल के जन्माभिषेक जल से पवित्र ये पंच मेरू भव्यों द्वारा सदा वन्दनीय रहे हैं।

अकृत्रिम जिनालयों युक्त पञ्चमेरू

पाँचो मेरूओं के भद्रसालादि चारों वनों के चारों दिशाओं में विशालकाय, मनोहर, अकृत्रिम जिनालय हैं। एक मेरू पर १६ जिनालय के प्रमाण से पाँचों मेरूओं पर ८0 जिनालय हैं। इन सभी जिनालयों का आकार-प्रकार, अवगाहना एवं वर्ण समान है। १00 योजन लम्बे, ४0 योजन चौड़े, ७५ योजन ऊँचे रत्न एवं स्वर्ण से निर्मित यह जिनभवन ध्वज पताका की पंक्तियों से सुशोभित हैं। प्रत्येक जिनालय में १०८ वेदियाँ है। इन वेदियों पर विभिन्न मणियों-रत्न निर्मित पद्मासन ५00 धनुष१ उत्तुंग काल वाली श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाह्न यक्ष, सनत्कुमार यक्षादि परिकरों

सहित जिन प्रतिमा हैं। ये चैत्य-यैत्यालय विद्याधरों, सुरगणों, चारणमुनीश्वरों, ऋद्धीश्वरों एवं आकाश गामिनी विद्यायुक्त सम्यग्दृष्टियों द्वारा सदा प्रत्यक्ष रूप से वन्दनीक रहे हैं। शेषजन भक्तिवश स्थापना निक्षेप से इन चैत्यालयों की पूजा-वन्दना करते हैं।

तीर्थंकरों के न्हवन जलतैं भये तीरथ सर्वदा,
तातैं प्रदच्छन देत सुरगन पञ्चमेरून की सदा।
दो जलधि ढ़ाई द्वीप में सब गनत मूल विराजहीं,
पूजौं असी जिनधाम-प्रतिमा होहि सुख-दुख भाजहीं॥

।वात्सल्यरत्नाकर।

स्वप्न विज्ञान : स्वप्न-दर्शन का शुभाशुभ फल

❑ *आर्यिका नन्दामतीजी*

नत्वा जिनेन्द्रं गतसर्वदोषं, स्वानन्दभूतं धृतशान्तरूपम्।
नरामरेन्द्रैर्नुतपादयुग्मं, श्रीवीरनाथं प्रणमामि नित्यम्।।

नाना प्रकार के कर्मों से यह संसारी आत्मा क्षण क्षण में जरा से निमित्तों को प्राप्त कर आकुल-व्याकुल हो उठता है। जागृत व सचेत अवस्था में तो नाना प्रकार के मन के घोड़े दौड़ाता रहता है लेकिन आश्चर्य यह है कि जब यह प्राणी शारीरिक व मानसिक चेष्टाओं में व्यस्त होने पर थकान का अनुभव करता है तथा उसे दूर करने का उपाय सोचता है तब आश्रय एकान्त स्थान का लेता है और वहाँ विश्राम कर समस्त चिंताओं से दूर होने के लिए निद्रादेवी की गोद में अपने को समर्पित कर देता है। जरा ध्यान से विचार करें कि उस निद्रित अवस्था में शारीरिक व वाचनिक क्रियायें सभी स्तब्ध हो जाती हैं। लेकिन क्या वह मुक्त है चिंताओं से, क्या उसके मन ने विश्राम पाया है? आप कह सकते हैं कि ऐसी अवस्था में मन करेगा भी क्या! अरे भाई, उस समय भी वह जीव कर्मबन्ध कर रहा है। अचेत होकर भी यदि कहो कैसे? तो बहुत ही सीधा और सरल उत्तर है—उस कर्म बन्धन से बद्ध होने का प्रत्यक्ष दर्शन कराते है, जिसे मुक्त स्वर में सभी स्वीकार करते हैं। चलो, अपने भूतकालीन अनुभवों की डायरी उठाकर देखें तो पता चल जावेगा कि हम अमुक दिन सोकर उठे तो अपने को घबड़ाते हुए पाया। घबड़ाने का कारण था बस, यही न कि स्वप्न में मेरे बच्चे को हरण कर लिया है। और अपने चित्त की पूर्ण शान्ति को खो चुका हूँ। इस प्रकार नाना तरह से स्वप्न देखा ही करते हैं, कभी कुछ कभी कुछ। ये सब हमें ज्ञात कराते हैं कि हम शारीरिक व वाचनिक क्रिया के निरोध में भी कर्मबन्धन से अछूते नहीं हैं। हमारा हर समय आकुलताओं में निकल रहा है। शास्त्रों में हम पढ़ा करते हैं कि स्वर्गों में रात्रि दिन का भेद नहीं होता। ठीक उसी प्रकार आकुलताओं की स्थिति में भी रात्रि दिन का भेद नहीं होता। दिन की अपेक्षा अपने को रात्रि में अधिक व्याकुल पाते हैं। सुबह होते ही स्वप्न का शुभ-अशुभ जानने की चिन्ता व्यक्त करते हुए लोगों को देखा जाता है। उसका कारण जब खोजते हैं तो पाते हैं कि इस विषय का हमें अध्ययन ही नहीं है। अष्टाङ्ग निमित्तों का कथन करते हुए ज्योतिष विषय के माध्यम से स्वामी भद्रबाहु ने अपने नाम से एक संहिता लिखी है। इसका पूरा नाम "भद्रबाहु संहिता" है। इसी ग्रन्थ के छब्बीसवें अध्याय में उन्होंने स्वयं लिखा है—

नमस्कृत्य महावीरं सुरासुर जनैर्नतम्।

स्वप्नाध्यायं प्रवक्ष्यामि शुभाशुभ-समीरितम्॥

अर्थात् देव और दानवों द्वारा नमस्कृत किये गये भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार कर स्वप्नों के शुभाशुभ निमित्तों का वर्णन करता हूँ।

आचार्यश्री कहते हैं कि स्वप्न दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ तथा पूर्व संचित कर्मोदय से उत्पन्न स्वप्न तीन प्रकार के होते हैं। स्वप्न शास्त्र में प्रधानतया स्वप्न नौ प्रकार के कहे गये हैं। यथा—दृष्ट-श्रुत-अनुभूत-प्रार्थित-कल्पित-भाविक-दोषज मंत्रज व दैव तथा आठ प्रकार के स्वप्न का वर्णन भी इसी ग्रन्थ में किया है।

नौ प्रकार के स्वप्न इस प्रकार हैं—

(१) दृष्ट—जो कुछ जागृत अवस्था में देखा हो उसी को स्वप्न अवस्था में देखा जावे।

(२) श्रुत—सोने से पहिले कभी किसी से सुना हो उसे स्वप्न अवस्था में देखा जावे।

(३) अनुभूत—जो जागृत अवस्था में किसी भांति अनुभव किया हो उसी का स्वप्न देखना।

(४) प्रार्थित—जिसकी जागृत अवस्था में प्रार्थना (इच्छा) की हो उसी को स्वप्न में देखना।

(५) कल्पित—जिसकी जागृत अवस्था में कभी भी कल्पना की हो उसे स्वप्न में देखना।

(६) भाविक—जो कभी न देखा न सुना हो, पर जो भविष्य में होने वाला हो उसे स्वप्न में देखना।

(७) दोषज—वातादि दोषों से उत्पन्न दोषज स्वप्न।

(८) मंत्रज—पापरहित मंत्र साधना द्वारा सम्पन्न स्वप्न

(९) दैव—पुण्य और पाप के व्यापक स्वप्न—

विशेष—इन नौ प्रकार के स्वप्नों में मंत्रज और दैव ये स्वप्न सत्य होते हैं। आरम्भ के ६ प्रकार के स्वप्न प्रायः निष्फल होते हैं। अशुभ के आने पर व्यक्ति स्वप्न के पश्चात् जागकर सो जावे तो अशुभ स्वप्न का फल नष्ट हो जाता है। यदि स्वप्न के पश्चात् पुनः शुभ स्वप्न दिखाई पड़े तो अशुभ फल नष्ट होकर शुभ फल की प्राप्ति होती है। अशुभ फल के दिखलाई पड़ने पर जगकर णमोकार मंत्र का जाप करना चाहिये। यदि अशुभ स्वप्न के पश्चात् शुभ स्वप्न आवे तो दुष्ट स्वप्न की शांति के उपाय की आवश्यकता नहीं है। स्वप्न के सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि बुद्धिमान् व्यक्ति को गुरु के समक्ष शुभ-अशुभ स्वप्नों का कथन करना चाहिये। किन्तु अशुभ स्वप्नों को गुरु के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति के समक्ष कभी भी प्रकाशित नहीं करना चाहिये।

सर्वप्रथम यहाँ वात-पित्त-कफ प्रकृति वाला व्यक्ति किस प्रकार से स्वप्न विशेषरूप से देखता है उसे क्रमशः बताते हैं।—

(१) गिरना, तैरना, सवारी पर चढ़ना, पर्वत पर चढ़ना, वृक्ष, प्रसाद (महल) पर चढ़ना आदि को वात प्रकृति वाला व्यक्ति देखता है।

(२) रक्त पीत पदार्थ, अग्नि संस्कार से युक्त पदार्थ, स्वर्ण के आभूषण उपकरण आदि को पित्त प्रकृति वाला देखता है।

(३) जल-जल से उत्पन्न पदार्थ धान्य, पत्र सहित कमल, मणि मोती प्रवाल आदि को स्वप्न में कफ प्रकृति वाला व्यक्ति देखता है।

स्वप्नफल

(१) जो सिंह, व्याघ्र, गाय, बैल, घोड़ा और मनुष्य से युक्त होकर रथ पर चढ़कर गमन करते हुए देखता है वह राजा या शासक होता है।

(२) श्रेष्ठ हाथी पर चढ़कर महल या समुद्र में प्रवेश करते हुए स्वप्न देखता है, वह नीच शासक होता है।

(३) जो श्वेत हाथी पर नदी या नदी के तट पर भात का भोजन करता हुआ स्वप्न में देखता है वह शीघ्र शासक होता है।

(४) जो व्यक्ति प्रासाद, भूमि या सवारी पर आरूढ़ हो सोने या चांदी के बर्तनों में स्नान, भोजन, पान आदि की क्रियायें करता हुआ स्वप्न में देखे उसे राज्य की प्राप्ति होती है।

(५) जो राजा स्वप्न में श्वेत वर्ण के मल मूत्र आदि को इधर-उधर फेंकता है वह राज्य, काल को शीघ्र प्राप्त होता है।

(६) जो व्यक्ति स्वप्न में जहाँ तहाँ स्थित होकर जीभ को नखों से खुरचता दीखे व लालवर्ण की झील में स्थित होता हुआ देखे वह व्यक्ति नीच होते हुए भी राजा या शासक होता है।

(७) जो व्यक्ति स्वप्न में वन, पर्वत, अरण्य युक्त पृथ्वी सहित समुद्र के जल को भुजाओं द्वारा पार करता हुआ देखे, वह व्यक्ति राज्य प्राप्त करता है।

(८) जो राजा स्वप्न में सिर कटा हुआ या तलवार के द्वारा छेदित हुआ देखता है उसे सहस्रों का लाभ तथा प्रचुर भोग प्राप्त होता है।

(९) जो व्यक्ति स्वप्न में धनुष पर बाण चढ़ाना, धनुष का स्फालन करना, प्रत्यंचा को समेंटना आदि देखता है वह अर्थ लाभ करता है। युद्ध में जय व शत्रु का वध होता है।

(१०)जो व्यक्ति सिर पर पर्वत, घर, खण्डहर तथा दीप्तिमान पदार्थों को देखता है वह स्वस्थ होकर भूमि का उपभोग करता है।

(११)जो स्वप्न में मृतिका के हाथी पर समुद्र को पार करता हुआ देखे और उसी स्थिति में जाग जावे तो वह शीघ्र ही पृथ्वी का स्वामी होता है। जो व्यक्ति शस्त्रों द्वारा शत्रुओं को परास्त कर पृथ्वी और पर्वतों को अपने आधीन कर लेना देखता है अथवा जो शुभ पर्वतों पर अपने को आरोहण करता देखता है वह राज्याभिषेक को प्राप्त होता है।

(१२)जो व्यक्ति स्वप्न में हाथी, गाय, सवारी, धन, लक्ष्मी कामदेव अलंकार और आभूषणों से युक्त पुरुष का दर्शन करता है उसके भाग्य की वृद्धि होती है। जो स्वप्न में अपने शरीर की नसों से गांव को वेष्टित करते देखे, वह मण्डलाधिप होता है।

(१३)जो स्वप्न में तालाब स्थित पात्र में रखी खीर को निश्चिन्त हो खाते देखता है वह चक्रवर्ती राजा होता है।

(१४)यदि स्वप्न में कोई धन धान्य से युक्त हो राजा, राजपुत्र या चोर होना अपने को देखो तो राज्य की अभिवृद्धि होती हैं।

सामान्य शुभफल दायक स्वप्न

जो व्यक्ति स्वप्न में सूर्य या चन्द्रमा का स्पर्श करता देखता है वह व्यक्ति सौभाग्य बंधन की प्राप्ति करता है। लिंगच्छेद होना देखने से स्त्री की प्राप्ति तथा भगच्छेद देखने से स्त्री को पुरुष की प्राप्ति होती है। जो स्वप्न में शुक्ल वस्त्र और श्रेष्ठ आभूषणों से अलंकृत होकर हाथी पर चढ़ा हुआ भयभीत देखता है वह समृद्धि को प्राप्त होता है। जो स्वप्न में संतोष के साथ देव, साधु, ब्राह्मणों को और प्रेतों को देखते हैं वे सब सुख चाहते हैं, सुख प्राप्त करते हैं और विपरीत देखने से विपरीत फल होता है। अर्थात् स्वप्न में उक्त देव, साधु का क्रोधित होना देखने से उलटा फल होता है। जो व्यक्ति स्वप्न में गृह को विवर्ण देखे या पहिचाने वह शीघ्र ही विपत्ति से छुटकारा पाता है। यदि स्वप्न में शर्बत या जल को पीता हुआ देखे अथवा किसी बंधे व्यक्ति को छोड़ता हुआ देखे तो उस स्वप्न का फल ब्राह्मण के लिये सोमपान और शिष्यों के लिए धन सम्पत्ति देने वाला होता है। जो व्यक्ति स्वप्न में नीचे कुएँ के छिद्र को और भयभीत होकर स्थल पर चढ़ता हुआ देखता है वह धन धान्य द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। जो स्वप्न में अलंकार करके, रस पीकर, अगम्यागमन—जो स्त्री पूज्य है उसके साथ रमण करना देखता है उसे सौभाग्य की प्राप्ती होती है। स्वप्न में वीणा, वल्लकी और विष को ग्रहण करे पश्चात् जागृत हो जावे तो उसी स्त्री को सुन्दर गुणवती कन्या की प्राप्ति है। जो स्वप्न में विष भक्षण द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो अथवा विष भक्षण करना देखे तो वह धन-धान्य

से युक्त होता है तथा चिर काल तक वह किसी प्रकार के बन्धन में बंधा नहीं रहता। स्वप्न में पूज्य व्यक्तियों का दर्शन करना, सामायिक पुष्प और फलों का दर्शन करना धन प्राप्ति के लिये होता है। स्वप्न में शयन आसन करना हितकर और प्रशस्त माना गया है। शोक युक्त व्यक्ति, यदि स्वप्न में मरुस्थल, वृक्षरहित वन एवं जल रहित नदी को देखता है तो उसके लिए वह स्वप्न शुभ फल प्रद होता है। स्वप्न में जो कोई आसन, शय्या, सवारी, घर, वस्त्र आभूषण दान करता है व देखता है वह सुखी होता है तथा लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। अलंकृत पदार्थ, श्वेत हाथी, घोड़े, बैल आदि का स्वप्न में दर्शन करने से यश की प्राप्ति होती है। पताका, तलवार, लाठी, शुक्ति, सीप, मोती, सोना, दीपक आदि को स्वप्न में प्राप्त करता है वह भी धन प्राप्त करता है। जो व्यक्ति स्वप्न में सांप, बिच्छू या अन्य कीड़ों द्वारा काटे जाने पर भयभीत नहीं होता और शोक नहीं करता हुआ देखता है वह धन को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति स्वप्न में बिना घृणा के टट्टी, वमन, मूत्र, वीर्य, रक्त आदि का भक्षण करता हुआ देखता है वह शोक से छूट जाता है। जो व्यक्ति स्वप्न में काला गुरु, चन्दन की घिसने से सुगन्धि के कारण प्रशंसा करता है तथा उनका लेपन करना पीसना देखता है उसे धन की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति स्वप्न में पुष्पित केला और देवदारु या नीम के वृक्ष पर बैठना या चढ़ना देखता है उसे धन की प्राप्ति होती है। यदि स्वप्न में कोई मगर या घड़ियाल मनुष्य को खींचता हुआ दिखाई पड़े तो व्यक्ति कारागार आदि या मुकदमा में फँसा हो उसकी मुक्ति होती है। स्वप्न में यदि किसी व्यक्ति को पीले या लाल फूल या फल दिखलाई पड़े तो उसे सोना-चाँदी का लाभ निःसन्देह होता है। श्वेत मांस, श्वेत आसन, श्वेत सवारी, श्वेत माला का धारण करना तथा अन्य श्वेत द्रव्यों का दर्शन स्वप्न में शुभ होता है। जो व्यक्ति स्वप्न में श्रेष्ठ बैलों के रथ पर चढ़कर पूर्व तथा उत्तर की तरफ गमन करता है वह धन प्राप्त करता है। स्वप्न में गृह में स्थित पुष्प और शाखाओं से युक्त वृक्षों से यदि गिरता हुआ देखता है तो उसकी चेष्टायें सफल होती हैं। जो स्वप्न में शुक्ल और हरे वृक्षों से युक्त अपने को देखता है, उसी समय जाग जाता है व अग्नि द्वारा जलता हुआ अपने को देखता है वह फांसी पर लटकाने के समय फांसी से या कारागार से बद्ध होने पर छोड़ दिया जाता है।

स्वप्न में दूध, तेल, घी का दर्शन शुभ है, खाना शुभ नहीं। विशेष रूप से दर्शन शुभ माना गया है। स्वप्न में जिस व्यक्ति की गोद सुन्दर धन धान्य फल पुष्प से भर जाय वह धन प्राप्त करता है। यदि सुन्दर रूप युक्त कन्या आती दिखाई पड़े तो सुन्दर स्त्री की प्राप्ति होती है। यदि स्वप्न में जिव्हा को शस्त्र से छेदन करता दिखाई पड़े तो क्षत्रियों को राज्य की प्राप्ति और अन्य वर्ण वालों की वृद्धि होती है। स्वप्न में श्वेत गाय बंधी हुई, चलती हुई, ठहरी हुई अथवा खूंटे से शूली दिखलाई पड़े तो हमेशा यश की प्राप्ति होती है। स्वप्न में सफेद वस्त्र अलंकारों से युक्त सुन्दर स्त्री आलिंगन करती दिखलाई पड़े तो उसे सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। जो स्वप्न में उदयाचल पर सूर्य और चन्द्रमा को उदय होते हुए देखे उसे धन की प्राप्ति

होती है, उसका दुःख नष्ट होता है। जो स्वप्न में अपने को हाथी पर बांधे देखता है उसे पुत्र प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति स्वप्न में अपने दाहिनी ओर श्वेत सांप को देखता है और स्वप्न दर्शन के पश्चात् तत्काल उठ जाता है उसे अति लाभ होता है। जो व्यक्ति स्वप्न में चाँदी के बर्तन में स्थित फैन सहित दूध को पीते देखता है उसे धन धान्यादि सम्पत्ति की प्रप्ति तथा विद्या का लाभ होता है। जो व्यक्ति स्वप्न में स्वर्ण भूषण स्वर्ण पीत पुष्प या फल को अन्य किसी द्वारा ग्रहण करते देखता है उसे स्वर्णाभूषणों की प्राप्ति होती है। स्वप्न में दही से सज्जन-प्रेम की प्राप्ति, गेहूं के दर्शन सुख की प्राप्ति, जौ दर्शन से जिन पूजा की प्राप्ति, पीली सरसों के दर्शन से शुभ फल की प्राप्ति होती है। स्वप्न में देवपूजा पूजिका व्यन्तरआदि या देवभक्ति या देव का आलिंगन करने वाली नारी जिस प्रकार का वरदान को देती हुई दिखलाई पड़े, उसी प्रकार का फल जानना चाहिए। जो स्वप्न में श्वेत छत्र, श्वेत चन्दन एवं कपूर आदि वस्तुओं को प्राप्त करते देखता है, उसे अभ्युदय प्राप्त होते हैं। यदि स्वप्न में लाल तलवार धारण किये वीर पुरुषों के जूते का दर्शन या लाभ हो तो यात्रा की सफलता समझना चाहिये।

अशुभ फलदायक स्वप्न

जो व्यक्ति स्वप्न में श्मशान में सूखे वृक्ष एवं लकड़ी को देखता है अथवा यज्ञ के खूंटे पर अपने को चढ़ता हुआ देखता है वह विपत्ति को प्राप्त होता है। स्वप्न में जिस घर में लाक्षा रस, रोग अथवा वायु का अभाव देखा जावे तो घर में आग लगती है या चोरों द्वारा शस्त्र का घात होता है। स्वप्न में निर्जन चौराहा मार्ग में प्रविष्ट होता देखे पश्चात् जागृत हो जावे तो सुन्दर गुणयुक्त पुत्र की प्राप्ति उसकी स्त्री को नहीं होती। यदि स्वप्न में कोई व्यक्ति आसव और उसका पान करते हुआ देखे अथवा निस्सहाय अपने को मरता हुआ देखे तो इस अशुभ स्वप्न की शांति के लिये सत्य वचन बोलना चाहिये, क्योंकि थोड़ा सा भी असत्य भाषण विकास के लिये हितकारी नहीं होता। जो व्यक्ति रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न में यज्ञ स्तंभ गंधर्व शूल पर आरोहित होते देखता है वह कल्याण को प्राप्त नहीं होता। जो व्यक्ति श्रेष्ठ महल के परकोटे पर चढ़ता हुआ देखे, तो वह शेष लक्ष्मी का त्याग करता है, भयंकर कष्ट पाता है। स्वप्न में पक्व मांस दर्शन, ग्रहण और भक्षण व्यक्ति को घोर कष्टोत्पादक माना गया है। स्वप्न में वमन करते हुए देखने से मरण, दस्त लगना देखने से धन नाश और यान आदि के छत्र के ग्रहण करने से धन धान्य का अभाव होता है। स्वप्न में गाना, हँसना, नाचना और पढ़ना देखने से, गाना देखने से रोना पड़ता, नाचना देखने से वध वंधन होता है, हँसना देखने से शोक, पढ़ना देखने से कलह, वंधन देखने से स्थान प्राप्ति और छूटना देखने से परदेश गमन होता है। जो व्यक्ति स्वप्न में तालाब, नदी, पर्वत, कलश और गृहों को शोकार्त देखता है उसे शोक बढ़ता है। स्वप्न में रक्त कमल, नील कमलों का दर्शन, ग्रहण और तोड़ना देखने से प्रयाण होता है। जटाधारी, सिरमुंडित, विरूपाकृति वाली मलीन नीले वस्त्र वाली स्त्री को

स्वप्न में ग्लानिपूर्वक देखता है तो सामूहिक भय का सूचक है। तपस्वी पुण्डरीक तथा नवीन कमलों को स्वप्न में देखते ही जाग जाता है तो ग्लानि फल की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति भूमि पर विकीर्ण (फैल जाना) और जल में नाश को प्राप्त हो जाना देखता है उस व्यक्ति को महान भय होता है। स्वप्न में लाल माला या लाल सूत्र के द्वारा जो अंग बांधा जावे तो उसी में क्लेश होता है। यदि स्वप्न में रुधिर से अभिषिक्त होता हुआ देखता है वह व्यक्ति चिरकाल तक धन धान्य से युक्त नहीं होता।

अशुभतर फलदायक स्वप्न

जो व्यक्ति स्वप्न में शीशा, राँगा, जस्ता, पीतल, रज्जू, सिक्का तथा मधु का दान करता देखता है उसका मरण निश्चय होता है। जो स्वप्न में प्रेतयुद्ध, गर्दभ (गधा) युक्त रथ में आरूढ़ दक्षिण दिशा में जाता हुआ देखता है वह मनुष्य शीघ्र ही मरण को प्राप्त होता है। यदि रात्रि के उत्तरार्ध में स्वप्न में कोई सूकरयुक्त नारी किसी की बंधी हुई गर्दन को खींचे तो उसकी पर्वत पर मृत्यु होती है। स्वप्न में कोई व्यक्ति गर्दभ, सूकर, ऊँट, भेड़िया सहित रथ से दक्षिण दिशा को जावे तो शीघ्र ही उस व्यक्ति का मरण होता है। स्वप्न में दिन में घर में प्रवेश करता हुआ देखे उसका धन नाश वा मृत्यु का निर्देश होता है। जो व्यक्ति स्वप्न में काले वस्त्र धारणकर काले घोड़े पर सवार होकर खिन्न हो दक्षिण दिशा की तरफ गमन करता है वह निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त होता है। भयंकर विकृति वाली काली स्त्री यदि स्वप्न में उत्तर या दक्षिण दिशा की तरफ खींचे तो शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है। जो व्यक्ति स्वप्न में अपने शरीर पर लता गुल्म, वृक्ष, वामी आदि का होना देखता है उसके शरीर का विनाश होता है। स्वप्न में जो व्यक्ति अपने मस्तक पर माला, बाँस, गुल्म, खजूर और हरे वृक्षों को उपजते देखता है उसकी एक सप्ताह में मृत्यु हो जाती है। यदि हृदय में वृक्षादिकों का उत्पन्न होना देखे तो उसका हृदय रोग से विनाश को प्राप्त होता है। जिस अंग में वृक्षादिकों का उत्पन्न होना स्वप्न में दिखलाई पड़ता है उसी अंग का बीमारी द्वारा विनाश हो जाता है।

तिथियो के अनुसार स्वप्नफल

शुक्ल पक्ष—प्रतिपदा को स्वप्न देखने से विलम्ब में फल मिलता है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया—इस तिथि में स्वप्न देखने से विपरीत फल मिलता है, अपने को देखने से दूसरे को और दूसरे को देखने से अपने को फल मिलता है। शुक्लपक्ष की तृतीया—इस तिथि के स्वप्न का विपरीत फल मिलता है, फल की प्राप्ति देर से होती है। शुक्ल पक्ष की चतुर्थी और पंचमी इन तिथियों में स्वप्न देखने से दो महीने से लेकर दो साल तक फल मिलता है। शुक्ल पक्ष की षष्टी, सप्तमी, अष्टमी, नौमी, दशमी इन तिथियों में स्वप्न देखने से शीघ्र फल की प्राप्ति होती है। स्वप्न

सत्य निकलता है। शुक्ल पक्ष की एकादशी और द्वादशी इन तिथियों में स्वप्न देखने से विलम्ब से फल मिलता है। शुक्लपक्ष की त्रयोदशी और चतुर्दशी इन तिथियों में स्वप्न देखने से स्वप्न का फल नहीं मिलता स्वप्न मिथ्या होते हैं। पूर्णिमा तिथि के स्वप्न का फल अवश्य मिलता है।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा—इस तिथि के स्वप्न का फल नहीं होता। कृष्ण पक्ष की द्वितीया—इस तिथि के स्वप्न का फल विलम्ब से मिलता है। कृष्ण पक्ष की तृतीया और चतुर्थी तिथियों के स्वप्न मिथ्या होते हैं। पंचमी और षष्ठी तिथियों के स्वप्न दो माह बाद और तीन वर्ष के भीतर फल देने वाले होते हैं। कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि का स्वप्न अति शीघ्र फल देता है। अष्टमी और नौवीं का स्वप्न विपरीत फल देता है। दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी इन तिथियों के स्वप्न मिथ्या होते हैं। चतुर्दशी तिथि का स्वप्न सत्य होता है और शीघ्र फल देता है। अमावस्या इस तिथि के स्वप्न का फल मिथ्या होता है।

जैन मन्त्र-विद्या की विधाएँ

❑ डॉ. सोहनलाल देवोत, लोहारिया

आवश्यकताएँ तथा एषणाएँ सांसारिक जीवन की धुरी हैं। इस तथ्यानुसार संसार के किसी भी क्षेत्र का मानव चाहे वह राजा-रंक, साधक-सन्यासी, गृहस्थ-त्यागी, ज्ञानी-मूर्ख जो भी हो उसका जीवन अनादिकाल से अभिरुचि (Interest), मनोवृत्ति (Attitude), आदत (Habit), आवश्यकता (Need), प्रेरणा (Motivation), उद्देश्य (Aim) तथा जिज्ञासा (Curiosity) आदि के वशीभूत प्रतिक्षण अभिप्रेरित रहा है। मानव-मन की प्रकृत इच्छाओं को जैनाचार्यों ने शान्ति, पुष्टि, आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण या मारण आदि में वर्गीकृत कर, आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानव-मन की अन्तःप्रकृति को समझने हेतु एक नूतन दिशाबोध ही नहीं दिया है, अपितु उन मनोकामनाओं की सिद्धि हेतु उन्हीं के नामकरण पर पृथक्-पृथक् मन्त्र-यन्त्र-तन्त्रों की विधा रूप वर्गीकरण के दिशा निर्देश द्वारा वैज्ञानिक खोज के लिये भी एक नूतन आयाम प्रस्तुत किया है।

पूर्वाचार्यों ने शान्ति-पुष्टि आदि की सिद्धि हेतु जिन मन्त्र, यन्त्र तथा तन्त्रों की रचना की है उसका हेतु क्या है? क्या मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी मनोकामना की सिद्धि नहीं कर सकता? किंवा ये मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र मनुष्य को पुरुषार्थ से पराङ्मुख के कारण नहीं बनेंगे? आदि कुछ विचारणीय प्रश्न हैं, जो एक नवीन दिशाबोध की अपेक्षा रखते हैं।

हम देखते हैं कि समान परिस्थिति में समान योग्यता के धारक विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समान पुरुषार्थ किंवा परिश्रम करने पर किसी को आशा से अधिक सफलता, तो किसी को आशा से कम सफलता, तो किसी को पूर्ण विफलता की प्राप्ति होती है। ऐसा क्यों? इसका उत्तर हम कर्मदर्शन का परिशीलन करने पर प्राप्त कर सकते हैं कि प्रत्येक प्राणी अपने जन्म के साथ पूर्वकृत कर्मों को लेकर आता है। उन्हीं के आधार पर वह सामान्य रूप से अपने जीवन का निर्माण करता है। अतः कर्मों की अपेक्षा पुरुषार्थहीन होने से कर्मों के फलाफल अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। अस्तु, मनुष्य को अपने कर्मों में आशातीत सफलता हेतु पूर्वकृत कर्मों का नाश तथा प्रतिकूल परिस्थिति को अनुकूल करने हेतु पूर्वाचार्यों ने शान्ति, पुष्टि आदि निम्न मन्त्र का सृजन किया है।

कामनाओं की सिद्धि रूप अभिकर्मों का वर्गीकरण

१. शान्तिक मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र।	५. उच्चाटन मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र
२. पौष्टिक मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र।	६. स्तम्भन मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र।
३. आकर्षण मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र।	७. विद्वेषण मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र।
४. वशीकरण मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र।	८. मारण मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र।

विचार करने पर ज्ञात होता है कि मानव के समस्त उद्देश्य एवं समस्याएँ इन्हीं अष्ट विधाओं में समाहित हो जाती हैं।

शान्तिक मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र

शान्तिक मन्त्र—जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण द्वारा विभिन्न कारणों से उत्पन्न हुई अशान्ति दूर हो जाय उन ध्वनियों के सन्निवेश को शान्तिमन्त्र कहते हैं।

शान्तिक यन्त्र—जिन मन्त्रों एवं अंकों को रेखाओं, बिन्दुओं के द्वारा विभिन्न प्रकार के चक्र, वृत, कोण, त्रिभुज किंवा अन्य आकृतियों में पूर्वाचार्यों द्वारा रूपाङ्कन किया गया हो तथा जिनकी विधिपूर्वक साधना द्वारा पूर्वोक्त प्रकार की शान्ति प्राप्त हो, उसे शान्तिक यन्त्र कहते हैं। शान्तिक मन्त्रों की विकसित स्थिति को ही शान्तिक यन्त्र कहा जाता है।

आज का भौतिकवादी मानव नाना प्रकार के रोगों तथा मानसिक तनाव से त्रस्त होता जा रहा है। उसके रोगों तथा मानसिक तनावजन्य कारणों के रूप में यदि शान्तिक मन्त्र-यन्त्र-तन्त्रों का वैज्ञानिक रूप से उपयोग किया जाय तो आज के त्रस्त मानव को सुख की नयी दिशा प्राप्त होने की इस विद्या में पूर्ण सम्भावनाएँ हो सकती हैं। मेरे अनुभव एवं विचार के निष्कर्ष रूप यदि मनुष्य अनवरत रूप से उक्त मन्त्र-यन्त्र का विधिवत् आराधन करता है, तो वह समस्त मानसिक तनावों से मुक्ति ही नहीं अपितु समस्त शारीरिक व्याधियों से मुक्ति पा सकता है। यह मन्त्र-यन्त्र इस विद्या का प्राण रूप सार है। इसे पूर्वाचार्यों ने महामन्त्र, महा मृत्युंजय मन्त्र, परम शान्तिदाता मन्त्र आदि कई संज्ञाओं में परिभाषित किया है।

पौष्टिक मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र

मानव-मन की परतों को यदि खोला जाय तो उसमें वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकेषणा रूप विकास वा विनाशक अदृष्ट इतिहास छिपा पड़ा है। इस तथ्यानुसार संसार का कोई भी मनुष्य निर्धनता की वांछा नहीं करता, अपितु वह वित्तैषणा रूप धन-धान्य तथा समस्त प्रकार की सुख सामग्री की तमन्ना रखते हुए उन्हें येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसके

मन की दूसरी लिप्सा पुत्र-प्राप्ति की होती है। सहज रूप में इस इच्छा की पूर्ति नहीं होने के फलस्वरूप वह नाना उपायों के आश्रय से आशान्वित होने का प्रयास करता है तथा उसकी जरूरी मानसिक व्यथा किंवा इच्छा ख्याति लाभ की भी होती है। वह अपनी प्रसिद्धि के लिए अनेक प्रकार की नीतियों का आश्रय लेते हुए सबल पुरुषार्थ करता है। जैनाचार्यों ने मानव-मन की इन उपर्युक्त इच्छाओं की सिद्धि हेतु पौष्टिक अभिकर्म रूप अनेक मन्त्र-यन्त्र तथा तन्त्रों का सृजन कर भुक्ति से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है।

पौष्टिक मन्त्र—जिन ध्वनियों की वैज्ञानिक संरचना के घर्षण द्वारा सुख सामग्रियों की प्राप्ति अर्थात् जिन मन्त्रों के द्वारा मन की संकल्प शक्ति तथा ऐसे वातावरण एवं परिस्थितियों का निर्माण हो जिससे धन-धान्य, पुत्र सौभाग्य तथा यशः कीर्ति की प्राप्ति हो, उन ध्वनियों के सन्निवेश को पौष्टिक मन्त्र कहते हैं।

पौष्टिक यन्त्र—जिन मन्त्रों एवं अंकों को रेखाओं बिन्दुओं के द्वारा, जिन्हें विभिन्न प्रकार के चक्र, वृत्त, कोण, त्रिभुज किंवा अन्य आकृतियों में पूर्वाचार्यों ने रूपांकन किया है उनकी विधिपूर्वक साधना द्वारा पूर्वोक्त प्रकार के पौष्टिक अभिकर्म की सिद्धि होती है। उन्हें पौष्टिक यन्त्र कहते हैं। पौष्टिक मन्त्रों की विकसित स्थिति ही पौष्टिक यन्त्र कहे जाते हैं।

पौष्टिक तन्त्र—अपेक्षित मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र आदि में विधिपूर्वक औषधि विशेष किंवा क्रिया विशेष से व्यक्ति विशेष अथवा समूह विशेष में प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से रासायनिक क्रिया अथवा भौतिक क्रिया के फलस्वरूप पौष्टिक अभिकर्म की सिद्धि होती हो उन्हें पौष्टिक तन्त्र कहते हैं।

इस विद्या संबन्धी साहित्य भी, विशेषतया सामान्य-विशेष युक्त विपुल मात्रा में उपलब्ध होता है। यहां निर्देशन रूप में सामान्य विशेषता युक्त मन्त्र, यन्त्र तथा तन्त्र को ही संदर्भित किया जा रहा है।

इस यन्त्र को रवि पुष्य नक्षत्र में सोना, चाँदी अथवा ताम्र पत्र पर खुदवाकर, प्राण प्रतिष्ठा कर पूर्व लिखित मन्त्र की नित्य विधिपूर्वक दस माला फिराने से पौष्टिक अभिकर्मक की सिद्धि होती है।

रवि पुष्य नक्षत्र में दस रत्ती सोना, बारह रत्ती चाँदी, तथा १६ रत्ती तांबे की तीन तार युक्त अँगूठी बनवाकर, विधिवत् दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली में धारण करने से उत्तम पौष्टिक अभिकर्म की सिद्धि होती है।

धन-धान्य सौभाग्य, संतान तथा यशकीर्ति आदि सर्व सिद्धि महा प्रभावित मन्त्र-यन्त्र—

सर्व कार्य सिद्धि यंत्र सूर्य मंत्र सहित
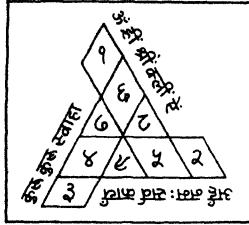
विधिः यंत्र को भोज पत्र पर केशर से
लिख कर हाथ में पहने।

उपर्युक्त निर्देशन रूप मन्त्र-यन्त्र तथा तन्त्र पर लेखक के द्वारा अनेक बार प्रयोग किये गये हैं जिनके आशातीत परिणाम प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार पौष्टिक मन्त्र-यन्त्र तथा तन्त्र, धन-धान्य, यश सौभाग्य, सन्तान आदि की प्राप्ति में अवरोधक तत्वों का निरोध, सहायक तत्वों का सृजन तथा साधक में पुरुषार्थ करने के प्रति दृढ़ संकल्प को पैदा करते हैं।

इस प्रकार मानव मन की द्वितीय प्रकृत इच्छा ही सिद्धि रूप पौष्टिक अभिकर्म को समझने के अनन्तर, उसकी अपराधी वृत्ति पर नियन्त्रण रूप अभिकर्म को समझना आवश्यक है, जिस पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है।

आकर्षण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण तथा मारण अभिकर्म

मानव-मन की विरोधी प्रकृति स्वाधीनता किंवा स्वतन्त्रता तथा स्वामित्व भोग-उपभोग वा नेतृत्व भावना की मर्यादा विरोधी स्वच्छन्द वृत्ति ने ही समाज को अशान्ति रूप संघर्ष दिया है। अर्थात् मानव-मन की एक विशेषता रही है कि कोई भी मनुष्य थोड़ी सी भी समझ होने पर स्वयं तो स्वतन्त्र रहना चाहता ही है किन्तु वह दूसरों पर चेतन-अचेतन स्वामित्व रूप अधिकार वा नेतृत्व की प्रबल भावना रखता है। उसकी यह सामान्य मानसिक स्थिति जब प्रत्यक्ष रूप से स्वच्छन्दता का आश्रय ले लेती है, तब उसकी वह विशिष्ट स्थिति व्यक्ति विशेष से लेकर विश्व स्तर की किसी भी संस्था को क्षोभ, भय, दुख तथा अमर्यादित क्षति से प्रभावित कर सकती है। अस्तु; मानव-मन के स्वच्छन्द विरोधी प्रकृति के दुष्परिणामों से बचने के लिए ही नहीं अपितु पशु पक्षी आदि किसी के भी द्वारा व्यक्ति, परिवार, धर्म समाज तथा राष्ट्र आदि

की अमर्यादित क्षति से रक्षा हेतु पूर्वाचार्यों ने अपराधों के अनुरूप क्रमशः आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण तथा मारण रूप अभिकर्म का दिशाबोध दिया है।

आकर्षण

जिन ध्वनियों की वैज्ञानिक रचना के घर्षण द्वारा किसी विरोधी, भ्रमित, रुष्ट, असन्तुष्ट, निर्मम, भयग्रस्त व्यक्ति तथा देवी-देवता आदि जो साधक के पास आकर अपनी मानसिकता को साधक के प्रति सौहार्द्रपूर्ण, अपनत्व युक्त कर देता है, उन ध्वनियों के सन्निवेश को आकर्षण मन्त्र कहते हैं। इसका प्रयोग मुख्यतः दूरस्थ को बुलाने, समीप लाने की भावना से ही किया जाता है। मन्त्रों का विकसित रूप यन्त्र तथा तन्त्र भी आकर्षण विद्या के अभिन्न अंग हैं, जो अपना निश्चय प्रभाव छोड़ते हैं।

वशीकरण

अभीष्ट प्राणी को अपने वशीभूत करना ही वशीकरण कहलाता है। वस्तुतः यह आकर्षण और मोहन अभिकर्म का चरम विकसित और अत्यधिक प्रभावी रूप है। आकर्षण में केवल अपनी ओर खींचने, पास ले आने का प्रभाव निहित रहता है, जबकि मोहन में उससे कुछ अधिक, उक्त प्राणी की विमुग्ध और स्वयं की चेतना के प्रति विस्मृत सा कर दिया जाता है। इसमें मोहित व्यक्ति की चेतना और विवेक मन्द हो जाते हैं। वशीकरण में इन दोनों से अधिक प्रभाव रहता है। वशीकृत व्यक्ति को अपने प्रति उचित अनुचित, हानि-लाभ, स्वीकृति-वर्जना, हित-अहित का विवेक नहीं रहता। वह मानसिक रूप से साधक के अधीन, उसके प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाता है। वह मानसिक दासता की स्थिति में साधक के हाथ की कठपुतली बन जाता है।

जिन ध्वनियों का वैज्ञानिक रचना के घर्षण द्वारा इच्छित व्यक्ति, वस्तु, पशु-पक्षी तथा देवी देवता आदि चुम्बक की तरह खिंचे हुए साधक के पास आ जाये तथा उसका विपरीत मन भी साधक की अनुकूलता स्वीकार कर ले, उन ध्वनियों के सान्निवेश को वशीकरण मन्त्र करते हैं। इन मन्त्रों के विकसित रूप यन्त्र और तन्त्र भी मन्त्रों की तरह वशीकरण के प्रभावी निमित्त होते हैं।

उच्चाटन

जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक संरचना के घर्षण द्वारा किंवा तन्त्र की रासायनिक क्रिया द्वारा किसी का मन अस्थिर, उल्लास रहित एवं निरुत्साहित होकर पथ-भ्रष्ट या स्थान-भ्रष्ट हो जाय,

अर्थात् जिन मन्त्रों के प्रयोग किंवा तन्त्रों के प्रयोग द्वारा मनुष्य और पशु-पक्षी में विरक्ति, अनास्था, अविश्वास, ऊब-भ्रम और अनिश्चय की भावना पैदा हो जाती है, वह स्थिर चित्त होकर न कहीं बैठ सकता और न कोई कार्य कर सकता है, उन ध्वनियों के सन्निवेश को उच्चाटन मन्त्र तथा पदार्थ विशेष की क्रिया विशेष को उच्चाटन तन्त्र कहते हैं। इस अभिकर्म का मुख्य लक्ष्य किसी का भी बौद्धिक सन्तुलन नष्ट करना है।

स्तम्भन

जिन ध्वनियों की वैज्ञानिक संरचना के घर्षण द्वारा किंवा पदार्थ विशेष की क्रिया विशेष द्वारा मनुष्य, पशु-पक्षी तथा प्रेत आदि की बाधाओं को शत्रुओं के आक्रमण तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले कष्टों को दूर कर, इनको जहां की तहां निष्क्रिय कर स्तम्भित कर दिया जावे उन ध्वनियों के सन्निवेश को स्तम्भन मन्त्र तथा पदार्थ विशेष की रासायनिक क्रिया को स्तम्भन तन्त्र कहते हैं। इस अभिकर्मक द्वारा व्यक्ति की बुद्धि को जड़ या निष्क्रिय करके वैचारिक रूप से पंगु किंवा विवेकशून्य बनाकर उसके समस्त क्रियाकलापों को रोकने के अनन्तर शारीरिक गतिशीलता को भी निष्क्रिय बना दिया जाता है। मुख्य रूप से स्तम्भन का प्रभाव व्यक्ति के बौद्धिक, शारीरिक तथा मेघ स्तम्भन, बाढ़ में जल स्तम्भन, अग्नि स्तम्भन, वायु स्तम्भन, युद्ध में शस्त्र स्तम्भन, तथा वाक् स्तम्भन में किया जाता है।

विद्वेषण

जिन ध्वनियों की वैज्ञानिक संरचना के घर्षण द्वारा किंवा पदार्थ विशेष की क्रिया विशेष के रासायनिक परिणाम द्वारा कुटुम्ब, मित्र, जाति, देश, समाज आदि में परस्पर कलह और वैमनस्य की क्रान्ति मच जाय उन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवनेश को विद्वेषण मन्त्र तथा पदार्थ विशेप की रासायनिक क्रिया को विद्वेषण तन्त्र कहते हैं।

मारण

जिन ध्वनियों की वैज्ञानिक संरचना के घर्षण द्वारा साधक आततायियों को प्राणदण्ड दे सके उन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश को मारण मन्त्र कहते हैं।

इस विद्या का भी क्षुद्र स्वार्थ तथा ईर्ष्या-द्वेष की पूर्ति के लिये प्रयोग होने लगा, जिससे समाज ने उसे सर्वथा त्याज्य तथा निन्दनीय घोषित कर दिया है।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने मानव-मन की स्वछन्द विरोधी प्रकृति के दुष्परिणामों से बचने व अपराधी के अपराध के अनुरूप क्रमशः आकर्षण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण

तथा मारण मन्त्र-यन्त्र रूप विधाओं की दिशा दी थी। किन्तु प्रायः इन विद्याओं का दुरुपयोग ही अधिक हुआ है। इसी से अध्यात्म के अन्तर्गत मन्त्र-तन्त्र के प्रति लोगों में उपेक्षा, भय, शंका तथा अविश्वास आदि के भाव उत्पन्न होने से सामाजिक चेतना ने उन्हें त्याज्य, बहिष्कृत और निन्दनीय सा ही घोषित किया है।

हम देखते हैं कि जैन मन्त्रशास्त्र में शान्ति-पुष्टि आदि विद्या रूप विशाल श्रृंखला है जसका मानव के ऐहिक और भौतिक कल्याण की दृष्टि से बहुत महत्व है। यह केवल कल्पना ही नहीं है, किन्तु आयुर्वेद के चिकित्सा शास्त्रों से भी प्रमाणित है कि मन्त्र और तन्त्र से अनेक प्रकार की आधि, व्याधि से मुक्ति दिलाकर मानव के जीवन को प्रशस्त किया जा सकता है। आज के इस विज्ञान के युग में आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में, लोग इस महत्त्वपूर्ण परम्परा की प्रायः उपेक्षा करते हैं, किन्तु इस विद्या का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय और तथ्यों का विश्लेषण किया जाय तो निश्चित ही यह मानव-कल्याण के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकती है।
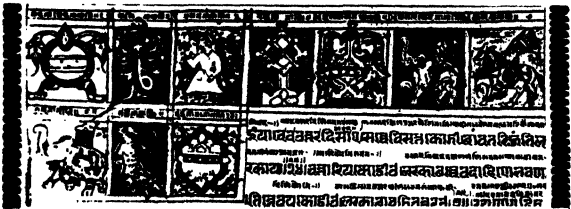
जैनमूर्ति-निर्माण विधि

❑ ब्र. धर्मचन्द जैन, शास्त्री

जैनदर्शन की मान्यता है कि संसारी जीव अपने कर्मबंध के कारण देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक इन चार गतियों में भ्रमण करता रहता है। कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त होने पर जीवात्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है और लोक के अग्रभाग में जाकर स्थिर हो जाता है, तब उसे संसार में पुनः नही आना पड़ता। इन सिद्ध आत्माओं की संख्या अनन्तानन्त है। सभी सिद्ध आत्मायें मनुष्ययोनि से ही सिद्ध अवस्था प्राप्त करती हैं। तीर्थंकर भी उसी प्रकार सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं। वे देवजाति के नहीं होते, वे तो देवाधिदेव हैं, क्योंकि मानव-शरीर धारण करते हुए भी देवताओं द्वारा पूजित होते हैं, इसलिए उन्हें देवाधिदेव कहा गया है।

शास्त्रों के द्वारा अच्छी तरह जाने हुए तीर्थंकरों के प्रति दर्शन-पूजनादि आदर रूप व्यवहार के लिए, 'अमुक तीर्थंकर हैं' ऐसा कहकर अपने भावों में प्रकाशित भगवान् के रूपाकार की प्रतिमा में स्थापना करना प्रतिष्ठा है।

> मुक्त्यादौ तत्त्वेन प्रतिष्ठिताया न देवतायस्तु।
> स्थाप्येन च मुख्येयं तदधिष्ठानाय भावेन॥
> "भवति च खलु प्रतिष्ठा निजभावस्यैव देवतोद्देशात्॥"

मुक्त होकर लोकान्त जा विराजे हुए देवता स्थाप्य (मूर्ति) में नहीं आ सकते अतः साक्षात् देव की स्थापना तो नहीं हैं, परन्तु उपचार से देवता के उद्देश्य से निज भावों की ही मूर्ति में प्रतिष्ठा होती है।

कल्याणमन्दिर में आचार्यश्री ने लिखा है–

> आत्मामनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या,
> ध्यातो जिनेन्द्र भवतीह भवत्प्रभावः॥

हे भगवन्! जब बुद्धिमान् पुरुष निज आत्मा को ध्यान के द्वारा आप से अभिन्न कर लेता है तो उसमें आपका प्रभाव आ जाता है। अस्तु!

अर्हत्, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म को जैन परम्परा में मंगल और लोकोत्तम माना गया है। साधु तीन प्रकार के होते हैं : (१) आचार्य, (२) उपाध्याय और (३) साधु। इन पाँच परमेष्ठियों और श्रुतदेवता की पूजा करने का विधान प्राचीन जैन ग्रन्थों में मिलता है। 'वसुनन्दि श्रावकाचार' में आचार्य ने लिखा है–

जिणसिद्ध सूरिपाठय साहूणं जं सुयस्स विहिवेण।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाणं॥

आचार्य जिनसेन के आदिपुराण में पूजा श्रावक के निरपेक्ष कर्म के रूप में अनुशंसित है। पूजा के छह प्रकार बताये गये हैं (१) नामपूजा, (२) स्थापनापूजा, (३) द्रव्यपूजा, (४) क्षेत्रपूजा, (५) कालपूजा, (६) भावपूजा।

इनमें से स्थापना के दो भेद हैं—सद्‌भाव स्थापना और असद्‌भाव स्थापना। प्रतिष्ठेय की तदाकार सांगोपांग प्रतिमा बनाकर उसकी प्रतिष्ठा करना सद्भाव स्थापना है और शिला, पूर्णकुंभ, अक्षत, रत्न, पुष्प, आसन आदि प्रतिष्ठेय से भिन्न आकार की वस्तुओं में प्रतिष्ठेय का न्यास करना असद्‌भाव स्थापना है। असद्‌भाव स्थापना-पूजा का जैनाचार्यों ने वर्तमान युग में प्रायः निषेध किया है, क्योंकि वर्तमान काल में लोग कुलिंग मति से मोहित होते हैं और वे असद्‌भाव स्थापना से अन्यथा कल्पना भी कर सकते हैं।

संसारी प्राणी के आभ्यंतर मल को गला कर दूर करने वाला और आनन्ददाता होने के कारण मंगल पूजनीय है। पूजा के समान ही मंगल भी ६ प्रकार का जैनाचार्यों ने बताया है—(१) नाममंगल (२) स्थापनामंगल (३) द्रव्यमंगल (४) क्षेत्रमंगल (५) कालमंगल और (६) भावमंगल। कृत्रिम और अकृत्रिम जिनबिम्बों की स्थापना को मंगल माना गया है। जयसेनाचार्य के अनुसार जिनबिम्ब का निर्माण कराना मंगल है।

जिनप्रतिमा के दर्शन कर चिदानंद का स्मरण होता है अतः जिनबिम्ब का निर्माण कराया जाता है। बिम्ब में जिन भगवान् और उनके गुणों की प्रतिष्ठा कर उनकी पूजा की जाती है। आगम की मान्यता है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर बहत्तर जिन मन्दिरों का निर्माण करवाकर, उनमें जिन-प्रतिमाओं की स्थापना कराई थी और तब से जैन प्रतिमाओं की स्थापना विधि की परंपरा चल रही है।

जैन प्रतिमाओं का निर्माण और उसकी स्थापना अति प्राचीन काल से चली आ रही है, इस तथ्य की पुष्टि निशंक रूपेण पुरातत्त्वीय प्रमाणों और प्राचीन जैन साहित्य के उल्लेखों से होती है।

मंदिर-निर्माण विधि

मंदिर कैसे स्थान पर निर्मित होना चाहिए—इसके समाधान में प्रतिष्ठापाठ के विशेषज्ञों ने कहा है कि नगर के शुद्ध प्रदेश में, अटवी या नदी के समीप, पवित्र भूमि में मंदिर बनवाना शुभ है। मनोज्ञ स्थानों पर जिनमंदिरों का निर्माण किया जाना चाहिए।

जिनमंदिर के लिए भूमि का चयन करते समय अनेक उपयोगी बातों पर विचार करना

होता है। जैसे—भूमि शुद्ध हो, रम्य हो, स्निग्ध हो, सुगंध वाली हो, दूर्वा से आच्छादित हो, पोली नहीं हो, वहाँ कीड़े-मकोड़ों का निवास नहीं हो तथा श्मशान भूमि भी न हो। भूमि का चयन मंदिर-निर्माण-विधि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। योग्य भूमि पर निर्मित (प्रासाद) मंदिर ही दीर्घकाल तक स्थित रह सकता है।

विभिन्न ग्रंथकारों ने भूमि-परीक्षा के उपाय बताये हैं। जैसे—जिस भूमि में मन्दिर निर्माण करने का विचार किया गया हो उस भूमि में एक हाथ गहरा गड्ढा खोदा जावे और फिर उस गड्ढे को उसी में से निकाली मिट्टी से पूरा भरा जावे। ऐसा करने पर यदि मिट्टी गड्ढे से अधिक पड़े तो वह भूमि श्रेष्ठ मानी गई है। यदि मिट्टी गड्ढे के बराबर हो तो भूमि मध्यम कोटि की होती है और यदि उतनी मिट्टी से पुनः पूरा न भरे तो वह भूमि अधम जाति की होती है। वहाँ मंदिर का निर्माण नहीं करना चाहिए। प्रतिष्ठा-ग्रंथों तथा वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में मंदिर की भूमिशुद्धि आदि का विवरण मिलता है।

प्रतिमा-निर्माण विधि

प्राचीन काल में मन्दिरों में प्रतिष्ठा कराने के लिए जिन प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता था। वे दो प्रकार की होती थीं, प्रथम चल-प्रतिमा, द्वितीय अचल-प्रतिमा। अचलप्रतिमा अपनी वेदिका पर स्थिर रहती हैं, किन्तु चलप्रतिमा विशिष्ट-विशिष्ट अवसरों पर मूल वेदी से उठाकर अस्थायी वेदी पर लायी जा सकती हैं। अचल प्रतिमा को ध्रुवकुबेर और चलप्रतिमा को उत्सव कुबेर कहा जाता है। इन्हें क्रमशः स्थावर और जंगम प्रतिमा भी कहते हैं।

वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ में आचार्यश्री ने मणि, रत्न, स्वर्ण, रजत, पीतल, मुक्ताफल और पाषाण की प्रतिमाएँ निर्मित किये जाने का विधान कहा है। जयसेन आचार्य ने स्फटिक की प्रतिमाएं भी प्रशस्त बतायीं है। आचार्यो ने काष्ठ, दन्त और लोहे की प्रतिमाओं के निर्माण का किसी भी प्रकार से उल्लेख नहीं किया। पाषाण की प्रतिमाएँ निर्मित किया जाना सर्वाधिक मान्यता प्राप्त एवं व्यावहारिक रहा है।

प्रतिमा निर्माण के लिए शिला के अन्वेषण और उसके गुण-दोषों के विचार के विषय में भी प्राचीन ग्रंथों में विवेचन मिलता है।

पं. आशाधर जी ने लिखा है कि जब मन्दिर के निर्माण का कार्य पूरा हो जावे अथवा पूरा होने को हो तो प्रतिमा के लिए शिला का अन्वेषण करने शुभ लग्न, मंगल मुहूर्त, शकुन में इष्ट शिल्पी के साथ जाना चाहिए। मूर्ति बनाने वाले चतुर शिल्पी को साथ लेकर पवित्र स्थान में स्थित खान पर जावें, वहाँ पर प्रतिमा के योग्य जो शिला होवे उसकी परीक्षा करने के लिए शिल्पशास्त्र में अनेक प्रकार के जो लेप लिखे हैं, उनमें से किसी एक का लेप करें तो पाषाण के भीतर रहे हुए दोष प्रगट हो जाते हैं; जैसे कि :—

निर्मल कांजी के साथ बेल वृक्ष की छाल को पीसकर पाषाण या लकड़ी के ऊपर लेप करने से मंडल प्रगट हो जाता है।

पाषाण या लकड़ी में जो दाग देखने में आते हैं वह किसी जंतु विशेष से बने हुए होते हैं।ये रंग आदि से पहचाने जाते हैं तथा उन चित्रों के शुभाशुभ फल भी शिल्पशास्त्र में लिखे हैं, जैसे—मधु के रंग जैसी रंग वाली रेखा दिखे तो वह खद्योत, भस्म के वर्ण की दिखे तो बालु, गुड़ के रंग की दिख तो मेंढ़क, आकाश के रंग की दिखे तो पानी, कबूतर के रंग की दिखे तो छिपकली, मंजीठ के रंग की हो तो मेंढ़क, लाल रंग की रेखा हो तो गिरगिट, पीले वर्ण की हो तो गोह, कपिल वर्ण की हो तो ऊदर, काले वर्ण की हो तो सर्प और अनेक प्रकार के रंग की हो तो बिच्छु इत्यादि जन्तुओं से रेखा आदि दाग बने होते हैं। ऐसे दाग पाषाण या लकड़ी में रहे हों तो सन्तान, लक्ष्मी, प्राण और राज्य के विनाशकारक हैं, परन्तु पाषाण के वर्ण की रेखा या दाग हों तो कोई दोष नहीं माना गया है।

देव की प्रतिमा पुल्लिंग शिला से, देवी की प्रतिमा स्त्रीलिंग शिला से, पादपीठ सिंहासनादि नपुंसक शिला से बनाना लिखा है। इसकी परीक्षा आकृति और आवाज से की जाती है।

जो शिला एक ही वर्ण वाली, सघन, चिकनी, मूल से लेकर अग्रभाग तक बराबर समान आकार वाली और गजघंट के समान आवाज वाली हो वह पुल्लिंग शिला जानना। जो मूल भाग में स्थूल और अग्रभाग में कृश हो तथा कांसी जैसी आवाजवाली हो वह स्त्रीलिंग शिला जानना। जो मूल भाग में कृश और अग्रभाग में कृश हो एवं बिना आवाज की हो वह नपुंसक शिला जानना। शिला औंधा मुख करके पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण लम्बी रहती है। अग्र शिला भाग, मूल भाग पैर समझना चाहिए। शिला निकालते समय उसमें चिह्न कर लेना चाहिए, जिससे शिला का मुख, पृष्ठ, मस्तक आदि की पहिचान हो सके और उसके अनुसार मूर्ति का मुख आदि बना सकें। जहाँ शिला का मुख भाग हो उस भाग में मूर्ति का मुख और शिला का जहाँ पैर हो उस भाग में मूर्ति के पैर बनना चाहिए। शिल्प-ग्रन्थों में शिला औंधी सोती हुई लिखा है, इस शिला के नीचे के भाग का मुख और ऊपर के भाग का पृष्ठ भाग बनाना चाहिए।

इस प्रकार परीक्षा करके श्वेत, रक्त, श्याम, मिश्र, पारावत्, मुद्ग, कपोत, पद्म, मंजिष्ठ और हरित वर्ण की शिला को प्रतिमा-निर्माण के लिए उत्तम बताया है। वह शिला कठिन, शीतल, स्निग्ध, सुस्वाद, सुस्पर्श, दृढ़, सुगंध युक्त, तेजस्विनी और मनोज्ञा होनी चाहिए। बिन्दु और रेखाओं वाली शिला प्रतिमा-निर्माण कार्य के लिए वर्ज्य कही गई है। उसी प्रकार, मृदु, विवर्ण, दुर्गन्धियुक्त, लघु, धूमिल और निःशब्द शिलाएँ भी अयोग्य ठहरायी गयी हैं।

इस प्रकार परीक्षा करने से प्रतिमा के लिए जो निर्दोष शिला प्राप्त हो उसका अच्छे शुभ दिन में छेदन करें। जिस दिन छेदन करने का हो उसकी प्रथम रात्रि को जल, चन्दन, अक्षत,

पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फलादि सामग्री से—"हे शिले! अमुकस्य देवस्य पूजनाय परिकल्पिता अस्ति नमस्ते" इस प्रकार मंत्रोच्चारणपूर्वक पूजन करें।बाद में वनदेवता, क्षेत्रदेवता, नवग्रह, दिक्पाल आदि देवों का शिला में विन्यास करके सुगन्धित द्रव्यादि से पूजन करें। शुभ मुहूर्त में महोत्सवपूर्वक शिला का छेदन करें, पीछे मंगल मुहूर्त में नगर में शिला का प्रवेश करावें। आचार्य ने लिखा है—

जैनं चैत्यालयं चैत्यमूर्तिं निर्मापयन् शुभम्।
वाञ्छन् स्वस्य नृपादेश्च वास्तुशास्त्रं न लंघयेत्॥

मन्दिर वा प्रतिमा बनाने वाला यदि अपना और राजा प्रजा का भला चाहता हो तो उसे शुभ-अशुभ बताने वाले वास्तुशास्त्र के अनुकूल ही सब काम करवाना चाहिए। मूर्ति के पाषाण की शिला के लिए शांतिविधानपूर्वक शुभ मुहूर्त में परीक्षा कर शास्त्रानुसार प्रतिमा का निर्माण कराना उचित है।

प्रतिमा ऐसे कारीगर से बनवाना ठीक है, जो बाल, वृद्ध व सदोष शरीर वाला न हो, जो प्रतिमा-निर्माण में अधिक चतुर हो। सदाचारी हो, पवित्रता से रहने वाला हो और अण्डे, मांस, मदिरा, शहद आदि का त्यागी हो तथा जिसके परिणामों में शांत छवि का आकार झलक रहा हो।

उक्त गुणवाले शिल्पी को घर पर बुलाकर शुभ लग्न में सत्कारपूर्वक वह शिलाबिम्ब बनाने के लिए दी जावे और उसको जब तक प्रतिमा तैयार न हो तब तक हर तरह से प्रसन्न रक्खा जावे। निर्मापक सद्गृहस्थ को उचित है कि वह इस महान् कार्य में धन का संकोच नहीं करे। चांदी सोने की या बड़े आकार की या बहुत-सी मूर्तियाँ न बनवाकर चाहे वह पाषाण की छोटी-सी एक ही प्रतिमा बनवावे, पर विधिपूर्वक निर्माण हो। आजकल शिल्पशास्त्रों का अध्ययन न होने से कारीगर शिला-परीक्षा के इन नियमों को नहीं जानता है इसीलिए मूर्ति के निर्माण में दोष रहने की सम्भावना रहती है। यह मात्र कारीगर का दोष नहीं है, मूर्ति बनवाने वाला भी उपर्युक्त नियमानुसार नहीं बनवाना चाहता। वह तो सस्ते दामों में जल्दी से तैयार हो जाय ऐसा पसंद करते हैं। जिस मूर्ति के लिए हजारों रुपये मन्दिर बनवाने में और उसकी प्रतिष्ठा के समय खर्च करते हैं, इतना ही नहीं, जिसके आगे अपने मस्तक झुकाते हैं, उसका खिलौनों की तरह भाव जाँचना कहाँ तक युक्तिसंगत है! जब तक प्रतिमा न बन चुके तब तक अपने परिणामों में प्रतिमा विषयक भावना ही मुख्य रखें। देख-भाल में प्रमाद व त्रुटि न करें।

प्रतिष्ठाचार्यों का भी कर्त्तव्य है कि वे अपने व समाज के हितार्थ आत्मबल धारण करें। किसी के दबाव व लोभवश सदोष जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा के लिए अपनी स्वीकृति न दें।

गृहपूज्य प्रतिमाएँ

निवासगृह में पूज्य प्रतिमाओं की अधिकतम ऊँचाई के विषय में जैनग्रन्थों में वसुनन्दि आचार्य ने द्वादश अंगुल तक की ऊँची प्रतिमा को ही पूजनीय बतलाया है। प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के दर्शन, वन्दन, पूजन-भक्ति आदि करते रहने से परिवार में सुख शांति मिलती है। मलिन, खण्डित, अधिक या हीन प्रमाणवाली प्रतिमाएँ भी गृह में नहीं रखना चाहिए।

अपूज्य प्रतिमाएँ

रूपमण्डनकार ने हीनांग और अधिकांग प्रतिमाओं के निर्माण का सर्वथा निषेध किया है। शुक्रनीति में हीनांग प्रतिमा को उसका निर्माण कराने वाले की और अधिकांग प्रतिमा को उसका निर्माण करनेवाले शिल्पी की मृत्यु का कारण बताया है। जैन परम्परा के ग्रन्थों में भी वक्रांग, हीनांग और अधिकांग प्रतिमा-निर्माण को भारी दोषयुक्त माना गया है।

शास्त्रों में लिखा है कि श्रावक के लिए धनरूपी बीज बोकर उससे शुभ फल की प्राप्ति के लिए जो सात क्षेत्र नियत किये गये हैं उसमें एक प्रतिमा-निर्माण भी है। पूजा के भेदों में प्रतिमा बनवाना नित्यमह में गर्भित है। कहा भी है कि—

चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः।
पूजामहोत्सवाद्येश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनाम्॥

जिन-मन्दिर बनवाना, ज्ञान का प्रचार व उपदेश करना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पूजन और प्रतिष्ठा-महोत्सवादि कराकर जिन-मत की प्रभावना करनी चाहिए।

जिसमें श्रीजिनदेव की स्थापना होगी, जिसके दर्शन-पूजनादि से अपना ही नहीं, लाखों व्यक्तियों का हित होगा वह मूर्ति एक तरह का खिलौना नहीं है, जो चाहे जब कहीं जाकर जैसी मिले वैसी और सस्ती-सी खरीद लाई जावे। इसलिए कहा है—

अथ बिम्बं जिनेन्द्रस्य कर्त्तव्यं लक्षणान्वितम्।
श्रीवत्सभूषितोरस्कं जानू प्राप्तकराग्रजम्॥

प्रातिहार्याष्टकोपेतं सम्पूर्णावयवं शुभम्।
प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिंहबिम्बमपीदृशम्॥

इत्यादि श्लोकों के अनुसार हथेली वा पगथली में सामुद्रिक शास्त्रोक्त शंख-चक्र-पद्म आदि लक्षणों सहित, हृदय पर श्रीवत्स से भूषित, जंघा तक लम्बे हाथों वाली, आठ प्रातिहार्यों की धारक, शरीर के सब अवयवों से पूर्ण और शोभित प्रतिमा बनवाना चाहिए। सिद्धों का बिम्ब ८ प्रातिहार्यों से रहित होना चाहिए।

दिगम्बर जैनाचार्यों ने सदोष प्रतिमा अशुभ बताई है जैसे—

तिरछी दृष्टि (नजर)—धननाश, विरोध, भय करने वाली।

नीची नजर—पुत्रनाश का कारण।

ऊँची नजर—स्त्री का मरण कराने में निमित्त।

स्तब्ध नजर—शोक, उद्वेग, संताप, धननाश करने वाली।

रौद्र—बनवाने वाले का नाश कराने वाली।

दुबले शरीर वाली—धन नाश का कारण होती है।

ओछे कद वाली—निर्माण कराने वाले के नाश में कारण होती है।

चपटी—दुःखदाता।

नेत्र रहित—नेत्र नाश में कारण।

छोटे मुखवाली—शोभा का नाश करने वाली।

बड़े पेट वाली—रोग में निमित्त।

दुबली छाती वाली—हृदय की बीमारी में निमित्त।

नीचे कन्धों वाली—राजा का अनिष्ट करने वाली।

छोटे पग वाली—देश नाश में कारण।

दुबली कमर वाली—सवारी का नाश।

उक्त कथन वसुनन्दि आचार्य ने किया है। आचार्य वसुनन्दि ने ही जिनप्रतिमाओं में नासाग्रनिहित, शान्त एवं मध्यस्थ दृष्टि को उत्तम बताया। वीतराग की दृष्टि हो, अत्यन्त उन्मीलित न हो और न विस्फुरित हो। दृष्टि तिरछी, ऊँची या नीची न हो इसका विशेष ध्यान रखे जाने का विधान है।

आचार्यकल्प पंडितप्रवर आशाधर जी और वर्धमान सूरि ने भी अनिष्टकारी, विकृतांग और जर्जर प्रतिमाओं की पूजा का निषेध किया है।

भग्न-प्रतिमाओं की पूजा नहीं की जाती। उन्हें सम्मान के साथ विसर्जित कर दिया जाता है। मूलनायक प्रतिमा के मुख, नाक, कान, नेत्र, नाभि और कटि के भग्न हो जाने पर वह त्याज्य होती है, ऐसा वास्तुसार प्रकरण में वर्णन आया है। जिनप्रतिमाओं के अंग-प्रत्यंगों के भंग होने का फल बताया है कि नखभंग होने से शत्रुभय, अंगुली-भंग से देश में भय एवं अराजकता, बाहु-भंग से बन्धन, नासिका नष्ट होने से कुलनाश और चरणभंग होने से द्रव्यनाश होता है, किन्तु 'वास्तुसार' ग्रन्थकार का ही यह भी मत है कि जो प्रतिमाएँ सौ वर्ष से अधिक प्राचीन हों और महापुरुषों द्वारा स्थापित की गयी हों, वे यदि विकलांग भी हो जावें तब भी

पूजनीय हैं। उन्होंने उन प्रतिमाओं को केवल चैत्य में रखने योग्य कहा है, गृह में पूज्य नहीं हैं।

जिन-प्रतिमा के लक्षण

जैन प्रतिष्ठा-ग्रन्थों और वृहत्संहिता, मानसार, अपराजितपृच्छा, देवमूर्ति प्रकरण, रूपमण्डन आदि ग्रन्थों में जिनप्रतिमा के लक्षण बताये गये हैं। जिन-प्रतिमाएँ केवल दो आसनों में बनायी जाती हैं—एक तो कायोत्सर्ग आसन जिसे खड्ग-आसन भी कहते हैं और द्वितीय पद्मासन जिसे कहीं कहीं पर्यक-आसन भी कहा गया है। इन दो आसनों को छोड़कर किसी अन्य आसन में जिनप्रतिमा निर्मित किये जाने का निषेध किया गया है।

प्रतिष्ठाचन्द्रिका में कहा है—

> शान्तं नासाग्रदृष्टिं विमलगुणगणैर्भ्राजमानं प्रशस्त-
> मानोन्मानं च वामे विधृतकरवरं नाम पद्मासनस्थम्।
> व्युत्सर्गालम्बिपाणिस्थलनिहितपदाम्भोजमानभ्रकम्बु-
> ध्यानारूढं विदेन्यं भजत मुनिजनानंदकं जैनबिम्बम्।।

जिनबिम्ब को शान्त, नासाग्रदृष्टि, प्रशस्तमानोन्मानयुक्त, ध्यानारूढ़ एवं किञ्चित् नम्र ग्रीव बताया है। कायोत्सर्ग आसन में हाथ लम्बायमान रहते हैं तथा पद्मासन प्रतिमा में वाम हस्त की हथेली पर हथेली रखी हुई होती है। जैनप्रतिमा (दिगम्बर) श्रीवृक्ष युक्त, नखकेशविहीन, परमशान्त, वृद्धत्व तथा बाल्यत्व रहित, तरुण एवं वैराग्य गुण से भूषित होती है। आचार्य वसुनन्दि और पंडित आशाधरजी ने भी जिनप्रतिमा के उपर्युक्त लक्षणों का निरूपण किया है। विवेक-विलास में कायोत्सर्ग और पद्मासन प्रतिमाओं के सामान्य लक्षण बताये गये हैं।

सिद्धपरमेष्ठी की प्रतिमाओं में प्रातिहार्य नहीं बनाये जाते जबकि अर्हत्प्रतिमाओं में उनका होना आवश्यक है। अर्हत् और सिद्ध दोनों की मूल प्रतिमाएँ बनायी तो समान जाती हैं पर अष्टप्रातिहार्यों के होने तथा न होने की अवस्था में उनकी पहचान होती है। अर्हत् अवस्था की प्रतिमा में अष्टप्रातिहार्यों के दायीं ओर यक्ष और बायीं ओर यक्षी और यक्ष और पादपीठ के नीचे मूर्ति का लांछन भी दिखाया जाता है। तिलोयपण्णत्ती में भी सिंहासन तथा यक्ष युगल से सहित जिनप्रतिमाओं का वर्णन है। ठक्कर फेरु में तीर्थंकर प्रतिमा के आसन और परिकर का विस्तार से वर्णन किया गया है। मानसार में भी जिनप्रतिमाओं के परिकर आदि का वर्णन प्राप्त है। अपराजितपृच्छा में यक्ष-यक्षी, लांछन और प्रातिहार्यों की योजना का विधान है। सूत्रधार मंडन के ग्रन्थों में जिनप्रतिमा को छत्रत्रय, अशोकद्रुम, देवदुन्दुभि, सिंहासन, धर्मचक्र आदि से युक्त बताया गया है।

प्रत्येक तीर्थंकर की प्रतिमा अपने लांछन से पहिचानी जाती है। वह लांछन प्रतिमा के पादपीठ पर अंकित होता है, किन्तु कुछ तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में उनके विशिष्ट लक्षण भी दिखाये जाते हैं, जैसे भ. आदिनाथ जी की प्रतिमा जटाशेखर युक्त भी होती है। भ. सुपार्श्वनाथ जी के मस्तक पर सर्प के पाँच फणों का छत्र तथा भ. पार्श्वनाथ जी के मस्तक पर सात या इससे ज्यादा फणों का नागछत्र भी होता है।

प्रतिमा का मान-प्रमाण

जैन और जैनेतर ग्रन्थों में जिनप्रतिमा के मानादि का विवरण मिलता है। वसुनन्दि आचार्य ने ताल, मुख, वितहित और द्वादशांगुल को समानार्थी बताया है और उस मान से बिम्ब-निर्माण का विधान किया है। प्रतिमा के मुख को एक भाग मानकर सम्पूर्ण प्रतिमा के नौ भाग किये जाने चाहिए। तदनुसार वह प्रतिमा नौ ताल या १०८ अंगुल की होगी। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि नव ताल प्रतिमा का नवां भाग एक ताल और उसका १०८ वां भाग एक अंगुल कहलावेगा।

आ. वसुनन्दि ने नव ताल में बनी ऊर्ध्व (कायोत्सर्ग आसन) जिनप्रतिमा का मान इस प्रकार बताया है—

मुख	— १ ताल (१२ अंगुल)
ग्रीवा भाग	— ४ अंगुल
कंठ से हृदय तक	— १२ अंगुल
हृदय से नाभि तक	— १ ताल (१२ अंगुल)
नाभि से मेंढ्र तक	— १ ताल (१२ अंगुल)
मेंढ्र से जानु तक	— १ हस्त (२४ अंगुल)
जानु	— ४ अंगुल
जानु से गुल्फ तक	— १ हस्त (२४ अंगुल)
गुल्फ से पादतल तक	— ४ अंगुल
योग	१०८ अंगुल=९ ताल

प्रतिष्ठासारसंग्रह में वसुनन्दि ने प्रतिमा के अंग-उपांगों के मान का विस्तार से विवरण दिया है। द्वादशांगुल विस्तीर्ण और आयत केशान्त मुख के तीन भाग करने पर ललाट, नासिका और मुख प्रत्येक भाग ४-४ अंगुल का होता है। नासिका रंध्र साढ़े आठ यव और नासिका पाली चार यव प्रमाण होना चाहिए। ललाट का तिर्यक् आयाम आठ अंगुल बताया गया है। पांच

अंगुल आयत केशस्थान में उष्णीष दो अंगुल उन्नत होता है। जयसेन आचार्य के प्रतिष्ठापाठ में भी जिनप्रतिमा का ताल सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध है वह प्रायः आ. वसुनन्दि के समान ही है। जयसेन ने भ्रूलता को ४ अंगुल आयत मध्य में स्थूल, छोर में कृश अर्थात् धनुषाकार कहा है। नेत्रों की पलकें ऊपर-नीचे नदी के तटों के समान होती हैं। ओष्ठ का विस्तार ४ अंगुल, जिसका मध्य भाग १ अंगुल उच्छ्रित होता है। चिबुक साढ़े तीन अंगुल, उसके मूल से लेकर हनु तक का अन्तर ४ अंगुल। कर्ण और नेत्र का अन्तर भी ४ अंगुल आदि।

पद्मासन जिनप्रतिमा का उत्सेध कायोत्सर्ग प्रतिमा से आधा अर्थात् ५४ अंगुल बताया गया है। उसका तिर्यक् आयाम आठ अंगुल बताया गया है। एक घुटने से दूसरे घुटने तक, दायें घुटने से बायें कंधे तक, बायें घुटने से दायें कंधे तक और पादपीठ से केशांत तक चारों सूत्रों का मान एक बराबर बताया गया है।

शिल्पग्रंथों के अनुसार मूर्ति के शुभाशुभ लक्षण इस प्रकार हैं—

प्रमाणोपेत सम्पूर्ण अवयवों वाली और शुभ लक्षणवाली मूर्ति आयुष्य और लक्ष्मी की वृद्धि करने वाली है। यदि मूर्ति का मस्तक छत्राकार हो तो धन-धान्य की वृद्धिकारक है। अच्छे नयन और ललाट हो तो निरन्तर लक्ष्मीप्रद है। अच्छे प्रकार की हो तो प्रजा सुखी होवे।

प्रतिमा बन जाने पर ही पूज्य नहीं होती है उसमें प्रतिष्ठा-विधि के द्वारा पूज्यता लाई जाती है। अतएव जिनभक्त सज्जन इस प्रभावनावर्द्धक महान् पुण्य कार्य में सद्भावों के द्वारा अपने न्यायोपार्जित द्रव्य का सदुपयोग करता है। प्रतिष्ठापाठों में उसे यजमान की उपाधि दी गई है। कहा भी है—

> पाक्षिकाचारसम्पन्नो' धी-संपद्बन्धुवन्धुरः।
> राजमान्यो वदान्यश्च यजमानो मतः प्रभुः॥

प्रतिष्ठापक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो पाक्षिक श्रावक के आचार को अच्छी तरह पालता हो, बुद्धिमान हो, सम्पत्ति का धारक हो, राजा व राज्यकर्मचारी जिसको आदर की दृष्टि से देखते हों; जिसके स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु आदि कुटुम्ब परिवार अच्छा हो, समाज या देश में बदनाम न हो, प्रतिष्ठाकार्य में तन-मन-धन से योग देता हो वही व्यक्ति प्रतिष्ठा कराने का पात्र होता है।

प्रतिष्ठेय (मूर्ति) की प्रतिष्ठा कराने के लिए प्रतिष्ठापक को इन्द्र, यजमान, स्थापक ऐसे सज्जनों की आवश्यकता पड़ती है, जो अपने न्यायोपार्जित द्रव्य का शुभ भावों से पंचकल्याणक महोत्सव कराने में सदुपयोग करना चाहता है।

प्रतिष्ठापक पाक्षिक श्रावक के आचरण को अच्छी तरह पालता हो, समाज में आदरणीय हो, उत्तम वर्ण, जाति, कुल व शरीर का धारक हो। "देशजातिकुलाचारैः श्रेष्ठोदात्तसुलक्षणः।"

जो शूद्र व बाल-वृद्ध न हो, उत्तम जाति व कुल में जन्मा हो, सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, मन्दकषायी, जितेन्द्रिय व सुन्दर हो, स्वयं पूजनादि करता हो, जिसने प्रतिष्ठा कराई हो, ज्योतिष, मुहूर्त आदि का ज्ञाता हो; मंत्र, तंत्र, यंत्रादि का जानकार हो, पवित्रता से रहने वाला हो, विनयी हो, इत्यादि अनेक गुण जिसमें हो वही प्रतिष्ठाचार्य बनने के योग्य है।

जैनागम में प्रत्येक तीर्थंकर के जीवनकाल के पांच प्रसिद्ध-घटनास्थलों का वर्णन मिलता है। उन्हें 'पंच कल्याणक' के नाम से कहा जाता है, क्योंकि वे अवसर जगत् के लिए अत्यन्त कल्याण व मंगलकारी होते हैं। जिसने जन्म से ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है उसके यथासम्भव चार व तीन व दो कल्याणक भी होते हैं, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के बिना साधारण साधकों को वे नहीं होते। नवनिर्मित जिनबिम्ब की शुद्धि करने के लिए जो पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा पाठ किये जाते हैं वह उसी प्रधान पंचकल्याणक की कल्पना है, जिसके आरोप द्वारा प्रतिमा में असली तीर्थंकर की स्थापना होती है।

जम्बूद्वीप-पण्णत्ति में आचार्यश्री ने लिखा है—

गब्भावयारकाले जम्मणकाले तहेव णिक्कमणे।
केवलणाणुप्पण्णे परिणिव्वाणम्मि समयम्मि॥

जिनदेव गर्भावतारकाल, जन्मकाल, निष्क्रमणकाल, ज्ञानोत्पत्तिकाल और निर्वाण-समय इन पांच स्थानों में पंच महा-कल्याणकों को प्राप्त होकर महात्रृद्धियुक्त सुरेन्द्र इन्द्रों से पूजित हैं।

बदले से तो एक दिन होता मन को मोद।
किन्तु क्षमा से नित्य ही गौरव का आमोद

× × ×

गृह त्यागी ऋषि वर्ग से उनकी ज्योति अपार।
सहते हैं जो शान्ति से दुर्जन वाक्य प्रहार॥

× × ×

तप करते जो भूख सह, वे ऋषि उच्च महान।
क्षमाशील के बाद ही, पर उसका सम्मान॥

जैन मंत्र-तन्त्र विद्या

❑ *गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमतीजी*

जिस प्रकार जैन धर्म में ध्यानाध्यनादि का विशेष वर्णन है—उसी प्रकार मंत्र-तंत्र और यंत्र का भी विशेष वर्णन है। दृष्टिवाद नामक १२वें अंग के पाँच भेद हैं उनमें चूलिका नामक जो भेद है उसके जलगता, आकाशगता, स्थलगता, मायागता और रूपगता ये पाँच भेद हैं—उनमें मंत्र तंत्र के प्रयोग का वर्णन किया गया है।

जल में गमन, जल का स्तंभन, अग्नि स्तंभन, अग्नि भक्षण, अग्नि-प्रवेश करने में कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन जिस ग्रन्थ में है उसको जलगता चूलिका कहते हैं।

भूमि में प्रवेश करने का वा पृथ्वीगत वस्तु का प्रतिपादन करने वाले मंत्र-तंत्र संबंधी शास्त्र को स्थलगता चूलिका कहते हैं।

व्याघ्र, सिंह, हिरण आदि रूप से परिवर्तन करने में कारणभूत मंत्र-तंत्र कथन करने वाले शास्त्र को मायागता कहते हैं।

इन्द्रजालादि सम्बन्धी मंत्र-तंत्र का जिसमें वर्णन है उसे मायागता चूलिका कहते हैं।

दृष्टिवाद के चौथे भेद का नाम है पूर्वगत। पूर्वगत के चौदह भेद हैं। उनमें एक विद्यानुवाद नामक पूर्व है—उसमें तो पूर्ण रूप से मंत्र तंत्र और यंत्र का ही वर्णन है। इस प्रकार जैन ग्रन्थों में मंत्र-तंत्र का विधिवत् उल्लेख किया गया है और मंत्र तंत्र साधना पद्धति भी लिखी गई तथा उनके प्रयोग से जिनको फल प्राप्त हुआ है उनके नामोल्लेख भी हैं।

प्रभावशाली, महत्वपूर्ण रहस्यमय शब्दात्मक वाक्यों को "मंत्र" कहते हैं। जो कुछ गुप्त वार्ता होती है उसको मंत्र कहते हैं अथवा मन्त्र्यते मन्त्रणं वा मंत्रः। गुप्त भाषणे इस व्युत्पत्ति से मंत्र शब्द का अर्थ होता है गुप्त मंत्रणा। "मंत्रो वेदविशेषे स्यादेवादीनां च साधने गुह्यवादेपि च पुमान्" मंत्र शब्द वेद विशेष में देवताओं की साधना करने में और गुप्त मंत्रणा में आता है। यहाँ पर मंत्र शब्द का अर्थ है—देवताओं की आराधना वा आत्मसाधना।

मंत्रों का भी व्याकरण है, उसी के अनुसार विभिन्न कार्यों के लिये विभिन्न प्रकार के बीजाक्षरों की योजना करके विभिन्न प्रकार के मंत्र बनाये जाते हैं। विद्यानुशासन ग्रंथ में मंत्रों का व्याकरण बतलाया गया है।

मंत्र क ख ग घ आदि बीजाक्षरों से निष्पन्न होते हैं। मंत्र में निहित बीजाक्षरों में उच्चरित ध्वनियों से आत्मा में धनात्मक और ऋणात्मक दोनों प्रकार की विद्युत् शक्तियां उत्पन्न होती

है जिससे अनेक कार्यों की सिद्धि एवं कर्मकलंक का प्रक्षालन होता है।

बीजाक्षरों की योजना से चमत्कार प्रकट करने वाले मंत्र दो प्रकार के हैं— लौकिक और अलौकिक।

जिन मंत्रों की विद्युत् शक्तियों से सर्प-विष, आधि-व्याधि, भूत प्रेतादि बाधा दूर की जाती है अथवा जिनका प्रयोग वशीकरण, मारण, उच्चाटन के लिये किया जाता हैं वह लौकिक मंत्र है और जिन मंत्रों के जपने से आत्मा की शुद्धि एवं आत्मोन्नति होती है वे लोकोत्तर मंत्र होते हैं।

बीजाक्षर—ककार से लेकर हकार पर्यन्त व्यंजन बीजसंज्ञक हैं और अकारादि स्वर शक्तिरूप हैं। मंत्र बीजों की निष्पत्ति बीज और शक्ति के संयोग से होती है।

मंत्र शास्त्रों में कथित सारस्वत बीज माया बीज, शुभनेश्वरी बीज, पृथ्वीबीज, अग्निबीज, प्रणव बीज, मारुत बीज, जल बीज, आकाश बीज, आदि की उत्पत्ति ककारादि हल बीजों से और अकारादि अच् शक्ति से होती है।

प्रत्येक स्वर और व्यंजनों की शक्तियों का वर्णन

अ—अव्यय, व्यापक ज्ञानस्वरूप शक्ति का द्योतक, प्रणव बीज का जनक है।

आ—शक्ति और बुद्धि का दायक, सारस्वतबीज का जनक, कीर्तिधन का देने वाला है।

इ—लक्ष्मी प्राप्ति का साधक, कठोर कर्मों का बाधक एवं ह्रीं बीज का उत्पादक है।

ई—अमृत बीज है। ज्ञानवर्द्धक, स्तंभक, मोहक और जंभृक है।

उ—उच्चाटन कारक तथा श्वास नाली के द्वारा जोर का धक्का देने से मारक है।

ऊ—उच्चाटक, मोहक और विशेष शक्ति का परिचायक है।

ऋ—ऋद्धिबीज, सिद्धिदायक, शुभ कार्य सम्बन्धी बीजों का मूल, कार्यसिद्धि का सूचक है।

ऋ—सत्य का संचारक, वाणी का ध्वंसक, लक्ष्मी और आत्मसिद्धि का दीपक है।

ए—अरिष्ट निवारक और सुख-सम्पत्ति का वर्द्धक है।

ऐ—उदात्त-जोर से उच्चारण करने पर वशीकरण।

ओ—उदात्त स्वर, मायाबीज का उत्पादक, लक्ष्मी—श्री पोषक, सर्व कार्यों का साधक और निर्जरा का कारण है।

औ—मारण और उच्चाटन में प्रधान, शीघ्र कार्य का साधक है।

अं—ध्यान मंत्रों में प्रमुख तथा अनेक शक्तियों का उद्घाटक है।

अः—शांतिबीजों में प्रधान है।

क—शक्तिबीज, प्रभावशाली, सुखोत्पादक और संतानप्राप्ति की कामना को पूरने वाला है।

ख—आकाशबीज, अभाव कार्यों की सिद्धि के लिये कल्पवृक्ष है।

ग—पृथक् करने वाले कार्यों का साधक है।

घ—स्तंभन बीज है, स्तंभन कार्यों का साधक और विघ्नघातक है।

इस प्रकार 'च' आदि सम्पूर्ण बीजाक्षर संयुक्त वा असंयुक्त होकर कार्यसिद्धि करते हैं। इन बीजाक्षरों की शक्ति अचिंत्य है। कठिन से कठिन कार्य, दुःसाध्य रोग, ईति-भीति आदि सर्व उपद्रव बीजाक्षरों के ध्यान से नष्ट हो जाते हैं।

सर्व प्रथम बीजाक्षरों से निष्पन्न णमोकार मंत्र है, जिससे चिंतवन से लौकिक कार्य की सिद्धि और आत्मोन्नति होती है। इसके जपने वालों के उदाहरणों से शास्त्र भरे हुए हैं। इसी मंत्र के ध्यान से सुदर्शन के लिये सिंहासन, रावण को विद्याओं की सिद्धि, मानतुंग के ४८ ताले टूटना, वादिराज के कुष्ट रोग का निवारण, कुन्दकुन्द के द्वारा अम्बिका का अवतरण आदि अनेक कार्य सिद्ध हुए हैं। इस णमोकार मंत्र से ही सर्वमंत्रों की उत्पत्ति होती है। मंत्र-व्याकरण के अनुसार इसमें अनेक प्रकार के बीजाक्षर और पल्लव जोड़ देने से इसमें अद्भुत शक्ति का योग हो जाता है। जैसे धन की प्राप्ति के लिए 'क्लीं', शान्ति के लिये "ह्रौं", विद्या के लिए "ऐं", कार्य सिद्धि के लिये "झ्रौं" बीजाक्षर और स्वाहा या नमः पल्लव का प्रयोग किया जाता है। मारण, उच्चाटन, विद्वेष न करने के लिये 'घे घे वषट्' विषट् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

तथा—ॐ ह्रौं णमो अरिहंताणं, ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं, ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं, ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं, ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं—यह एक मंत्र बन गया। जिस कामना से इसका जाप्य करना है वही पल्लव जोड़ देना चाहिये।

जैसे यदि अग्नि को शमन करना है तो इसी मंत्र के अंत में 'अग्नि उप शमय सर्व शांति कुरु कुरु स्वाहा।' ऐसा जाप करना चाहिये। वृष्टि कराने के लिये 'मेघं आनय वृष्टिं कुरु कुरु।' वृष्टि को रोकने के लिये 'वृष्टिं स्तंभय' मेघमानय आनय हूं फट् स्वाहा। इसी प्रकार आधिव्याधि, शोक-संताप, दारिद्रय का नाश करने के लिए पल्लव को जोड़कर ऊपर कथित णमोकार मंत्र का जाप करने से कार्य की सिद्धि होती है।

इस णमोकार मंत्र के समान और भी बहुत से मंत्र हैं—जिनसे भी अनेक कार्य सिद्ध होते हैं।

जैसे 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं अर्हं नमः' यह सर्व शान्तिदायक मंत्र है।

ॐ ह्रीं क्लीं ऐं हंसवाहिनी मम जिह्वाग्रे, आगच्छ आगच्छ स्वाहा—इस प्रकार जाप्य से विद्या शीघ्र सिद्ध होती है।

'ॐ ह्रीं अर्हं णमो आमोसहिपताणं, ॐ ह्रीं अर्हं णमो विप्पोसहिपताणं, ॐ ह्रीं अर्हंखेल्लोसहिपताणं, ॐ ह्रीं अर्हं णमो जल्लोस्सहिपताणं मम सर्वरोगविनाशनं कुरु कुरु स्वाहा' इस मंत्र से सर्व रोग दूर हो जाते हैं।

ॐ ह्रीं अर्हं णमो अक्खीणमहाणसाणं मम अक्खय ऋद्धिं कुरु कुरु स्वाहा। इससे धन-धान्य की प्राप्ति होती है।

ॐ ह्रीं नमः—इससे अनेक कार्य सिद्ध होते हैं। इस मंत्र का पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा के दक्षिण बाहु के समीप पद्मासन बैठकर दो हजार जाप करने से सर्व कार्य सिद्ध होते हैं।

ग्राम में प्रवेश करते समय इस मंत्र का १०८ बार जाप करने से इष्ट की प्राप्ति होती है।

इसी 'ॐ ह्रीं नमः' मंत्र को २१ बार जाप कर दशों दिशाओं में पानी फेंकने से वर्षा बन्द हो जाती है।

इसी मंत्र में २७ बार अन्न को मंत्र करके खाने से आठवें दिन लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। रात्रि में १०८ बार जपने से लक्ष्मी की वृद्धि होती है।

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं वाग्वादिनी भगवती सरस्वती ह्रीं नमः—इस मंत्र के जाप्य से विद्या की प्राप्ति होती है।

ॐ नमो भगवते पार्श्वनाथाय एहि-एहि भगवती दह दह हन हन चूर्णय चूर्णय भंज भंज कंड कंड मर्दय मर्दय हम्ल्व्र्यूं आवेशय आवेशय हूँ फट् स्वाहा—इस मंत्र का ४000 पुष्पों से जाप्य करने से सर्व रोग नष्ट हो जाते हैं।

ॐ ह्रीं ऐं क्लीं, ह्रौं नमः १२000 जाप्य करने से सिद्धि होती है। शुक्रवार के दिन धरणेन्द्र पद्मावती सहित पार्श्वनाथ भगवान के समक्ष जप करने से स्वप्न में शुभाशुभ की सूचना मिलती है।

ॐ णमो अरिहंताणं वद वद वाग्वादिनी स्वाहा—इस मंत्र से १०८ बार मालकांकिणी को मंत्र कर खाने से बुद्धि की वृद्धि होती है।

इस प्रकार मंत्रों से अनेक कार्य सिद्ध होते हैं। मंत्रों की महिमा अचिंत्य है। इन मंत्रों से आत्मकल्याण के साथ लौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। अनेक प्रकार के मंत्रों का प्रयोग जैन शास्त्रों में किया है।

यंत्र

मंत्रों के समान यंत्रों का भी माहात्म्य अचिन्त्य है।

बीजाक्षर और अंक से यंत्र बनते हैं—अर्थात् इन्हीं बीजाक्षरों मंत्रों को तथा एक दो आदि अंकों को ताम्रपत्र, कांस्यपत्र, सुवर्णपत्र आदि पर लिखा जाता है—वह यंत्र कहलाता है। मंत्र शास्त्र के अनुसार इसमें—अलौकिक शक्तियाँ मानी गई है। इसलिये जैन सम्प्रदाय में इसे पूजा वा विनय का विशेष स्थान प्राप्त है। मंत्र सिद्धि-पूजा-प्रतिष्ठा, यज्ञ-विधान आदि में इनका बहुलता से प्रयोग किया जाता है। प्रयोजन के अनुसार तत्काल श्री यंत्र बनाये जाते हैं।

यंत्रों के नाम—अंकुरार्पणयंत्र, अग्निमंडलयंत्र, ऋषिमंडलयंत्र, अर्हन्मंडलयंत्र, कर्मदहनयंत्र, कलिकुण्ड दंडयंत्र, कल्याण त्रिलोक्यसार यंत्र, कर्मचक्रयंत्र, गंधयंत्र, गणधरवलययंत्र. षट्स्थानोपयोगीयंत्र, चिंतामणियंत्र, मृत्युंजययंत्र, सारस्वतयंत्र, सर्वतोभद्रयंत्र, सुरेन्द्रचक्र, नित्य उपयोग में आने वाले सिद्धयंत्र, मातृक यंत्र आदि अनेक यंत्र है। उसी प्रकार पंचकल्याणक आदि विधानों में उपयोगी मृतिका नयन यंत्र नयनोमिलनयंत्र, जल यंत्र, निर्वाण सम्पत्ति यंत्र, बोधिसमाधियंत्र, चिंतामणि यंत्र आदि अनेक बीजाक्षर के यंत्र, भक्तामर, कल्याणमंदिर के जितने श्लोक हैं उतने ही उनके यंत्र भी हैं।

इन बीजाक्षरों के समान 'अंक' यंत्र भी है—जैसे १५ का यंत्र, २०-४५-२१-८९ आदि अनेक यंत्र है। ६४ ऋद्धि का भी यंत्र है। नागोर के शास्त्र भंडार में एक विस्तृत विजय पताका यंत्र है उसमें सारे अंक यंत्र गर्भित हैं। इनके लिखने की विधि और कला का भी विस्तृत वर्णन है। जैसे कितनी भी संख्या का यंत्र बनाना है उसके लिये १६ कोष्ठक का यंत्र बनाकर इस विधि से भरना चाहियेः- उनका सूत्र है "इच्छाकृतार्थ कृत रूप हीनं, धने '[९]ग्रहे षोडश सप्त चाष्टौ। तिथि[१४] दशांसे प्रथमें च कोष्टे, द्वि[२] सप्त[७] षट्[६] त्रि[३] अष्ट कु[१]—वेद[४] वाण[५]'—। किसी भी सम संख्या का यंत्र बनाना हो तो उस संख्या में दो का भाग देना चाहिये और जो उसमें लब्ध आता है उसमें एक कम करके दूसरे कोष्ठ में स्थापन करना चाहिये। तदंतर एक एक हीन करके क्रम से धने (नौवें) कोष्ठ में, सोलहवें कोष्ठ में, सप्त कोष्ठ में, अष्टम कोष्ठ में, पन्द्रहवें कोष्ठ में, दसवें कोष्ठ और प्रथम कोष्ठ में स्थापना करनी चाहिये। शेष कोष्ठों में क्रम से २-७-८-१-४ और पांच लिखना चाहिये।

जैसे हमें एक सौ सोलह का यंत्र बनाना है तो सर्वप्रथम आधा (५८) करना चाहिये। तदनंतर इसमें से एक घटाकर दूसरे कोठे में स्थापित करना चाहिये। तदनन्तर एक एक कम करके ९वें, सोलवें, सातवें, आठवें, पन्द्रवें, दसवें, और प्रथम कोष्ठ में स्थापित करना चाहिये। उसके बाद दो, सात, छह, तीन, आठ, एक, चार और पाँच को लिखना चाहिये। कुछ यंत्र ऐसे भी हैं जिनमें बीजाक्षर और अंक दोनों रहते हैं। इन यंत्रों को काम में लेने के लिये सर्व प्रथम गुरु की शरण लेना चाहिये। इस प्रकार अनेक विधि यंत्रों की आराधना से भी अनेकों कार्य सिद्ध होते हैं।

तंत्र

इन ही यंत्र और मंत्रों को भोजपत्र पर लिखकर भुजा, मस्तक और गले में धारण करते हैं। आचाम्ल तप करके ऋषिमण्डल के आठ हजार जप करने से इच्छित कार्यों की सिद्धि होती है।

> आचाम्लादि तपः कृत्वा पूजयित्वा जिनावलीं।
> अष्ट-सहस्त्रीको जाप्यः कार्यस्तत् सिद्धि हेतवे।

यंत्र—ऋषिमंडल यंत्र को ताम्रपत्र पर या सुवर्णपत्र, रजतपत्र आदि पर लिखकर पूजा करने से घर में सुख और शान्ति रहती है।

तंत्र—इस यंत्र को भोजपत्र पर लिखकर मस्तक-भुजा-कण्ठ आदि में धारण करने से भूत पिशाच, व्यंतर देवों की बाधा दूर हो जाती है तथा वात-पित्त-कफ जनित अनेक रोग उपशांत हो जाते हैं।

जो मानव इन तन्त्रों के द्वारा अन्य पुरुषों की हानि-लाभ करते हैं वे तांत्रिक कहलाते हैं।

इस प्रकार जैन ग्रन्थों में मंत्र, यंत्र और तंत्रों का उल्लेख पाया जाता है तथा पूर्व काल में इनका जिन्होंने प्रयोग किया है उनके उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे—सिद्धि यंत्र की आराधना करके मैनासुन्दरी ने अपने पति श्रीपाल का कुष्ट रोग दूर किया था। शांति यंत्र की आराधना करने से मरी रोग दूर हुआ था। भक्तामर के ४८ काव्यों के यंत्र बनाकर पूजन करने से जिन-जिनने फल प्राप्त किया है उनके नामों का उल्लेख भी पाया जाता है।

मंत्र के जाप्य से जो आपत्तियाँ दूर होती हैं उनका वर्णन तो प्रत्येक ग्रन्थ में है। विषापहार स्तोत्र में लिखा है कि—

औषधि, मणि आदि सब एक तरफ हैं और वीतराग प्रभु के नामाक्षर जाप्य एक तरफ हैं। इसके जाप्य से सर्व आपत्तियाँ दूर होती हैं तथा सर्व सम्पत्ति अनायास प्राप्त होती है। पूर्व में मन्त्रों के जाप्य से दूर स्थित पुरुष को समीप बुला लिया जाता था। सर्प का विष दूर कर दिया जाता है। तंत्र भी बहुत उपयोगी है—जैसे भक्तामर का काव्ययंत्र लिखकर बांधने से अनेक प्रकार की बाधायें दूर हो जाती हैं।

जब भविष्यदत्त बुद्धदत्त के साथ विदेश जाने लगा तब मुनिराज ने उसको एक तंत्र दिया था, जिससे उसकी सारी आपत्तियाँ दूर हो गयी थीं।

कल्याणमन्दिर, भक्तामर स्तोत्रादि में लिखा है कि इस यंत्र को लिखकर कटि-भाग में बाँधने से गर्भ का स्तंभन होता है। इसके बाँधने से भूतप्रेत की बाधा दूर हो जाती है।

इन ही मन्त्रों यंत्रों का अंतरंग चिंतवन करने से धर्मध्यान की उत्पत्ति होती है क्योंकि

सर्व कार्य सिद्धि यंत्र

विधि : यंत्र भोज पत्र पर, केशर से अनार की कलम से लिखकर, पुरुष के दाहिने हाथ में व स्त्री के बायें हाथ में बांधना। अथवा गले में पहने।

विधि : यन्त्र को भोज पत्र पर लिखकर मकान में टांगे।
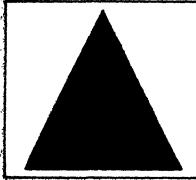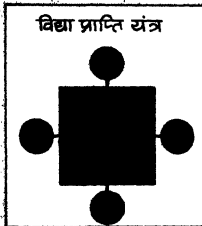
विधि : यन्त्र भोज पत्र पर केशर से लिखकर बच्चों के गले में बांधे।

घरण ठीक करनेका यंत्र
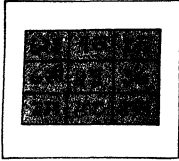
विधिः भोज पत्र पर लिख कर कमर में बांधना।

दृष्टि दोष हरण यंत्र
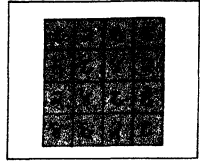
विधिः भोज पत्र पर लिखकर तावीज में डालकर गले में पहनावे।

सिर दर्द दूर होवे
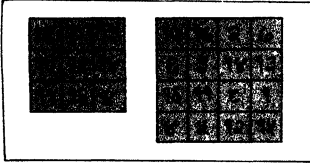
व्यापार वृद्धि यंत्र

विधिः भोज पत्र पर लिखकर गद्दी के नीचे रखे,

विधि : भोज पत्र पर या कपड़े पर लिखकर चावल रखे पश्चात् मंगल कलश रखें, दीवाली पूजन करके साल भर गद्दी में रखा जाता है।

लखिया यंत्र

९२०००	९००००	२०००	७०००
६०००	३०००	९६०००	९५०००
९८०००	९३०००	८०००	१०००
४०००	५०००	९४०००	९९०००

या

४९९९२	४९९९०	२	७
६	३	४९९६०	४९९५०
४९९८०	४९९३०	८	१
४	५	४९९४०	४९९६०

फल वर्धक यंत्र

८६	९४	२	७
६	३	९२	९०
९४	८८	८	१
४	५	८९	९१

विधि : यंत्र को भोज पत्र पर लिख कर खलिहान में गाड़ दें।

दूध वर्धक यंत्र

२८	३५	२	७
६	३	३३	३०
३४	२९	८	१
४	५	३०	३२

विधि : यन्त्र को भोज पत्र पर लिख कर गाय भैंस के गले में बाँधें।

स्त्री रोग के लिए

नाम भी लिखे

सर्व कार्य सिद्धि यंत्र सुर्य मंत्र सहित
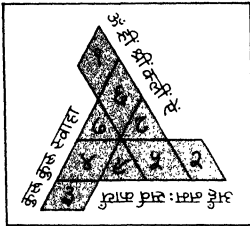
विधिः यत्र को भोज पत्र पर केशर से लिख कर हाथ मे पहने।

रोग नाशक यंत्र
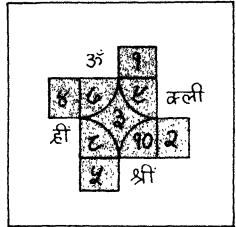
विधिः यत्र को भोज पत्र पर लिखकर हाथ मे बांधे।

लक्ष्मी वाचक यंत्र
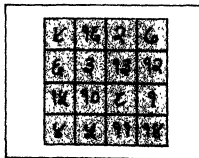
विधिः यंत्र को भोज पत्र पर लिखकर गद्दी के नीचे रखे।

जिस प्रकार मन्त्रों और यन्त्रों में बीजाक्षर करके उनका ध्यान किया जाता है उन मन्त्रों का ध्यान करना पदस्थ नाम का ध्यान है। इस ध्यान से असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

इन मन्त्रों को सिद्ध करके और भी अनेक कार्य किये जाते हैं। मंत्र को सिद्ध करने के लिये मन्त्रशास्त्र के अनुसार प्रथम गणित से देखना चाहिये।

जिस मन्त्र की साधना करना है उस मन्त्र के अक्षरों को तीन से गुणा करके अपने नाम से अक्षरों को उसमें मिला देवें। उस संख्या में १२ का भाग देने पर यदि ५-९ शेष रहे तो मन्त्र शीघ्र सिद्ध होगा। ६-१० शेष रहने पर देर से सिद्ध होगा। ७-११ शेष रहने पर सामान्यतः सिद्ध होता है। ८-१२ शेष रहने पर सिद्ध नहीं होगा।

मन्त्र का जो प्रथम अक्षर है उससे लेकर एक कोठे में से गणना करनी चाहिए। अपने नामाक्षर तक सिद्ध-साध्य, सुसाध्य, असिद्ध में यदि असिद्ध आता है तो उस जाप्य को छोड़ देने चाहिए, परन्तु णमोकार मन्त्र 'ह्रीं' मंत्र आदि के लिये यह विधान नहीं है. यह विधान देवताओं की आराधना के लिये है।

तन्त्र लिखने की विधि-तंत्रः अष्ट गंध अगर-तगर-गोरोपन-कस्तूरी-चन्दन-सिन्दूर-लालचन्दन-केशर) की स्याही बनाकर लिखना चाहिए। स्याही बनाते समय शुद्ध पानी डालना चाहिये।

कभी केशर-कस्तूरी-कपूर-चन्दन और गोरोचन इन पांचों गंधों से भी लिखा जा सकता है।

"यक्ष कर्दम" केशर-कस्तूरी-चन्दन-कपूर-अगर-गोरोचन-हिंगुल-रजतांगी-अम्बर, सोने की वर्क, रिच, कंकौभ, कंलोल इनका रस तैयार कर पवित्र कटोरी में स्याही बनाकर लिखना चाहिए।

अनार, चमेली और सुवर्ण की शलाका से लिखना चाहिये। यंत्र भोजपत्र पर अथवा शुद्ध कागज पर लिखना चाहिये।

तंत्र में लिखते समय गलती नहीं होना चाहिये। काटे हुए अक्षर का यंत्र काम में नहीं आता है।

लिखते समय अंक की संख्या एक आदि से ही लिखनी चाहिये। जैसे पन्द्रह का यंत्र लिखा उसमें प्रथम एक पुनः दो आदि क्रम से लिखना चाहिये।

इस प्रकार मन्त्र, तंत्र, यंत्र का प्रयोग करना चाहिये। इन मंत्र यन्त्र, तन्त्रों से शास्त्र भरे हुए हैं, उनका निरीक्षण करके गुरु की आज्ञा से आराधना करनी चाहिये।

उक्त मन्त्र तन्त्रादि प्रायः लौकिक सिद्धि के हेतुक हैं। परमार्थतः आत्मकल्याण में बाधास्वरूप ही समझना चाहिए।

राजनियमों में जैन सिद्धान्तों का समावेश

❑ *प्रो. टीकमचन्द जैन*

विश्व के सभी प्राणियों में मानव का सर्वोच्च स्थान है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। स्वार्थ साधन हेतु वह पर के हित को आघात न पहुँचा दे, तदर्थ मानव के आचरणों का नियमन आवश्यक है। मानव के आचरण के नियमन हेतु कतिपय पारिवारिक नियम, संस्थागत नियम, सामाजिक नियम एवं नैतिक नियम होते हैं। इन नियमों के पालन से व्यक्ति स्वयं भी सुख शान्ति का अनुभव करता है तथा अन्य को भी अपने व्यवहार से प्रसन्न रखता है।

व्यक्ति की अपराधिक वृत्ति पर अंकुश रखने तथा देश व समाज में व्यवस्था बनाये रखने हेतु प्रत्येक देश की सरकार कुछ कानून बनाती है, जिनके पालन की अपेक्षा प्रत्येक नागरिक से होती है तथा जिनके उल्लंघन करने पर व्यक्ति को दंडित किये जाने की व्यवस्था होती है। हमारे देश के कानून भी बहुत व्यापक हैं तथा व्यक्ति को हर क्षेत्रीय व्यवहार का नियमन करने में सक्षम हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, संचय आदि दुष्कर्मों पर नियन्त्रण करने हेतु भारतीय दण्ड संहिता अधिनियम १९०९ में व्यापक प्रावधान हैं तथा कठोर दण्ड की व्यवस्था है। फिर भी देश में हिंसा एवं आतंकवाद का ताण्डव नृत्य दृष्टिगत होता है, जीवन में असत्य का साम्राज्य छाया हुआ है। चोरी करना, मिलावट करना, करवंचना आदि व्यावसायिक कुशलता व सफलता के प्रतीक बन गए हैं। बलात्कार की घटनाएँ वृद्धिंगत होती जा रही हैं तथा ब्रह्मचर्य शब्द उपहास का केन्द्रबिन्दु बन गया है। येनकेन प्रकारेण अधिक धन संचय करने वाले हर क्षेत्र में सम्मानित किये जाते हैं, जिसमें जमाखोर, रिश्वतखोर, दहेज-लालची आदि पनपते जा रहे हैं। इन सबसे यह लगता है कि व्यापक एवं कठोर राजनियम भी अप्रभावी हैं।

मानव को दुष्कृत्यों से रोकने एवं सुकृत में प्रवृत्त करने में राज-संस्था एवं राजनियम कई बार असफल रहते हैं, इसलिए धर्म-संस्था व धर्म-नियमों की अपरिहार्यता बढ़ जाती है। राज-संस्था के वांछित उद्देश्यों को पूरा करने में धर्म संस्था प्रभावी सहायक बनती है। छिपकर अपराध करने वाले अपराधी राज-संस्था से अदण्डित रह जाते हैं और कानून की नजर से बचकर अपराध करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है तथा सरकार विवश होकर पीड़ित जनता के साथ अन्याय देखती रहती है। आतंकवादियों द्वारा समय-समय पर किया जाने वाला नरसंहार इसका उदाहरण है। किन्तु धर्म-संस्था ने कर्म-सिद्धान्त द्वारा मानव मन में ऐसी धारणा बिठा दी है कि कहीं भी कोई कार्य किया जाए वह रिकार्ड हो जाता है तथा उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। नरक का डर-स्वर्ग का प्रलोभन, चाहे कुछ व्यक्तियों द्वारा कल्पित माना जाये, पर

इस धारणा ने व्यक्ति को दुष्कर्मों से बचाने एवं सुकर्मों में प्रवृत्त करने में एक प्रभावी कार्य किया है। छिपकर अपराध करने को उद्यत व्यक्ति भी पाप फल भुगतने से डर कर पापकर्म करने से रुक जाता है।

धर्मशास्त्रों के अनुसार किसी कार्य की क्रियान्विति तो दूर, उसको करने के भाव आने से ही कर्मबन्ध हो जाते हैं और उनका फल भोगना होता है। कर्मबन्धन में मन की भावना प्रमुख और क्रिया गौण हो जाती है। धर्म की यह बात राजनियम में भी गर्भित है। भारतीय दण्ड संहिता की धारायें ३०A और ३०७ के प्रावधानों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि किसी व्यक्ति की लापरवाही से अनजाने में किसी की मौत हो जाने पर उसको धारा ३०A के अन्तर्गत दो वर्ष तक का कारावास दिया जा सकता है जबकि मारने के बुरे इरादे से कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को मारने का प्रयास करता है किन्तु अन्य के द्वारा रोक लिये जाने के कारण अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाता तो भी उसे धारा ३०७ के अनुसार ७ वर्ष तक की सजा दी जा सकती है। पहली घटना के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति के निमित्त से दूसरे की मृत्यु हो जाती है जबकि दूसरी घटना में वह व्यक्ति चाहते हुए भी अन्य को मारना तो दूर, चोट भी नहीं पहुँचा पाया। राजदंड की कठोरता घटना के परिणामानुसार नहीं वरन् व्यक्ति की दुर्भावनानुसार है। पहली घटना में जिस व्यक्ति की असावधानी से अन्य की मौत हुई, उसके भाव मारने के बिल्कुल नहीं थे, जबकि दूसरी घटना में व्यक्ति के भाव पूर्णतया मारने के थे चाहे परिणाम कुछ भी रहा हो। कानून की धाराओं में रूहृक्षनक्षै अर्थात् बुरे इरादे के सिद्ध होने पर ही कठोरतम सजा की व्यवस्था है, मात्र क्रिया से नहीं। अतः जिस तरह चेहरे को सुन्दर रखने हेतु दर्पण में देखते हैं उसी प्रकार मन की ओर दृष्टि कर के उसको निर्मल व शुद्ध बनाये रखें। जब मन में हिंसा के भाव नहीं होंगे तो न वे दुर्वचनों द्वारा अभिव्यक्त होंगे और न ही उनकी काया द्वारा हिंसा की क्रियान्विति होगी। अतः धर्म-संस्था हिंसा के उत्पत्ति-स्थान अर्थात् मन में आने पर ही रोक लगाकर अहिंसक वातावरण बनाने में प्रभावी योगदान देती है, जबकि राजनियम में मात्र मन में उत्पन्न हिंसा को, जब तक वह काय से व्यक्त न कर दी जाये, रोकने का कोई प्रावधान नहीं है।

राजनियम में कई खामियाँ (Loopholes) निकल आती हैं, जिनका सहारा लेकर भी अपराधी दण्डित होने से बच जाता है, किन्तु धर्म-नियमों में ऐसी सम्भावना नहीं है। राजनियम लागू करने वाले व्यक्ति को भयभीत अथवा प्रलोभित करके न्याय की दिशा बदलवाने में भी कई बार सफलता मिल जाती है किन्तु धर्म-नियमों में पक्षपात को कोई स्थान नहीं है। तीर्थंकर अवस्था में जबकि देवों के द्वारा उनके गर्भ-जन्मादि कल्याणक बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते हैं तब भी स्वयं तीर्थंकर को भी अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भोगना पड़ता है। जैनदर्शन में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त पर आस्था हो जाने पर व्यक्ति कभी भी दुष्कर्म करने का साहस नहीं करेगा तथा सद्कर्मों में रत रहेगा। कर्म सिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर भी परख लिया

गया है। एक बालक धनी व्यक्ति के यहाँ जन्म लेकर सब सुविधाओं को पाता है तथा करोड़ों की सम्पत्ति में भागीदार बन जाता है, दूसरा नवजात शिशु किसी निर्धन के घर अपंग अवस्था में जन्म लेकर सभी तरह की परेशानियों में पलता है तथा हजारों रुपयों के ऋण में सहभागी बन जाता है। जन्मजात इस विषमता का तर्क संगत कारण उनके पूर्व जन्म के सुकृत व दुष्कृत का फल ही है। स्वकृत कर्म निष्फल नहीं होते अतः वर्तमान में दुराचारी को भौतिक सुख साधन सम्पन्न तथा वर्तमान में सदाचारी को निर्धनावस्था में देखकर सन्मार्ग से च्युत नहीं होना चाहिए। क्योंकि किसी भी व्यक्ति के केवल वर्तमान में किये हुए ही कार्य उसके सुखी व दुखी होने के कारण नहीं होते, अपितु उसके द्वारा भूतकाल में किये हुए कार्य भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अतः मानव को हर स्थिति में धर्म का पालन करना चाहिए।

जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है किन्तु इसके प्रमुख सिद्धान्तों की उपयोगियता आज के युग में अधिक है। जैन धर्म के सिद्धान्तों के पालन से विश्व व राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओं का समाधान हो सकता है। अहिंसा को जन-जीवन में उतारने पर आतंकवाद व शस्त्रास्त्रों की अन्धाधुन्ध होड़ पर अंकुश लगेगा तथा रक्षाव्यय के नाम पर की जाने वाली अपार धनराशि को मानव-कल्याण के लिए उपयोग में लाया जा सकेगा। विनाश के कगार पर खड़ी मानवता को राहत की साँस मिलेगी। अपने शौक की पूर्ति हेतु किये जाने वाले पशुवध में रुकावट आएगी तथा अन्धाधुन्ध हरे भरे वृक्ष काटने में लोग हिचकिचायेंगे। फलस्वरूप सभी लोग सुख शान्ति से रहेंगे, पशुधन में वृद्धि होगी तथा वनों के संरक्षण से पर्यावरण की शुद्धता बनी रहेगी। अहिंसा के बल पर ही वर्तमान युग में गांधीजी ने भारत को स्वतन्त्र कराने में सफलता प्राप्त की।

अनेकान्त का सिद्धान्त जैन दर्शन की विश्व को एक अनूठी देन है। विश्व की महान् शक्तियों में पारस्परिक वैमनस्य का मूलकारण वैचारिक दुराग्रह है। एक राष्ट्र अपनी विचारधारा को दूसरे पर थोपना चाहता है और दूसरे की विचारधारा का आदर नहीं करता। अनेकान्त सिद्धान्त दूसरे के दृष्टिकोण को समझने व दूसरों की विचार धारा का आदर करने की दिशा प्रदान करता है। तब विचारों में तनाव के स्थान पर सद्भाव व अहिंसा होगी क्योंकि अहिंसा का भवन अनेकान्त के धरातल पर ही ठहर सकता है।

अपरिग्रह का सिद्धान्त समाजवाद का आदि बिन्दु है। आर्थिक विषमता से ग्रस्त राष्ट्र में अहिंसक तरीके से समाजवाद अपरिग्रह के सिद्धान्त के पालन से ही आ सकता है। भारत जैसे निर्धन देश में यदि कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो अन्य की आवश्यकता पूर्ति में बाधा आयेगी। यही प्रवृत्ति वर्गभेद व वर्गसंघर्ष की जन्मदात्री है। अतः पेट भरो, पेटी नहीं। इच्छाओं पर नियन्त्रण रखने व संयमित जीवन व्यापन करने से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ ठीक रहेंगी क्योंकि येन केन प्रकारेण धनसंग्रह की प्रवृत्ति मानव से सभी अकरणीय कार्य भी करवा लेती है। अतः शस्त्रसंचय की भांति धनसंचय

को भी अपराध माना जाना चाहिये क्योंकि आधुनिक युद्ध का मुख्य शस्त्र तलवार नहीं, वरन् धन है। मात्र धन से स्थायी सुख शान्ति नहीं मिलती। प्राप्तव्य को प्राप्त करने की चिन्ता, उसकी रक्षा की चिन्ता व उसके नष्ट होने पर वियोग का दुख—इस तरह परिग्रह हर अवस्था में दुखदायी है। कभी-कभी तो सुखद भविष्य की कल्पना में वर्तमान को भी बिगाड़ लेते हैं तथा संचित धन का कभी भी उपयोग नहीं कर पाते। अतः व्यक्ति को परिग्रह को सीमित करना चाहिए तथा पूर्व संचित परिग्रह में से कुछ राशि विनयपूर्वक जरूरतमन्दों के हितार्थ अर्पित करते रहना चाहिए जिससे निर्धनों के जीवन स्तर के उत्थान में सरकार के दायित्व में हम भी हाथ बटा सकें।

जो व्यक्ति जैन सिद्धान्तों का निष्ठा से पालन करता है, वह हर स्थिति में सुख-शान्तिपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकता है। उसके आचरण से किसी कानून का उल्लंघन ही नहीं होगा। जैनाचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के ७वें अध्याय के २७वें सूत्र में कहा है:— स्तेनप्रयोग-तदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।

अर्थात्—चोरी के लिए प्रेरणा करना अथवा चोरी के उपाय बताना, चुराई हुई वस्तु को लेना, राज्य के कानूनों के विरुद्ध चलना (जैसे कर-चोरी करना, जमाखोरी करना आदि), नापने तौलने के बांट आदि कमती बढ़ती रखना और अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर अधिक मूल्य में बेचना, ये पाँच कार्य अचौर्याणुव्रत में दोष लगाने वाले हैं अर्थात् चोरी के ही पर्यायवाची हैं। इस सूत्र को ध्यान में रखकर यदि हर नागरिक चोरी से पूर्णतः बचे तो देश की कितनी समस्याओं का समाधान सहज में ही हो सकता है। जैन दर्शन ने राजद्रोह का नहीं वरन् राजनियमों के पालन का निर्देश दिया है और देश के नियमों का यदि ध्यान से अवलोकन किया जाये तो उनमें जैन सिद्धान्तों के ही पालन की अपेक्षा की गई है। अन्तर सिर्फ पालने के तरीकों में है। जैन धर्म मानव को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाकर स्वेच्छा से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह के सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा देता है तो सरकार कानून का डर दिखाकर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह संचय की वृत्ति पर अंकुश लगाती है। धर्म का प्रभाव स्थायी व आन्तरिक होता है और कानून का प्रभाव अस्थायी व दिखावटी होता है। किन्तु विश्वशान्ति हेतु धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करना ही पड़ेगा। आज 'एड्स' नामक प्राणघातक बीमारी के भय से स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों पर रोक लगी है व ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त को बल मिला है। 'एड्स' के भय से काले धन संचय में कटौती हो रही है और अपरिग्रह को मान्यता दी जा रही है। प्राकृतिक सीमित साधनों के व्यर्थ में प्रयोग को रोकने हेतु सरकार करोड़ों रुपये विज्ञापन आदि में व्यय करके जनता को इस बारे में आगाह करती है। जैन दर्शन में अनर्थदण्डव्रत के द्वारा बिना प्रयोजन पानी, हवा, वनस्पति आदि के प्रयोग को निषिद्ध बताकर सीमित साधनों के संरक्षण में बहुत योग दिया है।

जैन कहलाने वालों की संख्या कम होते हुए भी, जैनियों ने सरकार से अल्पसंख्यकों को

दी जाने वाली सुविधाओं की कभी माँग नहीं की वरन् राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़े रहे। विश्वधर्म की पात्रता रखने वाला, प्राणीमात्र के कल्याण की बात करने वाला, स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाला जैन धर्म महान् उदार है। फिर भी कतिपय जैन कहलाने वाले लोग बाह्य क्रियाओं के अन्तर को आधार बनाकर परस्पर द्वेषभाव रखें तो यह जैनत्व के नाम पर कलंक है तथा जैन दर्शन के मूल सिद्धान्तों का घात है। वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, चारित्रशिरोमणि परमपूज्य आचार्य श्री विमलसागर महाराज तथा अन्य पूज्य आचार्यों व साधुओं के मार्गदर्शन में हम समाज की एकता को अक्षुण्ण रखें ताकि हम लोगों के विघटनकारी व्यवहार को देखकर अन्य जन जैनदर्शन के अहिंसा व अनेकान्त के सिद्धान्तों का उपहास न करें। राष्ट्र की कल्याणकारी योजनाओं में जैनियों का सहयोग सर्वदा बना रहा है।

जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। इसके सिद्धान्त सर्वोपयोगी हैं। इनके निष्ठापूर्वक पालन में ही विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान निहित है। धर्म-निरपेक्षता की आड़ में धर्मविहीन हो जाने से राष्ट्र का चारित्रिक पतन होता है। चारित्रिक पतन से राष्ट्रोत्थान की कल्याणकारी योजनायें निष्फल हो जाती हैं। अतः राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास एवं मानव की स्थायी सुख-शान्ति हेतु नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था जागृत करना नितान्त आवश्यक है। जैन धर्म नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा उत्पन्न कराता है, जिनके परिपालन से ही स्थायी विश्वशान्ति सम्भव हो सकती है।

जैनधर्म और आधुनिक मनोविज्ञान

❑ श्रीमती सुशीला सालगिया

जैनधर्म दो शब्दों से मिलकर बना है—जैन एवं धर्म। मात्र दो वर्णों से बना हुआ जैन शब्द बड़ा गंभीर अर्थ लिये हुए है। सारा दर्शन, मनोविज्ञान और यदि कहें कि जीवन का सार ही इसमें निहित है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। जैन शब्द जिन से बना है, जिसका अर्थ है जयी। "रागादि विकारान् जयति इति जिनः" अर्थात् जिसने राग द्वेषादि विकारों को जीत लिया है वे 'जिन' हैं। पाँच इंद्रियाँ जो सबसे बड़ी शत्रु हैं जिनकी लोलुपता में, महाबलशाली भी अपने प्राण गवाँ बैठते हैं, उन पर भी नियंत्रण करना और मन को वश में रखना, यह तो न्यूनाधिक मात्रा में सभी धर्मों ने स्वीकार किया है। पर किसी भी व्यक्ति या वस्तु के प्रति राग या द्वेष का भाव न रखना मात्र जैनधर्म ने स्वीकार किया है। मानव अपने मन और इच्छाओं पर नियंत्रण रख कर ही सच्चे सुख को प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है। दूसरा शब्द है धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र ये आत्मा के स्वभाव हैं। इसी प्रकार क्षमा, निरभिमान, सरलता, निर्लोभ, सत्य-वचन, संयम ये आत्मा के सही गुण हैं, अतः धर्म हैं। इसके विपरीत क्रोधादि भाव विभाव हैं, जिनका निषेध कर आत्मा के सही स्वभाव में परिणमन करने का उपदेश न केवल जैन धर्माचार्यों ने, बल्कि सभी धर्मगुरुओं ने, नीतिकारों तथा ज्ञानियों ने दिया है। आज चिकित्सक और मनोचिकित्सक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि क्रोध तथा असंयम कई शारीरिक एवं मानसिक रोगों के मूल कारण हैं।

जैनदर्शन ने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया है। विभिन्न कालों में, विविध दार्शनिकों ने इस विषय में, प्रयास करके अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ऐसे ही ईसा से ५०० वर्ष पूर्व, ग्रीक दार्शनिकों ने आत्मा के स्वरूप और व्यवहार आदि को समझने का प्रयास किया था और इस अध्ययन को मानसिक दर्शन नाम दिया था। यह मानसिक दर्शन मनोविज्ञान का प्रारंभिक रूप था। आधुनिक युग में इसी को मनोविज्ञान नाम से अभिहित किया जाता है।

मनोविज्ञान नाम से अभिहित इस विज्ञान का जैनधर्म से क्या संबंध है, यह जानने के लिए हमें जैनधर्म संबंधी उन आगम ग्रंथों का आधार लेना होगा, जिनमें आत्मा तथा उससे संबंधित विषय रहे हैं। या यों कहें कि मनोविज्ञान में मानसिक जगत के जिन पहलुओं का वर्णन हुआ है इसी तरह ज्ञान, ध्यान, भाव, स्वभाव, इच्छा, संकल्प, स्वप्न आदि विषयों की व्याख्याएं तथा इनके भेदोपभेद की चर्चाएं सैकड़ों वर्षों पूर्व जैनाचार्यों द्वारा लिखित रूप में विविध

ग्रंथों में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में हुई हैं। यद्यपि मौखिक चर्चाएं तो और पहले भी हुई होंगी।

करीब ६00 वर्ष ईस्वी पूर्व तीर्थंकर महावीर हुए, जिनके श्रीमुख से जो दिव्यध्वनि खिरी उसे गौतम गणधर ने आत्मसात् करके, तत्त्वपूर्वक जानकर, सामान्य जन के लिए सुलभ किया और इस प्रकार आत्मज्ञान की धारा शिष्यपरंपरा में चलती रही किन्तु कालान्तर में ईसा की प्रथम शताब्दी में सौराष्ट्र प्रदेश के गिरनार की गुफा में ध्यान धरने वाले आचार्य श्रीधरसेन को अपने निर्मल ज्ञान में जब यह आभास हुआ कि जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है उसे यदि संजोया नहीं गया, तो भविष्य में श्रुतज्ञान का विच्छेद हो जायेगा। अतः दो युवा मुनियों को बुलाकर उन्हें ज्ञान और विद्यायें प्रदान कीं। इस प्रकार आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतबलि के अथक प्रयासों से, हजारों सूत्रों वाले 'षट्खण्डागम' रूप में अभी तक चले आ रहे मौखिक ज्ञान की रचना, जिस दिन हुई वह दिन 'श्रुतपंचमी' के नाम से प्रख्यात हुआ। इस दिन लिखित शास्त्रों की रचना पूर्ण होने से समस्त जैन शास्त्रों की पूजा करके इस पर्व को मनाते हैं।

यहाँ हमें यह जानने का प्रयत्न करना आवश्यक है कि शास्त्रों में वर्णित इस जैन दर्शन का मनोविज्ञान से क्या सम्बन्ध है।

भाषा अथवा शब्दों का साम्य : यह बड़े गर्व की बात है कि आज मनोविज्ञान की पुस्तकों में कई ऐसे शब्द हैं, जो जैनग्रन्थों में भी मिलते हैं। निग्रह, धारणा, चेतना, अवधान, अवधारणा, अवदमन आदि ऐसे ही वैज्ञानिक शब्द हैं जिन्हें जैनदर्शन हजारों वर्षों पूर्व मान्य कर चुका था। उन्हें उसी अर्थ में या कहीं कहीं परिवर्तित अर्थ में आधुनिक मनोविज्ञान ने ग्रहण कर लिया है।

वर्णित विषयों की समानता : मनोविज्ञान में चर्चित अधिकांश विषयों की विशद् व्याख्याएँ तथा उनके भेदोपभेद की चर्चाएँ ईसा से पूर्व जैनाचार्यों द्वारा हुई हैं जिनकी पांडुलिपियाँ शास्त्रभंडारों में उपलब्ध हैं। वैसे जैनदर्शन मूर्त अमूर्त सभी वस्तुओं का विवेचन करता है किन्तु मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक दृष्टि से परखकर और प्रमाणित करके ही किसी तथ्य को स्वीकार करता है। १९वीं शती के पूर्व तक मनोविज्ञान आत्मा, मन और चेतना का विज्ञान माना गया था किन्तु बाद में इसे मन का विज्ञान स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। यहाँ तक कि उनके अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया गया जिनका सम्बन्ध मन से है। जर्मनी, फ्रांस, इटली, अमेरिका तथा रूस आदि विकसित देशों में प्राचीन मान्यता एवं शास्त्रोक्त कथनों को प्रयोगात्मक पद्धति से जाँच-परखकर स्वीकार किया जा रहा है। स्वप्न, वंशानुक्रमण, परामनोविज्ञान तथा मानसिक रोगों के अध्ययन संबंधी प्रयोग हो रहे हैं और उनसे पुनर्जन्म, अन्तःप्रेरणा तथा भविष्यवाणी जैसी बातों को भी मनो विज्ञानिकों ने कुछ अंशों तक मान्य किया है और भविष्य में और प्रयोग करके तथ्यों को प्रमाणित करके मान्य किया जायगा।

जैन दर्शन में अप्रकट भाव को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। हिंसा की भावना मन में होने पर भाव-हिंसा का दोष माना गया है, भले ही प्रकट रूप में किसी की हिंसा न की हो। भाव, मनोविकार, विचार, संवेग आदि का विशेष अध्ययन मनोविज्ञान ने किया है और इन सबका शरीर पर बाह्य एवं अभ्यंतर प्रभाव एवं नाड़ीमण्डल पाचनक्रिया, रक्त चाप आदि पर होने वाले परिवर्तन के प्रभाव को स्वीकार किया गया है जैनागम में ये सब चर्चाएँ विशद् रूप में उपलब्ध हैं। मनोविज्ञान में ग्रंथियों और उनकी मनोचिकित्सा तथा अपराध मनोविज्ञान में अपराधियों के सुधार के प्रयत्नों में भाव, संवेग आदि का अध्ययन महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। अतः मनोविज्ञान कई अदृश्य तथ्यों को भी स्वीकारता है। मानसिक क्रियाएँ, मानसिक दशाएँ, भाव, विचार, मनोविकार आदि अनेक अमूर्त तत्त्वों का अध्ययन मनोविज्ञान में किया जाता है। अतः विज्ञान के होते हुए भी मनोविज्ञान, विज्ञान की भांति पूर्णतः यथार्थ नहीं है। मनोविज्ञान की विषय सामग्री व व्यवहार अत्यन्त ही सूक्ष्म परिवर्तनशील तथा जटिल हैं।

दोनों विषयों का साम्य ज्ञात करने से पूर्व संक्षेप में जैन दर्शन के मुख्य तत्त्वों को समझना समीचीन होगा।

जीव या आत्मा : जैन दर्शन के अनुसार इस जगत् का आधार जीवद्रव्य तथा शेष पाँच अचेतन जड़द्रव्य यथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं। यह जीवद्रव्य चेतनागुण युक्त है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव या आत्मा को अरूप, अरस, अगंध, अव्यक्त, अवर्ण, अशब्द, चैतन्यस्वरूप और इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य कहा है।

आत्मा शरीर प्रमाण : जैन दर्शन के अनुसार आत्मा शरीर प्रमाण होती है। जिस गति में जीव के पौद्गलिक शरीर का आकार जितना होगा उसकी आत्मा उसके सभी प्रदेशों में व्याप्त होकर शरीर प्रमाण होगी।

> अणुगुरु देहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
> असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंख देसो वा॥ (द्रव्यसंग्रह, १०)

चींटी की आत्मा उसके लघुकाय शरीर प्रदेशों में व्याप्त होकर संकुचित होती है तथा हाथी की आत्मा उसके भीमकाय शरीर के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर प्रसारित होती है।

जन्म-मरण एवं मुक्ति : एक शरीर से निकलने के पश्चात् आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों के अनुसार नई पर्याय (शरीर) में जाता है। जन्म-मरण की यह प्रक्रिया तब तक चालू रहती है जब तक कि मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

कर्म-बन्धन

कर्म-बन्धन के सम्बन्ध में जैनदर्शन की अपनी विशेष मान्यता है। कर्मतत्त्व गुणरहित जड़

द्रव्य हैं। जीव और कर्म का अनादि संबंध होते हुए भी ये भिन्न रहते हैं। कर्म दो प्रकार के हैं। (१) भावकर्म, (२) द्रव्यकर्म।

जैनदर्शन मन को इंद्रिय न मानकर अनिन्द्रिय या ईषत् इन्द्रिय मानता है। मन के द्रव्यमन और भावमन नामक दो प्रकार किये हैं।

(१) द्रव्यमन—हृदयस्थान में अष्ट पंखुड़ी के कमल के आकार रूप में पुद्गल की विशेष सूक्ष्म रचना द्रव्यमन है।

(२) भावमन—आत्मा के स्वभाव का विभाव प्रकट होने वाला जीव का भाव भावमन है।

जैनदर्शन के तत्त्वों की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि जैनधर्म में तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक चर्चा में आधुनिक मनोविज्ञान किस तरह समाहित है—

वंशानुक्रमण

यद्यपि आत्मा कहाँ से आती है यह विषय मनो वैज्ञानिकों के अध्ययन से परे है किन्तु वंशानुक्रमण के प्रभाव को मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। यहाँ तक कि किसी ने तो ८० प्रतिशत तक वंशानुक्रमण का प्रभाव बताया है, शेष पर्यावरण का। यद्यपि इसमें मतवैभिन्य है फिर भी अपनी कई पीढ़ियों के पूर्वजों से बालक में गुण आते हैं, इसे सबने स्वीकार किया है। शरीर का आकार-प्रकार, बुद्धि, योग्यता, रुचि आदि सभी वंशानुक्रमण से प्रभावित होते हैं।

जैनागमों में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैनाचार्यों ने वंश की विशुद्धता बनाये रखने पर बहुत बल दिया है।

ध्यान

चित्तवृत्ति को सामान्य क्रियायों से हटाकर एक ही विषय में रोकना ध्यान है। साधारण भौतिक पदार्थों पर ध्यान केन्द्रित करना (Attention) तथा आत्मा-परमात्मा का चिन्तन, तन्मय होना, उस पर चित्त का निरोध करना (Meditation) अवधान या ध्यान कहलाता है।

जैनदर्शन ने ध्यान के प्रमुख चार भेद किये हैं (१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान, (४) शुक्लध्यान।

दुख का बार बार चिन्तन करना आर्तध्यान, क्रुर परिणामों से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्र ध्यान है। आत्मस्वभाव में एकाग्रता धर्म्यध्यान तथा शुद्ध पवित्र उज्ज्वल परिणाम वाला चिन्तन शुक्लध्यान

कहलाता है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अवधान चेतना और व्यवहार की साधारण क्रिया है और इसे तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है--ऐच्छिक, अनैच्छिक और आदतजन्य।

ज्ञान

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।" (—तत्त्वार्थसूत्र, प्रथम अध्याय)

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान के पाँच प्रकार माने गये हैं:—१. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्ययज्ञान, ५. केवलज्ञान।

१. मतिज्ञान : पाँचों इन्द्रियों और मन की सहायता से वस्तु को जानना मतिज्ञान कहलाता है।

२. श्रुतज्ञान : मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान कहलाता है। संकेतों और शब्दों द्वारा यह ज्ञान ग्रहण किया जाता है। प्रत्येक संसारी जीव के मति और श्रुत ये दो ज्ञान होते हैं।

३. अवधिज्ञान : दिव्य दृष्टि के माध्यम से भूत, वर्तमान तथा भविष्य के मूर्तिक/भौतिक विषय में इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना एक देश ज्ञान प्राप्त करना अवधिज्ञान कहलाता है।

४. मनःपर्यय ज्ञान : इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना ही, दूसरों के मन की बातें जान लेना मनःपर्यय ज्ञान है। यह उत्तम ऋद्धिधारी भावमुनियों को ही होता है या विशिष्ट संयमधारियों को।

५. केवलज्ञान : जो परमात्मदशा में प्राप्त मनुष्यों (संसार परिभ्रमण से मुक्त) को प्राप्त होता है वह केवलज्ञान कहलाता है। समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष एक साथ जानने वाला ज्ञान, केवलज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहेहावायधारणाः (तत्त्वार्थसूत्र, प्रथम अध्याय) अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा ये चार भेद हैं।

अवग्रह : किसी वस्तु को देखकर चेतना में उस वस्तु विषयक आभास मात्र होना अवग्रह है। जैसे गुलाब के पुष्प को देखकर यह प्रतीति हो कि यह पुष्प गुलाब का लग रहा है अवग्रह कहलाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रत्यक्षीकरण है जिसमें पुष्प को देखकर रंग, गंध, स्पर्श

आदि की संवेदना से और गत अनुभव, अर्थात् स्मृति से गुलाब का पुष्प समझ लेते हैं।

ईहा : अवग्रह द्वारा जाने गये पदार्थ को विशेष रूप से जानने की चेष्टा (आकांक्षा) को ईहा कहते हैं। पूर्व में दिये गये पुष्प के उदाहरण में सामान्य पुष्प के बारे में ठीक तरह से जान लेने की इच्छा ईहा है (धवलापुस्तक ६, पृष्ठ १७)।

अवाय : ईहा ज्ञान से जाने गये पदार्थ विषयक संदेह का दूर होकर, निर्णय हो जाना अवाय है। पुष्प संबंधी उदाहरण में यह निर्णय हो जाना कि गुलाब का ही पुष्प है अवाय (Judgement) है।

धारणा : अवाय से ज्ञात पदार्थ को कालान्तर में न भूलना यह धारणा (Retention) है।

मनोविज्ञान के अनुसार यह अनुभवों के अवशिष्टों का स्थिरीकरण है जो मस्तिष्क में क्रमशः प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा स्मृति चिन्हों के रूप में स्थिर रहते हैं। यद्यपि जैनदर्शन के अनुसार ये मतिज्ञान के भेद हैं जो आधुनिक मनोविज्ञान से संबंधित हैं। मनोविज्ञान के विषय स्मृति और प्रत्यक्षीकरण की कितनी ही मनोवैज्ञानिक तथा संपूर्ण प्रक्रिया की क्रमबद्ध विवेचना आगम ग्रंथों में जैनाचार्यों ने की है। जैनाचार्य उमास्वामी, नेमिचंद्र और वीरसेन ने संवेदना, प्रत्यक्षण और अवबोध का विवेचन किया है। संवेदना के दो पक्ष माने गये हैं।

१. शारीरिक—जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

२. मानसिक—जिसमें चेतन क्रियाशीलता है।

अवबोध और प्रत्यक्षण के बिना केवल संवेदनाएँ तो ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त निष्क्रिय तथ्य हैं जो बाह्य पर्यावरण के आने से मिलते हैं। तथ्यों के इस निष्क्रिय आभास के बाद, अनुमान की प्रक्रिया से हमें वस्तु का बोध होता है। उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में अवबोध के लिए 'उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है।

"उपयोगो लक्षणम् " (तत्त्वार्थसूत्र-प्रथम अध्याय) चैतन्यगुण रखने वाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग नामक उनकी दो पर्याय-अवस्थाएँ हैं। ज्ञानोपयोग साकार और दर्शनोपयोग निराकार है।

ज्ञानेन्द्रियाँ :

ज्ञानेन्द्रियों को जैनाचार्यों ने पंचेन्द्रिय कहा तथा उनका क्रम निश्चित किया जो कि बड़ा ही वैज्ञानिक है।

"स्पर्श-रसना-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि।" (तत्त्वार्थसूत्र-द्वितीय अध्याय)

स्पर्शन, रसना, घ्राण (नाक), चक्षु और श्रोत्र (कान) ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनमें से चार तो विशिष्ट इन्द्रियाँ हैं। विशेष आकार की हैं, विशेष संवेदना ग्रहण करती हैं। यह एक साथ कई संवेदनाओं को ग्रहण करने की क्षमता रखती हैं। सर्वप्रथम किसी वस्तु का ज्ञान हमें स्पर्श द्वारा होता है। किसी और इंद्रिय के न होने पर भी कई बार उसकी संवेदना भी स्पर्श से संभव है जैसे फल गोल है या लम्बा हम बिना देखे हाथ में लेकर बता सकते हैं।

अंधे व्यक्ति दृष्टि के अभाव में भी कई तरह के काम तथा पठन-पाठन भी स्पर्शानुभूति द्वारा कर लेते हैं। इस प्रकार स्पर्श इन्द्रिय को प्रथम स्थान पर रख कर जीवों के इंद्रिय विकास की दृष्टि से रसना, घ्राण, चक्षु, और कर्ण इंद्रिय को क्रमशः स्थान दिया गया। इनके उदाहरण क्रमशः वृक्ष, लट (इल्ली), चींटी, मक्खी, तथा पशु-पक्षी व मनुष्य हैं।

लेश्या सिद्धान्त

महावीर ने लेश्या-सिद्धान्त नाम से वर्ण सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया। लेश्याओं को व्यक्त करने के लिए एक प्रतीकात्मक चित्र प्रायः जैन मंदिरों में दिखाई दिया करता है, जिसमें एक वृक्ष के फल को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति विभिन्न तरीके अपनाता है। एक व्यक्ति वृक्ष को जड़ मूल से काट कर तो दूसरा तने से, तीसरा डाली काटकर तो चौथा छोटी शाखाओं को तोड़ कर फल प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। पाँचवाँ केवल फल को ही तोड़ता है तो छटा गिरे हुए फलों को उठा कर अपनी क्षुधा शान्त करना चाहता है। इन छहों व्यक्तियों की मनोभावना के अनुरूप ही उनके शरीर के रंग भी दिखाये जाते हैं। यह चित्र जैन दर्शन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

कषाय सहित मन वचन की क्रिया लेश्या है। जैन दर्शन में लेश्याओं द्वारा भावनाओं का, विचार-तरंगों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है।

लेश्या दो प्रकार की मानी गयी हैं:—१. द्रव्य लेश्या और २. भाव लेश्या। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य लेश्या के छह वर्ण माने गये हैं। इन्हें ही षड्लेश्याओं के नाम से जाना जाता है—१. कृष्ण, २. नील, ३. कापोत (कबूतर के रंग वाली), ४. पीत, ५. पद्म, और ६. शुक्ल।

उपरोक्त विविध वर्णों (रंगों) वाली लेश्याओं वाले व्यक्तियों के स्वभावों में भी तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्दतम, मन्दतर, मन्द रूप में अन्तर होता है। इनका विस्तृत वर्णन प्राचीन जैनग्रन्थ गोम्मटसार जीवकांड, धवला, राजवार्तिक, तिलोयपण्णत्ति, पंचसंग्रह आदि में मिलता है।

कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति अत्यन्त क्रोधी, विवेकहीन; नील लेश्यावाला लोभी और छलकपट करने वाला होता है। कापोत लेश्या वाला ईर्ष्यालु व परनिन्दा करने वाला; पीत लेश्या वाला मृदुस्वभावी, दयालु और पद्म लेश्या वाला महान् त्यागी, भद्र तथा उत्तम कार्य करने वाला

तथा शुक्ल लेश्या वाला परम शांत पुरुष और शत्रु-मित्र को समान समझने वाला होता है। वर्ण (रंग) विचार पर मनोवैज्ञानिकों ने भी अध्ययन किया है। यदि हम रंग-चयन में रुचि वाली बात को ध्यान में रखकर देखें तो ज्ञात होगा कि काले रंग की पसन्द दुष्ट आचरण करने वाले व्यक्ति की तथा श्वेत रंग शांतिप्रिय साधु पुरुष की पसन्द होती है। इसीलिए चित्रों तथा नाटकादि में यमराज को काले वस्त्रों में तथा साधु या सात्विक वृत्ति वाले पुरुष को श्वेत वस्त्रों में दिखाया जाता है।

स्वप्न

स्वप्न एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही पक्ष हो सकते हैं जो भूत, भविष्य, वर्तमान किसी भी काल से संबंधित हो सकते हैं। जैन धार्मिक ग्रंथों में स्वप्न की विशद चर्चाएँ हुई हैं और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समय-समय पर देखे गये स्वप्नों की बड़ी महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हुई हैं। राजा चंद्रगुप्त द्वारा देखे गये स्वप्नों से काल की स्थितियों का आकलन किया गया। तीर्थंकर की माता को गर्भधारण के पूर्व ही, सोलह शुभ स्वप्न दिखाई दिये थे जिनकी व्याख्या से उसे ज्ञात होता है कि वह तीन लोक में पूजनीय तेजस्वी बालक को जन्म देने वाली है। तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन भागवतपुराण आदि ग्रन्थों तथा वेदों में भी हुआ है। उनकी माता को भी ऐसे १६ स्वप्न दिखाई दिये थे ऐसा जैन ग्रन्थों में कथन है। स्वप्न में उन्हें सिंह, बाल सूर्य आदि क्रम से अनेक वस्तुएँ दिखाई दीं जो शक्ति और तेजस्विता की प्रतीक थीं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक फ्रायड स्वप्न की प्रतीकात्मक रूप से ही व्याख्या करते हैं। जैनदर्शन भी प्रतीकात्मक रूप से व्याख्या करता है और ये व्याख्याएँ बहुत ही सटीक सिद्ध हुई हैं। यद्यपि प्रतीक के अर्थ भले ही आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के जैनदर्शन के अनुसार भिन्न हों।

प्रतिक्रमण

महावीर स्वामी ने आत्मशुद्धि हेतु सामायिक एवं प्रतिक्रमण करने का सिद्धांत बताया है। प्रतिक्रमण करना अर्थात् अपनी आत्मा में वापस होना, मलिनता से निर्मलता की ओर लौटना या आत्मनिरीक्षण करना। प्रतिक्रमण की क्रिया में व्यक्ति जागकर या जागरूक होकर अपनी स्मृतियों की परतें खोलता है और अपने द्वारा की गई भूलों के लिए प्रायश्चित्त करता है। न केवल मनुष्य से, वरन् संसार के सभी प्राणियों से क्षमा की याचना करता है।

> खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
> मित्ती मे सव्वभूएसु वैरं मज्झं ण केणवि।

प्रतिक्रमण में मन की तन्मयता अनिवार्य है। आत्मनिरीक्षण में स्मृति का महत्त्व है। इसमें चेतना के स्तरों का पता चलता है, चेतन मन और अचेतन मन दोनों का अन्तर्दर्शन होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार चेतना की तीन क्रियाएँ एक साथ मिलकर कार्य करती हैं।

विशिष्टि जैनाचार्यों, जिन्हें तप द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त थीं और जो केवलज्ञानी थे, भूत और भविष्य जिनके ज्ञान में झलकता था उनके प्रामाणिक वचनों को आज के वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक भले ही प्रयोगशाला में सिद्ध करके स्वीकार करें जैसा कि वे कर रहे हैं, भविष्य में भी करेंगे।

आशीर्वाद और शाप, जिन्हें हम सद्‌भावनाएँ या दुर्भावनाएँ कह सकते हैं उन्हें मन ही मन में या प्रकट रूप में देने की बातों को मात्र कल्पना या दिवास्वप्न जैसी बात कहकर उन पर अविश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि शुभ और अशुभ भावनाओं के अणु तरंगित होकर अपना प्रभाव डालते अवश्य हैं। जो परमतपस्वी सिद्धियां प्राप्त कर चुके हैं उनकी भावनाएँ विशेष रूप से प्रभावकारी सिद्ध हुई हैं। उत्तरपुराण में जीवन्धर का कथन आया है, जिन्होंने जंगल में लगी अग्नि में जलते हुए हाथियों की रक्षार्थ शुभ भावना की जिससे अनायास ही आकाश में काले मेघाच्छादित हो गये और वर्षा से अग्नि बुझ गई। इस प्रकार द्वीपायन मुनि को सताये जाने पर उत्पन्न क्रोध के प्रभाव से द्वारिका के भस्म होने का कथन भी जैन पुराणों में आया है। पाश्चात्य देशों में मनोवैज्ञानिक इन विषयों की खोज में जुटे हैं। इन पर कई प्रयोग एवं परीक्षण हो रहे हैं। साधारण मनुष्य द्वारा किसी का बुरा सोचना या उसे शुभ कामना देना यह संसार भर में कहीं भी देखा जा सकता है। एक-दूसरे के प्रति व्यक्त की गई शुभकामनाएँ भी सृष्टि को सुख व समृद्धि दे सकती हैं, आपसी सद्‌भाव बनाये रख सकती हैं। अन्यथा मानव उस क्षमता का या शक्ति का जिसे प्राप्त करने का वह प्रयत्न कर रहा है, दुरुपयोग करे तो दूर बैठा बैठा जिसका चाहे सर्वनाश करता चला जायेगा और तब सृष्टि आहों और कराहों से भर जायेगी।

✧✧✧

जैनधर्म और आयुर्वेद

❑ आचार्य राजकुमार जैन

आयुर्वेद शास्त्र चूंकि परोपकारी शास्त्र है, अतः जैन धर्म के अंतर्गत वह उपादेय है। यही कारण है कि धर्म-दर्शन-आचार- नीति-ज्योतिष आदि अन्यान्य विद्याओं की भांति वैद्यक विद्या भी जैन धर्म के अन्तर्गत प्रतिपादित है। सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रदेव द्वारा जिस प्रकार अन्य विद्याओं का कथन किया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद विद्या का कथन भी सांगोपांग रूप से विस्तारपूर्वक किया गया है। अपने लोकोपकारी स्वरूप के कारण आयुर्वेद शास्त्र की व्यापकता इतनी अधिक रही कि वह शाश्वत रूप से विद्यमान है। सर्वज्ञ वीतराग की वाणी द्वारा मुखरित होने के कारण अनेक प्रभावी जैनाचार्यों ने इसे अपनाया है और गहन रूप से उसके गूढ़तम तत्त्वों का अध्ययन किया। जैन धर्म के ऐसे अनेक आचार्यों की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है जिन्होनें अपने प्रखर पाण्डित्य के अधीन आयुर्वेद शास्त्र को भी समाविष्ट किया। इसका प्रमाण तो यही है कि आचार्यों ने सर्वज्ञ वाणी का मंथन कर आयुर्वेद अमृत को निकाला और उसे अपनी महिमयी लेखनी द्वारा लिपिबद्ध कर जगत् हितार्थ प्रसारित किया। उन आचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेदिक ऐसी अनेक कृतियों का उल्लेख अन्यान्य ग्रंथों में मिलता है। इससे इस तथ्य की तो पुष्टि होती है कि जैनधर्म में अन्य विद्याओं की भांति आयुर्वेद का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यहाँ इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म और दर्शनशास्त्र ने जिस प्रकार जैन संस्कृति से स्वरूप को अक्षुण्ण बनाया है, आचारशास्त्र और नीतिशास्त्र ने जिस प्रकार जैन संस्कृति की उपयोगिता को उद्भासित किया है उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र ने स्वास्थ्य प्रतिपादक सिद्धान्तों एवं संयमपूर्वक आहारचर्या आदि के द्वारा जैन धर्म और संस्कृति को व्यापक तथा लोकोपयोगी बनाने में अपना अपूर्व योग-दान किया है। सद्‌वृत्त का आचरण तथा आहारगत संयम का परिपालन मनुष्य को आत्म कल्याण के सोपान पर आरूढ़ करता है। जैनधर्म में भी आत्मकल्याण हेतु प्रवृत्ति का निर्देश दिया गया है। अतः लक्ष्य साधन में समानता की स्थिति एक महत्वपूर्ण तथ्य है। जिस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन संस्कृति के लोकोपकारी स्वरूप निर्माण में अन्य विद्याओं और कलाओं का जो योगदान रहा है वही योगदान आयुर्वेद शास्त्र का भी समझना चाहिए। आयुर्वेद शास्त्र में कुछ विशेषताएं तो ऐसी हैं जो अन्य शास्त्रों में बिल्कुल भी नहीं हैं। मनुष्य के दैनिक जीवन में आचरित अनेक बातें ऐसी हैं कि जिनके नियम और उपयोगी सिद्धान्त आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित हैं। गर्भ धारण से लेकर मरणपर्यन्त की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख एवं वर्णन आयुर्वेद शास्त्र में मिलता है। इसीलिए इसे जीवन-विज्ञान

भी कहा जाता है। मानव-जीवन के साथ निकटता एवं तादात्म्य भाव इस शास्त्र की मौलिक विशेषता है। जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में यह उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद की परिधि में आने वाली ऐसी अनेक बातें हैं जो जैन धर्म की दृष्टि से उपयोगी हैं। इसी प्रकार जैन धर्म की अनेक ऐसी बातें हैं जो आयुर्वेद की दृष्टि से भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी धार्मिक दृष्टि से।

इस संदर्भ में 'उपवास' को ही लिया जाय। आत्मकल्याण की दृष्टि से जैन धर्म में इस प्रक्रिया को अति महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्योंकि उपवास के द्वारा जहाँ आहारगत संयम का पालन होता है वहां अन्तःकरण में विकार भावों एवं परिणामों पर भी असर पड़ता है। उधर आयुर्वेद शास्त्र में भी 'उपवास' की अतिशय महत्ता स्वीकार की गई है। इसका कारण यह है कि उपवास के द्वारा जिह्वा की लम्पटता, रसों की लोलुपता तथा अति भक्षण आदि अहितकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगता है और उदरशुद्धि के साथ उदरगत क्रियाओं को विश्राम मिलता है। रोगों का मूल उदरविकार माना गया है जो आहार की अनियमितता और आहार संबंधी नियमों के उल्लंघन से होता है। उपवास के द्वारा दूषित, मलिन, विकृत, अहित, परस्पर विरुद्ध तथा अशुद्ध आहार से बचकर शरीर की रक्षा तो होती ही है, उदर में संचित दोषों और विकारों का शमन भी होता है। उपवास के द्वारा शारीरिक आरोग्य सम्पादन के साथ-साथ आत्मा को बल और अन्तःकरण को पवित्रता प्राप्त होती है।

उपवास को आयुर्वेद में 'लंघन' कहा जाता है। अनेक रोगों के शमनार्थ लंघन की उपयोगिता सुविदित है। ज्वर में सर्वप्रथम लंघन का निर्देश दिया गया है। अजीर्ण, अतिसार, आमातिसार, आमवत तथा श्लेष्माजनित विभिन्न विकारों में लंघन का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। विभिन्न रोगों में लंघन का निर्देश यद्यपि स्पष्टतः विकारोपशमन के लिये है, उपवास के साथ उसका कोई तादात्म्य भाव नहीं है, तथापि दोनों की प्रकृति एक समान होने से दोनों में निकटता तो है ही। इसके अतिरिक्त लंघन के द्वारा जब विकाराभिनिवृत्ति होती है तो इस प्रकृति स्थापन एवं शुद्धिकरण की प्रक्रिया का पर्याप्त प्रभाव मानसिक स्थिति पर पड़ता है और मन में विकारों के प्राबल्य में निश्चित रूप से कमी होती है। उपवास का प्रयोजन भी अन्तःकरण की शुद्धि करना है। लंघन के पीछे यद्यपि धार्मिक प्रवृत्ति या आध्यात्मिक भाव नहीं होता, तथापि विवेक एवं नियमानुसार उसका भी आचरण किया जाय तो विकारोपशमन के साथ-साथ उपवास का फल भी अर्जित किया जा सकता है। उपवास के द्वारा तो निश्चय ही आध्यात्मिक पुण्य फल की उपलब्धि के साथ-साथ शारीरिक व मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी है कि लंघन के द्वारा आरोग्य लाभ होता है जो व्यवहारज स्वास्थ्य कहलाता है। यह व्यवहारज स्वास्थ्य पारमार्थिक स्वास्थ्य की लब्धि में सहायक साधन है, अतः आध्यात्मिक निःश्रेयस् की दृष्टि से लंघन भी एक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण साधन है।

आध्यात्मिक अभ्युन्नति, आत्मकल्याण तथा अन्तःकरण की शुद्धि की दृष्टि से जैन धर्म में

दसलक्षण धर्मों का विशेष महत्व है। दसलक्षण धर्मों में त्याग धर्म को अन्तःकरण की शुद्धि तथा आत्मकल्याण हेतु विशेष उपयोगी एवं महत्वपूर्ण निरूपित किया गया है। उत्तम-त्याग-धर्म के अन्तर्गत गृहस्थजनों के लिए चार प्रकार का दान बतलाया गया है। जिसमें एक औषधि दान भी है। जैन धर्म में अन्य धर्म में अन्य दानों की भांति औषधदान की महिमा भी बतलाई गई है। औषधदान के द्वारा दानकर्ता को पुण्य का संचय तो होता ही है, औषधदान का लाभ लेने वाला व्यक्ति आरोग्य-लाभ करता है। औषध का समावेश चिकित्सा के अंतर्गत है और चिकित्सा का सर्वांगपूर्ण विवेचन आयुर्वेद शास्त्र में निहित है। यही कारण है कि जैन समाज द्वारा स्थान-स्थान पर जैन धर्मार्थ दातव्य औषधालय खोले गये है जो केवल समाज के दान से ही चलते हैं और प्रतिदिन अनेक आर्तजन उनसे लाभ उठाते हैं। यह परम्परा समाज में कई वर्षो से चली आ रही है। अतः यह निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म का आयुर्वेद से निकट का सम्बन्ध है।

जैनधर्म के अनुसार मनुष्य के शरीर में रोगोद्भव अशुभकर्म के उदय से होता है। मनुष्य द्वारा पूर्वजन्म में किये गए पाप कर्म का उदय जब इस जन्म में होता है तो अन्यान्य कष्टों के साथ अथवा रोगोत्पत्ति रूप कष्ट भी उसे होता है। उसका निवारण तब तक सम्भव नहीं है जब तक उस अशुभ कर्म का परिपाक होकर उसका क्षय नहीं हो जाता। धर्माचरण से पाप का शमन होता है, मुख्यतः पापकर्मजनित रोग का शमन धर्मसेवन से ही सम्भव है। यही भाव जैनधर्म में निम्न प्रकार से प्रतिपादित है—

सर्वात्मना धर्मपरो नरः स्यात्तमाशु सर्व समुपैति सौख्यम्।
पापोदयात्ते प्रभवन्ति रोगा धर्माच्च पापाः प्रतिपक्षभावात्॥
नश्यन्ति सर्वे प्रतिपक्षयोगाद्विनाशमायान्ति किमत्र चित्रम्।
(कल्याणकारक, ७/२९)

अर्थात् जो मनुष्य सर्वप्रकार से धर्मपरायण रहता है उसे शीघ्र ही सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। पाप के उदय से विविध रोग उत्पन्न होते हैं तथा पाप और धर्म में परस्पर प्रतिपक्ष (विरोधी) भाव होने से धर्म से पाप का नाश होता है, अतः धर्म के प्रभाव से पापजनित रोग का नाश होता है। प्रतिपक्ष की प्रबलता होने से (धर्म के प्रभाव से) यदि रोग समूह विनाश को प्राप्त होते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है!

धर्म के प्रभाव से पापरूप रोग का जो विनाश होता है उसमें धर्म तो वस्तुतः आभ्यंतर कारण होता है और बाह्य कारण विविध औपधोपचार होता है। बाह्य कारण के रूप में प्रयुक्त औषधोपचार को ही चिकित्सा कहा जाता है। जबकि आभ्यंतर कारण के रूप में सेवित धर्म को धर्माचरण ही माना जाता है। किन्तु चिकित्सा के अन्तर्गत धर्म का भी उल्लेख होने से उसे सात्विक चिकित्सा के रूप में स्वीकार किया गया है। रोगोपशमनार्थ बाह्य और आभ्यंतर

चिकित्सा के रूप में धर्म आदि की कारणता निम्न प्रकार से बतलाई गई है–

धर्मस्तथाभ्यन्तरकारणं स्याद्रोगप्रशान्त्यै सहकारीपूरम्।
बाह्यं विधानं प्रतिपाद्यतेऽत्र चिकित्सितं सर्वमिहोभयात्म॥
(कल्याणकारक ७/३०)

अर्थात् रोगों की शान्ति के लिए धर्म आभ्यंतर कारण होता है, जबकि बाह्य चिकित्सा सहकारी पूरक कारण होता है। अतः सम्पूर्ण चिकित्सा बाह्य और आभ्यंतर भेद से दो प्रकार की होती है।

चिकित्सा-कर्म के द्वारा लोगों के व्याधिजनित कष्ट का निवारण ही नहीं होता है, अपितु कई बार भीषण दुःसाध्य व्याधि से मुक्त हो जाने के कारण जीवनदान भी प्राप्त होता है। ऐसे अनेक उदारण देखे गये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कई व्यक्ति अपनी व्याधि की भीषणता एवं जीर्णता के कारण अपने जीवन से निराश हो गये थे, जिन्हें अपना जीवन बचने की कोई आशा नहीं थी उन्हें समुचित चिकित्सोपचार द्वारा रोग से छुटकारा मिला तो उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें जीवनदान नहीं मिला, अपितु नया जीवन प्राप्त हुआ इस प्रकार चिकित्सा द्वारा लोगों को जीवन निर्वाह का अवसर प्रदान करना अतिशय पुण्य का कार्य है। किन्तु इसमें एक महत्वपूर्ण बात है कि जो चिकित्सा की जाती है उसके मूल में परोपकार और निस्वार्थ की भावना कितनी है, इस पर पुण्य की मात्रा निर्भर है। क्योंकि धन के लोभ से स्वार्थवश किया गया चिकित्सा-कार्य पुण्य का हेतु नहीं माना जा सकता।

धन-लिप्सा के कारण वह लोभवृत्ति एवं परिग्रहवृत्ति का परिचायक है। ये दोनों ही भाव अशुभ कर्म के बन्ध का कारण माने गये हैं। अतः ऐसी स्थिति में वह परलोक में सुख का कारण कैसे बन सकती है। चिकित्सा कार्य वस्तुतः अत्यन्त पवित्र कार्य है और वह परहित की भावना से प्रेरित होकर ही किया जाना चाहिये। तब ही वह धर्माचरण माना जा सकता है और तब ही उसके द्वारा पापों (अशुभ कर्म) का नाश एवं धर्म की अभिवृद्धि होकर आत्मा के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

पापों का विनाशक होने के कारण जैनाचार्यों ने चिकित्सा को उभयलोक का साधन निरूपित किया है। चिकित्सा कार्य भी एक प्रकार की साधना है, जिसमें सफल होने पर रोगी को कष्ट से मुक्ति और चिकित्सक को यश और धन के साथ-साथ पुण्य फल की प्राप्ति होती है। श्री उग्रादित्याचार्य ने चिकित्सा कर्म की प्रशंसा करते हुए लिखा है–

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं चिकित्सितं धर्मविवृद्धये च।
चिकित्सितं चोभयलोकसाधनं चिकित्सितान्नास्ति परं तपश्च॥
(कल्याणकारक ७/३२)

अर्थात् रोगियों की चिकित्सा पापों का विनाश करने के लिए तथा धर्म की अभिवृद्धि करने

के लिए की जानी चाहिए। चिकित्सा के द्वारा उभय लोक (यह लोक और परलोक दोनों) का साधन होता है। अतः चिकित्सा से अधिक श्रेष्ठ कोई और तप नहीं है।

चिकित्सा का उद्देश्य मुख्यतः परहित की भावना होना चाहिये। इस प्रकार वैद्य के पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने में कारण होती है। अन्य किसी प्रकार के सेवार्थ भाव से प्रेरित होकर किया गया चिकित्सा कर्म आयुर्वेद शास्त्र के उच्चादर्शों के सर्वथा विपरीत है। चिकित्सा के उच्चतम आदर्शमय उद्देश्य के पीछे निम्न प्रकार का स्वार्थ भाव सर्वथा गर्हित बतलाया गया है–

तस्माच्चिकित्सा न च काममोहान्न चार्थलाभान्न च मित्ररागात्।
न शत्रुरोषान्न च बंधुबुद्ध्या चान्य इत्यन्यमनोवारात्॥
न चैव सत्कारनिमित्ततो वा न चात्मनः सद्यशसे विधेयः।
कारुण्यबुद्ध्या परलोकहेतो कर्मक्षयार्थं विदधीत विद्वान्॥
(कल्याणकारक ७/३२)

इसलिए वैद्य के लिए उचित है कि उसे काम और मोह के वशीभूत होकर, अर्थ (धन) के लोभ से, मित्र के प्रति अनुराग भाव से, शत्रु के प्रति रोष (क्रोध) भाव से, बंधुबुद्धि (ममत्वभाव) से तथा इसी प्रकार के अन्य मनोविकार से प्रेरित होकर अथवा अपने सत्कार के निमित्त या अपने यश-अर्जन के लिए चिकित्सा नहीं करना चाहिए। विद्वान् वैद्य कारूण्य बुद्धि (रोगियों के प्रति दया भाव) से परलोक के साधन के लिए तथा अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने के लिए चिकित्सा कार्य करें।

जिन शासन में ऐसी भी क्रियाविधि उपादेय मानी गई है जो कर्म-क्षय करने में साधनभूत हो। अन्य शुभकर्म भी आचरणीय बतलाए गये हैं, किन्तु उनसे मात्र शुभ कर्म का बंध होकर पुण्य का संचय होता है और उससे परलोक में सुखप्राप्ति होती है। उससे कर्मो का क्षय नहीं होने से बन्धन मुक्ति या आत्म कल्याण नहीं होता है।

चिकित्सा-कार्य में यदि कारुण्यभाव निहित हो तो उससे कर्मक्षय होता है ऐसा विद्वानों का अभिमत है, जैसा कि उपर्युक्त वचन से सुस्पष्ट है।

कोई भी वैद्य अपने उच्चादर्श, चिकित्सा कार्य में निपुण्य, शास्त्रीय ज्ञान की गंभीरता, मानवीय गुणों की सम्पन्नता, निःस्वार्थ सेवाभाव आदि विशिष्ट गुणों से ही समाज में विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। यही उसकी स्वयं की प्रतिष्ठा, उसके व्यवसाय की प्रतिष्ठा और समविष्ट रूपेण देश की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। वैद्यत्व की सार्थकता भी वस्तुतः इसी में निहित है। जिसका वैद्यत्व एवं वैद्यक व्यवसाय परोपकार की पवित्र भावना से प्रेरित न हो उसका वैद्य होना हीं निरर्थक है। क्योंकि वैद्य का उच्चादर्श रोगी को भीषण व्याधि से मुक्त कराकर उसे आरोग्य-लाभ प्रदान करना है। महर्षि अग्निवेश ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है–

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम्।

छित्वा वैवस्वतान् पाशान् जीवितं यः प्रयच्छति॥
धर्मार्थदातासदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते।
न हि जीवितदानादि दानमन्यद्विशिष्यते॥
(चरकसंहिता, चिकित्सासंस्थान १/४/६०-६१)

अर्थात् भयंकर रोगों द्वारा यमपुरी की ओर बलात् ले जाते हुए प्राणियों के प्राणों को जो वैद्य यमराज के पाशों को काटकर बचा लेता है उसके समान धर्म-अर्थ को देने वाला इस जगत् में दूसरा कोई नहीं पाया जाता है। क्योंकि जीवनदान से बढ़ कर दूसरा दान नहीं है। अर्थात् सभी प्रकार के दानों में जीवन (प्राणों) का दान करना (बचाना) सबसे बड़ा दान बतलाया गया है। जैनधर्म में प्राणदान को अभयदान की संज्ञा दी गई है। वैद्य के द्वारा चूंकि रोगी को जीवनदान मिलता है, इसीलिए संसार में सबसे बड़ा दानी वैद्य ही है।

आयुर्वेद शास्त्र के प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि आयुर्वेद में जीवनदान को कितना विशिष्ट माना गया है। उसके अनुसार जीवनदान से बढ़कर कोई दूसरा दान नही है। जीवन दान में जहां परहित का भाव निहित है वहाँ वैद्य का उच्चतम आदर्श भी प्रतिबिम्बित होता है। दूसरों के प्राणों की रक्षा करना जैन संस्कृति का मूल है, क्योंकि इसी में लोक कल्याण की उत्कृष्ट भावना निहित है। इस दृष्टि से जैनधर्म और आयुर्वेद की निकटता सुस्पष्ट है। परहित भावना से प्रेरित होने के कारण इस आयुर्वेद शास्त्र में जहाँ दूसरों की प्राणरक्षा को विशेष महत्व दिया गया है वहाँ आजीविका के साधन के रूप में इसे अपनाये जाने का पूर्ण निषेध किया गया है। वर्तमान समय में यद्यपि आयुर्वेद का अध्ययन पूर्णतः स्वार्थ से प्रेरित होकर आजीविका के निमित्त से किया जाता है। अब तो यह आजीविका के साधन के अतिरिक्त पूर्णतः व्यापारिक रूप को धारण कर चुका है जो आयुर्वेद चिकित्सा के उच्चादर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है। महर्षि चरक ने आयुर्वेद चिकित्सा के जो उच्चादर्श प्रतिपादित किये हैं वे उभय-लोक हितकारी होने से निश्चय ही अनुकरणीय हैं और जैन धर्म की दृष्टि से अनुशंसित हैं। उन आदर्शों में प्राणीमात्र के प्रति दया का भाव प्रदर्शित करते हुए निःस्वार्थ भाव से चिकित्सा करने की प्रेरणा दी गई है। यथा—

धर्मार्थं नार्थकामार्थम् आयुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमरक्षरम्॥
नाथार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते॥
कुर्वते ये तु वृत्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्।
ते हित्वा कांचनं राशिं पांशुराशिमुपासते॥
(—चरक संहिता, चिकित्सास्थान १/४/५७-५९)

अर्थात् धर्म में तत्पर रहने वाले, अक्षर स्थान (ब्रम्हप्राप्ति) की इच्छा वाले महर्षियों के द्वारा धर्म के लिए आयुर्वेद का प्रकाशन किया गया, उपदेश दिया। अतः चिकित्सा करते हुए जो वैद्य अर्थ (धन) और (काम) अपने विशिष्ट मनोरथ को ध्यान में न रखते हुए, केवल प्राणियों पर दयाभावपूर्वक चिकित्सा में तत्पर होता है वह चिकित्सा के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठता को प्राप्त करता है। अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक कहलाता है। जो चिकित्सक मात्र अपनी जीविका के लिए उस चिकित्सा को व्यवसाय बनाकर उसे बाजार में बेचते हैं वे स्वर्णराशि को छोड़ धूलि को एकत्र करते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में भूतदया (प्राणी मात्र के प्रति दया) को सर्वोपरि माना गया है। उसी में सम्पूर्ण चिकित्सा की सफलता एवं सार्थकता निहित है। जैनधर्म में भी प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव को सर्वोपरी महत्व दिया गया है। अतः दोनों में उद्देश्य साम्य का भाव स्पष्टतः लक्षित होता है। भूतदया को आयुर्वेद में निम्न प्रकार से परम धर्म माना गया है—

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया।
वर्तते य सः सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते॥
(—चरक चिकित्सा स्थान १/४/६५)

अर्थात् प्राणियों पर दया करना उत्तम धर्म है—ऐसा मानकर चिकित्सा में जो प्रवृत्त होता है वह सफल मनोरथ अत्यन्त (अत्यधिक) सुख को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आयुर्वेद में किस प्रकार प्राणियों के कल्याण के प्रति स्थान स्थान पर वैद्यों को निर्देश दिया गया है। मानव जीवन की सार्थकता का प्रतिपादन जिस मनोभावपूर्वक किया गया है उससे आयुर्वेद की आध्यात्मिकता का आभास सहज ही हो जाता है। जैन धर्म में इन्हीं मूल्यों की स्थापना पूर्णतः शुद्धरूपेण आध्यात्मिक धरातल पर की गई है और भौतिक द्रव्यों के प्रति राग-द्वेष भाव के समूल नाश का उद्घोष किया है। अतः यह मानना समयोचित एवं युक्तियुक्त होगा कि आदर्श साम्य के कारण तथा कतिपय महत्वपूर्ण आयुर्वेदीय सिद्धान्तों को जैनधर्म एवं संस्कृति का समर्थन होने के कारण ज्योतिष कला आदि विद्याओं की भांति जैनधर्म में आयुर्वेद का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि आयुर्वेद का अपना क्षेत्र और उसकी सीमाएं सर्वथा अलग एवं भिन्न हैं, तथापि कई बातों में समानता होने से साहित्य निर्माण के क्षेत्र में अनेक जैनाचार्यों ने आयुर्वेद को अपनाया और जैन धर्माचरणपूर्वक धर्म की व्यापक परिधि में आयुर्वेद के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथरत्नों का निर्माण किया। इससे धर्म की अभिवृद्धि तो हुई ही, आयुर्वेद- जगत् का भी उद्धार हुआ।

जैन धर्म में आरोग्य साधन

श्रमण धर्म एक साधना प्रधान धर्म है और साधना के माध्यम से अपनी आत्मा को चरमोत्कर्ष

पर पहुंचा कर समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त कराना इस धर्म का चरम लक्ष्य है। संसार के समस्त जीवधारी प्राणियों की आत्मा का निवास उनके भौतिक शरीर में होता है। अतः साधना के क्षेत्र में सशरीर आत्मा की ही उपयोगिता है। पूर्वजन्मकृत अशुभकर्मों के उदय से तथा प्रकृति, देश काल आदि के वैषम्य से कई बार यह शरीर रोगी या विकार ग्रस्त बन जाता है। रुग्ण शरीर द्वारा न तो सुखोपभोग होता है और न धर्म-साधना, अतः प्रत्येक कार्य के लिए शरीर की निरोगिता परमावश्यक है। शरीर के विकारग्रस्त होने पर जब धर्म का साधन संभव नहीं हो तो साधना के पथ पर आरूढ़ होना कैसे सम्भव होगा? साधना के अभाव में कर्मों की निर्जरा सम्भव नहीं है और कर्म निर्जरा के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नही हैं। अतः स्पष्ट है कि इन समस्त कार्यों एवं लक्ष्य की पूर्ति के लिए शारीरिक आरोग्य परमावश्यक है। शारीरिक आरोग्य की परमावश्यकता का प्रतिपादन आयुर्वेद शास्त्र तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में तो किया ही गया है, जैन ग्रंथों में भी जैनाचार्यों द्वारा शारीरिक आरोग्य की उपयोगिता एवं आवश्यकता बतलाई गई है। श्री उग्रादियाचार्य ने अपने ग्रंथ कल्याणकारक में (२०/८०) इस विषय में लिखा है—

> न धर्मस्य कर्त्ता न चार्थस्य हर्त्ता न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता।
> नरो बुद्धिमान् धीरसत्वोऽपि रोगी यतस्तद्विनाशाद्भवेन्नैव मर्त्यः॥
>
> —कल्याण कारक २०/८०

अर्थात् मनुष्य बुद्धिमान और धीरसत्व (दृढ़मनस्क) होने पर यदि रोगी हो तो वह न धर्म कर सकता है, न धन कमा सकता है, न काम का उपभोग कर सकता है और न मोक्ष का साधन कर सकता है। अर्थात् रोगी मनुष्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी चतुर्विध पुरुषार्थ का साधन नहीं कर सकता है। उस पुरुषार्थ चतुष्टय के नष्ट होने से वह मनुष्य-भव में जन्म लेने पर भी मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है।

यहाँ स्पष्टतः चतुर्विध पुरुषार्थ साधन का मूल स्वस्थ शरीर निरूपित किया गया है। उसके बिना मनुष्य-जीवन की कोई सार्थकता ही नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह मिथ्या आहार-विहार से सदैव स्वयं की रक्षा करते हुए तथा सद्वृत का अनुवर्तन करते हुए संयम पूर्वक-आचरण के द्वारा अपने स्वास्थ्य की रक्षा करें। विपरीत आचरण, मिथ्या आचरण और असंयमपूर्ण आचरण शरीर में विकार उत्पन्न कर उसे रोगी बना देता है। अतः इनका सदैव परिहार करना चाहिए। कौन मनुष्य निरोग रह सकता है,? इस विषय में बतलाया गया है

> नरो हिताहारविहार सेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
> दाता समः सत्यपरो क्षमांवानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

अर्थात् हित आहार और विहार का सेवन करने वाला, सम्यक् प्रकार से हिताहित विवेकपूर्वक कार्य करने वाला, पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्ति नहीं रखने वाला, दान की प्रवृत्ति करने वाला,

समता भाव को धारण करने वाला, सत्य में तत्पर, क्षमा भाव को धारण करने वाला और आप्तजनों की सेवा में संलग्न मनुष्य ही निरोग रहता है।

यहां निरोग रहने के लिए जिस आचरण का निर्देश किया गया है वह सर्वथा जैनधर्म सम्मत और जैनमतावलम्बी श्रावक द्वारा आचरणीय है। इस प्रकार का आचरण सात्विक होता है और वह आरोग्य सम्पादन के साथ-साथ आत्मोन्नयन या आत्मा के विकास में सहायक होता है। आचरण की शुद्धता के कारण अन्तःकरण में सात्विक भाव का उदय एवं उत्कर्ष होता है जिससे मनुष्य की प्रवृत्ति अशुभ कर्मों से हटकर शुभ कर्मों में होती है। आरोग्य सम्बन्धी अन्यान्य बातों का उल्लेख विस्तार पूर्वक आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है। अतः उसका अध्ययनकर तद्विषयक सभी बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आयुर्वेद शास्त्र यद्यपि रोग निवृत्ति का उपाय बतलाकर तथा स्वास्थ्य रक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों का निरूपण कर मात्र भौतिक शरीर के संवर्धन एवं रक्षा की प्रेरणा देता है, तथापि यह एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है कि वह आरोग्य साधन के साथ-साथ परोक्ष रूप से मोक्ष साधन में भी कारण भूत यद्यपि मोक्ष साधन के उपायों का निर्देश नहीं करता है, तथापि मोक्ष साधन के मूल समझे जाने वाले शारीरिक आरोग्य के निष्पादन में पूर्णतः सहायक होता है। अतः अप्रत्यक्षतः वह मोक्ष साधन का कारण भी है।

जैन धर्म में मोक्ष को विशेष स्थान दिया गया है और मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य का चरम लक्ष्य बतलाया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए साधना या तप का विशेष महत्व है, क्योंकि उससे ही आत्मा के कर्म-बन्धन कटते हैं और कर्मों का क्षय होता है। आयु कर्म शेष रहने तक आत्मा को भौतिक शरीर में ही निवास करना पड़ता है। अतः तब तक उसके स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान देना आवश्यक होता है। इसके लिए साधना क्षेत्र में अवतरित मुनि के द्वारा भी आरोग्य विषयक समस्त बातों का ज्ञान किया जाना आवश्यक होता है। जो शुभ परिणामी मुनि या श्रावक ऐसा नहीं करता है वह विभिन्न रोगों से पीड़ित होकर तज्जनित कष्टों और उनके दुष्परिणामों से अशुभ कर्म के बंध का भागी बनता है। अतः श्री उग्रादित्याचार्य ने आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश निम्न प्रकार से दिया है–

> आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित्
> स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्।
> अन्यस्ववदोष्कृतरोगनिपीडितागो
> बध्नाति कर्म निष्दुष्परिणाम भेदात्॥ — कल्याणकारक २०/२९

अर्थात् विद्वान् मुनि आरोग्य शास्त्र (आयुर्वेद शास्त्र) को अच्छी तरह जानकर (उसी प्रकार आहार-विहार रखते हुए और नियमों व सद्वृत्यों का पालन करते हुए) सिद्ध सुख के एकमात्र कारणभूत स्वास्थ्य का साधन (रक्षा) कर लेता है। इसके विपरीत वह स्वदोष अर्थात् अपने अहित आहार विहार से जनित रोग से पीड़ित शरीर वाला होकर वह अपने दुष्परिणामों (दुर्भावों) के

कारण कर्मबंध को बांध लेता है।

यहाँ स्पष्ट किया गया है कि आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन एवं ज्ञान किस प्रकार मोक्ष सुख का कारण है। जिसके शरीर में रोग व्याप्त रहता या जो किसी बाह्य या आभ्यान्तरिक विकार से पीड़ित है वह अपने शरीर की रोगजन्य वेदना के कारण व्याकुल बना रहता है। आकुलता स्वयं एक अशुभ परिणाम है जो मनोविकार का द्योतक है। उस आकुलता के कारण मनुष्य का मन विकार युक्त बना रहता है, जिससे परिणामों-भावों की निर्मलता समाप्त हो जाती है और वे सुपरिणाम या अच्छे भाव दुष्परिणामों में परिवर्तित हो जाते हैं। दुष्परिणामों के कारण मनुष्य की आत्मा अशुभकर्म के संस्कारों से परिवेष्टित हो जाती है और अशुभ कर्म का फल भोगने हेतु उसे पुनः संसार में जन्म-मरण के द्वारा संसरण करना पड़ता है। इसके विपरीत स्वस्थ शरीर वाला योगी साधु आकुलता के अभाव में निराकुल होकर अपनी साधना में तत्पर रहता है और अन्ततः कर्मबन्ध एवं संसार भ्रमण के कारण से छूटकर आरोग्य के द्वारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

शरीर में रोग की उत्पत्ति हो जाने पर साधना या तपश्चर्या में किस प्रकार विघ्न या व्यवधान उत्पन्न होता है इसे स्वामी समन्तभद्र के जीवन से भली भांति जाना जा सकता है। मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए भी पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कारवश जब वे भस्मक व्याधि से पीड़ित हो गए तो वे यद्यपि कभी अपनी चर्या से चलायमान या विचलित नहीं हुए, तथापि, इससे वे अपनी मुनिचर्या में किंचित् व्यवधान सा अनुभव करने लगे थे। क्योंकि जठराग्नि की तीव्रता उनके द्वारा गृहीत भोजन का तिरस्कार करती हुई शरीर को अधिक पीड़ित करने लगी थी। मुनिचर्या के आधीन उनके द्वारा गृहीत भोजन वैसे भी सीमित और नीरस होने से तीव्र जठराग्नि के लिए अपर्याप्त था। अतः उससे जठराग्नि की तृप्ति होना संभव नहीं था। उसके लिए तो गुरू-स्निग्ध-शीतल और मधुर अन्नपान यथेष्ट परिमाण में मिलना आवश्यक होता है, अन्यथा वह शरीरगत रस-रक्त-मांसादि धातुओं को ही भस्मसात् करने लगती है। इससे शरीर में दौर्बल्य होने के साथ-साथ तृषा, दाह, मूर्छा आदि अन्य अनेक व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। स्वामी समन्तभद्र ने जब अनुभव किया कि व्याधि की तीव्रता के कारण दुर्बलता निरन्तर बढ़ती जा रही है और इससे मुनि चर्या में व्यवधान भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त मुनि पद को स्थिर रखते हुए इस रोग का प्रतिकार किया जाना भी संभव नहीं है। तब उन्होंने अपने गुरु से समाधिमरण की आज्ञा प्रदान करने का अनुरोध किया। उनके गुरु ने आदेश दिया कि प्रथम तुम मुनिपद का परित्याग कर अपनी भस्मक व्याधि को शान्त करो। व्याधि के शान्त होने पर प्रायश्चित पूर्वक मुनित्व को पुनः पालन करना। पश्चात् वे कांची के राजा को आशीर्वचनो से प्रसन्न कर वहाँ के शिव मन्दिर में आने वाला चढावा (भाग) अकेले ही भक्षण करने लगे। कुछ दिनों तक लगातार प्रचुर मात्रा में गुरु-मधुर आहार मिलने से कालान्तर में जठराग्नि की तीव्रता कम होने लगी और उनकी भस्मक व्याधि का शमन हुआ।

इससे स्पष्ट है कि शरीर में व्याधि की उत्पत्ति किस प्रकार आकुलता उत्पन्न कर शरीर को दैनिक कार्य करने में अक्षम बना देती है। इससे धर्माचरण, दैनिकचर्या और साधना में तो व्यवधान उत्पन्न होता ही है, मानस में आकुलता हो जाने से अशुभ कर्मबन्ध का भागी होना पड़ता है। व्याधिग्रस्त होने के कारण शरीर को जो कष्ट या वेदना भोगनी पड़ती है उसका पर्याप्त प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ता है, जिससे मन में आकुलता का भाव उत्पन्न होता है। वह आकुलता का भाव ही कर्म बंध का कारण होता है। अतः शरीर की रुग्णता जहाँ धर्म साधन में बाधक है वहाँ शारीरिक आरोग्य धर्माचरण में सहायक होता है।

जैनधर्म के प्रभावक मनीषि श्री उग्रादित्याचार्य ने दो प्रकार का स्वास्थ्य निरूपित किया है—एक परमार्थिक स्वास्थ्य और दूसरा व्यावहारिक स्वास्थ्य।

यथा—

अथेह भव्यस्य नरस्य साम्यत द्विधेव तत्स्वास्थ्यमुदाहृतं जिनैः।
प्रधानमाद्यं परमार्थमित्यतो द्वितीयमन्यद् व्यवहारसम्भवम्।।

—कल्याणकारक २/२

अर्थात् भगवान जिनेन्द्रदेव के द्वारा भव्य जीव मनुष्य का स्वास्थ्य दो प्रकार का बतलाया गया है—एक परमार्थ स्वास्थ्य और दूसरा व्यवहार स्वास्थ्य। इनमें से प्रथम पारमार्थिक स्वास्थ्य प्रधान होता है और दूसरा व्यावहारार्थिक स्वास्थ्य गौण है।

पारमार्थिक स्वास्थ्य का निरूपण निम्न प्रकार किया है—

अशेषकर्मक्षयजंमहादभुतं यदेतदात्यन्तिकमद्वितीयम्।
अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवादिभिस्तदेतदुक्तं परमार्थनामकम्।।

—कल्याणकारक २/३

अर्थात् आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न, अत्यद्भुत, आत्यन्तिक व अद्वितीय, विद्वद्जनों द्वारा प्रार्थित जो अतीन्द्रियसुख है वह पारमार्थ स्वास्थ्य कहलाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का नाश होने से जो अविनाशी अद्वितीय, इन्द्रियातीत, परमोत्कृष्ट आत्मीय सुख की अनुभूति होती है वही पारमार्थिक स्वास्थ्य होता है। इस प्रकार अक्षय परमानन्द का अनुभव अलौकिक एवं दिव्य आध्यात्मिक सम्पदा की प्राप्ति का परिणाम है जिसके कारण यह जीवन समस्त प्रकार की सांसारिक यातनाओं, कष्टों, दुखों व विभिन्न प्रकार के अशुभ परिणामों से ही मुक्त नहीं हो जाता है, अपितु वह समस्त प्रकार के कर्म बन्धनों का उच्छेद कर संसार परिभ्रमण से ही मुक्त हो.जाता है। ऐसी स्थिति में अपना आयु कर्म शेष रहने के कारण वह जीव जब तक इस संसार में रहता है तब तक उसे समस्त सांसारिक भौतिक सुखोपभोग तथा विविध प्रकार के भोग-विलास तुच्छ एवं हेय प्रतीत होते

हैं। यही पारमार्थिक स्वास्थ्य है और इसी पारमार्थिक स्वास्थ्य की उपलब्धि करना जैनधर्म का लक्ष्य है। इस पारमार्थिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध शरीर से न होकर शरीर में स्थित आत्मा से है। अतः इसे प्रधान या मुख्य माना गया है।

दूसरे प्रकार का व्यावहारिक स्वास्थ्य है जो निम्न प्रकार का बतलाया गया है—

समाग्नि धातुत्वमदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेन्द्रियप्रसन्नता।
मनः प्रसादश्च नरस्य सर्वदा तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु॥

—कल्याणकारक २/४

अर्थात् मनुष्य के शरीर में स्थित अग्नि का सम रहना, धातुओं की समता, वात आदि दोष का विकृत न होना, मल-मूत्रादि की विर्सजन क्रिया समुचित रूप से होना, आत्मा इन्द्रिय और मन का प्रसन्न रहना ये सब व्यवहार स्वास्थ्य के लक्षण है।

दूसरे प्रकार का यह व्यावहारिक स्वास्थ्य प्रथम पारमार्थिक स्वास्थ्य के अर्जन में सहायक होता है। व्यावहारिक स्वास्थ्य भौतिक होता है और उसका सम्बन्ध शरीर व मन से है। शरीर की निरोगता तथा मानसिक स्वस्थ्यता इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। शरीर में स्थित वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों की समस्थिति होना, रसरक्तादि सप्त धातुओं की क्षय या वृद्धि नहीं होना (अविकृत अवस्था) स्वेद-मूत्र-पुरीष इन तीनों मलों की क्रिया प्राकृत रूप से सम्पन्न होना, जठराग्नि का प्राकृत अवस्था में होना, इन्द्रियों और मल की अविकलता तथा प्रसन्नता होना शारीरिक आरोग्य का परिचायक है। इसे ही व्यवहारिक स्वास्थ्य कहते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में भी इसी प्रकार के शारीरिक स्वास्थ्य का प्रतिपादन किया गया है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ् इत्यभिधीयते॥

इस प्रकार आरोग्य या द्विविध स्वास्थ्य का प्रतिपादन मात्र आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है। अतः यह आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है। इसका मुख्य उद्देश्य लोकोपकार करना है। मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु विविध उपायों का निर्देश करना तथा औषध चिकित्सा के द्वारा विविध रोगों का शमन करना लोकोपकार ही है। पारमार्थिक स्वास्थ्य के लिए आत्मा के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना लोकापकार की चरम परिणति है। आयुर्वेद शास्त्र में चिकित्सा कार्य को पुण्यतम माना गया है। क्योंकि चिकित्सा के द्वारा रोग जनित उन असह्य वेदनाओं से मुक्ति मिलती है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष साधन में विघ्न रूप होती है। श्री उग्रादित्याचार्य ने भी इस आयुर्वेद शास्त्र का कथन लोकापकार करने के लिए ही किया है।

यथा—

"लोकोपकारकणार्थमिदं हि शास्त्रम्" —कल्याणकारक १/२४

अर्थात् वह वैद्यक शास्त्र लोक के प्रति उपकार करने के लिए है। इससे स्पष्ट है कि जैन धर्म में लोकोपकार और आत्म कल्याण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। क्योंकि परोपकार के कारण मनुष्य एक ओर तो दूसरों का हित करता ही है, दूसरी और पुण्य संचय के कारण अपना भी हित करता है।

जैनधर्म का चिकित्सा वैज्ञानिक वैशिष्ट्य

वर्तमान वैज्ञानिक, भौतिकवादी एवं प्रगतिशील युग में मनुष्य की प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी अधिक हैं। इसी प्रकार मनुष्य की समस्त प्रवृतियों का आकर्षण केन्द्र वर्तमान में जितना अधिक भौतिकवाद है उतना अध्यात्मवाद नहीं। यही कारण है कि आज का मनुष्य भौतिक नश्वर सुखों में ही यथार्थ सुख की अनुभूति करता है, वर्तमान में किया जा रहा सतत चिन्तन, अनुभूति की गहराई, अनुशीलन की परम्परा और तीव्रगामी विचार प्रवाह सब मिलकर भौतिकवाद के सतत पोषण में इस प्रकार प्रयासरत हैं कि उससे अन्तर्जगत की समस्त प्रवृत्तियों के प्रति मनुष्य की उन्मुखता ही अवरुद्ध हो गई है। इसका एक यह परिणाम अवश्य हुआ है कि वर्तमान मानव समाज को अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हुई हैं, जिससे सम्पूर्ण विश्व में एक अभूतपूर्व भौतिकवादी वैज्ञानिक क्रान्ति आई है जो आज वैज्ञानिक क्रान्ति के नाम से कही जाती है और इससे होने वाली उपलब्धियां वैज्ञानिक उपलब्धियाँ कहलाती हैं। आधुनिक विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में भी अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियां हुई हैं और हो रही है। यही कारण है कि आज मानव समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग चिकित्सा के क्षेत्र में आधुनिक विज्ञान की वर्तमान उपलब्धियों से लाभान्वित हो रहा है।

जिस शरीर के माध्यम से जैन धर्म आत्म साधन और आत्मानुशील हेतु मनुष्य को प्रेरित करता है उस शरीर को रोग मुक्त बनाकर उसे स्वस्थ्य रखने में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का वर्तमान समय में महत्वपूर्ण योगदान है। आत्मा के बिना शरीर का कोई महत्व नहीं है और शरीर के बिना आत्मा को मुक्ति मिलना संभव नहीं है। इस दृष्टि से दोनों एक दूसरे के अनुपूरक हैं। जैनधर्म यदि आत्मा को विशुद्ध स्वरूप प्रदान करने का मार्ग प्रशस्त करता है तो चिकित्सा विज्ञान मानव शरीर को स्वास्थ्य रूपी विशुद्धता प्रदान करने में समर्थ है।

जैनधर्म में मनुष्य के आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया है। जब तक मनुष्य अपने आचरण को शुद्ध नहीं बनाता, तब तक उसका शारीरिक विकास महत्वहीन एवं अनुपयोगी है। मनुष्य के आचरण का पर्याप्त प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। विपरीत आचरण का पर्याप्त प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। विपरीत आचरण या अशुद्ध आचरण मानव स्वास्थ्य को उसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार उसका आहार विहार। आचरण से अभिप्राय यहाँ दोनों प्रकार के आचरण से है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक आचरण शरीर को और

मानसिक आचरण मन को तो प्रभावित करता ही है। साथ में शारीरिक आचरण मन को और मानसिक आचरण शरीर को भी प्रभावित करता है। इन दोनों आचरणों से मनुष्य की आत्मशक्ति भी निश्चित रूप से प्रभावित होती है क्योंकि आचरण की शुद्धता आत्मशक्ति को बढ़ाने वाली और आचरण की अशुद्धता आत्मशक्ति का ह्रास करने वाली होती है। इसका स्पष्ट प्रभाव मुनिजन, योगी, उत्तम साधु और सन्यासियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे गृहस्थ श्रावकों में भी आत्मशक्ति की वृद्धि का प्रभाव दृष्टिगत हुआ है जिन्होंने अपने जीवन में आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया। ऐसे सन्त पुरुषों में महान् आध्यात्मिक सन्त पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी आदि तथा गृहस्थ जीवन व्यापन करने वालों में महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, गुरू गोपालदास जी वरैया, पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जैनधर्म का महत्व आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से है। चिकित्सा की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है और न ही जैन धर्म में चिकित्सा के कोई निश्चित सिद्धान्तनिरूपित हैं। किन्तु चिकित्सा का सम्बन्ध मानव स्वास्थ्य से है और स्वास्थ्य की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्त जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। स्वास्थ्योपयोगी जैन दर्शन के वे सिद्धान्त यद्यपि भले ही स्वास्थ्य की दृष्टि से वर्णित नहीं किये गए हों, किन्तु मानव मात्र के लिए मानव शरीर की विभिन्न दोषों से रक्षा के निमित्त आध्यात्मिक शुद्धि हेतु प्रतिपादित वे नियम निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं। आध्यात्मिक शुद्धि एवं आत्म कल्याण की भावना से अभिभूत मनुष्य के लिए भले ही उसके शरीर और उसके शारीरिक स्वास्थ्य का कोई महत्व न हो, किन्तु एक गृहस्थ एवं श्रावक को तो शरीर की रक्षा का उपाय करना पड़ता है। क्योंकि जिस प्रकार अन्यान्य दोषों से आत्मा की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य है उसी प्रकार रोगों से शरीर की रक्षा करना भी उसका परम कर्त्तव्य है। शरीर की रक्षा के बिना अथवा स्वस्थ्य शरीर के बिना धर्म साधन सम्भव नहीं है। धर्म का अभिप्राय मानव जीवन की निष्क्रियता भी नहीं है कि धर्म के नाम पर मनुष्य स्वयं को समस्त लौकिक कर्मो से विरत कर ले, अपितु आचरण की शुद्धता एवं संयम पूर्ण जीवनयापन ही वास्तविक धर्म है। जीवन की उपयोगिता शरीर के बिना नहीं है। अतः व्यावहारिक जीवन में शरीर की रक्षा करना तथा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य रक्षण हेतु सदैव सजग रहना मानव मात्र का परम कर्तव्य है। चारों ही पुरुषार्थ की सिद्धि शरीर के ही माध्यम से होती है और शरीर का स्वास्थ्य ही इनका मूल आधार है। आचार्यो के शब्दों में—

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलभूतम्।"

यह महत्वपूर्ण तथ्य जो आचार्यों की गहन दृष्टि का परिणाम है, लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टि से उपयोगी एवं सार्थक है। अतः अपने शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा हेतु सतत प्रयत्नशील रहना हमारा नैतिक उत्तरदायित्व हो जाता है। शरीर के प्रति मोह नहीं रखना आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि शरीर की पूर्ण उपेक्षा की जाय। जानबूझ कर शरीर की उपेक्षा करना एक प्रकार का आत्मघात है और आत्मघात

को शास्त्रों में सबसे बड़ा दोष माना गया है। अतः धर्म साधना हेतु आहार आदि के द्वारा शरीर का सांधन करना तथा अहित विषयों से उसकी रक्षा करना और विकार एवं रोगों से उसे बचाना आवश्यक है। एकान्ततः शरीर की उपेक्षा करने का उल्लेख किसी शास्त्र में नहीं है। जैन धर्म में भी आत्म साधना के समक्ष शरीर को यद्यपि नगण्य माना गया है, किन्तु पूर्णतः उसकी उपेक्षा का निर्देश नहीं किया गया। अतः यावत् काल शरीर की आयु है तावत् काल उसे स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यहां पर यह ध्यान रखने योग्य है कि शरीर को स्वस्थ्य रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यहां पर यह ध्यान रखने योग्य है कि शरीर को स्वस्थ रखना और उसे रोगों से बचाना एक भिन्न बात है और शरीर से मोह रखते हुए उसके माध्यम से भौतिक सुखों का उपयोग करना एक भिन्न बात है। जैन धर्म शरीर को भौतिक सुखों से विरत रखने का निर्देश तो देता है किन्तु स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी सात्विक उपायों के सेवन का निषेध नहीं करता।

मानव शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से तथा अहित विषयों में शरीर की प्रवृत्ति को रोकने के लिए जैनधर्म ने मनुष्य के दैनिक आचरण तथा उसके व्यक्तित्व एवं सामाजिक व्यवहार में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो शारीरिक व मानसिक दृष्टि से तो उपयोगी है ही, आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक विकार एवं सात्विक जीवन निर्वाह के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैनधर्म में प्रतिपादित सिद्धान्त जहां मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग को प्रशस्त करते हैं, वहीं लौकिक किंवा व्यावहारिक जीवन के उत्थान में भी सहायक होते हैं। सात्विक जीवन निर्वाह हेतु मनुष्य को प्रेरित करना उनका मुख्य लक्ष्य है। अतः स्वास्थ्य रक्षा एवं आरोग्य की दृष्टि से जैन धर्म चिकित्सा विज्ञान के अत्यन्त निकट है क्योंकि जीवन की कसौटी पर कसे हुए सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार प्राप्त हो जाता है। अतः मानव जीवन की सार्थकता का निर्वाह करने वाले मन-वचन-काय में शुद्धता उत्पन्न करने वाले सात्विक एवं मानवोचित विशुद्ध भावों का उद्भव करने वाले नियम और सिद्धान्त जब प्रकृति के सांचे में ढल जाते हैं तो स्वतः ही वैज्ञानिकता की परिधि में आ जाते हैं। उनकी पूर्णता ही उनकी वैज्ञानिकता है।

प्रकृति और विकार के संदर्भ में कहा जाता है कि प्राणीकी संसार में मृत्यु ही प्रकृति है और जीवन विकार है। इस कथन की सार्थकता वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक है। लौकिक दृष्टि से विकार (जीवन) की प्रकृति आरोग्य है और आरोग्य का आधार शरीर है। शरीर का विनाश अवश्यम्भावी है। अतः उसका अंतिम परिणाम मृत्यु है। निष्कर्ष रूपेण दृष्टि की भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य केवल एक ही रहता है। इसी प्रकार स्वास्थ्य साधन, शरीर रक्षा एवं आरोग्य लाभ के समन्वित लक्ष्य हेतु जैन धर्म एवं चिकित्सा विज्ञान की पारस्परिक दूरी होते हुए भीं आंशिक रूपेण ही सही, बहुत कुछ निकटता एवं पारस्परिक एकता अवश्य है।

व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त किये जाने वाले सामान्य नियम कितने उपयोगी और स्वास्थ्य के लिए हितकारी होते हैं, यह उनके आचरित करने के बाद भली भांति स्पष्ट हो जाता है।

एक जैन गृहस्थ के यहां साधारणतः इसका तो ध्यान रखा ही जाता है कि वह जल का उपयोग छानकर करे, सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करे, यथा संभव गड़न्त वस्तुओं (आलू, अरबी आदि) का उपयोग न करे, मद्यपान, धूम्रपान आदि व्यसनों का सेवन न करें, जो वस्तुएं दूषित या मलिन हों और जिनमें जन्तु आदि उत्पन्न हो गए हों उनका सेवन न करें इत्यादि धार्मिक दृष्टि से विरोध की भावना से प्रेरित अथवा स्वयं को अत्यधिक प्रगतिशील कहने वाले व्यक्ति भले ही जैन धर्म के उपर्युक्त नियमों को रूढ़िवादी, धर्मात्मान्धता पूर्ण थोथे एवं निरुपयोगी कहे किन्तु स्वास्थ्य के लिए उनकी उपयोगिता को वैज्ञानिक आधार पर अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। जो नियम जीवन की सात्विकता की ओर ले जाकर जीवन ऊंचा उठाने वाले हैं, शरीर की रक्षा और स्वास्थ्य का सम्पादन करने वाले हों वे नियम केवल इसी आधार पर अवहेलना किए जाने योग्य नहीं है कि धार्मिक या सात्विक दृष्टि से भी उनका महत्व है। स्वास्थ्य विज्ञान का ऐसा कौन सा ग्रन्थ है अथवा संसार की प्रचलित चिकित्सा प्रणालियों में ऐसी कौन सी प्रणाली है जो शुद्ध जल के सेवन का निषेध करती है? मद्यपान या धूम्रपान के सेवन का उल्लेख किस चिकित्सा शास्त्र में किया गया है? अशुद्धि और अशुद्ध भोजन का निषेध कहाँ नहीं किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त समस्त नियम एवं सिद्धान्त तथा इसी प्रकार के अन्य सिद्धान्त भी केवल सैद्धान्तिक या शास्त्रीय नहीं है, अपितु पूर्णतः व्यावहारिक एवं नित्योपयोगी है।

आधुनिक विज्ञान के प्रत्यक्ष परीक्षणों द्वारा यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि जल में अनेक सूक्ष्म जीव एवं अनेक अशुद्धियां होती हैं। अतः जल को शुद्ध करने के पश्चात् ही उसका उपयोग करना चाहिये। जल की कुछ भौतिक अशुद्धियां तो वस्त्र से छानने के बाद दूर हो जाती हैं, कुछ जीव भी इस प्रक्रिया द्वारा जल से पृथक किए जा सकते हैं। अतः काफी अंशों में जल की अशुद्धि छानने मात्र से दूर हो जाती है और कुछ समय के लिए जल शुद्ध हो जाता है। किन्तु जल की शुद्धि वस्तुतः जल को उबालने से होती है। छने हुए जल को अग्नि पर उबालने से जलगत सभी प्रकार की अशुद्धियां दूर हो जाती हैं और जल पूर्ण शुद्ध होकर निर्मल बन जाता है। जैन धर्म मानव शरीर को जल सम्बन्धी समस्त दोषों से बचाने और शरीर को निरोग रखने की दृष्टि से शुद्ध, ताजे छने हुए और यथा संभव उबाल कर ठंडा किए हुए जल के सेवन का निर्देश देता है। क्या इस निर्देश और नियम की व्यावहारिकता अथवा उपयोगिता को अस्वीकार किया जा सकता है?

गृहस्थ के व्यावहारिक जीवन को उन्नत बनाने हेतु शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शुद्ध ताजे और निर्दोष भोजन की उपयोगिता स्वास्थ्य विद्वान द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकार की गई है। मानव जीवन एवं मानव शरीर को स्वस्थ, सुन्दर व निरोग रखने के लिए तथा आयु पर्यन्त शरीर की रक्षा के लिये निदृष्ट परिमित, सन्तुलित एवं सात्विक आहार ही सेवनीय होता है। आहार में कोई भी वस्तु ऐसी न हो जो स्वास्थ्य के लिए अहितकर अथवा रोगोत्पादक है। अतः सदैव शुद्ध और ताजा भोजन ही हितकर होता है। आहार सम्बन्धी विधि विधान

के अनुसार उचित समय पर भोजन करने का बड़ा महत्व है। जो लोग समय पर भोजन नहीं करते वे अक्सर आहार एवं उदर सम्बन्धी व्याधियों से पीड़ित रहते हैं। आहार (भोजन) के समय के विषय में जैनधर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह तो निर्देशित नही किया गया है कि मनुष्य को भोजन किस समय कितने बजे तक कर लेना चाहिए किन्तु उसकी मान्यता एवं दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य को सूर्यास्त के पश्चात् अर्थात् रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। इसका धार्मिक महत्व तो यह है कि रात्रिकाल में भोजन करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, किन्तु इसका वैज्ञानिक महत्व एवं आधार यह है कि हमारे आसपास के वातावरण में अनेक ऐसे सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं जो दिन में सूर्य की किरणों से नष्ट हो जाते हैं। रात्रि में सूर्य की किरणों के अभाव में वे सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं और वे हमारे भोजन को दूषित मलिन व विषमय कर देते हैं। वे भोजन के माध्यम से हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर शरीर में विकृति उत्पन्न कर देते हैं।

दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वास्थ्य विज्ञान एवं आहार पाचन सम्बन्धी नियमानुसार हम जो आहार ग्रहण करते हैं वह मुख से गले के मार्ग द्वारा सर्वप्रथम आमाशय में पहुँचता है, जहां उसकी वास्तविक परिपाक क्रिया प्रारम्भ होती है। परिपाक हेतु वह आहार आमाशय में लगभग चार घंटे तक अवस्थित रहता है। उसके बाद ही वह आमाशय से नीचे क्षुद्रान्त में पहुँचता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब तक भोजन आमाशय में रहता है तब तक मनुष्य को जाग्रत एवं क्रियाशील रहना चाहिए। क्योंकि मनुष्य की जाग्रत एवं क्रियाशील अवस्था में ही आमाशय की क्रिया पूर्णतः संचालित रहती है। मनुष्य की सुषुप्त अवस्था में आमाशय की क्रिया मन्द हो जाती है जिससे भुक्त आहार के पाचन में बाधा एवं विलम्ब होता है अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपने रात्रि कालीन शयन से लगभग ४-५ घंटे पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए, ताकि उसके शयन करने के समय तक उसके भुक्त आहार का विधिवत् सम्यक पाक हो जावे। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सायंकाल ६ बजे या उसके पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए। क्योंकि मनुष्य के शयन का समय सामान्यतः रात्रि को १० बजे या उसके आसपास होता है। अतः जैन दर्शन का यह दृष्टिकोण कितना महत्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक आधार लिए हुए है कि मनुष्य को सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए।

इसी प्रकार जब वह सायं काल ६ बजे या उसके आसपास भोजन करता है तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार दो भोजन कालों का अन्तर सामान्यतः न्यूनातिन्यून आठ घंटे का होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति सायंकाल ६ बजे भोजन करना चाहता है तो उसे आवश्यक रूप से प्रातः काल १० बजे या उसके आस पास भोजन कर लेना चाहिए। जो व्यक्ति प्रातः १० बजे भोजन करता है वह स्वाभाविक रूप से सायंकाल ६ बजे तक बुभुक्षित हो जायगा। अतः स्वास्थ्य के नियमों में ढला हुआ और आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने वाला जैनधर्म के द्वारा प्रतिपादित आहार सम्बन्धी नियम न केवल आध्यात्मिक दृष्टि

से मनुष्य का विकास करने वाला है, अपितु उसके स्वास्थ्य की रक्षा करता हुआ मानव शरीर को निरोग बनाने वाला और उसे दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला है।

रात्रि कालीन भोजन के निषेध के सम्बन्ध में एक यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में कहीं भी यह उल्लेख नहीं मिलता है कि किसी भी रोगी को रात्रिकाल में उसके पथ्य की व्याख्या की गयी हो। दिन में ही रोगी को पथ्य देने की व्यवस्था की जाती है। प्रातः काल और सायंकाल के हिसाब से दो समय ही दिया जाता है। अर्थात् रात्रि को भोजन नहीं दिया जाता। आहार सम्बन्धी यह मान्यता निश्चय ही जैन धर्म की आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को एक महत्वपूर्ण देन है। प्रकृति के नियमानुसार मनुष्य को उसके जीवन सम्बन्धी आचरण का निर्देश कर उसके परिपालन हेतु उसे प्रेरित करना जैनधर्म की मौलिक विशेषता है।

आहार सेवन के क्रम में शुद्ध एवं सात्विक आहार के सेवन को विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार आहार शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा में तो सहायक है ही, इससे मानसिक परिणामों की विशुद्धता भी होती है। दूषित मलिन एवं मानसिक आहार स्वास्थ्य के लिए अहितकारी और मानसिक विकार उत्पन्न करने वाला होता है। कई बार तो यहां तक देखा गया है कि आहार के कारण मनुष्य शरीर रूप से स्वस्थ होता हुआ भी मानसिक रूप से अस्वस्थ होता और जब तक उसके आहार में समुचित परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक उसके मानसिक विकार का उपशम भी नहीं किया जाता।

धूम्रपान एवं मद्यपान को आधुनिक युवा सभ्यता का प्रमुख अंग माना जाता है। यद्यपि किसी ग्रंथ में इसके सेवन का विधि विधान या स्पष्ट निर्देश उल्लिखत नहीं है, तथापि कथित सभ्य समाज का वर्ग विशेष इसे भी जीवन का आवश्यक अंग मानता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान एवं अनुसंधान कर्ता अनेक वैज्ञानिकों ने धूम्रपान व मद्यपान को एक स्वर से स्वास्थ्य के लिए हानिकर तथा जीवन व समाज को खोखला करने वाला बतलाया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान किसी भी व्यक्ति को इनके सेवन की प्रेरणा या सलाह नहीं देता है क्योंकि शारीरिक व मानसिक दोनों दृष्टि से वे दोनों मानव स्वास्थ्य के शत्रु हैं। इसी भांति जैन धर्म ने भी धूम्रपान व मद्यपान का प्रबल निषेध किया है। इस संबंध में जैनधर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल एवं व्यापक है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से तो इनका सेवन वर्ज्य है ही, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से ये मनुष्य का कितना अधः पतन कर देते हैं इसके अनेक उदाहरण वर्तमान समाज में आए दिन देखने को मिलते हैं। व्यसनरत किसी भी व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक वह इनका पूर्णतः परित्याग नहीं कर देता। जैनधर्म की दृष्टि से धूम्रपान एवं मद्यपान का सेवन जघन्य पाप तो है ही, यह एक ऐसा दुर्व्यसन है जो मनुष्य के अन्तःकरण को अधःपतन की ओर ले जाता है। अतः शारीरिक मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से इन व्यसनों का त्याग आवश्यक है। इस संदर्भ में

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों की यह खोज महत्वपूर्ण है कि धूम्रपान का सतत सेवन कैंसर रोग की उत्पत्ति का कारण है। इसी प्रकार मद्यपान भी अनेक शारीरिक एवं मानसिक विकारों के साथ अनेक व्याधियों को उत्पन्न करता है। मद्यपान तत्काल हृदय को प्रभावित कर तामस भाव उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार ऐसी अनेक बातें है जिन्हें जैनधर्म में धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी गयी है, किन्तु वैज्ञानिक प्ररिप्रेक्ष्य में उनका मूल्यांकन करने पर उनका चिकित्सा वैज्ञानिक वैशिष्टय एवं महत्व लक्षित होता है। ऐसे सिद्धान्तों की समीक्षा की जाकर उनका वैज्ञानिक मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है।
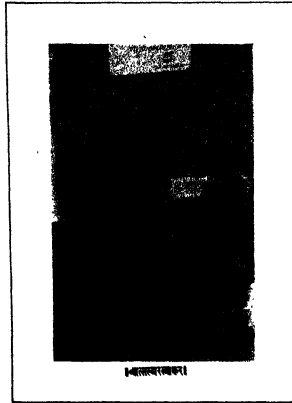
प्रकीर्णक

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

❑ आ. श्रेयांसमती माताजी
संघस्थ-स्व. आ. श्रेयांससागरजी महाराज

सज्जातियता की अनादि निधनता

पंचमकाल के अन्त तक धर्म रहेगा—आजकल भारत में कुछ व्यक्ति सज्जातियत्व का लोप करने के पक्ष में हैं। किन्तु यह सज्जातियत्व अनादिनिधन होने से उसका संपूर्णतया लोप नहीं हो सकता। जब तक चतुर्विध संघ रहेगा तब तक सज्जातियत्व भी रहेगा। वर्तमान अवसर्पिणी काल के छट्टे काल के अन्तिम ४९ दिन में प्रलय होगा उसमें पवन, अग्नि, विष, बर्फ, धूली धूंवा और क्षार जल ये क्रमशः ७/७ दिन तक बरसेंगें। उस समय इस आर्य खण्ड के कुछ पुण्यशाली युगलों को विजयार्ध पर्वत की गुफा में देवों द्वारा सुरक्षित रखा जायेगा। संतान परिपाटी से इन युगलों का पिंड शुद्ध होता है।

युगलों द्वारा सृष्टि रचना—श्रावण वदी 1 से भाद्रपद सुदी ५ तक के ४९ दिन में जल, घृत, दुग्ध, इक्षुरस, अमृत व मधु इनकी वर्षा से पृथ्वी शांत हो जाती है। उस समय उत्सर्पिणी की शुरुआत हो जाती है और इन सुरक्षित युगलों द्वारा सृष्टि रचना धीरे-धीरे हो जाती है। इस प्रकार यह जाति विषयक व्यवस्था अनादि से है। जीव के उत्पत्ति स्थान को जाति कहते है। उसे योनि भी कहते हैं। ये ८४ लाख होती है। वे इस प्रकार है।

> नित्येतरथा तु सप्त तरु दश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
> सुर नारक तिर्यक्षुः चत्वारश्चतुर्दश मनुष्ये शत सहस्रा॥
>
> एते सर्वे जीवा चतुरशीति लक्ष योनिवश प्राप्ता।
> ये ये विराधिता खलु मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु॥

"कल्याणालोचना॥

अर्थ—		
	नित्यनिगोद की योनि	७ लाख
	इतरनिगोद की योनि	७ लाख
	पृथ्वी कायिक की योनि	७ लाख
	जल कायिक की योनि	७ लाख
	अग्नि कायिक की योनि	७ लाख
	वायु कायिक की योनि	७ लाख
	विकलेन्द्रिय की योनि	६ लाख

वनस्पति कायिक की योनि	१० लाख
देव की योनि	४ लाख
नारकी योनि	४ लाख
पंचेन्द्री तिर्यंच की योनि	४ लाख
मनुष्य की योनि	१४ लाख
	कुल ८४ लाख

पृथ्वीकायिक के प्रभेद में सफेद पाषाण, सोना, चांदी, तांबा इत्यादि ७ लाख भेद है। हर भेद में अन्तर है। कीमत में और रूप में भी अन्तर है।

जलकायिक के जीव के प्रभेदों पर दृष्टि करने से यह बात ज्ञान में आ जाती हैं कि समुद्र का पानी, झरने का पानी, चन्द्रकांतमणी से झरा हुआ पानी अपनी-अपनी विशेषता से भरा हुआ है। अग्निकायिक जीव के प्रभेदों पर दृष्टि करने से यह बात समझ में आती है कि कण्डों की अग्नि, घास की अग्नि, बिजली की अग्नि में भेद दिख पड़ता है। इसी प्रकार विज्ञान ने यह भी सिद्ध किया है कि वायु के जीवों में भी बहुत प्रभेद है।

वनस्पति कायिक का गेहूँ लीजिये—उसमें भी अनेक जातियाँ है। जैसे एक वृक्ष का जड़ तो अमृत का काम करता है पर उसका फल तो विषमय होता है। आजकल विजातीय संकर से कुछ फल निर्माण किये है। उसमें स्वाद का फर्क पड़ गया है। पशु में भी संकरित गाय होती है। जिसको बहुत सावधानी से पालना होता है। वह गाय या बैल ज्यादा काम नहीं कर सकता।

द्वीन्द्रिय जीवों की एक जाति में दूसरे जाति के जीव पैदा नहीं होते, इसी प्रकार त्रीन्द्रिय जीव चींटी, चींटा, खटमल, जूं आदि भी अपने-अपने समूह में पैदा होते है इतना ही नहीं तो लाल चींटी की लाइन में एक भी काली चींटी नहीं मिलेगी, इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय मधुमक्खी के छत्तों में दूसरी जाति की मक्खी नहीं मिलेगी। इसी तरह पंचेन्द्रिय संज्ञी पशुओं के सम्बन्ध में भी लाल मुँह के बन्दर समूह में काले मुख का बंदर नहीं मिलेगा। यह निसर्ग से ही ऐसी रचना है। यहां घोड़ा-गधी या गधा-घोड़ी की विजातीय संतान के बारे में विचार करेंगे। यह विजातीय संतान कमजोर होती है, और उसका नाम खच्चर पड़ता है।

सज्जातियत्व के लिये माता पक्ष के समान पिता का कुल भी शुद्ध चाहिये। मातृपक्ष को जाति तथा पितृ पक्ष को कुल कहते हैं। ८४ लाख जाति तथा १९९.५ लाख कुलकोड़ी है। जहां पर रजवीर्य से संतान उत्पन्न होती है वहां पर मातृ-पितृ पक्ष का विचार किया जाता है। किन्तु सम्मूर्छन जीव रजवीर्य से नहीं बनते। जिस स्थान में वे उत्पन्न होते हैं उस स्थान को योनि और जिस पुद्गलपरमाणु से शरीर रचना होती है उसको कुल कोड़ी कहते हैं। ये कुलकोड़ी नीचे लिखे अनुसार १९९.५ लाख होते हैं—

पृथ्वीकाय	२२ लाख कुल कोडी
जलकाय	०७ लाख कुल कोडी
अग्निकाय	०३ लाख कुल कोडी
वायुकाय	०७ लाख कुल कोडी
वनस्पतिकाय	२८ लाख कुल कोडी
द्वि इन्द्रिय	०७ लाख कुल कोडी
तीन इन्द्रिय	०८ लाख कुल कोडी
चार इन्द्रिय	०९ लाख कुल कोडी
पञ्च इन्द्रिय पशु	४३.५ लाख कुल कोडी
नारकी	२५ लाख कुल कोडी
देव	२६ लाख कुल कोडी
मनुष्य	१४ लाख कुल कोडी
कुल योग	१९९.५ लाख कुल कोडी

सज्जातियत्व में गोत्र कर्म का स्थान—गोत्र कर्म के भेद हैं (१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र।

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पशु तक नीच गोत्र है। नारकी का भी नीच गोत्र है। देव सभी उच्च गोत्री होते हैं। उन देवों में भी इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषिक से दस भेद हैं। देवों के मूलभेद ४ ये हैं (१) भवनवासी (२) व्यंतरवासी (३) ज्योतिषवासी और (४) कल्पवासी।

इनमें व्यंतर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नहीं होते। उनके सिर्फ ८ भेद होते हैं और वे अपना-अपना निश्चित कार्य करते हैं। जैसे—

(१) इन्द्र जो देवों का राजा होता है और बाकी देवों से इन्द्र में विशेष ऋद्धि होती है।

(२) सामानिक—इन्द्र के समान आयु, वीर्य, भोग, उपभोग होते हैं परन्तु आज्ञा और ऐश्वर्य से रहित होते हैं।

(३) त्रायस्त्रिंश—देव, मंत्री, पुरोहित के समान महत्त्व को धारण करते हैं। एक इन्द्र की सभा में ये ३३ ही होते हैं।

(४) पारिषद्—इन्द्र की सभा में बैठने वाले देव।

(५) आत्मरक्ष—अंग रक्षक का स्थान इन्हें मिलता है।

(६) लोकपाल—इन्हें कोतवाल का दर्जा रहता है। वैमानिक देवों के सभी लोकपाल एक भवावतारी होते हैं।

(७) अनीक—ये सेना में रहते हैं।

(८) प्रकीर्णक—नगरवासी के समान होते हैं।

(९) आभियोग्य—सेवक के समान होते हैं।

(१०)किल्विषिक—चांडालादिक के समान नीच काम करते हैं।

देव गति में भी वर्ण व्यवस्था है—ये किल्विषिक देव उच्चगोत्र का उदय होने पर भी सभा में नहीं आ सकते। दूर खड़े रहते हैं। दूसरे देव इनको स्पर्श भी नहीं करते। तीव्र पापकर्म का उदय इन्हें रहता है। जो जीव देव, गुरु, शास्त्र का विनय नहीं करते, अवर्णवाद करते हैं वे जीव यदि देवायु का बन्ध करते हैं तो आभियोग्य या किल्विषिक जातियों में ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार देव गति में भी वर्ण व्यवस्था अपने-अपने पद के अनुसार स्वभाव सिद्ध है।

भोगभूमि में जाति भेद नहीं—अवसर्पिणी काल के तृतीय काल खण्ड के अन्तिम भाग में कुलकर (मनु) की उत्पत्ति होती है। उस समय जो-जो समस्यायें खड़ी होती हैं वह निवारण करने का प्रशिक्षण कुलकर देता है। ये चौदह होते हैं। अन्तिम कुलकर नाभि राजा थे। वे प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव के पिता थे। इन्होंने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, कला के सम्बन्ध में प्रजा को अवगत कराया। विवाह संस्था का प्रणयन भी इन्हीं के द्वारा हुआ। नाभिराय का विवाह इन्द्रों द्वारा मरुदेवी के साथ कराया गया और वृषभदेव का विवाह यशस्वती और सुनन्दा के साथ सम्पन्न कराया। वृषभदेव के ६ कल्याणक हुये थे। क्योंकि देवों द्वारा उनका विवाहोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। वे चाहते तो बालब्रह्मचारी भी रह सकते थे। वे जन्म से तीन ज्ञान के धारी थे। अवधिज्ञान से उन्होंने ये जाना की पंचम काल के अन्त तक धर्म रहेगा और धर्म गृहस्थों और यति बिना नहीं रह सकता। उन्होंने कर्मभूमि में रहने योग्य विद्यायें लोगों को सिखाईं।

धर्म परंपरा संतति बिना चल नहीं सकती और धार्मिक संतति निर्माण होने के लिये गृहस्थों को अपने पुत्रों और पुत्रियों का विवाह कर देना भी आवश्यक है। यह विवाह संस्कार एक धार्मिक मर्यादा है। विषय सेवन या भोग के लिये विवाह नहीं होता, विवाह से तो धर्म की प्रजा उत्पन्न होती है। धार्मिक संतान की उत्पत्ति यह विवाह का उद्देश्य भी है। धर्म चक्र की धुरा सहित संसार चक्र की धुरा सम्हालना यह भी एक उद्देश्य विवाह में होता है। विवाह के लिये उत्तम मुहूर्त देखा जाता है। माता-पिता, पंचअग्नि, देव और गुरु अनेक साक्षी से विवाह होता है। भिन्न गोत्र देखकर ही होता है। विवाह योग्य दम्पत्ति एक दूसरों को चाहते हैं। गोत्र और जाति/कुल का विचार किये बिना होने वाला विवाह अन्त में कष्टदायी होता है। कभी लड़की लड़के को तलाक देती है तो कभी लड़का लड़की को। पैसा देखकर कोई शादी करता है और बाद में पछताता है।

नेमि और राजुल विवाह के पवित्र बंधन में पड़ने के पूर्व ही एक प्रेमपाश में बंधे थे। वे दोनों परस्पर चाहते थे और जब नेमिनाथ दीक्षा लेते हैं तो राजुल दूसरे ब्याह का प्रस्ताव ठुकराती है और पूरी जिन्दगी सन्यास वृत्ति से आर्यिका पद में रहती है।

कृष्ण के भाई गजकुमार वर बनकर निकले बीच में नेमिनाथ का समवसरण लगा। वहाँ दर्शन किया। वैराग्य जगा और दीक्षा ली, मुनि बन गये । उनकी पत्नि ने अपने पति पर बहुत उपसर्ग किये। उस समय वह कहती है विवाह की तैयारी न होती तो मैं कुंवारी कहलाती। विवाह हो जाता तो मैं सौभाग्यवती कहलाती। आप मर जाते तो मैं विधवा कहलाती। किन्तु इस समय इन तीनों ही अवस्था से विपरीत अवस्था मेरी करकर आप यहाँ आये यह ठीक नहीं किया। ऐसी अवस्था में उसने पति को अंगार लगा दी। कि न्तु दूसरा विवाह करना मन्जूर नहीं किया। अरे! इसका तो विवाह भी नहीं हुआ था। लेकिन दूसरे पुरुष का विचार तक उसने मन में नहीं लाया।

आजकल दहेज़ के कारण लड़का वक्त पर अड़ जाता है तो लड़की उसे त्यागकर के माता-पिता की अनुमति से दूसरे लड़के के साथ विवाहित हो जाती है। इसमें कोई भी विरोध नहीं करता और न किसी को विरोध करना चाहिये।

भ्रूणहत्या—आजकल भ्रूणहत्या का प्रमाण बढ़ गया है। १० प्रतिशत तो इसमें लड़का जिम्मेदार है। यह एक महान हत्या है। इसके खिलाफ तो साधु-संस्थाओं को भी आवाज उठानी चाहिये। अहिंसा प्रधान जैनियों के लिये तो यह बहुत शर्मनाक बात है।

कुन्ती और पाण्डु राजा का विधियुक्त विवाह न होने से कुन्ती को अपने बेटा कर्ण को पेटी में बन्द करके जल में प्रवाहित करना पड़ा और कर्ण को उसका दुख जन्म भर उठाना पड़ा। जब विधिपूर्वक कुंती और पाण्डु का विवाह हो गया तो उनकी सन्तान भी धार्मिक निकली भीम, अर्जुन, धर्मराज, नकुल और सहदेव ये पाँचों पांडव कहलाने लगे। कर्ण भी उनका सगा भाई था, तो भी उसका नाम पाँच पांडवों में सम्मिलित नहीं किया गया। क्योंकि उसकी पैदाइश ही धर्म सम्मत नहीं थी।

शास्त्रों में कुछ कथानक आते हैं कि एक जैन अग्रवाल जातीय पुत्री का जैन अग्रवाल जाति में लड़का न मिलने से वैष्णव अग्रवाल लड़के के साथ विवाह कर दिया गया। मतलब ये कि उन्होंने जाति में ही लड़की को दिया।

एक जैन सेठ की लड़की को किसी मुसलमान राजा ने विवाह के लिये याचना की। उस समय वहाँ के सब जैनी भाई संकट जानकर देश पार हो गये। कितने ही मर गये लेकिन भ्रष्ट नहीं हुए।

एक राजा की लड़की को सर्पदंश हुआ था। राजा ने यह घोषणा अपने नगर में करवा दी जो कोई मेरी पुत्री को निर्विष करेगा उसे मेरे आधे राज्य के साथ मेरी बेटी का विवाह

कर दिया जायेगा। किसी विदेशी राजपुत्र ने उसे निर्विष कर दिया। किन्तु उसके कुल का पता न होने से राजा को चिन्ता हुई। लड़की देता है तो कुलभ्रष्ट हो जाने का दुःख और नहीं देता तो वचन भ्रष्ट हो जाने का दुःख। आखिर एक देव ने विश्वास दिलाया कि यह लड़का उत्तम वंशीय राजकुमार है तब उस लड़की का विवाह उसके साथ कर दिया।

इस प्रकार इस दृष्टांत से हमको यह निश्चित करना है कि विजातीय/अंतर्जातीय तथा विधवा विवाह शास्त्र सम्मत तथा रूढ़ि सम्मत भी नहीं है। जो इस प्रकार से वर्ण संकर करता है वह उच्च कुल में जन्म लेकर भी अशुद्ध कहलाता है। शास्त्रों में उच्चगोत्री व्यक्ति यदि इस प्रकार धर्म बाह्य आचार अपनाता है तब उसके सत्ता में स्थित उच्चगोत्र का नीचगोत्र में संक्रमण हो जाता है, और ऐसे नीच गोत्री को दान पूजनादि का अधिकार नहीं होता और ऐसे व्यक्ति पंचायत द्वारा समाज से बहिष्कृत किये जाते थे। आज वह बन्धन टूट रहा है यह खेद की बात है। यदि कोई नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति उच्च आचरण भी करता है तो उसी भव में उसके नीच गोत्र का संक्रमण उच्च गोत्र में नहीं हो जाता। दिगम्बर महासभा का नियम सज्जातीयत्व की रक्षा करने वाला होने से उसकी यह एक विशेषता है।

एक ब्राह्मण ने मुस्लिम कन्या से विवाह किया। उनके पुत्र हुआ। तब पुत्र का सुन्ता करना या मौज करना इसका ठीक निर्णय नहीं हुआ। एक दिन एक ब्राह्मण ज्योतिषी उनके यहां रात भर रहा। ब्राह्मण का घर समझके उसके यहां रोटी भी खाई। फिर ब्राह्मण की बीवी पूछती है ज्योतिषी से कि महाराज मेरे लड़के का सुन्ता करना चाहिये कि मौज करना चाहिये। ब्राह्मण ज्योतिषी विचार करता है कि इन बच्चों का जो होगा सो होगा लेकिन इनके यहाँ रोटी खाई तो अब मेरा क्या होगा।

एक पुरुष एक भव में १00 स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता है लेकिन एक स्त्री एक भव में एक पति को ही वर सकती है। इसका कारण पुरुष एक साल में ३६५ बच्चों को पैदा करता है। स्त्री एक साल में एक ही बच्चे को जन्म दे सकती है। पुरुष छोड़ता है और स्त्री ग्रहण करती है। यह इन दोनों के शरीर रचना में फर्क है। सज्जातीयत्व की रक्षा किये बिना आगे के सप्त परम स्थान की प्राप्ति दुर्लभ है। अतः सभी श्रावकों को सज्जातीयत्व की रक्षा करनी चाहिए।

आजकल कुछ लोग सुधारवादीपनेका मुखड़ा ओढ़ के कुछ लोग सज्जातीयत्व को नष्ट करने में तुले हुए हैं वे धर्मद्रोही और विघ्न संतोषी है।

आगे गोत्र कर्म के कार्य को समझाते हैं।
संताण कमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥ (गोम्मटसार क. का.)

कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जीव का जो आचरण है उसकी गोत्र संज्ञा है, उस कुल परम्परा में उत्तम आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं। निंद्य आचरण का ही दूसरा नाम नीच गोत्र है।

एक सिंहनी ने सियाल का एक बच्चा बचपन से ही पाला था। वह सिंह बच्चों के साथ खेला करता था। एक दिन सब बच्चे किसी जंगल में गये। वहां एक हाथी था। सिंहनी के बच्चे जंगल से तुरन्त लौट गये और माता को सियाल की शिकायत की। कहने लगे इस सियाल के कारण हम हाथी की शिकार नहीं कर सके। माता सियाल को एक श्लोक कहती है, उसका मतलब यह है- अब हे बेटा! तू यहां से भाग जा अन्यथा तेरी जान खतरे में हैं।

श्लोक—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक॥
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥

अर्थ—हे पुत्र! तू शूरवीर है, विद्यावंत है। रूपवान् है, परन्तु जिस कुल में तू पैदा हुआ है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते।

भावार्थ—कुल का संस्कार अवश्य आ जाता है। चाहे वह विद्यादि से सहित हो। उस पर्याय में संस्कार नहीं मिटता।

अच्छे जमीन में अच्छा बीज बोया तो फसल अच्छी आती, उसी प्रकार रजोवीर्य की शुद्धि होने से ही योग्य संतान उत्पन्न हो सकती है जो देश, धर्म और राष्ट्र का उद्धार कर सकती है।

गोत्र शब्द की व्युत्पत्ति—

गां भूमिं योनिं भायान्ते इति गोत्राः।
सुष्ठु गोत्राः एषां त सुगोत्राः॥

सुगोत्री वही है जिनके यहाँ सूतक, पातक, रजस्वला का विचार किया जाता है। जिनके यहां का खान-पान, आचार-विचार शुद्ध है तथा विधवा विवाह और अंतर्जातीय विवाह का प्रचलन जिनमें नहीं है ऐसे उच्चगोत्री व्यक्ति ही मुनि दीक्षा के पात्र होते हैं और वे श्रावक ही आहारदान आदि कर सकते हैं।

भक्तामर स्त्रोत के २० वें श्लोक में लिखा है—"तेजो महामणिषु याति यथा महत्त्व नेवं तु काच शकले किरणाकुलेऽपि

अर्थ—जैसा तेज महारत्न में होता है वैसा तेज चमकदार कांच के टुकड़े में से नहीं मिलता उसी प्रकार उत्तम कुल वंश में उत्पन्न हुये बालकों में जो तेज रहता है वह नीच कुलोत्पन्न मनुष्य में नहीं रहता। अतः अपना कुल और जाति तथा आचार शुद्ध रहे ऐसा ही प्रयत्न करना

युक्त है।

महत्त्वपूर्ण सूचना—

गृहस्थों के सम्बन्ध में आचार्य श्री ने कहा—"गृहस्थ की मृत्यु होने के बाद शरीर के दाह हो जाने पर अवशेष हड्डी आदि को नदी में कभी न डालो। उस क्षार से बहुत जीव मर जाते हैं। जमीन में गड्ढा करके उस अवशेष को गाड़ देना चाहिये।" लोक रुढ़ि वश मृत व्यक्ति की अस्थि आदि का नदी आदि में डालने का सार्वजनिक प्रवृत्ति का धर्मात्माओं को अनुकरण नहीं करना चाहिये।

आर्यिका-आर्यिका है, श्राविका नहीं

❑ आर्यिका विशुद्धमति
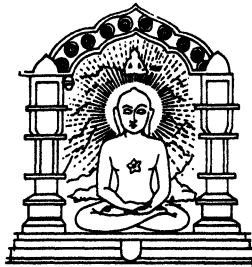
इस संसार में अनन्तानन्त जीव हैं। वे सब सुख चाहते हैं और दुःख से भयभीत होते हैं। सुख प्राप्ति का अनुपम उपाय है धर्म और धर्म का लक्षण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इनमें से प्रथम दो को पाने की योग्यता तो चारों गतियों में है किन्तु अन्तिम सम्यक्चारित्र मात्र कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों द्वारा ही धारण किया जा सकता है।

सम्यक् चारित्र के दो भेद हैं—१ सकल चारित्र और २ विकल चारित्र। विकल चारित्र उत्कृष्ट रूप में ऐलक, क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका के होता है और सकल चारित्र स्वरूप पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियरोध, छह आवश्यक और सात शेष गुण, २८ मूल गुण निर्ग्रन्थ मुद्राधारी दिगम्बर मुनिराज के होते हैं और २८ ही मूलगुण उपचार से आर्यिकाओं के होते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'दर्शनपाहुड़' और सूत्रपाहुड़ में तीन लिंग ही पूज्य कहे है—

> एक्कं जिणस्स रुवं वीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु।
> अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंग-दंसणं णत्थि॥१८, द. पा.॥

(एक जिनेन्द्र भगवान का रूप-नग्न दिगम्बर, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का रूप और तीसरा आर्यिकाओं का रूप-इस प्रकार जिन शासन में तीन ही लिंग कहे गये हैं। चौथा लिंग जिन शासन में नहीं है।

यहां क्षुल्लिका को उत्कृष्ट श्रावक पद में ही ग्रहण कर लिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द देव यदि आर्यिका को उत्कृष्ट श्राविका ही मानते तो गाथा में जैसे क्षुल्लिका का ग्रहण नहीं किया है वैसे ही आर्यिका का ग्रहण भी नहीं करते।

"मुन्यार्यिका-श्रावक-श्राविका-निवहःसंघ"—संघ की यह परिभाषा अनन्त प्रवाह से प्रवाहित होती आ रही है। भगवान जिनेन्द्र ने यदि आर्यिका को श्राविका ही कहा होता तो आचार्य "मुनि श्रावक-श्राविका-निवहः संघः" के रूप में संघ को परिभाषित करते जो कुन्दकुन्दाचार्य के वचनों (तीन लिंगों की धारणा) से विपरीत होता।

शंका 1.—यदि आर्यिका को श्राविका से भिन्न ग्रहण करने का उद्देश्य है तो उन्हें वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए और यदि आर्यिकाका बाना सवस्त्र ग्रहण किया गया है तो फिर उनके २८ मूलगुण नहीं मानने चाहिए।

समाधान—जैसे भगवान जिनेन्द्र ने मुनियों के लिए जो-जो मूलगुण कहे हैं उन्हीं को धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ साधु कहे जाते हैं वैसे ही भगवान जिनेन्द्र ने ही आर्यिका को वस्त्र धारण करने की और बैठ कर भोजन करने की आज्ञा प्रदान कर उन्हें उपचार से महाव्रती कहा है। यथा—

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
कुल-रूव-वओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा॥२२४-९ प्रवचनसार॥

टीका—तस्मात् कारणात् तत्प्रतिरूप वस्त्रप्रावरणसहितं लिंग चिन्ह् तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैः निर्दिष्टं कथितम्। ... ...युक्ता भवन्ति। काश्रामण्यार्यिकाः। पुनरपि किं विशिष्टाः? तासां स्त्रीणां योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्रविहित समाचार आचरणं यासां तास्तत्समाचारा इति॥२२४-९॥

अर्थात् स्त्रियों को उसी भव से मोक्ष नहीं होता है अतः सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने उन आर्यिकाओं का चिन्ह् वस्त्र आच्छादन सहित कहा है... आचार शास्त्र में उनके योग्य जो कहा गया है, उसको पालने वाली हों, ऐसी आर्यिकायें होनी चाहिए।

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने आर्यिकाओं को समणीओं अर्थात् श्रमणी संज्ञा दी है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा स्वरूप उपचार महाव्रत धारण करने वाली श्रमणी आर्यिका ही है, श्राविका नहीं।

उपचार महाव्रती होने के कारण मोक्ष प्राप्ति रूप निर्जरा आर्यिकाओं के नहीं बनती किन्तु वे सम्यग्दर्शन से शुद्ध (सम्यक्तवेन शुद्धाः) ग्यारह अंगों के ज्ञान से संयुक्त (एकादशांगसूत्राध्यय ने नापि संयुक्ता) और पक्ष एवं मासादि के उपवास द्वारा घोर चारित्र (घोरं पक्षोपवास मासोपवासादि चरित वा चारित्र) का आचरण करने वाली होती हैं।

आर्ष ग्रन्थों में भी आर्यिकाओं को ग्यारह अंगों का ज्ञान होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। यथा—

दु संसार स्वभावज्ञा सपत्नीभिः सितम्बरा।
ब्राह्मीं च सुन्दरी श्रित्वा प्रवव्राज सुलोचना॥५१॥

द्वादशांगगधरोजातः क्षिप्रं मेघेश्वरी गणी।
एकादशांगभृज्जाता साऽऽर्यिकाऽपि सुलोचना॥५२॥—हरिवंश पुराण सर्ग १२

(संसार के दुष्ट स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ सफेद वस्त्र धारण कर लिये और ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास जाकर दीक्षा ले ली। मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर बन गए और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगों की धारक हो गई।५१-५२।

दीक्षाविधि—'क्रियाकलाप' मे पृष्ठ ३३१ से ३४० पर्यन्त दीक्षा ग्रहण क्रिया का विवेचन किया गया है। यहां मुनि और आर्यिका की दीक्षाविधि एक है। वैसे मन्त्रोच्चारण में मात्र मुनि को

सम्बोधित किया गया है किन्तु क्षुल्लक दीक्षा विधि में स्पष्टतः ऐलक, क्षुल्लक और क्षुल्लिका को सम्बोधन है। (भो शुल्लक!) (आर्य-ऐलक!) क्षुल्लिके वा, पृठ ३३८) आर्यिका को नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आर्यिका की दीक्षा विधि मुनि के सदृश है। दीक्षा प्रदान करते समय आचार्यश्री मुनि एवं आर्यिका को निम्नलिखित प्रकार से २८ मूलगुण देते हैं। यथा—

वद-समिदिंदिय रोधो लोचावासयचेलमण्हाण्हं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।

पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेंद्रिय निरोध, षडावश्यक, लोच, नग्नत्व, अस्नान, अदन्तधावन, क्षितिशयन, खड़े-खड़े भोजन और एक बार भोजन-इन मूल गुणों को "सम्यक्त्वपूर्वकं, दृढव्रतं, सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु" इसको तीन बार बोल कर दीक्षार्थी को प्रदान करते हैं। पश्चात् सोलह संस्कार दीक्षार्थी पर आरोपित करते हैं। इतना विशेष है कि आर्यिका को दीक्षा देते समय आचार्यश्री यह समझा देते हैं कि नग्नत्व और स्थिति भोजन-मुनियों के इन दो मूलगुणों के स्थान पर एक मात्र एक साड़ी से शरीर संवृत करना और बैठकर आहार लेना-यही मूलगुण जिनेन्द्र देव ने आपके लिए कहे हैं।

शौच उपकरण के रूप में मुनि आर्यिका दोनों को काष्ठ का कमण्डल दिया जाता है।

क्षुल्लक—क्षुल्लिका की दीक्षा विधि में लिखा है कि—"लोचादिविधि महाव्रतवद् विधाय.... पाठित्वा व्रतं दद्यात्। यथा—

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य॥

दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक, प्रोषध, सचित त्याग, रात्रि भोजन त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग इन ग्यारह प्रतिमाओं को आरोपण करने के पश्चात् संस्कार आदि की अन्य क्रियायें होती हैं। वे उत्कृष्ट देशव्रती श्रावक कहलाते हैं। इतना विशेष है कि शौच उपकरण के रूप में ऐलक-क्षुल्लक को काष्ठ का और क्षुल्लिका को पीतल का कमण्डलु दिया जाता है। इन्हें वस्त्र भी दो (साड़ी के साथ एक चद्दर भी) दिये जाते हैं। इन्हें लोंच करना भी आवश्यक नहीं है। क्षुल्लिका करपात्र-आहार भी नहीं करती है

दीक्षानक्षत्रों में अन्तर—आर्यिका और क्षुल्लिका के दीक्षा-नक्षत्र भी भिन्न-भिन्न हैं। यथा—

अश्विनी पूर्वफाल्गुन्यौ, हस्तस्वात्यनुराधिकाः।
मूलं तथोत्तराषाढा, श्रवणः शतभिषक् तथा॥

उत्तराभाद्रपच्चापि दशेति विशदाशयाः।
आर्यिकाणां व्रते योग्यान्युषन्ति शुभहेतवः॥

आर्यिका को उपर्युक्त दश नक्षत्रों में शुभ कारणाभूत दीक्षा देना योग्य है। तथा—

भरण्यां कृत्तिकायां च पुष्ये श्लेषार्द्रयोस्तथा।
पुनर्वसौ च नो दद्युरार्यिका व्रतमुत्तमाः॥

उपर्युक्त छह नक्षत्रों में आर्यिका को उत्तम व्रत नहीं देने चाहिए अर्थात् आर्यिका दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

पूर्वाभाद्रपदामूलं घनिष्ठा च विशाखिका।
श्रवणश्चेषु दीक्ष्यन्ते, क्षुल्लकाः शल्यवर्जिताः॥

उपर्युक्त पांच नक्षत्रों में क्षुल्लक-क्षुल्लिका को दीक्षा देनी चाहिए।

इस अन्तर से भी यही सिद्ध होता है कि आर्यिका, आर्यिका है श्राविका नहीं। यदि आर्यिका श्राविका ही होती तो दीक्षा के लिए भिन्न-भिन्न नक्षत्रों अर्थात् मुहूर्तों का विधान न दर्शाया जाता।

समाचार विधि—

समः समानः सं सम्यगाचारो यः समैर्युतैः।
आचार्यत इति प्राज्ञेः स समाचार ईरित॥३॥ तः— आचारसार अध्याय-३

सम्=आचार अर्थात् सम्यक् प्रकार से मूलगुणों का आचरण अथवा साधु समाज का समान आचार आचरण समाचार है। अथवा मूलगुणों के अनुरूप आचरण को समाचार कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने योगादिक आचरण को छोड़ कर आर्यिकाओं का सम्पूर्ण समाचार मुनियों के समाचार के सदृश ही कहा है। यथा—

एसो अज्जाणं पिय सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सध्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जहा-जोग्गं॥६७॥ —मूलाचार

(पूर्व में मुनियों के समाचार का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही समाचार आर्यिकाओं का भी है। वृक्ष मूल, आतापन योग एवं अभ्रावकाश योग को छोड़ कर आर्यिकाओं की सम्पूर्ण क्रियाएं-रात्रि और दिवस सम्बन्धी-मुनियों की क्रियाओं की भांति ही होती हैं।)

"आचारसार" में वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी मुनियों और आर्यिकाओं की समाचर्या समान ही कही है—

लज्जाविनय वैराग्य सदाचारादि भूषिते।
आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह॥८१॥ —आचारसार अध्याय-२

(लज्जा, विनय, वैराग्य, सदाचारादि से भूषित आर्यिकाओं के समूह में विधि संयतों के समान ही है परन्तु आतापन योगादि कुछ विधि आर्यिकाओं के नहीं है।)

यदि आर्यिका, श्राविका ही होती तो कुन्दकुन्दाचार्य एवं वीरनन्दि आचार्य अज्जाणं तथा आर्या पदों के स्थान पर सावियाओं पद डालते। यहाँ से दोनों पद स्पष्टतः सिद्ध कर रहे हैं कि जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट मूलगुणों से युक्त आर्यिका है उत्कृष्ट श्राविका नहीं।

प्रायश्चित्त विधि—प्रायश्चित्त ग्रन्थों में कुछ विशेष प्रायश्चित्त अंशों को छोड़कर मुनि एवं आर्यिका का प्रायश्चित विधान भी एकसा ही है जब कि क्षुल्लकादि का उनसे आधा है—

> साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च।
> दिनस्थानत्रिकालोनं, प्रायश्चित्तं समुच्यते॥११४॥ —प्रायश्चित चूलिका

(प्रायश्चित शास्त्र में जैसा प्रायश्चित साधुओं के लिये कहा है वैसा ही आर्यिकाओं के लिए भी कहा गया है। विशेष इतना है कि दिनप्रतिमा, त्रिकालयोग (अथवा ग्रन्थान्तरों के अनुसार) पर्याय छेद, मूल स्थान तथा परिहार ये प्रायश्चित आर्यिकाओं के लिए नहीं हैं॥१२४॥)

आचार्य परमेष्ठी के समक्ष पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण के बाद चतुर्विध संघ के द्वारा जो प्रायश्चित ग्रहण किया जाता है, उसमें भी मुनि और आर्यिका की विधि समान ही है तथा क्षुल्लक और क्षुल्लिका की विधि समान है।

ये प्रायश्चित विधियां भी यही सिद्ध करती हैं कि आर्यिका-आर्यिका है श्राविका नहीं।

शंका २ : आर्यिका महाव्रती कैसे है?

समाधान : यह पहले ही कहा जा चुका है कि जिनेन्द्र देव ने आर्यिकाओं को वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी है और उन्हें उपचार महाव्रती कहा है।

'तिलोयपण्णत्ती' में यतिवृषभाचार्य ने चौबीस तीर्थंकरोंकी प्रमुख (गणिनी) आर्यिकाओं के नाम निर्देश करते हुए उन्हें सव्व-विरदीओ पद से अभिहित किया है—

> बम्हप्पकुज्जाणामा धम्मसिरी मेरुसेण-अयणंता।
> तह रतिसेणा मीणा रुणा घोसा य धारणा य।११७८।
> चारण वरसेणाओ पम्पा सव्वस्सि सुव्वदाओ वि।
> हरिसेण भावियाओ कुंथूमहुसेण पुव्वदत्ताओ।११७९।
> मग्गिणि-जक्खिं-सुलोया चंदणणामाओ उसपहुदीणं।
> एदा पढमगणीओ एक्केक्का सव्वविरदीओ।११८०। —चतुर्थमहाधिकार

ब्राम्ही, प्रकुब्जा, धर्मश्री, मेरूषेणा, अनन्ता, मीना, वरूणा, घोषा, धरणा, चारणा, वरसेना, पद्मा, सर्वश्री, सुव्रता, हरिषेणा, भाविता, कुन्थुसेना, मधुसेना, पूर्वदत्त, मार्गिणी, यक्षिणी, सुलोका और चन्दना नाम वाली ये सव्वविरदीओ अर्थात् आर्यिकाएं क्रमशः ऋषभादिक के तीर्थ में रहने वाली आर्यिकाओं के समूह में प्रधान थीं।)

आर्यिकाएं महाव्रती कैसे होती है? इसके उत्तर में आचार्य वीरनन्दि कहते हैं—

देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यन्ते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः।।८९।। भ. आ. आचारसार/अध्याय २

(बुद्धिमानों के द्वारा उन आर्यिकाओं की सज्जाति की ज्ञप्ति के लिए उपचार से महाव्रत आरोपित किये जाते हैं।।८९।।)

आचार्यश्री के उपर्युक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि जिनके मात्र देशव्रत हैं वे उत्कृष्ट श्राविका हैं और जिनके महाव्रतों का आरोपण किया जाता है वे आर्यिकाएं होती हैं, श्राविकाएं नहीं।

शंका ३: महाव्रतों का आरोपण हो जाने पर भी आखिर है तो पंचम गुणस्थान ही और पंचम गुणस्थान वाला तो श्रावक ही होता है अतः आर्यिका उत्कृष्ट श्राविका है।

समाधान : पंचम गुण स्थान होते हुए भी जिस प्रकार दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा और सामायिक आदि प्रतिमाधारी श्रावक, श्राविका ही है क्षुल्लक नहीं। कोपीन और खण्डवस्त्रधारी क्षुल्लक, क्षुल्लक ही है ऐलक नहीं, उसी प्रकार उपचार महाव्रती आर्यिका, आर्यिका ही है श्रविका नहीं।

जहां-जहां पंचम गुण स्थान है वहां-वहां श्रावक संज्ञा ही है, यदि ऐसी व्याप्ति लगाई जावेगी तो चरणानुयोग का लोप हो जायेगा क्योंकि द्रव्यलिंङ्ग दो प्रकार का होता है—(१) मिथ्यात्वयुक्त द्रव्यलिङ्ग और (२) सम्यक्त्व सहित द्रव्यलिङ्ग। छठे-सातवें गुणस्थान में विचरण करने वाले जो भावलिंङ्ग मुनिराज प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से पांचवे गुण स्थान में वर्तन कर रहे हैं उनके उस समय यद्यपि पंचम गुणस्थान है तथापि वे उस काल में भी वस्त्रधारी श्रावक सदृश श्रावक नहीं हैं। अपितु (सम्यक्तव युक्त द्रव्यलिङग) मुनिराज ही हैं।

प्रथम गुणस्थान में वर्तन करने वाले द्रव्यलिंङ्ग मुनिराज भी श्रावक नहीं है। यदि उन्हें श्रावक मान लिया जायेगा तो वे नौ ग्रैवेयकों में प्रवेश नही पा सकेंगे और श्रावक संज्ञा वाले भी ग्रैवेयकों में जा सकेंगे परन्तु ऐसा होता नहीं; करणानुयोग इसे स्वीकार नहीं करता।

शंका ४ : क्या आर्यिका को महाव्रती एवं श्रमणी भी कहते हैं?

समाधान : आधुनिककाल में कई लोगों की श्रद्धा जिनेन्द्रदेव की वाणी पर नहीं है। वे प्रथमानुयोग देखते ही नहीं और यदि कोई उनके प्रमाण प्रस्तुत करे भी तो उन्हें आलङ्कारिक भाषा मान कर उन प्रमाणों की उपेक्षा कर देते हैं। अतः ऐसी शंकाएं जन्म लेती हैं।

ब्राह्मी, सुन्दरी, सुलोचना, सीता और चन्दना आदि आर्यिकाएं तीर्थंकरों के समवसरण में साक्षात् विद्यमान रही हैं और उन्हें आचार्यों ने महाव्रती, श्रमणी तथा सद्व्रती आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया है—

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासि जिणेहि णिद्दिठं।
कुलरूवं वओ जुत्त समणीओ तस्समाचारा।।२२४-९।।— द्रव्यानुयोग (प्र.सा.)
णभपणादुछपंचंबर पंचक कमेण तित्थकत्ताणं।

सव्वाणं विरदीओ चंदुज्जल णिक्कलंक सीलाओ।११८८।— क. यो. (ति.प.)

मौनेनाटन्ति भिक्षार्थं वृद्धार्यान्तरिता गृहान्।
अन्योन्य परिरक्षानुकूलवृत्ति परायणाः।।८३।। चरणानुयोग

...........।अज्जा संसग्गीए..................।।३३१।।

अज्जा गमणे काले.......................।।१७७।। —मूलाराधना

कुन्ती च द्रौपदी देवी सुभद्राद्याश्च योषितः।
राजीमत्याः समीपे ताः समस्तास्तपसि स्थिताः।१४४। प्रथमानुयोग —ह. पु. सर्ग ६४

ततो दिव्यानुभावेन सा विघ्न परिवर्जिता।
संवृता श्रमणा साध्वो वस्त्रमात्रपरिग्रहाः।।७९।।

महाव्रता पवित्राङ्ग, महासंवेग सङ्गना
देवासुर समायोगं, ययौ चोद्यानमुत्तमम्।८०। पद्मपुराण पर्व १०५

बाह्यालङ्कार मुत्तपि वस्त्रमात्र परिग्रहाः।
आर्या रराज वैदेहो रविमूर्त्त्येव संयता।।१०३।। —पद्मपुराण पर्व १०९

तदनुंयाथिविधि श्रमणी वर्यायाः पद्मार्यायाः सकार्शेदीक्षिष्ट। श्रमणी नाग्रगण्या पद्मार्या विजयासुनन्दाभ्यां विश्राणित—

श्रमणीपदा नभसो निपतिता रत्नवृष्टिरिव प्रव्रज्या न प्रतिषेध्येति महीनार्थ बोधयामास।

—जीवंधरचम्पू लम्ब ११, पृ. २२०

........विषीदन्मातृभ्यां विशिष्टं तत्संयमं विश्राणितवत्या श्रमणीश्रेष्ठया.......पुनः पुनः प्रगह्लम पादं प्रसवित्रयोः.......।

गद्यचिन्तामणि। लम्ब ११, पृ. ४००

हरिकान्तार्यिकायाश्च पार्श्वं गत्वा समम्भ्रमम्।
प्रव्रज्या साऽकरोद्‌बाला तपः परमदुष्करम्।।१५२।।

लुञ्चनोत्थित संरूक्षमूर्द्धजा मांसवर्जिता।

प्रकटास्थिसिराजाला तपसा शुष्कदेहिका।।१५३।। पर्व १०६, पद्मपुराण

दीक्षा ग्रहण करने के बाद सीता के कठोर तपश्चरण का वर्णन करते हुए आचार्य श्री ने 'पद्मपुराण' में लिखा है—

तपसाशोसितासाऽभूतसीतादग्धेवमाधवी।।७।।

महासंवेगसम्पना, दुर्भातावपरिवर्जिता।
अत्यन्तनिन्दितंस्त्रीत्वंचिन्तयन्तीसतीतदा।।८।।

संसक्त-भू-रजो-वस्त्र-बद्धोरस्कशिरोरूहा।

अस्नानस्वेद सञ्जात-मल-कञ्चुकधारिणी।।९।।

अष्टमार्द्धत्तु-कालादि-कृतशास्त्रोक्त पारणा।
शीलव्रत गुणसक्ता, रत्यरत्यपवर्जिता।।१०।।

अध्यात्म नियतात्यन्तं, शान्ता स्वान्तवशात्मिका।
तपोऽधि कुरूतेऽत्युग्रं, जनान्तरसुदुःसहम्।।११।।

अन्यथात्वमिवानीता, तपसा साधुचेष्टिता।
नात्मीय परकीयेन, जनेनाज्ञायि गोचरे।।१५।। पद्मपुराण। पर्व १०९

उपर्युक्त अवतरणों में पर्व १०६ के श्लोक १५३ में आया हुआ 'लुञ्चन' शब्द, मूल १०९ के श्लोक ९ में आया हुआ 'अस्नान' शब्द आर्यिकाओं के मूल गुणों को सिद्ध करते हैं।

जिस समय रामचन्द्रजी ने दीक्षा ली उस समय सत्ताईस हजार स्त्रियों ने श्रीमती श्रमणी के पास आर्यिका दीक्षा ली थी—

सप्तविंश सहस्राणि प्रधानवरयोषिताम्।
श्रीमती श्रमणी पार्श्वे बभूवुः परमार्यिकाः।।४२।। —पद्मपुराण। पर्व ११९

शंका ५ : आर्यिकाए महाव्रती मुनिराजों की भाँति उपसर्ग विजयी नहीं होतीं अतः वे श्राविकाएँ ही हैं।

समाधान : जिनकी श्रद्धा जिनेन्द्र के वचनों पर तथा आचार्यों की वाणी पर है उनके लिए तो कृष्ण की छोटी बहिन का दृष्टान्त ही पर्याप्त है। अपनी चपटी नासिका देखकर उसने दीक्षा धारण करली और कोमल-कोमल उंगुलियों से केश-लोंच कर लिये—

व्यपहृतभूषणस्त्रणियमात्मकरांगुलिभि—र्निकचित केशभार निखिलोत्खननं तु तदा

प्रविदधती बभौ कुसुम कोमलबाहुलता,
स्फुटमिव धी-कुटी कुटिल-शल्य-कुलोद्धरणम्।।२२।।—हरिवंशपुराण। सर्ग १४९

एक बार वह आर्यिका अन्य आर्यिकाओं के साथ तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा और निर्वाण कल्याणक की भूमियों में विहार करती हुई विन्ध्याचल के विशाल वन में जा पहुंची। निर्विकल्प चित्त को धारण करती हुई प्रतिमा तुल्य वह आर्यिका एक रात किसी मार्ग के निकट ध्यानस्थ विराजमान हो गई। थोड़ी देर बाद वहाँ एक सिंह ने आकर घोर उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया। उपसर्ग देख उन्होंने बड़े शान्त भाव से समाधि धारण कर ली। जीवन भर के लिए आहार-जल का त्याग कर दिया और ध्यानस्थ अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्ग गई। सिंह ने अपने नख, दांत और डाढ़ों से उनका शरीर विदीर्ण कर दिया तथापि उन्होंने गृहीत समाधि नहीं छोड़ी—

प्रशम समाधिमागनशन-स्थितिमामरणा—
दुपगत पुण्डरीकाद्दुरूपप्लव-चण्डतया
स्वयमुपपद्य सा दिवमगात्प्रतिमाप्त-मृति—
र्मधुमथन-स्वसा स्खलति न स्थितितः सुजनः।।३०।।

नख-मुख-दंष्ट्रिका-विकटकोटिविपाटितया,
यदपि कलेवर-खण्ड मुपार्जित-धर्मतया
मृतिमितया विमुक्तमविमुक्त समाधितया।
....।।३१।। —हरिवंश पुराण। सर्ग १४९

इस प्रकार सिंह जैसे हिंसक जीवों के उपसर्ग से भी चलायमान न होने वाली आर्यिकाएँ हो चुकी हैं। वर्तमान काल में भी वे अनेक परीषह सहन करती हैं तथा समाधि धारण कर शरीर का परित्याग करती हैं।

शंका ६ : जैनेन्द्री दीक्षा के अभाव में आर्यिकाएँ पूज्य कैसे हो सकती हैं?

समाधान : भगवान जिनेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट दीक्षा से आर्यिका दीक्षा भी जैनेन्द्री दीक्षा है।

शंका ७ : प्रमाण के अभाव में उपर्युक्त समाधान कैसे ग्रहण किया जा सकता है?

समाधान : अग्नि परीक्षा के बाद जब श्री रामचन्द्रजी ने सीताजी से घर चलने का विशेष आग्रह किया तब सीताजी ने उत्तर दिया कि—

योनिलक्षाध्वसंक्रान्त्या खेदं प्राप्ताऽस्म्यनुत्तमम्।
साहं दुःखक्षयाकाङ्क्षा, दीक्षां जैनेश्वरीं भजे।।७५।। —पद्मपुराण। पर्व १०५

(हे बलभद्र! लाखों योनियों के मार्ग में भ्रमण करती-करती इस भारी दुःख को प्राप्त हुई हूँ। अब मैं दुःखों का क्षय करने की इच्छा से जैनेश्वरी दीक्षा धारण करती हूँ।।७५।।

यही कारण है कि बलभद्र और नारायण जैसे महापुरूष भी आर्यिकाओं की पूजा, वन्दना एवं स्तुति आदि करते हैं।

> नमस्कारं जिनेन्द्राणां विधायार्यिकाजनस्य च।
> सकाशे वरधर्माया गणपाल्याः सशस्त्रिकाम्।।९५।।—पद्मपुराण। पर्व ३७

(राम और लक्ष्मण ने आर्यिकाओं से सहित जिनमन्दिर देखा और भीतर प्रवेश कर जिनेन्द्र भगवान तथा आर्यिकाओं को नमस्कार किया। वहां वरधर्मा गणिनी के पास अपने सब शस्त्र छोड़े।।९५।।

सीता की दीक्षा के बाद सकलभूषण केवली का उपदेश सुन कर जब राम और लक्ष्मण आर्यिका सीता के पास गये तब दोनों ने उनको नमस्कार किया—

> अथ स्वाभाविकीं दृष्टिं विभ्राणः सहसम्भ्रमः।
> अधिगम्य सतीं सीतां, भक्तिस्नेहान्वितोऽनमत्।।४१।।
>
> नारायणोऽपि सौम्यात्मा, प्रणम्य रचिताञ्जलिः।
> अभ्यनन्दयदार्यां तां पद्मनाभमनुब्रुवन्।।४२।। —पद्मपुराण। पर्व १६१

(अथानन्तर.........राम ने सीता के पास जाकर भक्ति और स्नेह के साथ उसे नमस्कार किया। राम के साथ लक्ष्मण ने भी हाथ जोड़ प्रणाम कर आर्यिका सीता का अभिनन्दन किया।)

मात्र इतना ही नहीं अपितु राम-लक्ष्मण ने आर्यिका सीता से कहा कि अब आप हम सबकी वन्दनीय हो—

> धन्या भगवति! त्वं नो वन्द्या जाता......।।४३।।—पद्मपुराण। पर्व १६१

जिस समय नारायण कृष्ण की छोटी बहिन ने सुव्रतगणिनी के पास दीक्षा ग्रहण की उस समय उन्होंने भी सकुटुम्ब, नवदीक्षित आर्यिका की पूजा की। "स्वःजन कृताभि निष्क्रमण पूजनिकां जनिकां पुरूतपसां लवसंयतिकां हि तकाम्"।।२४।। हरिवंशपुराण। सर्ग १४९

इस प्रकार आर्यिका महापुरूषों से भी पूज्य रही है और शायद इसी कारण आचार्यों ने आर्यिकाओं की नवधा भक्ति का विवेचन पृथक् रूप से नही किया है।

आर्यिका आर्यिका ही है, उत्कृष्ट श्राविका नहीं। इसी तत्थ को पुष्ट करने के लिए ही कुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि आर्यिका देशविरत अर्थात् क्षुल्लक-क्षुल्लकादि को नमस्कार न करे।

> णो वंदेज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं व।
> देसविरद देवं वा विरदो पासत्थ पणगं वा॥११२॥—मूलाचार। अधिकार ७

(आर्यिकाएँ अपने माता-पिता, शिक्षा गुरु आदि असंयत-जनों की वन्दना नहीं करती हैं और

न चारित्रहीन मुनि-आर्यिका की वन्दना करती हैं। वे राजा, तापसी अथवा विद्वान् एवं क्षुल्लक-क्षुल्लिका की भी वन्दना नहीं करती हैं।)

शंका ८ : ऐलक एवं क्षुल्लकादि उस कोपीनादि का त्याग कर सकते हैं। वे उसे ममत्व भाव से धारण किए हुए हैं जबकि आर्यिका साड़ी का त्याग करने में असमर्थ है अतः भगवान जिनेन्द्र की आज्ञानुसार एक साड़ी रखते हुए भी आर्यिका देशाविरतों के द्वारा पूज्य हैं।

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतं।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति॥३६॥ अ. ८।

(आश्चर्य है कि ऐलक-उत्कृष्ट श्रावक लंगोटी मात्र में ममत्व भाव रखने से उपचरित भी महाव्रत के योग्य नहीं है और आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से उपचरित महाव्रत के योग्य होती है॥३६॥)

इस प्रकार जब एक लंगोटी मात्र धारण करने वाले ऐलक से भी आर्यिका का पद श्रेष्ठ है तब वह क्षुल्लिका सदृश उत्कृष्ट श्राविका कैसे कही जा सकती है?

कुन्दकुन्दाचार्य ने तो आर्यिकाओं को मुनियों के समान जगत्पूज्य कहा है—

एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
जे जगपुज्जं कीर्त्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति॥७६॥

(समाचर्या अधिकार का उपसंहार करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि इस प्रकार अनुष्ठान करते हुए मुनि और आर्यिकाएँ जगत्पूज्य होते हैं, यश और सुख प्राप्त करते हैं तथा उसी भव एवं अगले भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं।)

इतने सुस्पष्ट प्रमाण प्राप्त होने पर भी यदि किसी के मन में यह अटक बनी रहे कि आर्यिका की नवधा भक्ति नहीं करनी चाहिए तो यही मानने को विवश होना पड़ता है कि आगम पर उसकी श्रद्धा नहीं है।

शंका ९ :

सुता चेटकराजस्य कुमारी चन्दना तदा।
धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणां पुरः सरी॥७०॥ हरि. पु.॥ तथा

....."शुक्लैकवस्त्रावृता" आदि आर्षवाक्यों से यही सिद्ध हो रहा है कि आर्यिकाएं एक साड़ी धारण करती हैं, फिर भी आर्यिकाएँ दो साड़ियाँ रखती हैं?

समाधान : एकवस्त्रावृता और एकाम्बरसंवीता पदों का यह अर्थ है कि वे शरीर पर एक समय में एक ही वस्त्र धारण करें। शीतकाल में या शीतज्वर आदि आ जाने पर भी वह दूसरी साड़ी का उपयोग न करें। जब एक साड़ी उतार दें तभी दूसरी धारण करें। यदि साड़ी एक ही होगी तो दूसरे दिन निरावरण अर्थात् नग्न रहना पड़ेगा, जो आगमाज्ञा के विरूद्ध है क्योंकि

जिनेन्द्र भगवान ने "वस्त्रप्रावरण सहित लिङ्ग चिन्ह् स्त्रीणां" निर्दिष्ट किया है।

शंका १० : क्या आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी आर्यिकाओं को दो साड़ियां रखने का आदेश दिया है?

समाधान : हाँ! कुन्दकुन्दाचार्य देव ने 'सूत्र पाहुड़' में आर्यिकाओं के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

लिंगं इच्छीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ॥२२॥

(तीसरा लिङ्ग स्त्रियों का है। इसे धारण करने वाली आर्यिकाएं दिन में एक ही बार आहार करती हैं, एक वस्त्र धारण करती हैं तथा वस्त्र के आवरण सहित आहार करती हैं॥२२॥)

उपर्युक्त गाथा में एक्कवत्था पद यह सूचित करता हैं कि आर्यिका एक समय में एक ही वस्त्र धारण करती है तथा वत्थावरणेण भुंजेइ पद यह आदेश देता है कि आर्यिका वस्त्रावरण पूर्वक ही आहार करे, नग्न रह कर नहीं।

आवरण सहित आहार करने का यह आदेश दो साड़ियों के अस्तित्व को स्वतः प्रकट करता है। यदि आपके मतानुसार एक ही साड़ी रखी जाएगी तो दूसरे दिन आवरणरहित दशा में ही आहार ग्रहण करना पड़ेगा क्योंकि वर्षा आदि के दिनों में वह शीघ्र सूख नहीं सकती और आर्द्र साड़ी पहनी नहीं जा सकती क्योंकि गीले वस्त्रों में अन्तमुहूर्त के भीतर ही अनन्तानन्त जीवराशि उत्पन्न हो जाती है।

यदि एक ही साड़ी रखने का विधान मान्य किया जावेगा तो फिर जैनाभासों के समान बिना शुद्धि किये ही आहार ग्रहण करना पड़ेगा अथवा जब तक साड़ियाँ नहीं सुखेंगी तब तक आर्यिकाओं को नग्नावस्था में बैठना पड़ेगा। यदि संघ में २०-२५ आर्यिकाएँ हों तो क्या वे सब एक कमरे में एक साथ निरावरण बैठेंगी? सबको अलग-अलग कमरा मिलना तो सम्भव नहीं है। निरावरण दशा में साड़ियां सुखाने या उठाने कैसे बाहर जा सकेंगी? कैसे उन्हें धो सकेंगी? आदि अनेक प्रश्न उठ खड़े होंगे।

उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि आर्यिका दो साड़ियां रखती हैं परन्तु एक समय में एक को ही शरीर पर धारण करती हैं।

शंका ११ : यदि ऐसा है तो वे दो से अधिक भी तो रख सकती हैं। हाँ, पहनेंगी एक समय में ही, संग्रह भले ही अनेक का करके रखें।

समाधान : नहीं, सिद्धान्त ऐसा नहीं है। जिनेन्द्र भगवान ने दो साड़ियों से अधिक का आदेश नहीं दिया है। यदि आर्यिका को दो से अधिक साड़ियों का विकल्प होता है तो उसे प्रायश्चित लेकर अपने दोषों की शुद्धि करना आवश्यक है—

वस्त्रयुग्मं सुवीभत्स लिंङ्ग प्रच्छादनाय च।
आर्याणांसङ्कल्पेन, तृतीय मूलमिष्यते॥११९॥—प्रायश्चित्त चूलिका।

(आर्यिकाओं को अपने गुप्त अंग ढकने के लिए, दो वस्त्र रखने चाहिए। इनके अलावा तीसरा वस्त्र रखने पर उनके लिए पंचकल्याणक प्रायश्चित कहा गया है।)

शंका १२ : पंचकल्याणक प्रायश्चित किसे कहते है?

समाधान : पांच आचाम्ल, (कौंजिक अर्थात् सौवीर से रहित भोजन), पाँच निर्विकृति (नीरस आहार), पाँच गुरुमण्डल, पाँच एक स्थान (एकाशन) और पाँच उपवास—इन्हें निरन्तर अर्थात् व्यवधान रहित करने को पंचकल्याणक प्रायश्चित कहते हैं।

इससे यही बात प्रकट होती है कि आर्यिकाओं के लिए दो साड़ियों का होना तो परमावश्यक है और इससे अधिक रखने पर इतने बड़े प्रायश्चित्त से उस अपराध की शुद्धि होती है।

शंका १३ : चेलना की बहिन ज्येष्ठा ने कुमारी अवस्था में ही दीक्षा धारण कर ली थी। रजस्वला अवस्था में उन्हें जंगल में भेज दिया गया था। उनके पास एक ही साड़ी थी। शुद्धि करने हेतु उन्होंने साड़ी धोकर सुखा दी, उसी समय वहां से सात्यकी मुनिराज निकले। निर्वस्त्रा ज्येष्ठा को देखकर वे विचलित हो गए जिससे रुद्र की उत्पत्ति हुई। यदि उनके पास दो साड़ियाँ होती तो यह दुर्घटना कैसे घटती?

समाधान : कोई भी आर्यिका किसी भी अवस्था में एकाकी नहीं छोड़ी जाती क्योंकि "दो तीण्णि वा अज्जाओ वहुगीओ वा सहत्थिंति" के अनुसार दो, तीन या बहुत आर्यिकाओं को एक साथ रहने की आज्ञा है; फिर रजस्वला अवस्था में तो वे मौन रखती हैं, उस असमर्थ अवस्था में आर्यिका को सर्वथा एकाकी छोड़ देना या उसका सर्वथा एकाकी रहना अत्यन्त असम्भव है।

आचार्य वीरनन्दी ने 'आचारसार' में कहा है—

द्वयाद्याः समं वसन्त्यार्या गृहस्थासङ्कराश्रये।
तद्गृहानतिदूरातिसमीपेऽवद्यवर्जिते॥८२॥ अध्याय।२।

(आर्यिकाओं का निवास स्थान गृहस्थों से अमिश्रित, सावद्य रहित तथा गृहस्थों के घरों से अति दूर और न अति निकट हो।)

इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यिकाएं जंगल, गिरी-गुफा, कोटर आदि में नहीं रहती है। उनके पास साड़ियाँ भी दो होती हैं। एक समय में एक ही साड़ी धारण करती हैं, दूसरी साड़ी स्वयं साथ लेकर भी नहीं चलती, संघस्थ श्राविकाएँ ही उस दूसरी साड़ी को सँभालती हैं। इन सब नियमों को देखते हुए लगता है कि उपर्युक्त शंका में जो रुद्र की उत्पत्ति कही गई है वह कपोलकल्पित है।

शंका १४ : रुद्र की उत्पत्ति का यथार्थ इतिहास क्या है?

समाधान : 'आराधना कथाकोष' में सात्याकि रुद्र की कथा इस प्रकार आई है—

सा ज्येष्ठाभरणव्याजाद्वंचिता दुःखिता सती।
यशस्वत्यार्यिकापार्श्वे, दीक्षां जग्राह भक्तितः॥९॥

सात्यकेस्तस्य सा ज्येष्ठा पूर्वं दत्तास्ति वाक्यतः।
तस्य दीक्षां समाकर्ण्य सात्यकिस्तु विरक्तधीः॥१०॥

एकदा वर्धमानस्य श्रीमत्तीर्थंकरेशिनः।
वन्दनार्थं प्रगच्छन्त्यो यशस्वत्यार्यिकादयः॥१२॥

महाटव्यामकालोत्थ-वृष्ट्या ताः पीडितास्तराम्।
इतस्ततो गताः कष्टं प्रावृट्काले हि दुःसहः॥१३॥

ज्येष्ठा कालगुहामध्यं संप्रविश्य स्ववाससः।
चक्रे निपीडनं चित्ते मत्वैकान्तं निजेच्छया॥१४॥

अन्धकारे स्थितस्तत्र सात्यकिः स मुनिस्तदा।
तां दृष्ट्वा विह्वलीभूतमानसोजनि पापतः॥१५॥

तद्वपुर्वह्निना मूढः स्वकीयं शीलरत्नकम्।
भस्मीचकार हा कष्टं कामान्धः किं करोति न॥१६॥

ततस्तदिङ्गितं ज्ञात्वा यशस्वत्यार्यिका सती।
नीत्वा तां चेलिनीपार्श्वेस्थापयामास शुद्धधीः॥१७॥

प्रच्छन्न च तया ज्येष्ठा चेलिन्या स्वगृहे धृता।
सद्दृष्टयः प्रकुर्वन्ति दर्शनच्छादनं महत्॥१८॥

सा ज्येष्ठा नवभिर्मासैः प्रसूता तनुजं ततः।
चेलिन्यास्तनुजो जातः श्रेणिकेनेति घोषितम्॥१९॥

(गणिनी यशस्वती आर्यिका अनेक आर्यिकाओं के साथ श्री वर्धमान स्वामी की वन्दना हेतु जा रही थी। विहार करते हुए संघ महा भयंकर अटवी में जा पहुंचा। उसी समय अनायास भयंकर वर्षा हुई जिससे त्रस्त हुआ संघ इधर-उधर बिखर गया। आर्यिका ज्येष्ठा को काल नामक गुफा दिखाई दी वह उसमें प्रविष्ट हुई और उसने एकान्त समझ कर निश्चिततापूर्वक साड़ी खोली तथा उसे निचोड़ने लगी। उसी गुफा में सात्यकि मुनिराज विराजमान थे...।)

रुद्र की उत्पत्ति का यही यथार्थ इतिहास है। यह कथा पढ़ने से सम्यग्दर्शन को पुष्ट करने वाली दो शिक्षाएँ और भी मिलती है कि (१) ज्येष्ठा को गर्भवती जान कर गणिनी यशस्वती

आर्यिका उन्हें लेकर स्वयं रानी चेलना के पास गई और बिना अपवाद किये उन्हें गुप्त रूप से चेलना को सौंप आई। (२) ज्येष्ठा को पुत्र उत्पन्न होने पर राजा श्रेणिक ने यह प्रकाशित किया कि रानी चेलनी के पुत्र उत्पन्न हुआ है।

सम्यग्दृष्टि भव्य प्राणी ही इस प्रकार धर्म की रक्षा कर सकते हैं एवं उसमें उत्पन्न होने वाले अपवाद का निराकरण कर सकते है, अन्य नहीं।

शंका १५ : जिनेन्द्रों के समवसरण में आर्यिकाओं के बैठने के कोठे अलग नहीं हैं, उनके बैठने की व्यवस्था श्राविकाओं के साथ ही हैं; इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यिकाएँ श्राविकाएँ ही है।

समाधान : समवसरण का वर्णन करते हुए आचार्यो ने क्षुल्लिका और श्राविका का विभाजन अलग-अलग नहीं किया है, सम्मिलित ही किया है। हाँ, आर्यिकाओं की संख्या का उल्लेख पृथक् अवश्य किया हैं–

'सावगी-संखा सव्वा छण्णउदि-लक्खाई।।११८३।। तिलोयपण्णत्ती। अधिकार-४

सर्व तीर्थंकरों के समवसरण में श्राविकाओं की सम्मिलित संख्या छियानवे लाख (९६,00,000) थी। इसी प्रकार–

णभ-पणादुछ्र पंचबर-पंचक-कमेण तित्थकत्ताणं।
सव्वाणं विरदीओ चंदुज्जलणिक्कलंक सीलाओ।११८८। ति. प. । अ. ४

सब तीर्थंकरों के तीर्थ में चन्द्र के समान उज्जवल एवं निष्कलंकशील से संयुक्त समस्त आर्यिकाओं की संख्या ५0,५६,२५0 लाख थी। ।।११७७।।

इस प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर के समवसरण में मुनि, आर्यिका, श्राविका और श्राविकाओं की संख्या 'तिलोयपण्णत्ती' के चतुर्थ महाधिकार में भिन्न-भिन्न दर्शाई गई है।

मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ गंगा के प्रवाह की भाँति अनादिकाल से प्रवाहित है। जो भव्य प्राणी चतुर्गतिरूप संसार के परिभ्रमण से मुक्त होना चाहते है, उन्हें चतुर्विधसंघ में अपूर्व वासल्यभाव रखना चाहिए। यही बात कुन्दकुन्दाचार्यदेव 'मूलाचार' के पांचवे अधिकार की ६६ वीं गाथा में कह रहें है जिसे वसुनंदी सिद्धान्त चक्रवर्ती अपनी टीका में विशेष स्पष्ट करते हैं–

चादुव्वण्णे संघे चदुगदि संसार णित्थरणभूदे।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धि।।६६।।–मूलाचार। अध्याय ५

टीका–चातुर्वणे-ऋष्यार्यिका-श्रावक-श्राविका समूहे संघ चतुर्गतिसंसार निस्तरणभूते नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु यत्संसरणं भ्रमणं तस्य विनाश हेतौ वात्सल्यं कर्तव्य यथा नवप्रसुता गौर्वत्से स्नेहं करोति। एवं वात्सल्यं कुर्बन् दर्शनविशुद्धो भवति। वात्सल्यंच कायिक वाचिक मानसिक

अनुष्ठानैः सर्वप्रयत्नेन उपकरणोषधाहारावकाश शास्त्रादि दानैः संघे कर्तव्यमिति।।६६।।

(चतुर्गति के दुःखों से मुक्ति पाने हेतु मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ को वात्सल्यभावपूर्वक उपकरण, औषधि, आहार, वसतिका एवं शास्त्र आदि प्रदान कर इसका संरक्षण और संवर्धन करना चाहिए। सम्यक्तव को पुष्ट करने वाला यही प्रधान अंग है।)

चतुर्विध संघ की इस परम्परा का अस्तित्व अक्षुण्णरूप से पंचमकाल के तीन वर्ष, साढ़े आठ मास शेष रहने तक रहेगा जबतक भावलिंगी मुनि, श्रावक एवं श्राविका रहेंगे तब तक आर्यिकाओं का अस्तित्व भी रहेगा।

आचार्य यतिवृषभदेव 'तिलोयपण्णत्ती' के चौथे अधिकार में लिखते हैं कि–

वीरंगजाभिधाणो तक्काले मुणिवरो भवे एक्को।
सव्वसिरी तह विरदी सावयजुगमग्गिदत्त-पंगुसिरी।१५२१।

(इक्कीसवें कल्की के समय में वीरगंज नामक एक मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निदत्त एवं पंगुश्री नाम वाले श्रावक-श्राविका होते हैं।

'अह जाचिदम्हि पिंडे दादुणं मुणिवरो तुरिदं।१५१७।

कादूणमंतरायं गच्छदि पावेदि ओहिणाणं पि।
अक्कारिय अग्गिलयं पंगुसिरीविरदि सव्वसिरी।।१५२८।।

भासइ पसण्णहिदओ दुस्समकालस्स जादमवसाणं।
तुम्हम्ह तिदिणमाऊ एसो अवसाण कक्की हु।।१५२९।।

कत्तिय बहुलस्संते सादीसुं दिणयरम्मि उग्गमिए।
कियसण्णसा सव्वे पावंति समाहिमरणं हि।।१५३१।।

(प्रथम पिण्ड के माँगे जाने पर मुनीन्द्र तत्काल उसे देकर अन्तराय कर वापिस चले जाते हैं तथा अवधिज्ञान प्राप्त कर वे अग्निल श्रावक, पंगु श्री श्राविका और सर्व श्री आर्यिका को बुला कर प्रसन्नचित्त होते हुए कहते हैं कि अब दुषमाकाल का अन्त आ चुका। तुम्हारी और हमारी अब मात्र तीन दिन की आयु बची है। ॥१५२७/२९॥

ये सब कार्तिक मास अमावस्या को सूर्य के स्वाति नक्षत्र पर उदित रहते समाधि मरण प्राप्त करते हैं।।1531।।

धर्म के आधार स्वरूप चतुर्विध संघ के स्वर्गस्थ होते ही राजा एवं अग्नि का भी विनाश हो जाता है।

तद्दिवसे मज्झण्हे कयकोहो को वि असुरवरदेओ।
मारेदि कक्किरायं अग्गी णासेदि दिणयरत्थमणे।1533।

(उसी दिन मध्यान्ह में असुरकुमार देव राजा को मारता है और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जाती है।।1533।।

श्री नेमिचन्द्राचार्य भी 'त्रिलोकसार' में यही बात दर्शाते हैं-

इद इंदरायसिस्सो वीरंगद साहू चरिम सव्वसिरी।
अज्जा अग्गिल सावय वर-साविय पंगुसेणावि।।585।।

इस गाथा में 'सव्वसिरी अज्जा' और 'वर साविय' ये दोनों पद स्पष्टतः घोषित कर रहे हैं कि आर्यिका और उत्कृष्ट श्राविका दोनों भिन्न भिन्न हैं। यदि आर्यिका उत्कृष्ट श्राविका ही होती तो आचार्य श्री 'अज्जा' पद का अलग से ग्रहण न करते।

पंचम काल के अन्त तक चतुर्विध संघ का अस्तित्व रहेगा। इस आगमोक्त कथन में सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं होते।

शंका 16:- आगम के इतने प्रमाण देखकर भी यदि किसी की यही धारणा बनी रहे कि आर्यिका उत्कृष्ट श्राविका ही है; तो क्या उपाय है?

समाधान : मात्र धारणाओं के बल पर तत्व का निर्णय नहीं होता अतः या तो उन्हें आगमनिर्देश को प्रमाण मानकर अपनी धारणा बदलनी चाहिये या फिर "आर्यिका उत्कृष्ट श्राविका ही है; इस स्थापना को आगम से सिद्ध कर अपने सम्यक्तव को निर्दोष बनाये रखना चाहिये।

शंका 17:- "आर्यिका श्राविका ही है"। यदि इस स्थापना की सिद्धि हमने आगम से नहीं की तो हमारा सम्यक्तव सदोष क्यों होगा?

समाधान : क्योंकि कोई भी प्राणी आगमाज्ञा का लोप कर दुर्गति में जाने के लिए दीक्षा धारण नहीं करता; फिर भी यदि अज्ञानता आदि के वशीभूत होकर उसके द्वारा किसी आगमविरूद्ध कार्य की पुष्टि होती है तो सम्यक्दृष्टि जीवों का सम्यक्तव निर्दोष बना रहता है। यदि उन्होंने इसमें उपेक्षा की तो अंगो का पालन न कर सकने के कारण सम्यक्तव मलिन होगा ही होगा।

शंका 18:- आगम प्रमाण एकत्र करने में आपने इतना श्रम किया, इससे अच्छा तो यह था कि नवधा भक्ति के समय यदि कोई अर्घ्य नहीं चढ़ाता या पूजा नहीं करता तो न सही, आपको तज्जन्य विकल्प छोड़कर आहार ग्रहण कर लेना चाहिए।

समाधान : यहाँ मात्र किसी साधु विशेष या आर्यिका विशेष की बात नहीं है अपितु मोक्षमार्ग का प्रश्न है। मोक्षमार्ग के प्रति होने वाले अपलापों को सुन कर कौन ऐसा सम्यक्दृष्टि है जो निर्विकल्प बैठा रहेगा? यदि आर्यिका विशेष की पूजनादि न भी की जाय तो कथंचित् वह विकल्प न भी करे परन्तु यदि मार्ग ही निर्धारित कर लिया जाए तो मार्ग-उद्योतन हेतू आगम-प्रमाण देना आवश्यक है।

शंका 19:- आपके इस 'कथंचित्' शब्द का क्या प्रयोजन है?

समाधान : 'कथंचित्' से अभिप्राय है कि कोई भी साधु अपनी पूजा-प्रतिष्ठा का भूखा नहीं है। कोई उन्हें नमस्कारादि करो अथवा नहीं करो, किन्तु यदि नवधा भक्ति के समय आगमानुकूल प्रक्रिया नहीं होगी तो वह आहार लेने का अधिकार नहीं है। साधु भी आगमाज्ञा के बन्धन के बंधा है। हीनाधिक नवधाभक्ति करने पर भी आहार ग्रहण करने वाला साधु जिनेन्द्राज्ञा का लोप करने वाला है।

शंका 20:- इन प्रमाणों को जान लेने पर भी यदि कोई अपनी धारणा में परिवर्तन न करे तो ?

समाधान : आगम प्रमाणों को भी स्वीकार न करने वालों के लिए स्वंय आचार्यों ने यह कहा है—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
असब्भावं अजाणमाणो गुरूणियोगा।।27।।

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवई मिच्छाइट्ठी जीवो तदी पहुदी।।28।। —गो.सा.। जी. का. 1

"अरिहन्तदेव का ऐसा ही उपदेश है" ऐसा समझ कर यदि कोई कदाचित् किसी पदार्थ का विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है क्योंकि उसने देव का उपदेश समझ कर उस पदार्थ का वैसा श्रद्धान किया है परन्तु आगम में दिखाकर समीचीन पदार्थ के समझाने पर भी यदि वह पूर्व में अज्ञान से किये हुए अतत्वश्रद्धान को न छोड़े तो वह उसी काल से मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। क्योंकि गणधरादि द्वारा कथित सूत्र का श्रद्धान न करने से जिनाज्ञा का उल्लंघन सुप्रसिद्ध है। अलमतिविस्तरेण।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण।।107।।

छट्ठट्ठमद समदु बालसेहि अण्णणियस्य जा सो ही।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स।।108।।

सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जीव जिस कर्म को लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्तमात्र में क्षय करता है। अज्ञानी को दो, तीन, चार, पांच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानी को होती है।

"प्रवचन पद्धति"

❑ *गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी*

प्रवचनकर्ता विद्वान् को पहले निम्नलिखित चार बातों को समझ लेना अति आवश्यक है— प्रवचनकर्ता, प्रवचन का विषय, प्रवचन का फल और प्रवचन। अर्थात् प्रवचनकर्ता कैसा होना चाहिये? उसमें क्या-क्या गुण आवश्यक है? प्रवचन का विषय क्या है? प्रवचन किसे कहते है? और प्रवचन का फल क्या है?

इन चारों को समझकर प्रवचन करने वाला विद्वान् स्वपर-हितकारी होता है।

प्रवचनकर्ता

रत्नत्रय से विभूषित आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन प्रकार के दिगंबर मुनि ही मुख्यरूप से प्रवचनकर्ता होते हैं, किंतु गौणरूप से विद्वान् श्रावक भी हो सकते हैं।

श्री गुणभद्रसूरी ने प्रवक्ता आचार्य के गुणों का वर्णन बहुत ही सुंदर किया है—

> प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
> प्राश्ताशः प्रतिभपरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
>
> प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिंदया,
> ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।5।।

अर्थ—बुद्धिमान, समस्तशास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता, लोकव्यवहार से परिचित, आशारहित, प्रतिभावान्, शांतचित्त, पहले ही उत्तर को देखकर रखने वाला, प्रायः प्रश्नों को सहन करने वाला, प्रभावशाली, पर को मनोज्ञ, पर की निंदा नहीं करने वाला, स्पष्ट और मधुर वचन बोलने वाला तथा गुणों का निधान ऐसा आचार्य धर्म का उपदेश देता है।

इस श्लोक में धर्मोपदेशक आचार्य के प्रमुख 12 गुण माने गये है। ये ही गुण विद्वान्, प्रवक्ता में भी होने चाहिये। यद्यपि इन सामान्य गुणों में सभी विशेष गुण अंतर्भूत हो जाते है तो भी वर्तमान की स्थिति के अनुसार वक्ता के कुछ आवश्यक गुणों का चयन निम्नानुसार है--

1. प्रवचनकर्ता विद्वान् को सच्चे देव, शास्त्र और गुरू पर दृढ़ श्रद्धान होना चाहिये।
2. चारों अनुयोगों का स्वाध्याय करके उनका तलस्पर्शी ज्ञान होना चाहिये।

3. कम से कम पाँच अणुव्रतों का पालन, सप्त व्यसन, रात्रि भोजन और अभक्ष्य भक्षण का त्याग अवश्य होना चाहिये। पर्व के दिनों में शुद्ध भोजन करने वाला तथा कुलीन और शीलवान होना चाहिये।

4. नित्य ही देव पूजा, गुरूभक्ति आदि करने वाला होना चाहिये। कम से कम देवदर्शन का नियम तो अवश्य ही होना चाहिये।

5. स्वाध्यायप्रेमी, शान्तचित्त और गंभीर होना चाहिये।

6. पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों को साक्षात् भगवान की वाणी बताते हुये उन ग्रन्थों के प्रति व उनके रचयिता आचार्यों के प्रति सभा में श्रद्धा का स्त्रोत प्रवाहित कर देना चाहिये।

7. चारित्र की दुर्लभता और उपादेयता का वर्णन करते हुये वर्तमान के चारित्रधारी त्यागी-व्रतियों के प्रति श्रद्धालु बनाते हुये, श्रावकों को उनकी भक्ति करने की व शक्तिनुसार देशचारित्र ग्रहण करने की प्रेरणा देनी चाहिये।

8. निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय को सही समझाकर व्यवहार कहाँ तक उपादेय है और निश्चय कहाँ से प्रारम्भ होता है? इस पर विशद प्रकाश डालना चाहिये।

9. मैं एक भी शब्द यदि आगम के विरुद्ध बोल दूँगा, तो निगोद का भागी हो जाऊंगा, ऐसे भय से सहित होकर जिनेंद्र देव की आज्ञा के भंग से सदैव डरते रहना चाहिये।

10. किसी के दबाव से या ख्याति, लाभ, पूजादि की लालसा से कभी भी आगम विरुद्ध प्रतिपादन नहीं करना चाहिये और न आगमविरुद्ध कथन का समर्थन ही करना चाहिये।

11. उपदेश की सभा में प्रश्नोत्तर न रखकर उससे अतिरिक्त समय में प्रश्नों के लिये समय देना चाहिये। क्योंकि सभा के मध्य प्रश्नोत्तर से उपदेश का क्रम भंग हो जाता है।

12. यदि कदाचित् सभा में प्रश्न आ भी जावें तो शांति से उनका आगम के अनुकूल उत्तर देना चाहिये। कैसे ही प्रश्न क्यों न हों, किंतु उत्तेजित नहीं होना चाहिये। शांति से यदि समस्या न सुलझे तो मौन पूर्वक सभा विसर्जित कर देनी चाहिये। पुनः वार्तालाप करना चाहिये, किंतु उपदेश की गद्दी से अतिचर्चा या विसंवाद नहीं करना चाहिये।

13. उपदेश में ग्राम्य, अश्लील या हल्के शब्दों का तथा ऐसे ही हीन उदाहरणों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

14. उपदेश में उदाहरण प्रायः अपने प्रथमानुयोग से ही लेना चाहिये। इससे श्रोताओं को अपने सही इतिहास का ज्ञान भी हो जाता है और प्रामाणिकता भी रहती है। यदि कदाचित् अन्य कोई श्वेताम्बर कथायें या अन्य संप्रदाय की कथायें कहें भी तो उन्हें स्पष्ट कर देना चाहिये कि यह कथा श्वेताम्बर मत के आधार से है अथवा अन्य संप्रदाय की है।

15. तेरहपंथ-बीसपंथ की चर्चा उपदेश में नहीं लाना चाहिये। यदि कोई समझना चाहता

है तो उसे पृथक् से आगम के प्रमाण दिखा देना चाहिये। चूंकि इस पंथभेद का उल्लेख आगम में तो है नहीं, वर्तमान में मात्र यह पूजन पद्धति से ही संबंध रखता है। अतः इस विषय को सभा में मुख्य नहीं करना चाहिये।

16. सभा में श्रीमन्तों आदि के बार-बार नाम नहीं लेना चाहिये, प्रायः इसमें पक्षपात का वातावरण बन जाता है।

17. वर्तमान के विवादास्पद विषयों में किसी का व्यक्तिगत नाम लेकर उसकी निंदा सभा में नहीं करनी चाहिये। किसी के प्रति आक्षेप, किसी की भर्त्सना या आलोचना सभा में नहीं करना चाहिये।

18. उपदेश करते समय भौंहें नहीं चलाना चाहिये, न उगलियां चटकाना चाहिये। गंभीर मुद्रा से बैठकर या खड़े होकर न अति उच्च और न अति धीमें किंतु मध्यम स्वर से मधुर शब्दों में उपदेश करना चाहिये। कदाचित् बड़ी सभा में उच्च स्वर से भी बोलना पड़े तो बोल सकते हैं किंतु शब्दों में कर्कशता (कठोरता) नहीं होनी चाहिये।

19. शुभभाव कब छूटते हैं? किस नय से या किस गुणस्थान में वे हेय है? श्रावकों का कर्तव्य क्या हैं? इन विषयों पर स्पष्ट विवेचन करना चाहिये।

20. सार्वजनिक सभाओं में मद्य, मांस, मधु त्याग, सप्त व्यसन त्याग, अहिंसा का पालन और पाँच अणुव्रत ग्रहण आदि का उपदेश प्रधान रखना चाहिये। सम्यक्तव व मिथ्यात्व की चर्चा गौण रखनी चाहिये।

21. उपदेश के विषय का चयन प्रायः श्रोताओं की योग्यता के अनुरूप होना चाहिये, उनकी इच्छा के अनुरूप नहीं।

प्रवचन का विषयः-

जिनेन्द्रदेव की वाणी ही प्रवचन का विषय है। अतः कम से कम निम्नलिखित ग्रन्थों का स्वाध्याय प्रवचनकर्ता को अवश्य ही होना चाहिये।

1. प्रथमानुयोग में—महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, पांडवपुराण, आराधनाकथाकोश, पुण्यास्त्रवकथाकोश, बृहत्कथाकोश, जंबूस्वामी चरित, धन्यकुमार चरित, महावीर चरित, श्रेणिक चरित्र आदि।

2. करणानुयोग में—जैन ज्योतिर्लोक, त्रिलोकभास्कर, जंबूद्वीप, गोम्मटसार जीवकांड, कर्मकांड, पंचसंग्रह आदि। यदि लब्धिसार, त्रिलोकसार, जंबूद्वीपपण्णत्ति, त्रिलोयपण्णत्ति, धवला, जयधवला, महाबंध आदि ग्रंथ भी पढ़ लेवें तो विशेषता ही रहेगी।

3. चरणानुयोग में—रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, वसुनंदश्रावकाचार, उमास्वामीश्रावकाचार,

पुरूषार्थसिद्धयुपाय, सागारधर्मामृत, भावसंग्रह, आत्मानुशासन, पद्मनंदिपंचविंशतिका आदि आवश्यक हैं। पुनः हो सके तो मुद्रित हुए सभी श्रावकाचार, मूलाचार, अनगारधर्मामृत, भगवती आराधना आदि भी पढ़ लेवें।

4. द्रव्यानुयोग में—द्रव्यसंग्रह, तत्वार्थसूत्र, वृहद्द्रव्यसंग्रह, सर्वार्थसिद्धि, समाधिशतक, आलापपद्धति, नयचक्र, सप्तभंगीतरंगिणी, परमात्मप्रकाश, नियमसार, प्रवचसार, समयसार आदि ग्रन्थों को क्रम से पढ़ना चाहिये।

इन ग्रन्थों में से किसी भी ग्रन्थ को प्रवचन का विषय बनाना चाहिए।जिस ग्रन्थ पर प्रवचन करना है उसे पुनः एक बार आद्योपांत पढ़ लेना चाहिए। यदि अकस्मात् बीच में से किसी विषय पर बोलना है तो भी इन्हीं के आधार से कोई विषय लेना चाहिये। आचार्य कुंदकुंद के ग्रन्थों का व उनके पूर्ववर्ती आचार्य गुणधर, यतिवृषभ, पुष्पदंत और समंतभद्र, अमृतचन्द्रसूरि आदि के वचन भी प्रस्तुत करना चाहिए।

प्रवचन :—

रत्नत्रय का उपदेश देना, या उनसे संबंधित महापुरुषों का इतिहास सुनाना, जीवादि सात तत्वों का विवेचन करना। आत्मा के बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा आदि भेदों का कहना। इसी का नाम प्रवचन है।

प्रवचन का फलः—

प्रवचन सुनकर श्रोता मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद और कषाय से डरकर उनसे यथाशक्ति हटकर मोक्षमार्ग में—सम्यक्तव, संयम और शुभभाव में प्रवृत्त हो जावे यही प्रवचन का फल है। इस फल के साक्षात् और परंपरा ऐसे दो भेद हो जाते है।

1. साक्षात फलः—

(क) वक्ता का उपदेश ऐसा होना चाहिए कि श्रोतागण मिथ्यात्व को छोड़कर देव, शास्त्र, गुरू के परम भक्त बन जायें। उनमें पूज्य पुरूषों के प्रति आदरभाव और विनय प्रवृत्ति आ जाए तथा उद्दंड व अनर्गल प्रवृत्ति छूट जायें।

(ख) वर्तमान के उपलब्ध जिनागम के प्रति अकाट्य श्रद्धा व वर्तमान के साधूवर्गों के प्रति असीम भक्ति उमड़ आवे।

(ग) शक्तिनुसार चारित्र ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जावें। अन्याय, अभक्ष्य और दुर्व्यसनों को छोड़ देवें। तथा देव पूजा, आहारदान, स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओं में प्रमाद छोड़कर तत्पर हो जावें।

2. परम्पराफल:—

प्रवचन का परम्परा फल स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही है।

इस प्रकार से प्रवचनकर्ता आदि चार बातों को संक्षेप में कहा गया है। उसी प्रकार से व्यवहाराभासी-निश्चयाभासी के लक्षण भी समझ लेना चाहिए।

व्यवहाराभास और निश्चयाभास क्या है?

व्यवहाराभासी:—

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जो मुनि या श्रावक व्यवहार चरित्र का पालन करते है, अपनी छह आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहते हे वे व्यवहारभासी हैं क्योंकि उनको आत्मतत्व का श्रद्धान नहीं है अथवा वे निश्चयनय या शुद्धात्म तत्व को उपादेय नहीं समझते हैं ऐसा नहीं माना जा सकता है। चूंकि किसी के अंतरंग का निर्णय करना बहुत ही कठिन है यह बात तो सर्वज्ञ गम्य ही है। तत्ववेत्ता आत्मज्ञानी और तत्वशून्य दोनों की बाह्‌य चर्या समान भी देखने को मिल सकती है। हां, जो ख्याति, लाभ या प्रतिष्ठा के लिये ही चारित्र ग्रहण करते हैं अथवा यह व्यवहार चारित्र परम्परा से मोक्ष का कारण है ऐसा न समझकर साक्षात् इसी को मोक्ष का कारण मान लेते हैं वे आत्मज्ञान से सर्वथा पराङ्मुख हैं, वे व्यवहाराभासी हैं।

निश्चयाभासी:—

जो परिग्रह और भोगों में आसक्त रहते हुए भी अपनी आत्मा को सर्वथा शुद्ध, सिद्धस्वरूप मानते हैं, चारित्र से पराङ्मुख हैं, और चारित्रधारी मुनि, आर्यिका आदि की मखौल उड़ाते हैं, उन्हें आत्मज्ञान से शून्य, द्रव्यवेषी, पाखण्डी व क्रियाकाण्डी कहते हैं, सदा गर्व से उन्मत्त रहते हैं, त्यागी पुरूषों को देखकर उनका अनादर व अपमान करके उनकी निंदा करते हैं, उनके चारित्र को सर्वथा सदोष ही समझते हैं और स्वयं चरित्र धारण करते नहीं है, ऐसे लोग ही निश्चयाभासी हैं।

ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन की शैली—

ग्रन्थों के अध्ययन अर्थात् ग्रन्थों को पढ़ना और उसका मनन करना तथा अध्यापन अर्थात् शिष्यों को पढ़ाना, अभ्यास करना किसी भी शास्त्र को गुरूमुख से ही पढ़ना चाहिये, तभी उसका समीचीन-संगत-निर्दोष अर्थ ग्रहण किया जा सकता है अन्यथा गलत अर्थ धारणा में बैठ जाने से प्रायः उसका दुराग्रह भी हो जाया करता है। अतः कुछ मौलिक ग्रन्थ तो गुरूमुख

से ही पढ़ने चाहिये।

पुनः यदि किसी ग्रन्थ का स्वाध्याय किया जाता है तो उसे एक बार पढ़कर दूसरी बार अवश्य पढ़ना चाहिये जिससे उसका आद्योपांत संदर्भ समझ में आ जाता हैं। हो सके तो तीन बार भी उस ग्रन्थ का स्वाध्याय करना चाहिये। तब उसको किसी को पढ़ाना चाहिये और तभी उस ग्रंथ का प्रवचन करना चाहिये।

समयसार आदि ग्रंथों की गाथायें सूत्ररूप हैं। उनका सम्बन्ध आगे पीछे के सूत्रों से रहता है। जैसे कि "तत्वार्थसूत्र" टीकाकार श्री पूज्यपाद स्वामी और अकलंकदेव आदि आचार्यों ने एक-एक सूत्र की टीका में कहीं पीछे के या कहीं आगे के सूत्रों से सम्बन्ध जोड़कर तथा पूर्वापर विरोध न हो जावे इस बात को ध्यान में रखकर ही विशेष अर्थ स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिये "न देवाः"[1]" इस सूत्र का अर्थ कोई भी यही करेगा कि "देव नहीं है" किंतु ऐसा अर्थ पूर्वा पर विरूद्ध होने से इसमें पूर्व के "नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि"। इस सूत्र से "नपुंसक" शब्द का अध्याहार लेकर "देवनपुंसक नहीं होते" ऐसा अर्थ किया जाता है। ऐसे ही सर्वत्र ग्रन्थों में समझना चाहिये।

इस अध्ययन-अध्यापन की शैली में हमें किन-किन बातों को समझना है? देखिये--

गुरू कैसे होने चाहियें? शिष्य कैसा होना चाहिये? गुरू परम्परा से पढ़ने का क्या महत्त्व है? ग्रन्थों को पढ़ते या पढ़ाते समय "पापभीरूता" कैसी होनी चाहिये? ग्रन्थ को पढ़ाते समय पहले उसके रहस्य को कैसे समझाना चाहिये? श्रावक को क्या करना चाहिये? पूर्वाचार्यों ने किस क्रम से उपदेश दिया है? मुनियों के आशीर्वाद देने में क्रम क्यों है? पहले मुनि धर्म का उपदेश देना वह किसको? मद्य, मांसादि के त्याग और दया दान आदि का उपदेश क्या भगवान ने दिया है? गृहस्थ रत्नत्रय का उपदेश दे सकते हैं क्या? कैसी कथाओं का उपदेश देना चाहिये? इन सब बातों को समझाकर ही अध्ययन-अध्यापन अथवा प्रवचन करने से अर्थ का अनर्थ नहीं होता है।

ग्रन्थों को पढ़ाने वाले मुनि या विद्वान्, श्रावक, उपाध्याय, गुरु अथवा अध्यापक कहलाते हैं। तथा उपदेश देने वाले भी उपाध्याय या गुरु होते हैं और विद्वान् पंडितगण वक्ता कहलाते हैं। गुरु में क्या गुण होना आवश्यक है? शिष्य या श्रोतागण कैसे होने चाहियें? गुरुपरम्परा से अध्ययन करने या उपदेश सुनने का क्या महत्त्व है? पहले इन सभी बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। पुनः गुरु या वक्ता बनना चाहिये।

गुरु कैसे हों?

"ग्रन्थर्थतो गुरूपरंपरया यथावत्,

श्रुत्वावधार्य भवभीरूतया विनेयान्।
ये ग्राह्यंत्युभयनीतिबलेन सूत्रं,
रत्नत्रयप्रणयिनो गणितः स्तुमस्तान्"॥4॥

जो गुरू परम्परा से ग्रन्थ, अर्थ और उभयरूप से सूत्र को यथावत् सुनकर और उसे अवधारणा करके स्वयं संसार से भयभीत होकर शिष्यों को उभय नीति-निश्चय-व्यवहारनय की पद्धति के बल से सूत्रों को पढ़ाते हैं उन रत्नत्रय के धारक आचार्यों की हम स्तुति कहते हैं।

श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं—

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तर विनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्॥4॥

जिन्होंने मुख्य-निश्चयनय और उपचार-व्यवहारनय अथवा मुख्य और गौण प्रतिपादन शैली से शिष्यों के दुस्तर अज्ञान को नष्ट कर दिया है ऐसे व्यवहार और निश्चय के ज्ञाता महामुनि ही जगत में धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। अर्थात् मोक्षमार्ग को चलाते हैं।[2]

गुणभद्रसूरि ने और भी अनेकों लक्षण दिये हैं कि "जो बुद्धिमान् हो, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जानने वाला हो, प्रश्नों को सहने में समर्थ हो, हर एक प्रश्नों के उत्तर में कुशल हो इत्यादि गुणों से युक्त आचार्य ही वक्ता होते है।[3]

श्री गुणभद्रसूरि पुनः कहते हैं कि—

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुश्च सुलभाः पुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः॥43॥

पूर्वकाल में उभय लोक में हितकर ऐसे व्याख्यान को करने के लिये तथा सुनने के लिये भी बहुत से जन सुलभ थे किंतु तदनुकूल आचरण करने के लिये दुर्लभ ही थे। परन्तु वर्तमान में ऐसे व्याख्यान को कहने के लिये व सुनने के लिये भी लोग दुर्लभ हैं, पुनः वैसा आचरण करना तो बहुत ही दूर की बात हो गई है।

उभय लोक के लिये हितकर किंतु कठोर भी गुरु के वचन कैसे होते हैं—

विकाशयंति भव्यस्य, मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविंदस्य, कठोराश्च गुरुक्तयः[4]॥42॥

कठोर भी गुरु के वचन भव्यों के मन को इस प्रकार से प्रफुल्लित करते हैं कि जिस प्रकार से सूर्य की कठोर किरणें भी कमल को खिला देती हैं।

शिष्य कैसे हों?

शिष्य भी दुराग्रह से रहित हो, तथा श्रवण, धारण आदि बुद्धि के वैभव से युक्त हो इत्यादि गुणों से युक्त शिष्य ही "शास्य"–उपदेश के लिए पात्र है।[5]

श्री अमृतचंद्र सूरि "जिनेन्द्र देव के वचनों को सुनने का पात्र कौन है?" उसका लक्षण बताते हैं–

"अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ण्य
जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः॥44॥[6]

अनिष्ट और दुस्तर पाप के स्थान स्वरूप मांस, मद्य, मधु और पंच उदुंबर फल इन आठों का त्याग करके शुद्ध बुद्धि वाले जन ही धर्म की देशना के पात्र होते हैं।

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानी शुद्धधीः।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः।।19।।[7]

जीवन पर्यंत के लिये मद्य आदि आठ महापापों को छोडकर जो शुद्ध बुद्धि हो गया है और जिनका उपनयन संस्कार हुआ है ऐसा श्रावक जिन धर्म को सुनने के लिये योग्य होता है।

गुरू परम्परा का महत्वः–

इस प्रकार आगम कथित गुणों से युक्त शिष्य या श्रोता गुरूपरंपरा से ही तत्वों को समझने का उपाय करे, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हुए बिना नहीं रहता है। इस विषय में ज्ञानार्णव में कहा है कि–

नहि भवति निर्विगोपक्रममनुपासितगुरूकुलस्य विज्ञानम्।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य।।34।।[8]

जिसने गुरूकुल की–गुरू समूह की उपासना नहीं की है उसका विज्ञान प्रशंसा करने योग्य नहीं है, किंतु निंदा सहित ही होता है। देखो! मयुर नृत्य करते समय अपने पृष्ठ भाग (मलद्वार) को उघाड़ कर नृत्य करता है। अर्थात् मयुर ने नृत्य कला किसी गुरू से नहीं सीखी है इसलिये वह नृत्य करते समय उपर्युक्त रीति से नृत्य करता है। वैसे ही जो गुरूओं से अध्ययन नहीं करते हैं उनका अध्ययन विपरीत बुद्धि को भी उत्पन्न कर देता है।

आप आचार्यों की परम्परा देखो तो स्पष्ट हो जाता है कि सभी आचार्य गुरू मुख से ही ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। धरसेनाचार्य तक गुरू परिपाटी से ही ज्ञान आया और जैसा कि पुष्पदंत, भूतबली आचार्यो ने भी आचार्य धरसेन से ज्ञान पाया तथा श्री कुंदकुंद देव ने भी

इन ग्रंथों का ज्ञान परम्परा से प्राप्त किया। यथा—

> एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।
> गुरूपरिपाट्या ज्ञातः सिध्दांतः कुण्डकुंदपुरे।।160।।
> श्री पद्मनंदिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्त्रपरिमाणः।
> ग्रंथपरिकर्मकर्त्ता षट्खण्डाद्यत्रिखंडस्य।।161।।[१]

कर्मप्राभृत (षटखंडागम) और कषायप्राभृत इन दोनों सिद्धान्तों का ज्ञान गुरू-परिपाटी से कुंदकुंदपुर के "पद्मनंदि" मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षटखंडागम के प्रथम तीन खंडों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण "परिकर्म" नाम की टीका रची।

जब महान अध्यात्म शिरोमणि श्री कुंदकुंददेव ने परम्परा से ज्ञान प्राप्त किया, तब ग्रन्थ रचना की। पुनः आज यदि उनके ग्रन्थों का स्वाध्याय करने वाले लोग गुरूओं के परंपरागत अर्थ की उपेक्षा करके मनमाना अर्थ करेंगे तो अनर्थ होना स्वाभाविक ही है।

पूर्वाचार्यों की पापभीरूता:—

ग्रन्थों को पढ़ाते समय विद्वान के मुख से अथवा उपदेश करते समय वक्ता के मुख से पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धा का निर्झर प्रवाहित हो जाना चाहिये। जैसे कि आचार्य विद्यानंद, आचार्य वीरसेन और आचार्य वसुनंदि आदि के शब्दों में दिखता है। यथा—

"अब पुष्पदंत भट्टारक अंतिम गुणस्थान के प्रतिपादन हेतु, अर्थरूप से अर्हंत परमेष्ठी के मुख से निकले हुये, गणधर देव के द्वारा गूंथे गये शब्दरचना वाले, प्रवाह रूप से कभी भी नाश को नहीं प्राप्त होने वाले और संपूर्ण दोषों से रहित होने से निर्दोष आगे के सूत्र को कहते हैं—"

यहां श्री वीरसेनस्वामी को श्री पुष्पदंत आचार्य के प्रति कितनी श्रद्धा है और उनके वचनों को वे साक्षात् भगवान की वाणी रूप ही मान रहे हैं। यह स्पष्ट दिख रहा है। आगे और देखिये—

"हमारे यहां आर्षपरंपरा का विच्छेद भी नहीं हैं, क्योंकि जिसका दोष-आवरण रहित अरहंत देव ने अर्थ रुपसे व्याख्यान किया है जिसको चार-ज्ञानधारी, निर्दोष गणधर देवने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान-संपन्न गुरूपरंपरा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्य-वाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से तथा निष्प्रतिपक्ष सत्यस्वभाव वाले पुरुष के द्वारा व्याख्यात होने से श्रद्धा के योग्य है। ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि हो रही है।

शंका—आधुनिक आगम अप्रमाण है क्योंकि अर्वाचीन पुरुषों ने इसका अर्थ किया है?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान विज्ञान से सहित होने से प्रमाणता को प्राप्त

ऐसे इस युग के आचार्यों द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है। इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है।

शंका—छद्मस्थ सत्यवादी कैसे हो सकते है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि श्रुत के अनुसार व्याख्याता आचार्यों को प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं।

शंका—आगम का यह अर्थ प्रामाणिक गुरू परंपरा के क्रम से आया है, यह कैसे निश्चय किया जाय?

समाधान—"नहीं, क्योंकि-ज्ञान-विज्ञान से युक्त इस युग के अनेक आचार्यों के उपदेश से उसकी प्रमाणता जाननी चाहिये[10]।"

और भी देखिये—

कषाय प्राभृतकार पहले आठ कषाय का क्षय, पीछे सोलह प्रकृति का क्षय मानते हैं किंतु सत्कर्मप्राभृतकार (षट्खंडागमकार) पहले सोलह का नाश मानकर फिर आठ कषाय का नाश मानते हैं। इस पर चर्चा चली कि दोनों में से कोई एक वाक्य सूत्ररूप प्रामाणिक होना चाहिये। इस पर आचार्य वीरसेन दोनों आगम को सूत्र कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि—

"जिनका अर्थ रूप से तीर्थकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधर देव ने जिनकी ग्रन्थ रचना की। ऐसे द्वादशांग आचार्य परंपरा से निरंतर चले आ रहे हैं परंतु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर और उन अंगों के धारण करने वाले योग्यपात्र के अभाव में वे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुये आ रहे हैं। इसलिये जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरूषों का अभाव देखा जो अत्यंत पाप भीरू थे और जिन्होंने गुरू परंपरा से श्रुतार्थ ग्रहण किया था,उन आचार्यों ने तीर्थ विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग सम्बंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता।"

शंका—यदि ऐसा है तो इन दोनों ही वचनों को द्वादशांग का अवयव होने से सूत्रपना प्राप्त हो जायेगा?

समाधान—दोनों में कोई एक ही सूत्र हो सकता है, दोनों नहीं, क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है।

शंका—पुनः उत्सूत्र लिखने वाले आचार्य पापभीरू कैसे हो सकते हैं?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि दोनों प्रकार के वचनों में से किसी एक ही के वचन संग्रह करने पर पापभीरूता नष्ट नहीं होती है, अर्थात् बनी रहती है।

पुनः प्रश्न होता है कि–

"दोण्हं वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चेद्?केवली सुदकेवली वा जाणादि ण अण्णो तहा णिण्णयाभावादो।वट्टमाण कालाइरिएहि वज्जभीरूहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो अण्णहा वज्जभीरूत्तविणासादोत्ति।"

शंका–दोनों प्रकार के वचनों में से किस वचन को सत्य माना जाय?

समाधान–इस बात को केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। क्योंकि इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये पापभीरू वर्तमान के आचार्यों को दोनों का ही संग्रह करना चाहिये, अन्यथा पीपभीरूता का विनाश हो जायेगा।[11]"

ऐसे ही अन्यत्र भी दो मत आ जाने पर प्रश्नोत्तर माला चलती है। पुनः शिष्य कहता है कि–

शंका–दोनों वचनों का संग्रह करने वाला संशय मिथ्यादृष्टि हो जायेगा?

समाधान–नहीं, क्योंकि संग्रह करने वाले के "यह सूत्र कथित ही हैं " इस प्रकार का श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि–

प्रश्न–आर्ष को प्रमाण कैसे माना जाय?

उत्तर–जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है वैसे ही आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है।"[12]

आचार्य वीरसेन स्वामी तो स्पष्ट कहते है कि–

"आगम केवलाज्ञान पूर्वक उत्पन्न हुआ है, अतः आगम में अनुमान का प्रयोग नहीं हो सकता।"[13]

जहां कही भी दो मत के आने पर शंका उठी है वहीं पर धवलाकार ने ऐसा समाधान दिया है यथा–

"यह सूत्र है, यह सूत्र नहीं है" ऐसा आगमनिपुणजन कह सकते हैं, किन्तु हम यहां कहने के लिये समर्थ नहीं हैं, क्योकि हमें वैसा उपदेश प्राप्त नहीं है।[14]

इससे अधिक और पापभीरूता क्या होगी कहिये? जबकि वीरसेन स्वामी धवला जयधवला टीका कर्ता भी अपने को"आगमनिपुण" नहीं मानते हैं।

आगे और देखिये–

शंका–बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठत जीवों को यहां सूत्र में वनस्पति संज्ञा क्यों नहीं दी?

समाधान–"गोदमो एत्थ पूच्छेयव्वो।" यहां गौतम स्वामी से पूछना चाहिये।[15]

मूलाचार में देवियों की आयु के बारे में दो गाथायें आई हैं। उन दोनों में अंतर है। यथा—

"सौधर्म स्वर्ग में देवियों की उत्कृष्ट आयू 5 पल्य, ईशान में 7, सनत्कुमार में 9, माहेंद्र में 11, ब्रह्म में 13, ब्रह्मोत्तर में 15, लांतव में 17, कापिष्ठ में 19, शुक्र में 21, महाशुक्र में 23, शतार में 25, सहस्त्रार में 27, आनत में 34, प्राणत में 41, आरण में 48 और अच्युत में 55 पल्य हैं। दूसरी गाथा में कहते है—

सौधर्म—ईशान में 5 पल्य, सानत्कुमार युगल में 17, ब्रह्मयूगल में 25, लांतवयुगल में 45, शुक्रयुगल में 40, शतारयुगल में 45, आनतयुगल में 50 और आरण-अच्युत में 55 पल्य हैं।

इस टीका में श्री वसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य कहते हैं—

"................द्वौ अपि उपदेशो ग्राह्यौ सूत्रद्वयोपदेशात्, द्वयोर्मध्ये एकेन सत्येन भवितव्यं, नात्र संदेहमिथ्यात्वं, यदर्हत्प्रणीतं तत्सत्यमिति संदेहाभावात्. छद्मस्थैस्तु विवेकः कर्तुं न शक्यतेऽतो मिथ्यात्वभयादेव द्वयोर्ग्रहणमिति।"[16]

दोनों भी उपदेश ग्रहण करना चाहिये क्योंकि दोनों ही सूत्र के उपदेश हैं। यद्यपि यह निश्चित है कि दोनों में से कोई एक ही सत्य होना चाहिये। इस विषय में संशयमिथ्यात्व भी नहीं है क्योंकि जो अर्हंतदेव द्वारा प्रणीत है वही सत्य हैं इस प्रकार के संशय का अभाव है। क्योंकि छद्मस्थों को यह विवेक करना शक्य नहीं है, इसलिये मिथ्यात्व के भय से ही दोनों को ग्रहण करना चाहिये।

स्वयं जयधवलाकार प्रस्तुत ग्रंथ के गाथा सूत्रों और चूर्णिसूत्रों को किस श्रद्धा और भक्ति से देखते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में देखिये। एक स्थल पर शिष्य के द्वारा यह शंका किये जाने पर कि यह कैसा जाना? इस के उत्तर में श्री वीरसेनाचार्य कहते है—

"एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाण दिवायरादो विणीग्गमिय गोदमलोहज्ज-जंबुसामियादि आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहितो जयिवसहमुहणयिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणि-किरणादो णव्वदे। (जय ध. आ. पत्र 313)

"विपुलाचल के शिखर पर विराजमान वर्धमान दिवाकर से प्रगट होकर गौतम, लोहाचार्य, और जंबूस्वामी आदि की आचार्य परंपरा से आकर और गुणधराचार्य को प्राप्त होकर गाथा स्वरूप से परिणत हो पुनः आर्यमंक्षु और नागहस्ती के द्वारा यतिवृषभ को प्राप्त होकर और उनके मुखकमल से चूर्णिसूत्र के आकार से परिणत दिव्यध्वनिरूप किरण से जानते हैं।"[17]

इस उद्धरण के यह स्पष्ट हो जाता कि कषायप्राभृत ग्रंथ साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि तुल्य हैं ऐसा टीकाकार का कथन है। दूसरी बात यह है कि आचार्य परंपरा की महत्ता पर पूर्ण प्रकाश दिख रहा है। "गुणधराचार्य" ने आचार्य परंपरा से ज्ञान पाया और गाथारूप से परिणत किया। पुनः आचार्य परंपरा से ही आर्यमंक्षु नागहस्ती मुनि को उसका ज्ञान मिला।

अनंतर उनके चरण सान्निध्य में ज्ञान प्राप्त कर यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्रों की रचना की है।

जयधवलाकार ने तो इन "कसायपाहुड़" की गाथाओं को "अणंतत्थगब्भाओ" अनंत अर्थ गर्भित कहा है।

इन प्रकरणों को देखकर ग्रन्थों का अर्थ प्रतिपादित करते समय अथवा प्रवचन करते समय इसी प्रकार से पूर्वाचार्यों के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए अपने और सुनने वालों के सम्यक्त्व को दृढ़ करना चाहिए।

शास्त्र अध्यापन एवं विवेचन का क्रम :—

पहले तो विद्वान या वक्ता को चारों अनुयोगों का ज्ञान होना आवश्यक है अन्यथा वह किसी न किसी एकांत को पकड़ लेंगे। पुनः नयविवक्षा और परस्पर में समन्वय की शैली का होना आवश्यक है। अनंतर जिस ग्रन्थ का प्रतिपादन करना है उसको आद्योपांत पूरा पढ़ लेना, मनन कर लेना आवश्यक है। इसके बाद यदि वे श्रोताओं को समझायेंगे तो अर्थ का अनर्थ नहीं होगा। जैसे—नियमसार को लीजिये, यह आध्यात्मिक ग्रंथ है। इसको समझने-समझाने के लिये पहले नयचक्र अथवा आलाप पद्धति के आधार से द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक तथा व्यवहार और निश्चय नयों के लक्षण समझ कर अच्छी तरह श्रोताओं को समझा देना चाहिये। अनंतर पहले उस ग्रंथ के रहस्य को समझा देना चाहिये जैसे—

नियमसार के अध्यापन का क्रम—

"इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है?"

"मार्ग और मार्ग का फल।"

"मार्ग क्या है? और मार्ग का फल क्या है?"

मोक्ष का उपाय, और निर्वाण।

"मोक्ष का उपाय क्या है?"

"णियमेन य जं कज्जं तं ण्यिमं णाणदासणचरित्तं"।

नियम से जो करने योग्य है वह नियम है, वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र है।

उसमें विपरीत—मिथ्यात्व का परिहार करने के लिये "सार" शब्द लगाया है।

विपरीत का अर्थ आपने मिथ्यात्व कैसे किया क्योंकि इसमें तो निर्विकल्प रूप निश्चयरत्नत्रय का वर्णन है।

अतः विपरित का अर्थ विकल्प अर्थात् भेदरत्नत्रय करना चाहिये?

"यहीं पर अर्थ का अनर्थ हो रहा है। यदि विपरीत से भगवान कुंदकुंददेव को भेदरत्नत्रय का परिहार करना इष्ट होता तो वे स्वयं चार अधिकार तक इस व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादन क्यों करते? देखिये-चतुर्थ गाथा में वे ही कहते हैं कि "एदेसिं तिण्हंपिय पत्तेयपरूवणा होई।" इन तीनों की भी प्रत्येक की प्ररूपणा करते है।

पुनःसम्यक्तव का लक्षण करते हुये कहते हैं—

"आप्त, आगम और तत्वों के श्रद्धान से सम्यक्तव होता है। पुनः आप्त, आगम और तत्वों का लक्षण स्वयं बताते हैं। पहले अधिकार में गा. 19 तक जीव तत्व का वर्णन, द्वितीय अ. में गा. 37 तक पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका वर्णन करते हैं। यहाँ तक व्यवहार सम्यक्तव के लिये श्रद्धान के विषयभूत छह द्रव्यों का वर्णन हो चुका है। आगे शुद्ध जीव तत्व का वर्णन करके नय विवक्षा खोलते हैं। यथा—

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीवतारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण॥47॥

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जय लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया॥40॥

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा॥49॥

जैसे सिद्धात्मा है वैसे भव में रहने वाले संसारी जीव हैं और इसी कारण से वे जरा, मरण, व जन्म से रहित है और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

जिस प्रकार से अशरीरी, अविनाशी, अतींद्रिय, निर्मल, विशुद्धात्मा सिद्धलोक के अग्र भाग पर स्थित हैं वैसे ही जीव संसार में हैं, ऐसा जानना।

पुनः तत्क्षण ही नय विवक्षा को स्पष्ट कर देते हैं—

पूर्वोक्त सभी भाव (स्थिति, अनुभाग, बंध, स्थान आदि) व्यवहारनय का आश्रय करके कहे गये हैं। किंतु शुद्धनय से संसार में सभी जीव सिद्ध स्वभाव वाले हैं।

यहां पर आचार्यदेव का अभिप्राय व्यवहारनय से असत्य का नहीं है। अन्यथा वे व्यवहार-निश्चय, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र के द्वारा आत्मा को शुद्ध सिद्ध बनाने का उपाय क्यों प्रदर्शित करते । वे कह सकते थे कि "वास्तव में मार्ग का फल निर्वाण है और मार्ग जो मोक्ष का उपाय है वह असत्य है" क्योंकि मोक्ष का उपाय तो व्यवहारनय के आश्रित ही है। किंतु ऐसा न कहकर व्यवहार का उपदेश दिया है।

आगे पुनः चतुर्थ अधिकार में पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का कथन किया

है। आचार्य कुंदकुंददेव ने महाव्रत और समिति में निश्चयनय को न घटाकर गुप्ति में अवश्य घटाया है। पुनः पंचपरमेष्ठी का लक्षण बताकर अन्तिम गाथा में कहते हैं—

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।76।।

इस पूर्वोक्त भावना में (गाथा 75 तक की भावना में) व्यवहारनय के अभिप्राय से चरित्र होता है, अब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा।

इसके आगे पांचवें अधिकार से लेकर ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय प्रतिकमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, शुद्ध निश्चय प्रायश्चित परमसमाधि, परमभक्ति और निश्चय परम आवश्यक इन सातों का वर्णन किया है जो ध्यान के आश्रित ही हैं।

आगे ग्यारहवें अधिकार के अन्त में कहते हैं—

सव्वे पुराण पुरिसा एवं आवासयं य काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्जय केवली जादा॥158॥

सभी पुराण पुरुष इसी प्रकार से आवश्यक क्रियाओं को करके अप्रमत्त आदि अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हो गये हैं।

इसके आगे अन्तिम बारहवें अधिकार में केवली भगवान का वर्णन करके अंत में निर्वाण को प्राप्त सिद्धों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार से आचार्य महोदय ने अपने कहे अनुसार ग्यारह अधिकार में मार्ग और बारहवें अधिकार में मार्ग के फल को कहा है। उस मार्ग के व्यवहार-निश्चय दो भेद करके चार अधिकार तक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को कहकर पुनः आगे ग्यारहवें तक निश्चय मोक्षमार्ग को कहा है। इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयरत्नत्रय के लिये साधन है। निश्चयरत्नत्रय साध्य भी है और मोक्ष के लिये साधन भी है।

इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ मुनियों के चारित्र का ही वर्णन करता है। इसमें श्रावकों के चारित्र का कोई लेश नहीं हैं। इन्हीं कुंदकुंद आचार्य ने चारित्रपाहुड़ में तथा रयणसार में पृथक् से श्रावकों के सम्यक्त्व और चारित्र का वर्णन किया है। इस तरह से ग्रन्थ के रहस्य को समझा देने के बाद ग्रन्थ के किसी प्रकरण से अनर्थ की संभावना नहीं रहती है।

समयसार के अध्यापन की शैली :—

ऐसे ही समयसार में भी समझना चाहिये। देखिये—निर्जरा अधिकार में सबसे प्रथम गाथा में कहा है कि "सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के निमित्त हैं।" उसकी टीका में श्री जयसेनाचार्य

कहते हैं कि—

शिष्य ने प्रश्न किया कि "राग, द्वेष और मोह का अभाव निर्जरा के निमित्त है, ऐसा आपने कहा, किंतु सम्यग्दृष्टि के तो रागादि हैं। पुनः किसी वस्तु का उपभोग उनके निर्जरा का कारण कैसे होगा? आचार्य कहते हैं कि—

"अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तुचतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या ग्रहण।"

इस ग्रन्थ में वास्तव में वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती-सराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण तो गौणरूप से है तथा मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अनंतानुबंधी कषायचतुष्क और मिथ्यात्व जनित रागादि नहीं है अतः उतने अंश में उसके भी निर्जरा है। आगे भी कहा है—

"अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टिनो गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।"

इस ग्रन्थ में पंचमगुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्य रूप से ग्रहण है। सरागसम्यग्दृष्टियों का तो गौण रूप से ग्रहण है, सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय सर्वत्र ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिये।

श्री अमृतचंद्र सूरि द्वारा भी इसी अर्थ की पुष्टि हो रही है। देखिये—

श्री कुंदकुंद देव ने गाथा 170 में कहा है कि "अबंधोत्तिणाणी दु।" ज्ञानी तो अबंधक ही है। पुनः आगे 171 वीं गाथा में कहते हैं कि—

"जिस कारण ज्ञाणगुण पुनरपि जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप परिणमन करता है इसी कारण वह ज्ञानगुण बंध करने वाला कहा गया है।" इसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—

"स तु यथाख्यातचारित्रावस्थायां अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतु स्यात्।"[18]

वह (ज्ञानगुण) यथाख्यात चारित्र के नीचे अवश्यंभावी राग परिणाम का सद्भाव होने से बंध का कारण ही है।

श्री अमृतचंद्र सूरि की इस एक पंक्ति से ही सारे समयसार का अभिप्राय समझा जा सकता है कि ग्यारहवें गुणस्थान के पहले-पहले राग का सद्भाव रहने से अवश्यमेव बंध होता ही होता है। अतः चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ यदि अपने को वीतरागी और अबंधक मान रहे हैं सो कोरी असत् कल्पना ही है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समयसार में वीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य करके ही सब कथन है। अतः इस ग्रन्थ का विषय भी साधुवर्गों के लिये ही है न कि श्रावकों के

लिये। यह इस समयसार का रहस्य हुआ।

श्रावकों के बारह व्रतरूप देशचारित्र में श्री कुंदकुंद देव ने निश्चय नय के आश्रय का प्रतिपादन नहीं किया है। किसी भी ग्रन्थ में श्रावकों के व्रतों में निश्चयनय के आश्रय का विधान देखने में नहीं आया है।

शंका—बालकों की किन्हीं धार्मिक पाठ्य पुस्तकों में सात व्यसनों में भी निश्चयनय को घटित करने की प्रक्रिया देखी जाती है?

समाधान—कहीं, किसी भी आचार्यप्रणीत ग्रन्थ में सप्त व्यसन, बारह व्रत तथा ग्यारह प्रतिमाओं में निश्चयनय का कथन देखने में नहीं मिला है। क्योंकि जब मुनियों के चरित्र को भी व्यवहार कहा है तब श्रावकों का चारित्र तो व्यवहार चारित्र है ही है। तथा—

"असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणय दु जिणभणियं।।45।।

अशुभ से निवृत्ति होना और शुभ में प्रवृत्ति करना यह चारित्र है। यह व्रत, समिति और गुप्तिरूप है ऐसा व्यवहार नय से जिनेंद्रदेव ने कहा है।

इसके बाद कहते हैं—

"बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।।46।।

ज्ञानी मुनि के भव के कारणों को नष्ट करने के लिये जो बाह्य और आभ्यंतर क्रियाओं का निरोध होता है वह जिनेंद्रदेव द्वारा कथित परम (निश्चय) सम्यक् चारित्र है।"[19]

यही बात पुण्य को हेय बताने के विषय में भी है। श्रावक के लिये तो पुण्य उपादेय है। मुनियों के लिये कथंचित् शुद्धोपयोग में हेय है कथंचित् छठे गुणस्थान की सरणचर्या तक उपादेय है। श्रावक यदि पुण्य को हेय समझ लेगा तो पाप के सिवाय करेगा क्या? क्योंकि उसे शुद्धोपयोग तो हो सकता नहीं।

श्री कुंदकुंददेव द्वादशानुप्रेक्षा में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि—

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे।।31।।

जो जीव पाप बुद्धि द्वारा पुत्र-स्त्री के लिये धन कमाता है तथा दया और दान को नहीं करता है वह संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है।

श्रावक का कर्तव्य क्या है?

श्रावक यदि समयसार, नियमसार, मूलाचार, गोम्मटसार, लब्धिसार, धवला आदि ग्रन्थों को पढ़ता है तो उसे उनमें से मूलाचार से तो "मुनियों की चर्या कैसी होती है? इसको समझना चाहिये। "समयसार से "शुद्धात्मा" की प्राप्ति कैसे होगी?" सो समझना चाहिये। पुनः उसे करना क्या चाहिये? –

श्रावक को कुंदकुंददेव के चारित्रपाहुड़, रयणसार, श्री समंतभद्रस्वामी के रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुकूल अपना आचरण बनाना चाहिये। प्रथमानुयोग के अनुसार मर्यादापुरूषोत्तम रामचंद्र आदि के अनुरूप अपने जीवन को आदर्श बनाना चाहिये।

स्वामी समंतभद्राचार्य ने अपने श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है पुनः उसके आठों अंगों का विवेचन किया है। अनंतर सम्यग्ज्ञान में अनुयोगों पर प्रकाश डालकर आगे कहा है कि–

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

दर्शनमोहरूपी अंधकार के दूर हो जाने पर सम्यग्दर्शन का लाभ होने से ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। तब साधु रागद्वेष को दूर करने के लिये चारित्र को स्वीकार करता है। उसमें–

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानां।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानां॥

चारित्र के सकल और विकल ऐसे दो भेद हैं। उसमें सकलचारित्र सर्वपरिग्रहत्यागी अनगारों का होता है और विकल चारित्र परिग्रहसहित गृहस्थों को होता है।

जब रत्नत्रय धर्म है और उसके अंतर्गत ही श्रावकों के सामायिक में "पूजा, भक्ति" और अतिथिसंविभाग में "दान", अहिंसाणुव्रत आदि में "दया" इत्यादि पाये जाते हैं तो पुनः "भक्ति, दान, दया" आदि को धर्म नहीं मानना यह कहाँ की बुद्धिमानी है?

अतएव श्रावकों को मुख्यरूप से श्रावकाचार और आदर्श पुरुषों व महिलाओं की जीवन गाथायें सुनाना चाहिये। क्योंकि ग्यारह अंगों में सातवा अंग उपासकाध्ययन नाम का है और मुनियों के लिये पहला अंग आचारांग नाम का है।

प्रवचन की शैली :–

मुनि, आर्यिका, श्रावक अथवा श्राविका जो आगम के आधार से उपदेश करते हैं उसे "प्रवचन भी कहते हैं। प्रवचन करने वालों को चार अनुयोगों का सर्वांगीण अध्ययन होना आवश्यक है। पुनः कैसे पात्रों को कैसा उपदेश देना यह भी समझ लेना चाहिये।

पूर्व के आचार्यों ने किस क्रम से उपदेश दिया है?

पूर्वविदेह में मधु नाम के वन में भील को श्रीसागरसेन मुनिराज ने उपदेश दिया और मद्य, मांस, मधु इन तीनों का त्याग करा दिया जिसको पालन करके वह भील मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हो गया।

सिंह को चारणमुनियों ने सम्यक्त्व का उपदेश देकर पांच अणुव्रत ग्रहण कराये।

खदिरसार भील को मुनि ने नमस्कार करने पर आशीर्वाद दिया "धर्म लाभ हो" भील ने पूछा—धर्म क्या है? मुनिराज ने कहा—"मद्य मांसादि का सेवन करना पाप है और इनको छोड़ देना धर्म है।" उस धर्म की प्राप्ति ही धर्मलाभ है। उस धर्म से पुण्य होता है और पुण्य से स्वर्ग में अनुपम सुख मिलता है। तब भील ने कहा-ऐसे धर्म का अधिकारी मैं नहीं हो सकता। मुनिराज ने उसका अभिप्राय समझ लिया और पूछा—हे भव्य! क्या तूने कभी कौवे का मांस खाया है? भील ने सोचकर कहा—नहीं। मुनि ने कहा तो उसे ही तू छोड़ दे। तब उसने इस व्रत को ले लिया। कुछ दिन बाद उसे असाध्य रोग हो जाने पर वैद्य ने कौवे का मांस खाने को कहा। बहुतों के द्वारा अनेकों प्रयत्नों के किये जाने पर भी उसने नहीं खाया। अनंतर पाचों व्रतों को ग्रहण कर मरण करके सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ और वहां से आकर वह राजा श्रेणिक हो गया।

यहां पर मांस, मधु आदि के त्याग को धर्म कहा है। वह भील उतने मात्र के ही योग्य था। अभी उसमें सम्यक्त्व के ग्रहण की क्षमता नहीं थी। आगे चलकर ये ही श्रेणिक क्षायिक सम्यक्त्वी हो गये और आगे महापद्म तीर्थंकर होने वाले हैं। उतने से धर्म ने उसकी आत्मा को उन्नति के पथ पर लगा दिया।

"मार्ग से थका धनदत्त सूर्यास्त हो जाने पर मुनियों के आश्रम में पहुंचा, वह प्यासा था। जल मांगा, तब एक मुनि ने समझाया कि रात्रि में अमृत पीना भी उचित नहीं फिर पानी की तो बात ही क्या? मुनि के उपदेश से उसने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया।[20] आयु पूर्ण होने पर मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हो गया। वहां से च्युत होकर पद्मरूचि नामक श्रावक हो गया। कालांतर में ये ही रामचन्द्र हुये हैं।

ऐसे ही अगणित उदाहरण प्रथमानुयोग में भरे पड़े हैं। इन प्रकरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुनिगण श्रोताओं की योग्यतानुसार ही उपदेश देते थे तथा गुरू का उपदेश व उनके पास में ग्रहण किया गया छोटा-सा भी व्रत परम्परा से मुक्ति का कारण हो जाता था।

आशीर्वाद में क्रम :—

इसी प्रकार से मुनियों को नमस्कार करने पर वे मुनि क्रम से ही उनकी योग्यता के अनुसार

आशीर्वाद देते हैं। जैसे—मुनियों को उनसे लघु मुनि नमोऽस्तु करते हैं तो वे मुनि या आचार्य उन्हें "नमोऽस्तु" कहकर प्रतिवंदना करते हैं। यदि आर्यिकायें, क्षुल्लिकायें, ऐलक, क्षुल्लक और व्रतिक श्रावक श्राविकायें नमोऽस्तु करते हैं तो वे मुनि और आचार्य उन्हें समाधिरस्तु" आशीर्वाद देते हैं। साधारण श्रावक-श्राविकायें नमोऽस्तु करते हैं तो वे उन्हें "सद्धर्मवृद्धिरस्तु" ऐसा कहते है। जैन धर्म से बाह्य अन्य लोग नमस्कार करते हैं तो वे उन्हें "धर्मलाभोऽस्तु" कहकर आशीर्वाद देते हैं तथा चांडाल आदि लोग नमस्कार करते हैं तो वे उन्हें "पापक्षयोऽस्तु" ऐसा आशीर्वाद देते हैं।" ऐसा आगम का विधान है।

ऐसा भेदभाव मुनियों के मन में क्यों है?

यह भेदभाव नहीं है प्रत्युत व्यवस्था है। देखिये! मुनिलिंग सर्वथा पूज्य है अतः वे लघु मुनियों के नमोस्तु करने पर "नमोस्तु" द्वारा ही प्रतिवंदना करते हैं। आर्यिका, क्षुल्लक आदि व्रतिक गण रत्नत्रय को धारण किये हुये हैं उनका अंत में समाधिपूर्वक मरण हो, अंत तक वे अपने व्रतों के पालन करते रहें, अथवा धर्मध्यान और शुक्लध्यान का नाम समाधि है वह उनको प्राप्त होवे उनके लिये ऐसा आशीर्वाद उचित ही है। सामान्य श्रावक धर्म को धारण कर रहे हैं। उनके उस सच्चे धर्म की वृद्धि हो अतः सद्धर्मवृद्धिः आशीर्वाद है। धर्म बाह्य लोगों को "धर्मलाभोऽस्तु" आशीर्वाद उनके धर्म के लाभ में निमित्त बनता है तथा हिंसा आदि पाप में प्रवृत्त हुये लोगों का जब तक पापक्षीण नहीं होगा तब तक वे धर्म को धारण करने के लिये पात्र नहीं हो पायेंगे अतः "पापक्षयोऽस्तु" आशीर्वाद उनके लिये ठीक ही है।[21] ऐसा आगम का विधान है।

पहले मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये।

शंका—मुनियों के लिये उत्कृष्ट उपदेश देने का ही विधान आया है।

जैसे—

> "यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
> तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥[22](18)॥

जो अल्पमति मुनि यति धर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है उसको भगवान के शासन में प्रायश्चित का भागी बतलाया है। पुनः मुनि गृहस्थ धर्म का उपदेश कैसे दे सकते हैं।

समाधान—यह सर्वथा एकांत नहीं है। क्योंकि मुनि के पास कोई उच्चवर्णी श्रावक या राजा आदि पहुंचते हैं तो वे उन्हें वैसा ही उपदेश देते हैं, क्योंकि वे पात्र है। मुनिपद धारण कर

सकते हैं। जैसे कि सोमदत्त ब्राह्मणगुरू के पास पहुँचकर उपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त करता है तब मुनि बन जाता है और अपनी गर्भवती पत्नी की भी परवाह नहीं करता है। किंतु ऐसे पात्र सब नहीं हैं। अतः साधारण जन के लिये श्रावक धर्म का और जो श्रावक नहीं है उन्हें मद्य मांस आदि के त्याग का ही उपदेश देना आगम सम्मत है।

श्री कुंदकुंदस्वामी भी मुनि को पूजा आदि का उपदेश देने के लिये कहते हैं—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसोय[23]॥(248)॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना और उनका पोषण करना तथा जिनेंद्र देव की पूजा का उपदेश देना यह सरागी मुनियों की चर्या है। यहां जिनेंद्रपूजा का उपदेश श्रावक धर्म से ही संबंध रखता है।

क्या मद्य मांस आदि त्याग और दयादान का उपदेश भगवान ने दिया है?

श्री गौतम स्वामी ने स्पष्ट कहा है कि श्रावक के लिये मद्य, मांस, मधु का त्याग व बारह व्रतों का उपदेश भगवान महावीर ने दिया है। वे कहते हैं कि--

"श्रुतं मे आयुष्मन्तः" इत्यादि हे आयुष्मन् भव्यों! मैंने सुना है कि भगवान महावीर ने मद्य मांसादि का त्याग और पांच अणुव्रत आदि गृहस्थ धर्म का "उपदेसिदाणि" उपदेश दिया है।"[24]

इसमें अहिंसाणुव्रत में दया और अतिथिसंविभागव्रत में दान का उपदेश है ही है तथा श्री कुंदकुंददेव की गाथा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यवर्ग संघ में शिष्यों का संग्रह भी करते हैं, उनका ज्ञान आदि के द्वारा तथा व्याधि के होने पर वैयावृत्य आदि के द्वारा पोषण भी करते हैं।

क्या गृहस्थ रत्नत्रय का उपदेश दे सकते हैं?

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि श्रावक या अविरत सम्यग्दृष्टि जैन श्रावकों को रत्नत्रय का—मुनिधर्म का या शुद्धोपयोग का उपदेश देने के अधिकारी नहीं है। वे तो अपने सदृश श्रावकों को श्रावक धर्म का ही उपदेश दे सकते हैं। पहली बात तो कोई भी विद्वान् पंडित यदि किसी को मुनिधर्म का उपदेश देता है तो वह हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि आगम की भी उन्हें वैसी आज्ञा नहीं है—

यथा—"दयाबुद्धीए साहुणं णाणंदंसणचरित्तपरिच्चागो दाणं पासुअपरिचयागताणाम्। ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवद् तत्थ चरित्तभावादो। तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु अस्थि, तेसिं दिट्ठिवादादी

उवरिमसुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो। एत्तो एदे कारणं महेसिणं चेव होदि।

"दया बुद्धि से साधुओं के द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में संभव नहीं है, क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश देना भी गृहस्थों में संभव नहीं है, क्योंकि दृष्टिवाद आदि उपरिमश्रुत के उपदेश देने में उनका अधिकार नही हैं। अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।"[25]

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि विद्वान् लोग यदि उपदेष्टा बनते हैं, तो वे श्रावकाचार और प्रथमानुयोग का ही उपदेश देवें, मूलाचार तथा समयसार का नहीं, चुंकि मूलाचार में मुनियों के व्यवहार रत्नत्रय का और समयसार, नियमसार, प्रवचनसार में भी मुख्यता निश्चय रत्नत्रय का व गौणतया व्यवहार रत्नत्रय का ही वर्णन है।

जो भी गुरू के गुण, शिष्य के लक्षण, पाप भीरूता आदि बातें अध्ययन में बतलाई हैं,प्रवचन करने वाले विद्वान में भी सभी बातें आवश्यक हैं। सर्वोत्तम उपदेशक तो मुनि ही होते हैं। यदि कोई विद्वान पंडित है तो उन्हें भी देश चारित्रधारी होना चाहिये। कम से कम पांच अणुव्रत तो उन्हें अवश्य होना चाहिये। पुनः पुर्वाचार्यों की परंपरा के अनुसार किसी न किसी शास्त्र के आधार से पूर्वापर से अविरूद्ध अर्थ करते हुये प्रवचन करना चाहिये। प्रवचन करते समय मध्य में प्रश्नोत्तर की परंपरा न रखकर अंत में प्रश्नों के लिये श्रोताओं को अवकाश देना चाहिये। उपदेश के मध्य प्रश्नोत्तर होने से सभा में उपदेश का क्रम भंग हो जाने से सभा में अशांति हो जाती है। अनंतर भी प्रश्नों को सुनकर वक्ता को बहुत ही गंभीर मुद्रा में शांति से आगम के आधार से उत्तर देना चाहिये। उत्तर देते समय उत्तेजित नहीं होंना चाहिये और न गलत शब्दों का प्रयोग करना चाहिये।

उपदेश में क्या-क्या विषय चाहिये? इसके लिये धवलाकार ने भी चार प्रकार की कथाओं के कहने का आदेश दिया है।

चार प्रकार की कथायें :—

धवला में चार प्रकार की कथाओं का वर्णन आया है—

प्रश्न व्याकरण नाम का दसवां अंग आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन करता है।

1. आक्षेपणी—जो नाना प्रकार की एकांत दृष्टियों का और दूसरे समयों का निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नव पदार्थों का प्ररूपण करती हैं उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

2. विक्षेपणी—जिसमें परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं। अनंतर परसमय की आधारभूत अनेक एकांत दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है। छह

द्रव्य और नौ पदार्थों का निरूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

संवेदनी—पुण्य के फल का वर्णन करने वाली कथा को संवेदिनी कथा कहते है।

शंका—पुण्य के फल कौन से हैं ?

समाधान—"तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियां पुण्य के फल है।"[26]

निर्वेदनी—पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं।

शंका—पाप के फल कौन से हैं ?

समाधान—नरक, तिर्यंच और कुमानुष योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं। अथवा संसार. शरीर और भोगों से वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कहते हैं।

इन कथाओं को कहते समय जो जिन वचन को नहीं जानता है ऐसे पुरूष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं करना चाहिये। क्योंकि जिसने स्वसमय के रहस्य को नहीं जाना है, वह परसमय की प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलचित्त होकर मिथ्यात्व को स्वीकार न कर लेवें, अतः उसके लिये इस कथा का निषेध है। उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमय को अच्छी तरह से समझ लिया है जो पुण्य और पाप के स्वरूप को जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हड्डियों के मध्य में रहने वाला रस हड्डी से संसक्त होकर ही शरीर में रहता है, उसी तरह जो जिनशासन में अनुरक्त है, जिनशासन में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रति से विरक्त है और जो तप, शील और नियम से युक्त है ऐसे पुरुष को ही पश्चात् विक्षेपणी कथा का उपदेश देना चाहिये। प्ररूपण करके उत्तम रूप से ज्ञान कराने वाले के लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है। इसलिये योग्य पुरुष को प्राप्त करके ही साधु को कथा का उपदेश देना चाहिये[27]।

इससे यह तात्पर्य हुआ कि द्रव्यसंग्रह, तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार आदि ग्रन्थ आक्षेपणी कथा में आ जायेंगे। न्यायकुमुदचंद्र, अष्टसहस्त्री आदि ग्रन्थ विक्षेपणी कथा के अन्तर्गत हो सकते हैं क्योंकि इनमें पर संप्रदाय के पूर्वपक्ष रखे जाते हैं। पुनः उनका खंडन किया जाता है।

1 आत्मानुशासन

2 आत्मानुशासन श्लोक 7

3 आत्मानुशासन श्लोक 4-5-6

4 अनगारधर्मामृत अ 1, श्लोक 4

5 पुरूषार्थसिद्ध्युपाय

6 पुरूषार्थसिद्ध्युपाय

7 सागार धर्मामृत अ. 2

8 ज्ञानार्णव पृ. 160

9 इन्द्रनंदि श्रुतावतार

10 धवला, पु. 1 पृष्ठ 197-198

11 धवला, पु. 1 पृष्ठ 222-223

12 धवला, पु. 1 पृष्ठ 316

13 धवला पु. 6 पृष्ठ 151

14 धवला पु. 7 पृष्ठ 507

15 धवला पु 7 पृष्ठ 541

16 मूलाचार, पर्याप्ति अधिकार, गाथा 798-80

17 नियमसार

18 समयसार गाथा 171 टीका आत्मख्याति

19 द्रव्यसंग्रह

20 पद्मपुराण, 106 पर्व, पृष्ठ 30

21 आचार सार

22 पुरूषार्थसिद्धयुपाय

23 प्रवचनसार

24 मुनि पाक्षिक प्रतिक्रमण

25 धवला पु. 8 पृष्ठ 87

26 तित्थयर-गणधर-रिसिचक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहरिव्दीओ। (धवला पु. 1 पृ. 106)

27 धवला पु. 1, पृ. 106 से 108 ।

वर्तमान में शिक्षण शिविर की आवश्यकता

❑ पं. बच्चूलाल जैन शास्त्री, कानपुर

विद्याहीना न शोभन्ते। निर्गंधा इव किंशुकाः।

मनुष्य में मानवता के विकास में शिक्षा का प्रथम स्थान प्रारंभ से ही रहा है। वह शिक्षा से उपेक्षित है। वह शरीर से मानव देही अवश्य है किन्तु मानवीय गुणों के अभाव के कारण वह सुगंधि से रहित ढ़ाक के फूल के समान बाह्य में देखने में बहुत सुन्दर किन्तु सुगन्धि से रहित होने के कारण काँटों के मध्य रहने वाले सुगन्धित गुलाव के फूल के सम्मान को नहीं पा सकता है। उसी प्रकार मनुष्य देह से कितना ही सुन्दर सुडौल क्यों न हो यदि उसमें शिक्षा की सुगन्धि नहीं है तो वह एक शिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति के व्यक्तित्व को नहीं प्राप्त कर सकता।

अतः शिक्षा की उपलब्धि व विकास हेतु सर्व प्रथम शिशु से बालक अवस्था को प्राप्त होने पर माता पिता योग्य गुरूओं के संरक्षण में बालकों को सौंप देते थे जहाँ उन्हें ब्रह्मचर्य का विधिवत् पालन करते हुए भिक्षा वृत्तिसे अपनी उदर पूर्ति करके विद्याध्ययन करना पड़ता था तथा राजा महाराजाओं द्वारा गुरूओं के आश्रमों की आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती रहती थी। किसी छात्र से किसी प्रकार के शुल्क की वसूली गुरूओं द्वारा नहीं की जाती थी। गुरू बड़े ही सम्मान दृष्टि से देखे जाते थे और यह धारणा जन साधारण की थी कि 'गुरू स्नेहो हि कामासू।' अर्थात् गुरू का स्नेह उनके सभी मनोरथों की पूर्ति में सहायक होता है।

गुरू समान रूप से विनम्रचित्त होकर जिस किसी कला में छात्र की विशेष रूचि देखते थे, उसमें उसे परिपक्व करके बिदाई का आदेश देते थे। उनके माता पिता अपने पुत्रों को शस्त्र शास्त्रादि विद्याओं में निपुण देखकर हर्षित होकर गुरू दक्षिणा के रूप में आदर सहित भेंट अर्पण करके अपना अहोभाग्य मानते थे। इसके स्पष्ट उदाहरण श्री रामचन्द्रजी, जम्बूकुमार (जम्बूस्वामी) जी, अग्निभूति, वायुभूति आदि के चारित्र हमारे सामने स्पष्ट हैं। इन्हें पढ़कर जन साधारण अपने कल्याण मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।

किन्तु "सब दिन होत न एक समाना।" समय सदा एक सा नहीं रहता। समय बदला और शिक्षण पद्धति में भी परिवर्तन हुआ और विद्यालय, पाठशालायें व स्कूल-कॉलेजों के माध्यम से जन साधारण अपनी सन्तान को शिक्षा प्राप्ति का साधन निश्चित करने लगे। जहाँ बालक बालिकाऐं काष्ठ की पट्टी पर ईंटों का महीन चूर्ण डालकर एक लकड़ी की महीन नोंक से लिखते थे।

बाद में उस पर कालिस पोतकर उसे घोंट कर कलम व मिट्टी की दवातों में खड़िया मिट्टी डालकर उससे सुन्दर अक्षर बनाते और लिखते थे। स्याही का निर्माण भी स्वयं करते थे। शनैः शनैः पठन-पाठन की सामग्री भी विशेष रूप से उपलब्ध होने लगी और कागज पेन आदि का उपयोग कर छात्र अब वर्तमान के नये आविष्कृत साधनों को उपयोग में लेते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

अध्यापक वर्ग भी अब कितना बदला हुआ हमारे सामने है। अब न तो अध्यापक ही रहा है और न छात्र ही रहे। मुझे पूर्ण रूप से स्मरण है-मैं जब बोर्डिंग में रहकर अध्ययन करता था और सायंकाल खेलते समय यदि बोर्डिंग हाऊस के बाहर सडक से अध्यापक दिख भी जाते थे तो दौड़कर सड़क पर उन्हें प्रणाम करके चरण स्पर्श करने में अपना गौरव समझता था। जब कि आजकल ठीक इससे विपरीत स्थिति हम सब के सामने है। रास्ते में जाते हुए यदि कोई छात्र गुरु को देख लेता है तो या तो वह किनारा काटकर निकलने का प्रयत्न करता है या सामने ही पड़ जाय तो वह अपनी गति विधि में परिवर्तन करना उचित ही नहीं समझता।

इसका प्रमुख कारण है कि अब शिक्षा का उद्देश्य ही बहुत कुछ बदल गया है। अब तो शिक्षा अच्छा खासा धंधा बन गयी है। अध्यापक वर्ग शिक्षा के माध्यम से इस आर्थिक युग में इसके द्वारा धन उपार्जन में पीछे नहीं है। विद्यार्थी भी शिक्षा प्राप्त करता है तो पढ़कर वह किस प्रकार अधिक से अधिक सरलता से अच्छी से अच्छी नौकरी प्राप्त कर उससे अर्थोपार्जन कर अपना गृहस्थ जीवन आनन्द से व्यतीत कर सकेगा यही लक्ष्य रखता है। फल स्वरूप यद्वा तद्वा ढंग से अनेक डीग्रियाँ प्राप्त करने की ही अभिलाषा रखता है। योग्यता के विकास की ओर तो उसका ध्यान ही नहीं जाता, मानवीय वर्तन एवं भारतीय संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन का प्रश्न तो बहुत दूर की बात है। वे कवि की इस कथनी को भूल गये कि "शिक्षे! तुम्हारा नाश हो, तुम नौकरी के हित बनी।"

विदेशी शासकों का शासन काल सैकड़ों वर्षों तक रहने व शिक्षण शालाओं की संख्या भी सीमित ही होने से शिक्षा की बड़ी ही दयनीय स्थिति थी। किन्तु हमारा भारतवर्ष महर्षियों की तपोभूमि है। यहाँ सदैव से अनेक आत्माओं ने अपने आत्मबल से ज्ञानावरणादिक कर्मों को समूल नष्ट कर पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख व बल आदिक गुणों को प्राप्त कर संसार में भटकते हुए अनेक प्राणियों को संमार्ग पर लगाया है और लगा रहे हैं व आगे भी लगावेंगे।

उसी नियमानुसार हमारे वर्तमान महर्षियों एवं विद्वानों ने अपनी संस्कृति एवं आर्ष परम्परा के संरक्षणार्थ अनेक समयोपयोगी कदम उठाये और आगम का आश्रय लेकर युक्ति पूर्ण तर्कों से विरोधियों का सामना कर सफलता प्राप्त की।

एक समय था जब जिज्ञासुओं की संख्या अधिक न होने से पूज्य वादिभ केशरी पं. गोपालदासजी

बरैया ने अपने घरपर ही, पूज्य पं. देवकीनन्दनजी, पू. पं. बंशीधर जी न्यायालंकार व पूज्य पं. खुबचंदजी जैसे प्रकाण्ड विद्वानों ने हम सबको आत्म कल्याण के पवित्र मार्ग को प्रदर्शन करने योग्य बनाया व प्रातः स्मरणीय पूज्य १०८ गणेश कीर्तिजी महाराज ने एक-एक पैसे के ६४ पोस्ट कार्डों को चौसठ जगह डालकर अपनी संस्कृति व आगम के ज्ञान वर्धन हेतु जगह जगह अपने विद्यालय स्थापन करने का सुझाव समाज के समक्ष रखा और उदारमना समाज ने उसे आदर के दृष्टि से कार्य रूप में परिणत किया।

आज उन्हीं के प्रयत्नों का यह फल है कि हमें समाज में यत्रतत्र अनेक विद्वान् उपलब्ध हो जाते हैं और अनेक भव्यात्मायें ज्ञान की वृद्धि करने के साथ-साथ चारित्र का भी अवलम्बन लेकर समाज का लौकिक एवं आध्यात्मिक कल्याण का मार्ग प्रदर्शन करने में अपना अवचनीय योग प्रदान कर रहे हैं। किन्तु "चक्रारगर्तमिव गच्छति भाग्य पलटे" समय सदा एक सा नहीं रहता शासन में परिवर्तन हुआ। अँग्रजी शासन भारत से समाप्त हुआ। प्रजातंत्र का श्री गणेश हुआ। सभी को अपने-अपने अधिकारों की मांग का पूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ। इसके लिये हमारे देश के अनेक सुयोग्य आत्माओं ने अपने वैयक्तिक स्वार्थ का त्याग किया और अनेक यातनाओ का सामना किया। जिनमें प्रमुख रूप से पूज्य महात्मा गांधी, पं. जवाहरलाल नेहरू गोपालदास गोखले, सरदार पटेल आदि इन सबने अपने कर्तव्यों का पालनकर अधिकारों के लिये जीवन भर संघर्ष कर भारत में प्रजातंत्र की स्थापना की।

यदि वर्तमान में भी इसी तरह अधिकारों की मांग के साथ साथ अपने कर्तव्यों को भी हम सब समझने लगें तो यह देश पुनः एक आदर्श देश हो जाय।

शिक्षा के क्षेत्र में यही स्थिति है, अधिकारों की माँग सब करते हैं किन्तु कर्तव्य की ओर कोई दृष्टिपात भी नहीं करता फल स्वरूप वैयक्तिक एवं सामाजिक सभी शिक्षण संस्थाएँ भी इस प्रकार के दूषित वातावरण से मुक्त न रह सकी हैं। अतः इस आर्थिक युग में बढ़ती हुई जन संख्या को लक्ष्य में रखते हुए हमारे सभी संस्कृति के प्राण स्वरूप योगीश्वरों और विद्वज्जनों ने "शिक्षण शिबिर" के माध्यम से अपनी संस्कृति को सुरक्षित एवं व्यापक ढंग से जन साधारण के बीच रखने का एक सही मार्ग निश्चित किया है।

इसे कार्य रूपमें परिणत करने के लिए पाठ्य पुस्तकों की समस्या को भी आचार्य श्री १०८ विमलसागरजी महाराज के संघस्थ पूज्य माताश्री स्याद्वादमतीजी ने पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज के पुनीत संरक्षण में पूर्ण कर दिया है।

महाराजश्री अनेक दर्शनार्थियों के कल्याणकारी मार्गो को भाषासमिति आश्रय से जिन प्रणीत मार्ग से प्रभावना कर रहे हैं जिससे प्रत्यक्ष रूप में जैन-अजैन सभी लाभ लेकर अपनी लौकिक एवं आध्यात्मिक समुन्नति करके उनके मुक्त कंठ से गुणगान कर रहे हैं वह हम सबसे छिपा नहीं है।

७८ वर्ष की वृद्धावस्था में भी आज अपनी दिव्य ज्योति से जन साधारण को जो प्रकाश दे रहे हैं उसे मेरे जैसे अल्पज्ञ को लिखना असंभव है।

मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि पूज्य आचार्यश्री के शुभाशीर्वाद एवं आगम के पठन-पाठन की कर्मठ अभिरूचि के अधिपति पूज्य उपाध्याय श्री १०८ भरतसागर की पुनीत प्रेरणा से मुझे शिक्षण शिविर के माध्यम से वर्तमान में अनेकान्तात्मक ढंग से मानवीय कर्तव्यों का बोध कराने की प्रेरणा उपलब्ध हुई। इसके लिए जो भी बन्धु अपने यहाँ शिक्षण शिविर का आयोजन करना चाहें मुझे लिखें। मैं उन्हें यथा-शक्ति सहयोग देने का प्रयत्न करूंगा तथा मैं आचार्य श्री १०८ पूज्य विमलसागरजी महाराज के दीक्षा दिवस समारोह पर यही जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करता हूँ कि हे प्रभो!- हम सब में भी उनके शुभाशीर्वाद से उपलब्ध "शिक्षण शिविर" से हम सब अपने को दीक्षित कर अपना ज्ञान बढ़ावें। समाज में एकता का वातावरण बनाने के साथ-साथ पारस्परिक खोटी भ्रांतियों को अपने से हटाने की योग्यता का विकास कर अपनी आध्यात्मिक समुन्नति के सही मार्ग को प्राप्त करने में समर्थ हों। तभी हम गौरव से कह सकेंगे कि "सा विद्या या विमुक्तये" क्योंकि ऐसा किये बिना यदि हम आर्षमार्ग का संरक्षण चाहेंगे तो वैसा ही होगा, जैसा कि एक शायर ने कहा है—

मौत तकसीम करने चले हैं, खुद जिंदगी माँगते हैं।
क्या कयामत हैं आँख के अन्धे धूप से चाँदनी माँगते हैं।।

निर्माल्य-भक्षण

❑ पं. श्री. सुमेरचन्दजी दिवाकर

धर्मादि की रकम का किस काम में उपयोग हो सकता है?

महाराज चा. च. स्व. आचार्यश्री स्व. शांतीसागरजी ने कहा—"उन कामों में द्रव्य देना योग्य नहीं है। मंदिर की सम्पत्ति को जो भी श्रावक खायेगा, उसका अहित होगा।" महाराज ने बताया था—"मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्य में यदि द्रव्य का व्यय करो तो धर्म रक्षण होगा"। धर्मादा के द्रव्य के उपभोग के बारे में जोशीले तरूण मनमानी व्यवस्था सोचते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में आगम के प्रकाश में ही प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर होगा। कई पंडित नामधारी भाई भी लोकमत का समर्थन करके यश लूटने में कृतार्थता का अनुभव करते है। आगम की आज्ञा का लोप होकर दुर्गति का भय उनको नहीं रहता है। ऐसे प्रसंग पर आचार्य महाराज से समाज को प्रकाश प्राप्त करना चाहिये। जिन कुंद कुंद स्वामी के प्रति समाज अत्युत्कट भक्ति दिखा अपने को कुन्द कुन्दान्वय वाला कहती है, तथा ऐसा ही लेख प्रतिमाओं में बांचती है, उन महर्षि की वाणी इस सम्बन्ध में क्या कहती है, उसे बड़े ध्यान से पढ़ना चाहिये और शांत भाव से विचारना चाहिये कि लोक प्रवाह पतन की ओर ले जाने वाला है या कल्याण की ओर। उन्होंने रयणसार में लिखा है—"जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा, तीर्थवन्दना विषयक धन को जो भोगता है वह जिनेन्द्र के ज्ञान गोचर नरकगति के दुःख को भोगता है।"

ऐसे दुःखों से न पंचायतों का प्रस्ताव बचा सकेगा और न कुछ पंडितों और दूसरों का दिया गया प्रमाण पत्र ही काम आयेगा। जैन धर्म में कर्मों के भोगने में कोई भी सिफारिश काम नहीं आती है। अतएव लोग विचार कर सोचे कि मंदिर के द्रव्य को उपरोक्त कामों के विपरित मन के अनुसार कामों में खर्च करने से उनको कितनी बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ेगी। हमें लोकवाणी के स्थान में जिनेन्द्र की वाणी को मानना चाहिये।

जो भाई धर्मादा की रकम को अपने काम में लाते हैं और समाज के बीच विषमता तथा विसंवाद के कारण बन जाते हैं उनको महर्षि कुन्दकुन्द स्वामी की यह चेतावनी भी चित्त में लाना चाहिएः—

"भगवान की पूजादान आदि सम्बन्धी द्रव्य को लेने वाला व्यक्ति पुत्र तथा स्त्री से रहित हो जाता है, दरिद्र, पंगु, मूक, बधिर, अंधा तथा चांडालादि नीच पर्यायों में उत्पन्न होता है—

"पुत्तकलत्तविदूरो दारिद्दो पंगुमूकबाहेरंधो

चांडालाइ कुजादो पूजादाणाइदव्व-हरो॥33॥" रयणसार

एक धर्मात्मा भाई कहते थे, "जब हमारे पास धर्मादा का द्रव्य था, और हमने उसके हिसाब की सफाई नहीं रखी, तब बहुत कष्ट उठाते हुए भी हमारा व्यापारिक जीवन हीन ही रह आता था, किंतु जब से हमने मन्दिर के द्रव्य को जलते हुए अंगारे की भांति समझकर उसका अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध रंचमात्र भी नहीं रखा, तबसे जिस काम में हाथ लगाते हैं श्री जी की कृपा से मनोरथ सफल होता है। एक सिक्ख भाई ने बताया था कि वे गुरुद्वारा की सम्पत्ति को स्वयं को उपभोग में नहीं लाते है। ऐसा करना उनके धर्म में वर्जित है।

कुन्दकुन्द भगवान की यह वाणी भी धर्मादा की रकम से सम्बन्ध रखने वालों को हृदय में रखनी चाहिए।

पूजा दान में अन्तराय का फल क्षयरोग, कुष्ठ, मूल व्याधि, शूल, लूत, भगन्दर जलोदर, खिसिर, शीत तथा उष्ण की बाधाएँ हैं।

"खयकुट्ठमूल-मूलो-लूनिभयंदर जलोदर खिसिरो
सीदुण्हवाहिराई-पूजादाणंतराय कम्मफलं।।36।। रयणसार

इन आगम के प्रकाश में समाज, विद्वज्जन तथा अन्य शिक्षित लोग विचार लें कि धर्मादा का द्रव्य मन के अनुसार स्वार्थ साधन करने योग्य नहीं है। वह परमार्थ की वस्तु हैं। जैसे बाहर लगाने वाली औषध को यदि कोई खा जाय तो कभी कभी वह रोग मुक्त करने के बदले में रोगी को ही समाप्त कर देती है। इसी प्रकार देव द्रव्य का मनमाना उपभोग विपत्ति का कारण होगा।

देवद्रव्य :

एक दिन मैंने आचार्यश्री से पूछा था-"महाराज! अब देव द्रव्य पर सरकार की शनि दृष्टि पड़ी है, ऐसी स्थिति में उसका क्या उपयोग हो सकता है?" महाराज ने कहा था-"अपने ही मंदिर में उसका उपभोग करने का मोह छोड़कर अन्य स्थानों के भी जिन मन्दिर को यदि आत्मीय भाव से देखकर उनके रक्षण, व्यवस्था, जीर्णोद्धार आदि में रकम का उपभोग करोगे, तो विपत्ति नहीं आयेगी।"

धर्मादा की रकम का ठीक-ठीक उपभोग करने से मनुष्य समृद्ध होता है। वैभव सपन्न बनता है। उसी द्रव्य को स्वयं हजम करने लगे तो सम्पत्ति को क्षय रोग लगता जाता है। आदमी पनपने नहीं पाता है। जिन प्रान्तों में मन्दिर के द्रव्य को जैनी भाई खाते है, वहाँ उनकी द्ररिद्रता की स्थिति देखकर दया आती है। अतः इस विषय में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति रखना श्रेयस्कर है

आगम की आज्ञा से डरना चाहिये, लोकमत से नहीं

कभी-कभी बड़े व्यापारी लोग धर्मादा के नाम से लोगों से द्रव्य लेते जाते हैं और उसका स्वार्थ साधनार्थ उपयोग करते हैं। यह पद्धति बिल्कुल उल्टी है। वह द्रव्य पारमार्थिक कार्यों के लिए अमानत के रूप में तुम्हारे पास है।उसके प्रति बेईमानी करना बहुत बड़ा पाप है। अमानत की वस्तु को खा जाने से राजदण्ड भी मिलता है। अतः समझदार व्यक्तियों का कर्तव्य है कि जीर्णोद्धार आदि आवश्यक कार्यों के हेतु जब विपुल क्षेत्र विद्यमान है, उसकी उपेक्षा करके स्कूल, कॉलेज आदि पूर्णतया लौकिक कार्यों में परमार्थ सम्बन्धी द्रव्य का उपयोग करना उस दानियों के प्रति प्रामाणिक व्यवहार के प्रतिकूल है, जिन्होंने इस कठिन कमाई के पैसे को मोक्षमार्ग के हेतू अर्पण किया था। जिन्हें लौकिक कार्यों को प्रोत्साहन देना है, वे नवीन दान की धारा को उस ओर से लगवा सकते है, किन्तु पूर्व प्रदत्त धर्मादा की द्रव्य के आज बहुमत के बल पर रत्नत्रय के असाधनों में लगाना अच्छा है, या नहीं है, यह भगवान कुन्दकुन्द स्वामी कथित परमागम के प्रकाश में स्वयं विचार लेवे। हमें प्रतीत होता है, लोगों की आँखें खोलने का भी महान् कार्य आचार्य श्री ने किया। आगम प्रेमियों का कर्तव्य है कि वे रंच मात्र भी भय न करके सन्मार्ग का प्रतिपादन करें। जिनेन्द्र की आज्ञा से डरना चाहिए, लोगों से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? (चारित्र चक्रवर्ती से साभार)

अकेले विहार करना पांच पाप के स्थान का कारण—

जिनाज्ञोल्लंघनं चैकमनवस्थास्वशासने।
मिथ्यात्वाराधनं स्वात्मनाशः सार्द्धदृगादिभिः।।2214।।

समस्तसंयमस्यात्रविराधनाह्यमूनि भोः।
निकाचितानिपंचस्यु स्थानान्येकविहारिणः।।2215।।

अकेले विहार करने वाले मुनि के पांच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं एक तो भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लघंन होता है दूसरे जिनशासन में अव्यवस्था हो जाती है अर्थात् सभी मुनि अकेले विहार करने लग जाते हैं। तीसरे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। चौथे सम्यग्दर्शनादिक गुणों के साथ साथ अपने आत्मा का ज्ञान चारित्र आदि सब गुणों का नाश हो जाता है और पांचवे समस्त संयम की विराधना हो जाती है। इस प्रकार एकल विहारी के पांच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते है।

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

जैन
रामायण
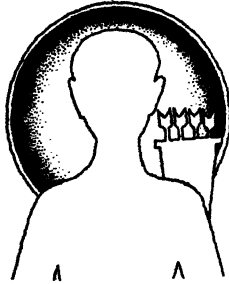
तुंगी पर्वत - रामनिर्वाण भूमि
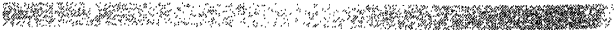
❑ *डा. मूलचन्द जैन, मुजफ्फरनगर*

"भगवान राम"

आज भी बच्चे बच्चे के मुँह पर राम का नाम है । क्यों?राम का जीवन आदर्श जीवन जो था। भाइयों से प्रेम, माता की भक्ति, पिता की आज्ञा का पालन, गुरू-भक्ति, प्रजा की पुकार का आदर, न्याय की तराजू पर पत्नी को भी तौलना, शत्रु प्रबल होते हुए भी न्याय के लिए उससे भिड़ जाना, कष्ट के समय भी कर्त्तव्य-पालन, मित्रों के प्रति कृतज्ञता, सभी कुछ तो मिलता है-उनके जीवन में। राज्य किया तो ऐसा कि आज भी राम-राज्य के गीत गाये जाते है।

और जब संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य हुआ, छोड़ दिया सभी कुछ—यहाँ तक कि वस्त्र भी, और बन गये दिगम्बर मुनि, कमर कस ली कर्म शत्रुओं से लड़ने के लिये, और एक दिन नष्ट कर ही दिया इन महायोद्धा आठों कर्मों को भी और बन गये भगवान।

1. राम जन्म

अयोध्या के राजा का नाम दशरथ था। उनकी चार रानियों के चार पुत्र थे—कौशल्या के पुत्र राम, कैकयी के भरत, सुमित्रा के लक्ष्मण और सुप्रभा के शत्रुघ्न।इनमें सबसे बड़े थे राम। चारों माताओं में एक दूसरे के लिए अपार प्रेम था। एक दूसरी के बच्चे को अपना बच्चा समझती थी। चारों बच्चों में भी आपस में बड़ा प्रेम था। चारों बहुत ही सुन्दर, होनहार, दूसरों का मन मोहने वाले थे। जो उन्हें देखता वही प्यार करता। बड़े प्यारे, दुलारे थे ये बालक।

बालक बड़े हुए। राजा दशरथ ने उन चारों पुत्रों को विद्यायें सिखाने के लिये अरि नाम के ब्राम्हण को सौंप दिया।

चारों ही बालक सब विद्याओं को सीखकर कुछ वर्ष पश्चात् अपने घर आ गये।

2.सीता जन्म

मिथिलापुरी के राजा जनक थे। उनकी रानी का नाम विदेहा था। विदेहा ने एक साथ एक पुत्र व पुत्री को जन्म दिया। पहले जन्म के बैर के कारण एक देव पुत्र को हरण करके

ले गया। बाद में दया आने पर उसे आभूषण व कुण्डल पहना कर पृथ्वी पर छोड़ दिया। चन्द्रगति विद्याधर उस बालक को उठाकर ले गया और अपनी पत्नी को सौंप दिया। उनको कोई पुत्र नहीं था। अतः उन्होंने उसे पुत्र की तरह पाला और उसका नाम प्रभामण्डल (भामण्डल) रखा।

पुत्री का नाम रखा जानकी (सीता)।माता-पिता को पुत्र के हरण का दुख तो बहुत हुआ परन्तु सीता की बचपन की लीलाओं को देख-देख कर वह उस दुख को भूले से रहते थे। सीता बहुत सुंदर थी और गुणवान् भी।

3.राम-सीता विवाह

राजा जनक सीता का विवाह दशरथ के बड़े पुत्र राम से करना चाहते थे क्योंकि उन्होंने राम की बहुत प्रशंसा सुन रखी थी।

नारद ने सुना तो सीता को देखने के लिए सीता के महल में पहुँच गये। सीता दर्पण में अपना मुख देख रही थी। जटाधारी नारद की परछाई दर्पण में देख कर डर गई और भाग गई। नारद ने अपना अपमान समझ कर सीता से बदला लेने की ठानी। उसने सीता का बहुत सुन्दर चित्र बनाकर भामण्डल को दिखाया जिसे देखकर वह सीता पर मुग्ध हो गया।

विद्याधर चन्द्रगति ने राजा जनक से अपने पुत्र भामण्डल के साथ सीता का विवाह करने का प्रस्ताव रखा जिसके लिये राजा जनक तैयार नहीं हुए। तब चन्द्रगति ने छल कपट से राजा जनक को अपनी नगरी में बुला लिया और उसके सामने यह प्रस्ताव रखा कि "यदि हमारे दिये हुए वज्रावर्त व सागरावर्त धनुष में से वज्रावर्त धनुष को राम चढ़ा देंगे तो सीता का विवाह राम के साथ कर देना वरना हम जबरदस्ती सीता को उठाकर ले जायेंगे और भामण्डल के साथ उसका विवाह कर देंगे।" जनक को यह शर्त स्वीकार करनी पड़ी।

सीता का स्वयंबर रचा गया। दूर-दूर देशों के राजकुमार आये। राम लक्ष्मण भी वहाँ पहुँचे। घोषणा हुई जो वज्रावर्त धनुष को चढ़ा देगा, सीता उसके गले में वरमाला डाल देगी।

धनुष बड़ा भयंकर था। उसमें से अग्नि की ज्वालाएँ निकल रही थीं, सांप फूँकार कर रहे थे। एक एक करके सब अपना भाग्य अजमाने लगे।

एक राजकुमार उठा, धनुष को उठाने लगा, परन्तु वहीं गिर गया। दूसरा उठा, वह भी औंधे मुँह लुढ़क गया। तीसरे ने भी प्रयत्न किया, परन्तु डर के मारे भाग गया।

अब राम का नम्बर आया। राम को देखकर सब हंसने लगे। बड़े बड़े वीर योद्धा तो इस धनुष को चढ़ा नहीं सके, यह बेचारा क्या करेगा। परन्तु राम ज्यों ही धनुष के निकट पहुँचे, धनुष ज्वाला रहित हो गया। सर्प न जाने कहाँ चले गये।धनुष बिल्कुल साधारण धनुष की तरह रह गया और राम ने धनुष को आसानी से चढ़ा दिया।

सीता धीरे धीरे बढ़ी, चेहरे पर मृदु मुस्कान थी, राम के गले में वरमाला डाल दी।सब देखते रह गये।

ऐसे थे वीर—श्री राम

ऐसे थे पुण्यशाली—श्री राम

4. सीता का भाई भामण्डल से मिलाप

सीता का विवाह राम के साथ हो गया है ऐसा जानकर भामण्डल को बहुत क्रोध आया। उसने अपने कर्मचारियों को डांटा, फटकारा कि विद्याधर होते हुए भी तुम सीता को भूमिगोचरी राम से छुड़ाकर न ला सके।फिर स्वयं अयोध्या की ओर विमान में बैठ कर चल दिया ताकि राम से युद्ध करके सीता को ले आये। परन्तु मार्ग में एक नगर विदग्धपुर को देखकर पिछले जन्म की बात याद आ गई जिससे उसने जान लिया कि सीता तो मेरी बहन है। उसने सब बातें अपने पिता चन्द्रगति को बतलाई। सुनकर चन्द्रगति को वैराग्य हो गया।

चन्द्रगति ने भामण्डल को राज्य दे दिया। स्वयं मुनि दीक्षा लेने के लिए चल दिये। अयोध्या के निकट महेन्द्रोदय बगीचे में पहुँच गये। कुटुम्बी जन व प्रजा के लोग साथ थे। वहाँ पहुँचकर चन्द्रगति ने सर्वभूतहित से मुनि-दीक्षा ले ली।

प्रजा के लोगों ने जयकारे लगाये "राजा भामण्डल की जय", "राजा जनक का पुत्र जयवंत होवे।" अयोध्या में रह रही सीता ने सुना। सोचा, हो सकता है यह मेरा भाई ही हो। राम सीता आदि सब बगीचे में पहुँच गये। सीता ने भामण्डल को देखा, हर्ष से फूली न समाई। भामण्डल ने आगे बढ़कर बहिन सीता को गले लगा लिया। राजा दशरथ भामण्डल को अपने नगर ले गये।

मिथिला से राजा जनक व विदेहा को भी बुला लिया। पुत्र भामण्डल को पाकर दोनों को अपार हर्ष हुआ।

रानी विदेहा ने सीता को अपने गले से लगाया और समझाया "सास-ससुर की सेवा करना, पति की आज्ञा में चलना कोई कार्य ऐसा नहीं करना जिससे हमारी बदनामी हो।"

माता-पिता को उनका पुत्र मिल गया। बहिन को भाई मिला। सब की खुशी का पारावार न था। राम ने साले का खूब आदर सत्कार किया। बहुत दिन अयोध्या में रखा।

पुण्य से क्या नहीं मिलता—सभी कुछ मिल जाता है।

5. राजा दशरथ को वैराग्य—कैकई को वरदान

सर्वभूतहित मुनिराज का उपदेश सुनकर राजा दशरथ को संसार, शरीर, भोगों से अरूचि हो गई। विचारने लगे संसार दुःखमय है, शरीर अपवित्र है, भोग क्षणभंगूर है, क्या रखा है इनमें? महलों में लौटकर मंत्रियों से कहा कि मैंने निश्चय कर लिया है कि मुनि दीक्षा लूँगा। अतः आप राम के राज्याभिषेक की तैयारी करो। राम को तिलक करके मैं वन चला जाऊंगा। मंत्रियों ने बहुत समझाया, परन्तु दशरथ अपने निश्चय पर दृढ़ रहे।

सब ओर उदासी छा गई। रनिवास में रूदन होने लगा। भरत ने सुना, उसे भी वैराग्य हो गया। उसने भी मुनि बनने का निश्चय कर लिया।

जब कैकेई ने जान लिया कि पति भी घर छोड़ रहे और पुत्र भी मुनि बनना चाहता है तो उसे बहुत दुःख हुआ, सोचने लगी कि मेरा अब क्या होगा? क्या करूँ? इसी उधेड़बुन में थी। सहसा विचार आया कि राजा दशरथ ने, एक बार, जब मैंने रथ का कुशलतापूर्वक संचालन करके उनको युद्ध में विजय दिलवाई थी, एक वर मांगने के लिए कहा था। वह वर अब भी मेरा धरोहर के रूप में रखा है। क्यों न उस वर को इस समय मांग लूँ।

राम को वह हृदय से प्यार करती थी फिर भी पहुंच गई दशरथ के पास और वर मांग ही लिया। "राज्याभिषेक मेरे पुत्र भरत का होना चाहिये।" दशरथ विवश थे।मानना पड़ा।

दुःखी हृदय से राम को बुलाया, सब बातें बताई, अपनी विवशता भी समझाई।

राम ने सहर्ष कहा- "पिता जी, आप राज्याभिषेक मेरा नहीं, भाई भरत का ही कीजिये।"

ऐसे थे दशरथ—वचन को निभाने वाले।

ऐसे थे राम—पिता की आज्ञा मानने वाले।

6. राम का वन गमन

भरत को राज्य करने में कोई बाधा न आये, प्रजा कोई उपद्रव न खड़ा कर दे, यह सोचकर राम ने पिता जी से यह भी कहा—"मैं अयोध्या में नहीं रहूँगा बल्कि ऐसी जगह चला जाऊँगा जहाँ मुझे कोई जान भी न सके कि मैं कौन हूँ।"

भरत को बुलाकर दशरथ ने उसके राज्याभिषेक की बात कही परन्तु भरत तैयार न हुए क्योंकि वह तो मुनि दीक्षा लेने का विचार कर ही चुके थे। तब राम ने भरत को बहुत समझाया कि पिताजी को उनके वचनों का पालन करने में हमें सहायक होना चाहिये न कि बाधक और पिताजी की आज्ञा मानना भी तो हमारा कर्तव्य है।

राम के समझाने पर भरत न चाहते हुए भी राज्याभिषेक के लिए तैयार हो गये। परन्तु

घर में रहते हुए भी घर से विरक्त रहने लगे।

राम ने पिता जी को प्रणाम किया और चल दिये। दशरथ मूर्छित होकर गिर पड़े। फिर चारों माताओं को प्रणाम किया, आशीर्वाद लिया। मातायें रोने लगी, राम ने उन्हें धीरज बंधाया और बिदा ली।

सीता के पास गये। कहा-हम वन को जा रहे हैं। परन्तु सीता ने कहा—"ठीक है, मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगी जहां पति वहीं पत्नी, जहां तुम वहीं मैं।" और चल दी राम के साथ।

भाई लक्ष्मण को क्रोध तो बहुत आया, परन्तु राम ने समझा-बुझा कर उन्हें शांत किया। भाई राम के साथ स्वयं भी चलने के लिए तैयार हो गये। माता सुमित्रा ने भी लक्ष्मण को साथ जाने के लिए सहर्ष आज्ञा ही नहीं दी बल्कि यह भी कहा कि भाई-भावज की खूब सेवा करना।

और इस प्रकार राम, सीता, लक्ष्मण वन को चल दिये। पूरी अयोध्या में हाहाकार मच गया।

ऐसी थी सीता—पतिव्रता—सुख दुःख में पति के साथ।

ऐसे थे लक्ष्मण—भाई की खातिर सब कुछ त्याग।

ऐसी थी माता सुमित्रा—पुत्र का मोह छोड़ा।

7. वन में—राम, सीता व लक्ष्मण

आगे आगे राम, बीच में सीता, पीछे लक्ष्मण चले जा रहे है। पीछे पीछे प्रजा के लोग—दुखी हृदय, रोते बिलखते हुए पहुंच गये जंगल में।

राम ने बहुत समझाया, परन्तु प्रजा के लोग वापिस नहीं लौटे, नहीं लौटे। अपार प्रेम जो था उन्हे राम के प्रति।

बहुत दूर जाकर वे श्री अरहनाथ तीर्थंकर के चैत्यालय में ठहर गये। प्रजाजन भी रात्री में चैत्यालय के बाहर सो गये। निराश होकर प्रजा के लोग अयोध्या को लौट गये।

उधर सभी लोगों ने व रानियों ने दशरथ को बहुत समझाया परन्तु भरत का राज्याभिषेक करके उन्होंने मुनि दीक्षा ले ही ली।

महलों में रानियां रह तो रही थी परन्तु उनके दुःख का पारावार नहीं था। पति मुनि बन गये, राम, लक्ष्मण, सीता वन को चले गये, भरत राज्य करते हुए भी उदासीन रहने लगे।

कैकई को तो बहुत ही दुःख था क्योंकि वह समझती थी कि यह सब उसके कारण ही हुआ है।

एक दिन कैकई ने भरत से कहा कि राम लक्ष्मण के बिना अयोध्या सूनी हो गई, कौशल्या व सुमित्रा का बुरा हाल है, अतः तुम शीघ्र जाकर राम-लक्ष्मण व सीता को वापिस ले आओ और मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे शीघ्र ही आ रही हूँ।

भरत माँ की आज्ञानुसार खोजते खोजते पहुँच गये राम के पास। घोड़े से उतरे, उन्हें प्रणाम किया, फिर अयोध्या लौट कर राज्य संभालने के लिए प्रार्थना की। पीछे पीछे कैकई भी पहुँच गई। उसने भी राम को अयोध्या लौटने के लिए बहुत कहा। परन्तु राम ने यही समझाया 'हमारा इस समय अयोध्या लौटना ठीक नहीं है, इससे पिता जी की आज्ञा का उल्लंघन होगा। और मैं सदा के लिये तो नहीं जा रहा हूँ, तुम निश्चिन्त रहो, मैं बहुत शीघ्र ही लौट कर आ जाऊँगा।'

राम ने भरत का राज्य तिलक किया और गले से लगा लिया। विवश भरत को लौटना पड़ा। परन्तु भरत ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि राम के अयोध्या लौटते ही मैं मुनि दीक्षा अवश्य ले लूंगा।

8. राम द्वारा वज्रकरण की रक्षा

वनों में घूमते घूमते राम उज्जयनी नगरी पहुंच गये।नगर बहुत सुंदर था परन्तु बिल्कुल उजाड़। पता करने पर मालूम हुआ कि इस नगरी का राजा सिंहोदर था। उसके आधीन था दशांगपुर का राजा वज्रकरण।

आधीन होने के कारण वज्रकरण, सिंहोदर को नमस्कार किया करता था। परन्तु उसने प्रतिज्ञा ले रखी थी कि मै जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ मुनि व जिनवाणी के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। इसलिए उसने अपनी अंगूठी में श्री मुनिसुव्रत नाथ भगवान की प्रतिमा जड़वा रखी थी। इस प्रकार जब उसे सिंहोदर को नमस्कार करना पड़ता था तो वह ऊपर से तो सिंहोदर को नमस्कार करता हुआ दिखाई देता था परन्तु वास्तव में वह नमस्कार करता था अपनी अंगुठी में स्थापित जिनेन्द्र देव की प्रतिमा को।

किसी ने राजा सिंहोदर से उसकी शिकायत कर दी। सिंहोदर ने वज्रकरण का नगर उजाड़ दिया और जिस किले में वज्रकरण बैठा था उसकी सेना ने उसे घेर लिया। सिंहोदर ने उसे कहलवाया कि आकर हमें नमस्कार करो।

परन्तु वज्रकरण इसके लिये तैयार नहीं हुआ।

इधर लक्ष्मण भोजन लेने के लिये दशांगपुर पहुंचे। किले में बैठे वज्रकरण ने उन्हें देखा, उनसे प्रभावित हुआ, उन्हें अपने पास बुलवाया और उनके साथ अपने सेवकों द्वारा भोजन सामग्री राम के पास भिजवाई।

राम बड़े प्रसन्न हुए। वज्रकरण को धर्मात्मा समझकर लक्ष्मण को आज्ञा दी कि जिस तरह से भी हो वज्रकरण की रक्षा होनी चाहिये।

आज्ञानुसार युद्ध के लिए चल पड़े, सिंहोदर से युद्ध हुआ, सिंहोदर को हरा दिया। उसे बांध कर राम के पास ले आये। राम ने सिंहोदर व वज्रकरण में संधि करा दी और वज्रकरण का राज्य उसे वापिस दिलवा दिया।

ऐसा था वज्रकरण–प्रतिज्ञापालन में दृढ़ और–

राम–पर-उपकारी।

9. "राम द्वारा देशभूषण, कुलभूषण मुनियों का उपसर्ग दूर करना"।

चलते चलते राम, लक्ष्मण, सीता वंशस्थल नगर में पहुँचे। उसी नगर के पास वंशधर नाम का पर्वत था। राम ने देखा कि रात्रि प्रारम्भ होने पर वहाँ के लोग डर कर भागे जा रहे हैं। राम के पूछने पर पता चला कि तीन दिन से इस पर्वत पर बड़ा भयंकर शब्द होता है और भूत प्रेतादिक की डरावनी आकृतियां दिखाई देती हैं। इसलिये सब लोग रात्रि को शहर छोड़कर बहुत दूर चले जाते हैं और प्रातः होते फिर उस नगर में आ जाते हैं।

सीता बड़ी डरी। उसने राम से कहा कि हमें भी यहां से कहीं दूर चले जाना चाहिये। तब राम ने कहा कि डरने की कोई बात नहीं है। हम आज रात्रि को इस पर्वत पर ही रह कर देखेंगे कि बात क्या हैं।

पर्वत पर देखा दो मुनि देशभूषण, कुलभूषण खड़े हुए तपस्या कर रहे हैं। कुछ देर बाद अग्निप्रभ नाम का असुर जो पूर्व भव में उन मुनियों का बैरी था, आया। उन मुनियों को कष्ट देने लगा। अपनी माया से मुनियों के शरीर से सर्प, बिच्छू आदि लिपटा दिये, अग्नि बरसाई, रक्त की वर्षा की, भयंकर भूत पिशाच आदि से भयंकर शब्द कराये, जिससे भूम्कप सा आ गया, पर्वत कांपने लगा। परन्तु मुनि अपने ध्यान से न डिगे।

तब राम लक्ष्मण ने अपने धनुष बाण संभाल लिये, सर्पो आदि को हटाया और असुर के उपद्रव से मुनियों की रक्षा करने लगे। असुर इन्हें बलभद्र नारायण जानकर वहाँ से अपनी जान बचाकर भाग गया। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और उन दोनों मुनियों को केवलज्ञान हो गया।

केवलज्ञान होने पर उनकी दिव्य ध्वनि में विस्तार से दोनों मुनियों के पूर्व भवों का वर्णन, असुर का उनसे बैर का कारण आदि सब वृतान्त बताया गया। यह भी बताया गया कि इस भव में एक बार कुलभूषण व देशभूषण दोनों भाई जब विद्याभ्यास करके अपने नगर लौटे तो झरोखें में बैठी कमलत्सोवा को देखकर मोहित हो गये।परन्तु तत्काल ही जब उन्हें पता

चला कि वो उनकी बहिन ही है तो उन्होंने अपने को बहुत धिक्कारा और घरबार छोड़ कर मुनि दीक्षा ले ली।

इन दोनों मुनियों के पूर्व भव के पिता का जीव, जो मर कर गरूड़ेन्द्र हुआ था, वह भी वहाँ बैठा सब सुन रहा था।वह राम से बोला—तुमने मुनियों की सेवा की है, उनका उपसर्ग दूर किया, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ। जो चाहो मांग लो। तब राम ने कहा—जब आवश्यकता होगी तब आपको स्मरण करेंगे।

10. "राम व जटायु पक्षी"

कुछ दिन वंशधर पर्वत पर रहने के पश्चात् राम, लक्ष्मण,सीता वहाँ से चल दिये और जाकर दण्डक वन में ठहर गये। सीता ने शुद्ध भोजन बनाया। मुनि आगमन की प्रतीक्षा में तीनों कुटी के द्वार पर खड़े हो गये। कुछ देर पश्चात् सुगुप्ति और गुप्ति नाम के दो चारण ऋद्धिधारी (आकाश में गमन करने वाले) मुनिराज आहार के लिए वहाँ पधारे। उनका नियम था कि जंगल में भोजन मिलेगा तो लेंगे, वरना नहीं।

तीनों ने भक्तिपूर्वक मुनिराजों को आहार दिया। पास ही एक वृक्ष पर एक गृद्धपक्षी बैठा सब देख रहा था। उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो गया। बडा प्रसन्न हुआ, प्रसन्नता में पंख हिलाने लगा, पृथ्वी पर मुनियों के चरणों के धोये जल में आ गिरा जिसके स्पर्श से उसका सारा शरीर स्वर्ण के समान सुन्दर चमकीला बन गया।

मुनियों ने गृद्धपक्षी के पूर्व जन्म का वर्णन किया—इसी स्थान पर बहुत सुन्दर नगर था जिसका राजा इस गृद्धपक्षी का जीव दण्डक था। रानी के बहकावे में आकर उसने दिगम्बर मुनि संघ को घानी में पिलवा दिया। उस संघ के एक मुनि बाहर गये हुए थे। मुनि संघ पर उपद्रव की बात जानकर उन्हें बहुत क्रोध आया। उनकी तपस्या के प्रभाव से उनके शरीर से अग्नि का एक पुतला निकला जिसने उन मुनियों को व उस नगर को भी भस्म कर दिया। नगर जंगल बन गया। वही यह दण्डक नाम का वन है।

अपने पूर्व भव जानने व मुनियों द्वारा सम्बोधन प्राप्त होने के कारण गृद्धपक्षी को आत्मग्लानि हुई। उसने श्रावक के व्रत ग्रहण किये। सीता ने उस पक्षी को अपने पास रख लिया और बड़े प्यार से उसका पालन-पोषण करने लगी। उसका नाम रखा 'जटायु'।

11. "राक्षस वंश में रावण"

इक्ष्वाकुवंश, सोमवंश व हरिवंश की भांति एक विद्याधर वंश भी था। इस वंश के मनुष्य नाना प्रकार की विद्याओं से विभूषित थे। उनके पास विमान तथा अद्‌भुत शस्त्रास्त्र थे। ये

भूमिगोचरियों को हीन दृष्टि से देखते थे।

इन्हीं विद्याधरों में राजा मेघवाहन के वंश में रक्ष नाम का एक प्रसिद्ध राजा हुआ।उसकी मनोवेगा रानी से 'राक्षस' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी के नाम से उसके वंश वाले 'राक्षस वंशी' कहलाने लगे। ये राक्षस नहीं थे परन्तु विद्याओं से सम्पन्न मनुष्य ही थे। इस वंश में बहुत से राजा मुनि बने, बहुत से स्वर्ग गये, बहुत से मोक्ष भी गये परन्तु कुछ नरक में भी गये।

इसी राक्षस वंश में लंका के राजा रत्नश्रवा की रानी केकसी के एक पुत्र हुआ—बड़ा सुन्दर, व बलवान। जन्म के प्रथम दिन ही नवजात बालक ने पास ही रखे एक रत्नहार को पकड़कर अपनी ओर खींच लिया। यह रत्नहार इसके पूर्वजों को इन्द्र ने दिया था व इस हार की रक्षा हजारों नाग कुमार देव किया करते थे। इस हार में नौ रत्न लगे हुए थे। जब उस बालक ने वह हार उठा लिया तो उस हार के नौ रत्नों में बालक के नौ मुँह दिखाई देने लगे। इसलिये बालक का नाम दशासन (दस मुख वाला) रखा गया।

कुछ समय पश्चात् केकसी के कुम्भकर्ण नाम का दूसरा बालक पैदा हुआ, फिर पुत्री चन्द्रनखा हुई और फिर विभीषण नाम का पुत्र हुआ।

चन्द्रनखा का विवाह खरदूषण से हुआ। इनके दो पुत्र हुए—संबूक और सुन्दर। पिता के मना करने पर भी एक दिन संबूक सूर्यहास खड्ग सिद्ध करने के लिए दण्डक वन में पहुँच गया। एक वस्त्र पहन कर संबूक बांसों के झुरमुट में बैठ गया, ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया, दिन में एक बार एक ही अन्न का भोजन का नियम लेकर साधना करने लगा।

चन्द्रनखा प्रतिदिन आती और अपने पुत्र संबूक को भोजन दे जाती। 12 वर्ष बाद जब एक दिन चन्द्रनखा भोजन लेकर आई तो सुगंधियुक्त सूर्यहास खड़ग को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई कि अब तो संबूक को खड़ग सिद्ध हो ही जायेगी।

परन्तु होनहार को कौन टाल सकता है। लक्ष्मण उधर से जा रहे थे, उन्हें अनुपम सुगन्धि आई, उस ओर बढ़े, खड़ग देखी, पकड़ ली, और कौतुहलवश बांसों के बीड़े पर ही चला कर देखने लगे। तलवार के चलने से अन्दर बैठे संबूक की गर्दन कटकर गिर पड़ी। खड्ग के रक्षक देवों ने आकर लक्ष्मण को प्रणाम किया और कहा- आज से हम आपके सेवक हैं।

खड़ग को लेकर लक्ष्मण राम के पास आ गये, सब कुछ बतला दिया। राम ने कहा—अच्छा नहीं हुआ।

यह है भाग्य का खेल—विद्यासाधन करें कोई, प्राप्ति हो किसी और को।

12. "सीता-हरण"

दूसरे दिन चन्द्रनखा ने जब देखा कि उसके पुत्र का सर कटा पड़ा है और वह खड्ग भी वहाँ नहीं है तो मूर्छित होकर गिर पड़ी। होश आया, पुत्र के मारने वाले को खोजने लगी।

खोजते खोजते पहुंच गई जहाँ राम, लक्ष्मण, सीता बैठे थे। राम, लक्ष्मण के सुन्दर रूप को देखकर उन पर मोहित हो गई। अपने पुत्र के मरण के शोक को भी भूल गई। जब राम, लक्ष्मण को विचलित न कर सकी तो अपने नाखूनों से अपने चेहरे को नोंच डाला, अपने कपड़े फाड़ लिये और रोते हुए अपने पति खरदूषण के पास पहुंच गई।

पति के पूछने पर कह डाला कि जिसने हमारे पुत्र को मारा वही मेरे साथ कुकर्म भी करना चाहता था। बड़ी कठिनाई से मैं अपनी रक्षा कर पाई। उसी ने मेरी यह दुर्दशा बनाई है। सुनकर खरदूषण को क्रोध आया। मंत्रियों से सलाह की, राम लक्ष्मण से युद्ध करना निश्चित हुआ। सहायता के लिये अपने साले रावण को बुलवा भेजा।

इससे पहले रावण आये, स्वयं युद्ध के लिये चल पड़ा। राम लक्ष्मण भी युद्ध के लिये तैयार हो गये। लक्ष्मण ने राम से कहा—आप भाभी सीता के पास रहो, मैं युद्ध के लिये जाता हूँ। अगर आवश्यकता पड़ी तो मैं सिंहनाद करके आपको बुला लूँगा।

उधर से रावण युद्ध के लिए आ रहा था। मार्ग में सीता को देखा। उसके रूप पर मोहित हो गया। यह स्त्री मुझे मिलनी चाहिये इसके लिए उपाय सोचने लगा।

रावण ने अपनी विद्या के बल से सब कुछ जान लिया। कपट से झूठा सिंहनाद किया जिसमें कहा "हे राम मुझे बचाओ। हे राम मुझे बचाओ।"

सिंहनाद के शब्द सुनकर राम ने जाना; लक्ष्मण संकट में है। सीता को जटायु पक्षी की देख-रेख में छोड़कर लक्ष्मण की सहायता के लिये युद्ध स्थल पहुंच गये।

इधर रावण आया, सीता को उठा लिया और चलने लगा। जटायु पक्षी ने रावण पर झपट्टा मारकर सीता को छुड़ाना चाहा। परन्तु रावण की एक चपेट में ही पृथ्वी पर गिर पड़ा।

रावण सीता को पुष्पक विमान में बैठा कर लंका उड़ चला।

यद्यपि रावण ऐसे कार्य को अत्यन्त घृणित समझता था फिर भी काम वासना के वशीभूत होकर वह विवेक शून्य हो गया, अच्छे बुरे का ज्ञान खो बैठा।

देखो काम की प्रबलता—चन्द्रनखा ने क्या क्या किया।

—रावण ने सीता का हरण किया।

13. "रावण—चरित्रवान"

रावण ने सीता का हरण किया, इससे ही उसके चरित्र को आंकना ठीक नहीं है।

रावण चरित्रवान था। उसने कभी भी परस्त्री की इच्छा नहीं की। जब रावण इन्द्र पर चढ़ाई के लिये जा रहा था तो दुर्लंघ्यपुर नगर मार्ग में पड़ा। इन्द्र ने इस नगर की रक्षा के लिए नलकुंवर को नियुक्त कर रखा था। यह नगर चारों ओर मायामयी कोट से घिरा था जिस कारण उसमें प्रवेश पाना असम्भव था। नलकुंवर की पत्नी रम्भा उसमें प्रवेश पाने की विद्या जानती थी। उसने रावण के रूप, बल, गुण आदि की प्रशंसा सुन रखी थी जिस कारण वह रावण पर आसक्त थी।

रम्भा ने गुप्त रूप से रावण के पास संदेश भिजवा दिया कि वह उसको जी जान से चाहती है। रावण ने कोट में प्रवेश पाने का यही उपाय समझकर रम्भा को कहलावा दिया कि तुम्हारी इच्छा नगर में आकर महलों में पूरी करुँगा। बस, रम्भा ने नगर प्रवेश की विद्या दे दी।

रावण नगर में प्रवेश कर गया। युद्ध में नलकुंवर को जीत कर बंदी बना लिया। रम्भा के पास पहुंचा। उससे रावण ने कहा—माँ! तुमने मुझे विद्या दी है इसलिए तुम मेरी गुरूनी हो और गुरूनी मां के समान होती है। परपुरुष की इच्छा करना पाप है। मैं तुम्हारे पति नलकुंवर को मुक्त करता हूँ। तुम उसी में संतुष्ट रहो। इतना ऊंचा था रावण का चरित्र।

एक बार रावण ने अनन्तवीर्य केवली के निकट यह व्रत लिया था—जो परनारी मुझे न इच्छे उसे मैं जबरदस्ती न सेऊँ। इस प्रतिज्ञा को उसने अन्त समय तक पूरी तरह निभाया। सीता को हर कर तो ले लिया परन्तु उससे जबरदस्ती नहीं की।सदैव यही प्रयत्न किया कि सीता प्रसन्न हो जाये। परन्तु सीता ने उसे नहीं चाहा इसलिये सीता का शील सुरक्षित रहा।

14. "राम का विलाप"

रण-भूमि में जब लक्ष्मण ने देखा कि राम आये हैं तो उसने पूछा "क्यों आये?" राम ने उत्तर दिया—"तुम्हीं ने तो सिंहनाद किया था।" लक्ष्मण ने कहा—"मैंने तो सिंहनाद नहीं किया।"

ऐसा सुनना था कि राम समझ गये धोखा हुआ। फौरन वापिस लौट गये। जाकर देखा वहाँ सीता नहीं थी। इधर-उधर ढूंढ़ा पर कहीं नहीं मिली। तड़फ उठे, रोने लगे, मूर्छित होकर गिर पड़े। होश आने पर फिर ढूंढ़ने लगे।

इतने में दृष्टि पड़ी जटायु पक्षी पर। कराह रहा था बेचारा, मरने के बिल्कुल निकट था। झट से राम बैठ गये उसके पास, णमोकार मंत्र सुनाया, सुनते सुनते जटायु के प्राण निकल गये। शुभ परिणामों से मरकर चौथे स्वर्ग में देव हुआ।

जटायु के मर जाने से राम को और भी अधिक दुख हुआ। फिर मूर्छित होकर गिर पड़े फिर जब होश आया तो विलाप करने लगे। पशु-पक्षियों से पूछने लगे—तुमने कहीं सीता देखी? वृक्षों से कहने लगे—'तुम्हें यदि सीता का पता हो तो तुम्हीं बता दो सीता कहाँ है?' जब कोई उत्तर नहीं मिला तो फिर विलाप करने लगे। कभी इधर जायें, कभी उधर जायें, घोर विलाप, ऐसा मोह था, उन्हें सीता से।

यह है मोह की महिमा—महापुरूष को भी विकल बना दिया।

ऐसे थे कर्तव्यपरायण राम—दुःखी होते हुए भी, जटायु का समाधिमरण कराया।

15. "वानरवंशियों में बाली मुनि"

एक बार लंका राजा कीर्तिधवल ने अपने बहनोई श्रीकंठ को वानरद्वीप दिया था ताकि वहाँ रहकर शत्रुओं से वह अपनी रक्षा कर सके। इस द्वीप में वानर (बन्दर) बहुत थे राजा तथा प्रजा सभी बन्दरों से अपना मनोरंजन किया करते थे।

इसी वंश में आगे चलकर अमरप्रभ राजा ने अपनी ध्वजा, मुकुट, छत्र तथा द्वारों पर वानरों के चिन्ह बनवाने प्रारंभ कर दिये। तब सभी नगरवासी बन्दरों को आदर की दृष्टि से देखने लगे। इसीलिये इस वंश का नाम वानरवंश पड़ गया। वानरवंशी भी राक्षसवंशियों की तरह विद्याओं से विभूषित मनुष्य ही थे।

वानरवंशियों में किष्किन्धापुर का राजा सूर्यरज हुआ। राक्षसवंशी राजा रावण से उसकी बड़ी मित्रता थी। उसके दो पुत्र थे— बाली व सुग्रीव।

बाली बड़ा धर्मात्मा था। उसकी प्रतिज्ञा थी कि वीतरागी देव, अहिंसा धर्म के प्रतिपादक शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरू के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं करूंगा। अतः वह रावण के दरबार में भी नहीं जाया करता था क्योंकि वहाँ जाकर रावण को नमस्कार करना पड़ता। रावण को इस बात पर क्रोध आया, बाली से कहलवाया—या तो मुझे नमस्कार करो अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। बाली ने नमस्कार करना तो स्वाकार नहीं किया, हाँ, युद्ध के लिए तैयार हो गया। मंत्रियों के समझाने पर कि युद्ध में व्यर्थ में हिंसा होगी उसने युद्ध का भी विचार छोड़कर मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली।

एक दिन बाली मुनि कैलाश पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। रावण पुष्पक विमान में बैठा लंका जा रहा था। जब विमान मुनि के ऊपर आया, वह विमान रुक गया। रावण नीचे उतरा, बाली मुनि को देखकर क्रोधित हुआ, विद्या के बल से पर्वत के नीचे घुसकर पर्वत को उठाने लगा। चारों ओर हाहाकार मच गया। पर्वत पर रहने वाले मनुष्य, पशु भयभीत होकर भागने लगे।

बाली मुनि ने अवधिज्ञान द्वारा विचार किया कि यह काम रावण का है और इस कार्य से पर्वत पर बने मन्दिर आदि सब नष्ट हो जायेंगे। अतः उन्होंने अपने पैर का अंगूठा जरा दबा दिया, जिससे रावण दब गया और वह जोर जोर से रोने लगा। तभी से उसका नाम रावण पड़ा। रावण की रानियों ने मुनिराज से पति के प्राणों की भिक्षा मांगी। बाली मुनि ने दया करके अंगूठा ढीला कर दिया। रांवण उनके चरणों में गिर कर क्षमा मांगने लगा।

फिर रावण चैत्यालय में गया, भगवान की पूजा की, अपनी भुजाओं से आंते निकालकर वीणा की तरह उन्हें बजाकर भगवान की स्तुति में तल्लीन हो गया। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर धरणेन्द्र आया और उसके न मांगने पर भी उसे 'शक्ति' प्रदान की जिसका प्रहार अचूक होता था।

बाली मुनि ने घोर तपस्या की जिसके फलस्वरूप उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई।

16. "राम की सुग्रीव से मित्रता"

बाली के दीक्षा लेने पर छोटे भाई सुग्रीव को राज्य मिला। उसने अपनी बहिन श्री प्रभा का विवाह रावण के साथ करने के लिए स्वीकृति दे दी।

एक बार साहसगति नाम के विद्याधर ने सुग्रीव की पत्नी सुतारा को देखा। देखकर उस पर मोहित हो गया। उसने विद्याबल से सुग्रीव का रूप बनाया और जिस समय सुग्रीव महलों में नहीं था, सुतारा के महल में पहुँच कर वहीं रहने लगा।

राक्षसवंशी व वानरवंशियों में मित्रता थी। अतः अपनी स्त्री को साहसगति से छुड़ाने के लिए सुग्रीव खरदूषण से सहायता लेने के लिए चल पड़ा। परन्तु पता चला कि खरदूषण को तो लक्ष्मण ने मार गिराया है और रावण ने राम की स्त्री सीता का अपहरण कर लिया है। फिर सुग्रीव सहायता के लिये हनुमान के पास गया परन्तु वह भी कुछ न कर सका।

तब सुग्रीव निराश होकर अपने मित्र विराधित के माध्यम से राम-लक्ष्मण की शरण में पहुँच गया। पत्नी वियोग से परेशान राम ने उसकी परेशानी को समझा और उसकी सहायता करने का निश्चय कर लिया।

लक्ष्मण ने असली सुग्रीव को अपने पास रखा और राम नकली सुग्रीव से लड़ने के लिये पहुँच गये ताकि दोनों को आमने-सामने देखकर भ्रम न हो जाये कि असली कौन है और नकली कौन? राम को देखकर साहसगति की वैताली विद्या भाग गई और वह अपने असली रूप में आ गया। राम ने तीक्ष्ण बाणों से साहसगति को मार गिराया और सुतारा सुग्रीव को दिला दी।

सुग्रीव ने राम से प्रतिज्ञा की कि मैं सीता का पता अवश्य लगाऊंगा। पता लगाने के लिए

चारों ओर दूत भेजे। वह स्वयं भी खोज के लिए निकल पड़ा। खोजते-खोजते रत्नजटी नाम के एक व्यक्ति से भेंट हो गई। रत्नजटी ने सुग्रीव को बताया कि उसने देखा था कि रावण विमान में बिठाकर सीता को ले जा रहा है। वह सीता "हाय राम, हाय लक्ष्मण, हाय भाई भामण्डल" चिल्लाते हुए चली जा रही है और जब उसने रावण से सीता को छुड़ाने का प्रयत्न किया तो रावण ने उसकी सब विद्यायें नष्ट कर दीं जिससे वह पृथ्वी पर आकर गिर पड़ा।

सुग्रीव समझा बुझाकर रत्नजटी को राम के पास ले आया। राम को सीता का पता मिल गया, राम बड़े प्रसन्न हुए। रत्नजटी को पुरस्कार दिया व उसे उसका राज्य वापिस दिलाने का भी आश्वासन दिया।

ऐसे थे परोपकारी राम—दूसरों का दुख पहले, अपना दुःख बाद में।

17. "सती सीता लंका में"

रावण सीता को लंका में ले गया। उसको राजी करने का बहुत प्रयत्न किया। तरह तरह के प्रलोभन दिये। तुम्हें पटरानी बना दूँगा। ऐश करोगी मेरे महलों में। बस, राम का ध्यान छोड़कर मेरी हो जाओ।

यह कहकर ज्यों ही सीता की ओर हाथ बढ़ाया, सीता क्रोध में भरकर बोली—"पापी! खबरदार, जो मुझे छूआ। इस पाप से तू नरक में पड़ेगा। यदि मुझे स्पर्श किया तो मेरे शील के प्रताप से तू अभी भस्म हो जायेगा।"

रावण मन मसोस कर रह गया। फिर रावण ने अपनी माया से सर्प आदि अत्यन्त भयानक जीव दिखाकर सीता को डराना चाहा परन्तु सीता रावण की शरण में नहीं आई, नहीं आई।

रावण जबरदस्ती कर नहीं सकता था क्योंकि उसने भगवान के सामने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जब तक कोई स्त्री राजी नहीं होगी मैं उसके साथ जबरदस्ती नहीं करुंगा। यही नियम था जिसने उसे भ्रष्ट होने से बचा लिया।

सीता को रावण ने देवारण्य नामक उपवन में ठहरा दिया। चारों ओर पहरा लगा दिया। उसको प्रसन्न करने के लिए दासियों को रख दिया। इतना ही नहीं अपनी पटरानी मंदोदरी को भी कह दिया कि यदि मुझे जीवित देखना चाहती हो तो किसी प्रकार भी सीता को मेरी पटरानी बनने के लिए तैयार कर दो।

मंदोदरी ने रावण को बहुत समझाया कि यह बड़ा भारी पाप है। तुम्हें यह शोभा नहीं देता। इससे मुँह मोड़ो। भाई विभीषण ने भी समझाने में कोई कसर न छोड़ी, परन्तु रावण टस से मस नहीं हुआ। कहा भी तो है। 'विनाश काले विपरीत बुद्धि।'

बेचारी सीता उपवन में रहने लगी। निरन्तर राम के ध्यान में मग्न। सब ने खूब फुसलाया,

परन्तु सीता अडिग रहीं। यहां तक कि उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक उसे राम का समाचार नहीं मिल जायेगा, तब तक वह अन्न जल ग्रहण नहीं करेगी।

ऐसी थी सीता—सती शिरोमणी।

18. "हनुमान का लंका को प्रस्थान"

'लंका कितनी दूर है, दुष्ट रावण कौन है?' विद्याधरों के बीच बैठे हुए राम ने जब यह प्रश्न किया तो सब विद्याधर युद्ध की आशंका से डर गये। रावण बहुत बलवान है वह किसी से भी जीता नहीं जा सकता, ऐसा सुनकर भी राम हिम्मत नहीं हारे, दृढ़ निश्चय कर ही लिया कि रावण को जीतना है, सीता को वापिस लाना है। लक्ष्मण ने भी कहा—'हम देखेंगे उस पापी रावण को'।

इस पर उनमें से एक विद्याधर जामवंत बोला कि ऐसा सुना है कि रावण की मृत्यु उसी के द्वारा होगी जो अपने पराक्रम से कोटिशिला को उठा लेगा। लक्ष्मण झट बोल उठे—"कोटिशिला को मैं उठाऊँगा।"

परीक्षा करने के लिए सुग्रीव, विराधित, नल, नील आदि राम लक्ष्मण को विमान में बिठाकर कोटिशिला के पास ले गये। कोटिशिला देवताओं से भी पूजित है। लक्ष्मण ने सिद्ध भगवान को प्रणाम किया, उस शिला की पूजा की और सबके देखते देखते घुटनों तक उसे उठा लिया। निश्चित हो गया कि लक्ष्मण नारायण है और उसी के द्वारा रावण का वध होगा।

बस, राम ने आज्ञा दी कि युद्ध की तैयारी करो, लंका पर चढ़ाई करो और सीता को छुड़ा कर ले आओ। तब विराधित ने कहा—यदि रावण को समझा बुझाकर सीता को वापिस ले आयें तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं है। राम ने यही कहा—'मुझे तो सीता से प्रयोजन है, युद्ध से बिल्कुल नहीं।

बहुत विचार विमर्श के बाद यह तय हुआ कि रावण को समझाने के लिए पवनञ्जय व अंजना के पुत्र हनुमान को ही लंका भेजा जाये, क्योंकि हनुमान रावण के बहनोई खरदूषण का दामाद है। हनुमान की दूसरी पत्नी सुग्रीव की पुत्री है। फल स्वरूप हनुमान को सीता की खबर लाने के लिये व रावण को समझाने के लिए लंका भेजा गया।

जब हनुमान लंका को जाने लगे तो राम ने कहा—'तुम सीता से जाकर कहना कि राम तुम्हारे बिना बहुत दुःखी है, न खाते हैं, न पीते हैं, परेशान हो इधर उधर घूमते फिरते रहते हैं। बहुत जल्दी ही हम तुम्हें छुड़ा कर ले आवेंगे। सीता को विश्वास हो जाये कि राम ने ही उन्हें भेजा है इसके लिए राम ने अपनी अंगूठी उन्हें दी और जीवन की कुछ गुप्त घटनायें भी बतलाई जिन्हें राम व सीता के अतिरिक्त कोई नहीं जानता था। राम ने यह भी कहा

कि लौटते समय सीता से उसकी कोई निशानी अवश्य लेते आना।

19. "हनुमान का लंका-प्रवेश"

हनुमान चल दिया लंका की ओर। देखा, लंका की चारों ओर एक बहुत मजबूत कोट बना हुआ है। हनुमान ने अपनी विद्या के बल से उस कोट को तोड़ दिया और लंका में पहुँच गया।

पहले वह विभीषण से मिला और उससे कहा कि रावण को समझाकर सीता को वापिस करा दो। विभीषण ने कहा—मैंने रावण को बहुत समझाया परन्तु वह माना ही नहीं। आपके कहने से मैं फिर रावण को समझाने जाता हूँ। इस बीच तुम राम का सन्देश सुनाकर सीता को भोजन कराने का प्रयत्न करो क्योंकि सीता ने ११ दिन से भोजन नहीं किया है।

हनुमान झट उपवन में पहुँच गया। दूर से देखा, सीता बैठी है—दुःखी, राम के विरह में आंसू बहाती, गाल पर हाथ रखे, बिल्कुल गुम सुम सी। छिपे छिपे ही हनुमान ने सीता के सामने राम नाम की अंकित राम की अंगूठी फेंक दी।

अंगूठी देखकर सीता बड़ी प्रसन्न हुई मानो साक्षात राम के दर्शन ही हो गये। उसने राम की अंगूठी को अपने हृदय व नेत्रों में लगाई। सेवा में खड़ी दासियाँ सीता को प्रसन्न देखकर फौरन रावण को सूचना देने पहुँची। रावण ने यह समझकर कि सीता अब उसके प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार हुई जान पड़ती है, मन्दोदरी आदि को सीता के पास भेजा।

मन्दोदरी ने कहा—'तुमने ठीक निर्णय लिया जो रावण को स्वीकार करने का विचार कर लिया। इस पर सीता ने मन्दोदरी को बहुत फटकारा और कहा—मैं तो इसलिये प्रसन्न हूँ क्योंकि मुझे आज राम का समाचार मिल गया है।'

फिर सीता ने कहा—जो राम का समाचार लाया है वह प्रगट रूप से सामने आये। बस, हनुमान एक दम सबके बीच में आ गया। मन्दोदरी ने हनुमान को रावण के शत्रु राम से मित्रता करने पर बहुत फटकारा। इस पर हनुमान की मन्दोदरी से बहुत गर्मागर्मी हुई। हनुमान ने कह दिया—'रावण की मृत्यु अब नजदीक ही है। राम आयेंगे और रावण को मार कर सीता को वापिस ले जायेंगे।

मन्दोदरी आदि के चल जाने के बाद हनुमान की प्रार्थना पर सीता ने भोजन करना स्वीकार कर लिया। हनुमान ने कहा—'माता! तुम मेरे कन्धे पर बैठ जाओ, मैं तुम्हें श्री राम के निकट ले चलूँगा।' परन्तु सीता ने उत्तर दिया—'भाई, यह ठीक है, परन्तु पति की आज्ञा के बिना मेरा तुम्हारे साथ यहां से जाना योग्य नहीं। दुष्ट रावण को तुम्हारे यहां आने का सब समाचार मिल गया होगा। इसलिये तुम यहां से फौरन लौट जाओ।' निशानी के तौर पर सीता ने अपना चूड़ामणि हनुमान को दे दिया।

हनुमान लंका में घुस आया है। सुनकर रावण आग बबूला हो गया। उसने हनुमान को पकड़ने के लिए सेवकों को भेजा। परन्तु हनुमान ने सबको लात घूंसों, वृक्षों आदि से मार मार कर भगा दिया व उपवन को नष्ट भ्रष्ट कर दिया फिर मेघवाहन व इन्द्रजीत को इस कार्य के लिए भेजा गया। इन्द्रजीत ने हनुमान को पकड़ लिया व बांधकर रावण के पास ले आया।

रावण ने हनुमान को बहुत भला बुरा कहा—'तूने हमें छोड़ भूमिगोचरियों से मित्रता की है, अब उनके साथ तेरा भी नाश निश्चित ही है।' इस पर हनुमान क्रोधित होकर बोला—'हे पापी! दुराचारी! अधम! अब अपनी मृत्यु नजदीक ही समझ। राम-लक्ष्मण को साधारण मनुष्य मत समझ। वह तुझे तेरे किये का फल अवश्य ही चखा कर रहेंगे।' तब रावण क्रोधित होकर कहने लगा—यह बड़ा दुष्ट है। इसे बांधकर नगर में घुमाओ ताकि सबको पता चल जाये कि यह भूमिगोचरियों का दूत है।

आज्ञानुसार जब हनुमान को बाजारों में से ले जाया जा रहा था तो वह बंधन तुड़ाकर ऊपर उड़ गया। रावण के महल तोड़ डाले और नाना प्रकार से लंका का विध्वंस कर दिया। चारों ओर खण्डहर ही खण्डहर दिखाई देने लगे। हनुमान को पकड़ने के बहुत प्रयत्न किये गये परन्तु सब व्यर्थ।

हनुमान राम के पास लौट आये। राम को सीता का दिया हुआ चूड़ामणि व सीता के सब समाचार सुनाये। राम अति प्रसन्न हुए।

20 "राम-रावण युद्ध में लक्ष्मण के शक्ति लगना"

राम-लक्ष्मण का ऐलान हो गया—'लंका पर चढ़ाई करने की तैयारी करो।' बस, लंका को कूच कर दिया गया, मार्ग में अनेक राजाओं को जीतते हुए लंका पहुँच गये।

रावण ने सुना राम की सेना आ पहुँची है। लंका में भी रण-भेरी बजा दी गई। रावण को युद्ध के लिए तैयार देखकर भाई विभीषण ने एक बार फिर समझाया—अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। राम को सीता दे दो और सुख से रहो। बेकार में सेना का विध्वंस कराने से क्या लाभ है। इस पर रावण का पुत्र इन्द्रजीत बहुत बिगड़ा—'अगर आपको भय लगता है तो घर बैठिये।' विभीषण ने इन्द्रजीत को भी समझाया पर वह अनाप-शनाप बकता ही रहा। रावण को भी क्रोध आ गया। उसने विभीषण को कह ही डाला-जा दुष्ट, लंका से निकल जा।' बस, विभीषण अपनी पूरी सेना के साथ राम से आ मिला। राम ने भी उसे वचन दे दिया कि युद्ध में जीत होने पर लंका का राज्य तुम्हें ही दूँगा।

भामण्डल—सीता का भाई भी अपनी सेना लेकर राम से आ मिला। इतने लोगों के मिलने पर भी राम की सेना अब भी रावण की सेना से आधी ही थी।

राम की ओर थे—नल, नील, सुग्रीव, हनुमान, विभीषण, विराधित, भामण्डल, समुद्र, अंगद आदि आदि और रावण के पक्ष में थे—हस्त, प्रहस्त, मारीच, माली, जम्बूमाली, कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेघवाहन आदि। हाथी, घोड़े, रथ, पियादे सभी कुछ थे दोनों ओर। अग्निबाण, मेघवाण, तामसबाण, नागफास आदि का खुलकर प्रयोग किया गया। दोनों ही ओर से युद्ध भूमि खून से लथ-पथ हो गई। चारों ओर मारो-मारो, पकड़ो-पकड़ो की आवाजें आने लगीं। कभी रावण पक्ष की जीत होती तो कभी राम पक्ष विजयी होता। भयंकर युद्ध, मृत्यु का तांडव नृत्य।

हस्त और प्रहस्त को राम के योध्दा नल व नील ने मार गिराया। कुंभकरण ने अपनी माया से हनुमान, अंगद, भामण्डल आदि को निद्रा के वशीभूत कर दिया। तब सुग्रीव ने अपनी प्रतिबोधिनी विद्या से सब की निद्रा दूर कर दी।

इन्दजीत युद्ध में कूदा। उसने सुग्रीव के अनेकों योद्धाओं को घायल करके भूमि पर गिरा दिया। तब सुग्रीव व भामण्डल इन्द्रजीत से युद्ध करने लगे। इन्द्रजीत ने दोनों को नागपाश से बांध लिया। कुम्भकर्ण ने हनुमान को पकड़ लिया। यह देखकर सुग्रीव का पुत्र अंगद झट छिपे छिपे कुम्भकर्ण के पास पहुँच गया, उसकी भुजा से निकलकर अंगद के विमान में बैठ कर उड़ गया।

विभीषण, इन्द्रजीत व मेघवाहन की ओर बढा। दोनों भाइयों ने उसको अपना चाचा जान उससे युद्ध करना उचित नहीं समझा। जब विभीपण ने भामण्डल व सुग्रीव को बंधा पड़ा देखा तो वह बहुत दुःखी हुआ परन्तु कर ही क्या सकता था?

लक्ष्मण ने राम से कहा कि यदि भामण्डल व सुग्रीव का मरण हो गया तो रावण को हराना कठिन हो जायेगा। राम को चिन्ता हुई। तब राम ने गरूड़ेन्द्र का स्मरण किया जिसने उन्हें देशभूषण-कुलभूषण मुनि का उपसर्ग दूर करने पर वचन दिया था। गरूड़ेन्द्र ने चिंतावेग नामदेव को भेजा। उसने राम को सिंहवाहिनी व लक्ष्मण को गरूड़वाहिनी विद्या दी। साथ में और भी अनेक दिव्य शस्त्र दिये—जलबाण, अग्निवाण, पवनबाण आदि आदि।इन विद्याओं के बल से राम-लक्ष्मण ने भामण्डल व सुग्रीव को नागपाश से छुड़ा लिया।

फिर भामण्डल राक्षसों की सेना पर टूट पड़ा। रावण स्वयं युद्ध के लिये जा पहुंचा। उधर रावण को देखकर विभीपण भी उसके मुकाबले पर आ गया। घोर युद्ध होने लगा। विभीषण ने फिर भी कहा—'सीता राम को सौंप दो और आराम से रहो।' परन्तु रावण न माना।

उधर लक्ष्मण ने इन्द्रजीत को व राम ने कुम्भकर्ण को नागपाश से बांध लिया। रावण ने विभीषण पर त्रिशूल चलाया। लक्ष्मण ने अपने बाणों से उसे बीच में ही काट लिया। तब क्रोध में आकर रावण ने धरणेन्द्र द्वारा दी हुई शक्ति लक्ष्मण पर चलाई जिससे लक्ष्मण मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

तब राम ने कहा—'मेरे भाई लक्ष्मण को शक्ति लग गई है, अब उसका मरण निश्चित

है। अब मैं जाता हूँ, उसकी दाह क्रिया करके फिर कल प्रातः युद्ध के लिए आऊँगा।

युद्ध बन्द कर दिया गया। रावण भी लौट आया। रावण को लक्ष्मण के शक्ति लगने से बेहोश होने पर तो संतोष था लेकिन इन्द्रजीत मेघवाहन व कुम्भकर्ण के पकड़े जाने का बहुत दुख था।

21 **"विशल्या द्वारा शक्ति-निवारण"**

राम लक्ष्मण को मूर्च्छित देख, उनका मरण निश्चित जान स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़े। जब मूर्च्छा दूर हुई तो लोगों ने समझाया—दुःखी मत होओ, लक्ष्मण को शक्ति लगी है, इससे मूर्च्छित हो गये हैं, प्रातःकाल तक होश में आ जायेंगे।

इतने में आकाशमार्ग से एक मनुष्य आया उसने लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर करने का उपाय बताया कि राजा द्रोणमेघ की पुत्री विशल्या के स्नान के जल को लक्ष्मण के ऊपर छिड़कने से उनकी मूर्च्छा दूर हो जायेगी। फौरन राम ने हनुमान, भामण्डल, अंगद आदि को विमान द्वारा राजा द्रोणमेघ के पास भेजा जिसने स्वयं विशल्या को ही उनके साथ भेज दिया।

विशल्या को लेकर हनुमान आदि रातों रात वहाँ पहुँच गये जहाँ लक्ष्मण बेसुध पड़ा था। ज्यों ज्यों विशल्या कटक में पहुँचती गई, लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर होती गई और वह भले चंगे हो गये। जितने भी योद्धागण मूर्च्छित पड़े थे, घायल पड़े थे, सभी पर जल छिड़का गया। राम की आज्ञा से रावण के पक्ष के योद्धा कुम्भकर्ण आदि पर भी जल छिड़क कर उन्हें भी स्वस्थ कर दिया गया।

विशल्या ने पूर्व भव में 3000 वर्षों तक बड़ी कठिन तपस्या की थी, अनेक उपवास किये थे, सुखे पत्र, पवित्र जल व आहार लिया करती थी, मरण समय सल्लेखना धारण की थी, एक सौ हाथ भूमि से परे न जाऊँ ऐसा नियम किया था, अन्त समय में एक अजगर को अभयदान दिलाया था, जिसके प्रताप से मरकर तीसरे स्वर्ग में देवी हुई थी और वहाँ से मरकर राजा द्रोणमेघ की पुत्री विशल्या हुई थी, जिसके स्नान के जल से भयानक से भयानक रोग भी दूर हो जाते थे।

देव-रुपिणी शक्ति जब लक्ष्मण के शरीर से निकलकर भागने लगी, हनुमान ने पकड़ ली। तब दिव्य स्त्री का रूप रखे उस अमोघविजया नाम की शक्ति ने हनुमान को बताया कि हमें तो धरणेन्द्र ने रावण की जिनेन्द्रभक्ति से प्रसन्न होकर उसको सौप दिया था। हम तो जिसके पास रहें उसी की सेवा करें। इसमें हमारा कोई दोष नहीं। हनुमान ने उसे क्षमा करके छोड़ दिया।

इसके पश्चात् विशल्या से लक्ष्मण का विवाह हो गया।

22. "रावण को बहुरूपिणी विद्या सिद्ध"

रावण ने सुना लक्ष्मण जीवित है, राम पक्ष के सभी योद्धा स्वस्थ हो गये हैं, कुम्भकर्ण, मेघवाहन, इन्द्रजीत अभी बंदी है, उसे अपनी विजय में सन्देह होने लगा। राम के पास प्रस्ताव भिजवाया-संधि कर लो, आधी लंका ले लो, अन्य अनेक कन्यायें ले लो, बस, सीता मुझे सौंप दो। राम ने यही उत्तर दिया—हमें सीता के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये, सीता हमें लौटा दो। परन्तु रावण ने न मानी।

रावण ने विचार किया यदि मैं बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर लूं तो फिर मेरी जीत निश्चित ही है।

रावण ने मंत्रियों को समझा दिया कि जब तक मैं विद्या साधन करता रहूँ तब तक सब नगरवासी धर्मध्यान में समय बितायें, कोई युद्ध की बात भी न करे, यदि कोई उपद्रव भी करे तो भी शांति बनाये रखें। पटरानी मन्दोदरी को पूजा पाठ का सब आयोजन सौंप, भगवान शांतिनाथ के चैत्यालय में बैठ, विद्या साधन करने लगा। सब ओर से चित्त हटा लिया, भगवान की भक्ति में लीन, योगी की तरह निश्चल बैठ, विद्या साधना करने लगा।

राम के कटक में चिन्ता हुई, अगर रावण को बहुरूपिणी विद्या सिद्ध हो गई तो रावण को हराना असम्भव हो जायेगा। सबने राम से कहा—ऐसा विघ्न करना चाहिये जिससे रावण का ध्यान विचलित हो जाये और उसे विद्या सिद्ध न हो सके। राम ने कहा—नहीं, हम किसी के धर्म कार्य में बाधा नहीं पहुँचायेंगे, भले ही हम हार जायें। राम के मना करने पर भी वानरवंशियों ने लक्ष्मण की जानकारी में विभीषण आदि की सलाह से रावण की पूजा में विघ्न करने का निश्चय कर ही लिया।

लंका में घुस कर उपद्रव किया गया, नगर को लूटा गया, सब ओर हाहाकार मच गया। रावण के मंत्रियों ने विरोध करना चाहा, उनसे लड़ना चाहा, परन्तु रावण की आज्ञा पालन करते हुए मन्दोदरी ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। फिर वानरवंशी वहीं पहुँच गये जहाँ रावण बैठा था। नाना प्रकार से रावण को परेशान करने लगे, यहां तक कि रावण के सामने ही रावण की रानियों की दुर्दशा करना आरम्भ कर दिया। परन्तु रावण निश्चल रहा, रंच भी विचलित नहीं हुआ और अन्त में 24 दिन पश्चात् रावण को बहुरूपिणी विद्या सिद्ध हो गई। उसे शक्ति प्राप्त हो गई। अपने चाहे जितने चाहे रूप बना ले।

23. 'लक्ष्मण द्वारा रावण की मृत्यु"

बहुरूपिणी विद्या सिद्ध हो जाने पर रावण एक बार फिर सीता के पास गया। राम-लक्ष्मण की मृत्यु अब निश्चित ही है ऐसा भय दिखाकर सीता को फुसलाना चाहा। परन्तु सीता के

अटल निश्चय को देखकर निराश होकर पश्चाताप करने लगा कि तूने बुरा किया। मन्दोदरी आदि ने भी बहुत समझाया परन्तु "विनाश काले विपरीत बुद्धि।" होनहार टलती नहीं। रावण के सामने सीता अब प्रतिष्ठा का प्रश्न बन चुकी थी। अतः पुनः युद्ध के लिये तैयार हो गया। अनेक अपशकुन हुए, परन्तु किसी की परवाह न थी।

युद्ध फिर आरम्भ हुआ। पहले युद्धों से भी भयानक। रावण ने बहुरूपिणी विद्या के बल से १000 हाथियों से खिंचने वाला एक रथ बनाया, जिसके साथ थे १0000 आप समान श्रेष्ठ विद्याधर। राम सिंहरथ व लक्ष्मण गारुड़ी रथ पर सवार होकर मुकाबले पर आ डटे।

दोनों ओर की सेनाओं में भयंकर युद्ध छिड़ गया। लाशों के अम्बार लग गये। हाथी और घोड़ों की चीत्कार से युद्ध भूमि गर्जन कर उठी। राजा रावण ने राम पर अनेक बाण चलाये परन्तु राम ने उन्हें प्रभावहीन कर दिया। फिर रावण युद्ध में कूद पड़ा। उसे ललकारते हुए लक्ष्मण सामने आ गये। रावण व लक्ष्मण के बीच जलबाण, पवनबाण, अग्निबाण, नागबाण आदि अनेक बाणों से घोर युद्ध हुआ। दस दिन तक घोर युद्ध होता रहा।

रावण ने लक्ष्मण पर विघ्नबाण चलाया। विघ्नबाण का निवारण करने वाला सिद्धबाण लक्ष्मण को याद न आया। चिन्तित होकर आकाश की ओर देखने लगा। आकाश में विद्याधर की ८ पुत्रियां विमान में बैठी लक्ष्मण को देख रही थी क्यों कि वह लक्ष्मण से विवाह करना चाहती थी। उन्होंने लक्ष्मण को देखकर कहा- 'हे नाथ! तुम्हारा कार्य सिद्ध हो।' 'सिद्ध' शब्द सुनकर लक्ष्मण को 'सिद्धबाण' याद आ गया और उसने वह बाण चला दिया जिससे विघ्नबाण का प्रभाव दूर हो गया।

रावण ने बहुरूपिणी विद्या से अपने अनेक शरीर बना लिये। ज्यों ज्यों लक्ष्मण रावण के अनेक सिर व भुजायें छेदता रहा, रावण के अनेक सिर भुजाये बनती रही। परन्तु लक्ष्मण के आगे बहुरूपिणी विद्या का बल न चल सका क्योंकि इस विद्या का प्रभाव चक्रवर्ती व अर्धचक्री (नारायण) के सामने नहीं रहता।

तब रावण ने अन्य दिव्य व सामान्य शस्त्रों का प्रयोग किया परन्तु उनसे भी लक्ष्मण जीता न जा सका। तब रावण ने चक्ररत्न का चिन्तवन किया, झट वह रावण के हाथ में आ गया और रावण ने क्रोध में आकर उसे लक्ष्मण पर चला ही दिया। राम, सुग्रीव, भामण्डल, हनुमान सभी ने उस चक्र को अपने अपने आयुद्धों से रोकने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु रोक न सके। चक्ररत्न लक्ष्मण तक आ ही गया। परन्तु लक्ष्मण पर वार करने की बजाये वह लक्ष्मण की भू प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के हाथ में आ गया। रावण यह देखकर बड़ा दुःखी हुआ, अपने किये पर पछताने लगा, अपनी मृत्यु निश्चित जान अपने को धिक्कारने भी लगा।

रावण यह सोच ही रहा था कि लक्ष्मण ने गरज कर कहा—रावण! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, अब भी सीता राम को सौंप दे और आराम से लंका का राज्य कर। परन्तु रावण का

अहं जागृत हो उठा, उसने कह ही डाला—चक्र चला, मैं हारने वाला नहीं। बस, लक्ष्मण ने रावण पर चक्र चला ही दिया। चक्र ने रावण के वक्षस्थल को चीर डाला, रावण पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

रावण के मरते ही सेना भागने लगी। राम के आदेश से हनुमान ने सेना को कहा—आप लोग डरे नहीं, राम की आज्ञा से आराम से रहें, आपको कोई कष्ट न होगा।

भाई के मरने का विभीषण को बहुत दुःख हुआ। मन्दोदरी आदि सभी रानियां आ गई। जोर जोर से विलाप करने लगी। राम ने सबको समझाया, धैर्य बंधाया, वानरवंशियों व राक्षसवंशियों ने मिलकर चिता सजाई और रावण का दाह संस्कार कर दिया गया।

राम ने कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेघवाहन आदि को बंधनमुक्त कर दिया और कहा—अब आप स्वतंत्र हैं, आनन्द से अपना राज्य संभाले। मैं तो सीता को लेकर यहां से चला जाऊँगा।

इसी अवसर पर आचार्य अनन्तवीर्य ५६०० मुनियों सहित लंका के कुसुमायुद्ध वन में आकर विराजे। उसी रात्रि को उन्हें कैवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। सब राक्षसवंशी व वानरवंशी विद्याधर इन्द्रजीत, मेघवाहन, कुम्भकर्ण, विभीषण, मन्दोदरी आदि राम लक्ष्मण के साथ केवली भगवान के दर्शनों को चल दिये। इन्द्रजीत, मेघवाहन, कुम्भकर्ण, मारीच, राजा भय ने अनेक राजाओं के साथ मुनि दीक्षा ग्रहण की। मन्दोदरी आदि रानियों ने आर्यिका के व्रत अंगीकार किये। घोर तपश्चरण के फल से इन्द्रजीत व मेघवाहन चूलगिरी (बड़वानी) से व कुम्भकर्ण रेवा नदी के तट से मोक्ष गये।

ऐसे थे राम—जीत में भी विनम्र

ऐसे थे लक्ष्मण—महापुण्यशाली।

ऐसे थे कुम्भकर्ण आदि—कर्मयोद्धाओं को भी पछाड़ने वाले।

24. "राम-सीता मिलाप"

रावण को युद्ध में जीत, राम हाथी पर बैठ लक्ष्मण, हनुमान आदि सहित लंका में पधारे। सबसे पहले सीता के पास गये। सीता प्रसन्न हो उठी। बड़े प्यार से रावण के महलों की ओर बढ़े। भगवान शांतीनाथ के चैत्यालय में भक्तिपूर्वक भगवान के दर्शन किये, उनका गुणानुवाद किया। विभीषण के निमन्त्रण पर उनके यहां भोजन किया और सुखपूर्वक महलों में रहने लगे।

राम के मना करने पर भी विभीषण आदि ने राम-लक्ष्मण का संयुक्त अभिषेक कर ही दिया। राम की आज्ञा से विभीषण लंका का राज्य करने लगा। 6 वर्ष तक राम-लक्ष्मण-सीता आदि लंका में रहे।

एक दिन नारद अयोध्या पहुँचे। राम की माता कौशल्या को दुःखी देखकर उनका समाचार

पूछने लगे। कौशल्या ने आदि से अन्त तक सब समाचार सुनाया। फौरन नारद राम से मिलने लंका को चल दिये।

राम को अयोध्या के सब समाचार सुनाये। कहा—'तुम्हारी माता तुम्हारे वियोग में बहुत दुःखी हैं। उनका विलाप सुनकर पत्थर दिल भी पिघल जाता है। मालूम नहीं वह तुम्हारे वियोग में कब प्राण त्याग दे। लक्ष्मण की माता जी भी मरण तुल्य हो गई हैं। कैकई व सुप्रभा भी शोक से व्याकुल हैं। तुम्हारे जैसे आज्ञाकारी व मातृभक्त पुत्रों के होते हुए मातायें कष्ट पावें, देखा नहीं जाता'।

सुनकर राम बहुत दुखी हुए। माता की याद से बेचैन हो उठे। तब राम ने विभीषण से कहा—हमारी इच्छा अयोध्या जाने की है। विभीषण ने कुछ दिन और रहने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना पर राम ने 16 दिन वहाँ पर और बिताये परन्तु चित्त माता की ओर ही लगा रहा। माता से विछुड़े हुए भी बहुत समय हो गया था।

25. "राम अयोध्या में—भरत मुनि बने"

दूतों द्वारा अयोध्या में समाचार भेज दिये गये। माताओं को राम-लक्ष्मण-सीता के आगमन की सूचना से बड़ी प्रसन्नता हुई। भरत भी फूले नहीं समाये। उनके स्वागत के लिये अयोध्या को खूब सजाया गया।

पुष्पक विमान में बैठकर राम, लक्ष्मण, सीता, विशल्या आदि अनेक विद्याधरों के साथ अयोध्या पहुंच गये। मातायें द्वार पर आ गईं। दोनों भाइयों को प्रणाम किया। सीता, विशल्या आदि रानियों ने सासुओं के चरण स्पर्श किये। भरत तो वैरागी थे ही। राज्य तो किया परन्तु उदासीन रहते हुए यही मन में था कि कब राम लौटकर आये और मैं मुनि बन कर आत्मकल्याण करूँ।

राम के आने पर भरत ने यही कहा-भैया, अब तुम राज्य संभालो और मुझे मुनि दीक्षा लेने की आज्ञा दो। यह सुनकर माता केकई विलाप करने लगी। राम-लक्ष्मण ने भरत को समझाया-अभी तुम्हारी आयु मुनिव्रत पालन करने की नहीं है। अतः अभी राज्य तुम्हीं करो। हम आपकी सेवा में तत्पर रहेंगे।

परन्तु भरत न माने, घर छोड़कर चलने लगे। लक्ष्मण ने हाथ पकड़ लिया, कैकई रोने लगी परन्तु भरत तो वैराग्य से ओत-प्रोत थे। उन्होंने जल-क्रीड़ा में कोई रुचि नहीं दिखलाई, न ही किसी पर जल ही डाला। वह सरोवर के किनारे बने जिन मन्दिर में पूजन करने लगे।

इतने में त्रैलोक्य मंडन नाम का हाथी बंधन तुड़ाकर अयोध्या में उपद्रव मचाने लगा। राम -लक्ष्मण आदि सभी ने उसे वश में करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह सबको भयभीत करता हुआ भरत की तरफ बढ़ता गया और भरत को देखकर एक दम शांत हो गया क्योंकि भरत

को देखकर उसे अपना पूर्व जन्म याद आ गया जिसमें यह हाथी और भरत का जीव दोनों छठे स्वर्ग में मित्र थे। जब भरत ने उससे पूछा कि तुम्हें क्रोध क्यों आया तो वह हाथी रोने लगा। पश्चाताप करने लगा और विचारने लगा कि ऐसा उपाय करूँ जिसमें मेरा आत्म-कल्याण हो।

जाने वाले को भला कौन रोक सकता है? अयोध्या के बाहर, उद्यान में देशभूषण व कुलभूषण महाराज पधारे। भरत आदि दर्शनार्थ वहाँ पहुँचे। अपने पूर्व भव का वृतान्त सुन भरत का वैराग्य और बढ़ा। वहीं सब प्रकार का परिग्रह त्याग, केशलोंच कर, दिगम्बर मुनि दीक्षा ले ली। फिर भरत ने घोर तपश्चरण किया। फलस्वरूप वह भी कर्मों को काटकर मुक्त हो गये।

26. "राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक और राम राज्य"

भरत के मुनि दीक्षा लेने के बाद अनेक राजा तथा विद्याधर राम के पास आये।

श्री राम ने कहा-आप लक्ष्मण का राज्याभिषेक कीजिये क्योंकि वे ही नारायण है। तब सब लक्ष्मण के पास गये और राम का संदेश उन्हें सुनाया। लक्ष्मण उन्हें लेकर राम के पासआये और बोले—मैं तो आपका सेवक हूँ, राज्याभिषेक तो आपका ही होना चाहिये। अन्त में यही निश्चय हुआ कि राज्याभिषेक राम-लक्ष्मण दोनों का ही होना चाहिये।

राम-लक्ष्मण का एक ही आसन पर बैठाकर राज्याभिषेक कर दिया गया।

लंका विभीषण को, किष्किंधापुर सुग्रीव को, श्रीनगर व हनुरुद्धीप हनुमान को व औरों को भी अनेक राज्य देकर राम ने शत्रुघ्न से पूछा- तुम्हें जो चाहिए वह राज्य ले लो। शत्रुघ्न ने मथुरा का राज्य मांगा। मथुरा पर राजा मधु का राज्य था और वह त्रिशुल रत्न का स्वामी था। अतः उसे जीतना आसान नहीं था। राम के मना करने पर भी शत्रुघ्न ने मथुरा का ही राज्य लिया।

जिस समय राजा मधु मथुरा से बाहर उपवन में रानियों सहित भोगों में मस्त था तभी शत्रुघ्न ने आधी रात्रि को मथुरा में प्रवेश किया और मधु की आयुधशाला को अपने अधिकार में कर लिया। मधु को पता चला, नगर की ओर आया, परन्तु शत्रुघ्न की सेना ने घुसने न दिया। त्रिशूलरत्न से रहित होने पर भी राजा मधु युद्ध के लिए तैयार हो गया।

युद्ध हुआ। युद्ध में राजा मधु का पुत्र मारा गया। पुत्र को प्राण रहित, अपने को त्रिशुलरहित व शत्रुघ्न को अजेय जान राजा मधु ने समझ लिया कि अब मृत्यु निकट ही है। उसे संसार, शरीर और भोगों की निस्सारता दिखाई देने लगी। युद्ध भूमि में हाथी पर चढ़े-चढ़े ही वह भावों से मुनि बन गया। सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग कर, केशलोंच कर लिया। समाधि मरण कर तीसरे स्वर्ग में देव हुआ।

जब स्वामी नहीं रहा तो त्रिशूलरत्न को देव उठाकर ले गये और चमरेन्द्र को वापस सौंप दिया। चमरेन्द्र ने मधु की मृत्यु का समाचार सुना और मथुरावासियों को मधु की मृत्यु पर हर्ष मनाते देखा तो उसने क्रोध में आकर मथुरा में मरी रोग फैला दिया। प्रजा बहुत दुखी हुई। उस मरी रोग का निवारण हुआ सप्त चारण ऋद्धिधारी ऋषियों-सर्व श्री सुरमन्यु, श्री मन्यु, श्री निचय, सर्व सुन्दर, जयवान, विनयलाल और जयमित्र के मथुरा में पधारने से व उनके आदेशानुसार शत्रुघ्न द्वारा मथुरा में जिनमन्दिरों का निर्माण कराने से।

राम-लक्ष्मण अयोध्या के राजा बने। राम का राज्य आदर्श था। सब हिल-मिल कर रहते थे। एक दूसरे के सुख दुःख में बराबर हाथ बंटाते थे। कहीं चोरी नहीं, डकैती नहीं, व्यभिचार नहीं। कोई भूखे नहीं मरे, कोई किसी को सताये नहीं। न रिश्वत, न मिलावट, न कम माप तौल, न और किसी प्रकार की अनीति। राम का द्वार सबके लिये, हर समय खुला रहता। कोई आये, कभी आये, अपना दुख दर्द कहे। कोई फरियाद करे, पूरी छूट थी उसे। राम के राज्य में कोई छोटा-बड़ा नहीं। सब एक समान। तभी तो आज भी याद किया जाता है—राम राज्य।

27. "सीता का परित्याग"

राम सीता के साथ आनन्दपूर्वक रह रहे थे। सीता को गर्भ रहा। उसे तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई। परन्तु दुर्भाग्य ने उसका पीछा न छोड़ा। राम दरबार में बैठे थे। प्रजा के कुछ लोग आये। राम ने पूछा—क्या बात है? बहुत संकोच के बाद उन्होंने कहा—देश में अनाचार फैलता जा रहा है। आज घर घर में चर्चा चल रही है कि जब मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने रावण द्वारा हरण की गई सीता को फिर घर में रहने की आज्ञा दे दी तब हमें ऐसा करने में क्या दोष है? कहते हैं यथा राजा तथा प्रजा। कृपया आप ही इस अपवाद को रोकने का उपाय कीजिये।

सुनकर राम को धक्का लगा। एक ओर शीलवती सती सीता का प्रेम—दूसरी ओर लोकापवाद। घोर चिन्ता हुई। कर्तव्य को ऊँचा समझ राम ने सीता का परित्याग करना ही ठीक समझा। लक्ष्मण को बुलाया, सब बातें कहीं। लक्ष्मण बहुत क्रोधित हुआ। परन्तु राम अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और लक्ष्मण को समझा बुझाकर शांत कर दिया।

कृतान्तवक्र सेनापति को बुलाकर सीता को तीर्थयात्रा करा कर भयानक वन में छोड़ आने की आज्ञा दी। सेनापति विवश था। सीता को रथ में बैठाकर तीर्थयात्रा कराते हुए भयानक जंगल में पहुंच गया। रोते रोते सीता को उसने परित्याग की बात कही। वह मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। होश आने पर अपने कर्मों का दोष बताते हुए सेनापति से बोली—राम को जाकर मेरा एक संदेशा सुना देना कि जिस प्रकार लोकापवाद के कारण आपने मुझे छोड़ दिया है, इसी प्रकार लोगों के कहने पर धर्म को न छोड़ देना।

सेनापति आँसू बहाता हुआ लौट गया। सीता जंगल में भयानक जानवरों के बीच दिन काटने लगी। गर्भवती, ऊपर से यह कष्ट बिताने लगी।

एक दिन बेचारी रुदन कर रही थी। उधर से पुण्डरीकपुर का राजा वज्रजंघ अपने साथियों सहित हाथी को पकड़ता पकड़ता उधर आ निकला। उसने सीता का रूदन सुना, पास आया, उसे धैर्य बंधाया, अपना परिचय दिया और अपने साथ सीता को पुण्डरीकपुर ले गया। वहाँ सीता को कोई कष्ट न था परन्तु राम के बिना सब सूना सा लगता था।

28. "लव-कुंश का जन्म व उनका राम लक्ष्मण से युद्ध"

नौ महीने पूरे होने पर सीता ने युगल पुत्रों को जन्म दिया। राजा वज्रजंघ ने बड़े ठाठ बाट से पुत्रों का जन्मोत्सव मनाया। एक का नाम अनंगलवण व दूसरे का नाम मदनांकुश रखा। ये दोनों ही लव-कुंश के नाम से प्रसिद्ध हुए।

जब बड़े हुए तो भाग्य से सिद्धार्थ नाम के क्षुल्लक महाराज ने इन्हें सब कुछ पढ़ाया-लिखाया। सब विद्याओं में निपुण हो गये। युवा होने पर दोनों का विवाह कर दिया।

दोनों भाई बड़े वीर थे। अपने पराक्रम से अनेक देशों के राजाओं को जीत लिया।

एक दिन नारद अयोध्या पहुँचे। वहाँ सीता के परित्याग की बात सुनी। बड़ा दुःख हुआ। सीता की खोज करने के लिये चल दिये, खोजते खोजते पुण्डरीकपुर पहुँच गये।लव-कुंश को वन में खेलते देखा। नारद इनके पास आये। लव-कुंश ने इन्हें प्रणाम किया। नारद ने उन्हें आशीर्वाद दिया—जैसे राम-लक्ष्मणके विभूति है, वैसे तुम्हारे भी हो। लव-कुंश ने पूछा—'राम-लक्ष्मण कौन है?' नारद ने सब वृतान्त कहा। राम ने लोकापवाद से सीता को जंगल में छुड़वा दिया, यह जानकर लव-कुंश को क्रोध आया और उन्होंने राम-लक्ष्मण से युद्ध करने की ठानी। सीता ने सुना, रोने लगी, लव-कुंश को राम-लक्ष्मण से युद्ध करने के लिये मना किया परन्तु वह न माने।

अन्त में युद्ध हुआ। सीता, क्षुल्लक सिद्धार्थ व नारद के साथ विमान में बैठी युद्ध देख रही थी। घमासान युद्ध हुआ। लव राम से लड़ने लगा। कुश लक्ष्मण से भिड़ गया। वह सेना न हारी। लव के सामने राम के शस्त्र बेकार हो गये और कुश के सामने अपने शस्त्रों को प्रभावहीन देखकर लक्ष्मण को बड़ी निराशा हुई व आश्चर्य भी।

राम-लक्ष्मण को परेशान देख, सिद्धार्थ विमान से नीचे उतरे और लक्ष्मण को बताया—ये दोनों राम के पुत्र है, और चक्र आदि कुटुम्बियों पर वार नहीं करते इसलिए किसी प्रकार की शंका मन में मत लाओ। तुम्ही नारायण हो। यह निश्चित ही समझो। सुनकर लक्ष्मण ने हथियार फैंक दिये। राम को पता चला, उन्होंने भी हथियार फैंक दिये और दोनों पुत्रों को गले से

लगा लिया। राम-लक्ष्मण अयोध्या लौट आये और सीता वापस पुण्डरीकपुर चली गई।

29. "सीता की अग्नि परीक्षा"

एक दिन विभीषण, सुग्रीव हनुमान आदि मिलकर राम के पास आये और विनती करने लगे—सीताजी आपके बिना बहुत दुःखी है, अब तो उन्हें अयोध्या बुला लीजिये। राम बोले—मैं जानता हूँ सीता सती है, निर्दोष है, परन्तु मैंने उसे लोकापवाद के कारण घर से निकाला है, उसे वापिस कैसे बुला लूँ। हाँ, अगर वह अपनी निर्दोषिता का प्रमाण प्रजा के सामने दे सके तो मैं अपने घर में रख सकता हूँ।

बस, राम की आज्ञा से विभीषण, भामण्डल, सुग्रीव, हनुमान आदि सीता के पास पहुँचे, समझा-बुझाकर पुष्पक विमान में बैठाकर सीता को अयोध्या ले आये। परन्तु जब वह राम के निकट आने लगी तो राम को क्रोधित सा देख कर ठिठक कर रुक गई। तब राम क्रोध में बोले—हे सीते! मेरे सामने से दूर हो। तू यहाँ क्यों आई? तू बहुत दिनों तक रावण के यहाँ रही, अब तुझे घर में कैसे रखूं? मैं जानता हूँ, तू निर्दोष है, परन्तु जब तक प्रजाजन तुझे निर्दोष न मान लें, तब तक मैं तुझे स्वीकार नहीं कर सकता। तब सीता ने कहा—आप महापंडित हो, फिर भी आपने कुटिलता से तीर्थयात्रा कराने का बहाना लेकर मेरे गर्भवती होने पर भी मुझे भयानक वन में अकेली छुड़वा दिया। यह आपने उचित नहीं किया। यदि वहाँ मेरा कुमरण हो जाता तो आपको क्या मिल जाता। अगर आपको मेरा त्याग ही करना था तो किन्हीं आर्यिका के निकट छुड़वा देते, मेरा भला तो होता। खैर, अब भी जिस प्रकार आप आज्ञा दें मैं परीक्षा देने के लिए तैयार हूँ। राम की आज्ञा हुई—अग्नि प्रवेश के द्वारा अपने शील की परीक्षा दो। सीता ने स्वीकार कर लिया।

यह सुनकर नारद, विभीषण, हनुमान, लक्ष्मण, लव-कुश आदि सभी चिन्तातुर हो गये। सबने राम को बहुत समझाया कि अग्नि का क्या भरोसा, परन्तु राम टस से मस नहीं हुए।

एक तीन सौ हाथ चौकोर गडढा खोद कर उसमें ईंधन डालकर अग्नि लगा दी गई और सीता को उसमें कूदने को कहा गया, सीता उठी, भगवान का स्मरण किया और बोली—हे अग्नि! मन से, वचन से, काय से स्वप्न में या जागृत अवस्था में श्री राम के सिवा मैंने यदि कभी किसी पर पुरूष की इच्छा भी की हो तो तू मुझे अवश्य जला देना। अन्यथा मत जलाना।

उसी समय मेघकेतू नाम का एक देव सकलभूषण मुनि का केवलज्ञानमहोत्सव मनाने के लिए महेंद्र नाम के उद्यान में जा रहा था। उससे सीता सती का दुःख न देखा गया। अपने प्रभाव से अग्नि को शांत करके उसके स्थान पर शीतल जल का सरोवर बना दिया। उसमें हजारपत्तों वाले कमल पर रत्नमय सिंहासन बनाकर उस पर सीता को विराजमान कर दिया।

सीता परीक्षा में सफल हुई। चारों ओर जय जयजयकार होने लगा। 'सीता सती है, सीता निर्दोष है।'

राम को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। सीता के पास आये। उससे क्षमा मांगी और घर चलने की प्रार्थना करने लगे। परन्तु सीता ने यही कहा—आपका कोई अपराध नहीं, अपराध तो मेरे कर्मो का है। अब मैंने संसार को देख लिया है। भोगों से अब मेरा मन ऊब गया है। अब तो मेरी यही इच्छा है कि मैं ऐसा उपाय करूँ जिससे भविष्य में मुझे स्त्री पर्याय ही न मिले। ऐसा कहकर उसने अपने सिर के बाल उखाड़ कर फेंक दिये। बालों को देखकर राम मूर्च्छित हो गिर पड़े और जब तक उन्हें होश आया, सीता पृथ्वीमती आर्यिका से आर्यिका के व्रत ले चुकी थी।

राम-लक्ष्मण आदि सब सकलभूषण केवली के दर्शन करने चल दिये। वहां पर उनका उपदेश सुना। उपदेश में राम-लक्ष्मण, रावण, सीता आदि के पूर्व भव बताये गये, जिसे सुनकर अनेकों ने संसार से विरक्त होकर मुनि-दीक्षा ले ली।

कृतान्तवक्र सेनापती ने राम से कहा—मैं भी मुनि दीक्षा लेना चाहता हूँ। तब राम ने उससे कहा—यदि तुम्हें किसी कारण मोक्ष की प्राप्ति न होकर स्वर्ग में देव पद मिल जाये तो संकट के समय तुम मुझे उपदेश द्वारा सावधान करते रहना कृतांतवक्रने सब परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ली। तपश्चरण के प्रभाव से मरकर चौथे स्वर्ग में देव हुआ।

सीता ने भी घोर तप किया। जब तेतीस दिन की आयु बाकी रही तो अनशन व्रत धारण कर लिया। समाधिमरण किया, मरकर सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र बना।

30. "लक्ष्मण का मरण व राम का शोक"

एक दिन स्वर्ग में सौधर्म इन्द्र की सभा में चर्चा चली कि राम-लक्ष्मण में अटूट प्रेम है। कौतूहलवश दो देव उनकी परीक्षा के लिये अयोध्या आ गये। राम के महलों में अपनी विक्रिया से महल की रानियों का रूदन शब्द कराया, सब ओर शोर का वातावरण बना दिया और विक्रिया से द्वारपाल, मंत्री मुहँ लटकाये लक्ष्मण के पास पहुँचा दिये और कहलवा दिया कि राम का मरण हो गया।

भाई की मृत्यु के पूरे शब्द भी न सुन पाये थे कि लक्ष्मण ने 'हाय' कहा और अपने प्राण छोड़ दिये। उनका मृत शरीर पृथ्वी पर लुढ़क पड़ा। लक्ष्मण की मृत्यु के समाचार से चारों ओर हाहाकार मच गया।

राम ने सुना, दौड़ आये, भाई लक्ष्मण के मृत शरीर से लिपट कर जोर-जोर से रोने लगे। लोगों के समझाने पर भी न माने उसके मृत शरीर को कंधे पर रखे छह महीने तक घूमते

रहे। कभी उसे नहलावें, कभी उसके मुँह में खाना देवें, कभी उससे बातें करे। यह मानने को तैयार ही नहीं कि लक्ष्मण मर गया है। राज काज से भी अरूचि हो गई। सब ने समझाया कि लक्ष्मण की दाह क्रिया कर दो परन्तु राम ने किसी की एक न सुनी।

आखिर जटाऊ पक्षी व कृतान्तवक्र सेनापती के जीव जो स्वर्ग में देव हुए थे, उनको समझाने के लिये आये। सूखे वृक्ष को सींचने लगे, मृतक बैल से हल चलाने लगे, शिला के ऊपर बीज बोने लगे, पानी को विलो कर घी निकालने लगे, रेत को घानी में पेल कर तेल निकालने लगे, इन अनहोनी क्रियाओं को दिखाकर राम को समझाने लगे। फिर अपना परिचय दिया, तब कहीं जाकर राम की समझ में आया और वह लक्ष्मण की दाह-क्रिया करने को राजी हो गये। लक्ष्मण के शरीर का दाह-संस्कार कर दिया गया।

31. **"राम की मुनि-दीक्षा"**

उन देवों ने और भी अनेक प्रकार से राम को सम्बोधा। राम को बड़ा आनन्द मिला। विचारने लगे—जीवन ओस की बूंद के समान क्षणभंगूर है। मैंने अपना मनुष्य जन्म यूँ ही व्यर्थ खो दिया। यहाँ पर कौन किसका भाई, कौन किसका पुत्र, कौन किसकी स्त्री, कौन किसका कुटुम्बी। जीव ने इस संसार में अनन्त सम्बन्ध पाये। बस, एक ज्ञान पाना ही दुर्लभ है। अब तो मुझे इन सब से मन को हटाकर वह राह पकड़नी चाहिये जिससे जन्म-मरण का चक्कर ही सदा के लिये छूट जाये। निश्चय कर लिया कि दिगम्बर मुनि बन कर आत्म कल्याण करूंगा।

भाई शत्रुघ्न को राज्य संभालने के लिए कहा परन्तु वह भी मुनि दीक्षा लेने के लिये उत्सुक थे। निराश हो उन्होंने लव के पुत्र को राज्य दिया और पहुंच गये मुनिराज सुव्रत के निकट। मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा दी, हाथ जोड़कर उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना की। मुनिराज की आज्ञा से सब वस्त्राभूषण को उतार फेंका, नग्न दिगम्बर हो घास-फूस की तरह बालों को उखाड़ कर फैंक दिया और जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर ली।

पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि का पालन करते हुए कल्याण पथ पर चढ़ते चले गये। जटाऊ व कृतान्तवक्र के जीवों ने बहुत उत्सव मनाया, पंचाश्चर्य किये, दुन्दुभी बाजे बजाये।

श्री राम के साथ शत्रुघ्न, विभीषण, नल, नील आदि ने भी मुनि दीक्षा ग्रहण की। अनेक स्त्रियों ने आर्यिका के व्रत ग्रहण किये।

कुछ दिनों पश्चात् गुरू की आज्ञा लेकर राम अकेले विहार करने लगे। घोर तपश्चरण के प्रताप से अवधि ज्ञान की प्राप्ति हुई।

पांच दिन का उपवास करने के बाद मुनि राम आहार के लिये नगर में आये। स्त्रियां व

पुरूष उनके सुन्दर रूप को देखकर व्याकुल हो उधर उधर दौड़े-दौड़े फिरने लगे। चारों ओर शोर सा मच गया। हाथी-घोड़े भी बंधन तुड़ा कर भागने लगे। मुनि राम अन्तराय समझकर वन को लौट आये और यह प्रतिज्ञा कर ली कि आहार के लिये नगर में नहीं जाया करेंगे जंगल में आहार मिलेगा तो लेंगे वरना नहीं।

भाग्योदय से राजा प्रतिनंद को दुष्ट घोड़ा लेकर उसी जंगल में पहुंच गया। ढूंढ़ते ढूंढते उनकी पटरानी भी वहाँ पहुंच गई। दोनों ने मुनि राम को भक्तिपूर्वक पड़गाहा और सानन्द आहार कराया। मुनि राम अक्षीण महाऋद्धि के धारक थे। अतः उस दिन राजा की रसोई में अटूट भोजन हो गया। देवों ने पंचाश्चर्य किये—रत्नों की वर्षा हुई, पुष्प बरसे, सुगन्ध पवन चली, दुंदुभी बजी, जय जयकार हुआ।

एक दिन विहार करते हुए मुनि राम कोटि शिला पर पहुँच गये और ध्यान करने के लिये बैठ गये।

ऐसे थे राम— रागी भी कमाल के, वैरागी भी बेमिसाल।

32. "राम को केवलज्ञान की प्राप्ति"

सीता का जीव जो अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग में स्वयंप्रभा नाम का प्रतीन्द्र बना था, अवधिज्ञान द्वारा राम के विषय में सब कुछ जानकर राम को ध्यान से डिगाने का विचार करने लगा ताकि राम मुक्ति को प्राप्त न होकर यहीं मेरे पास स्वर्ग में आ जायें और हम बाईस सागर तक, साथ-साथ रहकर नन्दीश्वर द्वीप आदि क्षेत्रों की यात्रा करें।

बस, वह प्रतीन्द्र वहाँ पहुँच गया जहाँ राम ध्यानमग्न बैठे थे। उसने अपनी माया से बसन्त ऋतु की छटा प्रकट कर दी और स्वयं सीता का रूप बनकर अपने हाव-भाव से व अन्य उपाय द्वारा राम का ध्यान डिगाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु राम न डिगे। शुक्लध्यान में मग्न होकर चारों घातिया कर्मों—ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय—का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। साथ में अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन,अनन्तसुख व अनन्तवीर्य के भी धनी बन गये। इस प्रकार 25 वर्षो तक मुनि व्रत का पालन करने के पश्चात् वह अरहंत भगवान बन गये।

देवता लोग केवलज्ञान कल्याण-उत्सव-मनाने के लिये वहाँ आ पहुँचे। देवों ने उनकी गंधकुटी की रचना की जिसमें वह स्वर्ग कमल के ऊपर कमल को भी न छूते हुए विराजमान हुए। बिना किसी इच्छा के स्वयमेव उपदेश होने लगा जिसे दिव्यध्वनि कहते हैं। सब सुनने लगे। सीता का जीव प्रतीन्द्र भी उपदेश सुन रहा था। उसे अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

उसने भगवान राम से कहा—हे भगवान! यह आपने क्या किया? मुझे तो अकेले संसार

वन में छोड़ दिया और आप संसार सागर से पार हो गये। मेरा भी उद्धार कीजिये। तब भगवान राम की वाणी खिरी—जो राग में लगे हैं, उन्हें तो संसार में रूलना ही पड़ेगा। उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी। अतः यदि संसार से तिरना चाहते हो तो राग को छोड़ो। राग ही दुख की जड़ है। और कोई किसी को मोक्ष में नहीं ले जा सकता। स्वयं ही पुरूषार्थ करना पड़ेगा। राग को छोड़ना पड़ेगा। अपना वीतराग भाव ही मोक्ष को प्राप्त करा सकता है।

ऐसे थे राम—कर्मों को नष्ट किया और भगवान बन गये।

३३. "भगवान राम का मोक्ष-गमन"

भगवान राम का अनेक देशों में विहार हुआ। अन्त में तुंगीगिरी पर पहुंचे। उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान में लीन हो गये जिसके प्रताप से तीनों योगों—मन, वचन, काय का निरोध हो गया। बाकी बचे चार अघातिया कर्म-आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय—इनसे भी छूटकारा मिल गया।

उनकी आयु १७000 वर्ष की थी। आयु का अन्त होते ही उनकी आत्मा नश्वर शरीर को छोड़कर लोक के अग्र भाग में पहुँच गई। अर्थात उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो गई। मोक्ष अर्थात मुक्ति—सब कर्मों से, राग द्वेष आदि विकारों से, यहां तक कि शरीर से भी। कुछ समय के लिये नहीं, हमेशा, हमेशा के लिये। अब वह कभी संसार में नही आयेगा। जन्म-मरण से भी छुटकारा मिल गया और दुखो से भी। बस! अब वह कृत-कृत हो गये। उन्हें वह सुख सदा के लिये मिल गया जिसे संसार का हर एक प्राणी चाहता है और जिसका लक्षण है अनाकुलता अर्थात आकुलता का न होना। यही नहीं जिसे हर प्राणी प्राप्त भी कर सकता है क्यों कि सुख आत्मा का स्वभाव है। बस, विकार हटाते जाइये, हटाते जाइये, सुख प्रकट होता जायेगा, प्रकट होता जायेगा और एक दिन पूर्ण सुखी बन जाओगे। पूर्ण सुखी यानि भगवान। जैसे राम बने, और अनन्तानन्त बने, इसी प्रकार हम तुम भी भगवान बन सकते हैं।

इस प्रकार राम बने—भगवान।

आओ प्रयत्न करें और

हम भी बने—भगवान।

◇◇◇

वीर सेवा मंदिर
6370
दरियागंज, देहली
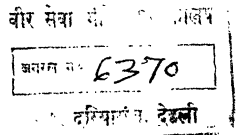
समापन गीत

शिवपुर पथ परिचायक जय हे सन्मति युग निर्माता।

गंगा कल-कल स्वर में गाती, तव गुण गौरव गाथा।
सुर नर किन्नर तव पद युग में, नित नत करते माथा।
हम भी तव यश गाते, सादर शीश झुकाते
हे सद्बुद्धि प्रदाता।

हे दुख-हारक, सुखदायक जय हे! सन्मति युग निर्माता
जय हे, जय हे, जय हे, जय-जय-जय-जय हे
सन्मति युग निर्माता॥१॥

मंगलकारक दया प्रचारक, खग-पशु-नर-उपकारी।
भविजन तारक, कर्म विदारक, सब जग तव आभारी।
जब तक रवि शशि तारे, तब तक गीत तुम्हारे।
विश्व रहेगा गाता।

हे चिर-सुख शांति विधायक जय है! सन्मति युग निर्माता
जय हे, जय हे, जय हे, जय-जय-जय-जय हे
सन्मति युग निर्माता॥२॥

भ्रात्र भावना भूला परस्पर लड़ते है जो प्राणी।
उनके उर में विश्व प्रेम फिर भरे तुम्हारे वाणी।
सब में करूणा जागे, जग से हिंसा भागे।
पाये सब सुख साता।

हे दुर्जय दुखत्रायक जय हे! सन्मति युग निर्माता
जय हे, जय हे, जय हे, जय-जय-जय-जय हे
सन्मति युग निर्माता॥३॥

युग प्रमुख चारित्र शिरोमणी सन्मार्ग दिवाकर आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज 'हीरक जयन्ती वर्ष' के उपलक्ष में प्रकाशित ग्रन्थों की सूची:-

१. सिद्धचक्र विधान (संस्कृत)
२. विमल भक्ति संग्रह
३. धर्म मार्ग सार
४. आराधना कथा कोष
५. रत्नाकर की लहरें
६. अष्टपाहुड
७. पंचास्तिकाय
८. पंच-स्तोत्र
९. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
१०. चर्चासागर
११. चंद्रप्रभ् चरितम्
१२. सम्यक्त्व कौमुदी
१३. परीक्षा मुख
१४. क्षत्र चुड़ामणि
१५. तत्त्वानुशासन
१६. योगसागर
१७. नीतिसार समुच्चय
१८. परमात्म प्रकाश
१९. न्याय दीपिका
२०. शान्ति सुधा सिंधु
२१. इंद्रनंदि नीतिसार
२२. इष्टोपदेश
२३. समाधितंत्र
२४. वरांग चरितम्
२५. भरतैशवैभव
२६. वैराग्यमणि माला
२७. ध्यान सूत्राणि
२८. श्रुतावतार
२९. अमितगति श्रावकाचार.
३०. महामृत्युंजय विधान
३१. स्वयंभूस्तोत्र
३२. द्रव्य संग्रह
३३. धम्म रसायण
३४. सार समुच्चय
३५. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
३६. आलाप पद्धति
३७. मदन पराजय
३८. वसुनन्दि श्रावकाचार
३९. की ऑफ नॉलेज
४०. सागार धर्मामृत
४१. बोधामृत सार
४२. पांडव पुराण
४३. आप्त परिक्षा
४४. पार्श्व चरितम्
४५. जीवक चिन्तामणि
४६. आप्त मीमांसा
४७. मेरु मन्दर पुराण
४८. युक्त्यनुशासन
४९. सूर्य प्रकाश
५०. भाव संग्रह
५१. लघु तत्व स्फोट
५२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
५३. अमरसेन चरिउ
५४. मूलाचार वचनिका
५५. पद्म पुराण
५६. प्रमेय रत्नमाला
५७. यशस्तिलक चम्पू प्रथम भाग
५८. यशस्तिलक चम्पू द्वितीय भाग
५९. अर्थ प्रकाशिका
६०. निजात्म शुद्धि भावना
६१. आत्मानुशासन
६२. सुधर्मध्यान प्रदीप
६३. मंगलघट के भीतर अमृत/श्रे. च.
६४. भक्ति मुक्ति सोपान
६५. अंग पण्णत्ति
६६. पार्श्वाभ्युदय
६७. मल्लिनाथ पुराण/रयणसार
६८. विमलनाथ पुराण
६९. नेमीनाथ पुराण
७०. प्रवचनसार
७१. सुभाषित रत्नावली
७२. धन्यकुमार चरितम्
७३. सिद्ध प्रिय स्तोत्र
७४. सुदर्शन चरित्रम्
७५. अमृताशीति

॥वात्सल्यरत्नाकर॥